

जैन विश्वभारती संस्थान

(मान्य विश्वविद्यालय)

लाडनू-341306 (राजस्थान)

दूरस्थ शिक्षा निदेशालय



एम.ए. (पूर्वाद्ध)

विषय : राजनीति विज्ञान

द्वितीय पत्र : तुलनात्मक राजनीति

संवर्ग

- संवर्ग-1** • तुलनात्मक राजनीति : स्वरूप, महत्व और विकास • तुलनात्मक दृष्टिकोण और प्रणालिया : व्यवस्था, संरचना और सार्वजनिक नीति • तुलनात्मक दृष्टिकोण : राजनीतिक अर्थव्यवस्था, निर्भरता और विश्व व्यवस्थाएं • राज्य के सिद्धान्त • विकाशील समाजों में राज्य : एशियाई, अफ्रीकी तथा लैटिन अमेरिकी अनुभव।
- संवर्ग-2** • राज्य-नागरिक समाज सम्बन्ध : उभरते हुए प्रतिमान • भूमण्डलीकरण और राज्य • क्षेत्रीय संगठन और राज्य • अंतर्राष्ट्रीय संगठन और राज्य • संक्रमणकालीन बहुराष्ट्रीय निगम और राज्य।
- संवर्ग-3** • राष्ट्रवाद : विभिन्न दृष्टिकोण • राष्ट्रवाद के स्वरूप • उपनिवेशवाद और उपनिवेश-विरोधी आंदोलन • राष्ट्रीयता और आत्मनिर्णय • राज्य निर्माण व संविधानवाद • संजातीयता राजनीति तथा राज्य • समुदाय पहचान की राजनीति।
- संवर्ग-4** • संजातीय आन्दोलन • राजनीतिक शासन प्रणाली • नौकरशाही • राजनीति में सेना • संघवाद : प्रतिमान और प्रवृत्तियां • राजनीतिक दल एवं दलीय पद्धति • हितबद्ध समूह, दबाव (प्रभावक) समूह तथा लॉबींग।
- संवर्ग-5** • निर्धरता व मानव विकास • सामाजिक लिंग भेद और विकास • पर्यावरण • विज्ञान, प्रौद्योगिकी और राजनीति • विकेन्द्रीकरण तथा सहभागिता • मानवाधिकार।

Expert Committee

Sr. No.	Name	Designation	Organization
1.	Prof. K.S. Saxena	Retd. Professor	Rajasthan University, Jaipur
2.	Prof. Kanta Katariya	Professor	Jai Narayan Vyas University, Jodhpur
3.	Dr. Rajesh Sharma	Associate Professor	Rajasthan University, Jaipur
4.	Prof. Anil Dhar	Professor	Jain Vishva Bharati Institute, Ladnun
5.	Dr. Jugal Kishore Dadhich	Associate Professor	Jain Vishva Bharati Institute, Ladnun
6.	Prof. A.P. Tripathi	Professor	Jain Vishva Bharati Institute, Ladnun

ISBN No. 978-93-83634-55-2

लेखक

डॉ. मदन बोराणा

सहायक आचार्य, गुरुकुल महाविद्यालय, जोधपुर

सुश्री किरण फतेपुरिया

सहायक आचार्य, सोनादेवी सोठिया गर्ल्स कालेज, सुजानगढ़

कापीराइट

जैन विश्वभारती संस्थान, लाडनूं

नवीन संस्करण : 2019

मुद्रित प्रतियां : 750

प्रकाशक

जैन विश्वभारती संस्थान

(मान्य विश्वविद्यालय)

लाडनूं - 341306 (राजस्थान)

मुद्रक :

आदित्य प्रिन्टर्स एवं स्टेशनर्स, जयपुर

विषय-सूची

क्र.सं.	ईकाई	पृष्ठ संख्या
1.	तुलनात्मक राजनीति: स्वरूप, महत्व तथा विकास	01-07
2.	तुलनात्मक दृष्टिकोण और प्रणालियाँ, व्यवस्था, संरचना एवं सार्वजनिक नीति	08-19
3.	तुलनात्मक दृष्टिकोण : राजनीतिक अर्थव्यवस्था, निर्भरता और विश्व व्यवस्थाएँ	20-31
4.	राज्य के सिद्धान्त	32-42
5.	विकासशील समाजों में राज्य: एशियाई, अफ्रीकी तथा लैटिन अमेरिकी अनुभव	43-53
6.	नागरिक समाज और राज्य	54-62
7.	भूमण्डलीकरण और राज्य	63-69
8.	क्षेत्रीय संघटन और राज्य	70-78
9.	अन्तर्राष्ट्रीय संगठन और राज्य	79-86
10.	संक्रमणकालीन बहुराष्ट्रीय निगम और राज्य संरचना	87-93
11.	राष्ट्रवाद : विभिन्न दृष्टिकोण	94-107
12.	राष्ट्रवाद के स्वरूप	108-116
13.	उपनिवेशवाद और उपनिवेश-विरोधी संघर्ष	117-124
14.	राष्ट्रीयता और आत्म-निर्णय	125-130
15.	राज्य निर्माण और संविधानवाद	131-140
16.	संजातीयता राजनीति तथा राज्य	141-152
17.	समुदाय पहचान की राजनीति	153-159
18.	संजातीय आंदोलन	160-169

19.	राजनीतिक शासन प्रणाली	170-178
20.	नौकरशाही	179-185
21.	राजनीति में सेना	186-195
22.	संघवाद: प्रतिमान और प्रवृत्तियाँ	196-206
23.	राजनैतिक दल एवं दलीय पद्धति	207-220
24.	हितबद्ध समूह, प्रभावक समूह तथा लॉबिंग	221-229
25.	निर्धनता एवं मानव विकास	230-240
26.	सामाजिक लिंग और विकास	241-247
27.	पर्यावरण	248-260
28.	विज्ञान, प्रौद्योगिकी और राजनीति	261-267
29.	विकेन्द्रीकरण तथा सहभागिता	268-274
30.	मानवाधिकार	275-284

इकाई 1

तुलनात्मक राजनीति : स्वरूप, महत्व तथा विकास

संरचना

- 1.1 प्रस्तावना
- 1.2 तुलनात्मक राजनीति और इसका विकास क्या है?
- 1.3 तुलनात्मक प्रणाली
- 1.4 समसामयिक महत्व
- 1.5 सारांश
- 1.6 बोध प्रश्न

1.1 प्रस्तावना

राजनीति विज्ञान को जिन कई भागों में विभक्त किया जाता है, उन कई क्षेत्रों या उपभागों में तुलनात्मक राजनीति मात्र एक है, जिसमें वास्तविक स्तर के बजाय क्रमबद्ध तरीका अपनाया जाता है। तुलनात्मक राजनीति के विषय और सीमाएँ बहुत अच्छी तरह परिभाषित नहीं की गई हैं। कुछ तो इस क्षेत्र में अस्पष्ट मिश्रण के तरीके और विषय क्षेत्रों के कारण हैं। कुछ विद्वानों ने तुलनात्मक राजनीति को "झंझटों का केन्द्र" बताया है क्यों के इसमें तुलना पर विशेष जोर दिया जाता है और तुलनात्मक प्रणाली को राजनीतिक जाँच का एक तरीका बताया गया है। सभी विश्लेषणों में तुलना का कुछ न कुछ अंश होता है क्योंकि उसके बिना अलग-अलग विशेषताओं को समझा नहीं जा सकता, तुलनात्मक राजनीति हमें यह सिखाती है कि ऐसा कैसे किया जा सकता है। यह इस प्रक्रिया में वैज्ञानिक कठोरता और तकनीक को भरने की कोशिश करता है। तुलनात्मक सरकार लम्बे समय तक उपभाग के रूप में रहती है, तुलनात्मक राजनीति द्वितीय विश्व युद्ध की अवधि से अपेक्षाकृत एक नया क्षेत्र है। इस क्षेत्र को परिभाषित करना दुष्कर कार्य है क्योंकि इसमें अनेक परिवर्तन हो चुके हैं और 1980 के दशक तक यह एक ऐसी ऊँचाई तक पहुँच चुका है जहाँ से यह आगे नहीं बढ़ सकता है लेकिन हाल के वर्षों में तुलनात्मक लोक नीति जैसे नये क्षेत्रों के उभरने के कारण इसमें फिर दिलचस्पी बढ़ने लगी है।

1.2 तुलनात्मक राजनीति और इसका विकास क्या है?

मोटे तौर पर तुलनात्मक राजनीति का लक्ष्य विभिन्न देशों के बीच प्रमुख राजनीतिक समानताओं और विषमताओं के बारे में जानकारी एकत्र करना है। कुछ साम्यताओं तथा विभिन्नताओं के मिश्रण के परिप्रेक्ष्य में विकास करने का कार्य है जो विश्व की सरकारों और जिन स्थितियों में वे संचालन करती है, उन संदर्भों को स्पष्ट करता है। तुलनात्मक सरकार शब्द बिल्कुल पुराना है जबकि ऊपर वर्णित तुलनात्मक राजनीति शब्द अपेक्षाकृत लगा है। परिवर्तन महत्वपूर्ण है क्योंकि दोनों के बीच अनेक मतभेद उनके नाम से बहुत आगे तक जाते हैं। पहले का उल्लेख परम्परागत दृष्टिकोण के रूप में किया जा सकता है जबकि दूसरे को आधुनिक दृष्टिकोण के रूप में देखा जाता है। 1995 में आर. सी. मेक्राइडिस ने दोनों का स्पष्ट अंतर बताते हुए कहा कि परंपरागत दृष्टिकोण गैरतुलनात्मक, विवरणात्मक, पक्षपातपूर्ण, गतिहीन तथा प्रबंधकीय हैं। इन विशेषताओं पर संक्षिप्त चर्चा आवश्यक है।

परंपरागत दृष्टिकोण गैर-तुलनात्मक तथा विवरणात्मक था। इसमें मानक पाठ्यपुस्तकों में एक के बाद एक अनेक देशों के विवरण दिए गए होते हैं परन्तु तुलना की बहुत कम कोशिश की जाती है, इसलिए यह प्रबंधकीय स्वरूप का हो गया। जैसे हमारे यहाँ देशों के उत्कृष्ट अध्ययन किए गए हैं परन्तु यह समझने की कोशिश नहीं की गई कि किन्हीं खास देशों में क्यों बहुदलीय प्रणाली थी अथवा किसी एक देश में लोकतंत्र दूसरे देश की तुलना में बेहतर क्यों रहा। इसका कारण यह था कि परंपरागत दृष्टिकोण दायरे में अपेक्षाकृत कम संकीर्ण था और यह औपचारिक वैधानिक दृष्टिकोण पर आधारित था जो कुल मिलाकर राजनीति शास्त्र की विशेषता व्यक्त करता है। परिणामस्वरूप जैसा कि इसके नाम का अर्थ होता है, यह सरकारों और संस्थानों की औपचारिक प्रक्रियाओं के अध्ययन तक सीमित था, इसके विपरीत तुलनात्मक राजनीति दायरे में अपेक्षाकृत व्यापक होती है तथा यह न केवल संस्थाओं को अपने दायरे में कर लेती है बल्कि राजनीतिक प्रक्रियाओं को भी अपने अंदर समाहित कर लेती है, जैसे यह राजनीतिक दलों पर दबाव डालने वाले समूहों और अनौपचारिक संस्थाओं और प्रक्रियाओं को भी शामिल कर लेती है। यह राज्यों के अंदर और राज्यों के बीच प्रक्रियाओं तथा संस्थाओं के बेहतर विश्लेषण को करने में सक्षम होती है। इसलिए एक प्रकार से यह तुलनात्मक हो सकती है लेकिन वह

परंपरागत दृष्टिकोण नहीं हो सकता है। दूसरा, परंपरागत दृष्टिकोण के विपरीत तुलनात्मक राजनीति दृष्टिकोण में बहु-विषयक है, यह न केवल राजनीति शास्त्र से ग्रहण करता है बल्कि इतिहास, अर्थशास्त्र और समाजशास्त्र से भी ग्रहण करता है। इसका कुछ हिस्सा राजनीति विज्ञान की शाखा में परिवर्तनों के कारण था और कुछ हिस्सा व्यावहारिक दृष्टिकोण के कारण था। जिसे हम प्रभावित तुलनात्मक राजनीति में भी देख सकते हैं। तीसरा, परंपरागत दृष्टिकोण संकुचित था जो कि यूरोपियन सरकारों तक सीमित था जिनके कारण इसके विचार एवं विश्लेषण यूरोप केन्द्रित थे। युद्ध के उपरांत की अवधि ने इस क्षेत्र के दायरे में बढ़ोतरी पायी क्योंकि उपनिवेशवाद के बाद राज्यों में वृद्धि हुई जिससे नए सैद्धान्तिक तथा क्रमबद्ध प्रश्न सामने आने लगे। अंततः, पारम्परिक दृष्टिकोण स्थैतिक हो गए, इसने यह समझने का प्रयास नहीं किया कि व्यवस्था में परिवर्तन क्यों होता है। जबकि इसके विपरीत तुलनात्मक राजनीति, राजनीतिक व्यवस्था में परम्परा से आधुनिकता की ओर परिवर्तन कैसे होता है तथा त्वरित परिवर्तन से कैसे उत्पन्न कर सकती है तथा कुछ व्यवस्थाओं में परिवर्तन दूसरे की तुलना में धीरे-धीरे क्यों होते हैं तथा उसमें पारम्परिक विशिष्टता बनी रहती है।

सन् 1950 तथा 1960 के दशकों में हैरोल्ड लासवेल तथा गैबरियल अलम्ब जैसे प्रसिद्ध विद्वानों ने तुलनात्मक राजनीति को तराशने का बीड़ा उठाया और तुलनात्मक राजनीति के क्षेत्र को प्रतिस्थापित किया। उनका मूल कार्य एक राजनीतिक सिद्धान्त से इसे अलग रखना तथा दूसरी ओर अन्तर्राष्ट्रीय सम्बंधों तथा क्षेत्र अध्ययन से अलग रखना था। तुलनात्मक राजनीति को राजनीतिक सिद्धान्त से भिन्न बतलाया गया है क्योंकि इसमें न केवल सैद्धान्तिकरण सम्मिलित था अपितु वर्गीकरण, श्रेणीकरण तथा विभिन्न भिन्नताओं के बीच सम्बंधों की तलाश करना उपसिद्धान्त का निर्माण और साम्राज्यवादी परीक्षण आदि शामिल थे। यह सुझाव दिया गया कि सिद्धान्त और तुलनात्मक राजनीति के बीच वृत्तीय संबंध की संकल्पना की जा सकती है। तुलनात्मक शोध सुस्थापित सिद्धान्त को लेकर कार्य शुरू करता है, अनेक स्थितियों में क्षेत्र में परीक्षण करते हुए तथा तथ्यों के प्रकाश में सिद्धान्त को और परिशुद्ध करते हुए कार्य करता है। इस प्रकार अनेक सैद्धान्तिक उपकरणों, जैसे पार्टी प्रणालियों, संघवाद तथा संसदीय प्रणाली आदि को फार्मूलाबद्ध किया गया।

तुलनात्मक राजनीति में अन्तर्राष्ट्रीय सम्बंधों के साथ सीमा संबंधी समस्याएँ थीं और अब भी बनी हुई हैं। ऐसा इसलिए है क्योंकि उनके बीच सामान्य आधार हैं, इनमें से पूर्ववर्ती प्रायः विश्व पूँजीवादी प्रणाली के दायरे के अंदर घिरे हुए देशों का प्रायः अध्ययन करता है। ए. जी. फ्रैंक तथा इमैनयुअल, वालरस्टीन जैसे अनेक विद्वानों ने इस प्रणाली का उपयोग करते हुए बड़े पैमाने पर निर्भरता तथा कम विकास जैसे दृष्टिकोणों का विकास किया है। परन्तु यहाँ कई बड़े मतभेद हैं, तुलनात्मक राजनीति देशों के बीच राजनीतिक विशिष्ट की तुलना पर गहराई से केन्द्रित करते हुए देशों के बीच सम्बंधों तक ही सीमित नहीं रहती। जबकि अन्य के मामले में अन्तर्राष्ट्रीय सम्बंध ही मुख्य विषय हैं। क्षेत्र अध्ययन दूसरे विश्व युद्ध के समय तब उठे जब नीति निर्धारण करने के लिए युद्ध के दौरान सामरिक दृष्टि से कुछ महत्वपूर्ण क्षेत्रों के इतिहास संस्कृति अर्थव्यवस्था तथा सामाजिक संरचना के बारे में जानकारी रखने की आवश्यकता थी। इसके लिए विभिन्न विषयों के विद्वानों का दल बनाने की आवश्यकता हुई जिनमें समाजशास्त्री होते थे जो गम्भीरता से किसी क्षेत्र पर प्रकाश डाल सकते थे तथा अपेक्षित सूचना उपलब्ध करा सकते थे। तुलनात्मक राजनीति में क्षेत्रों का भी गम्भीरता से अध्ययन किया जाता है, एक प्रमुख अंतर यह है कि क्षेत्र अध्ययन विशेषज्ञ ऐसे आँकड़े पर्याप्त रूप से उपलब्ध करा सकते हैं जो तात्कालिक घटनाओं को स्पष्ट करता है तथा अपेक्षाकृत गहन प्रवृत्तियों के लिए ऐसे विश्लेषणात्मक तथा सैद्धान्तिक उपकरणों की आवश्यकता पड़ती है जिन्हें केवल तुलनात्मक राजनीति ही उपलब्ध करा सकती है लेकिन इन दोनों उप-विधाओं के बीच एक जटिल प्रस्ताव ही रह जाता है।

इस प्रकार तुलनात्मक सरकार से राजनीति की ओर जो अंतरण होता है। उस संबंध में युद्ध के पश्चात के तात्कालिक अवधि में दो परिवर्तनों का संकेत मिल सकता है। राजनीति शास्त्र के विषय के साथ आंतरिक विकास तथा दूसरा साम्राज्यवादी क्षेत्र का विस्तारण ताकि उसमें ऐसे नए राज्यों को शामिल किया जा सके जो उपनिवेशीकरण के पश्चात अस्तित्व में आए। 1950 के दशक के अंतिम वर्षों के दौरान राजनीति शास्त्र व्यावहारिक क्रान्ति द्वारा प्रभावित हुआ था जिसने मानवशास्त्र तथा समाजशास्त्र को पहले ही प्रभावित किया था। इसने अपेक्षाकृत अधिक वैज्ञानिक इच्छा तथा बहुविभाज्य दृष्टिकोण की आकांक्षा पैदा की। व्यवहार संबंधी क्रान्ति का तात्पर्य यह था कि नियमों की तुलना में व्यवहार अधिक महत्वपूर्ण है इस प्रकार विभिन्न देशों तथा विभिन्न क्षेत्रों में राजनीति के क्षेत्रों में पर्याप्त मात्रा में आँकड़ों का क्रमबद्ध तरीके से संग्रह की आवश्यकता पड़ने लगी। सिद्धान्त के बिना आँकड़े आधे रह जाते हैं, व्यावहारिक क्रान्ति में अवधारणाओं, आदर्शों और उप-सिद्धान्तों का स्पष्ट विस्तार था। विकासशील विश्व के उभरने से राजनीति और समाज तथा समृद्ध और गरीब देशों – विकास तथा आधुनिकीकरण के बीच भिन्नताओं के स्पष्टीकरण के प्रति समग्र नवीन दृष्टिकोण को प्रेरित किया। इससे तुलनात्मक राजनीति में दो ढाँचों के इस्तेमाल की प्रक्रिया सम्मिलित हुई: प्रणालियों का दृष्टिकोण तथा संरचनात्मक कार्य विश्लेषण प्रणाली की धारणा जीव-विज्ञान तथा भौतिक विज्ञान के लिए ली गई जहाँ मानव शरीर या कोई मशीन एक प्रणाली के रूप में अभिकल्पित होती है उसके साथ-साथ उपप्रणालियों (अंगों या हिस्सों) की अभिकल्पना

की जाती है जिनकी सीमाएँ होती हैं परन्तु जो अत्यंत निकटता से अंतरसंबंध तथा अतिक्षादित कर लेती हैं। इसलिए मानव समाज विभिन्न प्रणालियों राजनीतिक प्रणाली, आर्थिक प्रणाली आदि से बना हुआ है जिनमें से प्रत्येक विशेष कार्य संपन्न करता है। ऐसा तर्क दिया जाता है कि सभी समाज साधारण से जटिलता की ओर बढ़ते जा रहे हैं जैसे व्यक्तियों द्वारा निर्माई जा रही भूमिकाएँ अपेक्षाकृत विशेषज्ञता की ओर बढ़ती जाती है जिससे स्पष्ट प्रणालियाँ उभरती जाती हैं जिनकी स्पष्ट सीमाएँ तथा कार्य निर्धारित हो जाते हैं। प्रणाली जितनी ही अधिक जटिल है, उतनी ही अधिक विकसित है अथवा आधुनिक है। इस प्रकार मानव समाज अपेक्षाकृत अधिक विशिष्टीकरण और आधुनिकीकरण की ओर बढ़ता जाता है। राजनीतिक प्रणाली की अवधारणा ऐसी प्रणाली के रूप में की गई जिसमें नीतियों पर अमल की कार्यवाई और अधिक विकास के लिए की जानी चाहिए। संरचनात्मक कार्य दृष्टिकोण में इसके पूरक के रूप में समाजशास्त्र से ग्रहण करते हुए मूल्य मुक्त राजनीतिशास्त्र तैयार करने का प्रयास किया जो सभी प्रणालियों के बारे में बताता है और जिसमें बुनियादी ढाँचा तथा कार्य है जिनमें उनकी राजनीतिक सामाजिक तथा आर्थिक प्रणालियों के स्तर का ध्यान नहीं रखा गया है जिनकी तुलना की जा सकती है तथा जिनका विश्लेषण किया जा सकता है। इन सभी प्रणालियों ने संतुलन बिन्दु तक पहुँचने के लिए साधारण से जटिल, या परम्परा से आधुनिक की ओर जाने का प्रयास किया है।

उपनिवेशीकरण की प्रक्रिया की समाप्ति के परिणामस्वरूप अनेक नए राज्यों के उभरने से इस प्रकार के सिद्धान्तों को पनपने का प्रोत्साहन मिला। प्रणालियों के विश्लेषण तथा संरचनात्मक कार्य के ढाँचे, सभी राजनीतिक प्रणालियों का इस्तेमाल करते हुए यह महसूस किया गया कि विभिन्न ऐतिहासिक पृष्ठभूमि, आर्थिक विकास, संस्कृति और मूल्यों के स्तर का अध्ययन किया जाना चाहिए। मुख्य दुविधा यह थी कि क्या जिन सैद्धान्तिक उपकरणों तथा तकनीकों का इस्तेमाल यूरोपीय सरकारों के लिए किया जाता था क्या नए राज्यों के अध्ययन के लिए भी उन्हीं का इस्तेमाल किया जाए अथवा उसके लिए किसी परिवर्तन की आवश्यकता है बहुदलीय प्रणाली संघवाद संसदीय तथा राष्ट्रपतीय प्रणालियों जैसी अवधारणाएँ लम्बे समय से पश्चिमी सरकारों के तुलनात्मक निरीक्षण के परिणाम स्वरूप अस्तित्व में आईं। क्या वे गैर पश्चिमी सरकारों तथा प्रक्रियाओं का अध्ययन करने के लिए उपयोगी रहेंगी अथवा जैसा कि लूसियन पाई ने दावा किया कि इतिहास तथा संस्कृति की विभिन्नताओं के कारण कोई गैर पश्चिमी राजनीतिक प्रक्रिया स्पष्ट रूप से उभरी। पूर्व और पश्चिम के बीच विभिन्नताओं के मामले में केवल यही रियायत की जा सकती है कि विश्लेषण में कुछ सांस्कृतिक विभिन्नताओं को अनुमति दी जाए। इसके अलावा, जैम्स कोलमैन, गैब्रीयल अलमंड तथा लूसियन पाई, जैसे विद्वानों द्वारा राजनीतिक विकास तथा नए राज्यों के तुलना तथा विश्लेषण के लिए उपयोगी मानी गई हैं। इसके वाम पंथ के रूप में भी इसी प्रकार का विकास तथा बड़े पैमाने पर इसी प्रकार की अवधारणाओं को देखा जा सकता है, जैसे विकासशील देशों को समझने के लिए क्रमबद्ध विकास तथा निर्भरता जैसी अवधारणाओं को पश्चिमी देशों के साथ उनके अंतर को स्पष्ट करने के लिए सामने लाया जाता है। इस प्रकार राजनीतिक प्रणाली के बारे में बड़े पैमाने पर सिद्धान्तों को सामने लाने तथा 'ग्रेड थ्योरी' पर जोर दिया गया।

ये दृष्टिकोण शुरु से ही लोगों को पसंद नहीं आए। इन्हें यूरोप केन्द्रित, न्यूनतावादी तथा अति महत्वाकांक्षी कहकर आलोचना की गई। इस पैमाने पर तुलनाएँ बहुत कठिन सिद्ध हुई इसलिए अपेक्षाकृत अधिक नियामक विज्ञान की ओर रुझान शुरु हुआ जिसमें तुलनाओं को कठिन बनाने वाले सांस्कृतिक मतभेदों की उपेक्षा नहीं की गई और अपेक्षाकृत निम्न स्तर पर तुलना करने वाले मध्यम स्तर के सिद्धान्तों की उपेक्षा नहीं की गई। अनेक विद्वानों को अपने ही प्रयासों से मोह भंग हो गया। समाजशास्त्र पर अंतर्राष्ट्रीय विश्व कोश में अलमंड ने यह तर्क दिया है कि तुलनात्मक राजनीतिशास्त्र उत्कृष्ट रूप में एक आन्दोलन है और यह राजनीतिशास्त्र के भीतर उप-विभाग नहीं है। 1970 के दशक के अंत तक तुलनात्मक राजनीति एक निश्चित ऊँचाई तक पहुँच गया इससे कुछ हिस्से राजनीतिक सिद्धान्त में शामिल किए गए तथा कुछ हिस्से क्षेत्र अध्ययन में शामिल किए गए। अपेक्षाकृत और अधिक आशावादी आंकलन यह होगा कि एक ओर जहाँ परंपरागत दृष्टिकोण पर आक्रमण सफल था तो दूसरी ओर सुझाए गए नवीन विकल्प भी सीमाओं से मुक्त नहीं थे। तुलनात्मक राजनीति के पुनः अभिमुखीकरण से सैद्धान्तिक गहराई के रूप में इसके उप-विभाग का विस्तार हुआ और साम्राज्यवादी दायरे में ऐसे प्रयास किए गए कि सिद्धान्त के माध्यम से बढ़ते हुए लेकिन ज्ञान की हताशाभरी संस्था को समेकित किया जाए।

1.3 तुलनात्मक प्रणाली

अनेक विद्वान तुलनात्मक प्रणाली के तरीके और दायरे पर सहमत नहीं हैं। ए. एन आइसेनसद्दात जैसे कुछ विद्वानों ने तर्क दिया है कि तुलनात्मक प्रणाली शब्द में किसी खास तरीके का उचित रूप से बोध नहीं होता, अपितु समाजों के विशाल सामाजिक पहलुओं अथवा संस्थागत पहलुओं और समाज के विभिन्न वर्गों पर विशेष ध्यान देने एवं सामाजिक विश्लेषण पर विशेष जोर दिया जाता है। अरेन्ड लिजहोड जैसे अनेक विद्वानों का विचार है कि निश्चित रूप से यह एक तरीका है, यह मात्र सुविधाजनक शब्द नहीं है जिसमें किसी के शोध हितों पर अस्पष्ट रूप से संकेत किया गया है। परन्तु इसे बुनियादी

तरीकों में से एक तरीके के रूप में पारिभाषित किया जा सकता है। अन्य तरीकों में प्रायोगिक, सांख्यिकी तथा मामलों के अध्ययन के तरीके – सामान्य सिद्धान्त स्थापित करने जैसे शामिल हैं। दूसरी ओर, हैराल्ड लासवैल का तर्क है कि कोई भी ऐसा व्यक्ति जो राजनीतिक विशेषताओं के प्रति वैज्ञानिक दृष्टिकोण रखता है, उसके लिए स्वतंत्र तुलनात्मक तरीके का विचार दकियानुसी विचार जैसा लगता है क्योंकि वैज्ञानिक दृष्टिकोण में तुलना अपरिहार्य होता है। गैबरियल अलमंड ने भी वैज्ञानिक तरीके के साथ तुलनात्मक विधि की समानता दिखाई है। परन्तु यह रेखांकित करना आवश्यक है कि विद्वान तुलनात्मक तरीके को माप का तरीका नहीं बल्कि विभिन्नताओं में साम्राज्यवादी संबंधों का पता लगाने का एक तरीका मानते हैं। विभिन्नताओं को माफ करने का तरीका उनमें संबंधों को तलाश करने के प्रारंभिक चरण की तार्किक परिणति है, यह उन चरणों का दूसरा चरण जिसका उल्लेख तुलनात्मक तरीके में किया जाता है। अन्ततः तरीके और तकनीक के बीच अंतर किया जाना चाहिए। तुलनात्मक तरीका सामान्य तरीका या व्यापक मापक (ब्राडगेज) है न कि संकीर्ण विशेष तकनीक। यही कारण है कि विद्वान तुलनात्मक तरीके का उल्लेख करते हैं या कुछ तुलनात्मक दृष्टिकोण शब्द को बेहतर मानते हैं क्योंकि इसे तरीका कहकर पुकारने में संक्षिप्तता का अभाव रहता है। तुलनात्मक तरीका केवल मात्र अनुसंधान में सहायक तकनीक नहीं है, बल्कि इसे एक बुनियादी शोध नीति भी कहा जा सकता है।

तुलनात्मक तरीके को उस समय सर्वोत्तम रूप में समझा जाता है जबकि इसे प्रायोगिक, सांख्यिकी अध्ययन के तरीके के संक्षिप्त तुलनात्मक के रूप में समझा जाए। प्रायोगिक तरीके को नियंत्रित स्थिति में दो भिन्नताओं के बीच संबंध के रूप में समझा जाता है। राजनीतिशास्त्र में ऐसे प्रयोग संभव नहीं हैं, इसलिए इसका वैकल्पिक तरीका है। सांख्यिकी प्रणाली जिसमें अनेक भिन्नताओं के बीच निपेक्षित संबंधों का पता लगाने के उद्देश्य से साम्राज्यीय आँकड़ों का अवधारणात्मक उपयोग किया जाता है। यह नमूने को विभिन्न रूपों में विभाजित करके (उदाहरण के लिए आयु, आमदनी, शिक्षा आदि) आंशिक या संबंधों या विभिन्न गणितीय तरीकों के द्वारा तथा चयन किए गए दो विभिन्न रूपों में सह संबंधों को ध्यान में रखते हुए समस्या को नियंत्रित करता है। यह एक मानक प्रक्रिया के रूप में स्वीकार किया जा चुका है तथा लगभग सभी साम्राज्यवादी शोध कार्यों में अनुप्रयोग किया जाता है। इस प्रकार सांख्यिकी प्रणाली प्रायोगिक विधि का एक प्रकार से निकट का संबंध है क्योंकि यह भी उसी तर्क का प्रयोग करता है। इसलिए तुलनात्मक विधि एक प्रकार से सांख्यिकी प्रणाली से साम्य रखता है। अंतर केवल इतना है कि जितने मामलों की संख्या को यह अपने इस्तेमाल के लिए लेता है सांख्यिकी प्रणाली की तुलना में यह बहुत कम होते हैं परन्तु यह समझना आवश्यक है कि तुलनात्मक प्रणाली प्रायोगिक विधि के लिए उस तरह का पर्याप्त विकल्प नहीं है जैसा कि प्राकृतिक विज्ञानों में है।

परन्तु ये खामियाँ कई प्रकार से अत्यधिक कम की जा सकती हैं। जहाँ समूचे राजनीतिक प्रणालियों के मामले की तुलना की जा रही हो जहाँ तक संभव हो सांख्यिकी प्रणाली की तुलना सर्वोत्तम है उसके पश्चात् तुलनात्मक प्रणाली का उपयोग करना होगा। दोनों ही विधियों का एक साथ तालमेल करते हुए भी किया जा सकता है। इसमें तुलनात्मक विश्लेषण प्रथम चरण है जिसमें सावधानीपूर्वक बड़ी-बड़ी परिकल्पनाएँ की जाती हैं जिनमें प्रायः कुछ प्रणालियों के संरचनात्मक तत्वों को शामिल किया जाता है और सांख्यिकी चरण दूसरे स्थान पर है जिसमें सूक्ष्म निरीक्षणों को अधिक से अधिक नमूनों के रूप में शामिल किया जाता है दूसरी, बात यह है कि नकारात्मक जानकारी को बहुत अधिक महत्व नहीं देना चाहिए। उदाहरण के लिए, किसी परिकल्पना के लिए जब नमूना छोटा हो तो किसी एक आधार के न मिलने पर उसे अस्वीकृत कर देना। इसके अपेक्षा शोध का लक्ष्य संभावना जन्य होना चाहिए न कि सार्वभौम साधारणीकरण। तीसरा, जहाँ तक संभव हो, मामलों की संख्या बढ़ाई जाए क्योंकि यदि बहुत कम नमूने होंगे तो वह अधिक उपयोगी नहीं होगा। तुलनात्मक राजनीति ने प्रगति की है क्योंकि अनेक देशों में या उनमें राजनीतिक घटनाओं की तुलना के आधार पर सार्वभौम रूप से उपयोग में लाई जाने वाली सिद्धान्तों या बड़े सिद्धान्तों को तैयार करने के कारण उनकी प्रगति हुई है। उदाहरण के लिए, संरचनात्मक कार्य विश्लेषण सिद्धान्त ने तुलनात्मक शोध की एक ऐसी दुनिया ला दी है जिसके बारे में पहले ज्ञान ही नहीं था। चौथा, यदि मामलों की संख्या अधिक न हो तो विभिन्नताओं की संख्या बढ़ा दें, हालाँकि इसका और अधिक साधारणीकरण संभव है। पाँचवा, तुलनीय मामलों पर विशेष प्रकाश, जैसे जिनमें तुलनीय विशेषताओं या भिन्नताओं की संख्या बहुत अधिक हो जो लगातार हो लेकिन उन विभिन्नताओं से अधिक से अधिक भिन्न हो जो एक दूसरे से संबंध होना चाहते हों। इस प्रकार हम विशिष्टताओं का संचालनात्मक अध्ययन करते हैं। वह अध्ययन चाहे सांख्यिकी प्रणाली से या तुलनात्मक विधि से ही दाया या क्षेत्रीय दृष्टिकोण उपयोगी होता है। उदाहरण के लिए, लैटिन अमेरिका अथवा स्कैंडिनेविया के देशों का तुलनात्मक अध्ययन। परन्तु अनेक विद्वानों ने यह संकेत दिया है कि यह मात्र प्रबंधकीय तर्क है जो विचारों को बंधन में बांधने वाला तर्क नहीं होना चाहिए। दूसरा, विकल्प है देशों के अंदर क्षेत्रों का अध्ययन अथवा भिन्न-भिन्न समय पर उनका अध्ययन करना क्योंकि समस्या का नियंत्रण अपेक्षाकृत सामान्य रहता है क्योंकि एक प्रकार के संघीय ढाँचे के भीतर होते हैं। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि भारतीय संघ के अंदर स्थित राज्यों का अध्ययन तुलनात्मक शोध के लिए एक अच्छी प्रयोगशाला उपलब्ध कराता है, हालाँकि अभी तक इसका उपयोग नहीं किया गया है। अंत में, अनेक विद्वान महसूस करते हैं कि प्रमुख अथवा संदर्भ की भिन्नताओं की ओर मुख्य ध्यान देना चाहिए

क्योंकि बहुत ज्यादा भिन्नताओं से समस्याएँ पैदा हो सकती हैं। यह न केवल प्रबंधनीयता की सुविधा प्रदान करता है अपितु मध्यम स्तर की सैद्धान्तिक तथा राजनीतिक प्रणालियों की आंशिक तुलना उपलब्ध कराता है। यह तरीका नृवंशशास्त्रीय अध्ययनों में सफलतापूर्वक लाया गया है क्योंकि जनजातीय प्रणालियाँ अधिक पेंचीदी नहीं हैं। राजनीतिक शास्त्री भी भिन्नताओं की संख्या को कम करके इसे कर सकते हैं।

जब केवल एक ही मामले का विश्लेषण किया जा रहा हो तो 'केस स्टडी मेथड' का इस्तेमाल किया जा सकता है परन्तु यह तुलनात्मक तरीके के साथ बहुत निकटता से जुड़ा है और जब ऐसे अनेक मामलों की तुलना करनी हो तो किसी एक मामले का गहन अध्ययन तुलनात्मक अध्ययन का एक अभिन्न हिस्सा बन जाता है। 'केस स्टडी प्रणाली' का वैज्ञानिक स्तर कुछ हद तक अस्पष्ट होता है क्योंकि विज्ञान न तो साधारणीकरण है, न सुस्थापित साधारणीकरण को अस्वीकार करने का कोई आधार है, परन्तु इसका महत्व उस समय है, जब राजनीति शास्त्र में साधारण प्रस्ताव का कोई प्रखंड बनाने के लिए या सिद्धान्त बनाने के लिए इसका इस्तेमाल किया जाता है और जबकि उसी जैसे विषयों पर कई 'केस स्टडी' किए जा चुके हैं। 'केस स्टडी' कई प्रकार से किये जा सकते हैं। उदाहरण के लिए, और सैद्धान्तिक या व्याख्यात्मक, सिद्धान्त पुष्टि करने वाले अथवा उसे कमजोर करने वाले, खास स्थितियों में सभी मामले लाभकारी होते हैं इस प्रकार तुलनात्मक तथा 'केस स्टडी' विधि में बड़ी खामियाँ हैं क्योंकि इन तरीकों की अपरिहार्य प्रतिबंध होने के कारण तुलनात्मक राजनीति में शोधकर्ता के सामने चुनौती है कि वे इन तरीकों का इस प्रकार उपयोग करें कि निहित शक्तियों का भरपूर इस्तेमाल कर सकें तथा वैज्ञानिक, राजनीतिक जाँच में वे उपयोगी उपादान बन सकें। अनेक विद्वानों ने युद्धोत्तर काल की अवधि में इन प्रणालियों के इस्तेमाल में लगातार सुधार लाने के लिए अपना पर्याप्त समय लगाया है।

1.4 समसामयिक महत्व

युद्धोत्तर अवधि में, तुलनात्मक राजनीति अनेक दौरों से होकर गुजरी है। इनमें से प्रत्येक दौर में परिवर्तन हुए हैं और भविष्य में भी विद्वानों द्वारा परिवर्तन लाने का सिलसिला जारी रहेगा। तुलनात्मक राजनीति में सर्वप्रथम निवेश पर ध्यान केन्द्रित रखा गया और राजनीतिक समाज शास्त्र पर निर्भरता रखी गई और इस प्रकार का दावा किया गया कि राजनीतिक प्रणालियों की बुनियादी विशेषताओं को संरचना के बारे में पृष्ठभूमि सूचना और समाज में प्रक्रियाओं की पृष्ठभूमि में समझा जाएगा, इस प्रकार यह दावा किया गया कि राजनीतिक संघर्ष आयामों को सामाजिक ढाँचे में आयाम विभेद के अनुसार तैयार किया जाएगा। इसे कम करने वाले दृष्टिकोण के कारण सैमुअल हैटिंगटन जैसे राजनीतिज्ञों द्वारा एक प्रतिक्रिया व्यक्त की गई जिसमें उसने सामाजिक और आर्थिक कारकों के संदर्भ में राजनीति की स्वायत्तता के लिए तर्क दिया इसलिए आधुनिक तुलनात्मक राजनीति में दूसरे चरण का उद्देश्य राजनीतिक प्रणालियों के विभिन्नता के संस्थागत विश्लेषण और दलों तथा दल प्रणालियों के घटक भागों को लक्ष्य कर किया गया। इसके मध्य में लोकतंत्र के विभिन्न प्रकारों के बीच निर्णायक भेद, सत्तावादी शासन तथा राजनीति को आधुनिक बनाने वाले तत्व प्रमुख थे। स्थिर संस्थाओं के जरिये लोकतंत्र से 'व्यवस्था की ओर स्थानांतरण' था। अंततः राजनीति शास्त्र के अंदर राजनीति के उत्पादन पक्ष की ओर बढ़ती हुई दिलचस्पी ने तुलनात्मक राजनीति को भी प्रभावित किया। यदि नीतियों के लिए राजनीति महत्वपूर्ण नहीं लगता तो विभिन्न राजनीतिक प्रणालियों का अध्ययन क्यों किया जाता है। परिदृश्य के दाएँ और बाएँ दोनों ही ओर राज्य के मध्य बिन्दु के पुनः अन्वेषण के कारण यह भी संभव हुआ। इसलिए तीसरे चरण का तात्पर्य लोकनीति तथा राजनीतिक अर्थव्यवस्था से तुलनात्मक राजनीति का विलय करना और यह समझने का प्रयास करना कि विभिन्न राजनीतिक प्रणालियाँ (नीति निवेश) तथा वास्तविक प्राप्ति (नीति परिणाम) के लिए क्या करती हैं।

इससे तुलनात्मक लोकनीति की ओर गमन हुआ। जो लोग निवेश पक्ष की ओर जोर देते हैं, वे सामाजिक दरारों के प्रभाव का मुख्य रूप से बुनियादी समस्या की ओर देखते हैं और यह भी देखते हैं कि वातावरण किस प्रकार राजनीतिक व्यवस्था का निर्धारण करता है। सामाजिक संरचना में विदारण आयामों के प्रति राजनीति को घटाते हुए विदारण दृष्टिकोण संस्थावाद अथवा परिकल्पना जैसे अतिशयोक्तिपूर्ण सा लगता है, जैसे सामाजिक तथा आर्थिक कारकों और राजनीतिक प्रणाली के बीच कोई संबंध ही न हो। परन्तु कोई व्यक्ति सामाजिक और आर्थिक दृढ़तावाद तथा राजनीतिक अदृढ़ता अथवा नई संस्थागतता के बीच किस प्रकार संतुलन बनाए रख सकता है। विभिन्न देशों में राजनीति प्रणाली के तुलनात्मक विश्लेषण में कोई किस प्रकार निर्णायक अवधारणाओं की पहचान कर सकता है जिससे प्रणाली विभेदों तथा समानताओं में समाधान निकाल सकता है। परम्परागत विकासशील तथा आधुनिक राजनीति को अलग करने की कोशिश इन मूल्य से लदे प्रकृति वाले अवधारणाओं के परिणाम में विफल हो गई, लोकतांत्रिक तथा सत्तावादी सरकारों के बीच मूलभूत अंतर हो गया है लेकिन यदि लोकतंत्र शब्द के अर्थ और अनुप्रयोग में एकात्मकता हो जाए तो लोकतांत्रिक सत्ता को पहचान दिलाने वाले संकेतकों अथवा विशेषताओं के बीच में असहमति हो जाती है। दो बहुत ही भिन्न प्रकार के लोकतांत्रिक माडलों की पहचान कर ली गई है। वेस्टमिनिस्टर प्रकार का लोकतंत्र बनाम सहमति अथवा सहयोगी प्रकार का लोकतंत्र। परन्तु

गैर-लोकतांत्रिक प्रणालियों के अपेक्षाकृत बड़ी व्यवस्था के बारे में क्या आवश्यकता है। आज हमारे सामने 160 से अधिक राजनीतिक व्यवस्थाएँ हैं जिन्हें हम तीसरी दुनिया अथवा तृतीय विश्व अथवा विकासशील देश कहते हैं। तृतीय विश्व की राजनीति के वर्गीकरण के बारे में कोई सहमति नहीं है। निःसंदेह भविष्य के तुलनात्मक शोध का बहुत कुछ केन्द्र बिन्दु गैर-लोकतांत्रिक सत्ताओं पर केन्द्रित होगा ताकि यह निर्धारित किया जा सके कि वे कुछ बुनियादी आयामों में मामलों में किस प्रकार भिन्नतापूर्ण हैं।

सामयिक महत्व का एक प्रमुख विकास है, सार्वजनिक नीति के तुलनात्मक विश्लेषण का आविर्भाव या राजनीतिक अर्थव्यवस्था जिसने 1970 के दशक के मध्य से तुलनात्मक राजनीति में एक नया आयाम जोड़ दिया है। जहाँ तक यह राजनीतिक प्रणाली के ब्लैक बॉक्स के 'परिणाम' पक्ष पर केन्द्रित है, उस हद तक अतीत से उसकी सत्यता बनी हुई है। यह अंतर 'राजनीतिक विकास' तथा 'आधुनिकीकरण' की समस्याओं के विशाल तुलनात्मक सिद्धान्त से विकास में राज्य तथा इसकी केन्द्रीय भूमिका जैसे अपेक्षाकृत अधिक संकीर्ण क्षेत्र और केन्द्रित होने जैसा है। यह परिवर्तन मेटा विश्लेषण से मेसो विश्लेषण की ओर है। जिसमें समस्याओं की परिभाषा, कार्यसूचियों को तय करना, निर्णय करने तथा कार्यान्वयन की प्रक्रियाओं के बीच केन्द्रित करने जैसा है। इससे तुलनात्मक राजनीति को अपेक्षाकृत अधिक विशिष्ट समस्या हल करने तथा नीति अभिमुखीकरण से युक्त किया है। तुलनात्मक राजनीति बहुविषयक बना हुआ है लेकिन समाजशास्त्र से दूर होते हुए यह अर्थशास्त्र के अपेक्षाकृत अधिक निकट पहुँच गया है। यह वैज्ञानिक तरीकों पर लगातार जोर देने के बजाय अपेक्षाकृत अधिक नियामक चिंताओं की ओर लौट रहा है। इसने शैक्षिक राजनीति विज्ञान और लोक प्रशासन के अभ्यासकर्ताओं के बीच के संपर्क को भी फिर से कायम कर लिया है।

समाज संसाधनों की बाध्यता के बावजूद सार्वजनिक नीति के माध्यम से माल के उत्पादन और सीमाओं के बीच जितना संभव है, संबंध को परिभाषित करने में सक्षम है। परन्तु यह प्रश्न उठता है कि निजी क्षेत्र में समाज के दायरे में क्या उपयुक्त है और किन नीतियों से विकास होता है। इस सार्वजनिक क्षेत्र के अंतर तुलनात्मक विश्लेषण के जरिए राज्य क्या करते हैं। इस आधार पर वे राज्य के उपयुक्त क्षेत्र को सिद्धान्तबद्ध करने में सक्षम होते हैं। परिणामस्वरूप, लोकनीति अपने दृष्टिकोण में वर्णनात्मक, विश्लेषणात्मक

और निर्देशात्मक है। राजनीति अब अनेक वैकल्पिक नीतियों में लोक इच्छा की अवधारणा तैयार करती है और इसका उद्देश्य ज्ञान को ऐसे विशाल अनुशासन के दायरे में लाना है जो लोगों के रुचियों का विश्लेषण करने और निर्णय करने तथा समाज के लोकतंत्रीयकरण में सहयोग करने वाला है। राजनीतिक अर्थव्यवस्था उत्पादन तथा वस्तु विनिमय तथा सेवाओं के बारे में राजनीतिक चयन के प्रभावों के प्रति खास तौर पर उत्सुक होती है। यह उन राजनीतिक इच्छाओं के परिणामों का विश्लेषण होती है जिसे राजनीतिक दुर्लभ संसाधनों को शामिल करके राजनीतिक नेता करते हैं। दृष्टिकोण का महत्व यह महसूस करने में होता है कि विकासशील समाजों में, वास्तव में, चयन ही विकास का असली सस्ता होता है नेताओं के सामने चयन सार्वजनिक नीतियों के जरिये होता है जो महज सहयोग करने, प्रेरित करने अथवा मौलिक, सामाजिक, अथवा आर्थिक परिवर्तन करने के लिए होता है। इसलिए राजनीतिक अर्थव्यवस्था के अंदर 'राजनीति विकास' को बदलती और विस्तार करती हुई क्षमता को पूरा तथा प्रेरित करने और ऐसा करने के लिए संसाधनों को पैदा करने के लिए समर्थ होने के लिए अपनी क्षमता को बढ़ाने वाली होने के रूप में पुनर्परिभाषित किया गया है। राजनीतिक अर्थव्यवस्था, जहाँ सिद्धान्त उपलब्ध कराती है, सार्वजनिक नीति वह तरीका है जिसके जरिये इन नीतियों को कार्य रूप में परिणित किया जाता है। इन सब परिणामों का कुल तात्पर्य यह है कि मुख्य ध्यान अपेक्षाकृत छोटी-छोटी तुलनाओं पर या जो संभव है, उस पर दिया जाता है। आजकल मध्यम दायरे की तुलना अपेक्षाकृत अधिक संतुलित होती है जिसमें किसी एक ही क्षेत्र या क्षेत्रों के तुलनीय विषय पर केन्द्रित रहती है। संक्षेप में, तुलनात्मक राजनीति का क्षेत्र खंडित है और तुलनात्मक राजनीति की कोई एक परिभाषा विद्यमान नहीं है। यह इसका गुण भी है, इसका तात्पर्य यह है कि यह उस पर मुख्य जोर देता है जो महत्वपूर्ण और लाभकारी है और यह आवश्यक नहीं कि वह विश्वस्तरीय है या पहले की सभी विशेषताओं को अपने दायरे में कर चुका है।

1.5 सारांश

इस इकाई में आपने राजनीति शास्त्र के अपेक्षाकृत बड़े विधा में तुलनात्मक राजनीति के स्वरूप और विकास के बारे में पढ़ा है। यद्यपि राजनीति शास्त्र के अध्ययन का एक सबसे पुराना स्वरूप है, इसने द्वितीय विश्व युद्ध के पश्चात बहुत दिलचस्पी पैदा की है और इसे अपेक्षाकृत एक नए क्षेत्र के रूप में पेश किया है। परम्परागत दृष्टिकोण अपेक्षाकृत अधिक संकुचित और प्रबंधकीय है। लेकिन आधुनिक दृष्टिकोण का दायरा अपेक्षाकृत बड़ा है। यह राजनीतिक संस्थाओं में घटित तीव्र परिवर्तनों का विश्लेषण करने के प्रयास और उन्हें परम्परा से हटाकर आधुनिकता की ओर ले जाने के प्रयास में सफल रहा। इस इकाई का दूसरा अनुभाग तुलनात्मक प्रणाली की संभावना पर केन्द्रित है। यद्यपि अनेक विद्वान

तुलनात्मक प्रणाली को तार्किक कदम के रूप में मान्यता देते हैं, लेकिन उसके अनुप्रयोग के बारे में, चाहे वह वैज्ञानिक, सांख्यिकी, प्रायोगिक अथवा केवल बुनियादी तरीका है। परन्तु उनके मतभेद हैं। इस बारे में व्याख्याएँ भिन्न-भिन्न हैं, समय समय पर इन विधियों के इस्तेमाल में सुधार लाने के प्रयास किए जा रहे हैं। अंतिम अनुभाग में तुलनात्मक राजनीति की सामयिक प्रासंगिकता पर मुख्य रूप से प्रकाश डाला गया है। यह विषय यद्यपि स्वरूप में बहविषयक है, सार्वजनिक नीति तथा राजनीति अर्थव्यवस्था के साथ इस उपविषय के विलय से इन विश्लेषणों में एक नया आयाम जुड़ गया है कि भिन्न-भिन्न राजनीतिक व्यवस्थाएँ क्या करती हैं (नीति के निवेश तथा उत्पादन) में क्या उपलब्धियाँ हैं। इस प्रकार यह नीति अभिमुखिकरण तथा कार्यान्वयन की प्रक्रियाओं के बीच सम्पर्क कायम करता है।

1.6 बोध प्रश्न

1. तुलनात्मक राजनीति क्या है? उप विधा के रूप में इसके विकास का संक्षेप में विश्लेषण कीजिए।
2. तुलनात्मक प्रणाली की क्षमता तथा दुर्बलता का विश्लेषण कीजिए।
3. तुलनात्मक प्रणाली के समसामयिक महत्व तथा योगदान का मूल्यांकन कीजिए।

इकाई 2

तुलनात्मक दृष्टिकोण और प्रणालियाँ, व्यवस्था, संरचना एवं सार्वजनिक नीति

संरचना

- 2.1 प्रस्तावना
- 2.2 व्यवस्था दृष्टिकोण की उत्पत्ति और अभिविन्यास
- 2.3 डेविड इस्टन : सामान्य व्यवस्था सिद्धान्त
 - 2.3.1 डेविड इस्टन की अवधारणात्मक संरचना
 - 2.3.2 इस्टन के दृष्टिकोण को स्वरूप देने वाले प्रभाव
- 2.4 ईस्टन के वर्गीकरण की आलोचना
- 2.5. संरचनात्मक कार्यात्मक दृष्टिकोण का विकास
 - 2.5.1 गैब्रियल आलमॉण्ड की अवधारणात्मक संरचना
 - 2.5.2 आलमॉण्ड के दृष्टिकोण को स्वरूप देने वाले प्रभाव
- 2.6 आलमॉण्ड के वर्गीकरण और सिद्धान्त की आलोचना
- 2.7 सार्वजनिक नीति : कुछ परिप्रेक्ष्य
- 2.8 सारांश
- 2.9 बोध प्रश्न

2.1. प्रस्तावना

राजनीतिक और सामाजिक विचारकों ने राजनीति शास्त्र की विशेषताओं को स्पष्ट करने के लिए प्रणाली की कुछ अवधारणा के बारे में प्रायः अधिघोषणाएँ की हैं। मार्क्स ने समाजों के उत्पादन के तरीके के आधार पर प्रणालियों के रूप में उनका वर्गीकरण किया है, जैसे सामंतवादी, मध्यमवर्गीय, सर्वहारा वर्गीय वेबर के समाजों को सत्ता, परम्परा, करिश्मा और तर्क—कानूनी आधार पर विभक्त किया। उसने सोचा कि व्यवस्था का परिवर्तन बोली के आधार पर है, जबकि वेबर का विश्वास था कि यह क्रांतिकारी है।

प्रतिष्ठित लेखकों ने राजतंत्रीय कुलीन तंत्र और लोकतंत्र को राजनीतिक व्यवस्थाओं के रूप में रखा है। आलमॉण्ड ने आदिम, परम्परागत, सक्रांतिक काल तथा आधुनिक राजनीतिक व्यवस्थाओं के रूप में वर्गीकृत किया है। कोलमैन ने अर्ध-प्रतिस्पर्धात्मक तथा सत्तात्मक व्यवस्थाओं का उल्लेख किया तथा बाद में उन्हें अधिनायकवादी कुलीन तंत्र तथा प्रतिनिधिमूलक व्यवस्थाओं के रूप में विभक्त किया।

आईजेन्सहाट ने आदिम पितृसत्ताक कुलीन तंत्र, अफसरशाही, लोकतांत्रिक अधिनायक, सर्वहारा तथा अल्प विकसित व्यवस्थाओं का सुझाव दिया। एडवार सेल्स ने आधुनिक व्यवस्थाओं को राजनीति लोकतंत्रों उपाधिधारी लोकतंत्रों आधुनिकता की ओर उन्मुख कुलीनतंत्रों, सर्वसत्तात्मक कुलीन तंत्रों और परम्परागत कुलीन तंत्रों के रूप में आधुनिक व्यवस्थाओं के रूप में वर्गीकरण किया है।

व्यवस्थाओं के वर्गीकरण से विभिन्न व्याख्याओं का पता चलता है, अनेक नए देशों के उभरने और नए आँकड़ों के संग्रह तथा प्रौद्योगिकी प्रगतियों ने इस विषय की जटिलता को बढ़ा दिया है। अनेक समाजशास्त्री अब अपने राजनीतिक विश्लेषण की बुनियादी अवधारणा के रूप में व्यवस्था का इस्तेमाल करते हैं।

इस प्रकार व्यवस्था वास्तविक समाज का अमूर्त रूप है। किसी भी सामाजिक विशेषता को एक व्यवस्था के रूप में देखा जा सकता है। ये विशेषताएँ एक दूसरे से आपस में जुड़ी हुई हैं। फिर भी, विभिन्न व्यवस्थाओं, जैसे राजनीतिक, आर्थिक,

सामाजिक तथा सांस्कृतिक-मनोवैज्ञानिक व्यवस्थाओं पर विचार विमर्श करने के लिए सीमाएँ लगाई जाती हैं। विश्लेषक समूचे समाज से कुछ तत्वों को संक्षेप में ग्रहण करता है जो अपेक्षाकृत अधिक सुसंगत हैं और उन्हें एक व्यवस्था का नाम देता है। अवधारणात्मक रूप से माप करने योग्य परिमाण को सच्चा कहा जाता है, सतत रहने वाले तत्वों को प्राचालिक कहा जाता है। राजनीतिक व्यवस्था की वास्तविकताओं में संरचना, कार्य, भूमिका, कार्यकर्ता, मूल्य, सिद्धान्त, लक्ष्य, निवेश, उत्पादन, प्रतिक्रिया, जानकारी 'फीड बैक' (पुनर्निवेशन) आदि शामिल हैं। राजनीतिक व्यवस्था की अवधारणा का विश्लेषण करते समय हम इन शब्दों के बारे में बाद में विश्लेषण करेंगे।

2.2 व्यवस्था दृष्टिकोण की उत्पत्ति और अभिव्यक्ति

व्यवस्थाओं के दृष्टिकोण की उत्पत्ति के बारे में अनेक विज्ञानों से जानकारी मिल सकती है। इस बारे में लिलियमफिल्ड ने जीव विज्ञान, साइबरनेटिक्स तथा प्रचालन अनुसंधान के क्षेत्रों का उल्लेख किया है। यही दृष्टिकोण मानव विज्ञान, अर्थशास्त्र तथा समाजशास्त्र से ही जुड़ा हुआ है। लुडविग वोन बर्टेनेलफी कुछ अन्य विद्वानों ने सोसाइटी फार जनरल रिसर्च फार्म की स्थापना की तथा व्यवहार संबंधी एक पत्रिका का भी प्रकाशन किया। उन्होंने बताया कि व्यवस्था सिद्धान्त का लक्ष्य 'विभिन्न विज्ञानों, प्राकृतिक तथा सामाजिक का एकीकरण है। नार्वेड वियनेर का विश्वास है कि फीड बैक के जरिए साइबरनेटिक की अवधारणा राजनीतिक प्रणाली में सरकारी संचालनों को वैधता देने के लिए एक प्रतिमान हो सकता है। द्वितीय विश्व युद्ध के दौरान ऑपरेशन्स रिसर्च ने रेडार प्रतिष्ठानों के उपयोग के व्यवस्था दृष्टिकोण को लागू किया। कार्यनीति, चालें तथा हथियारों की डिजाइन के आधार पर सैन्य परिणामों का पूर्वानुमान लगाने के लिए किया जाता था। बाद में शांतिकाल में संचालन शोध कार्य प्राकृतिक तथा सामाजिक शास्त्रों के व्यवस्थाओं के विश्लेषण का समानार्थक जैसे बन गया।

सामाजिक शास्त्रों में व्यवस्था सिद्धान्त के लिए अर्थशास्त्र ने सबसे पहले योगदान किया। आर्थिक व्यवस्था के विभिन्न अंगों में संबंध का विश्लेषण करने के लिए निवेश और उत्पादन के विश्लेषण के साथ-साथ आर्थिक तकनीकों तथा कम्प्यूटरों का उपयोग किया गया।

चुनाव कार्यनीतियों के राजनीतिक विश्लेषण तथा राजनीतिक व्यवस्थाओं के बाहरी संबंधों के विश्लेषण के मामले में खेल सिद्धान्त का इस्तेमाल किया गया है। राजनीतिक शास्त्रियों ने तर्क संगत चयन सिद्धान्त के परीक्षण के अमल में इसका प्रयोग किया है। इस सिद्धान्त में यह स्वीकार किया गया है कि व्यक्ति प्रायः उन कार्यों को इस्तेमाल में लाते हैं जिनसे उन्हें सर्वोत्तम परिणाम प्राप्त हो।

समाजशास्त्र भी व्यवस्थाबद्ध शैली में मानव चिंतन को मार्ग-निर्देश वाले तरीकों की ओर संकेत करता है। हम प्रायः अमरीकी सरकार द्वारा प्रयोग किए जाने वाले शब्दों 'योजनाप्रोग्रामिंग-बजट व्यवस्था' का उपयोग करते हैं। डेविड सिंगर ने (1) व्यवस्था विश्लेषण (2) सामान्य व्यवस्था के दो भिन्न-भिन्न अभिनवीकरणों के बीच अंतर को स्पष्ट किया है। उसकी राय में व्यवस्था विश्लेषण सार तैयार करने से प्रभावित होता है और उसमें प्रगतिशील तथा ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य का अभाव होता है। उन्होंने सामान्य व्यवस्था जैसे वाक्यों का उपयोग किया जिसमें विभिन्न व्यवस्थाओं में नियमिताओं का अध्ययन किया। पी.जी. कासानोव ने इसी तरह के अंतर का सुझाव दिया। पहले प्रकार का प्रतिनिधित्व तालकोट पारसंस करता है और इसकी जड़ 19वीं शताब्दी के सकारात्मक सिद्धान्तों में है। दूसरे प्रकार को प्रणाली विश्लेषण कहा जाता है जो निर्णय करने पर जोर देता है और गणितीय अनुप्रयोगों और प्रचालनात्मक शोधों से लाभान्वित है। कासानोवा ने आधुनिक व्यवस्थाओं में इतिहास के परिवर्तनों का अध्ययन किया। इतिहास तथा नीति उन्मुख शोध पर उसके जोर देने के कारण उसे विश्लेषण तथा कार्यात्मकता दोनों व्यवस्थाओं की मौलिक पुनर्व्याख्या करने में उसे सक्षम बनाया।

रुनाल्ड चिलकोट ने व्यवस्थाओं के सिद्धान्त के साहित्य में तीन प्रमुख प्रवृत्तियों की पहचान की है। यह प्रवृत्ति अभिमुखीकरण में गैर-ऐतिहासिक है और इसे कभी-कभी ग्रैंड थ्योरी (ग्रैंड सिद्धान्त) कहा जाता है। यह प्राकृतिक ज्ञानों से निकलकर बढ़ा है। यह डेविड इस्टन के लेखन में पूर्णता को प्राप्त हुआ है। इस्टन का प्रभाव व्यापक था और तुलनात्मक तथा अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति दोनों पर ही इसका गहरा प्रभाव था। कार्ल ड्यूड्स, मार्टनकपलान और हर्बर्ट स्पीरो उससे अत्यधिक प्रभावित हुए थे।

संरचनात्मक तथा कार्य प्रचालनात्मक नाम से प्रसिद्ध एक अन्य प्रवृत्ति पूर्ण होने का प्रयास करती है परन्तु उसका प्रयाह गैर-ऐतिहासिक तथा मध्यम स्तर के विश्लेषण की ओर है। यह दो शैक्षिक परम्पराओं से बढ़ी है। पहली परम्परा में हम मालिनोवस्की, रेडक्लिफ ब्राउन तथा तालकोट पारसंस के कार्यों को रख सकते हैं। दूसरी परम्परा में हम आर्थर बैन्टली तथा डेविड टूमैन के कार्यों का उल्लेख कर सकते हैं। ये दोनों ही परम्पराएँ गैबरियल आलमोंड के योगदानों में मिश्रित हो गई हैं। गैबरियल आलमोंड के संरचनात्मक . कार्यात्मक दृष्टिकोण ने तुलनात्मक राजनीति पर बहुत गहरा प्रभाव डाला है।

तीसरी प्रवृत्ति मूलभूत है और मार्क्सवादी समीक्षा तथा व्यवस्था सिद्धान्त की पुनर्व्याख्या है। यह लोकनीति के काफी मुद्दों को उठाती है और यह तर्क देती है कि हमारे ज्ञान को सामाजिक दृष्टि से तर्क संगत तथा सार्थक बनाने के लिए राजनीतिक व्यवस्था के अध्ययन में उनका पता लगना चाहिए। इसके अतिरिक्त मूल पुनर्व्याख्या राज्य के प्रसंग में प्रणाली की पुनर्व्याख्या करती है और पूँजीवादी राज्यों के सिद्धान्तों पर ध्यान देती है।

2.3 डेविड इस्टन : सामान्य व्यवस्था सिद्धान्त

कार्लमैनहिन ने समाज के अपने अध्ययन में 'व्यवस्थाबद्ध समाजशास्त्र' का प्रस्ताव किया है। उसका अनुसरण करते हुए चार्ल्स मेरियम ने व्यवस्थाबद्ध राजनीतिशास्त्र के बारे में लिखा। समाज और राजनीतिक व्यवस्था की प्रणालीबद्ध व्याख्या के लिए इस शोध को डेविड इस्टन ने राजनीतिक व्यवस्थाओं के अध्ययन के लिए सामान्य व्यवस्थाओं के सिद्धान्त के अपने अनुप्रयोग के लिए जारी रखा। निम्नलिखित विचार-विमर्श ने सर्वप्रथम इस्टन की अवधारणात्मक संरचना के एक वक्तव्य तथा दूसरे इस्टन के दृष्टिकोण को आकार देने के प्रभावों, तीसरे उसके विचारों के अनुप्रयोग तथा अंत में इस्टन के वर्गीकरण के एक आलोचक को शामिल किया जाएगा।

2.3.1 डेविड इस्टन की अवधारणात्मक संरचना इस्टन की अवधारणात्मक संरचना

तीन चरणों में विकसित हुई। प्रथम चरण का प्रतिनिधित्व 1953 में प्रकाशित द पॉलिटिकल सिस्टम से होता है। दूसरे और तीसरे चरणों का प्रतिनिधित्व ए फ्रेमवर्क ऑफ पॉलिटिकल एनालिसिस तथा ए सिस्टम एनालिसिस ऑफ पॉलिटिकल लाइफ द्वारा होता है। ये दोनों ही पुस्तकें एक के बाद एक करके 1965 में प्रकाशित हुईं।

उसकी अवधारणात्मक संरचना चार बातों पर आधारित है।

- (1) ज्ञान के लिए व्यापक तलाश करते समय व्यवस्थाबद्ध सिद्धान्त के निर्माण की आवश्यकता होती है जैसे साधारणीकरण का उच्चतम स्तर।
- (2) राजनीति शास्त्रियों को चाहिए कि वे राजनीतिक व्यवस्थाओं को समग्र रूप में देखें केवल कुछ खास समस्याओं का समाधान पर केन्द्रित न रहें। उन्हें वास्तविक जानकारी तथा व्यापक आँकड़ों का सम्मिश्रण करना चाहिए।
- (3) मनोवैज्ञानिक आँकड़े तथा स्थितिजन्य आँकड़ों से राजनीतिक व्यवस्था पर शोध किया जाता है। जिसे बड़ी हस्तियों तथा भागीदारों को प्रेरित करने और प्राकृतिक तथा सामाजिक वातावरण से निकलने वाले प्रभावों दोनों से ही ये आँकड़े इकट्ठे किये जाने चाहिए।
- (4) राजनीतिक जीवन आमतौर पर असंतुलन की स्थिति में रहता है और व्यावहारिक स्थिति में उस संतुलन का प्रतिपूरक संतुलन कभी प्राप्त नहीं होता।

इस्टन ने राज्य की अवधारणा को भ्रम तथा उसके अनेक अर्थों का जिक्र करते हुए अस्वीकार कर दिया उसने शक्ति को एक महत्वपूर्ण अवधारणा माना जो समाज में सत्तात्मक राजनीति को ढालती है तथा आगे बढ़ती है। यह अन्य लोगों पर कार्य का प्रभाव डालने की योग्यता पर निर्भर करती है। इसलिए नीति के अंतर्गत "फैसलों और कार्यों का जाल होता है जो मूल्यों का निर्धारण करते हैं।"

राजनीतिक जीवन के बारे में इस्टन की अवधारणा समाज के लिए मूल्यों का सत्तात्मक आवंटन है और उसकी दृष्टि में शक्ति, सत्ता, निर्णय करना तथा नीति महत्वपूर्ण है। उसने राजनीतिक व्यवस्था के निम्नलिखित अंगों की पहचान की है:

1. इकाइयों तथा सीमाएँ
2. निवेश तथा उत्पादन
3. व्यवस्था के अंदर भिन्नता
4. व्यवस्था के अंदर एकीकरण

विश्लेषण के उद्देश्य के लिए व्यवस्था का उपयोग, राजनीतिक जीवन को अन्य समाज से अलग करने की अनुमति देता है। 'राजनीतिक क्रियाएँ' राजनीतिक व्यवस्था की इकाइयाँ हैं। माँग तथा सहायता के रूप में निवेश, राजनीतिक व्यवस्था के आहार हैं। पर्यावरण से माँग आती है या व्यवस्था के भीतर ही उठती है। माँगों से मुद्दे बनते हैं जो व्यवस्था के चिन्हित चैनलों द्वारा हल किए जाते हैं। सहायताएँ ही क्रियाएँ हैं या पूर्वाभिमुखीकरण तत्परता या राजनीतिक व्यवस्था का विरोध।

राजनीतिक व्यवस्था से बंधनकारी निर्णय तथा नीति क्रियाओं के रूप में परिणाम उत्पन्न होते हैं। इन निर्णयों तथा क्रियाओं को व्यवस्था के कुछ सदस्यों की माँग पूरा करके वापस पर्यावरण में डाला जाता है। बदले में थे, व्यवस्था के लिए सहायता जुटाते हैं। असंतुष्टीकरण का बुरा नतीजा व्यवस्था में नए माँग के रूप में हो सकता है।

अपने दूसरे फेज में, इस्टन ने अपनी पिछली रूपरेखा का विवरण दिया तथा बहस की कि राजनीतिक व्यवस्था 'एक पारस्परिक क्रिया का सेट है जो सामाजिक व्यवहारों के कुल योग का पृथक्करण है। उन्होंने व्यवस्था के स्थायित्व तथा गतिशीलता के बारे में विचार-विमर्श किया। राजनीतिक व्यवस्था परिवर्तन के समय भी बना रहता है। वे दबाव तथा तनाव का सामना करते हैं। उनमें विवादों को सहन करने की क्षमता होती है।

अपने तीसरे फेज में, इस्टन ने साधारण सिद्धान्त की रचना का प्रयास किया तथा समझाया कि क्यों लगातार संकट की स्थिति में भी प्रणाली दृढ़ रहती है। इसमें उन्होंने व्यवस्था पर पड़ने वाले दबावों के उत्तरों को पढ़ा तथा उनके नतीजों पर विशेष सहायता नियंत्रक के रूप में विचार-विमर्श किया। अंतः उन्होंने आनुभविक खोज का ढाँचा प्रदान करने की उम्मीद जताई।

इस्टन ने दावा किया कि उनका राजनीतिक विश्लेषण स्थिर होने के बजाय गतिशील है तथा व्यवस्था स्थायित्व की उनकी अवधारणा बनाबट में परिवर्तन की तब तक अनुमति देता है, जब तक उनका नियम बनाने वाली प्रक्रिया की ओर पूर्णतः विलय नहीं हो जाता है। प्रणाली सिद्धान्त क्रांतिकारी परिवर्तन की व्याख्या नहीं कर सकती है।

2.3.2 इस्टन के दृष्टिकोण को स्वरूप देने वाले प्रभाव

मेकेंनजी के अनुसार, इस्टन एक आन्दोलन में शामिल हो गया जिसका उसने आरम्भ नहीं किया था और इस संबंध में इस्टन द्वारा बनाए गए सिद्धान्त का प्रतिपादन भी नहीं किया है। उस पर 40 वर्ष पूर्व शुरू एक परम्परा से अपने विचार ग्रहण किए जिसे चार्ल्स मेरियम जार्ज कैटलिन हैराल्ड लासवेल और कुछ अन्य विचारकों ने शुरू किया था। उन्हीं की तरह इस्टन का भी विश्वास था कि कानूनी संस्थाओं, दलों और उन पर प्रभाव डालने वाले समूहों की ओर ध्यान अब पुरानी प्रणाली हो चुकी है और राजनीति विज्ञान को राजनीतिक प्रणाली के बारे में समग्र रूप से सिद्धान्त तैयार करना चाहिए।

इस्टन ने तालकोट पारसंस की ओर भी ध्यान दिया था जिसने वेबर से संदर्भ कार्य। फ्रेम प्राप्त किया था जिसका इस्तेमाल सामाजिक विज्ञान के वृहत् सिद्धान्त पर किया जा सकता है। तालकोट पारसंस ने सिद्धान्त व्यवस्था के बारे में साधारणीकरण के सूत्र तैयार किए, परन्तु डेविड इस्टन के अनुसार उसने राजनीतिक सिद्धान्त की वैधता पर सवाल खड़ा किया। इसका तात्पर्य यह है कि इस्टन के दृष्टिकोण पर उसका प्रभाव सीमित था। इस्टन के कार्य में कहीं-कहीं पर कुछ मानव विज्ञानियों – मालिनोवाकी रौंडक्लीफ – ब्राउन तथा मार्टन और लेवी, जैसे समाजशास्त्रियों का उल्लेख किया गया है। परन्तु इस्टन ने यह भी तर्क दिया कि तथाकथित संरचनात्मक विश्लेषण कोई सिद्धान्त नहीं है बल्कि सभी वैज्ञानिक शोधों के लिए मूलभूत अवधारणा है वास्तव में यह आधारभूत रूप से सैद्धान्तिक विषयों से रहित है।

सामाजिक मनोविज्ञान पर किए गए कार्यों ने इस्टन पर प्रभाव डाला जिससे राजनीतिक विश्लेषण के लिए उसके अवधारणात्मक ढाँचे में निर्णय करना एक तथ्य बन गया। इस्टन का दृष्टिकोण वृहत् आर्थिक अवधारणाओं द्वारा भी प्रभावित हुआ था। विलियम मीटचेल ने कहा कि इस्टन की आवंटन की अवधारणा अर्थशास्त्र में संसाधनों के आवंटन तथा वितरण के सिद्धान्तों विशेषकर नयउत्कृष्ट सिद्धान्त से साम्य रखता है। डेविड इस्टन ने अर्थशास्त्र से अभाव, आयंटन, प्रतियोगिता, अधिकतमीकरण होमियोस्टैटिक संतुलन, कार्यात्मक अंतर-निर्भरता, आत्मनियमन, लक्ष्य-अन्वेषण तथा फीड बैक जैसे अवधारणाओं को अपनाया। इस्टन के व्यवस्था दृष्टिकोण भी भौतिक और जीव विज्ञानों से लिये गये थे। इस प्रकार वह समग्र प्रणाली को समझने के अंतर-विभागीय परम्परा में सम्मिलित हो गया। इरविन लास्जलो ने निष्कर्ष दिया है:

अनवेषी मस्तिष्क के लिए आजकल जो सबसे सतत तथा सर्वाधिक उपलब्ध प्रतिमान है वह है व्यवस्थाओं का निदर्शन—प्रणालियों का दार्शनिक उदाहरण जो मनुष्य को एक ठोस और वास्तविक भौतिक, जैविक तथा सामाजिक व्यवस्थाओं जैसे प्राकृतिक क्रम परम्पराओं को अपने दायरे में समाहित किए हुए हैं।

इस्टन नए 'संचार विज्ञानों' द्वारा प्रभावित हुआ है और उसकी निवेश तथा उत्पादन संरचना कार्ल ड्यूस के संचार माडल की अपेक्षा अधिक निकट है। दोनों का विश्वास है कि राजनीतिक व्यवस्था में ऐसी फीडबैक प्राप्त करने की व्यवस्थाएँ हैं जो व्यवस्था के लिए सकारात्मक या नकारात्मक तरह की सूचना संप्रेषित करने में सक्षम हैं। इस प्रकार संतुलन की एक खास स्थिति समग्र व्यवस्था की राजनीतिक पहचान में कोई गड़बड़ी पैदा किए बिना बदलाव ला सकती है।

2.4 इस्टन के वर्गीकरण की आलोचना

इस्टन के वर्गीकरण की आलोचनाओं में तीन क्षेत्रों पर विशेष जोर दिया जाता है। (1) अवधारणात्मक अपर्याप्तता, (2) संचालनात्मक कठिनाइयाँ, और (3) सैद्धान्तिक स्थिति।

1. अवधारणात्मक अपर्याप्तता

अनेक आलोचकों ने अपर्याप्त अवधारणाओं के आधार पर इस्टन के कार्यों की आलोचना की है। उसकी कृतियों में चुनौतियों के सामने स्थिरता और सत्यता के साथ अधिक लगाव और वास्तविक राजनीतिक जीवन में संघर्ष मौजूद है। मूल्यों के आवंटन की केन्द्रीय अभिमुखी अवधारणा तथा संसाधनशाला के इस्तेमाल की ओर बहुत अधिक ध्यान दिया गया है।

फॉरसन ने तर्क दिया है कि व्यवस्था का लगातार बने रहना न केवल इस्टन के सिद्धान्त का मुख्य विषय है बल्कि उसकी व्याख्या का भी विषय है। व्यवस्था के लगातार बने रहने पर हर बार लागू है। यूरोप और एशिया के कई देशों तथा अन्य देशों में लगातार बने रहने की अवधारणा द्वारा असली स्थितियों को स्पष्ट नहीं किया जा सकता। मिलर, रिडिंग और लेजली ने भी बदलती हुई राजनीतिक वास्तविकताओं के संदर्भ में संतुलन और सातत्य को अनुप्रयोग लायक नहीं माना है।

विलियम मिचेल ने इस्टन की राजनीतिक अवधारणा की आलोचना की है और उसे मूल्यों का आवंटन बताया है जो राजनीति के सिद्धान्तीकरण में गुमराह करने वाले स्वीकृतियों की ओर ले जाते हैं। इसका यह भी तात्पर्य है कि राजनीतिक व्यवस्थाओं का एक ही कार्य है, आवंटन इतना ही नहीं राजनीतिक व्यवस्था समाज के सभी मूल्यों का आवंटन नहीं करती है। अर्थव्यवस्था आय और संसाधनों का वितरण करती है। सत्ता के प्रश्न दिलचस्पी रखने वाले समूहों की माँगों की ओर बहुत अधिक ध्यान देने से जटिल हो जाते हैं। जबकि, वास्तव में, सरकार की माँगें और लोगों पर सत्तारूढ़ वर्गों की माँगें अपेक्षाकृत अधिक महत्वपूर्ण हो सकती हैं। सीमा के साथ इस्टन के अधिक ध्यानमग्नता की भी आलोचना की गई थी। यह संकेत किया गया कि राजनीतिक व्यवस्थाओं को आर्थिक सामाजिक और सांस्कृतिक एवं मनोवैज्ञानिक प्रणाली से अलग-थलग नहीं रखा जा सकता। डेविड सिंगर ने तर्क दिया कि हमें इन प्रणालियों के बीच में मौजूद धुंधली सीमाओं को पार करना चाहिए और साथ ही कार्य की कई एक दूसरे पर प्रभाव डालने वाली तथा भ्रामक प्रणालियों के साथ तालमेल रखने का प्रयास करना चाहिए। इसे सफलतापूर्वक करना होगा। इवान्स ने निष्कर्ष दिया कि सीमा की अवधारणा को अस्पष्ट बनाते हुए राजनीतिक और गैर राजनीतिक के बीच अंतर को परिभाषित करने में इस्टन विफल रहा।

उपर्युक्त समस्याएँ मानव तत्व से इस्टन के बचने के कारण पैदा हुई। इस्टन आलमोंड और पारसंस एक ऐसे 'कार्य स्कूल व्यवस्था' से सम्बद्ध थे जिसने वैयक्तिक और लोगों के समूह को राजनीति में सक्रिय सहभागी बनाने का परिवर्जन किया।

2. प्रचालनात्मक कठिनाइयाँ

इस्टन की अवधारणात्मक संरचना से अभी तक ऐसी परिकल्पनाएँ नहीं निकली जो परीक्षण करने योग्य हों। उसके वर्गीकरण ने राजनीति शास्त्र के अध्ययन पर प्रभाव डाला "परन्तु तुलनात्मक राजनीति के लिए बहुत कम अनुभवजन्य परिणाम हैं। क्योंकि तरीके का प्रचालन करना कठिन है।

उनकी संरचना की समस्या यह है कि यह एक ही साथ यांत्रिक और कलात्मक दोनों है। ऐसे मशीन की तरह जो जिन्दा है। अपने विचार के महत्वपूर्ण उत्पत्ति के बावजूद इस्टन ने कारण और प्रभाव शब्दावली का इस्तेमाल किया इसलिए उसकी संरचना में प्रचालनात्मक संभावनाओं का अभाव है।

थोरसन ने तर्क दिया है कि वह राजनीति के सामान्य सिद्धान्त का सृजन कर रहा है और वास्तविक जगत में किसी ठोस ऐतिहासिक दृष्टि से मौजूद किसी राजनीतिक व्यवस्था के अध्ययन के लिए इसे लागू करना मात्र भ्रम है। यह व्यर्थ का प्रयास होगा। कैंस ने अपने सिद्धान्त के सार के सिद्धान्त की संक्षिप्त समीक्षा में इस्टन की राजनीति की खोखली परिकल्पना के बारे में कहा है कि यह सिद्धान्त कृत्रिम प्रकृति का है।

3. सैद्धान्तिक अभिविन्यास

इस्टन के दृष्टिकोण में कुछ सैद्धान्तिक अभिविन्यास हैं। ऐसा लगता है कि इसमें यथास्थिति को ही उचित ठहराया गया है। वास्तव में, यह विश्लेषण की स्थैतिक व्यवस्था है। इस तथ्य से कोई इंकार नहीं कर सकता है कि इस्टन के वर्गीकरण की प्रकृति इसे अपेक्षाकृत आसान बना देती है कि वह दकियानुसी पद्धतियों में प्रवेश कर जाए। रूढ़िवादी पूर्वाग्रह कार्यवाद के अंदर मौजूद ऐसी विशेषता है जिसे राजनीतिक विज्ञान में व्यवस्थाओं के विश्लेषण में अपना लिया गया है। व्यवस्थाओं के दृष्टिकोण का मुख्य उद्देश्य अन्य व्यावहारिक उदाहरणों जैसे उदार पूँजीवादी समाज की प्रबल विचारधारा को स्वीकृति की वैधता प्रदान करना है।

यूजेन मिलर ने कहा है कि इस्टन एक बौद्धिक संकट तथा लोकतांत्रिक उदारवाद की अनिवार्य सफाई से चिन्तित था। उसने राजनीतिक सिद्धान्त के अभाव के लिए ऐतिहासिकता को दोषी ठहराया। वैज्ञानिक तथा आकस्मिक सिद्धान्त के नाम पर उसने राजनीतिक प्रणाली की यथा स्थिति से उत्पन्न एक सामान्य सिद्धान्त पेश किया। उसके लिए मूल्य सिद्धान्त का महत्व खत्म हो गया क्योंकि उसने अनुभवजन्यता के सिद्धान्त के प्रति इच्छा जताई।

व्यवस्था विश्लेषण में स्थिर दशा संशक्ति तथा संतुलन को अपनाया। इस्टन ने राजनीतिक संघर्ष भयंकर परिवर्तन वर्ग विरोध तथा प्रस्ताव पर ध्यान देने से इंकार कर दिया। उसने 1969 में खुद स्वीकार किया 'इस बात में बहुत कम संदेह रह जाता है कि राजनीति शास्त्र एक ऐसा उद्गम है जो हमारे ऊपर पड़ने वाले संकटों का पूर्वानुमान लगाने में विफल रहा है। यह पिछले दो दशकों के दौरान राजनीति विज्ञान पर इस्टन की अपनी ही कृतियों पर समान रूप से लागू हुआ। उसके वर्गीकरण में रुढ़िवादी पूर्वाग्रह है जिसने सामाजिक दृष्टि से तर्कसंगत मुद्दों का पता लगाने से रोक दिया।

2.5 संरचनात्मक कार्यात्मक दृष्टिकोण का विकास

संरचनात्मक कार्यात्मक दृष्टिकोण क्रमबद्ध विश्लेषण का एक ऐसा रूप है जिसमें राजनीतिक व्यवस्था को सुसंगत समग्र रूप में देखा जाता है जो हमारे पर्यावरण को प्रभावित करता है और बदले में उससे प्रभावित भी होता है। प्रणाली में वैध शक्ति की लगातार उपस्थिति से राजनीतिक व्यवस्था एक साथ जुड़ी रहती है। इसकी तीन विशेषताएँ हैं: व्यापकता, स्वतंत्रता तथा सीमाओं का अस्तित्व। एक व्यवस्था के भीतर जो अन्तःकार्य होते हैं, परन्तु ये व्यक्तियों के बीच नहीं होते हैं, बल्कि उन व्यक्तियों द्वारा अपनाई जाने वाली भूमिकाओं में होते रहते हैं। अन्ततः राजनीतिक व्यवस्था एक खुली प्रणाली है जो अपनी सीमाओं के बाहर इन प्रणालियों के साथ संप्रेषण में लगी रहती है।

2.5.1 गैब्रियल आलमोंड की अवधारणात्मक संरचना

गैब्रियल आलमोंड की अवधारणात्मक संरचना में तीन चरण शामिल हैं। उसने 1956 में एक लेख लिखा जिसमें कहा था 'व्यवस्था एक ऐसी अवधारणा है जिसमें राजनीतिक निर्णय करने वाले सभी सार्थक कार्य शामिल होते हैं। उसके विचार में प्रणाली प्रक्रिया की तुलना में अधिक महत्वपूर्ण होती है क्योंकि व्यवस्था का तात्पर्य समग्रता, समग्रता के दायरे में इकाइयों के बीच अंतरकार्य तथा इन अंतरकार्यों में स्थिरता है जिसे उसने 'बदलता हुआ संतुलन' बनाया।

आलमोंड ने राजनीतिक व्यवस्थाओं के कार्यों की अवधारणा करते समय मैक्सवेबर तथा तालकोट पारसंस पर निर्भरता बनाए रखी और संस्था की कानूनी शब्दावली को विस्थापित करते हुए संरचना तथा भूमिका जैसी अवधारणाओं, समूह अथवा संगठन की ओर ध्यान दिया। अंत में उसने राजनीतिक संस्कृति की ऐसी अवधारणा पेश की जिसमें राजनीतिक कार्य के लिए अनुकूलन की एक खास पद्धति अंतरनिहित है। ये नमूने आमतौर पर राजनीतिक प्रणाली की सीमाओं के बाहर तक फैले हुए हैं।

प्रिन्स्टन यूनिवर्सिटी में आलमोंड तथा उनके सहयोगियों ने 1958 तथा 1959 ई. में विकासशील देशों में राजनीति पर मुख्य रूप से ध्यान दिया उसने इन विकासशील देशों में हो रहे परिवर्तन के लिए संरचना तथा कार्यों की अपनी अवधारणाओं को लागू किया और उनके संविधानों तथा औपचारिक सरकारी संस्थाओं की जाँच की ओर ध्यान नहीं दिया। बाद में आलमोंड तथा कोलमैन ने इस विषय पर पॉलिटिक्स ऑफ डेवलपिंग एरियाज शीर्षक से एक पुस्तक का संपादन और प्रकाशन किया।

आलमोंड और उसके सहयोगियों ने तुलनात्मक राजनीति की नई अवधारणाओं को प्रस्तुत किया। राजनीतिक व्यवस्था की अवधारणा ने राज्य तथा वैधानिक उपकरणों को विस्थापित किया। संरचना ने संस्था का स्थान लिया। भूमिका ने कार्यालय का स्थान लिया और कार्य ने शक्ति का स्थान ग्रहण किया। आलमोंड ने सुझाव दिया कि सभी राजनीतिक व्यवस्थाओं की चार विशेषताएँ होती हैं:

- i) सभी राजनीतिक व्यवस्थाओं के संरचना होती हैं।
- ii) सभी राजनीतिक व्यवस्थाओं में एक जैसे राजनीतिक कार्य किये जाते हैं।
- iii) सभी राजनीतिक संरचनाएं बहुप्रकार्यात्मक होती हैं।
- iv) सभी राजनीतिक व्यवस्थाएँ सांस्कृतिक दृष्टि से मिश्रित होती हैं।

उसके बाद आलमोंड ने निवेशों और उत्पादनों में अपने काम चलाऊ श्रेणियों का वर्गीकरण करते हुए रूपरेखा प्रस्तुत की :

निवेश कार्य:

- राजनीतिक सामाजीकरण तथा भर्ती
- हितों का अभिव्यक्तीकरण
- हितों को जोड़ना
- राजनीतिक संप्रेषण

- उत्पादन कार्य
- नियम बनाना
- नियम लागू करना
- नियम अधिनिर्णय

उत्पादन सरकार के कार्य हैं जो परम्परागत विधायी कार्यकारिणी तथा न्यायिक कार्यों के अनुरूप होते हैं। तुलनात्मक राजनीति के परम्परागत अभिमुखीकरण को प्रदर्शित करते हुए वे सरकार अमरीकी तथा यूरोपीय अवधारणाओं के प्रति पूर्वाग्रह प्रदर्शित करते हैं लेकिन आलमोंड ने तर्क दिया है कि निवेश कार्य विकासशील देशों में राजनीतिक प्रणालियों की विशेषताओं के मामले में निर्णायक हैं।

निवेश कार्य प्रणाली के प्रमुख तत्व हैं जो समस्याओं तथा मुद्दों की पहचान करते हैं विचार करते हैं तथा उनको हल करते हैं। स्पिरो ने इस प्रक्रिया को “नीति-प्रवाह” बताया तथा इस्टन ने अपनी व्याख्या में बताया कि इसमें कार्य की माँग तथा समर्थन शामिल है। आलमोंड ने कहा है कि राजनीतिक सामाजीकरण, परिवार, विद्यालय, चर्च, मजदूर यूनियन दल तथा सरकारी एजेंसियों के जरिये स्वरूप ग्रहण करता है जिसमें विभिन्न सामाजिक समूहों से लोगों को राजनीतिक दलों तथा सिविल सेवाओं आदि में भर्ती करने की प्रक्रिया भी शामिल है।

दिलचस्पी व्यक्त करने में कार्य करने के लिए माँग तथा राजनीतिक दिलचस्पी की अभिव्यक्ति शामिल है। हितों के जुड़ने की प्रक्रिया में उन हितों और माँगों को सम्मिलित किया जाता है जिन्हें दिलचस्पी वाले समूहों तथा राजनीतिक दलों द्वारा अभिव्यक्ति किया जाता है। इन सभी राजनीतिक कार्यों में मदद करता है। राजनीतिक सामाजिकता भर्ती कार्य तथा अभिव्यक्ति और अधिक से अधिक हितों के जुड़ने आदि का कार्य संप्रेषण द्वारा होता है।

गैब्रियल आलमोंड ने कहा है कि राजनीतिक संस्कृति द्वैतवादी है, अद्वैतवादी नहीं। राजनीतिक व्यवस्था को आधुनिक तथा पारंपरिक, विकसित तथा कम विकसित, औद्योगिक या कृषिक रूप में दर्शाया जा सकता है। राजनीतिक व्यवस्था विकास की कई अवस्थाओं से होकर गुजरता है। राजनीतिक व्यवस्था के विकास के उच्च स्तर पर पहुँचते ही इसकी संरचना बहुत विशिष्ट हो जाती है। आलमोंड ने उन्हें प्राचीन, पारम्परिक, परिवर्ती तथा आधुनिक प्रणालियों में विभक्त किया।

कम विकसित व्यवस्था ‘पारम्परिक’ एकनिष्ठता, आरोपणशीलता तरीके के विस्तार को दर्शाते हैं। विकसित व्यवस्था ‘बुद्धि संगत’ तरीके के विशिष्टता, सर्वव्यापक, कार्यसम्पादन तथा उदार उन्मुखता को दर्शाते हैं। आधुनिकीकरण का यह तरीका कभी पूर्ण नहीं होता है। आलमोंड ने अपने इस सिद्धान्त को ‘संभावित’ सिद्धान्त कहते हुए यह सुझाव दिया कि “इस राजनीतिक व्यवस्था का खास संरचना द्वारा खास क्रिया के निष्पादन के लिए संभावना के तौर पर तुलना किया जा सकता है”।

सामाजिक के संरचना का तीसरे चरण में विकास किया गया, जब उन्होंने पावेल के साथ मिलकर ‘कम्परेटिव पॉलिटिक्स – ए डेवलेपमेंटल एप्रोच’ का प्रकाशन 1966 में किया। अब उन्होंने परिवर्तन प्रक्रिया की अवधारणा को सामने रखा, जिसे राजनीतिक व्यवस्था में माँग एवं पूर्ति के बहाव में बदलाव की अनुमति होती है। उस व्यवस्था से निष्कर्ष नियम, वितरण का समाज में प्रवाह होता है।

उन्होंने यह बहस की कि उनकी राजनीतिक व्यवस्था एक-दूसरे पर आश्रित है जिसका मतलब समन्वय नहीं है। उन्होंने यह दावा किया कि उनका सिद्धान्त सक्रिय है क्योंकि इसमें “विकास के पैटर्न” हैं। उन्होंने अपनी संरचना को राजनीतिक विकास की अवधारणा से जोड़ा।

आलमोंड ने शक्ति स्तर की क्रियाओं को अपने मॉडल में शामिल किया। एक स्तर परिवर्तन क्रियाओं से बना हुआ है: दिलचस्पी उच्चारण, दिलचस्पी कुलयोग, राजनीतिक संप्रेषण, नियम बनाना, नियम लागू करना तथा नियम अधिनिर्णय। इन क्रियाओं का निवेश माँग तथा सहायताएँ तथा क्रियाओं को राजनीतिक प्रणाली के भीतर समाहित करने से संबंध है। माँगों को दिलचस्पी उच्चारण की तरह परिभाषित किया जाता है तथा उनका दिलचस्पी कुलयोग से वैकल्पिक क्रिया के रूप में रूपांतरण हो जाता है। नियमों को नियम बनाने वाले से लिया गया है। उन्हें नियम लागू करने वाले के जरिये लागू किया जाता है तथा उन्हें नियम अधिनिर्णय के द्वारा परखा जाता है। संप्रेषण इन सभी क्रियाओं को पूरा करता है।

दूसरे स्तर में प्रतीकात्मक कार्य: विनियम, निष्कर्षण, वितरण तथा प्रतीक अनुक्रिया शामिल है। ये कार्यकलाप पर्यावरण से संबंधित हैं। आलमोंड ने बताया है कि लोकतांत्रिक व्यवस्थाओं में विनियमन का निर्गत, विकर्षण और वितरण समूहों की माँगों के निवेशों द्वारा अपेक्षाकृत अधिक प्रभावित होते हैं। इसलिए इन व्यवस्थाओं की उच्चतर सहानुभूतिपूर्ण क्षमता होती

है। सर्वसत्तात्मक व्यवस्थाएँ माँगों के प्रति कम उत्तरदायी होती हैं। वे बल प्रयोग के जरिये विनियमन व्यवहार करती हैं और अपने लोगों से अधिकतम संसाधनों का दोहन करती हैं। प्रतीकात्मक क्षमता एक विशेष व्यवस्था से प्रतीक प्रवाह से संबंध रखती है जो सूचना पर्यावरण में जैसे राष्ट्रों के समुदाय में उसकी तस्वीर से संबंध करती है।

कार्यों का तीसरा स्तर राजनीतिक व्यवस्था के रख-रखाव तथा उसके अपनाने से संबंध है। उनमें राजनीतिक सामाजिकरण तथा भर्ती शामिल है। आलमोंण्ड के अनुसार राजनीतिक व्यवस्था का सिद्धान्त तीनों स्तरों में संबंधों तथा हर स्तर पर कार्यों के संबंधों पर आधारित है।

1969 में, आलमोंण्ड ने अपने अवधारणात्मक संरचना की समीक्षा की और एक शोध डिजाइन का प्रस्ताव किया जिसका उद्देश्य एव आक्सिमक योजना का इस्तेमाल करते हुए ऐतिहासिक अनुभव के क्रमबद्ध शोषण के थोड़ा और निकट हमें ले जाना था जिसमें प्रणाली – कार्य विश्लेषण, समग्र मात्रात्मक विश्लेषण, तथा विकास प्रकरणों के स्पष्टीकरण में उपर्युक्त बिन्दुओं पर तर्क संगत चयन विश्लेषण करना था इस दृष्टिकोण में उसके संरचनात्मक – कार्य फार्मले को कायम रखा गया परन्तु इसे अन्य दृष्टिकोणों के साथ सम्मिलित कर दिया गया। ताकि इसे अनुभव सिद्ध करके और लाभकारी बनाया जाए।

2.5.2 आलमोंण्ड के दृष्टिकोण को स्वरूप देने वाले प्रभाव

आलमोंण्ड के दृष्टिकोण को स्वरूप प्रदान करने वाले प्रभाव इस्टन के व्यवस्था विश्लेषण पर प्रभाव डालने वाले तत्वों जैसे ही हैं। उसके परिप्रेक्ष्य भी रैडक्लीफ, ब्राउन और मालिनोवस्की, पारसंस तथा इस्टन की कृतियों से निकले हुए हैं। समूची प्रणाली के साथ आलमोंण्ड के जुड़ाव कारण इसे विशाल संरचनात्मक कार्यवाद की पद्धति कहा जा सकता है। आलमोंण्ड के विचार का एक अन्य प्रभाव बहुवाद तथा उदारतावाद की परम्पराओं से सम्बंध है तथा यह आर्थर बेटले, डेविड टूमे तथा राबर्ट डहल की कृतियों द्वारा समझाया गया है। प्रणाली के भीतर हितों की बहुलता से इसके संबंध के कारण इसे सूक्ष्म संरचनात्मक कार्यवाद की पद्धति कहा जा सकता है।

आलमोंण्ड ने हालाँकि कार्यवाद की पारसंस की अवधारणा को फिर से दोहराया है। पारसंस की योजना के दो पहलूओं ने आलमोंण्ड के फार्मले को प्रभावित किया है। वे हैं एक्शन के सिद्धान्त और सामाजिक व्यवस्था। इसके अलावा पारसंस की ही तरह आलमोंण्ड की भी व्यक्तित्व तथा संस्कृति के विषयों में दिलचस्पी थी। आलमोंण्ड ने पारसंस द्वारा प्रस्तावित प्रतिमान भिन्नताओं की अवधारणा का इस्तेमाल किया वे थे: (1) भावात्मकता बनाम भावनात्मक तटस्थता, (2) आत्म अभिमुखीकरण बनाम सामूहिक अभिमुखीकरण (3) सार्वभौमिकता बनाम एकनिष्ठता (4) उपलब्धि बनाम आरोपण (5) विशिष्टता बनाम विसारितता। आलमोंण्ड ने राजनीतिक संस्कृति को राजनीतिक व्यवस्था से संबंध बताने में उसका इस्तेमाल किया।

अन्तर कार्य तथा संतुलन का विचार आलमोंण्ड के संरचनात्मक कार्यवाद के मध्यवर्ती सिद्धान्त में निहित है। आर्थर बेटले के प्रोसेस ऑफ गवर्मेंट में बहुवाद प्रक्रिया तथा संतुलन के संबंध होने के बारे में प्रस्ताव किया गया था और डेविड टूमेन की पुस्तक गवर्मेंटल प्रॉसेस में इसी को फिर से बताया गया। आलमोंण्ड ने बहुवाद सिद्धान्त को कार्यवाद की संरचना में बहुत सही ढंग से सम्मिलित कर लिया गया। इससे आलमोंण्ड का दृष्टिकोण पक्षपात पूर्ण माफी माँगने वालों के स्तर तक हो गया है जो पश्चिमी उदारवादी राजनीतिक व्यवस्था की एक वैचारिक व्याख्या का रूप ले लिया है।

2.6 आलमोंण्ड की कार्य प्रणाली और सिद्धान्त की आलोचना

आलमोंण्ड के संरचनात्मक कार्यवाद की तीन आधारों पर आलोचना की गई है: (1) रूढ़िवादी सिद्धान्त (2) अवधारणात्मक भ्रम, तथा (3) प्रचालनात्मक सीमाएँ।

1. रूढ़िवादी सिद्धान्त

आलोचकों के अनुसार संरचनात्मक प्रकार्यवाद दृढ़ता, रूढ़िवादी तथा प्रतिबंधात्मक सिद्धान्तों पर आधारित होता है। डॉन मार्टिनिडेल ने कार्यवाद की चार खामियों का संकेत किया है। यथास्थिति के लिए रूढ़िवादी सिद्धान्त के पूर्वाग्रह तथा तरजीह्य कार्य प्रणाली की स्पष्टता का अभाव, सामाजिक जीवन में बंद व्यवस्थाओं की भूमिका पर आवश्यकता से अधिक जोर तथा सामाजिक परिवर्तन से निपटने में विफलता।

सी राइटमिल्स ने कार्यवाद के पक्षधरों के लेखन में रूढ़िवादी पूर्वाग्रहों की आलोचना की है जो कि एक महान सिद्धान्त था जो कि न तो तथ्यों से संबंध था न ही सिद्धान्त के स्तर पर पहुँचा था। बैरिगटनमूल, अलदरेन्दोर्फ तथा एण्ड्रूहेकर ने भी इसी रूढ़िवादी पूर्वाग्रह की आलोचना की है। स्पीरो ने आलमोंण्ड के कार्य को मानव केन्द्रित समझा और लीजफार्ट ने ऐसी स्थिरता पर जोर देने वाला बताया जो एक एग्लो-अमरीकी उदार पूँजीवादी सिद्धान्तों से परिलक्षित होती है। सैनफोर्ड ने आलमोंण्ड के खिलाफ इसी तरह का आरोप लगाया।

अन्य आलोचकों ने कार्यवादियों पर उदारवादी पूर्वाग्रह का आरोप लगाया जो यह विश्वास करते हैं कि बाजार के स्थान की स्वतंत्रता के साथ किसी प्रकार की हस्तक्षेप पर अक्षमता आती है और प्रणालियों के स्वाभाविक लाभ को सीमित कर देती है। चार्ल्स पावेल ने आलमॉण्ड की कार्य प्रणाली में अमरीकी सांस्कृतिक पुराण कथाओं का प्रतिबिम्ब पाया। उसके रुचि वाले समूह का दृष्टिकोण ऐसे वर्ग रहित समाज पर आधारित था जो धार्मिक और जातीय भेदभावों के द्वारा स्तरबद्ध था। ... राज्य गैर पक्षपातपूर्ण संदर्भ की तरह कार्यवादी संघर्ष के प्रस्ताव की संरचना में मुरझा जाता है। उसने निष्कर्ष में कहा कि आलमॉण्ड का संरचनात्मक कार्यवाद राजधर्म समर्थक, गैर संचालनात्मक औपचारिक रूप से अपर्याप्त है। शोध के वाहक के रूप में यह कहीं नहीं जाता और प्रवचन की भाषा के रूप में यह धुंधलेपन की ओर ले जाता है। संरचनात्मक कार्यवाद का बहु-वादी तटस्थतावाद इसे एक निरर्थक सिद्धान्त का रूप दे देता है।

2. अवधारणात्मक भ्रम

आई. सी. जार्वी ने तर्क दिया कि कार्यवाद स्पष्टता लाने की शक्ति के अभाव में स्पष्टीकरण में संतोषीकरण का अभाव तथा इसकी स्वीकृतियों के संकुचित प्रभाव और सामाजिक व्यवस्थाओं के कार्य तथा स्वभाव के कारण सीमित है। आलमॉण्ड के सिद्धान्त की ग्रोथ की आलोचना में इसके खिलाफ तीन बिन्दु हैं: शब्दावली में अस्पष्टता, राजनीतिक संबंधों के निर्धारण में कठिनाइयाँ तथ्यों तथा मूल्यों के इस्तेमाल में भ्रम। मेलामसन तथा काइंड ने भी सिद्धान्त से अलग हुए भावनात्मक विस्तार के साथ सम्मोह तथा उसकी भाषाओं की क्लिष्टता की आलोचना की है।

मैकेंजी का विचार था कि संरचनात्मक कार्यवाद महज ऐसी शब्दावली है जिसने सत्य को रहस्यमय बना दिया। उसने कहा कि एक प्रकार से आलमॉण्ड के शब्द पुराने शब्दों से बेहतर नहीं हैं क्योंकि उनसे बेहतर परिभाषाएँ नहीं बनती। एस ई फाइनर ने आलमॉण्ड की राजनीतिक व्यवस्था के शब्दावली के बारे में कहा 'आलमॉण्ड को जो कुछ कहना था उसे उसने इस प्रणाली के दृष्टिकोण को इस्तेमाल में लाए बगैर ही कह दिया होता और उस स्थिति में यह अपेक्षाकृत अधिक स्पष्टता से कह दिया गया होता। फाइनर फैशनेबल अवधारणाओं के इस्तेमाल से घृणा करता था। उसने सोचा कि आलमॉण्ड की राजनीतिक अवधारणा गलत तरीके से सोची गई थी और उसकी प्रणाली का सिद्धान्त उसके निवेशों तथा उत्पादनों के साथ बेकार और भ्रमित करने वाला था।

हैम्पेल ने तर्क दिया कि कार्यवाद अतार्किक है। सरमनरॉय क्रूक के विचार में इसमें प्रणालियों की एकजुटता को बढ़ा चढ़ा कर कहने और अस्पष्ट वर्णन के कारण लक्ष्य को जटिल बनाने तथा विश्लेषण की कमी है।

3. प्रचालनात्मक सीमितताएँ

संरचनात्मक कार्यवाद की एक व्यवस्था होती है जहाँ आदर्श स्थितियाँ व्यवस्थाओं की निश्चित स्थितियों के साथ भ्रमित हो जाती हैं। टेरी एण्ड क्लॉर्क ने संस्थागत राजनीतिक व्यवहार के संरचनात्मक कार्यात्मक अत्यधिक जोर देने के बारे में शिकायत की है। अन्य आलोचकों ने बताया कि संरचनात्मक कार्यावादियों के परिष्कार करने, संचालन करने और परिकल्पनाओं के परीक्षण के अत्यधिक कठिन कदम नहीं उठाएँ। इन विफलताओं का कारण उसने लेखकों की सीमाओं, के सिद्धान्त के विकास में प्रारंभिक अवस्था तथा कार्यवाद की कमियाँ बताई।

हॉल्ट और टर्नर के अनुसार आलमॉण्ड ने आधुनिक प्रणाली को संरचनात्मक रूप से भिन्न तथा धर्म निरपेक्षा बताया परन्तु इस फार्मूले के साथ उसने सीमितताएँ पाई। उन्होंने कहा कि ऐतिहासिक और समसामयिक मामलों को शामिल करने के लिए व्यापक स्तर पर लागू करना कठिन है। फार्मूला तैयार करने में आधुनिक राजनीतिक व्यवस्था को आधुनिक एग्लो अमरीकी लोकतांत्रिक व्यवस्था के साथ समानता करने के प्रभाव को भी देखा गया है। इसकी परिभाषाओं में बहुत अधिक आयाम लागू होते हैं और यह सरकार के सामाजिक कार्यों में भिन्नता की समस्या की उपेक्षा करता है।

उन्होंने एक उदाहरण दिया, आलमॉण्ड के अनुसार सोवियत संघ में कोई आधुनिक प्रणाली नहीं थी। इसकी संरचना में भिन्नता तथा स्वायत्तता का अभाव था। इस प्रकार आलमॉण्ड के विचार में यह पारम्परागत थी। हॉल्ट और टर्नर ने इस वर्णन का खंडन किया और इस बारे में व्यक्त किए गए अनेक प्रकार के हितों का उल्लेख किया। खासतौर पर स्टालिन के बाद की अवधि में व्यक्त किए गए विचारों का उल्लेख किया। आलमॉण्ड के वर्गीकरण बड़े ही कठोर थे और उनकी व्यवस्था की योजना से संबंध नहीं थे। आलमॉण्ड के अन्य आलोचकों ने सुझाव दिया कि कार्य सिद्धान्त को यदि सावधानी से रखा जाए तो यह भावनात्मक रुचिकर परिकल्पनाएँ पैदा कर सकता है जो शोध में लाभदायक सिद्ध होंगी।

2.7 सार्वजनिक नीति : कुछ परिप्रेक्ष्य

कोई राजनीति व्यवस्था अपना लक्ष्य कैसे प्राप्त कर सकती है, इसका पता लगाने के लिए डेविड इस्टन इन प्रश्नों के उत्तर ढूँढ़ना चाहते हैं 'समाज द्वारा अपनाई गई वास्तविक सत्तावादी नीतियाँ क्या हैं उनका निर्धारण कैसे होता है और ये कैसे

कारगर होती हैं। इस प्रकार सामाजिक नीति को तैयार करने तथा उसे कार्य रूप में परिणित करने में शामिल सभी गतिविधियाँ राजनीतिक व्यवस्था को बनाने वाली नीति नियामक प्रक्रिया में शामिल हुई।

नीति केवल विधायिका या सरकार का फैसला नहीं है क्योंकि इसका कार्यान्वयन प्रशासक पर निर्भर करता है जो इसे फिर तैयार कर सकता है या नष्ट भी कर सकता है। इस प्रकार नीति के अध्ययन में कानूनी तथा वास्तविक नीति अभ्यास दोनों के कार्य तथा दृढ़ता की परीक्षा शामिल होती है। इस्टन ने कहा है कि "यदि कानून निर्देश देता है कि सभी कीमतें नियंत्रण के निर्दिष्ट रूप में होंगी लेकिन काला बाजार जड़ दूढ़ लेता है और उपर्युक्त अधिकारी तथा सारा समाज उनके अस्तित्व को स्वीकार करता है तो वास्तविक नीति केवल मूल्य नियंत्रण की ही नहीं रह जाती। इसमें कालाबाजार की स्वीकृति भी शामिल है।"

आलमोंण्ड ने राजनीतिक व्यवस्था की क्षमताओं के रूप में लोक नीति पर विचार व्यक्त किए। क्षमताओं के दृष्टिकोण में यह है कि इसमें अनुभववाद के रूप में लोकनीति को स्पष्ट किया गया है। यह कहना गलत है कि लोकतांत्रिक व्यवस्था स्वदेशी या विदेश नीति को किसी खास मार्ग का अनुसरण करती है। हम जानते हैं कि कुछ लोकतांत्रिक देशों में सामाजिक कल्याण तथा आर्थिक राष्ट्रीयकरण की नीतियाँ अपनाई हैं। जबकि कुछ अन्य आर्थिक तथा सामाजिक जीवन में हस्तक्षेप न करने की नीति अधिक सखी से मानने के लिए वचनबद्ध हैं। अवसाद से पहले अमरीका ने सीमित हस्तक्षेप की नीति का अनुसरण किया जिसे राष्ट्रपति रूजवेल्ट ने 'न्यू डील' कल्याण नीति में बदल दिया।

राजनीतिक व्यवस्था की निष्कर्षण क्षमता घरेलू तथा अन्तर्राष्ट्रीय पर्यावरण से पदार्थों तथा मानव संसाधनों को निकलने में नीतियों की श्रेणी तथा व्यवस्था की कार्य निष्पादन की ओर इशारा करते हैं। विनियामक क्षमता राजनीतिक व्यवस्था की नीतियों की ओर इशारा करते हैं।

जो व्यक्तिगत या समूहों की व्यवहार को नियंत्रित करते हैं। अमेरिका में, राजनीतिक व्यवस्था अब आर्थिक जीवन के कई पहलुओं को नियंत्रित करते हैं, यह उपभोक्ता की मूल्य एकाधिकार, ट्रेड यूनियनों को दबने या व्यापारियों को गलत नीति अपनाने से रोकता है।

वितरणात्मक क्षमता राजनीतिक प्रणाली में सामानों, विभिन्न प्रकार के समूहों तथा व्यक्तियों की सेवाओं, प्रतिष्ठाओं, पदों तथा अवसरों को मुहैया कराने से संबंधित है।

मार्क्स का सिद्धान्त यह बतलाता है कि समाज की वर्ग संरचना राजनीतिक व्यवस्था की संरचना, प्रक्रिया तथा समाज एवं अन्तर्राष्ट्रीय पर्यावरण में इसकी नीतियाँ एवं कार्य निष्पादन को निर्धारित करती हैं। मार्क्स के सिद्धान्तकारों को यह विश्वास था कि पूँजीवादी प्रकार का समाज धनी वर्ग से प्रभावित राजनीतिक व्यवस्था को जन्म देता है। यह अपनी रुचि अनुसार कार्य करते हैं तथा बाजार एवं लाभ के लिए अन्तर्राष्ट्रीय आक्रमण नीति को अपनाते हैं।

राल्फ मिलिबैंड राजनीतिक व्यवस्था के भीतर राज्य व्यवस्था की बात करते हैं। नियमों को छ. विभिन्न स्तरों पर बनाया या लागू किया जाता है: (1) सरकार, (2) प्रशासन, (3) सेना तथा पुलिस, (4) न्याय तंत्र (5) सरकार की अर्ध केन्द्रीय इकाइयाँ, (6) संसदीय विधानसभाएँ। राष्ट्रपतियों, प्रधानमंत्रियों, वरिष्ठ सैन्य अधिकारियों उच्च न्यायालयों के न्यायाधीशों ऊँचे सिविल अधिकारियों कुछ संसदीय नेताओं द्वारा प्रतिनिधित्व प्राप्त राज्य के बुद्धिजीवी राजनीतिक व्यवस्था में नीति निर्माण प्रक्रिया का नियंत्रण करते हैं।

राज्य व्यवस्था राजनीतिक व्यवस्था की समानार्थक नहीं है जिसमें कि अनेक दल तथा दबाव डालने वाले समूह यहाँ तक की बड़े-बड़े निगम, ऊँची पूँजीवाद फर्म, चर्च तथा जनसंचार माध्यम आदि शामिल हैं। राल्फ मिलिबैंड तथा सी. राइटमिल्स दोनों ने ही ऐसे श्रेष्ठजनों जैसे (क) शीर्ष स्तर के पूँजीपति, (ख) शीर्ष सैन्य अधिकारियों, (ग) शीर्ष राजनीतिक नेताओं के माध्यम से नियंत्रण तथा नीति नियामक प्रक्रिया और प्रगति से सम्पन्न पूँजीवादी देशों की सभी राजनीतिक व्यवस्थाओं में फैसला करने वाली वास्तविक ताकत को नियंत्रित करते हैं।

उन्नत पूँजीवाद की राजनीतिक व्यवस्था से आर्थिक दृष्टि से प्रभुत्व सम्पन्न वर्ग से संबंध का विश्लेषण करते हुए राल्फ मिलिबैंड ने निष्कर्ष दिया है। यह अच्छी तरह से पाया जा सकता है कि वास्तव में संबंध बहुत निकटता के हैं, और अनेक भिन्न-भिन्न कारणों से राज्य शक्ति के धारक, निजी आर्थिक शक्ति के अभिकर्ता — जो शक्ति भी नियंत्रित करते हैं, इसलिए शब्दों के अर्थ को अनावश्यक रूप से विस्तार करने के बजाय एक वास्तविक "शासक" वर्ग है।

डेविट इस्टन तथा गैब्रियल आलमोंण्ड नीतियों को तैयार करने तथा उन पर अमल करने को उदारवादी और बहुवादी प्रक्रिया मानते हैं जो कि प्रतियोगिता में गए हुए दिलचस्पी वाले लोगों की माँगों और समर्थनों पर निर्धारित हैं। सी राइटमिल्स और राल्फ मिलिबैंड का विश्वास है कि विकसित पूँजीवादी देशों की राजनीतिक प्रणाली में नीतियाँ तीन प्रमुख

तत्त्वों निगमित पूँजी, उच्च सैनिक जनरलों और निकट सहयोगियों के रूप में काम करते हुए वरिष्ठ सजनीतिक नेताओं के वर्गों से श्रेष्ठजन के प्रमुख सदस्यों द्वारा निर्धारित की जाती हैं।

2.8 सारांश

बहुत समय से राजनीतिक दार्शनिकों ने राजनीति का अर्थ स्पष्ट करने के लिए अपने उपसाधनों के रूप में व्यवस्था की कुछ अवधारणाओं पर विचार किया है। अमरीकी राजनीतिक विज्ञान में, विशेषकर द्वितीय विश्व युद्ध के बाद व्यवहारवाद के पढ़ने के बाद व्यवस्था विश्लेषण ने एक नया महत्व प्राप्त कर लिया है।

डेविट इस्टन ने राजनीति के लिए सामान्य व्यवस्था सिद्धान्त को लागू करने के लिए समाज के प्रणालीबद्ध अध्ययन के लिए शोध अनुसंधान किया। इस्टन ने चार अनुमान निर्धारित किए: (1) इस सिद्धान्त को साधारणीकरण की सर्वोच्च व्यवस्था के साथ व्यवस्था के निर्माण की आवश्यकता है, (2) राजनीतिक व्यवस्था को समग्र रूप में देखा जाना चाहिए (3) राजनीतिक प्रणाली पर शोध मनोवैज्ञानिक तथा स्थिति के आँकड़ों दोनों पर ही आधारित होना चाहिए और (4) राजनीतिक जीवन को असंतुलित कहा जा सकता है।

राजनीतिक व्यवस्था की इकाइयाँ राजनीतिक कार्य हैं, निवेश माँगों के रूप में होते हैं तथा समर्थन और उत्पादन फैसलों तथा नीतियों के रूप में होते हैं। दिलचस्पी रखने वाले समूह माँगों और समर्थनों के लिए योगदान करते हैं तथा निर्णय और नीतियाँ सरकारी कार्य होते हैं।

इस्टन ने अपना ध्यान कानूनी और औपचारिक संसाधनों की उपेक्षा करते हुए व्यवस्था विश्लेषण पर केन्द्रित किया है। उसने कहा कि राजनीति शास्त्र में राजनीतिक व्यवस्था के बारे में सिद्धान्त देना चाहिए और प्रक्रियाओं की अपेक्षा राज्य और उसकी सीमाओं के सिद्धान्तों को शामिल किया जाना चाहिए। उसने राजनीति का महान (ग्रेण्ड) सिद्धान्त देने का आग्रह किया।

आलोचकों में अपर्याप्त अवधारणा देने, स्थिरता के साथ ज्यादा लगे रहने और परिवर्तन तथा संघर्ष में लगातार ध्यान देने, मानवतत्त्व से बचने अपने अनुसंधान में परीक्षण योग्य परिकल्पनाओं को न देने, अपने संरचना के अन्दर संचालनात्मक कठिनाइयों को शामिल रखने प्रणालियों की सीमा के सिद्धान्त में अस्पष्टता और उसके दकियानुसी सिद्धान्तों की अभिमुखीकरण के कारण इस्टन की आलोचना की। बहुत कम लोगों ने तुलनात्मक राजनीति में अपने शोध के लिए इस्टन के प्रणाली विश्लेषण के तरीके को लागू किया।

आलमोंण्ड ने इस्टन से व्यवस्था की धारणा को अपनाया उसने प्रणाली की अवधारणा सहित माना जिसमें राजनीतिक फैसलों को बनाने के लिए कार्य के सभी तर्क संगत पैटर्न शामिल हैं आलमोंण्ड के लिए प्रक्रिया की तुलना में प्रणाली अधिक महत्वपूर्ण थी। आलमोंण्ड कार्य की राजनीतिक प्रणाली के अपने विचार में मौक्सवेबर तथा तालकोट पारसंस पर बहुत गंभीर रूप से निर्भर था।

उसने राजनीतिक संरचनात्मक कार्यवाद के आलमोंण्ड के सिद्धान्त के अनुसार सभी राजनीति प्रणाली के राजनीतिक ढाँचे होते हैं जो बहु कार्य होते हैं और सभी प्रणालियाँ एक जैसा ही कार्य करती हैं उनमें से सभी को मिश्रित राजनीतिक सम्यता होती है। राजनीतिक प्रणालियों का वर्गीकरण इस प्रकार किया जाता है। (i) आदिम, (ii) परम्परागत, (iii) संक्रमणकालीन (iv) राजनीतिक संस्कृति के पैटर्न पर तथा उनकी राजनीतिक विकास के मंच पर आधारित आधुनिक।

आलमोंण्ड ने चार निवेश कार्यों को श्रेणीबद्ध किया जैसे (1) राजनीतिक सामाजीकरण तथा भर्ती, (2) दिलचस्पी को व्यक्त करना (3) दिलचस्पी को समग्र बनाना (4) राजनीतिक संप्रेषण, और तीन उत्पादन कार्य जैसे (i) नियम निर्माण, (ii) नियम अनुप्रयोग, (iii) नियम अधिनिर्णय।

कार्यों के एक अन्य स्तर राजनीतिक व्यवस्था की क्षमताओं के बारे में वर्गीकृत किया गया है। (1) विनियमन (2) निष्कर्षण (3) वितरण (4) प्रतीकात्मक अनुक्रिया। तीसरे स्तर के कार्य को आलमोंण्ड ने राजनीतिक व्यवस्था के रखरखाव तथा अनुकूलन के रूप में वर्णित किया। राजनीतिक सामाजीकरण तथा राजनीतिक संस्कृति ने उपर्युक्त कार्य संपादन में प्रणाली की सहायता की।

आलमोंण्ड के संरचनात्मक कार्यवाद के आलोचकों ने निम्नलिखित बिन्दुओं को शामिल किया। उसका सिद्धान्त दृढ़ता सम्पन्न तथा आदर्शवादी था, इसमें रुढ़िवादी सैद्धान्तिक पूर्वाग्रह था, इसमें कार्य प्रणाली की स्पष्टता का अभाव था। यह सामाजिक परिवर्तन की समस्याओं से निपटने में असमर्थ था, इसमें गंभीर संचालनात्मक सीमाएँ थी और इसमें बेकार की शब्दावली भरी थी।

डेविड इस्टन तथा गैब्रियल आलमोंण्ड दोनों ने ही लोक नीति की उदारवादी, बहुवादी अवधारणा पेश की है जो प्रतियोगिकात्मक मॉगों तथा समर्थनों का परिणाम है जो विभिन्न दिलचस्पी वाले समूहों द्वारा जोर-शोर से व्यक्त किया गया है। और उसके अनुरूप सरकार के फैसलों तथा कार्यक्रमों का परिणाम है। सी. राइटमिल्स तथा राल्फ मिलिबैंड का विश्वास है कि शीर्ष के पूँजीवादी, सर्वोच्च सैनिक जनरल और शीर्ष के राजनीतिक नेताओं से सम्पन्न शक्तिवान श्रेष्ठजन वास्तव में सभी विकसित पूँजीवादी देशों की राजनीतिक व्यवस्था में लोक नीति का निर्धारण करते हैं।

2.9 बोध प्रश्न

1. व्यवस्था दृष्टिकोण की उत्पत्ति और अभिमुखिकरण के बारे में विचार व्यक्त करें।
2. इस्टन के सामान्य प्रणाली सिद्धान्त की प्रमुख अनुमान का आलोचनात्मक दृष्टि से विश्लेषण करें।
3. आलमोंण्ड के आदर्शों के संदर्भ में संरचनात्मक कार्यवाद के मुख्य सिद्धान्तों की आलोचनात्मक व्याख्या करें।
4. संक्षिप्त टिप्पणियाँ लिखें
(क) लोकनीति का परिदृश्य (ख) निवेश और उत्पादन।

इकाई 3

तुलनात्मक दृष्टिकोण : राजनीतिक अर्थव्यवस्था, निर्भरता और विश्व व्यवस्थाएँ

संरचना

- 3.1 प्रस्तावना
- 3.2 राजनीति अर्थव्यवस्था क्या है?
 - 3.2.1 राजनीतिक अर्थव्यवस्था की मार्क्सवादी अवधारणा
 - 3.2.2 राजनीतिक अर्थव्यवस्था का विकास
 - 3.2.3 तुलनात्मक राजनीतिक अर्थव्यवस्था
- 3.3 राजनीतिक अर्थव्यवस्था के महत्वपूर्ण मुद्दे
 - 3.3.1 साम्राज्यवाद और निर्भरता
 - 3.3.2 राज्य और वर्ग के सिद्धान्त
- 3.4 निर्भरता की धारणा और पूर्वानुमान
- 3.5 निर्भरता सिद्धान्त का आलोचनात्मक मूल्यांकन
- 3.6 विश्व व्यवस्था के रूप में पूँजीवाद
- 3.7 सारांश
- 3.8 बोध प्रश्न

3.1 प्रस्तावना

अल्प विकसित देशों की राजनीतिक प्रक्रियाओं ने, वास्तव में, वहाँ के राजनीतिक वैज्ञानिकों के आत्मविश्वास को कम करके आँका है। ये लोग व्यवस्था के विकास तथा आधुनिकीकरण की जरूरतों का सही विश्लेषण कर सकते हैं। एक, परिवर्ती जो कि सभी कम विकसित समाजों के क्रियाशील अध्ययनों से गायब दिखती है, वह है, उपनिवेशवाद तथा नवउपनिवेशवाद। इन लेखकों में आर्थिक आयामों के संरचनात्मक दृष्टिकोणों को कम करने या नजरअंदाज करने के लक्षण पाए गए। सिर्फ मार्क्सवादी लेखकों, जैसे पॉल बैरन, आन्द्रे गुन्डर फ्रैंक तथा चार्ल्स बिटेलहेम ने एशिया, अफ्रीका या लैटिन अमेरिका की राजनीतिक प्रणालियों का विश्लेषण करते समय राजनीतिक अर्थव्यवस्था को शामिल किया है।

बैरन की राजनीतिक अर्थव्यवस्था का विकास, बिटेलहेम की स्वतंत्र भारत तथा आन्द्रे गुन्डर फ्रैंक का पूँजीवाद तथा लैटिन अमेरिका का कम विकास, मार्क्सवादी राजनीतिक अर्थव्यवस्था के प्रतिमान के कुछ सर्वश्रेष्ठ उदाहरण हैं जिनका उपयोग विकासदेश देशों में सामाजिक तथा राजनीतिक परिवर्तन लाने में हुआ है। गुनार मिरडेल तथा जॉन एच. काउटस्काई ने विकासशील देशों के राजनीतिक प्रक्रियाओं पर आर्थिक कारकों के पड़ने वाले प्रभावों का गैर मार्क्सवादी, उदार दृष्टिकोण से अध्ययन किया।

3.2 राजनीति अर्थव्यवस्था क्या है?

वेबस्टर के तीसरे नये अन्तर्राष्ट्रीय शब्दकोश ने राजनीतिक अर्थव्यवस्था को सामाजिक विज्ञान के रूप में परिभाषित किया है जिसमें आर्थिक और राजनीतिक प्रक्रिया के बीच अंतर सम्बंधों पर विचार किया जाता है। अर्थशास्त्रियों ने राजनीतिक अर्थव्यवस्था की आर्थिक शाखाओं पर बल दिया। मानडेल ने इसकी उत्पत्ति के बारे में इस प्रकार बताया है “किसी भी समाज का विकास छोटे छोटे वस्तुओं के उत्पादन पर निर्भर करता है।”

मार्क्स की प्रमुख पुस्तक, कैपिटल का उपशीर्षक है ‘ए क्रिटिक ऑफ पॉलिटिकल इकानोमी’ अर्थात् राजनीतिक अर्थव्यवस्था का एक आलोचक और इसमें वस्तुओं, धन, अतिरिक्त मूल्य तथा पूँजी के संग्रह पर ध्यान दिया गया। मार्क्स ने समाज

द्वारा निर्धारित व्यक्तियों द्वारा सभी सामान उत्पादन पर ध्यान केन्द्रित किया है। उसने व्यक्ति की स्वतंत्रता तथा मुक्त प्रतियोगिता जो भ्रमपूर्ण है, पर आधारित एडम स्मिथ तथा पोधोन के निष्कर्षों के लिए उनकी आलोचना की।

यद्यपि समसामयिक राजनीतिक विज्ञान में राजनीतिक अर्थव्यवस्था की कोई महान परम्परा नहीं विकसित हुई थी। वास्तव में अतिवादी अर्थशास्त्रियों और समाजशास्त्रियों ने राजनीतिक व्यवस्था में वर्तमान दिलचस्पी को पुनर्जीवित करने तथा इसे राजनीतिक विश्लेषण के लिए तथा और सार्थक बनाने के लिए और अधिक प्रयास किया है। इनमें से अधिकांश लेखकों ने राजनीतिक अर्थव्यवस्था की मार्क्सवादी विचार को प्रोत्साहित किया है।

3.2.1 राजनीतिक अर्थव्यवस्था की मार्क्सवादी अवधारणा

1840 के दशक के प्रारम्भ में आर्थिक मुद्दों के बारे में अपनी अज्ञानता से लज्जित मार्क्स ने अपना ध्यान न्याय शास्त्र से वस्तुओं की दिलचस्पी की ओर स्थानांतरित कर दिया। मार्क्स ने कहा है “अपने अध्ययनों के फलस्वरूप मैं इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि वैधानिक संबंध तथा राज्य के सभी रूप अपने आप न तो समझे जाते हैं और न ही मानव मस्तिष्क की तथाकथित सामान्य प्रगति द्वारा स्पष्ट किए जाते हैं बल्कि वे जीवन की भौतिक दशाओं में जड़ जमाए हुए हैं।”

सन 1845 और 1946 ई. में मार्क्स ने राज्य की अपनी अवधारणा को इतिहास के विभिन्न चरणों के माध्यम से समाज के उत्पादक आधार से संबंध किया। उसने कहा है “इतिहास की यह अवधारणा इतिहास की वास्तविक प्रक्रिया को समझने में हमारी योग्यता पर निर्भर करती है, जीवन के भौतिक उत्पादन से यह शुरू होती है और राज्य के रूप में अपने कार्य को प्रदर्शित करती है विभिन्न सैद्धान्तिक उत्पादों धर्म, दर्शन और नीति शास्त्र आदि को स्पष्ट करने के लिए तथा उस आधार पर उनकी उत्पत्ति तथा उस आधार पर उनका पता लगाने के लिए”।

इसके अनुसार समाज का आर्थिक ढाँचा या आधार वास्तविक नींव बन जाता है जिस पर लोग अपने उन आवश्यक सम्बंधों को बनाते हैं जिनपर लोग अपने नियंत्रण होता है इसके विपरीत वैधानिक तथा राजनीतिक अधिरचना उस आधार का प्रतिबिम्बन करती है। केवल राजनीतिक अर्थव्यवस्था ही राजनीतिक आधार के विश्लेषण और इसके राजनीतिक तथा सैद्धान्तिक अभिरचनाओं की स्थिति के बीच सम्पर्क बहाल कर सकता है।

जैसा कि आपने पहले की इकाइयों में पढ़ा होगा कि तुलनात्मक राजनीतिक सरकार और राज्य की ओर देखती है लेकिन 1950 के दशक के अंतिम वर्षों के दौरान अमरीकी राजनीतिक वैज्ञानिकों ने राज्य की अवधारणा को अलग कर दिया। एस्टन आलमाण्ड और अन्य विद्वानों ने विचार किया कि राज्य की अवधारणा कानूनी संस्थागत अर्थों द्वारा सीमित है। प्रणाली की तटस्थ अवधारणा ने वर्ग समाज से ध्यान को अलग हटाया, विभिन्न वर्गों के संबंध ने उत्पादन के साधनों तथा उत्पादक शक्तियों की ओर लगाया। आजकल व्यवस्था का इस्तेमाल प्रायः राष्ट्र और तुलनात्मक राजनीतिक की ओर होता है जो देश पर आधारित समान रूप से अध्ययनों की ओर अग्रसर करता है। इसी प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक व्यवस्थाओं के दृष्टिकोण अथवा परम्परागत ऐतिहासिक, व्यवहारात्मक, भराजनीतिक, सत्ता के संतुलन अथवा संतुलन के दृष्टिकोणों पर विचार करता है। वे अन्तर्राष्ट्रीय विचारों की ओर ध्यान न देकर राजनीतिक पहलुओं पर जोर देते हैं। जब राजनीतिशास्त्री साम्राज्यवाद तथा निर्भरता के प्रश्नों पर विचार करता है तो राजनीतिक अर्थव्यवस्था के परिपेक्ष्यों पर उसे लागू किया जा सकता है।

एक अन्य समस्या है। पश्चिम के विकसित और औद्योगिक राष्ट्र तथा कम विकसित राष्ट्र विकासशील देशों के प्रमुख रूप से कृषि पर आधारित समाज विरोधाभास के अध्ययन हैं और अलग प्रणालियों के रूप में महानगरों तथा सहायक नगरों जैसे केन्द्र तथा उसके दूर-दूर के भागों में विभाजित हैं। इन तथाकथित द्विभाषीय इकाइयों के अध्ययन को समेकित और संश्लेषित करने के कोई प्रयास नहीं किए जाते हैं।

राजनीतिक अर्थव्यवस्था के मार्क्सवादी दृष्टिकोण में निम्नलिखित बिन्दु दिए गए हैं: पहला, इसमें तर्क दिया गया है कि राजनीतिक अन्वेषण केवल भागों और ताजा समाचारों के बजाय ऐतिहासिक रूप से सीमित है। सामाजिक समस्याओं और मुद्दों को समझने के अनुसंधान में इसे संश्लेषण प्राप्त करने की कोशिश करनी चाहिए।

दूसरा, राजनीतिशास्त्र का अध्ययन अर्थशास्त्र के साथ मिलाकर करना चाहिए। राजनीतिशास्त्र और अर्थशास्त्र के बीच भिन्नता तथा राजनीति विज्ञान में तुलनात्मक राजनीति तथा तुलनात्मक राजनीति के बीच भिन्नता प्रायः वास्तविकता को तोड़ मरोड़ और विभ्रम की ओर ले जाती है। केन्द्र और परिधि के बीच द्विभागीकरण भी सैद्धान्तिक कठिनाई की ओर ले जाते हैं। तार्किक व्यवस्था राजनीति के समेकित तथा गतिशील विश्लेषण में सहायता करेगी।

राजनीतिक अर्थव्यवस्था के अध्ययन में हमें विपरीत व्यवस्थाएँ मिलती हैं। उन्हें कट्टरपंथी तथा रूढ़िवादी व्यवस्थाओं के रूप में उनकी पहचान की जा सकती है। जिनसे बड़ी तेजी से भिन्न भिन्न प्रश्न तथा स्पष्टीकरण निकलते हैं। मार्क्सवादी तथा

गैर मार्क्सवादी सिद्धान्तों के बीच भेद को इन दृष्टिकोणों के बीच भिन्नताओं के रूप में देखा जाना चाहिए। इस संदर्भ में मार्क्सवाद को सिद्धान्तवादिता की अपेक्षा प्रणाली विज्ञान के रूप में देखा जाना चाहिए।

3.2.2 राजनीतिक अर्थव्यवस्था का विकास

अरनेस्ट मानडेल ने राजनीतिक अर्थव्यवस्था में विकासों की सबसे नवीनतम व्याख्या की है। छोटी-छोटी वस्तुओं का उत्पादन प्रथम चरण था जो मध्यकाल तक जारी रहा। सामंतवाद से खरीददारों और विक्रेताओं की लाभोन्मुख व्यवस्था की ओर यूरोप के परिवर्तन के फलस्वरूप राजनीतिक अर्थव्यवस्था का सौदागरवादी व्यवस्था के रूप में यूरोप का परिवर्तन हुआ। उन्होंने स्वीकार किया कि स्वार्थी व्यक्तिवाद को नियंत्रित करने के लिए नियमन और नियंत्रण आवश्यक हैं। फिजियोक्रैट ने तर्क दिया कि धन का उत्पादन व्यापार और उद्योग द्वारा नहीं बल्कि कृषि द्वारा हुआ।

उदारवादियों का विश्वास था कि निजी सम्पत्ति का संरक्षण किया जाना चाहिए और कार्य के लिए प्रोत्साहन के आधार पर धन का उत्पादन और व्यक्ति में सम्पत्ति के अधिकार की भावना भरी जानी चाहिए। उन्होंने सुझाव दिया कि व्यक्तिगत पहल सौदागरवाद के तनावों से मुक्त होनी चाहिए। एडम स्मिथ ने इन विचारों को वर्गवादी राजनीतिक अर्थव्यवस्था के रूप में संपुष्ट किया। 'इन्कवारी इन टू नेचर एण्ड कॉजेज ऑफ़ द वेल्थ ऑफ़ नेशनस में उन्होंने वस्तुओं, पूँजी और मूल्यों तथा साधारण और जटिल श्रम के प्रमुख विषयों पर विमर्श किया। वे ऐसे प्रथम व्यक्ति थे जिसने मूल्य के श्रम सिद्धान्त का फार्मूला तैयार किया। "जो वस्तुओं के मूल्य को उन पर किए गए श्रम की मात्रा के रूप में कम करता है।"

एडम स्मिथ ने बाजार के कानूनों की भी पहचान की जिसमें प्रतिस्पर्धात्मक वातवरण में व्यक्तिगत आत्महित करने को स्पष्ट किया जाता है और यह भी बताया जाता है कि माँग और जो कीमत अदा करने का वो इच्छुक है उसके अनुसार समाज द्वारा इच्छित माल के रूप में यह सामने आता है। स्मिथ ने प्रतिस्पर्धात्मक बाजार संतुलन की परिकल्पना की क्योंकि व्यक्तिवाद बाजार अर्थव्यवस्था में व्यवस्था को प्रोत्साहन देता है न कि अराजकता को। प्रिंसिपल्स ऑफ़ पॉलिटिकल इकोनॉमी एण्ड टैक्सेशन में रिकार्डो एडम स्मिथ का शिष्य और आलोचक दोनों ही था। रिकार्डो ने पूँजी का संग्रह करने को आर्थिक प्रसार के लिए आधार बताया। उसका विचार है कि निजी निवेशों पर पाबंदियाँ खत्म कर दी जानी चाहिए और सरकार को अर्थव्यवस्था में हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए। रिकार्डो ने जमींदारों और पूँजीपतियों के हितों के टकराव का भी उल्लेख किया।

राबर्ट ओवेन, सैट साइमन और चार्ल्स फोरियर जैसे यूटोपियाई समाजवादियों ने पूँजीवाद की प्रणाली का समर्थन करने के लिए उदारवादियों की आलोचना की और कहा कि वे रिकार्डो के श्रम सिद्धान्त को तोड़ते मरोड़ते हैं। ऐंजल्स ने कहा है, जहाँ तक आधुनिक समाजवाद की बात है, भले ही चाहे कोई प्रवृत्ति हो, बुर्जुआ राजनीतिक अर्थव्यवस्था से शुरु होता है यह लगभग पूरी तरह से अपने को रिकार्डो के मूल्य सिद्धान्त से जोड़ देता है। 'रिकार्डो ने दो अनुपातों की घोषणा की (1) किसी भी वस्तु का मूल्य उसके उत्पादन के लिए अपेक्षित श्रम की मात्रा द्वारा शुद्ध रूप से और एक मात्र रूप से निर्धारित किया जाता है। (2) समूचे सामाजिक श्रम का उत्पाद तीन वर्गों में बाँटा जाता है: भूस्वामी (किराया), पूँजीवादी (मुनाफा) और श्रमिक (वेतन), को इंग्लैण्ड में 1821 के बाद से समाजवादी निष्कर्षों के लिए उपयोग में लाया जाता रहा है।'

मार्क्स ने यूटोपियाई समाजवादी तथा प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों के सिद्धान्त से भी श्रेष्ठ सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। उसने अतिरिक्त मूल्य तथा वर्ग संघर्ष के सिद्धान्त को प्रस्तुत किया। उसने सामाजिक संकट के सिद्धान्त तथा विकास के बुनियादी कानूनों दोनों को ही निर्धारित किया। इस प्रकार अपने सूक्ष्म आर्थिक विचारों का व्यावहारिक संश्लेषण प्राप्त किया। उसने यह रूप बनाते हैं, अंगों को समग्र से अलग नहीं किया जा सकता। इससे सभी सम्बंधों को एक साथ सहअस्तित्व और एक दूसरे के समर्थक के रूप में समाज को स्पष्ट किया जा सकता है।

समाजवाद की चुनौती ने मूल्य के मारजिनवादी सिद्धान्त और राजनीतिक अर्थव्यवस्था के नव-अभिजात्य सिद्धान्त को जन्म दिया। मूल्य के श्रमिक सिद्धान्त पर उस समय हमला किया गया जब मार्क्सवाद पर बुर्जुआ हमला हुआ। नव-अभिजात्य सिद्धान्त कठोर विस्तृत तथा भावात्मक था। जर्मनी में प्राचीन सिद्धान्तों वाले अर्थशास्त्रियों तथा आस्ट्रिया और स्वीटजरलैण्ड के अर्थशास्त्रियों ने भी मार्क्सवाद पर हमला किया। नव-अभिजात्यवादी संतुलन पर जोर देते हैं और संतुलन को प्रभावित करने वाली गड़बड़ियों को न रोक पाने के लिए उनकी आलोचना की जाती है। उनका ढाँचा गतिशील नहीं स्थिर है। यह आर्थिक संकटों को ठीक नहीं कर पाता और साम्राज्यवाद को पूँजीवाद से नहीं जोड़ सकता।

इन समस्याओं से बाध्य होकर सूमपिटर जैसे कुछ अर्थशास्त्रियों को संरचनात्मक संकटों का अध्ययन करना पड़ा। 1929-1933 के महान अवसाद के बाद किनैस ने जनरल थ्योरी ऑफ़ इम्पलाइमेंट इंटररेस्ट एण्ड मनी में लिखा और पूँजीवाद के नरम दृष्टिकोण को एक व्यावहारिक दृष्टिकोण के रूप में बताया। सिद्धान्त में पूँजीवाद के औचित्य को बताने

के बजाय उसने इसे प्रचलन में रखने का सुझाव दिया और इसके लिए बार-बार के उतार चढ़ाव के हद तक उसमें मंदी आने देने की प्रथा का सुझाव दिया।

कौत्सकी, हिलफरडिंग तथा रोजा लगजेम्बर्ग और अन्य जैसे मार्क्सवादी तथा नव मार्क्सवादी लेखकों ने राजनीतिक अर्थव्यवस्था की मौलिक परम्परा जारी रखी। लेनिन का इम्पेरलिज्म, द लास्ट फेज ऑफ कैपिटलिज्म साम्राज्यवाद के विश्लेषण के लिए राजनीतिक अर्थव्यवस्था को लागू करने के लिए विश्व व्यवस्था का एक अच्छा उदाहरण बतलाया। पॉल बारान, लियो हबर्स्मैन और पॉल स्वीजी ने लगभग 1960 के बाद से राजनीतिक अर्थव्यवस्था के विकास के लिए महान योगदान किया। मानडेल ने उनकी परम्परा जारी रखी और राजनीतिक अर्थव्यवस्था के लिए सैद्धान्तिक दृष्टिकोण, जिसे उसने बूर्जुआ को समाप्त करने की भविष्यवाणी की।

3.2.3 तुलनात्मक राजनीतिक अर्थव्यवस्था

सिद्धान्त, तरीका और अवधारणा की जाँच करने से बूर्जुआ और मार्क्सवादी राजनीतिक अर्थव्यवस्था के बीच द्विभागीकरण का सुझाव प्राप्त होता है। पूँजीवादी संग्रहण की ओर ध्यान देने से राजनीतिक और आर्थिक दोनों ही प्रकार के मुद्दों की अनुमति मिल जाती है। पूँजीवादी संग्रह के अध्ययन के साथ-साथ उत्पादन के पूर्व पूँजीवादी तथा पूँजीवादो तरीकों पर जोन देने से उस जाँच का एकीकरण हो सकता है जो अभी तक राजनीतिक और सैद्धान्तिक अधिरचना के मुद्दों के अध्ययन के लिए राजनीतिक वैज्ञानिकों तथा समाज के सामग्री आधार के बारे में प्रश्नों की खोज-बीन करने के लिए अभी तक अर्थशास्त्रियों का नेतृत्व करती रही है।

कुछ लोग कह सकते हैं कि अर्थशास्त्रियों को साम्राज्यवाद के सिद्धान्तों से और राजनीतिक वैज्ञानिकों को राज्य तथा वर्ग सिद्धान्तों से निपटने की चिंता करनी चाहिए। इन सभी चिन्ताओं को राजनीतिक अर्थशास्त्रियों द्वारा समेकित करना चाहिए। समाधान है अर्थव्यवस्थाओं का पुनर्गठन तथा राजनीतिशास्त्र का राजनीतिक अर्थव्यवस्था के साथ फिर से गठन करना।

राजनीतिक अर्थव्यवस्था, बुनियादी तौर पर पूँजीवाद के व्यापक ऐतिहासिक विस्तार विशेषकर पिछले सौ वर्षों की अवधि का ध्यान रखना चाहिए। मार्क्स ने दास कैपिटल में इस प्रकार के अध्ययन के लिए हमें आधार दिया है। पॉल स्वीजी ने द थ्योरी ऑफ कैप्टीलिस्ट डेवलपमेंट और अर्नेस्ट मानडेल ने मार्क्सस्ट इकोनामिक्स थ्योरी में मार्क्स के तथ्यों की व्याख्या की है और आर्थिक पेंचदगियों के बारे में विशेष जानकारी दी है। स्टेनली डब्ल्यू मूर ने द क्रिटिक ऑफ कैप्टीलिस्ट डेमोक्रेसी में राजनीतिक शाखा विस्तारों की ओर ध्यान केन्द्रित किया है।

मानडेल के पूँजीवाद में मार्क्स, की परम्परा में सिद्धान्त और इतिहास को समेकित करने का प्रयास किया गया है। इसमें द्वंद्वात्मक रूप से आमूर्त से मूर्त की ओर इसके विपरीत हिस्सों से समग्र की ओर पुनः अतीत की ओर, विरोधाभास से समग्रता की ओर पुनः विरोधाभाव की ओर जाने का सिलसिला मौजूद है। सामीर अमीन ने एक्वमूलेसन ऑन ए वर्ल्ड स्केल में सिद्धान्त को इतिहास के साथ संयोजित किया है। उसने एक बात पर जोर दिया है कि सामयिक विश्व के सभी विधियों और संरचनाओं में विश्व स्तर पर एक संग्रहित रूप प्रतिबिम्बित होता है। पूँजीवादी तथा गैर पूँजीवादी विश्व बाजार अलग नहीं हैं क्योंकि एक विश्व बाजार था जिसमें पूर्व समाजवादी देशों में आंशिक रूप से हिस्सा लिया था। इतना ही नहीं पूँजीवाद एक विश्व प्रणाली है, राष्ट्रीय पूँजीवादियों का मिश्रण नहीं।

राजनीतिक अर्थव्यवस्था का समग्र रूप उपलब्ध कराने के लिए किए गए अन्य प्रयासों में पैरी अंडरसन का पैसेज फ्रॉम एन्टीक्वीटी टू फ्यूडलिज्म तथा लिनिमेज ऑफ द एबसोल्यूट स्टेट शामिल है। उन्होंने यूरोपीय सामन्तवाद तथा पूँजीवाद की राजनीतिक अर्थव्यवस्थाओं का अध्ययन किया। इमैन्युअल वालरस्टीन ने द माडर्न वर्ल्ड सिस्टम में पूँजीवादी विकास तथा कम विकास के आन्द्रे गुन्देर फ्रैंक के सिद्धान्त का विस्तार किया तथा बाजार संबंधों पर जोर दिया।

अन्य विचारकों में से चार विचारकों – मानडेल, अमीन, एन्डरसन और वैंलटस्टीन ने राजनीतिक अर्थव्यवस्था के इतिहास में दिलचस्पी को पुनर्जीवित किया। इसने अधिकांश सामयिक अर्थशास्त्रियों और राजनीतिशास्त्रियों द्वारा उपेक्षित पुराने मुद्दों का अनवीकरण करके नए मुद्दों को उभारा। इन चारों ने राजनीतिक अर्थव्यवस्था की मार्क्सवादी परम्परा से विचार ग्रहण किए और अपने बहुमूल्य योगदानों से उसे समृद्ध किया। मानडेल ने स्पष्ट किया समूची पूँजीवादी प्रणाली उत्पादकता के विभिन्न स्तरों की क्रम परम्परा की संरचना है तथा राज्यों के असमान तथा सम्मिलित विकास, धर्मों, उद्योगों तथा फर्मों की शाखाओं का प्रतिफल है जो अत्यधिक लाभ प्राप्त करने की तलाश से परिलक्षित हुआ है।

इस व्यवस्था में एकता को एकरूपता के अभाव में रहनाय विकास को कम विकास के साथ अत्यधिक मुनाफे को गरीबी के साथ-साथ रहना पड़ता है। इन विभिन्नताओं की स्थिति में निरंतर चरणों की विशेषताएँ उच्चतर चरणों के साथ सम्मिलित होकर परस्पर विरोधी स्वरूप को जन्म देती हैं और पिछड़े वर्ग के लोगों के सामाजिक विकास में गुणात्मक उछाल लाने में सहायक होती हैं। ब्रेनेर ने इस दृष्टिकोण की आलोचना की है क्योंकि उसके विचार में उसने उत्पादन और वर्ग संघर्ष के

संबंधों की उपेक्षा की है। उसने इस पर संदेह व्यक्त किया है कि क्या विश्व व्यापी संग्रह की समस्याओं के संदर्भ में राष्ट्रीय समाधान अपनी प्रमुख भूमिका निभा पाएगी।

3.3 राजनीतिक अर्थव्यवस्था के महत्वपूर्ण मुद्दे

पूँजी संग्रह और विकास तथा कम विकास के सिद्धान्तों के संबंध में ऐतिहासिक अध्ययनों के अतिरिक्त पूँजीवाद तथा निर्भरता के इतिहासों के साथ अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक अर्थव्यवस्था की विशेषता के बारे में जाँच कर लेना उपर्युक्त है।

यह तुलनात्मक राजनीतिक अर्थव्यवस्था की पूरक चिन्ताओं जैसे राज्य तथा वर्ग की समीक्षा करने के लिए लाभकारी होगा। पूँजीवाद तथा निर्भरता के सिद्धान्तों के साथ हम राज्य तथा वर्ग के बुर्जुआ तथा मार्क्सवादी सिद्धान्तों के बीच अंतर कर सकते हैं।

निम्नलिखित विचार-विमर्श विचार की प्रमुख रेखाओं की आलोचनात्मक जाँच करने में सहायक होगा। (1) साम्राज्यवाद तथा निर्भरता (2) राज्य तथा वर्ग।

3.3.1 साम्राज्यवाद और निर्भरता

पूँजीवाद का मूल यूनान तथा रोमन साम्राज्यों के काल से देखा जा सकता है। तब से सोलहवीं और सत्तहवीं शताब्दियों के “पुराने” व्यापारिक स्वरूप तथा उन्नीसवीं एवं बीसवीं शताब्दियों के “एकाधिकारवादी” नए स्वरूप तक देखा जा सकता है। नव साम्राज्यवाद के दो दृष्टिकोण प्रतिस्थापित किए गए हैं। एक मूल तथा मार्क्सवादी दृष्टिकोण में बतलाया गया है कि साम्राज्यवाद विस्तार पाते हुए पूँजीवाद का एक परिणाम है जो उत्पादन के पूँजीवादी तौर तरीकों के विरोधों के कारण अनिवार्य रूप से सामने आया। दूसरा – उदारवादी तथा गैर मार्क्सवादी दृष्टिकोण। इसमें तर्क दिया गया कि पूँजीवादी असमानताओं की आसानी से तालमेल किया जा सकता है।

हाब्सन, कौत्सिकी, सोमपितर और गालतुंग के सिद्धान्तों ने पूँजीवाद के उदारवादी दृष्टिकोण का समर्थन किया। हाब्सन ने दलील दी कि आवश्यकता से कम खपत ही साम्राज्यवाद का कारण है। ब्रिटेन में घरेलू खपत बढ़ाने के बाद विदेशी बाजार में विस्तार करने की जरूरत नहीं होगी।

कौत्सिकी जर्मन समाजवादी डेमोक्रेट ने महसूस किया कि पूँजीवाद के वर्ग संघर्ष सुधार के शांतिपूर्ण तरीकों के जरिये समाप्त कर लिए जाएँगे और पूँजीवादी वर्ग के हित, कुल मिलाकर उस शक्तिशाली पूँजीवादियों के अल्पसंख्यक वर्ग से टकरा जाएँगे जिसने साम्राज्यवादी विस्तार की वकालत की है।

सोमपितर ने इस बात पर जोर दिया कि साम्राज्यवाद पूर्व पूँजीवादी का रूप है जो पूँजीवाद के तर्क संगतति प्रगतिशील युग में विलुप्त हो जाएगा। गालतुंग ने साम्राज्यवाद के संरचनात्मक सिद्धान्त का प्रस्ताव किया जिसको आज के गैर-मार्क्सवादी लोगों में व्यापक स्वीकृति मिली हुई है।

लक्जमबर्ग, लेनिन, बुरवारिन, बारान, स्वीजी तथा मैगडौक को साम्राज्यवाद के मार्क्सवादी सिद्धान्त का प्रमुख प्रतिनिधि माना जा सकता है। रोजा लक्जमबर्ग ने सतत पूँजी संग्रह के रूप में पूँजीवाद के सिद्धान्त की परिकल्पना की और पिछड़े वर्ग की अर्थव्यवस्था में पूँजी के प्रवेश की जाँच की।

लेनिन ने साम्राज्यवाद को पूँजीवादी का उच्चतम चरण माना। उसने बड़े बड़े औद्योगिक घरानों तथा शक्तिशाली घरानों में बड़े-बड़े बैंकों के बढ़ते हुए प्रभाव के कारण उत्पादन के तेजी से केन्द्रित होने के बारे में अध्ययन किया। लेनिन की दृष्टि में साम्राज्यवाद एकाधिकार वाले पूँजीवाद का लगभग समानार्थक था। उसने आधुनिक पूँजीवाद को पहले की शताब्दियों के व्यापारिक तथा मुक्त व्यापार उपनिवेशवाद से अलग बताया। बुखारिन ने भी साम्राज्यवाद को वित्त पूँजी के प्रभुत्व में बताया। उसने कहा कि साम्राज्यवाद पूँजीवाद का अग्रिम चरण है। न तो विजय से और न ही अकेले राजनीतिक प्रभुत्व के साथ तुलना की जानी चाहिए।

साम्राज्यवाद के मार्क्सवादी सिद्धान्त के बारे में पॉल बारान तथा पॉल स्वीजी हिलफार्डिंग, लक्जमबर्ग तथा लेनिन से प्रभावित हुए थे उन्होंने पूँजी अधिशेष के उत्पादन तथा निपटान पर अपना ध्यान केन्द्रित किया। उन्होंने बड़े बड़े निगमों तथा उसके प्रबंधकों की भूमिका का आकलन किया। एकाधिकार तथा कुलीन व्यवस्था को साम्राज्यवाद के लिए उत्तरदायी बताया। हैरी मैगडौफ में अमरीकी विदेशनीति की रूपरेखा का विश्लेषण किया उसने विश्वभर में अमरीकी राजनीति तथा सैनिक उपस्थिति और अमरीकी सहायता तथा व्यापार नीतियों की प्रभुत्वपूर्ण स्थितियों की अमरीकी साम्राज्यवाद के विस्तार रूप लेने की विशेषता बतलाया।

मार्क्सवादी तथा गैर मार्क्सवादी दोनों ही प्रकार के लेखकों ने निर्भरता के सिद्धान्तों को प्रस्तुत किया है। राउलप्रेविस तथा, अर्थशास्त्रियों के वर्ग ई. सी. एल. ए. (दी यू.एन. कमिशन ऑन लेटिन अमेरिका) विचारधारा के अर्थशास्त्री निर्भरता के राष्ट्रवादी गुप का प्रतिनिधित्व करते हैं। ओसवालदो, सुनकेल, चौलसो— फरतादो, पाठलो गोनजालेज, कासानोवा तथा फैंकोइम—पैराक्स भी गैर—मार्क्सवादी, निर्भरता सिद्धान्त पीढ़ियों के राष्ट्रवादी गुप के हैं।

निर्भरता की एक अन्य प्रवृत्ति मार्क्सवादी दृष्टिकोण को परिलक्षित करती है। लेनिन ने साम्राज्यवाद के बारे में अपनी कृति में निर्भरता के बारे में लिखा। ट्रास्सिकी ने गिलविल फ्रान्डीजी और अन्य लैटिन अमेरिकी लेखकों को द्वितीय विश्व युद्ध के बाद निर्भरता के बारे में लिखने के लिए प्रेरित किया। थियोटोनिस् दास सान्तोष तथा एक अन्य ब्राजीली विचारक रुई मानरो मारिनी ने पूँजीवाद के अपने मार्क्सवादी सिद्धान्त तथा साम्राज्यवाद के अपने लेनिनवाद सिद्धान्त में निर्भरता को समाहित करने का प्रयास किया। एफ. हैनरिक कारदोसो ने निर्भरता के उत्तराधिकार निर्भरता की मार्क्सवादी व्याख्या की है।

निर्भरता के बारे में अन्य कृतियाँ, जैसे पॉल बारन, पॉल स्वीजी तथा आन्द्रे गुन्देर, फ्रैंक की कृतियाँ अपेक्षाकृत अधिक स्पष्ट रूप से मार्क्सवादी दायरे में आती हैं। इन्होंने लेनिन को अद्यतन करने और निर्भरता की विशेषताओं की अपनी स्वतंत्र, व्याख्या करने की कोशिश की। निर्भरता सिद्धान्त के बारे में बाद के अनुभाग में विस्तार से चर्चा की जाएगी।

3.3.2 राज्य और वर्ग के सिद्धान्त

वर्तमान उदारवादी अवधारणा में राज्य को राजनीतिक बाजार स्थान के रूप में बताया गया है। जिसके माध्यम से प्रतिस्पर्धी गुपों तथा व्यक्तियों की माँगों तथा हितों के बारे में विचार व्यक्त किए जाते हैं तथा उन पर अमल किए जाते हैं। इस संबंध में दो विचार प्रस्तुत किए गए हैं। एक ओर राज्य की तटस्थ एजेन्सियाँ उस संघर्ष में मध्यस्थता करती हैं जो पार्टी तथा गुप प्रतिस्पर्धा से उभरता है। दूसरी ओर राज्य एजेन्सियाँ राजनीतिक शक्ति के अड्डों के रूप में कार्य करती हैं और इन एजेन्सियों के बीच कोष के बारे में प्रतिस्पर्धा पक्षों तथा विभिन्न समूहों के संबंधों का निर्धारण करती हैं। राबर्ट डाहल ने बहुसंख्यकवादी राज्य की इन संभावनाओं की ओर ध्यान दिया है और सामाजिक वर्ग प्रवृत्तियों तथा उत्पादक बहुलवाद के संशोधित सिद्धान्त को सम्मिलित करता है।

मार्क्स ने कभी भी राज्य तथा वर्ग के बारे में सिद्धान्त पूरी तरह विकसित नहीं किया। राल्फ मिलिबैंड ने लिखा है कि राजनीति के मार्क्सवादी सिद्धान्त की भिन्न-भिन्न तथा विभिन्न खंडों की सामग्री से निर्माण अथवा पुनर्निर्माण करना होगा जोकि मार्क्सवाद को एक निश्चित संग्रह का रूप देते हैं। मार्क्स की राय में अर्थशास्त्र से राजनीति का अलगाव एक सैद्धान्तिक विकृति है क्योंकि राजनीतिक अर्थव्यवस्था का एक अभिन्न अंग है। अर्थशास्त्र का प्रारंभिक रूप एक प्रमुख तथा विचारोत्तजक मार्ग निर्देश तैयार करता है न कि विश्लेषणात्मक साधारण कवच ।

एजल्स ने इन ओरिजन ऑफ दी फैमिली, प्राइवेट प्रॉपर्टी एण्ड द स्टेट में राज्य तथा वर्ग के बारे में मार्क्स से प्रारंभिक लेखन का संक्षिप्तीकरण किया है तथा आर्थिक कारकों के महत्व को बतलाया है। लेनिन ने स्टेट एण्ड दि रिवल्यूशन में तर्क दिया है कि राज्य वर्ग संघर्ष के साथ समझौता नहीं करता अपितु यह सुनिश्चित करता है कि एक वर्ग दूसरे वर्ग का दमन करे। उसने तर्क दिया राज्य की शक्ति हिंसक क्रान्ति के द्वारा नष्ट की जानी चाहिए। वर्ग विरोधों को शान्तिपूर्ण सुधारों के जरिये हल नहीं किया जा सकता है। उसके विचार में पुलिस तथा तैनात सेना राज्य शक्ति के उपकरण हैं। सर्वहारा वर्ग तब तक राज्य से लड़ता रहता है जब तक की मध्यमवर्गीय लोकतंत्र को हटा कर सर्वहारा लोकतंत्र स्थापित न हो जाए। साम्यवाद के अन्तर्गत वर्गहीन समाज की स्थापना से वर्ग बिल्कुल विलुप्त हो जाता है।

सामयिक विद्वानों ने राज्य तथा वर्ग के संबंध में मार्क्सवादी विचार में तीन परम्पराओं का उल्लेख किया है। मार्क्स ने कम्युनिस्ट घोषणा पत्र में कहा है कि राज्य की कार्यकारिणी समुचे बुर्जुआ वर्ग के मामलों का प्रबंध करने वाली एक समिति है। लेनिन ने भी अपनी लेखन में राज्य के उपकरणों का जिक्र किया है। इस प्रकार राज्य प्रभुत्वशाली या सत्तारूढ़ वर्ग का एक उपकरण माना जाना चाहिए।

उपकरणवाद में ऐसे वर्ग की ओर मुख्य ध्यान दिया गया है जो शासन करता है तथा संबंधों को जोड़ता है या ऐसी व्यवस्था जो राज्य की नीतियों का सत्तारूढ़ वर्ग के उपकरणों से संबंध कायम करती है। उपकरणवाद की इस विफलता के लिए आलोचना की जाती है कि वे सामाजिक और राजनीतिक समूहों के बारे में बहुलवादी चिन्ताओं से ऊपर उठने में विफल रहता है। वह उत्पादन के माध्यमों से वर्गों को बांध रखने में भी सफल नहीं रहता है। राज्य की उपकरणवादी व्याख्या का समर्थन राल्फ मिलिबैंड तथा विलियम डेमहोफ ने किया है।

दूसरी परम्परा का प्रतिनिधित्व राज्य के संरचनावादी दृष्टिकोण द्वारा किया जाता है जिसकी फ्रांसिसी मार्क्सवादियों ने वकालत की है। निकोस पोलांजास ने इस संरचनावाद के राजनीतिक पक्ष का विस्तार से वर्णन किया है। उसने दलील दी है कि बुर्जुआ वर्ग राज्य पर प्रभुत्व रखने के लिए एक वर्ग के रूप में कार्य करने के मामले में अक्षम रहता है। राज्य स्वयं

उस वर्ग के हितों को एकीकृत करता है तथा संगठन करता है। अयूसेर ने भी राज्य के संरचनात्मक दृष्टिकोण के बारे में दलील दी है।

पॉल तथा स्वीजी ने आर्थिक विरोधों को हल करने तथा संकट को टालने के मामले में राज्य की गतिविधियों पर जोर देते हुए संरचनावाद के प्रति आर्थिक पक्ष का प्रस्ताव किया। संरचनावाद की आलोचना की गई है क्योंकि वर्ग चेतना से उत्पन्न वर्ग कार्य को यह स्पष्ट नहीं कर पाता। आलोचकों ने तर्क दिया है कि संरचनात्मक विश्लेषण वर्ग संघर्ष के प्रगतिशील अभिव्यक्ति की अपेक्षा निवेशों तथा उत्पादों से आबध रहता तथा उसमें स्थिर रहने की प्रवृत्ति होती है।

तीसरी परम्परा हेजेल तथा मार्क्स से प्राप्त किए गए गंभीर परिपेक्षों में प्राप्त होती है। इसे हरबर्ट ए. मार्क्यूज तथा फ्रैंकफर्थ समूह के अन्य विचारकों ने व्यक्त किया है। इस वर्ग के विद्वान मार्क्सवाद की हेजेल की पुनर्व्याख्या का समर्थन करते हैं जोकि बहुत ही आमूर्त तथा दार्शनिक है और ठोस राजनीति से असम्बद्ध है। लेकिन मार्क्यूज 1960 के दशक में नए वामपंथी नेता के रूप में उभरा उसने राज्य की रहस्यवादिता तथा उसके सिद्धान्तों का खुलासा किया तथा अमरीकी युवाओं और छात्रों को बर्जुआ राज्य के खिलाफ विद्रोह करने के लिए प्रेरित किया।

मार्क्स तथा एंजिल्स ने राजनीतिक तथा आर्थिक जीवन के बीच अंतर संबंधों को स्पष्ट करने के लिए समाज से राज्य के भेद को स्पष्ट किया। उन्होंने राज्य की शक्ति प्शुपर स्ट्रक्चरश के रूप में राजनीति को परिभाषित किया जिसमें बर्जुआ वर्ग राज्य के उत्पादन को नियंत्रण करने वाले वर्ग का प्रतिनिधित्व करता है। राजनीतिक अर्थव्यवस्था राज्य तथा वर्ग का कोई ऐसा मार्क्सवादी उदाहरण है जिसका आज किसी सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक दृष्टि से तर्कसंगत है? हैरिंगटन ने इस प्रश्न का सकारात्मक उत्तर दिया है।

मार्क्सवादी उदाहरण का उसने निम्नलिखित शब्दों में मूल्यांकन किया है: “यद्यपि यह विभिन्न सामाजिक शास्त्रों को प्रभावित करता है तथा अंतरदृष्टि में सहभागी है। तरीके तथा परिणामों दोनों ही की दृष्टि से यह भिन्न तथा संबंध दोनों हैं। यह सामयिक विश्व के बारे में सही प्रश्न खड़े करता है। यह उत्तरों को ढूढ़ने के लिए कुछ गंभीर तरीकों का सुझाव देता है और इसलिए यह 21वीं शताब्दी के सिद्धान्त तथा व्यवहार के संगत।”

3.4 निर्भरता की अवधारणा और पूर्वानुमान

निर्भरता की अवधारणा का लैटिन अमेरिका, एशिया और अफ्रीका में विकासशील देशों की राजनीतिक प्रणालियों के तुलनात्मक विश्लेषण में व्यापक रूप से इस्तेमाल किया जाता है। 1960 के दशक में लैटिन अमेरिका में तथा बाद में एशिया और अफ्रीका के बारे में कुछ कृतियों में इसका उपयोग किया गया। उदारवादी तथा मार्क्सवादी दोनों ही प्रकार के लेखकों ने विकास और कम विकास के परिदृश्यों के अपने निजी विचार व्यक्त किए हैं जिनके कारण निर्भरता की प्रकृति और इसकी अवधारणात्मक पेचिदगियों के बारे में पर्याप्त सैद्धान्तिक भ्रम पैदा हुआ। यहाँ निर्भरताशब्द के विभिन्न प्रयोगों के बीच अंतर को स्पष्ट करने के लिए एक प्रयास किया जाएगा। मौटे तौर पर निर्भरता के बर्जुआ और मार्क्सवादी दृष्टिकोणों के बीच अंतर करना आवश्यक है।

लेनिन ऐसा प्रथम व्यक्ति था जिसने निर्भरता की अवधारणा का उल्लेख साम्राज्यवाद के अपने सामान्य सिद्धान्त के हिस्से के रूप में किया। यद्यपि इसे उपनिवेशी देशों से बिल्कुल भिन्न पाया गया। परन्तु औपचारिक रूप से स्वतंत्र तथा अभिस्वतंत्र होने वाले देशों का भी अस्तित्व रहा। लेनिन ने कहा कि “ये दूसरे पर निर्भर देश वित्तीय तथा राजनयिक निर्भरता के जाल में उलझे हुए हैं।”

समसामयिक परिदृश्यों से पूँजीवादी देशों के बीच प्रभुत्व तथा निर्भरता के रूपों के बीच विरोधाभास स्पष्ट देखा गया है। पूँजीवाद या तो प्रगतिशील होता है या प्रतिगमन की ओर उन्मुख हो सकता है। निर्भर देश प्रभुत्वशाली देशों के विस्तार के रूप में विकसित हो सकते हैं अथवा अपने अधीनस्थ संबंध के परिणाम स्वरूप यब्राजील जैसे कम विकसित रह सकते हैं।

ब्राजील के समाजशास्त्री दोस सान्तो ने कहा “निर्भरता से हमारा आशय ऐसी स्थिति से है जिसमें कुछ देशों की अर्थव्यवस्था अन्य देशों की अर्थव्यवस्था के विस्तार तथा विकास के अनुरूप आगे बढ़ती है। जिसका कि वो एक प्रकार से पीछलगू होती है। दो या इससे अधिक अर्थव्यवस्थाओं के बीच आपसी निर्भरता का संबंध और इन देशों के बीच तथा विश्व व्यापार के संबंध उस समय निर्भरता का रूप ग्रहण कर लेता है जब कुछ देश प्रभुत्वशाली देशों के विस्तार के प्रतिक्रिया के रूप में कर सकते हैं जो कि उनके तात्कालिक विकास पर या तो सकारात्मक या नकारात्मक प्रभाव डाल सकता है।”

जो लोग विकास तथा क्रम विकास के अपने विश्लेषण में निर्भरता के अवधारणा का इस्तेमाल करते हैं वे भी अधीनस्थ राष्ट्रों की आन्तरिक अर्थव्यवस्थाओं में विदेशी प्रवेश के मसले पर केन्द्रित रह सकता है। बाह्य राजनीतिक तथा आर्थिक प्रभाव का असर स्थानीय विकास पर पड़ता है और आम लोगों की कीमत पर स्थानीय सत्तारूढ़ वर्ग का सहयोग करता है।

चिली के अर्थशास्त्री ओसवालदो सुनकेल ने कहा है "विदेशी कारकों को बाह्य के रूप में नहीं बल्कि प्रणाली के अन्तर्भूत रूप में देखा जाना चाहिए जो कि कम विकसित देश के भीतर कभी-कभी छिपे हुए अथवा सूक्ष्म राजनीतिक-वित्तीय-आर्थिक-तकनीकी तथा सांस्कृतिक प्रभाव डालता है। इस प्रकार निर्भरता की अवधारणा पूँजीवाद के युद्धोत्तर विकास से अन्तर्राष्ट्रीय रूप से विकास की स्थानीय प्रक्रिया की भेदभाव पूर्ण प्रकृति से जुड़ी होती है जैसा कि हम जानते हैं। माध्यमों तथा विकास के लाभों तक पहुँच चयनात्मक होती है उन्हें विस्तार देने के बजाय यह प्रक्रिया विशेष समूहों के लिए विशेषाधिकार के संग्रह की सुदृढ़ता को सुनिश्चित करती है तथा एक सीमान्त वर्ग के अस्तित्व को जारी रखती है।"

एफ. हैनरिक कारदोसो ने निर्भरता के बारे में साहित्य में तीन प्रकार की प्रवृत्तियों का परीक्षण किया: प्रथमए ब्राजील में स्वायत्त राष्ट्रीय विकास उभरा जो कि जिन्सों के निर्यात या विदेशी निवेशों के जरिये विकास के अनुरूप हुआ। कम विकसित देशों को तीन विकल्पों का सामना करना पड़ा निर्भरताए स्वायत्तता या क्रान्ति राष्ट्रीय विकास के सामने आने वाली रुकावटों पर काबू पाने के उद्देश्य से बढ़ते हुए परिवर्तन के जरिए निर्भरता को स्वायत्तता हासिल करनी चाहिए ऐसा विचार एक ब्राजीली लेखक हेलियोजेगुआरिब का था।

दूसरी प्रवृत्ति अन्तर्राष्ट्रीय पूँजीवाद के विश्लेषण पर इसके एकाधिकारवादी दौर पर आधारित थी। इस प्रकार के विचार पॉल बरानए पॉल स्वीजी तथा हैरी मैगडॉफ ने व्यक्त किए जो स्वतंत्र मार्क्सवादी विचारक हैं और जिनका विश्वास है सामाजिक क्रान्ति के जरिये ही निर्भरता को समाप्त किया जा सकता है। कारदोसो में तीसरी प्रवृत्ति के प्रतिनिधित्व का दावा किया जो अन्तर्राष्ट्रीय नीतियों तथा तुलनात्मकों के संदर्भ में वर्ग संबंधों का आंतरिक विरोधाभासों के रूप में निर्भरता की संरचनात्मक प्रक्रिया का जिसमें परीक्षण किया गया।

बाचा ने निर्भरता को पाँच भागों में वर्गीकृत किया। पहलीए वासकोनी की केन्द्र-परिधि निर्भरता की अवधारणा। दूसरी लेनिन की साम्राज्यवाद तथा निर्भरता की अवधारणा थी। तीसरी कम विकास के बारे में फ्रैंक की पूँजीवाद अवधारणा थी। चौथी अवधारणा दोन्स सन्तोष ने व्यक्त की जिसमें बहुराष्ट्रीय निगमों पर आधारित नई निर्भरता के बारे में विचार व्यक्त किया। पाँचवी अवधारणा कारदोसो और फैलोटी की थी जिसमें उन्होंने आंतरिक वर्ग संरचना में आन्तरिक निर्भरता का उल्लेख किया।

ओण ब्रियेन ने निर्भरता की तीन अवधारणाओं को मान्यता दी। इण्सीणएलण्ण का संरचनावादी विश्लेषण जिसे सुगकेल और फरतादो में व्यक्त किया था। दूसरा था मार्क्सवादी निर्भरता सिद्धान्त जिसके प्रतिनिधि मारिनीए दोससंतोष तथा फ्रक थे। तीसरी अवधारणा मार्क्सवादी संरचनावादी संश्लेषण के बारे में है जिसके बारे में क्यायानोए कारदोसो तथा इयानी के विचार व्यक्त किए।

चिलकोट ने निर्भरता की अवधारणाओं को चार भाग में बाँटा: (1) कम विकसित का विकास (फ्रैंक तथा रोडिनी) (2) नव निर्भरता (दोससंतोष) (3) निर्भरता तथा विकास (कारदोसो) (4) निर्भरता तथा साम्राज्यवाद (बरान तथा स्वीजी और क्वीयानो) निर्भरता सिद्धान्त के संबंध में अनेक दृष्टिकोण व्यक्त किए गए हैं यहाँ जिस पहले दृष्टिकोण पर विचार व्यक्त किया है यहाँ जिस पहले दृष्टिकोण पर विचार व्यक्त किया है वह राष्ट्रीय स्वायत्त विकास पर निर्भर है। उपनिवेशवादी काल से ही लैटिन अमेरिका कच्चे माल और कृषि जिन्सों के निर्यात पर निर्भर रहा है लेकिन 1929 से 1933 के दबाव वाले समय को छोड़कर इस पर निर्भर रहा है। इस अवधि में उराके निर्यात आय में कमी आई तब से स्वायत्त विकास बुद्धिजीवी तथा मध्यमवर्ग का नया नारा बन गया। पूँजीवादी राज्य के अंतर्गत राज्य का नियंत्रण तथा योजना राष्ट्रीय उद्योगों के साथ-साथ सड़को के बुनियादी ढाँचे बिजली तथा अन्य आवश्यक वस्तुओं की वृद्धि में सहायता दे सकती है।

यह दृष्टिकोण साम्राज्यवाद विरोधी था और इसमें स्वतंत्र राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था बनाने पर जोर दिया गया। इसे पहली बार अर्जेन्टीना के राउल प्रेविश के तत्वावधान में लैटिन अमेरिका यई सी एल एन्द् के लिए संयुक्त राज्य आयोग से संबंध अर्थशास्त्रियों में तैयार किया। ई.सी.एल.ए. ने इस विचार को स्वीकार किया कि कम विकसित देशों की घरेलू अर्थव्यवस्था में विदेशी घुसपैठ की स्थिति में उद्योगपतियों तथा व्यापारियों का एक नया वर्ग राष्ट्रीय हितों के समर्थकों के रूप में उभरेगा। ई.सी.एल.ए. ने निर्भर देशों में विकास के प्रश्न पर साम्राज्यवाद विरोधी परिप्रेक्ष्य के साथ-साथ राष्ट्रवादी दृष्टिकोण अपनाया।

सुनकेल ने संकेत दिया कि कम विकसित देश आन्तरिक उपनिवेशवाद से भी परेशान हैं। आश्रित देशों में लोग अपने ही यहाँ के जमींदारों और पूँजीपतियों के शोषण से परेशान हो जाते हैं जो कि विदेशी पूँजीवादी के सहयोगियों के रूप में काम करते हैं। विपन्न अवस्था से गुजर रही अर्थव्यवस्था में गरीबी और पिछड़ापन और बढ़ जाता है तथा उत्पादकता और कम हो जाती है।

आंतरिक उपनिवेशवाद विकास के ध्रुवों का सिद्धान्त है यह सिद्धान्त मुख्य रूप से असमान विकास से संबंध होता है जो एक ही देश के अंदर मौजूद क्षेत्रों तथा देशों के बीच साफ तौर पर पाया जाता है। इस सिद्धान्त में यह स्वीकार किया

जाता है कि कम विकसित अर्थव्यवस्थाएँ परिवहन तथा संचार के बुनियादी ढाँचे के अभाव से ग्रस्त रहती हैं। द्वैध अर्थव्यवस्था द्वारा पैदा हुआ असंतुलन कम विकसित देशों के लिए पूँजी और प्रौद्योगिकी का विस्तार करके कम किया जा सकता है।

कारदोसों ने दलील दी कि पूँजीवादी विकास निर्भरता की स्थितियों में हो सकता है। विकासशील देशों में यह एकाधिकारात्मक विस्तार का एक नया रूप बन गया है। यह विकास स्थानीय जमींदारों तथा पूँजीवादी वर्ग समेत अन्तर्राष्ट्रीय पूँजी से संबंध सभी वर्गों को लाभ पहुंचाता है। यह नए प्रकार की निर्भरता है जो विदेशी बहुराष्ट्रीय कम्पनियों की बढ़ती हुई शक्ति से पैदा होती है। इन दशाओं में सैनिक हस्तक्षेप तथा शासन की आवश्यकता आ जाती है।

अनेक मार्क्सवादी विचारक एकाधिकार पूँजीवाद द्वारा विकासशील देशों के दबदबे का जिक्र करते हुए निर्भर देशों के कम विकास के बारे में स्पष्ट करते हैं। ये लेखक तर्क देते हैं कि आज निगमित पूँजी ने निर्भर देशों में प्रभुत्व के उपकरण के रूप में वित्त पूँजी का स्थान ले लिया है। बारान तथा स्वीजी ने नए दृष्टिकोण के परिप्रेक्ष्य में अमेरिका की स्थिति पर गौर किया लेकिन उनके निरीक्षणों से विदेशी प्रभाव को समझने में हमें सहायता मिलती है, केन्द्र का एकाधिकार सम्पन्न पूँजीवादी विश्व के कम विकसित देशों पर अपना प्रभाव डालता है। समीर अमिन ने केन्द्र तथा निर्भरता का अपेक्षाकृत अधिक गहराई से विश्लेषण किया।

मारिनी ने ब्राजील में पूँजीवादी विकास के संबंध में उपसाम्राज्यवाद के सिद्धान्त का निरूपण किया उसने ब्राजीली पूँजीवाद को अत्याधिक शोषण करने वाला बताया जिसमें तेजी से इकट्ठा होने वाली धनराशि उत्पादन के साधन के स्वामियों को लाभ पहुंचाती है और जनसाधारण की बिल्कुल गरीबी की स्थिति में धकेल देती है। आन्तरिक उपभोक्ता बाजार के विलुप्त होने और अधिशेष में कमी की स्थिति आने से ब्राजील की अर्थव्यवस्था 1904 में गतिरोध के भंवर में जा पहुँची। इस संकट में उबरने के लिए वहाँ के सैनिक शासन को बाध्य होकर उपसाम्राज्यवाद का एक मात्र सहारा लेना पड़ा। मारिनी ने अन्तर्राष्ट्रीय पूँजीवाद के साथ संबंध को देखते हुए निर्भरता तथा कम विकास की स्थिति से बच निकलने का विश्लेषण किया उनके दृष्टिकोण में मार्क्सवादी साम्राज्यवादी ढाँचे के साथ निर्भरता का परिप्रेक्ष्य हुआ था।

आन्द्रे गुन्दर फ्रैंक ने निर्भरता के सिद्धान्त के लिए एक अन्य ढाँचा उपलब्ध कराया। उसने आर्थिक माध्यम के रूप में सामंतवाद तथा पूर्व पूँजीवादी स्वरूपों के स्थान पर व्यापारिक एकाधिकारों पर जोर दिया ताकि राष्ट्रीय और क्षेत्रीय एकाधिकार वाले वर्ग आर्थिक उपकेन्द्रों से उपयुक्त अधिशेष का अधिशोषण कर सकें। इस प्रकार विश्व स्तर पर पूँजीवाद निर्भर उपकेन्द्रों तथा कम विकसित केन्द्रों की कीमत पर विकासशील एकाधिकारों को बढ़ावा देता है। ई.सी.एल.ए. संरचनावादी दृष्टिकोण से प्रभावित था तथा विकास के परम्परागत दृष्टिकोणों पर उसकी तीखी प्रक्रिया होती थी। महानगरों तथा उपकेन्द्रों की फ्रैंक की द्वैध व्यवस्था में केन्द्र तथा अन्य स्थानों के लिए इ. सी. एल. ए. फारमूला का अनुसरण किया। लेकिन फ्रैंक ने स्वायत्त राष्ट्रीय पूँजीवादी विकास के लिए इ. सी. एल. ए. के सुझावों को अव्यवहारिक बताते हुए आलोचना की इससे उसे पूँजीवाद विरोधी तथा मार्क्सवादी के रूप में माना जाना लगा। फ्रैंक ने रोस्तोव और अन्य विचारकों के चरणबद्ध सिद्धान्त को अस्वीकार कर दिया। उसने पूँजीवाद के इतिहास को निर्धारण करने वाले फार्मूले के रूप में कट्टरवादी मार्क्सवादी सिद्धान्त की भी आलोचना की।

फ्रैंक का मार्क्सवाद पॉल बारान की कृतियों से प्रभावित था और बारान, स्वीजी तथा अन्य विचारकों के प्रयास से मूल तथा कल्पनात्मक विचारों को मार्क्सवादी परम्परा के दायरे में रखा उसने द्वैध समाज की अवधारणा को उचित नहीं ठहराया। उसने ऐसे पूँजीवाद के प्रति तीव्र विरोध प्रगट किया जो कम विकास की ओर ले जाता है।

दोससंतोस ने तीन प्रकार की निर्भरता को रेखांकित किया है।

1. औपनिवेशिक निर्भरता जिसका तात्पर्य व्यापार का एकाधिकार तथा भूमि का एकाधिकार तथा उपनिवेशों ने खानों तथा श्रम शक्ति का एकाधिकार।
2. वित्तीय औद्योगिक निर्भरता जिनका तात्पर्य केन्द्रों की सांठगांठ द्वारा पूँजी का प्रभुत्व कच्चे माल तथा खाद्य उत्पादों के दायरे में पूँजी का निवेश।
3. नई निर्भरता जिसमें निर्भर देशों में बहुराष्ट्रीय निगमों द्वारा निवेश जो कि द्वितीय विश्व युद्ध के बाद उभरा था।

नए निर्भरता के सिद्धान्त के प्रयासों से यह स्पष्ट हुआ कि प्रभुत्वशाली देशों के प्रति निर्भर देशों का संबंध तब तक नहीं बदल सकता जब तक की वे घरेलू ढाँचे और विदेशी संबंध को न बदलें। निर्भरता की संरचना आश्रित देशों को कम विकास की ओर ढकेल देती है क्योंकि बहुराष्ट्रीय निगम पिछड़ी अर्थव्यवस्थाओं से और ज्यादा अवशेष मूल्य निचोड़ लेते हैं।

3.5 निर्भरता सिद्धान्त का आलोचनात्मक मूल्यांकन

जिन विभिन्न दृष्टिकोणों पर ऊपर विचार किया गया है उससे स्पष्ट है कि निर्भरता का कोई एकीकृत सिद्धान्त नहीं है। इन दृष्टिकोणों का विश्लेषण करते हुए निम्नलिखित प्रयास किया गया है।

इ.सी.एल.ए. अर्थव्यवस्थाओं के केन्द्र परिधि विश्लेषण में अन्तर्राष्ट्रीय प्रणाली के प्रति कम विकास के बारे में सही आंकलन किया गया है और इस प्रकार निर्भरता सिद्धान्त का बुनियादी मूल्यांकन किया गया है। हालाँकि इसमें प्रभुत्वशाली देशों की नीतियों और उनकी जरूरतों की बहुत बारीकी से जाँच नहीं हो पाई है। इसमें परम्परागत या सामंतवादी कारकों की तुलना में पिछड़ेपन को गलत तरीके के कारण माना गया है और यह स्वीकार किया गया है कि प्रगतिशील राष्ट्रीय बुरुजुआ वर्ग राष्ट्रीय आर्थिक विकास को प्रोत्साहन देने में सक्षम है।

सुनकेल और फरतादो ने प्रेविस की नीति को संशोधित किया और आंतरिक उत्पादन के परिवर्तनों पर मुख्य रूप से ध्यान दिया ताकि निर्भरता की व्यवस्था को समाप्त किया जा सके साथ ही बहुराष्ट्रीय निगमों के ढाँचे में परिवर्तन का प्रयास किया गया है जो कि अर्थव्यवस्था को मजबूत बनाता है। इस बारे में उनके सुझाव थे: (1) किसानों को भूमि का पुनर्वितरण तथा (2) भारी उद्योगों को लगाना, (3) निर्यात उद्योगों को बढ़ावा देना, (4) संयुक्त राष्ट्रीय तथा बहुराष्ट्रीय उद्यम लगाना। इनमें से अधिकांश नीतियों पर या तो अमल नहीं किया गया या इनमें से निर्भरता की वास्तविकता पर परिवर्तन नहीं लाया जा सका।

निर्भरता के अन्य विचारकों का विश्वास था कि स्वतंत्र पूँजीवादी विकास संभव नहीं है और इसलिए इसके बदले में राजनीतिक अर्थव्यवस्था के साथ-साथ सुनियोजित आर्थिक व्यवस्था और प्राकृतिक संसाधनों के सघन उपयोग के साथ-साथ समाजवाद को अवश्य लागू किया जाना चाहिए। हालाँकि समाजवाद के लिए कोई लोकप्रिय आन्दोलन नहीं किया गया।

कुछ अन्य दृष्टिकोण भी अपर्याप्त अवधारणाओं के कारण आगे नहीं बढ़ सके। कासानोवा के आन्तरिक उपनिवेशवादी मॉडल में बाह्य स्थितियों की अपेक्षा राष्ट्रीय दशाओं पर अधिक जोर दिया गया है इसमें उत्पादन के संबंधों तथा एकाधिकार पर सही ढंग से जोर दिया गया है। हालांकि आन्तरिक उपनिवेशवाद के स्वरूपों पर जोर देना भ्रामक हो सकता है। सीमान्त लोगों को मिलाजुलाकर एक सामूहिक समाज का राष्ट्रीय पूँजीवादी वर्ग का रूप दिया जाना असंभव है। निर्भरता में स्वायत्त विकास एक अवास्तविक प्रस्ताव है क्योंकि अन्तर्राष्ट्रीय पूँजीवाद इस स्थिति को लाने नहीं देगा।

निर्भरता के मार्क्सवादी साम्राज्यवाद विरोधी दृष्टिकोणों ने केन्द्र तथा परिधि के बीच संबंधों पर नई रोशनी डाली है उनकी चिन्ताएँ, एकाधिकारों पर आधिपत्य प्रभाव को लेकर है जिसकी नीति वैश्विक विस्तार की ओर अभिमुख है। श्रमिकों तथा किसानों के शोषण के जरिये परिधि में विस्तार करके विरोधों में कमी लाई जा सकती है। परिधि की ओर जब विरोधों का स्थानांतरण होता है तो निगम एकाधिकार पूँजीवाद में निर्णायक हो जाते हैं। बारान तथा स्वीजी ने इस दृष्टिकोण का समर्थन किया है कि निगमित पूँजी ने अब बैंक पूँजी का स्थान ले लिया है और वहीं नियंत्रक उद्योग का मुख्य माध्यम बन गई है।

मारीनी की उपसाम्राज्यवादी विचारधाराओं की और हालांकि कम ध्यान गया है लेकिन कम विकास के बारे में फ्रैंक के सिद्धान्तों ने कई सिद्धान्तों को प्रभावित किया है तथा कई आलोचकों का ध्यान आकृष्ट किया है। ऐसा कहा जाता है कि फ्रैंक के सिद्धान्त में वर्ग संरचना का जो वर्णन किया गया है वह पूरी तरह से क्रमबद्ध नहीं है। निर्भरता के बारे में एक अन्य आलोचना यह भी की जाती है कि एक समेकित तत्व की अपेक्षा परिधि की ओर बाह्य निर्भरता बढ़ा दी जाती है। एक आलोचक ने यह भी बताया है कि निर्भरता के बारे में फ्रैंक का सिद्धान्त गतिशील नहीं है और इसमें परिवर्तन करना कठिन है। आरनेस्तो लैकालो ने तर्क दिया है कि फ्रैंक का सिद्धान्त मार्क्सवाद की कठोरता से अलग हट गया है। उदाहरण के लिए उसने सामंतवाद और पूँजीवाद को सामाजिक प्रणालियों के रूप में पारिभाषित किया है, उत्पादकों के तरीकों के रूप में नहीं। इस प्रकार सामंतवाद और पूँजीवाद के बीच संक्रमण के विभिन्न रूपों का पता लगा पाना दुश्कर है। एक अन्य आलोचक ने कहा है कि फ्रैंक ने इस बात पर जोर दिया है कि सोलहवीं शताब्दी से समुचे लैटिन अमेरिका में पूँजीवाद का वर्चस्व रहा है। उसकी यह उक्ति मार्क्स की पूँजीवाद की धारणा से भिन्न है।

उसकी आलोचना की व्याख्या संक्षेप में इस प्रकार की जा सकती है। "निर्भरता के सिद्धान्त की आलोचना में परम्परावादी तथा रूढ़िवादी लेखकों की व्याख्या में अवधारणात्मक स्पष्टता का अभाव एक जैसे परिलक्षित होता है। इस प्रकार के लेखकों में भेद स्पष्ट है। निर्भरता के बारे में रूढ़िवादी तथा बूर्जुआ दृष्टिकोण में प्रायः अन्तर्राष्ट्रीय पूँजीवादी के संदर्भ के दायरे में राष्ट्रीय पूँजीवाद के निर्माण के प्रति प्रायः चिन्ताएँ व्यक्त की जाती हैं एक राष्ट्रीय बूर्जुआ राष्ट्र के सहयोग से विकास की ओर बढ़ते हुए राष्ट्र के हित को प्रोत्साहन देगा। रूढ़िवादी अथवा मार्क्सवादी दृष्टिकोण में उत्पादन के साधनों के पूँजीवादी स्वामियों के सहयोग देने के लिए श्रमिकों के संघर्ष के प्रति निर्भरता को समाप्त करने तथा समाजवाद को

समाप्त करने की बात कही गई है जो लोग निर्भरता के साथ मार्क्सवाद के सिद्धान्त को जोड़ने का प्रयास करते हैं उसके लिए भी साम्राज्यवाद एक चिन्ता का विषय है। निर्भरता की संरचनाओं पर काबू पाने के लिए यह आवश्यक है कि आर्थिक साम्राज्यवाद को समाप्त किया जाए।

3.6 विश्व व्यवस्था के रूप में पूँजीवाद

मार्क्स और लेनिन तथा उसके अनुयायियों ने अन्तर्राष्ट्रीय परिप्रेक्ष्य में व्यवस्था की कल्पना की। राबर्ट बुथनॉव ने इस विषय को एक लेख में विकसित किया जिसका शीर्षक है "द माडर्न साइंस एण्ड वर्ल्ड सिस्टम" जो 1979 में थ्योरी एण्ड सोसाइटी नामक जनरल में प्रकाशित हुआ। बुथनॉव ने तर्क दिया कि आधुनिक विज्ञान और प्रौद्योगिकी में विकास ने एक अंततः ही समेकित विश्व प्रणाली को तैयार किया है।

इमैन्युअल वालरस्टीन ने माडर्न वर्ल्ड सिस्टम नामक पुस्तक में पूँजीवादी कृषि तथा सोलहवीं शताब्दी में यूरोपीय विश्व अर्थव्यवस्था की उत्पत्ति के बारे में विचार प्रस्तुत किया अपनी भूमिका में उसने पहले के राजनीतिक परिदृश्य की कठिनाइयों पर विचार व्यक्त किया। उसने प्रभुसत्ता सम्पन्न राज्य या राष्ट्रीय समाज पर पहले की तरह अपना ध्यान केन्द्रित करना छोड़ दिया। इस संबंध में उसने तर्क दिया "इनमें से कोई भी सामाजिक प्रणाली नहीं थी ... कोई व्यक्ति सामाजिक प्रणालियों ने सामाजिक परिवर्तन के बारे में बोल सकता था। इस योजना में एक मात्र प्रणाली थी विश्व प्रणाली"। वास्तव में इमैन्युअल वालरस्टीन ने विभिन्न विषयों की सीमाओं को पार करने का प्रयास किया क्योंकि उसने एक वर्णन करने वाले दृष्टिकोण का ही "Unidisciplinary" उपयोग किया। इस प्रकार उसने सभी सामाजिक शास्त्रों को एक ऐतिहासिक सम्पूर्ण समाज के परिप्रेक्ष्य के रूप में सम्मिलित किया।

सामिर आमिन ने अपनी पुस्तक इक्युमिलेशन आन ए वर्ल्ड स्केल में ही इसी प्रकार का दृष्टिकोण अपनाया और मार्क्सवादी ढाँचे का पूरी तरह उपयोग किया गया तथा सूझ बूझ का एक मौलिक प्रतिमान बनाया। वालरस्टीन की ही तरह सामिर आमिन भी ऐतिहासिक और समग्र परिप्रेक्ष्य को ध्यान में रखने वाला व्यक्ति था और उसने भी अपने सिद्धान्त को विकसित तथा प्रस्तुत करने के लिए राष्ट्रीय प्रणाली तथा सामाजिक प्रणालियों के दायरे को पार करने का प्रयास किया। इस प्रकार सामिर आमिन ने घोषणा कि "एक पूँजीवाद तथा एक अन्य समाजवाद जैसी दो विश्व बाजार की व्यवस्था नहीं है बल्कि केवल एक है ... पूँजीवादी विश्व बाजार" विश्व स्तर पर संग्रह के बारे में उसका सिद्धान्त विश्व प्रणाली के केन्द्र तथा परिधि के बीच पूँजीवादी संरचनाओं एक सिद्धान्त है।

इमैन्युअल वालरस्टीन ने आर्थिक संरचनावाद के सिद्धान्त का समर्थन करते हुए पूँजीवादी विश्व अर्थव्यवस्था में वर्ग की अपनी अवधारणा को विकसित किया उसके तर्क को निम्नलिखित संक्षिप्त शब्दों में व्यक्त किया जा सकता है – वर्ग एक ऐसी अवधारणा है जो कि ऐतिहासिक पूँजीवादी विश्व अर्थव्यवस्था से अथवा आधुनिक विश्व प्रणाली से जुड़ा हुआ है।

इस विश्व व्यवस्था में तीन आधारभूत तत्व शामिल हैं: (1) एकल बाजार, (2) राज्य संरचनाओं की एक श्रृंखला जिसे राष्ट्र कहते हैं और जो बाजार के काम-काज को प्रभावित करता है, और (3) मुख्य भीतरी भाग, अर्ध परिधि से और परिधि इन तीनों के स्तर जिनमें अतिरिक्त श्रम का विनियोग किया जाता है। इन तीनों स्तरों के संबंध में वर्ग संघर्ष बढ़ता है।

वालरस्टीन का कथन है "जो शीर्ष पर हैं जो अपने विशेषाधिकार को सुरक्षित रखने के उद्देश्य से तीनों स्तरों के अस्तित्व को सुनिश्चित रखना चाहते हैं जबकि सबसे निम्न स्तर पर रहने वाले लोग तीन तथा दो स्तरों को कम करना चाहते हैं ताकि उस विशेषाधिकार को वे समाप्त कर सकें। मध्यम स्तर के अस्तित्व की यह लड़ाई लगातार राजनीतिक रूप में तथा बुनियादी सैद्धान्तिक निर्माणों के रूप में लगातार चलते रहती है। इसी संघर्ष में वर्गों का निर्माण सुदृढीकरण, विखंडन तथा पुनर्संरचना होता है तथा इस प्रकार पूँजीवाद तैयार होता है तथा विकसित होता है।

यह बदलता हुआ संघर्ष पूँजीवादी अर्थव्यवस्था में स्थित है वह इसी विचार को आगे बढ़ाते हुए कहता है "पूँजीवादी अर्थव्यवस्था व्यवस्था कार्य का मुख कार्य क्षेत्र हैं जिसमें इसका ढाँचा इसका ऐतिहासिक विकास तथा इसके विरोध आदि समग्र रूप में विद्यमान रहते हैं। उस विश्व अर्थव्यवस्था की बुनियादी राजनीतिक वास्तविकता है वर्ग संघर्ष जो हमेशा रूप बदलता रहता है। छद्म वर्ग जाग्रति बनाम जातीय-राष्ट्रीय चेतना, राष्ट्रों के भीतर वर्ग बनाम राष्ट्रों के आर-पार वर्ग।

"सामिर आमिन की भी राय में पूँजीवाद एक ऐसी विश्व प्रणाली है जिसमें राष्ट्रीय इकाइयाँ स्वतंत्र हो सकती हैं। वर्ग उत्पादन संघर्ष और संक्रमण – इन सभी का विश्व परिप्रेक्ष्य में विश्लेषण अवश्य किया जाना चाहिए। इस प्रकार पूँजीवाद से समाजवाद की ओर संक्रमण परिधि में शुरू होना चाहिए। "उसका कहना है कि राष्ट्रों के बीच असमानता की मौजूदा दशाओं के अंतर्गत, एक विकास जो अवर विकास का महज विकास नहीं है। इसलिए यह राष्ट्रीय, लोकप्रिय लोकतांत्रिक तथा समाजवादी दोनों ही हो सकता है जो कि विश्व परियोजना का गुण है जिसका की वह हिस्सा बनता है।"

अन्य मुद्दा है क्या विश्लेषण में विनिमय या उत्पादन पर विचार किया जाना चाहिए। आनिन ने उत्पादन के तरीके के रूप में अवधारणा का इस्तेमाल किया है जिससे बाज़ार बाज़ार की श्रेणियों से बाहर निकला जा सके विशेषकर जबकि विश्व प्रणाली केन्द्र तथा परिधि पर ध्यान केन्द्रित करना हो। आमिन ने मार्क्स की परम्परा का अनुसरण किया जिसने पूँजीवादी प्रणाली में वित्तीय तथा व्यापार चक्रों द्वारा पैदा किए गए संकटों की ओर ध्यान दिया लेकिन जिसने पूँजीवाद में उत्पादक क्षमता के विकास पर भी मुख्य ध्यान दिया। आमिन ने यह भी तर्क दिया कि हम ऐसे वर्ग संघर्ष की कल्पना नहीं कर सकते जो अलग-अलग राष्ट्रीय संदर्भों में हो बल्कि हमें इस रूप में सोचना होगा कि यह विश्व प्रणाली के संदर्भ के दायरे में घटित हो रहा है। विश्व बाज़ार के साथ परिधि के एकीकरण की स्थिति में परिधि में ऐसी क्षमता और आर्थिक साधनों का अभाव है जो कि विदेशी एकाधिकारों को चुनौती दे सके। परिधि से केन्द्र की ओर मूल्य के स्थानांतरण से क्या बूर्जुआ और सर्वहारा राष्ट्रों में विश्व का विश्लेषण नहीं किया जा सकता। इस प्रश्न के बारे में आमिन का उत्तर है कि आधुनिक विश्व प्रणाली में वर्ग संघर्ष केवल राष्ट्रों के भीतर ही नहीं बल्कि राष्ट्रों के बाहर भी होगा।

3.7 सारांश

राजनीतिक अर्थव्यवस्था में अर्थव्यवस्थाओं और राजनीतियों के बीच अंतरसंबंधों की व्याख्या की जाती है। राजनीतिक अर्थव्यवस्था अनेक चरणों से होकर विकसित हुई है—वाणिज्यवाद, जाति व्यवस्था, वर्ग राजनीतिक व्यवस्था, काल्पनिक समाजवाद, मार्क्सवाद, नव-वर्गीय अर्थव्यवस्थाएँ तथा किनेशियाई अर्थव्यवस्था। राजनीतिक अर्थव्यवस्था क्लासिकी तथा मार्क्सवादी का अध्ययन करते समय हमें परस्पर विरोधी व्यवस्थाएँ मिलती हैं। मार्क्स ने राज्य की अपनी अवधारणा को उत्पादन के प्रचलित तरीकों से जोड़ा है। उसके अनुसार उत्पादन के तरीके में परिवर्तन से राज्य के स्वरूप में बदलाव आता है। मार्क्सवाद ने राजनीति को एक आर्थिक आधार पर एक बहुत बढ़िया ढाँचा माना जाता है।

राजनीतिक अर्थव्यवस्था में साम्राज्यवाद, विकास कम विकास राज्य तथा वर्ग जैसे मुद्दों की व्याख्या की जाती है और उनके राजनीतिक तथा आर्थिक आयामों पर विचार किया जाता है।

राजनीतिक अर्थव्यवस्था दृष्टिकोण के अन्दर विकासशील देशों की व्यवस्थाओं का तुलनात्मक विश्लेषण करते समय खासतौर से लैटिन अमेरिका में व्याप्त निर्भरता की अवधारणा का विश्लेषण किया गया है। इससे इस बात पर जोर दिया गया है कि पिछड़े क्षेत्रों का कम विकास उसी पूँजीवादी विकास की ऐतिहासिक प्रक्रिया का प्रतिफल है जिसने प्रगतिशील क्षेत्रों के विकास को एक निश्चित स्वरूप दिया। निर्भरता को स्पष्ट करने के लिए कुछ अवधारणाओं का इस्तेमाल किया गया (1) विकास के ध्रुव, (2) आन्तरिक उपनिवेशवाद, (3) एकाधिकारात्मक पूँजीवाद, (4) उपसाम्राज्यवाद, (5) अल्प विकास का पूँजीवादी विकास और (6) नई निर्भरता।

विश्व व्यवस्था दृष्टिकोण एक एकीकृत विश्व व्यवस्था के रूप में पूँजीवाद की अवधारणा पर आधारित है इसमें इस बात पर जोर दिया गया है कि आधुनिक पूँजीवादी विश्व तीन बुनियादी विशेषताओं के आधार पर संगठित है: एकीकृत विश्व बाज़ार, राज्य संरचनाओं तथा राष्ट्रों की एक श्रृंखला जो बाज़ार के काम-काज को प्रभावित करती हैं और सबसे आन्तरिक, अर्धपरिधि तथा परिधि जैसे तीनों स्तरों वर्ग संघर्ष इन्हीं स्तरों के आपसी संबंधों के कारण उत्पन्न होता है।

उदारवादी, नव-उदारवादी, बहुलवादी तथा कार्यवादी लेखकों ने राजनीतिक अर्थव्यवस्था दृष्टिकोण या निर्भरता की अवधारणाओं तथा विश्व व्यवस्था की ओर बहुत कम ध्यान दिया है। उन्होंने ऐसी सैद्धान्तिक संरचना का नाम देकर अपने को मुक्त कर दिया है जो कि सामाजिक और राजनीतिक वास्तविकताओं के पूर्णतया अनुरूप नहीं हैं।

3.8 बोध प्रश्न

1. तुलनात्मक राजनीति के अध्ययन में राजनीतिक अर्थव्यवस्था दृष्टिकोण की मुख्य विशेषताओं की आलोचनात्मक दृष्टि से समीक्षा कीजिए।
2. निर्भरता की अवधारणा को कम विकास के कारण कम विकास के सिद्धान्त के लिए एक उपकरण मानते हुए विश्लेषण कीजिए।
3. विश्व व्यवस्था दृष्टिकोण की अवधारणाओं तथा राजनीतिक विश्लेषण के लिए उनकी सार्थकता के बारे में विश्लेषण कीजिए।
4. संक्षिप्त टिप्पणियाँ लिखिए:
 - (क) आधार तथा उच्च संरचना (सुपर स्ट्रक्चर)
 - (ख) केन्द्र तथा परिधि
 - (ग) बहुराष्ट्रीय निगम

इकाई 4

राज्य के सिद्धान्त

संरचना

- 4.1 प्रस्तावना
- 4.2 राज्य की अवधारणा का अर्थ
 - 4.2.1 'राज्य' अवधारणा की व्युत्पत्ति
 - 4.2.2 राजनीतिक दार्शनिकों के राज्य के बारे में विचार
 - 4.2.3 राज्य कैसे स्थापित होता है?
- 4.3 राज्य की उत्पत्ति से सम्बंधित सिद्धान्त
 - 4.3.1 सामाजिक अनुबंध के सिद्धान्त
 - 4.3.2 ऐतिहासिक/विकासवादी सिद्धान्त
 - 4.3.3 मार्क्सवादी सिद्धान्त
- 4.4 राज्य के प्रमुख परिप्रेक्ष्य
 - 4.4.1 उदारवादी-व्यक्तिवादी परिप्रेक्ष्य
 - 4.4.2 समकालिक स्वेच्छावादी परिप्रेक्ष्य
 - 4.4.3 सामाजिक लोकतान्त्रिक परिप्रेक्ष्य
 - 4.4.4 मार्क्सवादी परिप्रेक्ष्य
 - 4.4.5 गांधीवादी परिप्रेक्ष्य
- 4.5 सारांश
- 4.6 बोध प्रश्न

4.1 प्रस्तावना

राज्य राजनीतिशास्त्र की आधारभूत अवधारणा होने के कारण उसका अपना महत्व है। प्राचीन यूनान काल से अब तक राज्य की अनेक परिभाषाएँ की गई हैं। वास्तव में जितने सिद्धान्तवादी हुए हैं, उतनी ही इसकी परिभाषा करने का प्रयास किये गए। राज्य का अर्थ बताते हुए लगभग सभी उदारवादियों ने इसे जनसंख्या, निश्चित सीमा, प्रशासन। सरकार तथा प्रभुसत्ता के साथ सम्बंध किया। आर्थिक रूप से प्रभुत्व वाले वर्ग के हाथ में यह एक उपकरण है, जो अभाव वाले लोगों का शोषण करता है, यह बुर्जुआ लोगों के ऐसी कार्यकारिणी समिति है – जो सर्वहारा लोगों का दमन करती है, जैसा कि मार्क्स ने पूँजीवादी प्रणाली के बारे में कहा था। राज्य के बारे में अराजकतावादियों, सामाजिक लोकतान्त्रिकों तथा गांधीवादियों के अपने भिन्न परिदृश्य हैं। इस प्रकार विभिन्न राजनीतिक दार्शनिकों ने राज्य के बारे में भिन्न-भिन्न अर्थ प्रस्तुत किए हैं। राज्य की उत्पत्ति के संबंध में भी विभिन्न प्रकार के सिद्धान्त हैं। इसी प्रकार इसकी प्रकृति और कार्यों के बारे में भी विभिन्न सिद्धान्त दिए गए हैं। राज्य की अवधारणा का समग्र रूप में समझने के लिए आवश्यक है कि इसे सभी परिप्रेक्ष्यों में जाना जाए।

4.2 राज्य की अवधारणा का तात्पर्य

4.2.1 राज्य अवधारणा की व्युत्पत्ति

राज्य के अस्तित्व का तथ्य इसके नाम से भी पुराना है। राज्य के लिए प्रयुक्त होने वाला अंग्रेजी का 'स्टेट' शब्द सोलहवीं शताब्दी के प्रारंभिक भाग में इटली में मैकियावेली के लेखों में 'स्टेटो' शब्द के रूप में मिला (1469-1527)। सोलहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में इंग्लैण्ड और फ्रांस में संस्था राजनीति के अर्थ में राज्य का तात्पर्य सामान्य रूप से प्रचलित हुआ। सत्रहवीं शताब्दी के दौरान 'Staatnkunst' शब्द जर्मन भाषा के *ragione de state* के सामानार्थक रूप में प्रयुक्त होने लगा और इसके कुछ समय बाद यह शब्द 'staatsrecht' *jus publiceem* के अर्थ में इस्तेमाल किया जाने लगा। इस प्रकार *state* शब्द का प्रयोग होने लगा।

'State' शब्द की उत्पत्ति लैटिन शब्द 'statue' से हुई, जिसका अर्थ है, किसी व्यक्ति अथवा व्यक्तियों की किसी संस्था की 'position' या standing। अर्नेस्ट बारकर ने लैटिन शब्द status के अंग्रेजी के तीन शब्द दिए (i) 'estate' किसी सम्पत्ति के बारे में 'position' या 'standing' (ii) Estate को सामाजिक हैसियत की प्रणाली में स्तर या ग्रेड के प्राथमिक अर्थ में अथवा ऐसे ग्रेड या रैंक के संबंध में हैसियत के रूप में इस्तेमाल, और (iii) 'Estate', जैसे व्यक्ति या व्यक्तियों की किसी संस्था में निहित गौरव या शान प्रारंभिक रूप में अनोखी हैसियत, इस प्रकार की जो राजनीतिक और डिग्री के हिसाब से सुपीरियर या सुप्रीम हो। 16वीं-17वीं शताब्दियों के दौरान यहाँ तक कि 18वीं शताब्दी के अंतिम दिनों तक स्टेट शब्द कुछ हद sovereign तक अथवा/या King के समानार्थक समझा जाने लगा। अगर लूईस चौदहवें ने कहा "मैं स्टेट हूँ" (I am the state) तो इसमें आश्चर्य नहीं है। और इस संदर्भ में बारकर ने कहा है "क्या अपनी दृष्टि में वह लुई 14वाँ नहीं था) उसी तरह जैसे की उसकी प्रजा थी, वह व्यक्ति जो सर्वोच्च राजनीतिक सत्ता होते हुए 'state' तथा position का उपभोग करता था क्या वह 'The State' नहीं था।"

प्राचीन यूनान में Polis शब्द का इस्तेमाल अथवा प्राचीन रोम में 'respublica' अथवा पश्चिम में मध्य युग के दौरान 'commonwealth', 'Commonweal' stateliness. जैसे किसी व्यक्ति या व्यक्तियों की संस्था प्रभुसत्तात्मक राजनीतिक स्थिति के विचार को स्पष्ट रूप से या परिभाषा की दृष्टि से समाहित नहीं करते। यही कारण है कि ये शब्द 'polis Respublica', 'Common Weal' का तात्पर्य शासकों के दबाव की अपेक्षा कहीं अधिक था। वास्तव में, इन शब्दों का तात्पर्य सीमा क्षेत्र के अंदर रहने वाले लोगों की संपूर्ण संस्था केवल हिस्सा बनने वाले शासकों, हालाँकि वास्तव में प्रमुख से होता था। केवल मैकियावेली के लेखों लिखित है उसके पश्चात् अन्य सिद्धान्तवादियों के लेखन में स्टेट शब्द प्रचलन में आया, शासक की स्थिति न केवल उसकी प्रजा के संदर्भ में बल्कि अंतः शासक जिस हैसियत की स्थिति को प्राप्त करने लगा। 18वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में तथा 19वीं शताब्दी के अधिकांश हिस्से में इंग्लैण्ड और फ्रांस में न्यायविदों के प्रयास के कारण सार्वभौम सत्ता के आंतरिक वर्चस्व तथा बाह्य स्वतंत्रता पर काफी कुछ जोर दिया जाने लगा। मताधिकार के रूप में लोकतंत्र उदार-पूँजीवादी प्रणाली से संबंध किया जाने लगा और वहाँ रहने वाले लोगों की महान संस्था में सम्मिलित करने के लिए राज्य की अवधारणा स्वयं उदार बनती गई। बारकर ने बताया "राज्य अब सम्पूर्ण समुदाय, सम्पूर्ण वैधानिक संघ, सम्पूर्ण न्यायिक संगठन है, यह लोकतंत्र है या लोकतंत्र का परिणाम है, इसके पश्चात हमें अब स्वयं अपने ही राज्य के बारे में सोचना होगा और इसके पश्चात। हमें राज्य नाम से पहले अभिहित सत्ता को "सरकार" के नाम से जानना होगा।

4.2.2 राजनीतिक दार्शनिकों के राज्य के बारे में विचार

प्राचीन तथा वर्तमान के विचारकों ने राज्य की जो विभिन्न परिभाषाएँ दी हैं, उन पर दृष्टिपात करने पर इस अवधारणा के बारे में उनके विचार का पता लगता है। प्लेटो (4287-348/7 ई. पू.) ने राज्य की परिभाषा करते समय बताया कि राज्य संबंधों की ऐसी परिप्रेक्ष्य है जिसमें प्रत्येक व्यक्ति अपना कार्य करता है और जहाँ शासक इन संबंधों को बनाए रखने का प्रयास करते हैं। प्लेटो के शिष्य अरस्तू (384-322 ई.पू.) ने राज्य की परिभाषा करते हुए उसे कुटुम्बों और गाँवों का ऐसा संघ बताया जो गुणों से पूर्ण जीवन बिताते हैं और एक ऐसा लक्ष्य रखते हैं जिसमें पूर्ण तथा आत्मपूर्ण अस्तित्व बना रहता है। प्राचीन रोम का एक विधिवेत्ता सिसरो (106-43 ई.पू.) ने कहा है कि राज्य लोगों का मामला है ... जो कानून तथा अधिकारों के बारे में एक सामान्य सहमति से संगठित रहते हैं और जो आपसी लाभ में सहभागी बनने की इच्छा रखते हैं। आधुनिक काल के प्रारंभ में हमारे बीच में कियावेली (1469-1527) राज्य की परिभाषा करते हुए उसे अनेक कुटुम्बों की वैधतापूर्ण सरकार बताता है जिनका प्रभुराता शक्ति के साथ समान स्वामित्व होता है। जीन बोडिन (1530-1596) ने राज्य को विधिवत सरकार के रूप में परिभाषित करते हुए कहा है, अनेक परिवारों और संप्रभुता प्राप्त लोगों के आधिपत्य में हो। थॉमस हाब्स (1588-1679) राज्य के बारे में कहता है जो लोगों को अपना संरक्षण तथा उसके द्वारा और अधिक संतुष्ट जीवन प्रदान करता है। जॉन लॉक (1632-1704) कहता है। लोगों के राष्ट्र के रूप में एक होने तथा स्वयं को सरकार के अंतर्गत रखने का महान तथा प्रमुख लक्ष्य अपनी गरीबी को संरक्षित रखना। बेंथम (1748-1832) राज्य को अधिकतम संख्या की अधिकतम प्रसन्नता प्राप्त करने का साधन मानता है और इसके लिए वह सरकार के सहायक लक्ष्य निर्दिष्ट कहता है, "बहुलता, गुजारा, समानता तथा सुरक्षा"। हरबर्ट स्पेन्सर (1820-1903) राज्य को एक प्रबंधन समिति मानता है जिसके पास नागरिकों की स्वीकृति द्वारा प्राप्त नैतिक स्वीकृति के बाहर कोई तात्त्विक प्राधिकार नहीं है। रूसो (1712-1778) राज्य के बारे में कहता है कि यह सार्वजनिक व्यक्ति, अन्य सभी व्यक्तियों के संघ द्वारा गठित पहले नगर का नाम लिया और अब रिपब्लिक या राजनीतिक संस्था का रूप लिया। इसके सदस्य इसे राज्य कहते हैं, जब यह निष्क्रिय हो, सक्रिय होने पर प्रभुसत्ता और जैसे अन्य के साथ तुलना करने पर इसे शक्ति कहा जाता है। एडमण्ड बर्क (1729-1793) राज्य की परिभाषा करते हुए इसे सभी विज्ञानों में एक भागीदारी, सभी कलाओं में भागीदारी तथा सभी गुणों में भागीदारी और सभी में पूर्णता न केवल जो जीवित है और जो मृत हैं तथा जो अभी जन्म लेने वाले हैं उनके बीच भागीदारी। हेजल (1770-1831) राज्य को एक दैवी तथा नैतिक इकाई मानता है जो सभी आध्यात्मिक वास्तविकता प्रदान

करने में सक्षम हैं। जॉन स्टूवाट मिल (1806–1873) राज्य को सकारात्मक साधन मानता है जो व्यक्ति को प्रगति हासिल करने में तथा स्वतंत्रता का आनन्द लेने में सहायता करता है। थॉमस हिलग्रीन (1836–1882) राज्य की परिभाषा करते हुए उसे व्यक्तियों की संस्था बताता है जिसे प्रत्येक व्यक्ति अधिकारों से युक्त तथा उन अधिकारों के संरक्षण के लिए कुछ संस्थाओं से मुक्त बताता है। कार्ल मार्क्स (1818–1883) तथा फ्रेडरिक एंगल्स (1820–1895) राज्य को अर्थव्यवस्था में वर्ग प्रभुत्व का एक राजनीतिक संगठन मानता है जिसका उद्देश्य वर्तमान व्यवस्था की सुरक्षा रखना है। सम्प्रदाय वर्ग कुछ लोगों का बहुत लोगों पर शासन मानते हैं, यह मात्र इतिहास का तथ्य है जहाँ बहुलवादी समाज में सामाजिक व्यवस्था कायम करने के लिए उत्तरदायी है। फासीवादियों ने राज्य को आदर्श रूप दिया है और उनका विश्वास है कि इसके द्वारा कोई भी गौरव प्राप्त किया जा सकता है। श्रमिक संघवादी तथा अराजकतावादी राज्य की योग्यता पर ही संदेह करते हैं और बिना राजनीतिक दासता तथा आर्थिक शोषण के स्वतंत्र परिप्रेक्ष्य की आकांक्षा करते हैं। विकासवादी समाज में राज्य के जरिये ऐसा समाजवाद लाने की आकांक्षा करते हैं जिसमें राज्य सुधार लाने वाला एक अभिकरण है।

4.2.3 राज्य कैसे स्थापित होता है?

प्रारंभ से ही राज्य में भूमि तथा लोगों का संदर्भ शामिल किया गया है। इस संदर्भ में देश, राष्ट्र, समाज तथा कोई संघ बहुत ही सामान्य शब्दों के रूप में प्रयुक्त हुए हैं। इस तथ्य को निश्चित रूप से मान लेना चाहिए कि राज्य न तो एक देश है न ही एक राष्ट्र तथा न ही एक समाज है। प्रादेशिक राज्य उसी अर्थ में एक देश है जैसा कि स्वतंत्र देश एक राज्य होता है। हम जब भी देश के बारे में बात करते हैं तो उस संदर्भ में मिट्टी, मौसम, जलवायु, सीमाएँ तथा संक्षेप में, समस्त भूगोल इस दायरे में शामिल हो जाते हैं। इस प्रकार हम देश शब्द को भौगोलिक रूप में एक विशेष स्थिति में पाते हैं। राज्य शब्द तथा देश शब्द, वास्तव में, राजनीतिक अवधारणा है। प्रत्येक राज्य एक देश होता है परन्तु देश जब तक स्वाधीन नहीं होता, वह राज्य नहीं। एक देश के सभी क्षेत्र पर अत्यधिक एकता का उपयोग करते हुए रहने वाले लोग एक राज्य हो सकते हैं और नहीं भी हो सकते हैं। यदि लोगों की वह संख्या सार्वभौम है तो वह राज्य है और यदि वह किसी जनता के नियंत्रण में है तो वह राज्य नहीं है। राज्य में एकता भावनात्मक आधार पर होती है और उनकी एकता राज्य की इकाई में कानून के जरिये लाई जाती है। एक राष्ट्र—बाह्य तथा शाश्वत एकता है जबकि एक राज्य एक बाह्य संघ है। एक राज्य में अनेक राष्ट्र हो सकते हैं जबकि एक राष्ट्र में एक से अधिक राज्य हो सकते हैं। सुबार्न कहता है राष्ट्र संस्कृति की एकता, एक सामान्य भूमि, सामान्य भाषा तथा साहित्य के लिए वफादारी की भावना इतिहास तथा सामान्य नायकों और सामान्य धर्म की पहचान चाहता है। जबकि दूसरी ओर राज्य वैधानिक एकता और राजनीतिक सत्ता का उल्लेख करता है। मैकनवेर ने कहा है कि राज्य एक समाज नहीं है, यहाँ तक की समाज का एक रूप भी नहीं है। उसके अनुसार यह एक संघ है जो समाज के लोगों के उत्कृष्ट बाह्य संबंधों का नियमन करता है। पारकर ने कहा है कि राज्य एक ऐसा राजनीतिक संघ है जिसके पास शक्ति का इस्तेमाल करने का वैधानिक अधिकार है। इस प्रकार राज्य का तात्पर्य (क) यह एक राजनीतिक वैधानिक संस्था है जो कानून तथा व्यवस्था के प्रवर्तन तथा संरक्षण के लिए जिम्मेदार है। (ख) यह भीतर से सभी संघों से सर्वोच्च है और बाहर से किसी नियंत्रण से स्वतंत्र है और (ग) एक मात्र इसी के पास बलपूर्वक शक्ति का इस्तेमाल करने का अधिकार है।

राज्य अपनी व्यापक प्रणाली में पाया जाता है यह उन संरचनाओं में पाया जाता है जो कानून उन्हें लागू करती है। जैसे विधायिका, कार्यकारिणी तथा न्यायिक संस्था है। सरकार यह अफसरशाही संस्थाओं में पाया जाता है जो कार्यकारी मंत्रालय के साथ सम्बंध होते हैं। यह उन संस्थाओं में पाया जाता है जिन्हें धमकी की स्थिति में संचालन करने के लिए बुलाया जाता है जैसे सेना और पुलिस। एक प्रकार से राज्य इन सभी संस्थाओं का समग्र भाग है। राल्फ मिलिबैंड लिखता है ये संस्थाएँ हैं : सरकार, प्रशासन, सैनिक तथा पुलिस, न्यायिक शाखा, उप-केन्द्रीय सरकार और संसदीय संस्थाएँ — जो सब मिलकर राज्य बनाती है इन संस्थाओं में राज्य की शक्ति रहती है। इन संस्थाओं के जरिये राज्य का कानून आता है और भौतिक ताकत का इस्तेमाल करने का उनसे वैधानिक अधिकार मिलता है।

आज का राज्य यही है यह एक व्यवस्था है जिसे युद्ध के बाद के काल में अमरीकियों में राजनीतिक व्यवस्था बताया। युद्ध के बाद के अमरीकियों डेविड इस्टन, आलमाण्ड और पावेल तथा डहल ने राजनीतिक व्यवस्थाओं का नाम दिया है। यह एक व्यवस्था है जिसमें औपचारिक तथा अनौपचारिक राजनीतिक संस्थाएँ हैं, छोटे तथा बड़े औद्योगिक घराने तथा सांस्कृतिक तथा धार्मिक संगठन हैं। यह अन्तरकारियों की एक प्रणाली है जिसके बारे में डेविड इस्टन ने कहा था कि जिसके जरिये मूल्यों का सत्तात्मक आबंटन किया जाता है।

राज्य के प्रारंभिक काल से ही इसने साधन के रूप में कार्य किया, कुछ का पक्षपात करते हुए तथा कुछ को भयभीत करते हुए, हमेशा ऐसे हाथों में रहते हुए जो इसका नियंत्रण करते हैं। लास्की लिखता है “कोई भी व्यक्ति जो ऐतिहासिक साक्षियों की जाँच पड़ताल करता है। इस बात से इंकार नहीं सकता कि राज्य के संचालनों में पूर्वाग्रह हैं” यूनान का नगर—राज्य गुलामों के प्रति पूर्वाग्रह से युक्त था। रोमन साम्राज्य गुलामों और गरीबों के प्रति पूर्वाग्रह रखता था।

मध्यकालीन विश्व ने राज्यों का उन लोगों के पक्ष में पूर्वाग्रह था जिनके पास जमीन-जायदाद का स्वामित्व था। औद्योगिक क्रांति के बाद राज्य उत्पादन के उपकरणों के पक्ष में पूर्वाग्रहयुक्त था और यह उनके खिलाफ था जिनके पास अपने श्रम को बेचने के सिवाय कुछ नहीं था। लास्की के तर्क को पूरा करते हुए इतना और कहा जा सकता है कि समाजवादी राज्य श्रमिकों के पक्ष में पूर्वाग्रहित है। यह बात याद रखनी चाहिए कि राज्य का औचित्य एक सेवक के हैसियत से है। यदि राज्य अपने मालिकों के हित में संचालन करता है तो यह पर्याप्त प्रमाण है कि सेवक विश्वस्त है।

4.3 राज्य की उत्पत्ति से सम्बंधित सिद्धान्त

राज्य की उत्पत्ति के संबंध में अनेक सिद्धान्त प्रस्तुत किए जाते हैं इनमें दैवी उत्पत्ति सिद्धान्त बल सिद्धान्त, पितृसत्ताक और मातृसत्ताक सिद्धान्त, सामाजिक अनुबंध सिद्धान्त, विकासात्मक/ऐतिहासिक सिद्धान्त तथा मार्क्सवादी सिद्धान्त शामिल हैं। इनमें जो प्रमुख हैं और जिनके बारे में व्यापक विचार विमर्श किया जा रहा है उनमें राज्य की उत्पत्ति से संबंधित सिद्धान्त हैं सामाजिक अनुबंध सिद्धान्त और ऐतिहासिक/विकास सिद्धान्त तथा मार्क्सवादी सिद्धान्त।

4.3.1 सामाजिक अनुबंध के सिद्धान्त

राज्य की उत्पत्ति के सामाजिक अनुबंध सिद्धान्त की स्पष्ट तथा व्यापक अभिव्यक्ति 17वीं शताब्दी के इंग्लैण्ड के थॉमस हाब्स तथा जॉन लॉक तथा 18वीं शताब्दी के फ्रांस से रूसो से संबंधित हैं। इस सिद्धान्त में बताया गया है कि राज्य मनुष्य के सोच-समझ के इरादों का परिणाम है जो पूर्व नागरिक तथा पूर्व राजनीतिक अवधि में अनुबंध/समझौते के जरिए सम्पन्न हुआ जिसे राज्य की प्रकृति कहा गया। इसलिए इस सिद्धान्त में यह स्वीकार किया जाता है कि एक ऐसा समय था जब कोई राज्य नहीं था और लोग प्रकृति के राज्य में रहते थे उसका तात्पर्य यह कि ऐसी स्थिति जिसमें लोग बिना कानून, बिना सत्ता तथा बिना सरकार के रहते थे। ऐसा लगता है कि हॉब्स लॉक और रूसो मानव समाज को दो युगों में विभक्त करते हैं: प्रकृति के राज्य का युग तथा राजनीतिक समाज/राज्य का युग उन भी का कहना है कि राज्य की व्यवस्था रखने का अनुबंध प्रकृति के राज्य में रहने वाले लोगों द्वारा तैयार किया। अनुबंध का निर्णय कर लेने के पश्चात् लोगों ने प्रकृति के राज्य को छोड़ दिया राजनीतिक समाज में प्रवेश कर गए इसलिए अनुबंध विभाजक रेखा है तीनों दार्शनिकों, अनुबंधवादियों के विचार में ऐसा लगता है कि प्रकृति के राज्य में उन्होंने राज्य की आवश्यकता महसूस की इसलिए उनमें राज्य की जरूरत का अनुबंध हुआ और अनुबंध के बाद राज्य सामने आया। राज्य के प्रकट होने के पश्चात् शासक तथा शासित के बीच अन्तर किया जा सका और राज्य की सत्ता तथा राज्य की शक्ति के बारे में उसके बाद जोर दिया गया। विभिन्न मुद्दों पर अनुबंधवादियों में समझौता नहीं था। उदाहरण के लिए प्रकृति का राज्य क्या था मानव की दशा क्या थी अनुबंध की प्रकृति क्या थी, अनुबंध के बाद किस प्रकार का राज्य सामने आया ये ऐसे प्रश्न हैं जिनके बारे में अनुबंधवादियों में भयंकर मतभेद विद्यमान हैं। किस बात पर वे सहमत थे वह था प्रकृति के राज्य में एक प्रकार का कानून जिसे प्राकृतिक कानून कहा गया। मनुष्यों के पास प्राकृतिक अधिकार नहीं थे परन्तु अनुबंध से बाहर निकलने के संबंध में हॉब्स ने एक सर्व शक्तिमान राज्य प्रस्तुत किया। जैसे पूर्ण प्रभुसत्ता; लॉक ने सीमित राज्य का तर्क दिया जैसे राजनीतिक प्रभुसत्ता रूसो ने सामान्य इच्छा जैसे लोकप्रिय प्रभुसत्ता के अपने सिद्धान्त पर आधारित लोकतान्त्रिक राज्य के बारे में विचार व्यक्त किया।

आलोचकों के खराब इतिहास, स कानून तथा खराब दर्शन के आधार पर सामाजिक अनुबंध की निन्दा की। इसे खराब इतिहास बताया गया क्योंकि अनुबंध का निर्णय कब किया गया इसका कोई प्रमाण नहीं है। खराब कानून इसलिए कहा गया क्योंकि एक बार अनुबंध बन जाने पर वह अपरिहार्य बन गया। प्रवेश की अनुमति दी गई लेकिन बाहर निकलने पर पाबंदी लगा दी गई। एकतरफा यातायात जैसे अनुबंध इसलिए कानूनी तौर पर अवैध बताया गया। जहाँ तक खराब दर्शन की बात है कि राजनीतिक चेतना कभी भी एक क्षण का परिणाम नहीं हो सकती जैसा कि अनुबंधवादी हमें विश्वास करने पर बाध्य करते हैं।

लेकिन कम से कम दो आधारों पर सामाजिक अनुबंध के सिद्धान्तों की उपेक्षा नहीं की जा सकती: (1) राज्य को लोगों की सहमति का उत्पाद घोषित करके इसने राज्य को आधुनिक सम्पूर्ण के लिए आधार तैयार करने का काम किया (2) राज्य की उत्पत्ति का एक वैकल्पिक सिद्धान्त देकर इसने दैवी उत्पत्ति के सिद्धान्त को अविकसित कहकर उसकी निन्दा की।

4.3.2 ऐतिहासिक विकासवादी सिद्धान्त

राज्य की उत्पत्ति का ऐतिहासिक/विकासक्रम सिद्धान्त, राज्य की उत्पत्ति का उदार सिद्धान्त भी राज्य की उत्पत्ति के बारे में अपेक्षाकृत अधिक या कम एक सही स्पष्टीकरण इसके अनुसार ऐतिहासिक विकास है या क्रमिक विकास का परिणाम है। यह एक सतत् विकास है हमेशा विकास की प्रक्रिया में है। यह वृद्धि है निर्माण नहीं। इस तथ्य को वर्गरस ने सही तरीके से, प्रस्तुत किया है "यह राज्य मानव प्रकृति के सार्वभौम सिद्धान्तों की क्रमिक अनुभूति है ऐसा कोई एक ही

कारण दूढ़ पाना व्यर्थ है जिससे सभी राज्यों की उत्पत्ति का स्पष्टीकरण हो सके। विभिन्न कारणों की वजह से राज्य अस्तित्व में आया होगा। कुछ एक स्थान से तथा कुछ अन्य स्थान से संचालन कर रहे होंगे यह चाहे जो भी हो राज्य मानव का सोचा समझा हुआ सृजन नहीं है। सजग अन्वेषण की भाषा से अधिक कुछ नहीं। राजनीतिक चेतना का विकास होने में बहुत लम्बा समय लगा होगा और प्रारंभिक राज्य इस चेतना के विकास के साथ बढ़ा होगा। गार्नर ने भी तर्क दिया कि राज्य न तो ईश्वर की संरचना है न ही किसी श्रेष्ठ भौतिक शक्ति के परिणामस्वरूप अस्तित्व में आया न ही ठोस या केवल परिवारों के विस्तार के फलस्वरूप अस्तित्व में नहीं आया। यह बिल्कुल अपूर्ण शुरुआत के सामाजिक विकास की क्रमिक प्रक्रिया का उत्पाद है। “गेटाल ने कहा है, हर अन्य सामाजिक संस्था की तरह राज्य अनेक श्रोतों से और विभिन्न दशाओं में उठा तथा लगभग अस्पष्ट रूप से यह उभरा।”

राज्य के क्रमिक गठन के लिए उत्तरदायी दो कारकों में शामिल हैं:

- (i) सामाजिक प्रवृत्ति ऐसी प्रवृत्ति जो मानव को समाज में रहने के लिए बाध्य करती है उसके बिना या तो वह जंगली जानवर है या देवता और जिसके जरिए मानव अपने गुणों का विकास करने में सक्षम है,
- (ii) रिश्ते यानि रक्त संबंध मैकलवेर ने कहा रिश्तेदारी समाज का निर्माण करती है और बदले में समाज राज्य का निर्माण करता है यह एकता का सबसे प्रमुख बंधन था। परन्तु एक मात्र सही एक कारण नहीं था जिसके कारण समाज का निर्माण हुआ। लोगों ने एक सामान्य चेतना सामान्य हित तथा सामान्य उद्देश्य रिश्ते-संबंध विकसित कर लिए थे और बहुत ही कठिनाई से उसने सामाजिक संबंधों को स्थान दिया होगा। (iii) सामाजिक चेतना का निर्माण करने में धर्म को एक प्रमुख कारक बताया गया। गेटेल कहता है कि रिश्तेदारी तथा धर्म उसी चीज के दो पहलू हैं। प्रारंभिक मनुष्य को सत्ता तथा अनुशासन आदि बनाने और सामाजिक एकता तथा एकजुटता की उत्कृष्ट भावना का विकास करने के मामले में रिश्तेदारी की अपेक्षा सामान्य पूजा कहीं अधिक आवश्यक थी।
- (iv) राज्य के निर्माण में ताकत मुख्य कारक नहीं रही होगी परन्तु इस बात से इंकार नहीं किया जा सकता की राज्य को बनाने तथा उसका विस्तार करने के मामले में यह उसका एक कारक रही होगी इस बात से इंकार नहीं किया जा सकता है। ताकत कमजोरी को दासता में बदल देती है दासता एकता में और एकला को शक्ति के रूप,
- (v) आर्थिक कार्यकलापों ने भी राज्य के निर्माण में प्रमुख भूमिका निभाई, यह एक अन्य कारक है। इन्होंने उत्पादन, विनिमयन, वितरण और खपत के संबंध में नियमों और प्रक्रियाओं को सम्पत्ति के अधिकार के साथ जोड़ा जैसा कि विकास के बाद के चरण में एक अन्य प्रमुख कारक है राजनीतिक चेतना राजनीतिक चेतना शब्द में कई बातें एक साथ मिलाकर रखी गई है। उस भूमि के प्रति प्रेम जहाँ लोग रहते हैं, भूमि की रक्षा करने की इच्छा। व्यवस्था तथा सुरक्षा की आवश्यकता, सामाजिक संबंध राजनीतिक संबंधों को प्रोत्साहन, सीमा क्षेत्र के विस्तार की भावना युद्ध तथा विजय, शक्ति तथा शक्ति के लिए संघर्ष। शक्ति के राजनीतिक विचार की विजय तथा प्रणाली के प्रति निष्ठा। ये सब समय के साथ बढ़ते हुए तथा विकसित होते हुए: राजनीतिक संगठन राज्य की तितर-बितर की स्थिति व्यक्ति हासिल करते हुए तथा प्रारंभ होते हुए आकार ग्रहण करते हुए, तथा जटिलताओं में पुनः आकार लेते हुए तथा अन्य प्रकार के राज्य।

गेटेल के तर्क को निष्कर्ष के रूप में प्रस्तुत किया जाता है ‘राज्य एक क्रमिक तथा प्राकृतिक ऐतिहासिक विकास है यह न तो दैवी शक्ति का उपहार है न कि मानव की सोच समझकर किया गया कार्य है इसका प्रारंभ इस धुंधले अतीत में खो गया है जिसमें सामाजिक संस्थाएँ सजग होकर उभर रही थी और इसके विकास ने विकासात्मक वृद्धि के सामान्य कानूनों का अनुसरण किया है।’

4.3.3 मार्क्सवादी सिद्धान्त

राज्य की उत्पत्ति के मार्क्सवादी सिद्धान्त की सर्वोत्तम प्रस्तुति फ्रेडरिक एंजिल्स ने अपनी पुस्तक ‘द ऑरिजिन ऑफ द फैमिली, प्राइवेट प्रापर्टी एण्ड स्टेट’ में किया है। एंजिल्स कहता है ‘इसलिए राज्य बाहर से दबाव डाले गए समाज में एक शक्ति है यह नैतिक विचार की वास्तविकता है। यह तर्क की तस्वीर की वास्तविकता है। जैसा कि हेजल मानता है कि यह सामाजिक विकास एक निश्चित चरण पर समाज का उत्पाद है। यह इस बात को स्वीकार करता है कि समाज अपने आप में मिश्रित न होने वाले विरोधाभासों से उलझा हुआ है। समझौता न करने योग्य विरोधाभासों में विभक्त है आर्थिक हितों के संघर्ष वाले वर्गों में बँटा हुआ है। उनमें जारी नहीं रह सकता है और समाज कठोर संघर्ष में, समाज से ऊपर किसी सत्ता से जुड़ा हुआ संघर्ष को कम करने के उद्देश्य से आवश्यक हो गया, अपेक्षाकृत पुराने बंधनों के भीतर इसे

रखता हुआ और यह शक्ति समाज से उठती हुई लेकिन इससे ऊपर अपने को रखती हुई तथा इससे अपने को विलग करती हुई, राज्य है।

एजेंल्स कहता है कि राज्य प्राकृतिक संगठन नहीं है उनके अनुसार यह अनन्त काल से अस्तित्व में नहीं है, ऐसे अनेक समाज रहे हैं जो इसके बिना रहे, सामाजिक विकास के एक निश्चित चरण में राज्य आवश्यक हुआ ऐसा दो परस्पर विरोधी वर्गों में। समाज के विभाजन के फलस्वरूप हुआ। तदनुसार राज्य परस्पर विरोधी वर्गों का उत्पाद है और अपने कल्याण के लिए यह आर्थिक दृष्टि से प्रभुत्व वाले वर्ग का है और जिनके पास उत्पादन के साधन नहीं हैं उनके हितों के खिलाफ हैं। मार्क्सवादी विचार के अनुसार यह उत्पादन के साधनों के निजी स्वामित्व को आविर्भाव तथा वृद्धि है, परस्पर विरोधी वर्ग उठे और राज्य स्वामित्व वाले वर्ग तथा गैर स्वामित्व वाले वर्ग के रूप में वर्ग के हित में तथा विरोध में उभरा, इसलिए एजेंल्स का निष्कर्ष है "नियम के अनुसार राज्य सर्वाधिक शक्तिमान है राज्य आर्थिक दृष्टि से प्रभुत्व वाला वर्ग है राज्य के माध्यम के जरिये क्योंकि राजनीतिक दृष्टि से प्रभुत्व वाले वर्ग से हैं। इसलिए दलित वर्ग को दबाए रखने तथा उसका शोषण करने के लिए नए नए तरीके प्राप्त करता है। इस प्रकार प्राचीन काल का राज्य गुलामों को बनाए रखने के उद्देश्य से गुलाम मालिकों का राज्य था, किसानों, चरवाहों तथा जमींदारों को नियंत्रण में रखने के लिए यह सामंतवादों का अंग था और आधुनिक प्रतिनिधिमूलक राज्य पूँजी द्वारा वेतन भोगी श्रमिकों का माध्यम है।

राज्य की उत्पत्ति के मार्क्सवादी सिद्धान्त के प्रमुख पहलुओं को निम्नलिखित रूप में संक्षेप में रखा जा सकता है:

- 1) राज्य प्रकट हुआ क्योंकि परस्पर विरोधी वर्ग सामने आये, ये वर्ग सामने आए क्योंकि उत्पादन के साधनों का निजी स्वामित्व सामने आया।
- 2) राज्य वर्ग समाज का परिणाम है और सामाजिक विकास के एक निश्चित चरण पर सामने आया।
- 3) राज्य वर्ग संस्था के रूप में आर्थिक दृष्टि से प्रभुत्व वाले वर्ग का गुलामों के मालिकों का अथवा बाद में सामन्तों का, पूँजीवादियों का है।
- 4) राज्य का तात्पर्य है सार्वजनिक शक्ति लागत का इस्तेमाल करने के लिए वैधानिक अधिकार।
- 5) राज्य की शक्ति अफसरशाही, पुलिस, सेना, न्यायालयों कारागृहों और ऐसे अन्य कई माध्यमों के जरिये कार्य करती है।
- 6) प्रभावशाली तथा कुशलतापूर्वक कार्य करने की सार्वजनिक शक्ति के लिए राज्य लोगों पर कर लगाने, ऋण लेने और सम्पत्ति का स्वामित्व प्राप्त करता है।

राज्य की उत्पत्ति का मार्क्सवादी सिद्धान्त हमारे साधारणीकरण से अधिक मेल नहीं खाता यह कि राज्य वर्ग समाज तथा वर्ग विरोध के परिणामस्वरूप बना होगा और ये वर्ग निजी स्वामित्व के कारण पैदा हुए होंगे, उत्पादन के साधन राज्य की उत्पत्ति के लिए अधिक स्पष्टीकरण नहीं उपलब्ध कराते, जैसा कि एक वर्ग संस्था के रूप में राज्य को प्रस्तुत करने का प्रयास किया जाता है। इसलिए गैर स्वामित्व वाले वर्ग का शोषण पक्षपात पूर्ण होता है यह कि राज्य दमन करने वाली संस्था है, हमेशा ऐसा ही है कि इस पर विश्वास कर पाना मुश्किल लगता है।

4.4 राज्य के प्रभुत्वशाली परिप्रेक्ष्य

4.4.1 उदारवादी-व्यक्तिवादी परिप्रेक्ष्य

राज्य के उदारवादी-व्यक्तिगत परिप्रेक्ष्य के बारे में लॉक, बैन्यम, एडम स्मिथ, जॉन स्टूवार्ट मिल, और बीसवीं शताब्दी के प्रारंभिक काल तक के पश्चिम के राजनीतिक दार्शनिकों की पुस्तक में स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। राज्य की सामान्य विशेषताएँ निम्नलिखित में शामिल हैं।

- 1) व्यक्ति सभी कार्यकलापों का मुख्य बिन्दु है। तार्किक होने के कारण वह राज्य समेत सभी संघों का लक्ष्य होता है। हर वस्तु का अस्तित्व व्यक्ति के लिए है।
- 2) व्यक्ति अपने सभी हितों का निर्णायक होता है और उसके पास सभी अधिकार स्वतंत्रताएँ होनी चाहिए। कोई भी चीज उसकी स्वायत्तता से अधिक महत्वपूर्ण नहीं है, उसके अधिकारों को उससे अलग नहीं किया जा सकता है। उसकी स्वतंत्रताएँ पवित्र हैं।
- 3) राज्य व्यक्ति के लक्ष्य का साधन है। राज्य की शक्तियाँ इसके कार्यों के अनुपात में हैं। व्यक्ति के साधन समाप्त होते हैं या सीमित हैं और इसके सभी कार्यों और शक्तियों में सीमित होते हैं। उदारव्यक्तिवादी राज्य आवश्यक

नहीं है कि ये बुरा हो यह एक आवश्यक बुराई है, यह उसी हद तक रहता है जितना की व्यक्ति चाहता है। इसकी शक्तियाँ पूर्ण नहीं होती। व्यक्ति की स्वायत्तता के सामने यह कभी पूर्ण नहीं हो सकती समय गुजरने के साथ-साथ तथा लोकतंत्र के शुरु होने के साथ उदारवादियों ने (कल्याणकारी राज्य) कार्यों का विकास किया है और इसलिए शक्तियाँ हैं लेकिन उन्होंने इसके लिए हॉब्स और लेबियायान के विचारों का समर्थन नहीं किया है।

- 4) उदारवादी व्यक्तिवादी परिप्रेक्ष्य में राज्य, अपने नकारात्मक स्वरूप से सकारात्मक की ओर बढ़ा है और सकारात्मक संस्था से कल्याण की ओर बढ़ा है यह सुधारोन्मुख संस्था है। उदारवादी तथा परम्परावादी नहीं है जितने की रूढ़िवादी लेकिन वे राज्य में ताज़गी लाने के लिए रूढ़िवादी भी नहीं हैं। वे यह अवश्य महसूस कर सकते हैं कि सुधार जरूरी है और उन्हें जब जरूरत हो कारबार बनाया जाए, वे इस रूप में परिवर्तनों के पक्ष में है बदलते समय के साथ उपयुक्त बढ़ते हुए परिवर्तन के वे पक्षधर हैं।
- 5) उदारवादी-व्यक्तिवादी प्रारंभिक रूप से उदारवादी थे वे परम्परावादियों तथा रूढ़िवादियों के खिलाफ उदार थे। तदनुरूप उन्होंने जब जब लोकतान्त्रिक सिद्धान्तों की बात चली उनका स्वागत किया। इस रूप में उन्होंने ऐसे राज्य की वकालत की जो लोगों की सहमति पर आधारित हो। लोक के सामाजिक अनुबंध सिद्धान्त में संभवतः अधिक सत्य न हो लेकिन अनुबंध पर उसकी जिद का समाज द्वारा निर्णय लिया गया और (समाज के बाहर उठते हुए) राज्य ने स्पष्ट रूप से यह संकेत दिया है कि लोक और उसके बाद के सभी उदारवादियों ने राज्य को मनुष्य की सहमति का एक उत्पाद बताया इसलिए उदार लोकतान्त्रिक राज्य एक सहमति मूलक राज्य है।
- 6) आर्थिक दृष्टि से राज्य का उदारवादी व्यक्तिवादी परिप्रेक्ष्य अपनी शक्ति के मानले में सीमित था वह पूँजीवादियों का एक राज्य था जो व्यापार तथा वाणिज्य को प्रोत्साहन देता था, मुक्त व्यापार की वकालत करता था तटकर के अवरोधों को दूर करता था तथा प्रतिस्पर्धा को प्रोत्साहन देता था। लॉस्की ने एक बार कहा था कि उदारवाद पूँजीवादियों का राजनीतिक दर्शन है।

राज्य के उदारवादी व्यक्तिवादी परिप्रेक्ष्य ने व्यक्ति की वास्तविकता से अधिक मूल्यांकन किया तथा इसके विपरीत राज्य की क्षमताओं का मूल्यांकन वास्तविकता में कम आकलन किया गया। इसके उत्साह में उसने व्यक्ति के अधिकारों, स्वतन्त्रताओं और स्वायत्तताओं का संरक्षण और संवर्धन किया जिसके चलते हुए उसने पूँजीवादी व्यवस्था का निर्माण किया। जहाँ पर राज्य की स्थिति को कमजोर कर दिया जिसने शोषण की प्रवृत्ति को बढ़ावा देने वाले साधनों का ही क्रय कर दिया।

4.4.2 सामयिक स्वेच्छावादी परिप्रेक्ष्य

राज्य का सामयिक स्वेच्छावादी परिप्रेक्ष्य द्वितीय विश्व युद्ध से लेकर एक ओर वर्ग से बहुवाद तक तथा उससे नव-बहुवाद तक तथा दूसरी ओर नव-दक्षिणपंथी स्वेच्छावाद से लेकर नव वामपंथी उदारतावाद तक कुल मिलाकर उदारतावाद के व्यापक ढाँचे तक विस्तृत रहा है। राज्य का सामयिक स्वेच्छावादी परिप्रेक्ष्य निम्नलिखित रूप में संक्षेप में दिया जा सकता है।

राज्य के सास्थानिक, बहुलवादी परिप्रेक्ष्य (टूमैन, डहल) की निम्नलिखित प्रमुख विशेषताएँ हैं:

- (i) राज्य समूह संघर्ष का स्थान है और इसलिए यह समूह दबावों के प्रति अत्यधिक अनुक्रियात्मक
- (ii) विभिन्न संसाधनों के साथ समूह लगातार संघर्षों के संबंधों के साथ अस्तित्व में रहते हैं।
- (iii) शक्ति एक प्रेक्षणीय तथा बिखरा हुआ स्वरूप है।
- (iv) समूह सरकार के विशेषकर संभावित समूहों के आधार हैं।
- (v) समाज न केवल राज्य से स्पष्ट है बल्कि काफी हद तक गैर संभावित रूप है।

राज्य के सुधरे हुए बहुलवादी परिप्रेक्ष्य (रिचार्डसन और जार्डन) की निम्नलिखित प्रमुख विशेषताएँ हैं:

- (i) राज्य विखंडित तथा समूहों के प्रति अनुक्रियात्मक होता है परन्तु राज्य (अथवा सरकार) के प्रति पहुँच विशिष्ट होती है।
- (ii) सभी समूह समान नहीं होते केवल विशेष समूह ही नीति निर्माण में भाग लेते हैं।
- (iii) शक्ति निरीक्षणीय तथा बिखरी हुई दोनों ही होती हैं और
- (iv) समाज तथा राज्य एक दूसरे के साथ संभावित समूहों के माध्यम से समेकित हो जाते हैं।

राज्य के बहुलवादी बुद्धिवादी परिप्रेक्ष्य (मैकफरलैन, मैककोनेल, लोवी) की निम्नलिखित प्रमुख विशेषताएँ हैं:

- (i) राज्य ऐसे अत्यधिक संसाधन सम्भावित समूहों के साथ विखंडित होता है जिनकी राज्य के अंदर काफी हद तक पहुँच होती है और जो राज्य की स्वायत्तता में उसके अनुरूप अंश का दावा करते
- (ii) संभावित बुद्धिजीवी समूह की सरकारी हैसियतों तक आसान पहुँच होती है परन्तु विभिन्न क्षेत्रों में विभिन्न समूहों का दबदबा होता है।
- (iii) शक्ति निरीक्षणीय तथा अनिरीक्षणीय दोनों ही होती हैं, शक्ति के केन्द्रीकरण की ओर उसकी प्रवृत्ति होती है और
- (iv) नागरिक समाज राज्य से भिन्न होता है परन्तु उसका उसमें सीमित प्रभाव होता है।

राज्य के नवबहुवादी परिप्रेक्ष्य (लिण्डब्लोम) की निम्नलिखित प्रमुख विशेषताएँ होती हैं:

- (i) राज्य आर्थिक नीति में व्यावसायिक हितों के प्रति-पूर्वाग्रहित होता है।
- (ii) नीति निर्माण में व्यावसायिक हितों की निर्णायक भूमिका होती है और इस प्रकार समूह व्यवहार का महत्व कम हो जाता है।
- (iii) शक्ति अनिरीक्षणीय – संरचनात्मक तथा आदर्शत्मक होती है – प्राथमिक मुद्दों में केन्द्रित तथा गौण मुद्दों में बिखरी होती है।
- (iv) उस शक्ति पर नियंत्रण नहीं होता जो कि प्राथमिक मुद्दों में केन्द्रित होती है और
- (v) सामज, राज्य से भिन्न होता है परन्तु इसमें उसका सीमित प्रभाव होता है।

राज्य के नव दक्षिणपंथी स्वेच्छावादी (हेयक, नैजिक रॉल्स) की निम्नलिखित प्रमुख विशेषताएँ होती हैं:

- (i) आर्थिक जीवन की तरह राजनीतिक जीवन भी व्यक्तिगत स्वतंत्रता तथा पहल का मामला होना चाहिए।
- (ii) न्यूनतम राज्य के साथ लैसेज फेयर मार्केट सोसाइटी होती है।
- (iii) डेविड हेल्ड के अनुसार नव दक्षिण पंथी स्वेच्छावाद के राजनीतिक कार्यक्रम में निम्नलिखित विशेषताएँ शामिल हैं:
 - (i) जीवन के अधिक से अधिक क्षेत्रों में बाजार का विस्तार, (ii) अर्थव्यवस्था में अत्यधिक शामिल होने के राज्य दंड का निर्माण, (iii) कुछ समूहों की शक्ति की कटौती, (iv) कानून और व्यवस्था, लागू करने के लिए मजबूत सरकार खड़ी करना।

राज्य के नव वामपंथी स्वेच्छावादी परिप्रेक्ष्य (पैटमैन, मैकफर्सन तथा पोलांतजास) की निम्नलिखित प्रमुख विशेषताएँ होती हैं:

- (i) राज्य सहित समाज की सभी प्रमुख संस्थाएँ नागरिकों की प्रत्यक्ष सहभागिता के आधार पर बनाई जानी चाहिए।
- (ii) राजनीतिक दलों के नेताओं को अपने संबंध सदस्यों के प्रति जबाबदेह बनाया जाना चाहिए।
- (iii) प्रणाली में ही संभावित प्रयोग की संभावना सुनिश्चित करते हुए मुक्त संस्थागत प्रणाली बनाए रखी जानी चाहिए।
- (iv) गरीबों की ओर ध्यान रखा जाना चाहिए, खुली सूचना प्रणाली सुनिश्चित करना चाहिए।

राज्य के सामुदायिकतावादी परिप्रेक्ष्य (सैंडल, वाल्जार, ट्रेलर) की निम्नलिखित प्रमुख विशेषताएँ होती हैं:

- (i) समुदाय सभी मूल्यों का स्रोत है। समुदाय का विकास अभिष्ट मूल्यों पर निर्भर करता है।
- (ii) समुदाय के सदस्य के रूप में नागरिक राज्य के अन्दर ही नागरिकता का उच्चतर स्तर प्राप्त कर सकते हैं।
- (iii) राजनीति व्यापार की ही तरह कभी समाप्त न होने वाली सतत् जारी रहने वाली क्रिया है और हमारे चारों ओर होती रहती है।
- (iv) राजनीति संघर्ष का स्रोत तथा कार्यकलाप का तरीका दोनों ही हैं।

4.4.3 सामाजिक लोकतान्त्रिक परिप्रेक्ष्य

राज्य का समाजवादी लोकतान्त्रिक परिप्रेक्ष्य कई दृष्टियों से मार्क्सवादी समाजवादी परिप्रेक्ष्य के विपरीत है। इसके विभिन्न परिप्रेक्ष्यों में विकासवादी समाजवाद फेबियनवाद, गिल्डसमाजवाद, संसदीय समाजवाद तथा हेराल्ड लॉस्की द्वारा प्रतिपादित एक अन्य प्रकार का समाजवाद शामिल है।

विकासवादी समाजवाद परिप्रेक्ष्य की सामान्य विशेषताओं में कम से कम प्रमुख विशेषताओं को हम संक्षेप में निम्नलिखित रूप में प्रस्तुत कर सकते हैं।

- 1) शक्ति के साधन के रूप में क्रान्तिकारी तरीकों का विचार पूर्ण रूप से छोड़ देना तथा संसर्दयसाधनों को पूरी तरह अपना लेना।
- 2) उन समाजवादी दलों का परिवर्तन जो केवल श्रमिक वर्ग के हितों के लिए लोगों के उन दलों से बातचीत करते हैं जो सामान्य कल्याण करना चाहते हैं।
- 3) इस तथ्य को मान्यता देना कि समाजवाद की परिभाषा सामाजिक और आर्थिक आदर्श के रूप में लोकतंत्र के विचार से अलग करने योग्य नहीं है, समाजवाद लोकतान्त्रिक तरीकों से ही प्राप्त किया जाना चाहिए और लोकतान्त्रिक व्यवस्था राज्य के विधेयक के जरिये समाजवाद लाया जाना चाहिए।
- 4) मानव स्वतंत्रता तथा मानव व्यक्तित्व के लिए सम्मान।
- 5) सभी प्रकार के सर्वहारावाद तथा सत्तावादी राजनीतिक व्यवस्था का पूर्णरूपेण विरोध।

सामाजिक लोकतंत्र समर्थक के रूप में राज्य के परिप्रेक्ष्य में लॉस्की के अपने विचार हैं जिनकी प्रमुख विशेषताओं को निम्नलिखित में प्रस्तुत किया जा सकता है:

- 1) राज्य किसी अन्य संघ की तरह ही एक संघ है और इसलिए उनपर नियंत्रण रखने के लिए उसके पास कोई विशेष शक्ति नहीं है। सर्वोत्तम बात तो यह है कि यह उनके कार्यों में समन्वयन रख सकता है लेकिन उनके आंतरिक कार्यों में हस्तक्षेप करने का उसका कोई अधिकार नहीं है।
- 2) समन्वयकर्ता के रूप में राज्य अन्य संघों का नेतृत्व करता है। इसकी भूमिका किसी अन्य संघ के खिलाफ नहीं रहती है। किसी अन्य संघ की तरह राज्य भी जनता की सेवा कर सकता है और लोगों के कल्याण की आकांक्षा के लिए एक अभिकरण बन सकता है।
- 3) फाहान के सच्चे अनुयायी के रूप में लॉस्की किसी भी ऐसे परिवर्तन के विरोधी हैं जो कि क्रान्ति के जरिये लागू किए जाते हैं। वे लोकतान्त्रिक कानूनों के जरिये गठित राज्य के माध्यम से सामाजिक राजनीतिक आर्थिक ढाँचे में परिवर्तन लाने की वकालत करते हैं।
- 4) लोकतान्त्रिक समाजवाद की लॉस्की की अवधारणा ऐसी है जिसमें व्यक्ति की स्वतंत्रता के साथ-साथ आर्थिक प्रक्रियाओं के सामाजिक नियंत्रण का समन्वयकरण है।
- 5) समाजवाद की उनकी जिस प्रकार की धारणा है उसमें राज्य लोकतान्त्रिक तरीके से स्थापित ढाँचे के जरिए समाजवाद वायदे को पूरा करने के लिए अस्तित्व में रहता है।
- 6) लॉस्की का राज्य एक ऐसा उपकरण है जो व्यक्ति के लिए जीवित रहता है। उनके विचार में राज्य चाहे कितना भी महत्वपूर्ण हो, लोगों के अधिकारों की रक्षा और उपयुक्त वातावरण को प्रोत्साहन देने के लिए अस्तित्व में रहता है जहाँ लोग अपनी संभावित ऊँचाइयों तक पहुँचने के लिए अपनी आंतरिक क्षमताओं को पूरी तरह खोल सकते हैं।

4.4.4 मार्क्सवादी परिप्रेक्ष्य राज्य के मार्क्सवादी परिप्रेक्ष्य की निम्नलिखित विशेषताएँ हैं:

- 1) समाज और राज्य दो स्पष्ट वास्तविकताएँ हैं। समाज किस प्रकार का है इसी से यह स्पष्ट हो जाता है कि वहाँ राज्य किस प्रकार का हो सकता है। समाज उस आधार को तैयार करता है जिससे राज्य सहित अधिरचना (सुपर स्ट्रक्चर) बनता है।
- 2) राज्य समाज की स्वतंत्रता से अलग नहीं होता जो लोग जैसा कि हेगेल ने वास्तव में किया, इसे बनाते हैं वे राज्य का मिथक बनाते हैं, राज्य को एक मारचिका बनाते हैं।

- 3) राज्य उन लोगों के लिए अपने लक्ष्यों की पूर्ति के लिए माध्यम है जो समाज पर नियंत्रण करते हैं। गुलामों के स्वामित्व वाला राज्य मालिकों की सेवा करता है, सामंतवादी राज्य सामंतों की सेवा करता है। पूँजीवादी राज्य पूँजीवादियों की सेवा करता है और सर्वहारा की तानाशाही में जैसे सर्वहारा राज्य श्रमिकों की सेवा करता है।
- 4) वर्ग समाज का उत्पाद होने की वजह से राज्य आर्थिक प्रभुत्व वाले वर्ग का होता है इसलिए पक्षपातपूर्ण होता है और एक वर्ग संस्था होता है। पक्षपातपूर्ण संस्था होने के कारण यह शोषण का एक माध्यम बन जाता है, आर्थिक दृष्टि से अपेक्षाकृत कमजोर वर्गों का शोषण करता है।
- 5) वर्ग शासन का वाहक होने के कारण राज्य समाजवाद के अंतरिम अवधि में समाजवाद कायम करेगा और वर्ग विरोध की जड़ों को नष्ट कर देगा जैसे कि निजी सम्पत्ति प्रणाली को उत्पादन के माध्यम के रूप में कायम करेगा।
- 6) सर्वहारा वर्ग की तानाशाही विरोधी वर्गों के विरोध का उन्मूलन कर देती है। यह राज्य का उन्मूलन नहीं है। समाजवाद का युग सर्वहारा राज्य का युग है जोकि बूर्जुआ के बगैर मध्यमवर्गीय राज्य होगा। सर्वहारा राज्य समाजवाद कायम करने का एक माध्यम है और जो राज्य के मुरझाने के साथ-साथ अपने उन्मूलन के रूप में समाप्त होगा।
- 7) राज्य को एक ऐसा परोपजीवी मानना जो समाज के मुक्त आवागमन में रुकावट डालते हुए राज्य का भाग्य जैसा कि मार्क्स ने कहा है इसका अपना उन्मूलन है "पहला कदम है सर्वहारा वर्ग की क्रान्ति द्वारा वर्तमान राज्य, बूर्जुआ राज्य को उठाकर फेंक देना। अगला कार्य है अंतरिम राज्य की स्थापना, सर्वहारा तानाशाही लेकिन नए राज्य का उन्मूलन किसी क्रान्ति या ताकत के जरिए नहीं होगा बल्कि यह अपने आप मुरझा जाएगा।

4.4.5 गांधीवादी परिप्रेक्ष्य

राज्य का गांधीवाद परिप्रेक्ष्य (राष्ट्रपिता, मोहन दास करम चन्द्र गांधी – 1869 – 1948) में राज्य क्या है और यह क्या होना चाहिए इसके अनुपम सममिश्रण का प्रावधान है।

गांधीजी ने पश्चिमी देशों में जिस तरह का राज्य देखा था उसकी निन्दा की और उन्होंने राम राज्य नाम से लोकप्रिय राजनीतिक व्यवस्था को पसंद किया। वे ऐसा ही राज्य चाहते थे।

सभी अराजकतावादियों की ही तरह गांधीजी भी राजनीतिक शक्ति सभी प्रकार की शक्तियों पर अविश्वास करते थे। गांधीजी की धारणा के अनुसार कोई भी शक्ति स्वभाविक रूप से दमनकारी और अनिवार्य होती है। यह थोपी जाती है, रुकावटें डालती हैं, खुफियागिरी करती है इसके अस्तित्व में रहने का तात्पर्य है स्वतंत्र इच्छा अन्तरमन तथा व्यक्ति में विद्यमान आन्तरिक इच्छा का अभाव। गांधीजी के शब्दों में राज्य केन्द्रित तथा संगठित रूप में हिंसा का प्रतिनिधित्व करता है। व्यक्ति में आत्मा होती है परन्तु राज्य आत्माहीन एक मशीन है। इसका अस्तित्व ही हिंसा से निकला है और यह हिंसा से कभी मुक्त नहीं रह सकता।

परन्तु गांधीजी अराजकतावादी नहीं थे। वे केवल इस हद तक अराजकतावादी थे जिस हद तक उन्होंने घोषित किया था राज्य शक्ति की प्रतिमूर्ति है। एक प्रकार से वे वर्गवादी व्यक्तियों के अथवा हमारे काल के नव दक्षिणपंथी स्वेच्छावादियों के बहुत निकट हैं। उन्होंने राज्य की अखंडवादी वकालत नहीं की बल्कि न्यूनतम कार्यों वाले राज्य की वकालत की नोजीकिल का न्यूनतम राज्य। उनकी राय में जब तक समाज आत्म नियमन करने वाला तथा आत्मविकास वाला नहीं हो जाता और जब तक व्यक्तिपूर्ण नहीं हो जाता तब तक राज्य आवश्यक रहेगा। वे थ्योरम के इस विचार का पूर्ण रूप से समर्थन करते हैं कि सर्वोत्तम सरकार वह है जो कम से कम शासन करती है।

कुछ हद तक गांधीजी मार्क्स के काफी निकट थे जैसे उन्होंने इस प्रकार के समाज के बारे में विचार व्यक्त किया जो कि स्वरूप में राज्यविहीन हो। किसी भी मार्क्सवादी की ही तरह गांधीजी राज्य की ऐसी संस्था का विरोध करते थे जो दमन और शोषण का एक माध्यम हो। सभी मार्क्सवादियों की तरह निजी सम्पत्ति में उन्होंने सभी बुराइयाँ पाईं। सभी मार्क्सवादियों की तरह पक्षपात करने वाले राज्य की निन्दा की लेकिन उसी समय गांधीजी ने अपने राम राज्य की परिकल्पना में ऐसे समाज की बात कही जो बिना दमन का हो और जिसपर बल प्रयोग न किया जाता हो।

धारणा के अनुसार गांधीजी अध्यात्मवादी थे और इसलिए गांधीजी में गैर भौतिकवादिता विद्यमान है उनके अनुसार वास्तविक स्वराज्य केवल राजनीतिक स्वतंत्रता की प्राप्ति ही नहीं अपितु उसकी अपेक्षा और बहुत कुछ है। उनके अनुसार स्वराज्य व्यक्ति से शुरू होता है। यह आत्मा का नियम है। यह आत्म विकास और आत्म नियमन का मामला है इसमें वास्तविक शक्ति व्यक्ति में अन्तर्निहित होती है। ज्यों ज्यों शक्ति आगे बढ़ती है त्यों त्यों यह विकेंद्रित हो जाती है।

गांधीजी के राम राज्य में व्यक्ति से केन्द्रीय राजनीति तक समूची प्रणाली अपने आप चलती है, बिना कोई दबाव डाले, बिना किसी अनिवार्यता के। उनका राम राज्य बिना किसी दबाव का राज्य और उस हद तक वह राज्यहीन है। यह एक ऐसा राज्य है जिसमें हिंसा का इस्तेमाल नहीं और उस हद तक यह स्वतंत्र और विमुक्त है।

4.5 सारांश

राज्य की अवधारणा राजनीति शास्त्र का मूल तत्व है इस बात में कोई आश्चर्य नहीं कि कुछ विद्वानों ने राज्य और राजनीति शास्त्र को समानार्थक बताया है। संस्था के रूप में यह उतना ही पुराना है जितना की हमारा इतिहास। प्राचीन यूनान में, यदि राज्य चवसपे की तुलना में कम था, और प्राचीन काल में मात्र सरकार से यह कुछ ज्यादा था, मध्य काल में यह विस्मृति में चला गया और इसका बहुत पीछे स्थान हो गया। आधुनिक काल में, जैसा कि पश्चिमी देशों में हुआ इसका पुनर्जन्म हुआ और यह अपनी स्वाभाविक ऊँचाइयों को हासिल करता रहा। विन्सेन्ट ने ठीक ही टिप्पणी की है "राज्य न केवल कई संस्थाओं का प्रतिनिधित्व करता है बल्कि प्रवृत्तियों, प्रथाओं तथा आचार संहिताओं की भी एक संस्था है। संक्षेप में वह नागरिकता जिसे हम सही रूप से सभ्यता के साथ संबंध करते हैं।"

राज्य की उत्पत्ति के संबंध में सिद्धान्तों से राज्य की उत्पत्ति और उसकी प्रकृति के बारे में कई अंशों में पता चलता है और इस प्रक्रिया के दौरान राजनीतिक दार्शनिकों के अनेक विचारों को प्रस्तुत किया गया है। विकासात्मक सिद्धान्त तथा वर्ग उत्पत्ति सिद्धान्त से उदार तथा मार्क्सवादी सिद्धान्तों की अंतरदृष्टि प्राप्त होती है। इसी प्रकार राज्य के प्रमुख परिप्रेक्ष्यों से राज्य की इन अवधारणाओं पर प्रकाश पड़ता है कि उनका विकास कैसे हुआ और विद्वानों ने उन्हें किस प्रकार देखा है।

4.6 बोध प्रश्न

1. राज्य की उत्पत्ति का सामाजिक अनुबंध सिद्धान्त एक निरूपित इतिहास, एक निरूपित कानून और एक निरूपित दर्शन है टिप्पणी कीजिए।
2. राज्य की उत्पत्ति के ऐतिहासिक/विकासात्मक सिद्धान्त को स्पष्ट करते हुए समीक्षा कीजिए।
3. राज्य की उत्पत्ति के मार्क्सवादी सिद्धान्त की विस्तृत विवेचना कीजिए।
4. राज्य के प्रमुख परिप्रेक्ष्य क्या हैं ऐसे किसी एक परिप्रेक्ष्य को स्पष्ट कीजिए।
5. आधुनिक राज्य के गांधीवादी परिप्रेक्ष्य की वर्णन कीजिए।

इकाई 5

विकासशील समाजों में राज्य: एशियाई, अफ्रीकी तथा लैटिन अमेरिकी अनुभव

संरचना

- 5.1 प्रस्तावना
- 5.2 समसामयिक राजनीतिक सिद्धान्त में राज्य
 - 5.2.1 उदारवादी अवधारणा
 - 5.2.2 मार्क्सवादी अवधारणा
- 5.3 विकासशील समाजों के ऐतिहासिक वैशिष्ट्य की समझ की ओर
- 5.4 विकासशील समाजों में राज्य का सिद्धान्त स्थापित करना: सैद्धान्तिक आधार मजबूत करना
- 5.5 पश्चिमीय राज्य का सिद्धान्त तैयार करना नव-मार्क्सवादी परिप्रेक्ष्य
- 5.6 उत्तर उपनिवेशवादी समाजों में राज्य से संबद्ध वर्ग
- 5.7 भूमंडलीकरण, निजीकरण और स्थानीकरण युग में विकासशील राज्य
- 5.8 सारांश
- 5.9 बोध प्रश्न

5.1 प्रस्तावना

राज्य, राजनीतिक सिद्धान्त का एक प्रमुख विषय रहा है और अब भी बना हुआ है। लेकिन जैसा कि पिछली इकाई में देखा जा चुका है राज्य के बारे में धन के विवरण के बावजूद राज्य की प्रकृति को पकड़ पाना लगभग असंभव सिद्ध हुआ है। राज्य की पारदर्शिता और केन्द्रीयता इसे भ्रान्तिजनक बनाती है। यह स्थिति और भी अधिक बढ़ जाती है जब राजनीतिक सिद्धान्तवादी, वास्तव में विद्यमान राज्यों के विश्लेषण का प्रयास करने लगते हैं।

निसंदेह राज्य, हाल के दशकों में, राजनीतिक सिद्धान्त के सैद्धान्तिकरण और तुलनात्मक राजनीति का महत्वपूर्ण विषय रहा है। राज्य की प्रकृति के बारे में राजनीतिक सिद्धान्त में लगातार दिलचस्पी परिष्कृत तथा जटिल सैद्धान्तिकरण के रूप में समसामयिक समाज के सभी पहलुओं के महत्व द्वारा स्पष्ट की जाती है, चाहे वह पूँजीवादी हो, समाजवादी हो अथवा विकासशील हो। राज्य निर्विवाद रूप से समाज के राजनीतिक, सांस्कृतिक और सामाजिक क्षेत्रों में एक प्रमुख कारक के रूप में उभरता है। परिणामस्वरूप यह समझा पाना या किसी विशेषता का विश्लेषण कर पाना असंभव हो जाता है कि यह नारीवाद है, परिवार, धर्म, पारिस्थितिक विज्ञान, विधि अधिकार राजनीतिक प्रक्रिया, संस्कृति या विकास है। विकासशील समाजों के मामलों में यह और भी सत्य है क्योंकि आर्थिक विकास, सामाजिक सुरक्षा, न्याय और सामूहिक तथा व्यक्तिगत अधिकारों को प्राप्त करने में राज्य प्रमुख भूमिका लगातार निभाता रहा है हालांकि सिविल समाजों से राज्य की वापसी पर भूमंडलीकरण, उदारीकरण तथा निजीकरण की प्रक्रियाएं.. लगातार जोर देती रही है।

5.2 समसामयिक राजनीतिक सिद्धान्त में राज्य

द्वितीय विश्व युद्ध के पश्चात् राज्य राजनीतिक सिद्धान्त में आक्रामक रूप से लौटा। शताब्दी के प्रारंभिक हिस्से में यह संविधानों, कानूनी संस्थाओं तथा राजनीतिक व्यवस्थाओं का अध्ययन माना जाता था, राज्य का नहीं। इसके प्रति राजनीतिक सिद्धान्त की चिन्ता हुई। अमरीकी राजनीतिशास्त्र संघ के तहत यह उदारवादी सिद्धान्त को अपना मार्क्सवादी सिद्धान्त के साथ अधिक या उदारवाद में जोर इस बात की ओर अधिक दिया गया कि राजनीतिशास्त्र की इस तरह विकास करने की आवश्यकता जिससे निष्पक्ष तथा मूल्यमुक्त विज्ञान हो। राजनीतिशास्त्र के अध्ययन को प्राकृतिक विद्वानों के प्रयास में उदारवादी संरचनावाद कार्यवादियों ने राज्य को सामान्य सिद्धान्तों से साथ जटिल अवधारणा के रूप में नहीं माना और राजनीतिक प्रणाली की वैज्ञानिक तथा मूल्यमुक्त अवधारणा के स्थान में व्यवहारात्मक क्रान्ति के तहत इसको लाभ पहुंचा।

हालांकि द्वितीय विश्व युद्ध के बाद पूँजीवाद की विजय का भ्रम दूर हो गया और संयुक्त राज्य अमेरिका के बौद्धिक नेतृत्व में समाजशास्त्रों पर तीव्र प्रहार किए गए और विकासशील देशों में राष्ट्र निर्माण के राष्ट्रवादी परियोजना के साथ मोह भंग

से राज्य की लाभप्रद स्थिति में सामाजिक और राजनीतिक विश्लेषण करने की आवश्यकता सामने आई। साम्यवादी समाजों तथा उपनिवेश के पश्चात् बने समाजों, दोनों में ही अधिनायकवाद का अनुभव अच्छा नहीं रहा। इससे भी यह आवश्यकता हुई कि राज्यों ने शक्ति की संरचना को जिस प्रकार संहिताबद्ध किया, व्यक्त किया तथा राजनीतिक सत्ता का उपभोग किया उसके बारे में पर्याप्त स्पष्टीकरण रखा जाए। इस प्रकार 1960 और 1970 के दशकों में राज्य उदार तथा मार्क्सवादी राजनीतिक सिद्धान्त दोनों में ही प्रमुख शासक की अवधारणा लेकर उभरा। पिछले दो दशकों के दौरान नागरिक समाज के साथ संबंधों के मामले में राज्य के अध्ययन की ओर मुख्य रूप से अध्ययन पर जोर दिया जाने लगा।

5.2.1 उदारवादी अवबोधक

1960 के दशक से ही उदारवादियों ने राज्य के प्रशासनिक दमनकारी तथा सैद्धान्तिक कार्यों की ओर आधुनिक समाज के प्रति समाज की, बढ़ती हुई केन्द्रीयता को स्पष्ट करने के लिए प्रयास किया है। राज्य के बहुलवादी सिद्धान्त में उदारवादियों ने राज्य को उस सरकार से भिन्न राजनीतिक संघ के रूप में देखना शुरू किया है जो भेदभाव के हितों से ऊपर की बात को स्वीकार करने के आधार पर सभी सार्वजनिक संस्थानों को अपने दायरे में समेटते हुए अवैयक्तिक अधिकार का उपयोग करती हैं। उदारवादी विचारकों का तर्क है कि समाज के प्रति स्पर्धात्मक समूहों और व्यक्तियों के बीच राज्य एक तटस्थ मध्यस्थ है: यह एक अम्पायर या रेफ्री की तरह काम करता है और सभी नागरिकों के। अधिकारों के अतिक्रमण से सुरक्षा प्राप्त करने में सक्षम रहता है। बहुलवादियों ने राज्य को एक तटस्थ इकाई के रूप में देखा है जो सभी के हित में कार्य करता है और सामान्य अच्छाई तथा सार्वजनिक हित का प्रतिनिधित्व करता है। बहुलवाद का प्रमुख तर्क यह है कि राजनीतिक शक्ति एक बौद्धिक तथा सत्तारूढ़ वर्ग की अपेक्षा अनेक सामाजिक समूहों में बिखर जाती है। राज्य की ऐसी संस्थागत सूझ-बूझ में इसका प्रमुख कार्य व्यवस्था बनाए रखना तथा सामाजिक स्थिरता प्रदान करता है।

चार्ल्स लिंड ब्लोम तथा जे. के. जालबंथ जैसे नव बहुलवादियों ने तर्क दिया है कि विकसित औद्योगिक राज्य वर्ग बहुलवादियों की तुलना में अधिक जटिल तथा लोकप्रिय दबावों के प्रति अपेक्षाकृत कम प्रतिक्रिया व्यक्त करने वाले होते हैं। राज्य को सामान्य हित या लोकहित का संरक्षक मानते हुए वह तर्क करते हैं कि सभी संगठनों को समान शक्तिशाली के रूप में चित्रित कर पाना असंभव है क्योंकि पूँजीवादी समाज में व्यापार या कारोबार अधिक लाभ की स्थिति में रहता है और इसलिए अन्य समूह स्पष्ट रूप से उसकी प्रतिद्वन्द्विता नहीं कर सकते। हालाँकि नव बहुलवादी व्यापार को बद्धिजीवी वर्ग नहीं मानते कि यह समूह सभी क्षेत्रों में सरकार से अपने विचारों को मनवाने में सक्षम रहता है फिर भी यह सत्तारूढ़ दल से अपेक्षाकृत कम है। यह इस बात को स्वीकार करते हैं कि एक उदारवादी लोकतंत्र विकृत बहुतंत्र जैसा है जिसमें कारोबार आम तौर पर प्रमुख प्रभाव डालता है विशेषकर आर्थिक कार्यसूची पर उसका अधिक प्रभाव पड़ता है।

पिछले तीन दशकों के दौरान नए नए सही विचार और सैद्धान्तिक विशेषताओं के बावजूद वे हॉब्स और लॉक द्वारा प्रारंभ में प्रतिपादित वर्ग उदारवाद जैसे बहुलवादियों, नव उदारवादियों या स्वेच्छावादियों की तरह आर्थिक और सामाजिक जीवन में सरकारी हस्तक्षेप के प्रति बहुत अधिक असहानुभूतिपूर्ण रुख व्यक्त करते हैं जो कि इस धारणा से व्यक्त होता है कि राज्य एक परोपजीवी वृद्धि है जो व्यक्तिगत स्वतंत्रता तथा आर्थिक सुरक्षा के लिए खतरा पैदा करता है उनके लिए राज्य अब और ज्यादा निष्पक्ष रेफ्री नहीं रह गया है बल्कि खुद अपनी सेवा करने वाला एक भीमकाय दैत्य हो गया है। एक प्राचीन काल के ऐसे राज्य में हस्तक्षेप करने लगा है, ऐसे राज्य को स्थिति में पहुंचा दिया गया है, जहाँ जीवन के हर क्षेत्र में हस्तक्षेप किया जाता है।

नये अधिकारों के सिद्धान्तवादियों ने इन ताकतों की पहचान करने की कोशिश है जिनके कारण राज्य के हस्तक्षेप में वृद्धि हुई है और उनकी दृष्टि में उनका मुकाबला किया जाना चाहिए। प्रभावी रूप में उदारवादी राज्य को प्रशासन के रूप में अधिकाधिक मानने लगे हैं। जैसे राज्य की संस्थागत समझ हमें राज्यों में असमानता को स्पष्ट करने की अनुमति नहीं देती जो कि उनके संग्रह करने, अभिव्यक्ति करने और राजनीतिक सत्ता का इस्तेमाल करने के मामले में आती है।

5.2.2 मार्क्सवादी अवबोधन

राजनीतिक सिद्धान्त में राज्य की वापसी मार्क्सवादी राजनीतिक सिद्धान्त की एक उल्लेखनीय विशेषता रही है। राज्य की प्रकृति के संबंध में सबसे जोरदार और परिष्कृत बहस साम्यवाद के ध्वस्त होने तथा राजनीतिक सिद्धान्त की मुख्यधारा के रूप में नवउदारवाद के अभ्युदय के पश्चात दार्शनिक स्थिति के रूप में मार्क्सवाद के द्वांस में पहले 1970 और 1980 के दशकों में हुई इनमें से अधिकांश बहस मार्क्स और एंजेलस के विचारों की व्याख्या के इर्द गिर्द बहसों के रूप में हुई। मार्क्सवादी सिद्धान्तों की व्यापक उपस्थिति को राज्य के बारे में उनकी कृतियों में जुड़ाव न होने तथा सातव्य न होने के कारण विभिन्न मार्क्सवादी व्याख्याओं में सामंजस्य में कमी आई। न तो मार्क्स न एंजेलस के खंडित तथा दार्शनिक विचारों की अप्रणालीबद्ध श्रृंखला समसामयिक इतिहास तथा पत्रकारिता तथा समय समय की टिप्पणियों के जरिये सिद्धान्त बनाने के लिए बाध्य होना पड़ा। ये विषय स्वतंत्र सैद्धान्तिक व्याख्या तथा विकास के लिए सक्षम है।

मार्क्स और एंजिल्स के लेखों में राज्य के (ग्रेण्ड) सिद्धान्तों के अभाव में भी राज्य की प्रकृति के संबंध में मार्क्सवादी सिद्धान्त में भिन्न भिन्न दृष्टिकोण उभरे हालाँकि वे आपसी योग्यता तथा सातव्य के विभिन्न अंशों की भिन्नता से युक्त हैं, वे विभिन्न अनुमानों शोषण के सिद्धान्तों तथा राजनीतिक निहितार्थों पर आधारित हैं।

इस प्रकार हमारे समक्ष ऐसी सैद्धान्तिक स्थिति है जिसमें तर्क दिया गया है कि सज्य का विश्लेषण उस तरह किया जाना चाहिए जैसे लेनिन ने किया था उदाहरणार्थ यह मार्क्सवादी राजनीतिक और आर्थिक विश्लेषण पर आधारित होना चाहिए।

वर्ग प्रभुत्व के एक साधन के रूप में राज्य का क्लासिकी सिद्धान्त इतिहास की भौतिकवादी अवधारणा की मार्क्सवादी स्पष्टीकरण से जुड़ा हुआ है। जर्मन विचारधारा के अनुसार मार्क्स और एंजिल्स ने राज्य को उपउत्पाद के रूप में देखा उदाहरण के लिए, सम्पत्ति के संबंधों की प्रणाली के सामान्य तल के प्रतिबिंब के रूप में देखा। और उसे आर्थिक वर्ग संघर्ष के परिणाम के रूप में देखा। मार्क्स और एंजिल्स ने तर्क दिया कि राज्य श्रमिकों के सामाजिक विभाजन के भीतर विकसित होता है और ऐसा स्वरूप है जिसमें सत्तारूढ़ वर्ग अपने सामान्य हितों पर जोर देता है। राज्य आर्थिक आधार पर प्रतिबिम्ब करता है और साथ ही अर्थव्यवस्था की आवश्यकताओं और आर्थिक वर्ग के ताकतों के संतुलन को परिलक्षित करता है। मार्क्स ने इसी प्रकार के विचार अपनी पुस्तक द पावर्टी ऑफ फिलास्फी में राजनीतिक अर्थव्यवस्था के सिद्धान्तों पर प्रकाश डालते हुए प्रस्तुत किया। उसने तर्क दिया कि उत्पादन के संबंध ऐसे वास्तविक आधार हैं जिन पर वैधानिक और राजनीतिक अधिसंरचना का निर्माण होता है और जिसके प्रति सामाजिक चेतना निश्चित स्वरूप धारण करती हैं।

राज्य के स्वरूप प्रकृति के बारे में विचारों की उपर्युक्त पद्धति तथा आर्थिक अवसंरचना के बीच आपसी संबंध और राजनीति संगठनों के बारे में साम्यवाद घोषणापत्र के प्रमुख दस्तावेज में सबसे स्पष्ट अभिव्यक्ति है। राज्य की प्रकृति के बारे में विचार की उपर्युक्त प्रवृत्ति तथा आर्थिक संरचना और राजनीतिक संरचनाओं के बीच अंतर संबंधों का साम्यवादी घोषणापत्रों में सर्वाधिक स्पष्ट अभिव्यक्ति मिलती है। मार्क्स और एंजिल्स ने तर्क दिया है कि 'तथाकथित राजनीतिक सत्ता महज एक वर्ग का दमन करने के लिए एक वर्ग की संयोजन शक्ति मात्र है। इसके अतिरिक्त, 'आधुनिक राज्य की कार्यकारणी समूचे बूर्जुआ वर्ग के सभी कार्यों के समान मामलों का प्रबंध करने के लिए एक समिति मात्र है।' राज्य के मार्क्सवादी सिद्धान्त का यह संस्करण इस अवधारणा की ओर ले जाता है कि उद्देश्य तथा कार्य के मामले में उसकी उत्पत्ति और प्रकृति एक वर्ग के दमन के लिए दूसरे वर्ग के संगठन का रूप है। पूर्व सोवियत संघ के संरक्षण में अधिकारिक मार्क्सवाद के अलावा इस प्रकार की स्थिति के साथ अन्य लोगों के समान विचार की दृष्टि से विलियम डोमहॉक तथा फ्रेड ब्लॉक जैसे सामयिक पश्चिमी मार्क्सवादी थे।

अपनी ऐतिहासिक कृतियों में मार्क्स ने फ्रांस, जर्मनी, आस्ट्रिया और रूस की राजनीतिक दशाओं की ठोस संरचना के प्रति अपनी चिंता व्यक्त की और राज्य की ऐसी अवधारणा प्रस्तुत की जिसमें उसका अपना जीवन था जो समाज के हित में काम नहीं करती थी बल्कि राज्य के निजी हितों में ही अनुरक्त रहती थी। इस प्रकार की स्थिति तभी उत्पन्न हुई, जब वर्ग ताकतों में वहाँ संतुलन था। जैसे बोनापार्टवादी फ्रांस तथा बिस्मार्कवादी जर्मनी अथवा वहाँ प्रभुत्वशाली वर्ग का अभाव था, जैसा कि आस्ट्रिया के मातृसत्तात्मक राज्य तथा रूस के जारवादी राज्य में था।

निकोज पोलांतजास, हॉल ड्रेपर तथा राल्फ मिलिबैंड जैसे सामयिक मार्क्सवादियों का विचार था, राज्य की सापेक्ष स्वायत्तता, यदि यह बहुत उच्च स्तर की हो, उसका वर्ग स्वरूप नहीं घटता। राज्य की सापेक्ष स्वायत्तता राज्य के लिए यह संभव बनाती है कि वह उपर्युक्त लचीलेपन के साथ अपने वर्ग की भूमिका निभाएँ। यदि वास्तव में यही सत्तारूढ़ वर्ग का सामान्य उपकरण होता तो इसकी भूमिका के कार्य निष्पादन में बहुत आघात पहुँचता। राज्य बुद्धिजीवी को वर्तमान सामाजिक व्यवस्था की सेवा करने के लिए यह तय करना होता है कि सर्वोत्तम सेवा के लिए उसके कितनी स्वतंत्रता की आवश्यकता है।

राज्य के मार्क्सवादी फार्मूले के बुनियादी दावों को बहुत संक्षेप में इस प्रकार रखा जा सकता है "जब राज्य कार्य करता है तो मार्क्सवादी शब्दों में सत्तारूढ़ वर्ग की ओर से उसके इशारे पर यह अधिकांश हिस्सा नहीं करता है। राज्य, वास्तव में, एक वर्ग राज्य होता है, सत्तारूढ़ वर्ग का राज्य होता है परन्तु वास्तव में इसे उस प्रकार की स्वायत्तता की उस स्थिति तथा स्वतंत्रता रखनी चाहिए यदि उसे एक वर्ग राज्य के रूप में कार्य करना है।" इसके बाद आगे उसने प्रस्तुत किया है कि राज्य की धारण। महज एक उपकरण के रूप में राज्य की निर्णायक सम्पत्ति का रहस्य खोलती है, जैसे कि इसकी सापेक्ष सम्पत्ति स्वायत्तता सत्तारूढ़ वैभवशाली वर्ग तथा नागरिक समाज से इसकी सापेक्षता है।

5.3 विकासशील समाजों के ऐतिहासिक वैशिष्ट्य की समझ की ओर

सैद्धान्तिक उद्देश्य के रूप में राज्य के स्वरूप के बारे में तीव्र बहस और मार्क्सवादी सिद्धान्तवादियों द्वारा व्यक्त की गई राज्य की अवधारणा के बारे में संदेहवाद के बावजूद राजनीतिक सिद्धान्त में किसी सामाजिक विश्लेषण के लिए राज्य की

प्रमुखता को लगभग पूर्ण स्वीकृति है। लेकिन जब सिद्धान्तवादियों द्वारा वास्तव में विद्यमान राज्य को विश्लेषण की कोशिश की जाती है तो समस्या पैदा होती है।

राज्य के बारे में अपने सैद्धान्तिक विमर्श में सभी सिद्धान्तवादियों ने उन्हीं ऐतिहासिक राज्यों का उल्लेख नहीं किया है। उदाहरण के लिए, मार्क्स और एंजिल्स ने जो सिद्धान्त प्रतिपादित किए हैं, वे बीसवीं शताब्दी के अंतिम वर्षों में थे और जिनकी प्रकृति समसामयिक है और जिनके लिए मार्क्सवादियों को रखा गया है। इसी प्रकार उपनिवेशवादी विकासशील ऐतिहासिक और संरचना की दृष्टि से विकसित पूँजीवादी तथा उत्तर साम्यवादी समाजों में राज्य से भिन्न हैं। इसके अलावा इन राज्यों में बड़ी श्रेणियों के अंदर उल्लेखनीय विरोध विद्यमान है।

इस बात में कोई संदेह नहीं है कि विकसित पूँजीवादी राज्यों की निःसन्देह ऐतिहासिक भिन्नताएँ हैं लेकिन उनमें दो सामान्य विशेषताएँ एक जैसी हैं, वे सभी अत्यधिक औद्योगिक देश हैं, उनके आर्थिक कार्यकलापों के मुख्य साधन का हिस्सा निजी स्वामित्व तथा नियंत्रण में रहता है। ये दो विशेषताएँ उन्हें एशिया, अफ्रीका तथा लैटिन अमेरिका के अल्प विकसित राज्यों से विशिष्ट बना देती हैं। विकसित राज्यों तथा विकासशील देशों के बीच कुछ महत्वपूर्ण भेद भी हैं। उपनिवेशवाद जैसे ऐतिहासिक कारक, उपनिवेशवाद विरोधी, राष्ट्रीय आन्दोलनों के अनुभव और ऐतिहासिक सांस्कृतिक संदर्भ जिनमें उपनिवेशवाद के पश्चात् विकासशील समाज उभरे हैं। इनका विकासशील राज्य के स्वरूप पर गहरा असर पड़ा है।

इसके पश्चात् विकसित पूँजीवादी समाजों में राज्य के विश्लेषण के लिए जो श्रेणियाँ इस्तेमाल में लाई जा सकती हैं, ऐसे स्वरूप के लिए सभी शैक्षिक प्रयासों की यह कहकर आलोचना की जाती रही है कि वे अपने स्वरूप में मशीन की तरह दृढ़ संकल्पित तथा द्वासवादी हैं।

उदाहरण के लिए नवमार्क्सवादी परम्परागत मार्क्सवाद की पर्याप्तता को लेकर खुलेआम यह प्रश्न उठाते हैं कि विकास समाजों की सामाजिक वास्तविकताओं को स्पष्ट करने के लिए बुर्जुआ पूँजीवादी संदर्भ के लिए मार्क्सवादी यह प्रश्न उठाते हैं। उनका विचार है कि मार्क्सवाद को अक्सर विकास की धारणा के अंतर्गत बहुत भिन्न परिस्थितियों के लिए अपनाया गया है। इसमें बताया गया है कि विकासशील राज्य के स्वरूप का सिद्धान्त बनाने में मार्क्सवादी विश्लेषणात्मक उपकरणों का उपयोग करते समय मार्क्सवादी अवधारणाओं का इस्तेमाल सावधानी के साथ करना चाहिए।

इसी प्रकार उदारवादियों ने भी राज्य के स्वरूप के बारे में सामान्यीकरण करने का प्रयास करने की अपेक्षा इन नए राज्यों की सांस्कृतिक विशिष्टता का अध्ययन करने पर बल दिया है। जैसा कि 1950 तथा 1960 के दशकों में आधुनिकीकरण तथा विकास के महान सिद्धान्त के संदर्भ में कहा गया था।

5.4 विकासशील समाजों में राज्य का सिद्धान्त स्थापित करना: सैद्धान्तिक आधार मजबूत करना

जब एशियाई, अफ्रीकी और लैटिन अमेरिकी देश स्वतंत्र हुए थे, तो सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक परिवर्तनों को लाने के मामले में राज्य की क्षमता के प्रति अभूतपूर्व विश्वास था। इसका निम्नलिखित आधारों पर स्पष्टीकरण किया जा सकता है:

पहला, अन्तर्राष्ट्रीयता वादी राज्य की धारणा उपनिवेशवादी राज्य की परम्परा के अनुरूप है। उपनिवेशवाद विरोधी आन्दोलन की राज्य की सत्ता के प्रति दावे राज्य का अधिग्रहण करने के लिए थे। इस उद्देश्य के लिए राष्ट्रवादी नेतृत्व ने नागरिक समाज तथा राज्य के बीच अंतर को कम करने का प्रयास किया ताकि समाज अर्थात् नागरिक समाज की आन्तरिक शक्ति संरचना में राज्य का आधार बने। राष्ट्रवादी नेतृत्व के हिस्से पर राज्य की शक्ति के लिए आकांक्षाओं ने उत्तर उपनिवेशी राज्य के लिए वैधता और स्वीकार्यता प्रदान की।

दूसरा, नागरिक समाज उपनिवेशवादी हस्तक्षेप के कारण कम विकसित था। इसलिए सामाजिक परिवर्तन के मामले में उत्तर-उपनिवेशवादी राज्य ने प्रमुखता प्राप्त कर लिया।

तीसरा, इस बात पर व्यापक सहमति थी कि उत्तर-उपनिवेशवादी राज्य सामाजिक इंजीनियरी, संजातीय एकरूपता, आर्थिक आधुनिकीकरण, तथा राष्ट्रीय निर्माण के लिए हस्तक्षेपवादी भूमिका निभाते हुए उपनिवेशवादी विरासत को उल्टा रूप दे देगा।

चौथा, उत्तर उपनिवेशवादी राज्य पर बहस ने भी आधुनिकीकरण तथा विकास के बारे में पश्चिमी उदारवादी बहस को भी सहायक के रूप में शामिल किया गया, विकास की तीन धारणाएँ इस बहस के इर्दगिर्द घूमती रही : (क) कि यह समय की अनिवार्यता थी और कि राज्य का स्वरूप विकास का पूरक था। (ख) विकास को मूल्य मुक्त सामाजिक प्रक्रिया तथा अंतः जो सामाजिक दमन के अपने ही पैटर्न ऐसे शो को जन्म दे सकता था जिन्हें मान्यता न दी गई। परिणामस्वरूप विकास को ऐसे रूप में माना गया जो ऊपर से लादा नहीं जा सके। (ग) और अंत में एक दृढ़ विश्वास की परम्परागत विशेषताओं से दुख उठाने वाले विकसित समाज उन आवश्यक सुधारों को हासिल करने में सूक्ष्म कहेंगे जो आधुनिकीकरण के लिए आवश्यक है और ऐसा विकासशील समाज हो जो अपना नियमन करने में अक्षम रहते हैं।

इस प्रकार उदारवादियों में प्रमुख विश्वास यह था कि विकसित राज्य राष्ट्रीयता के स्वतंत्र स्रोत के साथ तथा समाज के ऊपर तथा बाहर से खड़े रहने की योग्यता के कारण आधुनिकता लाने वाले बुद्धिजीवियों की सहायता से सम्पूर्ण समाज के लाभ के लिए विकास के कार्यक्रमों की शुरुआत तथा पहल कर सकता है।

विकासशील उपायों के बारे उपर्युक्त विचार तथा इसके आधुनिकीकरण लाने वाले बुद्धिजीवियों की छठे दशक में ही परीक्षा ले ली गई। यह व्यापक रूप से महसूस किया गया कि प्रिंसटन के सिद्धान्तवादियों, जैसे पावेल, वर्बा, कोलमैन, पाई आइसेन्सवाद तथा विन्दर सहित अन्य अनेक सिद्धान्तवादियों ने हटिंगटन, विनर तथा संजय लाल जैसे उदार संस्थावादियों का अनुसरण किया जो संजातीय केन्द्रित/यूरोप केन्द्रित थे और शोषण की नव-उपनिवेशवादी व्यवस्था को छिपाने के लिए सैद्धान्तिक आवरण रखते थे। इस विचारधारा की परिधि पर रहने वाले आलोचकों ने आधुनिक राज्य की धारणा को अलोकतांत्रिक होते हुए महसूस किया क्योंकि इसे परम्परावाद के खिलाफ आधुनिक क्षेत्र के प्रति तरजीही बर्ताव देना था। नव मार्क्सवादियों, सक्रिय कार्यकर्ताओं तथा नारिवादियों ने जोरदार तर्क दिया है कि जिनकी आजीविका परम्परागत क्षेत्र पर निर्भर है या जिनकी संस्कृति और समाज उन पर समर्थन नहीं दिया जाना चाहिए। राष्ट्रीय हित की दुहाई देने वाले दावे के बारे में प्रश्न उठाया गया क्योंकि इस बात के पर्याप्त सबूत थे जो राज्य की व्यवस्था का संचालन करते हैं – आधुनिकीकरण के शब्दों में बुद्धिजीवी – वे प्रायः तरीकों में लिप्त होने से काफी हद तक व्यक्तिगत लाभ प्राप्त करते थे और इस रूप में प्राप्त करते थे कि उसे सामान्य राष्ट्रीय हित में नहीं देखा जा सकता।

सामाजिक परिवर्तन अथवा आर्थिक सुधारों अथवा राजनीतिक परिवर्तन के अभिकारक के रूप में राज्य को वैधता न देने के कारण एशिया, अफ्रीका, लैटिन अमेरिका के विकासशील राज्य के बारे में सैद्धान्तिकरण में प्रतिमान परिवर्तन आया। अब सैद्धान्तिक विषय में राज्य पर मुख्य ध्यान दिया गया।

5.5 परिधीय राज्य का सिद्धान्त तैयार करना: नव-मार्क्सवादी परिप्रेक्ष्य

विकासशील समाजों में राज्य का विश्लेषण करने के लिए बाद में जो नव-मार्क्सवादी सिद्धान्त उभरा, उसमें बाह्य निर्धारकों को बहुत अधिक महत्व प्रदान किया गया और कभी कभी उन्हें पूरा ही महत्व दिया गया, जैसा कि पहले विचार किया जा चुका है। इस प्रक्रिया में विश्व पूँजीवाद के प्रति परिधीय राज्य के पूरक तथा अनुवांशिक संबंध को स्पष्ट करने के लिए उपनिवेशवाद तथा साम्राज्यवाद के साथ उनके संबंधों के इतिहास पर भी बल दिया गया।

ए.जी. फ्रैंक, इमैनुअल वालरस्टीन, अरीघिरी इमैनुअल तथा रुईगारिनी ऐसे प्रथम व्यक्तियों में थे, जिन्होंने लैटिन अमेरिका में राज्य की राजनीतिक अर्थव्यवस्था के बारे में निर्भरता सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। इसके पश्चात् समीर आमीन, ईसा शिवजी, कॉलीन स्पेईस, जायेल सैगोफ, महमूद मामडानी, माइकेल वान फ्री होल्ड तथा कुछ अन्य विद्वानों ने ठोस अध्ययन करने से पहले उत्तर उपनिवेशवादी अफ्रीकी राज्यों के संदर्भ में सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया। इन नव-मार्क्सवादी सिद्धान्तवादियों का योगदान राजनीतिक वैशिष्ट्य को रेखांकित करने के मामले में है जो कि उदारवादी राजनीतिक विकास सिद्धान्त में विद्यमान नहीं था।

एजिल्स द्वारा प्रस्तुत शोधपत्र पर आधारित राज्य की वर्ग प्रकृति पर जोर देते हुए एजिल्स ने लिखा है कि राज्य बूर्जुआ या श्रमिक वर्ग का प्रथम तथा अग्रणी उपकरण है। इन अवर विकास/विश्व प्रणाली सिद्धान्तवादियों ने एशियाई, लैटिन अमेरिका के राज्यों, अफ्रीका को पूँजीवाद संग्रह की प्रक्रिया तथा श्रमिकों के अन्तर्राष्ट्रीय वर्गीकरण में इन परिधीय अर्थव्यवस्थाओं की सहयोगी भूमिका के प्रशासन के लिए उपकरणों के रूप में देखा। निर्भरतावादी सिद्धान्तवादियों ने तर्क दिया कि पूँजीवाद एक अन्तर्राष्ट्रीय प्रणाली है जो विश्व बाजार के जरिये तकनीकी रूप से विकसित तथा पिछड़े राज्यों के बीच आदानप्रदान द्वारा परिभाषित होती है। मेट्रोपोलिटन राज्यों की तकनीकी तथा सैन्य उच्चता के कारण आसपास के छोटे राज्यों तथा विश्व अर्थव्यवस्था के देशों में प्रभुत्व शोषण तथा विकृति (अल्पविकसित) के परिणाम आएँ। असमान विनिमय की प्रक्रिया के जरिये परिधि से आर्थिक अधिशेष निकलता है। असमान विनिमय अत्याधिक मुनाफे की वापसी व्यापार की शर्तों में इस मेट्रोपोल तकनीकी के उपयोग के लिए एकाधिकार शुल्क तथा व्यापार तथा तटकर नीतियाँ जो कि अपने तथा विश्व बाजार पर परिधीय नियंत्रण नहीं होने देती है।

बाह्य राज्यों ने यह अनुभव किया कि स्वायत्त विकास के लिए उन्हें अतिरिक्त आवश्यक धन नहीं मिल पाता है और अग्रणी पूँजीवादी राज्यों में निवेश तथा उनके द्वारा इस्तेमाल किए गए आर्थिक अधिशेष स्वायत्त राष्ट्रीय बूर्जुआ के उपयोग के लिए उपलब्ध नहीं होते। स्पष्टतः उत्तर उपनिवेशकाल के राज्यों की अर्थव्यवस्था में उपनिवेशवाद की समाप्ति से बहुत मामूली परिवर्तन आया। महानगरीय मध्यवर्गीय का अप्रत्यक्ष राजनीतिक प्रभुत्व जारी रहा है।

इस प्रकार निर्भरता के समर्थक सिद्धान्तवादियों के अनुसार एशिया, अफ्रीका तथा लैटिन अमेरिका के बाह्य राज्यों के लिए नए स्वरूप तथा नए आवरण महज देशी वर्गों के लिए पुनःउत्पादन की बुनियादी व्यवस्थाएँ जारी रहीं। ए.जी.फ्रैंक के शब्दों

में 'विकासशील राज्य राष्ट्रीय पूँजी तथा श्रम और अन्तर्राष्ट्रीय पूँजी के बीच आश्रित राज्य के रूप में काम चलाते हैं और ऐसा करने से स्थानीय श्रम को पूर्ण तिलांजली पर अन्तर्राष्ट्रीय पूँजी का लाभ पर्याप्त रूप से प्राप्त करते हैं। पूँजी संग्रह की प्रक्रिया तथा अन्तर्राष्ट्रीय श्रम विभाजन की आवश्यकताएँ, विश्वव्यापी तथा अवर-विकसित देशों में तथा विकासशील देशों के राज्य के स्वरूप की भूमिका के मुख्य रूप से निर्णायक होते हैं (ए.जी. प्रैंक, क्राइसिस इन दी थर्ड वर्ल्ड, हैनिमैन, लंदन, 1961)।

क्या आश्रित राज्य कमजोर राज्य होता है या मजबूत राज्य? निर्भरता सिद्धान्तवादियों का तर्क होता है कि बाह्य राज्य में स्थानीय बूर्जुआ कमजोर होता है परन्तु आश्रित राज्य में अपेक्षाकृत मजबूत होता है। साम्राज्यवादी बूर्जुआ वर्ग के साथ राज्य के संबंध में निर्भर समाजों में सिद्धान्त भिन्न भिन्न होते हैं ताकि स्थानीय बूर्जुआ की तुलना में विकासशील विश्व का राज्य मजबूत हो परन्तु स्थानीय बूर्जुआ वर्ग अनेक मामलों में महानगर की साम्राज्यवादी बूर्जुआ व्यवस्था का कई अर्थों में माध्यम मात्र होता है।

लैटिन अमेरिका में निर्भरता के सिद्धान्तवादियों ने स्पष्ट किया है कि दो विभिन्न मॉडलों का इस्तेमाल करते हुए विकासशील देश नव-लोकतांत्रिक अधिनायक प्रकृति के होते हैं पहला राज्य पूँजीवादी मॉडल होता है इस मॉडल में, लोकतंत्र तथा अधिनायकवाद दोनों की अवधियों में सामाजिक वर्गों के बारे में राज्य उपकरण के प्रभावों की ओर तथा औद्योगीकरण की प्रक्रिया में राज्य की भूमिका की ओर अपेक्षाकृत अधिक ध्यान दिया जाता है। आश्रित आर्थिक संबंध में कमजोर बूर्जुआ का अस्तित्व उत्पादन के लिए राज्यों के विस्तार के पूँजीवादियों के संदर्भ में अपेक्षाकृत अधिक आवश्यक दशाएँ उत्पन्न करता है। राज्य पूँजीवादी विश्लेषकों का विचार है कि राज्य की भूमिका संग्रह प्रक्रिया के विशेष दौर की विशेषता है। यह एक ऐसी प्रक्रिया है जो महानगर केन्द्रों के प्रति आश्रित अर्थव्यवस्थाओं के संबंध के कारण संकट में रही है। इस प्रकार बाह्य राज्य न केवल वितरण और उत्पादन में सम्मिलित होते हैं बल्कि महानगर राज्य उनके बूर्जुआ वर्ग के साथ भी आपसी सम्पर्क करते रहते हैं।

इस उपर्युक्त उद्देश्य के साथ आश्रित राज्य एक ऐसा राज्य बूर्जुआ – नया वर्ग पैदा करना चाहता है जिसके हित प्रत्यक्ष स्वामित्व की अपेक्षा संसाधनों के साथ शक्ति से जुड़े हों यह राज्य बूर्जुआ नागरिक समाज के वर्ग हित के अफसरशाह प्रतिनिधियों की अपेक्षा राज्य की सेवा करता है।

तानाशाह आश्रित राज्य के साथ दूसरी माडल ऐसा होता है कि उसकी जड़ें कारदोसो, फालेटो, तथा ओडोनेल के वर्ग संघर्ष के विचारों की जड़ों के मूल में होती हैं। ऐतिहासिक संरचना दृष्टिकोण को अपनाते हुए ये बाद के निर्भरता सिद्धान्तवादी वर्ग संघर्ष के संदर्भ में लैटिन अमेरिका के राज्यों में स्थित हैं – विश्व व्यवस्था में विकासों तथा संकटों द्वारा वे, एक जैसे स्थित हैं। वे अफसरशाही अधिनायकवाद राज्य की प्रकृति का वर्णन करते हुए उसे प्रभुत्व की गारंटी देने वाला तथा संयोजक बतलाते हैं और प्रभुत्व के संयोजक तथा गारंटी देने वाले का दबदबा अल्पतंत्र तथा समुद्रपारीय बूर्जुआ वर्गों के उच्च गुटों के जरिये होकर चलता रहता है। इस वर्ग ने लोगों को आर्थिक दृष्टि से अलग-अलग करके नागरिक समाज के राजनीतिकरण का कार्य चला रखा है। बुनियादी ढाँचे के खास प्रकार के खर्च को सामाजिक क्षेत्र में सरकारी तौर पर खर्च करके लोगों को उसका लाभ उठाने और अन्तर विदेशी निवेश को प्रोत्साहन करने तथा राज्य अफसरशाही को लाभ पहुँचता है (उदाहरण के लिए सैनिक निर्माण तथा राज्य पूँजी निवेश)। विदेशी निवेश को प्रोत्साहन देता है।

इतना ही नहीं, पूँजी संग्रह का लाभ निजी पूँजी तथा राज्य निगमों के बड़ी राष्ट्रीय तथा विदेशी इकाइयों के लाभ के लिए होता है। अफसरशाही तथा अधिनायक शब्दों पर निर्भर राज्य सख्ती से श्रमिक यूनियनों तथा समूह संगठनों पर कड़ाई से नियंत्रण करता है। गैर-राजनीतिकरण पर दबाव देने के कारण राजनीतिक दलों के जरिये राज्य की राजनीति में पहुँच बता पाना असंभव हो जाता है। जो थोड़ी-बहुत पहुँच बाकी रह जाती है, वह व्यक्तिगत सम्पर्कों तथा अफसरशाही के भीतर तथा बाहर के लोगों के बीच संबंधों तक ही सीमित है।

इस प्रकार अफसरशाही अधिनायकवाद राज्य से अलग-थलग हो जाता है तथा राज्य की वैधता आर्थिक वृद्धि और खपत वाली सामग्री के बढ़ने पर निर्भर करती है और तकनीकी क्षमता तथा सामग्री खपत को वैधता पर निर्भर करती है जबकि श्रमजीवी तथा कृषक वर्गों को दमनकारी तरीकों के जरिये मौन रहने को बाध्य किया जाता है।

हम निम्नलिखित टिप्पणियाँ करते हुए निर्भरता से संबंध सिद्धवादियों के सैद्धान्तिक मतभेदों को संक्षेप में इस प्रकार प्रस्तुत कर सकते हैं: अग्रणी राज्य की प्रकृति के साथ आश्रित राज्य की तुलना इसमें विदेशी पूँजी की भूमिका के कारण बिल्कुल भिन्न प्रकार से आश्रित राज्य तानाशाही रूप अपनाते हैं। विश्व प्रणाली का दबदबा स्थानीय बूर्जुआ वर्ग को ऐतिहासिक रूप से कमजोर रखता है, कमजोर स्थानीय बूर्जुआ अपना दबदबा स्थापित नहीं रख सकते इसलिए वे शक्ति भी बरकरार नहीं रख सकते (और विदेशी पूँजी के लिए अपनी अर्थव्यवस्था के लिए गारन्टी) भी राज्य के लोकतांत्रिक रूप से जरिये नहीं रख सकते हैं। विदेशी पूँजी तथा महानगरीय राज्यों की शक्ति तथा उसकी अनिच्छा लोकतांत्रिक राज्यों की लोकप्रिय

असाम्राज्यवादी नियंत्रण को कम कर देती है और ऐसे अफसरशाही अधिनायकवादी व्यवस्था को कायम करने में सैनिकों का समर्थन करती है जो विदेश की वास्तविक शक्ति तथा स्थानीय पूँजी की ओर अपेक्षाकृत अधिक उन्मुख होते हैं।

निर्भरता के संबंध में सिद्धान्तवादियों के अनुसार आश्रित विकासशील राज्य का रूप वास्तव में विदेशी पूँजी का कार्य होता है और इसे बाह्य समाजों से अतिरिक्त अधिशेष लेने की आवश्यकता पड़ती है। गुल्लिर्मों-ओ-डोनेल ने तर्क दिया है कि लैटिन अमेरिका के राज्य तीन चरणों से होकर गुजरे हैं: बुद्धिजीवियों द्वारा आधिपत्य वाले अल्पतंत्र-राज्य जो निर्यात क्षेत्रों पर आश्रित हैं; जनप्रिय अवधि जिसके दौरान देशी मध्यम वर्ग आयात विकल्पों घरेलू मांग और शहरी वर्ग के साथ सहयोग पर निर्भर करता है और एक अफसरशाही तानाशाही दौर जिसमें आयात विकल्प में मंदी आ जाती है और महानगरीय पूँजी के साथ सैनिक तथा असैनिक तकनीशियनों का सहयोग हो जाता है और सत्तारूढ़ समूहों के विभिन्न संघ तानाशाही बुद्धिजीवी निगमों के एक वर्ग में शामिल हो जाते हैं।

निर्भरता के सिद्धान्त की एक बड़ी जटिलता हाल के वर्षों में आलोचना का शिकार हुई है, पहला, निर्भरता सिद्धान्तवादी पहले के उपनिवेशों तथा महानगरीय पूँजीपतियों के बीच सत्ता संबंधों में एक महत्वपूर्ण परिवर्तन स्वतंत्र रूप से गठित करने में विफल रहे हैं। दूसरा, विकासशील देशों के अंदर स्वदेशी मध्यम वर्ग का उत्थान एक नया कारक रहा है जिसकी आश्रित सिद्धान्तवादियों द्वारा उपेक्षा की गई है। तीसरा, यदि कोई इस विचार से सहमत हो जाए कि महानगरीय पूँजी आर्थिक प्रभुत्व कायम रखती है तो स्वदेशी वर्गों के लिए उसे किसी न किसी प्रकार की ढील देनी पड़ती है। महानगरीय पूँजी की प्रभुत्ववादी उपस्थिति द्वारा जो संरचनात्मक सीमाएँ बनती हैं, उनके संबंध में स्वदेशी पूँजीवादी वर्गों को सीमित तरीके से नीति के बारे में मुक्त चयन का अधिकार मिलता है। चौथा, निर्भरता सिद्धान्तवादी स्वदेशी वर्ग संघर्ष के संदर्भ में विकासशील राज्यों की स्थिति को समझने में विफल रहे हैं। विकासशील राज्य अधिशेष के हस्तांतरण के लिए मात्र एजेन्ट के रूप में उन्नत तरीके से कहे गए हैं जो कि वास्तविकता नहीं है। वर्ग निर्भरता के सिद्धान्तवादियों नीतियों के विभिन्न बाह्य राज्यों द्वारा अपनाए गए वास्तविक विकास मागों की विभिन्नताओं के बारे में बहुत कम ध्यान देते हैं। यह विचार की उत्पादन का सर्वव्यापी बाह्य पूँजीवाद विकासशील देशों में सभी विकास कार्यों को वस्तुतः अवरुद्ध कर देता है पूर्व एशियाई विकास के अनुभवों के संबंध में भी इस पर विचार किए जाने की आवश्यकता है। बिलवाइन तथा संजय लाल जैसे मार्क्सवादी विद्वान लो इस हद तक तर्क देते हैं कि उपनिवेशवाद एक लक्ष्य हैं और कई विकासशील देश अपेक्षाकृत मजबूत स्थिति में हैं, अन्तर्राष्ट्रीय पूँजीवाद अब और परोपजीवी नहीं रह गया है बल्कि अपेक्षाकृत प्रगतिशील है जैसा कि एशियाई राज्यों के संबंध में मार्क्स ने एक बार तर्क दिया था।

यह सही ही कहा गया है कि विकासशील राज्य न तो नव-उपनिवेशवाद के प्रभुत्व का माध्यम है न तो पूँजीवादी वर्ग का उपकरण जैसा कि निर्भरता पर जोर देने वाले सिद्धान्तवादी हमें विश्वास दिलाते हैं। हालांकि यह विचार उन्होंने शुरू किया था ये सत्ता संरचना बन गया था और यह न तो पूँजीवादी संग्रह का कार्य करता था जैसा कि मार्क्सवादी वर्ग सिद्धान्त में कहा गया था न तो यह महानगरीय पूँजी के लिए पूरी तरह लागू था केवल उन स्पष्ट समाजों में जहाँ की वर्गों के लिए द्वारपाल जैसी विचित्र धारणा लागू की जा सकती है। महानगरीय पूँजी के साथ निर्धारण राज्य के तत्वों में से एक था जैसा कि स्वदेशी पूँजीवादी वर्ग की अनुक्रिया थी इसे विकसित कर लिया था। हालाँकि राज्य स्वयं सत्ता की संरचना के रूप में उभारता है (नीरा चन्दोक, लिमिट्स ऑफ कम्परेटिव पॉलिटिकल एनेलिसिस, इकोनॉमिक एण्ड पॉलिटिकल वीकली, 27 जनवरी 1995 पृष्ठ 66)। मूल तथा बाह्य देशों के बीच सम्बंधों के असमान आदान-प्रदान पर अत्यधिक जोर देते हुए निर्भरता पर जोर देने वाले सिद्धान्तवादियों ने गलती से भौगोलिक इकाइयों के साथ मार्क्सवाद वर्गों की समानता दिखाई है और विकासशील देशों की समानता दिखाई है और विकासशील देशों की असमानता तथा गरीबी की समस्या को बाह्य राज्यों के लाभकारी वर्ग विश्लेषण की संभावना जैसे जो बना दिया है वह अत्यंत ही असंभाव्य है। यह इसलिए भी अधिक था क्योंकि निर्भरता के सिद्धान्तवादियों के बहुत बड़े परिक्ष्य में ठोस स्तर पर इन भेदों का अन्तर कर पाना दुश्कर हो गया।

5.6 उत्तर उपनिवेशवादी समाजों में राज्य से संबद्ध वर्ग

1970 के दशक में निर्भरता सिद्धान्त का स्पष्टीकरण की दृष्टि से अपनी प्रमुखता नहीं बना सका उन लोगों के लिए अपेक्षाकृत अधिक अवसर उभरे जिन्होंने एशिया, अफ्रीका, लैटिन अमेरिका के विकासशील समाजों में राज्य तथा वर्ग के बीच संबंध की जाँच को बेहतर माना। दक्षिण एशिया के संबंध में लिखते हुए हमजा आल्वी ने इस संबंध में अग्रणी कार्य किया। आल्वी ने उत्तर उपनिवेशवादी समाजों के ऐतिहासिक वैशिष्ट्य के बारे में अपने राज्य का सिद्धान्त तैयार किया उन्होंने इसे उपनिवेशवादी दबदबे तथा बहुत दिनों के इतिहास, संस्कृति तथा इन समाजों की परम्परा द्वारा संरचनात्मक परिवर्तनों से इसे उद्भूत बताया। बाह्य पूँजीवाद के अंतर्गत उत्तर उपनिवेशवाद की प्रकृति के उनके सैद्धान्तिकरण की उनकी ईसा शिवजी, जॉन सॉल और कॉलिन लिज जैसे अफ्रीकी नवमार्क्सवादियों ने सराहना की।

आल्वी का प्रमुख विचार यह है कि उत्तर-उपनिवेशवादी राज्य अपने अत्यधिक विकसित संरचना के कारण नागरिक समाज तथा राजनीति पर प्रभुत्व स्थापित कर लेते हैं। उत्तर उपनिवेशवादी राज्य के दमनात्मक तथा सैद्धान्तिक उपकरण (अग्रिम पूँजीवादी देशों में अपने प्रतिपक्षियों की तुलना में) अत्यधिक विकसित होने के कारण सभी स्वदेशी सामाजिक शक्तियों पर प्रभुत्व स्थापित कर लेते हैं। आल्वी ने उपनिवेशों में चल रहे उपनिवेशवादी पूँजीवादी विकास की ऐतिहासिक प्रक्रिया को इसका श्रेय दिया है। उपनिवेशवादी राज्य शक्तिशाली सैनिक अफसरशाहों की व्यवस्था से सज्जित, शक्तियों की व्यवस्था तथा संस्थागत प्रणाली के विनियमन तथा स्वदेशी समाजों का नियंत्रण करता था। उचित विकसित पूँजीवादी वर्ग के न होने के कारण इस संबंध में उपनिवेशवादी तथा उत्तर-उपनिवेशवादी के बीच में आल्वी ने ऐतिहासिक साम्यता को रेखांकित किया है जिसके कारण उत्तर-उपनिवेशवादी राज्यों में अफसरशाही सैनिक अल्पतंत्र लगभग सामान्य विशेषता हो गया है।

इसके बाद यह तर्क दिया गया है कि उत्तर-उपनिवेशवादी राज्य किसी एक ही वर्ग का उपकरण नहीं है। यह अपेक्षाकृत स्वायत्त वर्ग है क्योंकि इसमें राज्य के तंत्र की प्रकृति का अत्यधिक विकास हो गया है और यह तीन प्रभुत्व वाले वर्गों महानगरीय मध्यम वर्ग, देशी मध्यम वर्ग तथा प्रतिस्पर्धात्मक हितों वाले भू-स्वामी वर्ग की ओर से कार्य करता है तथा मध्यस्थता करता है। इस प्रकार उत्तर उपनिवेशवादी राज्य को सामाजिक व्यवस्था संरक्षित करने का कार्य सौंपा जाता है जिसमें सत्तारूढ़ वर्गों का हित निहित रहता है।

आल्वी से एक दूसरा पूरक विचार भी मिलता है जिसमें उत्तर उपनिवेशवादी समाजों में राज्य की केन्द्रीयता को स्पष्ट किया गया है। उपनिवेशवाद की समाप्ति के समय उत्तरउपनिवेशवादी राज्य को एक नई तथा अपेक्षाकृत स्वायत्त आर्थिक भूमिका प्राप्त हुई जोकि वर्ग बर्जुआ राज्य में जिसकी समानान्तर कोई बात मौजूद नहीं थी क्योंकि उत्तरउपनिवेशवादी समाज में राज्य सीधे आर्थिक अधिशेष वाले बहुत बड़े हिस्से तक पहुँचता है और अपने अफसरशाही के जरिये आर्थिक कार्यकलापों को दिशा देता है। राज्य के लिए स्वतंत्र आर्थिक आधार सार्वजनिक खर्च के बड़े पैमाने पर व्यवस्था कायम की और उसे स्वायत्त आर्थिक भूमिका निभाने का अवसर प्रदान किया।

आल्वी और सॉल के अनुसार एक अन्य कारक भी है जो उत्तर उपनिवेशवाद के समाजों में राज्य के निर्णायक महत्व को परिभाषित करता है। वे प्रादेशिक एकता, वैधता और राष्ट्रवाद की भावना पैदा करने के लिए राज्य के विशेष आदर्शवादी कार्य का उल्लेख करते हैं। विशेषकर सॉल ने तर्क दिया है कि विकसित पूँजीवादी प्रणाली के लिए सैद्धान्तिक मजबूती प्रदान करने के लिए राज्य के कार्य में आर्थिक परिवर्तन को भी साथ-साथ तैयार किया गया है। लेकिन उपनिवेशवाद उत्तर समाजों में, प्रादेशिक सीमाओं की कृत्रिम प्रकृति की स्थिति में एक बार शक्तिशाली प्रत्यक्ष उपनिवेशवादी शक्ति के चले जाने के बाद इस प्रकार की दबदबा बनाने वाली स्थिति को पैदा किया गया था।

आल्वी और उपनिवेशवाद के बाद के अन्य राज्य सिद्धान्तवादियों के अनुसार ऊपर के तीनों कारकों को एक साथ ले लेने पर उत्तर उपनिवेशवादी सामाजिक संरचनाओं के लिए राज्य की केन्द्रीयता अधिक उजागर होती है। इस प्रकार की उच्च सापेक्ष स्वायत्तता की स्थिति में राज्य की नीतियों के निर्धारण करने के मामले में अफसरशाही अपने अधिकारों को लेकर एक प्रमुख घटक के रूप में सामने आती है।

ऐसी स्थिति में यह स्वाभाविक है कि उत्तर उपनिवेशवादी समाजों में अफसरशाही की विशेष भूमिका के बारे में अनेक मार्क्सवादियों ने विशेष ध्यान देते हुए विश्लेषण किए हैं बहस का यह हिस्सा दो दृष्टियों से जटिल और प्रश्न करने लायक है। पहला, अफसरशाही या अल्पतंत्र एक विशेष श्रेणी या विशेष वर्ग माना जाता है। अब बात की स्थिति में यह स्पष्ट नहीं है कि अपने वर्ग उत्पत्ति की गुणवत्ता के आधार पर क्या वे सदस्य एक वर्ग का गठन करते हैं या क्योंकि वे अफसरशाही से संबंध है दूसरा, राज्य के उपकरण और राज्य की सत्ता के बीच भेद हमेशा स्पष्ट नहीं होता है ऐसी स्थितियों में राज्य की शक्ति को अफसरशाही वर्ग से संबंध मान लिया जाता है तब प्रश्न यह उठता है कि क्या अफसरशाही को एक वर्ग माना जा सकता है?

उपर्युक्त संदर्भ में हम निकोस पोलंतजास के विचारों का उल्लेख कर सकते हैं जिनमें वह तर्क देता है कि अफसरशाही किसी वर्ग का गठन नहीं करती है, यह एक सामाजिक श्रेणी बनी रहती है जिसे सामाजिक समष्टि के रूप में परिभाषित किया जा सकता है, जिसकी मुख्य विशेषता अन्य आर्थिक विषयों की अपेक्षा राजनीतिक संरचनाओं के संदर्भ में विशेष संबंध पर आधारित है। पोलंतजास का विचार है कि जिन समाजों में उत्पादन का संबंध पूँजीवादी स्वरूप नहीं ग्रहण कर चुका है राज्य का मध्यम वर्ग अपने लिए एक विशेष स्थान स्थापित करने में सक्षम रहता है परन्तु इस मामले में भी अफसरशाही के आधार वर्ग का गठन नहीं करता है बल्कि एक प्रभावी वर्ग होने के कारण ही वह एक वर्ग बनता है।

आल्वी के विश्लेषण में यह बहुत स्पष्ट नहीं है कि वह सैनिक-अफसरशाही तंत्र को राज्य के प्रशासकीय उपकरण या राज्य को शासन करने की शक्ति के आधार पर एक वर्ग मानता है जैसा कि ऊपर विचार किया जा चुका है, वह सैनिक

तथा अफसरशाही की ऐतिहासिक विशिष्ट भूमिका का उल्लेख करता है जो उत्तर उपनिवेशवादी समाजों में राज्य के उपकरण का रूप लेती हैं, लेकिन उसके विचार में अल्पतंत्र राजनीतिज्ञों के माध्यमों से शासन करना बेहतर मानता है जहाँ तक कि वे अपनी सापेक्ष स्वायत्तता और शक्ति कायम रख सकें।

पूर्वी अफ्रीका के संदर्भ में सॉल ने तर्क दिया है कि देशी वर्ग गठन की स्थिति में थे और इस मामले में वे उन एशियाई समाजों की तरह नहीं थे जो निर्धारित वर्ग हित नहीं रखते थे। यह उपनिवेशी राज्य की दमनात्मक नीतियों के कारण था। इस प्रकार सॉल तर्क देता है कि देशी वर्गों के हितों को पूरा करने के लिए राज्य के अफसरशाही के पास बहुत कम संभावना रह जाती है। वास्तव में, अफ्रीका जैसे उत्तर उपनिवेशवादी समाजों में राज्य अफसरशाही देशी मध्यम वर्ग की स्पष्ट अक्षमता को देखते हुए राज्य की नीतियों को तैयार करने में निर्णायक भूमिका निभाने लगती है और प्रभुत्वशाली सत्तारूढ़ वर्ग में उभर जाती है जो राज्य की अफसरशाही को शासक वर्ग के दर्जे को उपभोग करने की अनुमति दे देती है।

उत्तर उपनिवेशवादी समाजों में राज्य के अफसरशाही को केन्द्रीय भूमिका दिए जाने का नव-मार्क्सवादियों जैसे जी. ए. मान तथा लेनजिनडोर्फर, जॉयल सामोफ, पीटर इवान्स तथा सजेन्तेस ने भी अनुमोदन किया है। जी. ए. मान तथा लेनजिनडोर्फर ने तर्क दिया है कि राज्य अफसरशाही (प्रशासकीय अफसरशाही) अपनी गहरी दिलचस्पी के कारण राज्य की आय के वितरण को लेकर एक सामाजिक इकाई की तरह लगातार संघर्ष में लिप्त हो जाती है। विकसित राजनीतिक संस्थाओं के अभाव में एक ऐसी स्थिति बन जाती है जिसमें राज्य की अफसरशाही अपने वर्ग हितों के कारण राजनीतिक अन्तराल को भरने के लिए राष्ट्र से बाहर की पूँजी और दिलचस्पी लेने वाले समूहों के बीच मध्यवर्ती हैसियत से काम करने लगती है। इवान्स के तर्कों के अनुसार राज्य अफसरशाही ऐसी शक्ति ग्रहण का लेती है जिससे वह न केवल अर्थव्यवस्था की सामान्य स्थिति का नियमन और निर्धारण करने लगती है बल्कि राज्य के अधिशेष को वितरक व्यवस्था का भी रूप ले लेती है। इसके दुलमुल वर्ग हित या तो राष्ट्र से बाहर की पूँजी के साथ अथवा लोकप्रिय आधार सहित स्थानीय वर्ग के साथ गठजोड़ या सम्पर्क साधने में सक्षम बना देते हैं।

जहाँ तक राज्य के बूर्जुआ वर्ग की संघटन का सवाल है, सजेन्तेस ने तर्क दिया है कि राज्य के बुद्धिजीवी वर्ग में सिविल अधिकारी, प्रबंधक, प्रशासक, अफसरशाह कुछ बुद्धिजीवी तथा सशस्त्र सेना के अधिकारी शामिल होते हैं।

धारणा की यह भिन्नता की अफसरशाही एक स्पष्ट अलग वर्ग की होती है, शिवजी मिलयसॉक्स, तथा मामदानी के लेखों में पाई जाती है। उत्तर उपनिवेशवादी अफ्रीका के संदर्भ में लिखते हुए उन्होंने तर्क दिया है कि जहाँ देशी बूर्जुआ वर्ग असामान्य रूप से कमजोर है और राज्य अपेक्षाकृत मजबूत है वहाँ राज्य अफसरशाही ने आर्थिक अधिशेष का विनियोजन और संग्रह किया। इस अफसरशाही की वर्ग उत्पत्ति मध्यम तंत्र में होती है और उनके हितों के लिए कार्य करती है दूसरी ओर इस अफसरशाही बूर्जुआ ने भी राज्य के संसाधनों और अंगों का विनियोजन भी किया।

हम उत्तर-उपनिवेशवादी राज्य के सामान्य सिद्धान्तों पर विचार-विमर्श कर सकते हैं। तीन वर्गों को जैसे महानगरीय मध्यम वर्ग देशी मध्यम वर्ग तथा जमींदार कृषक वर्ग को आर्थिक दृष्टि से प्रभुत्वशाली मान सकते हैं। इसलिए प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से वे राजनीतिक दबदबा या राज्य के कार्मिकों/अफसरशाही मध्यम वर्ग/ लघु बूर्जुआ वर्ग को सत्तारूढ़ या प्रशासकीय तत्व के रूप में राजनीतिक प्रक्रिया में सबसे सक्रिय तथा सरकार की सत्ता पर अधिकार रखने वाला मान सकते हैं।

यहाँ इस बात पर जोर देने की आवश्यकता है कि नव-मार्क्सवादी सैद्धान्तिकों के लेखों में आर्थिक दृष्टि से प्रभुत्वशाली वर्गों को आमतौर पर ऐसे वर्ग के रूप में माना जाता है जिनकी पुनःउत्पादन आवश्यकताएँ सामाजिक संरचना के समग्र आर्थिक ढाँचे का अन्ततः निर्धारण करती है। लेकिन राजनीतिक प्रभुत्व को राज्य के उत्पादन के रूप में समझा जाना चाहिए और आर्थिक दृष्टि से प्रभुत्वशाली वर्गों की सामान्य पुनःउत्पादक आवश्यकताओं द्वारा निर्धारित सीमाओं के भीतर विशेष नीति निर्धारक के रूप में भी माना जाना चाहिए। पहले के अनुभागों में हम राज्य के मार्क्सवादी सिद्धान्त पर विचार कर चुके थे। मार्क्स और एंजिल्स पर फिर से दृष्टिपात करते समय यह तर्क दिया जाता है कि सामान्य स्थिति में राज्य आर्थिक तथा राजनीतिक प्रभुत्व वाले सामाजिक वर्ग के उपकरण के रूप में कार्य करता है लेकिन उन्होंने यह भी तर्क दिया कि कुछ ऐतिहासिक अनुमानों में राज्य को सापेक्ष स्वायत्तता प्राप्त है। पहला, जहाँ किसी खास उत्पादन पद्धति के अनोखे विकास के परिणामस्वरूप सामाजिक वर्गों का उत्पादन कम रहा है। उपनिवेशवाद पूर्व एशियाई राज्य तथा औपनिवेशिक राज्य के साथ कमोबेश यही स्थिति रही है। दूसरा, जहाँ राज्य एक वर्ग के खिलाफ दूसरे वर्ग का इस्तेमाल करते हुए सापेक्ष स्वायत्तता प्राप्त कर लेता है।

उपर्युक्त विश्लेषण से हमें उत्तर-उपनिवेशवादी सामाजिक संरचना की जानकारी मिलती है जैसा कि पहले विश्लेषण किया जा चुका है, उत्तर उपनिवेशवादी राज्य सिद्धान्तकारों द्वारा यह तर्क दिया जा चुका है कि ऊपर लिखित तीनों सत्तारूढ़ वर्गों के, भिन्न-भिन्न संरचनात्मक आधार और प्रतिस्पर्धात्मक वर्ग हित है। इस जटिल वर्ग संरचना के संदर्भ में जहाँ कोई

भी खास वर्ग प्रमुख नहीं है और राज्य तथा इसके कार्मिकों को विरासत में मिले राज्य की व्यवस्था के भीतर अपने तरीके से कार्यवाही करने के लिए व्यापक क्षेत्र उपलब्ध है तथापि राज्य के बुद्धिजीवी वर्ग की भूमिका केवल सापेक्ष रूप से स्वायत्त है क्योंकि यह वर्ग समाज की संरचना के बाहर से नहीं निर्धारित होती, बल्कि भीतर से निर्धारित होती है जिनका निजी सम्पत्ति की संख्या पर आधारित व्यवस्था को सुरक्षित रखने का स्पष्ट उद्देश्य है।

ऐतिहासिक सूझ बूझ के महत्व को रेखांकित करने के लिए सैद्धान्तिक विशिष्टता की योग्यता के बावजूद उत्तर-उपनिवेशवादी राज्य सिद्धान्तवादी निर्भरता के सिद्धान्तवादियों की ही तरह विफल रहे और एशिया, अफ्रीका तथा लैटिन अमेरिका के विभिन्न देशों के स्पष्ट उपनिवेशवादी अनुभवों से कुछ विचार ग्रहण करने में विफल रहे, जैसा कि नीरा चण्डोक ने लिखा है, 'विभिन्न देशों ने उपनिवेशवाद के अपने विशेष अनुभवों, रहस्यों के अपने इतिहासों, विरोध की परम्पराओं, विशिष्ट राजनीतिक सिद्धान्तों, बौद्धिक अवदानों तथा भविष्य की विभिन्न कल्पनाओं के आधार पर अनेक प्रकार के उपनिवेशवादी संघर्षों को देखा था। और स्वतंत्रता के बाद विभिन्न देश संस्थाओं के निर्माण के विभिन्न मार्गों, वैद्य सिद्धान्तों को पैदा करते हुए राजनीतिक गतिशीलता की पद्धतियों और राष्ट्र राज्य परियोजनाओं का सहारा लिया (नीरा चण्डोक, लिमिट्स ऑफ कम्पिटिव पॉलिटिकल एनेलिसिस, इकोनॉमिक एण्ड पॉलिटिकल वीकली, 27 जनवरी 1995 पृष्ठ 5)।

स्वाभाविक रूप से पिछले दो दशकों के दौरान विश्लेषण के विश्व संरचना के आधार पर विकासशील समाजों में राज्य के सामान्य सिद्धान्तों को व्यक्त करने की किसी भी कोशिश को निरुत्साहित किया गया है। तुलनात्मक राजनीतिक विश्लेषण के सार्वभौम आमूर्त वर्गों के बारे में आधुनिकीकरण/विकास तथा निर्भरता और उसके बाद उत्तर उपनिवेशवादी राज्य सिद्धान्तवादियों ने स्थानीय विशेष तथा राजनीतिक और सांस्कृतिक प्रचलनों में दर्शित खास अध्ययनों द्वारा विस्थापित की गई है इस प्रकार राज्य की प्रकृति का विश्लेषण करने से पहले अपेक्षाकृत अधिक कठोर ऐतिहासिक सूझ-बूझ को सामने लाने का प्रयास किया जा रहा है।

5.7 सारांश

उदार आधुनिकीकरण तथा राजनीतिक विकास सिद्धान्तवादियों ने स्वीकार किया कि विकासशील समाज पश्चिम की उन्नत पूँजीवादी लोकतांत्रिक संस्थाओं में दृष्टा विकास के आदर्श प्रतिमान की ओर अग्रसर हैं। उसके बाद वे उन चरणों के विश्लेषण की ओर बढ़े जो उत्तरी अमेरिका के व्यक्तिगत/मनोवैज्ञानिक, प्रौद्योगिकी, वित्तीय तथा संस्थाओं के स्तर पर पश्चिमी अनुदान की सहायता से यह घटित हुआ। आर्थिक तरीके के विश्वास के सिद्धान्तवादियों ने अपनी परिकल्पना में राज्य को सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक तथा राजनीतिक परिवर्तन का एक अव्यक्त वाहक माना। यह इस प्रक्रिया को आधुनिक बुद्धिजीवियों के मार्ग निर्देश की आवश्यकता है। विकास सिद्धान्तवादियों ने स्थिरता का अनुसरण करने वाली ऐसी बुद्धिजीवी धारणा का विरोध करने वाली सामाजिक ताकतों का न केवल अवमूल्यन किया बल्कि उन्हें विकास के राज्य मॉडल के लिए पूर्व शर्त बताया। इतना ही नहीं यह विडम्बना की ही बात है कि राजनीतिक व्यवस्था के बारे में किसी भी विचार विमर्श से राज्य को पहले से ही अलग कर लिया।

दूसरी ओर, नव-मार्क्सवादी निर्भरता सिद्धान्तवादियों ने यह स्वीकार किया कि साम्राज्यवाद के आदर्श प्रकार की यूरोपीय या विकास के आत्मकेन्द्रित प्रतिमान को उभरने से ही रोक दिया। आर्थिक और नियतवादी विश्लेषण प्रस्तुत करते हुए उन्होंने उपनिवेशवाद के ऐतिहासिक दबावों के मुकाबले निर्भरता की बाह्य प्रकृति तथा उत्तर-उपनिवेशवादी युग में असमान विश्व पूँजीवादी प्रणालियों के उभरने को कारक बताया। विकसित पूँजीवादियों के विकास तथा विकासशील राज्यों के महानगरीय क्षेत्रों में विकासशील देशों के अवर विकास की कीमत पर स्थान बनाया। इसके बाद नीति नियामन के लिए क्षेत्र की निर्भरता के असमान संबंधों की कटु आलोचना की गई तथा राष्ट्रीय प्रभुसत्ता के महत्व को कम बताया गया। कम विकसित राज्यों के लिए एक मात्र तरीका था, सत्ता की वैश्विक संरचना से अलग रहना ताकि कम विकसित राज्य निर्भरता के मजबूत संरचना से प्रगति कर सके। जब तक ऐसा नहीं होता तीसरी दुनिया के आश्रित राज्यों को महानगरीय पूँजी तथा इसके घरेलू अधोरेखणों का उपकरण बने रहना होगा। राजनीतिक व्यवस्था के सत्तावादी रूपों के अब हासिये पर और कम हो जाने की संभावना है।

पूर्व एशियाई देशों में जिन्होंने पूँजीवादी मॉडल को अपनाया, वहाँ बाह्य या आन्तरिक रूप से अत्यधिक तेज गति से विकास हो रहा है। वर्ग निर्भरता से संबंध सिद्धान्तवादियों के मुख्य शोधपत्रों में बताया गया है कि विकासशील देशों में पूँजीवादी विस्तार के कारण कम विकास हुआ है और 'वास्तविक' विकास और संभव होने की बात दिनोदिन प्रश्नचिह्न के अंतर्गत आने लगी है।

इसके परिणामस्वरूप अपेक्षाकृत अधिक परिष्कृत सैद्धान्तिकरण में बढ़ोतरी हुई जो सामान्य स्तर के आर्थिक प्रतिमानों और बाह्य कारकों से आन्तरिक वर्ग संबंधों के विस्तृत विश्लेषण की ओर स्थानांतरित हो गई। इन सिद्धान्तवादियों ने तर्क दिया कि विकासशील समाज में राज्य ने असामान्य रूप से उच्च स्तर की स्वायत्तता का प्रदर्शन किया है जटिल वर्ग संरचना का

तात्पर्य यह हुआ कि कोई एक प्रभुत्व वाला सत्तारूढ़ वर्ग नहीं रहा और राज्य को मध्यस्थता का कार्य करना पड़ा। साथ ही राजनीतिज्ञ और अफसरशाह पूँजीवादी विरासत के हिस्से के रूप में प्राप्त अत्याधिक विकसित राज्य संरचनाओं और संगठनों का उपयोग कर सकते थे।

5.8 बोध प्रश्न

1. समसामयिक राजनीतिक सिद्धान्त में राज्य के सिद्धान्त के महत्व को स्पष्ट कीजिए।
2. राज्य की मार्क्सवादी अवधारणा का विश्लेषण कीजिए।
3. राज्य के बहुलवादी उदार सिद्धान्त के प्रमुख सिद्धान्तों का विश्लेषण कीजिए।
4. टिप्पणी करें – 'विकासशील समाजों में राज्यों की संरचना अनोखी प्रकार की है।
5. उदार तथा मार्क्सवादी दोनों ही परम्पराओं में राज्य के सिद्धान्तों के सैद्धान्तिक मतों की व्याख्या कीजिए।
6. नव मार्क्सवाद से आप क्या समझते हैं?
7. आश्रित राज्य के स्वरूप का विश्लेषण कीजिए।

इकाई 6

नागरिक समाज और राज्य

संरचना

- 6.1 प्रस्तावना
- 6.2 नागरिक समाज का अर्थ और स्वरूप
- 6.3 लोकतंत्र और नागरिक समाज
- 6.4 नागरिक समाज की उल्लेखनीय विशेषताएँ
- 6.5 नागरिक समाज और राज्य
 - 6.5.1 राज्य-नागरिक समाज संबंध: विकासवादी परिप्रेक्ष्य
- 6.6 प्रमुख अंशदाता
 - 6.6.1 प्रतिकूलक तत्व
 - 6.6.2 श्रेष्ठ राजनीतिक अर्थशास्त्री
 - 6.6.3 हेजल: नागरिक समाज और राज्य
 - 6.6.4 नागरिक समाज के बारे में मार्क्स के विचार
 - 6.6.5 नागरिक समाज के बारे में ग्रामस्की के विचार
- 6.7 नागरिक समाज विवेचना की समसामयिक सार्थकता
- 6.8 सारांश
- 6.9 बोध प्रश्न

6.1 प्रस्तावना

लोकतंत्र अपने उदार बहुलतावादी रूप में समाज का एक आदर्श माना जाता है। लेकिन प्रश्न यह है कि किस प्रकार का नागरिक समाज आधुनिक लोकतान्त्रिक प्रणाली के लिए सबसे अधिक महत्वपूर्ण है? नागरिक समाज के इस अवधारणीकरण के लिए राज्य और समाज के सम्बंध पर केन्द्रित पश्चिमी राजनीतिक विचारधारा की लम्बी परम्परा की ओर जाना होगा। राज्य के स्वरूप को समझते हुए अपने सामाजिक आधार पर इसकी समझ आवश्यक है। लोकतान्त्रिक स्वरूप भागीदारी जबाबदेही और नागरिकों के अधिकारों के आदर्शों पर आधारित होता है और लोकतान्त्रिक पद्धति की आधारशिला के रूप में नागरिक समाज की धारणा में केन्द्रित है। तब, नागरिक समाज का अर्थ क्या है और कोई व्यक्ति इसके स्वरूप तथा राज्य के साथ इसके कार्यों को किस प्रकार परिभाषित करता है। राजनीतिक चिंतन में नागरिक समाज में विचार का किस प्रकार उद्भव हुआ और राजनीतिक व्यवस्था के विकास के मार्ग में तथा विभिन्न दशाओं में वास्तविक राज्य व्यवस्थाओं के संचालन में यह किस प्रकार विकसित हुआ। भागीदारी वाली राजनीति की भावना और जबाबदेह सरकार और अधिकारों का सम्मान करने वाले राज्य की भावना को लेकर लोकतंत्र का विचार लगातार विस्तृत होता रहा है और सामयिक राजनीतिक विवेचना में इसे मूल रूप से स्वीकृति मिलती रही है। नागरिक समाज इसके सभी अर्थ भेदों में पर्याप्त सैद्धान्तिक और व्यावहारिक ध्यान आकृष्ट करता रहता रहा है। इसलिए इस इकाई में विचार-विमर्शों का उद्देश्य राज्य के सिद्धान्त के मूल तथ्यों की ओर और राज्य तथा नागरिक समाज के बीच सूक्ष्म अन्तरक्रियात्मक सम्बंध के जरिये लोकतान्त्रिक राजनीतिक सिद्धान्त के ऐतिहासिक विकास की ओर जाना होगा। इस परिप्रेक्ष्य की दृष्टि से देखने पर यह राजनीतिक सिद्धान्त के बुनियादी निर्माण खण्डों को स्पष्ट करना चाहिए है इस इकाई के अंत में हम यह समझ सकेंगे कि 'नागरिक समाज के सिद्धान्त के बिना राज्य का कोई सिद्धान्त नहीं हो सकता'। आइए, हम यह समझने का प्रयास करें कि नागरिक समाज का अर्थ भेदों में पर्याप्त सैद्धान्तिक और व्यावहारिक ध्यान आकृष्ट करता रहता रहा है। इसलिए इस इकाई में विचार-विमर्शों का उद्देश्य राज्य के सिद्धान्त के मूल तथ्यों की ओर और राज्य तथा नागरिक समाज के बीच सूक्ष्म अन्तरक्रियात्मक सम्बंध के जरिये लोकतान्त्रिक राजनीतिक सिद्धान्त के ऐतिहासिक विकास की ओर जाना होगा। इस परिप्रेक्ष्य की दृष्टि से देखने पर यह राजनीतिक सिद्धान्त के बुनियादी निर्माण खण्डों को स्पष्ट करना चाहिए है इस इकाई के अंत में हम यह समझ सकेंगे कि नागरिक समाज के सिद्धान्त के बिना राज्य का कोई सिद्धान्त नहीं हो सकता। आइए, हम यह समझने का प्रयास करें कि नागरिक समाज का अर्थ क्या होता है।

6.2 नागरिक समाज का अर्थ और प्रकृति

नागरिक समाज की परिभाषा करना आसान नहीं है, क्योंकि यह इतिहास में विकास करती हुई एक अवधारणा है। प्रारंभ में ही, हम कह सकते हैं कि नागरिक समाज सामाजिक आत्म संगठन का एक ऐसा स्वरूप है जो राज्य के साथ सहयोग के लिए अनुमति देता है और साथ ही व्यक्तिकरण को समृद्धि प्रदान करता है। कोहन तथा अरातो. (1997) ने इसे निम्नलिखित रूप में परिभाषित किया है:

“हम जानते हैं कि नागरिक समाज अर्थनागरिक समाज और राज्य के बीच सामाजिक अन्तरकार्य का एक क्षेत्र है और सभी परिचित क्षेत्रों विशेषकर (परिवार से) ऊपर है, संघों के क्षेत्र (विशेषकर स्वयंसेवी संघों) सामाजिक आन्दोलनों तथा सार्वजनिक संचार के रूप में इन सभी से ऊपर है। आधुनिक नागरिक समाज आत्मगठन के रूपों में तथा स्वयं गतिशीलता के जरिये पैदा होता है। यह कानूनों विशेषकर व्यक्तिगत अधिकारों जो कि सामाजिक भेदों को स्थिर करते हैं के जरिये साधारणीकृत होता है।”

साधारण शब्दों में, नागरिक समाज राज्य में अलग होते हुए भी एक समानान्तर क्षेत्र है। यह ऐसा क्षेत्र है जहाँ नागरिक अपने हितों तथा इच्छाओं के अनुसार इकट्ठे होते हैं। यह “संगठित सामाजिक जीवन एक ऐसा क्षेत्र है जो स्वैच्छिक आत्मजनित, पर्याप्त रूप से आत्म समर्थित और वैध व्यवस्था तथा निर्धारित आपसी मूल्यों के द्वारा बंधा हुआ है। अपने कुटुम्बों के बाहर समाज के सदस्य अपने हितों का संवर्धन करने और सुरक्षा करने के उद्देश्य के लिए अनेक प्रकार के मध्यवर्ती संगठनों का गठन करते हैं।

इस सवाल के बारे में कोई एकरूपता नहीं है कि किस प्रकार के सामाजिक संगठन नागरिक समाज के दायरे के अंदर आने चाहिए तथापि परंपरागत रूप से जो संगठन नागरिक समाज के हिस्से के रूप में समझे जाते हैं उनमें गिरजाघरों, पड़ोसी संघों, निजी धर्मार्थ संस्थाओं निचले मूल समूहों तथा स्थानीय क्लबों को शामिल किया जा सकता है, उन सभी सामाजिक संगठनों को जो राज्य से स्वायत्त आत्म उत्पादन स्वैच्छिक तथा खुले हैं तथा साथ ही कानूनी व्यवस्था से बंधे हुए हैं। नागरिक समाज में स्वतंत्र मास मीडिया तथा स्वायत्त सांस्कृतिक एवं बौद्धिक कार्यकलाप, शामिल हैं। विश्वविद्यालयों, थियेट्रों, फिल्म सोसाइटियों, प्रकाशन गृहों तथा सामाजिक विचार से सम्पन्न बुद्धिजीवियों को नागरिक समाज का प्रमुख घटक माना जाता है। संक्षेप में यह मध्यवर्ती विशेषता है जो निजी क्षेत्र तथा राज्य के बीच स्थित है।

नागरिक समाज को सामान्य रूप से समाज की अपेक्षाकृत व्यापक अवधारणा से भिन्न समझे जाने की आवश्यकता है क्योंकि इसमें सार्वजनिक क्षेत्र में सामूहिक रूप से कार्य करने वाले तथा व्यवहार करने वाले शामिल होते हैं जो अपने हितों विचारों तथा प्राथमिकताओं को व्यक्त करने के लिए सामूहिक लक्ष्य को हासिल करने के लिए, और राज्य के बारे में मौंग करने के लिए शामिल होते हैं। इस प्रकार सामाजिक जीवन का सबकुछ नागरिक समाज में पूरी तरह समाहित नहीं हो सकता है।

व्यक्तिगत तथा पारिवारिक जीवन और अन्तरमुखी समूह गतिविधियों, जैसे धार्मिक पूजा आध्यात्मिकता आदि द्वारा प्रतिनिधित्व प्राप्त संकीर्ण समाज को नागरिक समाज के दायरे में नहीं माना जाता। इसी प्रकार व्यक्तिगत कारोबार वाली फर्मों में उद्यम करके मुनाफा कमाने वाले रूप में आर्थिक समाज को भी नागरिक समाज के दायरे से बाहर माना जाता है।

नागरिक समाज को राजनीतिक समाज से भिन्न किए जाने की आवश्यकता है। लोकतंत्र में राजनीतिक दलों तथा अभियान दलों तथा संगठनों द्वारा प्रतिनिधित्व प्राप्त संगठनों जो कि राज्य के नियंत्रण को प्राप्त करने के लिए आकांक्षा रखते हैं उनको भी राजनीतिक समाज से भिन्न समझा जाना चाहिए।

6.3 लोकतंत्र और नागरिक समाज

लोकतंत्र और नागरिक समाज जुड़वा जैसे हैं वे एक-दूसरे से अभिन्न रूप से जुड़े हुए हैं। स्वस्थ उदारवादी लोकतंत्र के लिए लोकतंत्र को ऐसी जनता के समर्थन की आवश्यकता है जो “लोकतंत्र के लिए संगठित हैं, उसके सिद्धान्तों तथा मूल्यों के लिए समाजीकृत है तथा केवल लुभावने संकीर्ण हितों मात्र के लिए ही वचनबद्ध नहीं है बल्कि अपेक्षाकृत बड़े, सामान्य नागरिक उद्देश्य के लिए वचनबद्ध हैं। लारी डायमण्ड के शब्दों में “इस प्रकार की सभ्य जनता प्रबुद्ध नागरिक समाज में ही संभव है” (1999)।

इस संदर्भ में अलैक्सीस डे टोकविले का उल्लेख किया जा सकता है, अमरीकी राजनीति या जीन की श्रेष्ठ रचनाओं में लोकतंत्र – नागरिक समाज की साँठगाँठ के लिए शोध कार्य की आधारशिला रखी। टोकविले की राज्य में अमेरिका का लोकतंत्र वहाँ के स्वयंसेवी संगठनों की विविधता तथा समृद्धि से टिकाऊ हो गया था। उनके विचार में स्वयंसेवी संगठनों ने

विश्वास, सहनशीलता तथा समझौते जैसे लोकतान्त्रिक मूल्यों के विकास में सहयोग दिया। नव लोकविलेवादी नई पीढ़ियों में रॉबर्ट पुतनम जैसे प्रसिद्ध व्यक्ति थे। उन्होंने 1990 के दशक से लोकतंत्र की भूमि जैसे नागरिक समाज की अवधारणा को पुनर्जीवित किया। इटली क्षेत्रों के राजनीतिक विकास के बारे में पुतनम का कार्य समृद्ध उत्तर बनाम कंगाल दक्षिण समृद्धशील सामाजिक पूँजी के शब्दों में उच्चतर संस्थाओं की सफलताओं को स्पष्ट करना चाहा जिसका तात्पर्य "विश्वास सिद्धान्त तंत्र जैसे सामाजिक संगठन की विशेषताएँ हैं पुतनम के अनुसार निजी तथा स्वयंसेवी संगठनों में शामिल होने की व्यक्तियों की प्रवृत्ति लोकतंत्र की प्रभावितता के लिए अपने आंतरिक तथा बाह्य परिणामों के लिए योगदान करती है, आंतरिक रूप से संघ सहयोग एकता तथा सार्वजनिक उत्साह की आदतें डालते हैं, बाह्य रूप से माध्यमिक संघों का सघन तंत्र "प्रभावी सामाजिक सहयोग के लिए योगदान करता है।" पुतनम की धारणा सामान्य रूप से यह है जहाँ सामाजिक पूँजी नहीं है, लोकतंत्र फलफूल नहीं सका (1993)।

लोकतान्त्रिक संक्रमण तथा मजबूती के संदर्भ में नागरिक समाज के गुणों के सर्वाधिक व्यापक सैद्धान्तिक आंकलन के लिए 'डेवलपिंग डेमोक्रेसी (विकासशील लोकतंत्र 1999) के बारे में हाल के लारी डायमण्ड की कृति "सिविल सोसाइटी इन डायमण्ड्स व्यू" लोकतंत्र के विकास गहनता तथा मजबूती को देखना होगा। प्रक्रिया को स्पष्ट करते हुए डायमण्ड लिखता है नागरिक समाज राज्य की शक्ति की सीमा के लिए आधार उपलब्ध कराता है, राजनीतिक सहभागिता को प्रेरित करने में दलों की भूमिका का पूरक बनता है, राजनीतिक सक्षमता और लोकतान्त्रिक कौशलों को बढ़ाता है। लोकतंत्र में जनसाधारण को शिक्षित करता है, राजनीति दल के बाहर मल्टी चैनलों की संरचना तैयार करता है और उनके हितों का प्रतिनिधित्व करता है और उन्हें समग्र रूप में अभिव्यक्ति करता है और उनके हितों को बोधगम्य बनने के लिए शक्ति प्रदान करता है। विभिन्न वर्गों के व्यापक हितों को पैदा करता है और राजनीतिक संघर्ष के ध्रुवीकरण द्वारा समाप्त करता है। नए राजनीतिक नेताओं को भर्ती करता है तथा उन्हें प्रशिक्षित करता है। संघर्ष की मध्यस्थता तथा उनके समाधान के लिए तकनीकों का विकास करता है। राज्य के लिए नागरिकों का सम्मान करता है और नागरिकों को राज्य के लिए सम्मान देता है और उसके लिए उन्हें सलग्न करता है तथा आर्थिक सुधार के लिए आवश्यक विचारों को प्रसार करता है।

लेकिन डायमण्ड ने कुछ दशाएँ निर्धारित की हैं, उन्हें लोकतंत्र के निर्माण कार्यों के लिए पूरा करने के वास्ते नागरिक समाज के लिए निर्धारित शर्तों को पूरा करना होगा। पहला, यदि नागरिक समाज में अधिकतमवादी समझौता ने करने वाले तथा लोकतंत्र विरोधी लक्ष्यों और तरीकों के साथ समझौता न करने वाले हित समूहों अथवा उपसमूह के हितों के साथ नहीं है तो फिर लोकतंत्र के लिए अच्छी संभावना है। दूसरा, मजबूत नागरिक समाज की एक अन्य विशेषता है जिसे डायमण्ड ने कहा है "संगठनात्मक, संस्थागत संस्थानीकरण का स्तर"। जैसा कि वह तर्क देता है, "जहाँ हित संरचनाबद्ध, स्थिर तरीके से संगठित हैं, सहकारी तंत्र की वृद्धि तथा सौदेबाजी करने की सुविधा होती है। तीसरा, अन्य प्रमुख आवश्यकता है संगठनों का "आंतरिक लोकतान्त्रिक" स्वरूप जिसे "निर्णय करने वाले नेतृत्व चयन जबाबदेही और पारदर्शिता" द्वारा परिभाषित किया गया है।

6.4 नागरिक समाज की उल्लेखनीय विशेषताएँ

नागरिक समाज की पाँच प्रमुख विशेषताएँ, डायमण्ड के प्रस्तुतीकरण को निम्नलिखित रूप में रेखांकित किया गया है:

- नागरिक समाज का निजी लक्ष्यों की अपेक्षा सार्वजनिक लक्ष्यों से सम्बंध होता है।
- नागरिक समाज और राज्य एक दूसरे के इस प्रकार सम्बंध होते हैं कि राज्य पर नियंत्रण या जीत की जरूरत नहीं होती। नागरिक समाज का लक्ष्य होता है कि संगठनों के रूप में शक्ति का अधिग्रहण करने के बजाय शक्ति की संरचना में सुधार लाना।
- नागरिक समाज बहुवाद तथा विविधता के आयाम को समाहित करता है। कोई संगठन जो एकाधिकारवादी की तरह शक्ति पर एकाधिकार करना चाहता है और राजनीतिक जगह को कब्जे में लेना चाहता है जो अपने सभी प्रतिस्पर्धियों को इजाजत देने से मना कर देता है, नागरिक समाज के बहुवादी तथा बाजारोन्मुखी प्रवृत्ति का उल्लंघन करता है।
- नागरिक समाज किसी व्यक्ति या समुदाय के हितों के पूर्ण स्वरूप का प्रतिनिधित्व करना नहीं चाहता है। जो कुछ ऊपर कहा गया है, यह विशेषता उसका अनुसरण करता है। विभिन्न संगठनात्मक सम्बंधों वाले व्यक्तियों तथा विभिन्न संगठनों का आधिक्य स्वस्थ नागरिक समाज के काम-काज का स्पष्ट संकेत है।
- डायमण्ड के मतानुसार नागरिक समाज नागरिक समुदाय की विशेषताओं को बढ़ाने वाला है और यह स्पष्ट रूप से उससे भिन्न होना चाहिए। सामाजिक पूँजी के विचार के साथ-साथ नागरिक समुदाय का पुतनम का मॉडल नागरिक समाज की तुलना में अपेक्षाकृत अधिक व्यापक तथा अपेक्षाकृत अधिक संकीर्ण दोनों ही अवधारणाओं वाला

है, "मौटे तौर पर, यह संघों के सभी तरीकों को सम्मिलित कर लेता है, अपेक्षाकृत संकीर्ण रूप में यह केवल ऐसे संघों को शामिल करता है जो सम्बंधों के इर्द गिर्द क्षितिज रूप से बने हुए हैं और कमोबेश सहकारी एक रूप तथा विश्वास करने योग्य हैं। तोकविले की तरह पुतनम ने सामान्य रूप में संघीय जीवन के महत्व को संवेदनशील बनाया है परन्तु नागरिक समाज अपेक्षाकृत अधिक परिष्कृत अवधारणा से युक्त है जो कि संघीय जीवन के सामान्य क्षेत्र को अधिक से अधिक व्यापक और सामान्य बनाता है। इस संदर्भ में इस बात पर अधिक जोर दिए जाने की आवश्यकता है कि "एक नागरिक समुदाय के निर्माण की कुंजी स्पष्ट रूप से सार्वजनिक या राजनीतिक उद्देश्य है या कोई संगठन है।"

6.5 नागरिक समाज और राज्य

राजनीतिक सिद्धान्त में दो ऐसी प्रवृत्तियाँ रही हैं जिन्होंने राज्य और नागरिक समाज के सम्बंधों को धुंधला बना दिया है। एक ऐसी प्रवृत्ति रही है कि सभी वस्तुओं के केन्द्र में राज्य को रखा गया है। राजनीति के श्रेष्ठ सैद्धान्तिकरण के दिनों से ही राज्य-केन्द्रित दृष्टिकोण के अंतर्गत राज्य को अनावश्यक रूप से अधिक प्रमुखता प्रदान की गई है और राज्य को एक विशेष प्रकार का संस्थागत प्रबंध माना गया है जो समाज के व्यक्तियों की क्षमताओं के विकास तथा अच्छे जीवन की पूर्णता को संभव बना देता है। इसके विपरीत दूसरी प्रवृत्ति के अन्तर्गत पृष्ठभूमि में पहुँचा देने और व्यक्तिगत उदगम के प्रोत्साहन के लिए अनियंत्रित बाजार की लगाम थमा दी जाती है, निजी सम्पत्ति की पहले से ही प्रमुखता तथा अनियंत्रित प्रतिस्पर्धा ला दी जाती है। राज्य की ओर वापसी को नव-उदारवादी परियोजना और बाजार के प्रभुत्व को अनुमति देने वाली परियोजना के नागरिक समाज को सुविधा देना अपना उद्देश्य रखा है जो कि राज्य केन्द्रित दृष्टिकोण के विपरीत है।

समाज के नियामक के रूप में राजनीतिक प्रथा की सीमाओं को निर्धारित करना चाहता है बदले में नागरिक समाज नागरिकों तथा व्यक्तियों द्वारा न्यायिक रूप से परिभाषित तथा अधिकारों से युक्त व्यक्तियों द्वारा निर्धारित क्षेत्रों की ओर ले जाता है। राजनीति के खुले प्रचार तथा इसके कार्य के लिए उत्तरदायी राज्य को धारण करने के लिए राजनीतिक भागीदारी नागरिक समाज का प्रमुख लक्ष्य है। चंडोक के शब्दों में राजनीति का आवश्यक तत्व है, बातचीत तथा राज्य के साथ संघर्ष। इसलिए नागरिक समाज ऐसे तार्किक प्रवचन के उत्पादन की, स्थली बन जाता है उस स्थल को रखो जहाँ राज्य के साथ समाज एक सम्बंध में प्रवेश करता है उसे नागरिक समाज के रूप में परिभाषित किया जा सकता है। मुक्त संप्रेषण तथा प्रचार अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता तथा संघों के गठन के अधिकार की विशेषताओं से युक्त नागरिक समाज का लोकतान्त्रिक सिद्धान्त में एक गौरवपूर्ण स्थान है। कोई राज्य लोकतान्त्रिक है या सर्वहारा उसकी प्रकृति के बारे में नागरिक समाज की राजनीति से सम्बंध जोड़कर ही समझा जा सकता है। पुनः नागरिक समाज का प्रभावकारी कार्य (जैसा कि नियंत्रण कार्य से अन्तर समझा जा सकता है) उसके लोकतान्त्रिक स्वरूप पर निर्भर करता है। लोकतान्त्रिक सिद्धान्त ने नागरिक समाज के महत्व को लोकतंत्र के अस्तित्व के लिए एक पूर्व शर्त के रूप में माना है। चण्डोक के सुन्दर स्पष्टीकरण का अनुसरण करते हुए अब यह कहा जा सकता है कि राज्य की प्रकृति को नागरिक समाज की राजनीति से जोड़कर समझा जा सकता है। दोनों ही परस्पर एक बंधन से बंधे हुए हैं "नागरिक समाज के सिद्धान्त के बगैर राज्य का कोई सिद्धान्त नहीं हो सकता, और इसी के अनुसार राज्य के सिद्धान्त के बिना नागरिक समाज का कोई सिद्धान्त नहीं हो सकता।"

6.5.1 राज्य-नागरिक समाज संबंध: विकासवादी परिप्रेक्ष्य

राजनीतिक विचार का इतिहास वास्तव में राज्य-नागरिक समाज सम्बंध का इतिहास है जैसा कि अनेक राजनीतिक दार्शनिकों ने स्पष्ट किया है। इससे पहले की हम प्रमुख विचारकों के योगदान के बारे में विचार करें सामान्य जानकारी के लिए आइए अपने विचारों की प्रगति के बारे में संक्षेप में विवेचना करें। 'सिविल सोसाइटी' अर्थात् नागरिक समाज शब्द की उत्पत्ति प्राचीन ग्रीक (यूनान) राजनीतिक विचारों से हुई और जिनका उल्लेख सिसरो तथा अन्य रोमन विचारकों की कृतियों में मिला। परन्तु नागरिक समाज की राज्य के साथ समानता व्यक्त की गई आधुनिक रूप से नागरिक समाज (सिविल सोसाइटी) 18वीं शताब्दी के स्काटिश एण्ड कॉंटेनेन्टल एनलाइटनेमेन्ट में उभरा। थॉमस पेन से लेकर हेजेल तक अनेक राजनीतिक सिद्धान्तवादियों ने नागरिक समाज की अवधारणा करते हुए इसे राज्य से अलग किन्तु उसके समानान्तर माना उनके विचार में यही ऐसा क्षेत्र है जहाँ नागरिक अपनी इच्छाओं तथा आकांक्षाओं के साथ सम्बंध कर सकते हैं यह नया विचार उन नई आर्थिक वास्तविकताओं का प्रतिबिंब नहीं था जो निजी सम्पत्ति बाजार प्रतिस्पर्धा तथा बूर्जुआ वर्ग यानि मध्यमवर्गीय अभ्युदय के परिणामस्वरूप परिलक्षित हुआ। स्वतंत्रता के लिए माँग दिनों दिन बढ़ती ही जा रही थी जैसा कि अमेरिकी और फ्रांसीसी क्रान्तियों में देखने को मिला।

19वीं शताब्दी के मध्य में नागरिक समाज के विचार को ग्रहण जैसा लगा क्योंकि औद्योगिक क्रान्ति के सामाजिक और आर्थिक परिणामों ने सर्वाधिक ध्यान आकृष्ट किया। द्वितीय विश्व युद्ध के पश्चात् एन्टोनियो ग्रामस्की ने नागरिक समाज के

विचारों का पुनर्जीवित किया और नागरिक समाज को स्वतंत्र राजनीतिक कार्यकलाप का विशेष केन्द्र और क्रूरता के खिलाफ संघर्ष के क्षेत्र के रूप में उसका वर्णन किया। तत्कालीन सोवियत संघ के साम्यवादी राज्यों तथा पूर्वी यूरोप में सामाजिक जीवन के लगभग सभी क्षेत्रों में उनके नियंत्रण का विस्तार हो गया। साम्यवादी राज्यों के ध्वस्त होने के बाद राज्य के नियंत्रण क्षेत्रों पर प्रश्न पूछे जाने लगे वास्तव में चेक हंगरियाई और पोलैण्ड के क्रान्तिकारियों ने नागरिक समाज का नारा बुलंद किया। उनके विचार में राज्य की वैधानिक संस्था के बाहर नागरिक समाज (चर्च) की संस्थाओं को फलने-फूलने की माँग की।

सोवियत प्रणाली के विघटन और पूर्वी ब्लॉक के खंडित होने से विश्व भर में लोकतंत्र के लिए तथा लोकतंत्र की ओर अग्रसर होने के लिए अभूतपूर्व गतिविधियाँ चलाई जाने लगी। नागरिक समाज ने गैर राज्य संगठनों के संगठित होने की पहल को उत्तर-साम्यवाद प्रशासन की स्थितियों तथा विकसित पश्चिमी देशों जहाँ "पूँजीवादी आणवीकरण" दोनों ही वांछनीय सामाजिक पहल के रूप में उभरे, बड़ी जल्दी ही अस्वीकार्य हो गए थे। परम्परागत पार्टी प्रणालियों से थककर बहुत जल्दी ही लोगों ने अपनी दिलचस्पी बढ़ा ली और नए सामाजिक आंदोलनों (महिलावादी, पर्यावरण आन्दोलन) ने राज्य के नागरिक समाज पहल के लिए अवसरों के द्वार खोल दिए।

6.6 प्रमुख अंशदाता

अब हम उन प्रमुख अंशदाताओं की पहचान कर सकते हैं जिनके विचारों ने नागरिक समाज अवधारणीकरण को समृद्ध किया तथा राज्य-नागरिक समाज से सम्बंधित मुद्दों का स्पष्टीकरण किया।

6.6.1 प्रतिकूलक तत्व

यूनानियों की दृष्टि में राजनीतिक समाज मारमय के लिए स्वभाविक था इसलिए यूनानी राजनीतिक संस्कृति के लिए स्वतंत्र अस्तित्व रख पाने की जहाँ किसी व्यक्ति के लिए निजी गैर-राज्य क्षेत्र का विचार हो, कल्पना ही नहीं की जा सकती थी। रोमन कानून के अनुसार व्यक्ति द्वारा निजी सम्पत्ति के अधिग्रहण का प्रावधान किया गया। इस प्रकार राजनीतिक समुदाय के बाहर व्यक्तिगत अलग अस्तित्व के विचार को रोमन कानून में मान्यता दी गई।

आधुनिक रूप में, नागरिक समाज की अवधारणा के प्रारंभ को 17वीं और 19वीं शताब्दियों के आरंभ में देखा जा सकता है। सामाजिक अनुबंध सिद्धान्त के दो प्रमुख व्यक्तियों हॉब्स और लॉक को नागरिक समाज की अवधारणा तैयार करने के मामले में अग्रणी व्यक्तियों के रूप में माना जा सकता है। लॉक ने राज्य की स्थिति के विरोध में राजनीतिक या नागरिक समाज के बारे में लिखा। हॉब्स और लॉक दोनों ही ने प्रकृति के राज्य के अवधारणात्मक विरोधों में एक नागरिक समाज का निर्माण किया। नागरिक समाज एक कृत्रिम सृजन है जहाँ प्रकृति का राज्य मानव के प्राकृतिक रूप में रहने की पूर्व नागरिक समाज की स्थिति में था। अनुबंध आधारित नागरिक और सामाजिक सम्बंध ने नागरिकता की दशाओं को तैयार किया इसके विपरीत प्रकृति का अनियंत्रित राज्य जीवन और सम्पत्ति की सुरक्षा तथा सुव्यवस्थित जीवन के लिए अनुकूल नहीं था। नागरिकता विशेष रूप से गठित राजनीतिक सत्ता का सृजन थी। लॉक की अवधारणा में संवैधानिक राज्य सही मार्ग का अनुसरण करने वाले व्यक्तियों के लिए था। इन अधिकारों ने प्रभुसत्ता को सीमित कर दिया। हॉब्स ने भी आत्मरक्षा के व्यक्ति के अधिकार के सम्मान के रूप में राज्य की सीमाएँ निर्धारित की थी। लेकिन नीरा चंडोक ने यह सही ही कहा कि अनुबंध सिद्धान्त वाले लोग नागरिक समाज के वास्तव में सिद्धान्तवादी नहीं हैं। "नागरिक समाज के बारे में बाद में उदार नियमों को तैयार करते समय जो प्रमुख विषय उभरे, इन सिद्धान्तों में भ्रूण रूप में पाए जाते हैं।

6.6.2 श्रेष्ठ राजनीतिक अर्थशास्त्री

18वीं शताब्दी के श्रेष्ठ राजनीतिक अर्थशास्त्री उस प्रबुद्ध दर्शनशास्त्र से प्रभावित थे जिसने तर्क से ईश्वर के स्थान पर तर्क को प्रतिष्ठित किया और पुजारियों तथा प्रतिनिधि दार्शनिकों के स्थान पर वैज्ञानिकों को प्रतिष्ठित किया उनके अनुसार नागरिक समाज कृत्रिम रचना नहीं है बल्कि विकास का उत्पाद है। समाज इसके कानूनों और सिद्धान्तों के अनुसार प्रगति करता है। एडम कागुसन ने नागरिक समाज के विकास मूल प्रगति के उच्चतर दौर से मानव अन्तरकार्य के प्रारंभिक रूपों से माना जो कि श्रम विभाजन उच्चतर नैतिक सांस्कृतिक उपलब्धि तथा कानून के सरकारी नियम के विषय को माना। क्रमिक सामाजिक विकास के फलस्वरूप वाणिज्यिक समाज का आविर्भाव हुआ तथा सामाजिक आध्यात्मिकता की वृद्धि हुई यहाँ भौतिक, दशाएँ तथा अर्थव्यवस्था में विशेष रूप से समाज की प्रकृति का निर्धारण करने को प्राथमिकता दी गई मनुष्यों को तार्किक प्राणी के रूप में बताया गया जो कि श्रम के जटिल विभाजन के जरिए अपने को एक दूसरे पर आश्रित हो कर सक्षम बनाने में समर्थ होते हैं। नागरिक समाज की आत्मनियंत्रित सम्पत्तियाँ राजनीति तथा राज्य के अवमूल्यन की ओर ले गई।

स्वतः नियामी वाली अर्थव्यवस्था तथा समाज की अवधारणा को एडम स्मिथ के लेखों में पर्याप्त अभिव्यक्ति मिली उनके विचार में राज्य का हस्तक्षेप समाज में आर्थिक कारकों की सृजनात्मकता में व्यवधान होता है। राज्य की भूमिका का जीवन स्वतंत्रता तथा नागरिकों की सम्पत्ति की आंतरिक अराजकता तथा बाह्य अनुक्रमण से रक्षा करनी थी। अच्छे जीवन की दशाओं को परिभाषित करना या सामूहिक इच्छा का प्रतिनिधित्व करना राज्य का कार्य—व्यापार नहीं था।

श्रेष्ठ राजनीति अर्थशास्त्रियों ने व्यक्तिवाद — सम्पत्ति तथा बाज़ार को प्राथमिकता दी और बुनियादी स्तर पर उन्होंने तार्किक व्यक्ति को वस्तुओं के केन्द्र में रखा इस प्रकार श्रेष्ठ राजनीतिक अर्थशास्त्रियों द्वारा उदार एजेन्डा तैयार किया गया और उससे ऐसे नागरिक समाज की अवधारणा उभरी जो ऐतिहासिक रूप से व्यक्तियों के अधिकारों और स्वतंत्रता से निकली जहाँ एक दूसरे की प्रतिस्पर्धा में व्यक्ति अपने निजी हितों का अनुसरण करने लगा (चंडोक 1995)।

तथापि प्रारंभिक उदार सिद्धान्तवादियों ने सीमित राज्य की अवधारणा को स्थापित किया बाद में विशेषकर जे. एस. मिल तथा तोकविल ने मानव स्वतंत्रता की धमकी देने वाली राज्य की राजनीतिक शक्ति के बारे में चिन्ता महसूस की। उदाहरण के लिए, तोकविल ने देखा की सामाजिक संस्थाओं के सामने खतरा पैदा हो गया है और राजनीतिक संस्थाओं द्वारा उनका गला घोंटा जा रहा है। इन आवश्यकताओं पर बल दिया जा रहा था कि कानून और व्यवस्था बनाए रखने की जिम्मेदारी राज्य की बताई जा रही थी लेकिन साथ ही साथ यह अनुभव किया जा रहा था कि राज्य के पास असीमित शक्ति कभी नहीं रहनी चाहिए जैसा की पहले उल्लेख किया जा चुका है। तोकविल ने पाया कि बहुसामाजिक संघों में यह क्षमता है कि वह राज्य की शक्ति को नियंत्रित कर सके। मुक्त चयन के सिद्धान्त पर आधारित संघ सामूहिक कार्य की आवश्यकता के साथ व्यक्तियों के हित के प्रति सामंजस्य रख रहे थे। इन्हीं नागरिक संघों के जरिये नागरिक लोकतान्त्रिक गुण अंकुरित होते थे और नागरिक समाज को आकार प्रदान करते थे। तोकविल की ही तरह मिल का भी विचार था कि सार्वजनिक समारोह में निजी नागरिकों के भाग लेने से सार्वजनिक भावना पैदा होती है! "सार्वजनिक भावना का यह विद्यालय कहीं नहीं विद्यमान है, इस भावना को शायद ही माना जा सकता है कि निजी व्यक्तियों की प्रमुख सामाजिक स्थिति नहीं होती या समाज के प्रति उनका कोई कर्तव्य नहीं बनता। कानून को मानने तथा सरकार की सत्ता में बने रहने के लिए अतिरिक्त उनका और कोई कर्तव्य नहीं होता।"

उदारवादी विचारधारा का राज्य-समाज संबंध पर स्थाई प्रभाव रहता था। नागरिक समाज के बारे में सामयिक विचारों में उदार-अवधारणीकरण इस प्रकार होता था कि वह राज्य की शक्ति पर नागरिक समाज द्वारा सीमाएँ निर्धारित करता था।

6.6.3 हेजेल: नागरिक समाज और राज्य

जैसा कि हम पहले विचार कर चुके हैं कि श्रेष्ठ राजनीतिक, अर्थशास्त्री ऐसे पहले लोग थे जिन्होंने राज्य को नागरिक समाज से अलग माना लेकिन हेजेल ऐसे पहले व्यक्ति थे जिन्होंने राज्य-नागरिक समाज के अंतर का स्पष्ट विश्लेषण किया। हेजेल की दृष्टि में नागरिक समाज और आधुनिकता जुड़ा चीजें थीं। व्यक्ति नागरिक समाज में आत्म हित के वैध अनुसरण के दौरान व्यक्तिगत स्वतंत्रता हासिल करता है जोकि उसकी क्षमताओं को पूर्णता प्रदान करने के लिए आवश्यक होती हैं। आधुनिक समाज के अधिकार सम्पन्न व्यक्तियों के विचार-विमर्श द्वारा प्रारंभिक काल में विशेषाधिकार के स्थान पर आधुनिक समाज को प्रतिष्ठित किया।

नीरा चंडोक के सुन्दर विश्लेषण का अनुसरण करते हुए हेजेल ने श्रेष्ठ राजनीतिक अर्थशास्त्रियों के पदचिह्नों का अनुसरण किया। परन्तु, पहले के सिद्धान्तवादियों से उनका विश्लेषण तीन प्रकार से भिन्न था।

एक—हेजेल ने नागरिक समाज को अर्थव्यवस्था के साथ उमड़ी अतिरिक्त पहचान से अलग अस्तित्व प्रदान किया। निःसंदेह नागरिक समाज में सामाजिक परम्पराएँ होती हैं जो पूँजीवादी अर्थव्यवस्था के तर्क द्वारा गठित होती हैं। तथापि अर्थव्यवस्था से उनका अलग अस्तित्व होता है। परिवार और राज्य के बीच स्थित होते हुए भी, हेजेल के अनुसार नागरिक समाज "ऐतिहासिक दृष्टि से परिवार से अलग एक प्रमुख लक्षण होता है जो कि सामाजिक संगठन के रूप को राज्य से अलग रखते हुए उसे सर्वोच्च तथा ऐसे संगठन का अंतिम स्वरूप दे देता है। परिवार प्राकृतिक तथा अलक्षित एकता का प्रतिनिधित्व करता है, जहाँ प्यार और एक दूसरे से सरोकार से जुड़ा होता है। नागरिक समाज आत्म जिज्ञासु व्यक्तियों का क्षेत्र होता है, साथ ही इसमें सार्वभौमिकता के सिद्धान्त जिसका राज्य मूर्त रूप होता है। नागरिक समाज में भ्रूण रूप से उसे पाया जा सकता है। इस प्रकार हेजेल की अवधारणा में नागरिक समाज स्वतंत्रता जैसे अधिकारों का एक ऐसा क्षेत्र है जिसे नकारात्मक रूप से नहीं देखा जा सकता है। इसके बजाय नागरिक समाज "ऐसा सक्रिय क्षण है जहाँ विशेषकर एक रूपता तथा सार्वभौमिकता के बीच द्वैधता का सम्मिलन होता है।"

दो—एडम स्मिथ के इस आशावाद कि व्यक्तिपरक, स्वार्थी व्यवहार प्रगतिशील समाज का आधार होता है — के विपरीत हेजेल ने संदेह व्यक्त किया है, और लिखता है कि नागरिक समाज वह सामाजिक क्षेत्र है जहाँ "प्रत्येक व्यक्ति का निजी

हित हर अन्य व्यक्ति से मिलता है। उसका विचार था कि आत्महित वाले कार्य आत्मकेन्द्रीयता की ओर ले जाते हैं और नैतिक जीवन को नष्ट करते हैं। हेजेल के विचार में, मानव समाज नैतिक जीवन को समझ पाने की क्षमता खो चुका है और आधुनिकता ने एक ऐसी दुनिया में प्रवेश कर लिया है जहाँ श्रम विभाजन सामाजिक अन्तर कार्य का विनिमय अभिमुखी, उपकरणिका का सृजन करता है। जैसा वि चंद्रोक ने लिखा है, हेजेल की दार्शनिक परियोजना "इस मूल हीन व्यक्ति को घर उपलब्ध कराती रही है जो कि सामुदायिक जीवन के परम्परागत सहयोगी संरचनाओं से विहीन हो गया है।

तीन—स्वतंत्रता के बारे में हेजेल के विचार का आधार है, एक तार्किक सामाजिक व्यवस्था में स्वार्थ के क्रियान्वयन की धारणा। व्यक्तियों को स्वतंत्रता स्वतः और स्वैच्छिक रूप से ही नहीं प्राप्त हो जाती है उन्हें शिक्षित और सामाजिक होना पड़ता है। "स्वतंत्रता को व्यक्तिगत रूप से प्राप्त करने का व्यक्तियों का अधिकार तभी पूरी तरह प्राप्त होता है, जब वे एक वास्तविक नैतिक व्यवस्था से संबंधित होते हैं। इस प्रकार इसका तात्पर्य यह है कि नागरिक समाज को संगठित होने की आवश्यकता पड़ती है, विशेषकर आधुनिकता की यह प्रमुख विशेषता है। सार्वभौमिकता के द्वारा इसकी मध्यस्थता की जानी होती है। जैसा कि चन्द्रोक ने स्पष्ट किया है "नागरिक समाज ऐसा क्षेत्र है जहाँ हेजेल ने एक नैतिक समुदाय में विशेष तथा सार्वभौमिकता की अपनी ऐतिहासिक परियोजना को अव्यवस्थित किया है। यद्यपि मध्यवर्ती संस्थाओं के क्षेत्र की मध्यस्थता के जरिये हेजेल ने संगठनात्मक भावना की उपस्थिति को सुनिश्चित करना चाहा है। "ये माध्यम राज्य तथा नागरिक समाज के अपेक्षाकृत लघु स्वरूप हैं और राज्य के गठन की दिशा में एक चरण हैं।" हेजेल का राज्य नैतिकता के सर्वोच्चता के स्तर को प्राप्त करने लेने का प्रतीक है जो किसी खास लक्षण से सर्वथा मुक्त है। मध्यवर्ती चरण की सामाजिक संस्थाएँ विशिष्टता को किस प्रकार परिवर्तित करती हैं और सार्वभौमिकता को संस्थागत रूप प्रदान करती हैं। "हेजेलियन दर्शन के विचार में सार्वभौमता की यह विशेषता नागरिक समाज के ऐसे उर्ध्वगामी संगठन की ओर ले जाती है जो नीति की अंतिम अभिव्यक्ति करते हुए राज्य के रूप में परिणीत होता है।"

6.6.4 नागरिक समाज के बारे में मार्क्स के विचार

नागरिक समाज के बारे में हेजेल ने अवधारणा व्यक्त की है कि नागरिक समाज आधुनिकता की नागरिकता तथा अहमवादी व्यक्तित्व से उद्भूत होता है। मार्क्स के विचार इस अवधारणा से काफी मिलते जुलते हैं लेकिन राज्य की वैधता के बारे में हेजेल के विचार को मार्क्स ने अस्वीकार कर दिया है। मार्क्स ने इस बात को स्वीकार किया है कि राज्य का सार तत्त्व नागरिक समाज में व्यक्तियों के खास हितों को सीमाओं को पार करते हुए सार्वभौमिकता के सिद्धान्त की ओर जाता है। मार्क्स ने हेजेल के इस विचार को परे रख दिया है कि नागरिक समाज राज्य की अधीनस्थता में रहता है। मार्क्स के अनुसार नागरिक क्षेत्र में स्वार्थपरता, अहमन्यता और धन लोलुपता पाई जाती है। यह मध्यवर्गीय क्रान्ति के जरिये इसमें बदलाव नहीं लाया जा सकता है। नागरिक क्षेत्र में जो कुछ घटित होता है, राज्य उससे भिन्न नहीं हो सकता है क्योंकि यह अभी ऐतिहासिक प्रक्रिया से जन्म होता है जिससे नागरिक समाज उद्भूत होता है। मध्यम वर्ग की असीमित ताकत नागरिक क्षेत्र में दमन और शोषण के कार्यों में लगी रहती है। इसलिए इस प्रकार की पृष्ठभूमि को देखते हुए राज्य वर्ग का ध्वजा लगा हुआ एक संस्थान का रूप लेता है जिसमें निष्पक्षता और सार्वभौमिकता के सिद्धान्त नहीं रह सकते हैं। मार्क्स के विचार में राज्य नागरिक क्षेत्र में विरोधाभासों से समझौता करते हुए चलता है इसलिए वह नागरिक समाज पर हावी नहीं रह सकता है यह नागरिक समाज के उन विरोधों को केवल निलंबित रख सकता है।

मार्क्सवादी स्थिति को स्पष्ट करते हुए चंद्रोक ने लिखा है कि "नागरिक समाज ऐसा मंच है जहाँ सामाजिक और राजनीतिक बीच, प्रभुत्व तथा प्रतिरोध के बीच, दमन तथा अभ्युदय के बीच वैधता के वाहक चलते रहते हैं। इस प्रकार मार्क्स ने नागरिक समाज के बारे में हेजेल और उन उदारवादियों के विचारों का खंडन किया है जिन्होंने नागरिक समाज को स्वतंत्रता और अधिकारों का मुख्य स्थान माना है। इसके विपरीत मार्क्स ने नागरिक समाज की वास्तविक प्रकृति का पर्दाफास किया है "जहाँ समानता तथा स्वतंत्रता के थोथे राजनीतिक रागों द्वारा उत्पादन सम्बंधों में व्यक्ति की शक्तिहीनता की तस्वीर झलकती है।" नागरिक समाज को अपनी मुक्ति के लिए राज्य के बाहर नहीं बल्कि उसके भीतर झाँकना होता है इसके लिए गहरी जड़ों वाले लोकतान्त्रिक स्वरूप में परिवर्तन लाना होता है जो आवश्यक नहीं कि क्रान्ति द्वारा ही लाया जाता हो। मार्क्स के अनुसार नागरिक समाज व्यवस्थाओं की प्रणाली को लागू करके नहीं बचाया जा सकता है।

6.6.5 नागरिक समाज के बारे में ग्रामस्की के विचार

इटली के साम्यवादी नेता तथा समाजशास्त्री एन्टोनियो ग्रामस्की को नागरिक समाज के वामपंथी मूल आलोचना के आधुनिक पुनर्नवीकरण का श्रेय दिया जा सकता है। ग्रामस्की मार्क्स का अनयायी था लेकिन उसने हेजेल के विचारों का अध्ययन करके नागरिक समाज की अपनी अवधारणा को पर्याप्त संवर्धित बनाया था। ग्रामस्की के अनुसार राज्य को नागरिक समाज की प्रकृति के साथ जोड़कर ही समझा जा सकता है। नागरिक समाज ऐसा समाज है जहाँ राज्य की तमाम शक्तियाँ (पुलिस, कारावास, सशस्त्र बल) केन्द्रित करते हैं। जबकि समाज ऐसा होता है जहाँ "राज्य शैक्षिक सांस्कृतिक

तिक तथा धार्मिक प्रणालियों तथा अन्य संस्थाओं के माध्यम से शक्ति के सूक्ष्म रूपों दृश्य तथा अदृश्य रूपों को लागू करने का कार्य करता है। राजनीतिक समाज दंड संहिताओं तथा कारावासों के जरिए संस्थाओं को अनुशासित रखता है लेकिन नागरिक समाज इन संरचनाओं के जरिये मन तथा मनोभावना को अनुशासन में रखता है।

ग्रामस्की की राय में राज्य में वे सब कार्यकलाप शामिल हैं जिन्हें सत्तारूढ़ वर्ग अपने प्रभुत्व को बनाए रखने में उपयोग में लाता है। यह नागरिक समाज में चल रहे उन सभी दैनिक कार्यों में अपने को परिलक्षित करता है जो व्यक्ति तथा सामूहिक चेतना का सूक्ष्म रूप से निर्माण करते हैं। ग्रामस्की की मुख्य अवधारणा में आधिपत्य को प्रतीकों तथा पौराणिक आख्यानों के इस्तेमाल के जरिए सहमति तैयार करने की अवधारणा के रूप में स्वीकार किया गया है। आधिपत्य एक ऐसा संगठनात्मक सिद्धान्त है जो संघर्ष से पूर्ण नागरिक क्षेत्र में तथा उसकी बहुलता में एकता उपलब्ध करता है। नीरा चंडोक के शब्दों में "प्रभुत्वशाली वर्गों के बौद्धिक तथा नैतिक नेतृत्व के रूप में आधिपत्य राजनीतिक जीवन को नैतिक क्षण उपलब्ध कराता है यह राज्य के लिए स्वीकृति का आधार उपलब्ध कराता है। नागरिक समाज एक ऐसा नैतिक क्षण है जहाँ नैतिक दृष्टि तथा अग्रणी वर्ग की दूरदर्शिता द्वारा विखंडित समाज को एकजुट बनाया रखा जा सकता है।"

ग्रामस्की अर्थव्यवस्था और राज्य से नागरिक समाज के संघीय तथा सांस्कृतिक आयामों का अन्तर करते हुए (मार्क्सवाद की श्रेष्ठता) के आर्थिक तथा राजनीतिक कमियों से खुद को बचा कर रखता है। ग्रामस्की ने विकसित पूँजीवादी देशों में नागरिक समाज के संघों तथा सांस्कृतिक संस्थाओं को स्थापित प्रणाली की खाइयाँ बताया है। जो मध्यवर्गीय प्रशासन को स्थिरता प्रदान करती है इसलिए नागरिक समाज के इस संस्करण को नष्ट किया जाना चाहिए और इसके स्थान पर (श्रमिक क्लबों, नई सर्वहारा पार्टी) के वैकल्पिक रूपों तथा बौद्धिक रूपों से भरा जाना चाहिए जो वर्तमान बूर्जुआ रूपों को हटाकर एक सर्वहारा प्रतिपूरक आधिपत्य तैयार करने में सहायता दें।

इस प्रकार सामंजस्य नागरिक क्षेत्र में परिवर्तित परम्पराओं के द्वारा वर्गों के उपपरिवर्तन की विशेषताओं द्वारा भी लाया जा सकता है। ग्रामस्की की दृष्टि में नागरिक समाज का एक व्यापक सामाजिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक क्रान्ति के जरिये रूपांतरण किया जाना चाहिए। चंडोक ने स्पष्ट किया है कि ग्रामस्की के सिद्धान्त में नागरिक समाज ने "एक सक्रिय और गतिशील आयाम प्राप्त कर लिया है। यह ऐसा स्थल है जहाँ बुनियादी वर्ग अपने खास हितों को व्यक्त करते हुए अन्य सामाजिक समूहों के साथ वर्ग की स्थितियों को मुखर बनाते हैं नागरिक समाज ऐसा स्थल है जहाँ राज्य की वैधता को सुदृढ़ बनाया जाता है यह संघर्ष स्थली भी है। यही वह स्थान है जहाँ अनेक उपवर्ग राज्य की शक्ति को चुनौती दे सकते हैं।

हेजेल, मार्क्स और ग्रामस्की के सूत्रों का अध्ययन करने के बाद यह स्पष्ट हो जाना चाहिए कि इन मौलिक राजनीतिक दार्शनिकों ने नागरिक समाज की नए प्रकार से अवधारणा प्रस्तुत की है उन्होंने नागरिक समाज के उदार संस्करण का एक वैकल्पिक स्वरूप उपलब्ध कराया है। उनमें से प्रत्येक की धारणात्मक शब्दावली की अपनी विशिष्ट व्याख्याएँ हैं। राज्य-सामाजिक सम्बंध दृष्टि तथा परिवर्तनात्मक प्रतिमान, तथापि सामूहिक रूप से उन्होंने उदार राजनीतिक सिद्धान्त को शक्तिशाली चुनौती दी है। नीरा चंडोक ने इसका उपसंहार करते हुए लिखा है "उन्होंने इस उदार व्याख्या को स्वीकार करने से इंकार कर दिया है कि नागरिक समाज अधिकारों, व्यक्तिवाद तथा बाजार का क्षेत्र हैं। ये क्षेत्र के सतही पहलू हैं। सतह के नीचे नागरिक समाज आधुनिक और अमानवीयता के सार जैसा प्रतीत होता है। यदि इसे अपनी क्षमता को हासिल करना है और ऐतिहासिक उद्देश्य पूरा करना है तो संगठित और परिवर्तित होना होगा।"

6.7 नागरिक समाज विवेचना की समसामयिक सार्थकता

हाल में नागरिक समाज नए उत्साह और अन्तर्दृष्टि के साथ राजनीतिक सिद्धान्त में फिर से उभरा है। सुदिप्त कविराज और सुनील खिलनानी ने नागरिक समाज के बारे में अपनी नई पुस्तक में समसामयिक विचार-विमर्श में तीन सूत्रों का उल्लेख किया है:

एक: पूर्व सोवियत संघ तथा पूर्वी यूरोप की अब तक की साम्यवादी प्रणालियों ने अपने वैधानिक अधिकार क्षेत्र को और राज्य संस्थाओं के प्रभावी नियंत्रण, जैसे अफसरशाही के नियंत्रण को लगभग क्षेत्रों पर बढ़ा लिया है। उन साम्यवादी व्यवस्था वाले राज्यों के समाप्त हो जाने के बाद राज्य के वैधानिक अधिकार क्षेत्र के बाहर नागरिक समाज की संस्थाओं की प्रगति को प्रोत्साहित करने में आवश्यकता के बारे में तर्क दिया गया।"

दो: वामपंथी राजनीतिक विचार की कम से कम प्रवृत्तियाँ नागरिक समाज के विचार को पुनर्जीवित करने के लिए उत्सुक रही हैं। सोवियत प्रयोग तथा समाजवाद के विचार के प्रति निरुत्साह के कारण लोकतंत्र के विचार के प्रति निरुत्साह के कारण लोकतंत्र के विचार में कुछ मूलभूत परिवर्तन लाने और नागरिक समाज के विश्लेषण को फिर से शुरू करने की ओर भी ध्यान गया। थैचर-रीगन शासनकाल के दौरान नव-कंजरवेटिव प्रतिक्रिया के वर्षों के दौरान कल्याणकारी राज्य की

ओर वापस लौटने के विचार ने ब्रिटिश बहुलवादी परम्परा की भावना को ओर आगे बढ़ाया। "पूँजीवादी पर मानवीकरण की स्थिति का मुकाबला करने के लिए नागरिक समाज में गैर राज्य संगठनों की संघात्मक पहल" को पुनर्जीवित करने का आह्वान किया गया।

तीन: पश्चिमी देशों में नए सामाजिक आन्दोलनों (नारीवाद, पर्यावरणवाद) आदि के बारे में वर्तमान चिंतन का नागरिक समाज की विवेचन से कविराज तथा खिलनानी के शब्दों में "संघीय, तर्कों तथा विचारों तथा नए सामाजिक आन्दोलनों के बीच सुदृढ़ समानता है जो कि श्रेष्ठ श्रमिक वर्ग आन्दोलनों से हितों और रूपों की दृष्टि से बिल्कुल भिन्न हैं, मूल लोकतान्त्रिक आकांक्षाओं के वाहक हैं।"

तीसरी दुनिया के देशों में, नागरिक समाज विकास प्रशासन के क्षेत्र में गैर राजकीय क्षेत्रों (गैर सरकारी संगठनों तथा सामुदायिक संगठनों) को लाने के लिए विश्व बैंक जैसी अन्तर्राष्ट्रीय दाता एजेंसियों का उपभोग करने में लगे हुए हैं। भारत जैसे देशों में भी नागरिक समाज को सामाजिक परिवर्तनों के माध्यम से परम्परागत दलगत राजनीति की भूमिका तथा क्षमता के बारे में निराशा की भावना से निकलकर लोकतंत्र को व्यापक तथा गहरा बनाने का प्रयास किया जा रहा है।

6.8 सारांश

आपने अभी इस इकाई में जो कुछ पढ़ा है, उससे आपने नागरिक समाज के अर्थ और प्रकृति और लोकतान्त्रिक सिद्धान्त के लिए इसके महत्व को समझ लिया होगा। राज्य-समाज सम्बंध राजनीतिक सिद्धान्त का मूल तत्व है। इस पाठ को पढ़ने पर आपको यह भी स्पष्ट हुआ होगा कि नागरिक समाज विवेचना का एक लम्बा इतिहास है। इस पाठ को पढ़ने से आपको अनुबंध सिद्धान्त के दिनों से लेकर अब तक के राजनीतिक नागरिक समाज के बारे में स्पष्ट विचारों को जान गए होंगे। इस इकाई को पढ़ने से आपको सबसे प्रमुख दार्शनिकों विशेषकर, हेजेल, मार्क्स और ग्रामस्की के योगदान के बारे में भी जानकारी मिली होगी और आपको यह भी स्पष्ट हो गया होगा कि हाल में नागरिक समाज के विचार को फिर से क्यों जीवित किया गया है।

6.9 बोध प्रश्न

1. नागरिक समाज के अर्थ और प्रकृति की विवेचना कीजिए।
2. लोकतान्त्रिक सिद्धान्त में नागरिक समाज के महत्व को स्पष्ट कीजिए।
3. नागरिक समाज और राज्य के बीच सम्बंधों की समीक्षा कीजिए।
4. संक्षिप्त टिप्पणियाँ लिखिए:
(क) नागरिक समाज के बारे में मार्क्स के विचार।
(ख) नागरिक समाज के बारे में ग्रामस्की की अवधारणा।
5. नागरिक समाज की सामयिक सार्थकता का विश्लेषण कीजिए।

इकाई 7

भूमण्डलीकरण और राज्य

संरचना

- 7.1 प्रस्तावना
- 7.2 भूमण्डलीकरण क्या है?
- 7.3 भूमण्डलीकरण के प्रति दृष्टिकोण
- 7.4 राज्य सम्प्रभुता पर प्रभाव
 - 7.4.1 नई विश्व अर्थव्यवस्था से चुनौतियाँ
 - 7.4.2 नए अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों से चुनौतियाँ
 - 7.4.3 अन्तर्राष्ट्रीय कानून से चुनौतियाँ
- 7.5 राज्य के आंतरिक कार्य पर भूमण्डलीकरण का प्रभाव
 - 7.5.1 लोकतांत्रिक निर्णय करना
 - 7.5.2 संजातीय पुनरुत्थान
- 7.6 सारांश
- 7.7 बोध प्रश्न

7.1 प्रस्तावना

भूमण्डलीकरण ऐसी अवधारणा है जिसकी कोई मानक परिभाषा नहीं दी जा सकती। इसका मुख्य कारण मुद्दों और समस्याओं की अधिक विविधता है और इसे विभिन्न प्रकार के सैद्धान्तिक और राजनीतिक स्थितियों में इसकी व्याख्या की गई है। तथापि अनेक विद्वान इस बात पर सहमत हैं कि यह एक ऐसी प्रक्रिया है जिसमें विश्व पूँजीवादी आर्थिक प्रणाली के प्रभुत्व को सुदृढ़ बनाने तथा विश्व संस्कृति के माध्यम से स्थानीय संस्कृतियों और परम्पराओं के क्षरण और अनेक अन्तर्राष्ट्रीय निगमों और गैर-सरकारी संगठनों द्वारा राज्य की सर्वोच्चता को प्रतिष्ठित करने के लिए प्रक्रिया को जारी रखना है। यहाँ राज्य के हमारे पारम्परिक सूझबूझ के बारे में जो परिवर्तन लाया गया है उसके महत्व को हम समझते हैं। हमारे अध्ययन में प्रमुख बात राज्य की सत्ता के परिवर्तन अथवा पुनरुत्थान, और उसकी समाप्ति के साथ भूमण्डलीकरण का क्या सम्बंध है? क्या समसामयिक भूमण्डलीकरण राज्य-राष्ट्र के अंदर राजनीति की नई सीमाएँ निर्धारित करता है?

7.2 भूमण्डलीकरण क्या है?

भूमण्डलीकरण को समसामयिक समाज तथा राजनीतिक जीवन के सभी पहलुओं में विश्वव्यापी अंतर सम्बंधों को व्यापक बनाने, गहरा बनाने तथा शीघ्रगामी बनाने के माध्यम के रूप में माना जा सकता है। समाजशास्त्री ऐन्टोनी गिडेन्स ने इसे परिभाषित करते हुए लिखा है कि “यह स्थान और समय को कई गुणा बढ़ाने, तत्काल संप्रेषण पर जोर देने ज्ञान और संस्कृति की हिस्सेदारी तत्काल विश्व भर में करने”। इसके प्रभाव के बारे में विद्वानों में पर्याप्त मतभेद हैं, तथापि राज्य को प्रभावित करने और भूमण्डलीकरण की प्रक्रिया जारी रहने के मामलों में धारणा और विश्वासों में पर्याप्त समानता विद्यमान है। 15वीं शताब्दी में आधुनिक राज्य के अभ्युदय के साथ अन्तरसम्बंधों की एक पद्धति सदैव विद्यमान रहती थी युद्ध और व्यापार आदि के कारण आन्तरिक राजनीति अन्तर्राष्ट्रीय घटनाओं और गतिविधियों से प्रभावित हुई तथा राज्यों की एक दूसरे पर निर्भरता पर अधिक जोर दिया जाने लगा। ब्रोइटस और कान्ट के लेखन से यह परिलक्षित होता है जिन्होंने यह तर्क दिया कि “राज्यों के समाज” तथा “अन्तर्राष्ट्रीय कानून” के दायरे में राज्यों का अस्तित्व रहता है और उन्होंने राज्यों के सहअस्तित्व और सहयोग पर विशेष ध्यान केन्द्रित किया। आज हम जो अनुभव कर रहे हैं, वह गुणात्मक दृष्टि से एक नई विशेषता है। विश्व अन्तरकार्य का विशाल तंत्र और वित्तीय प्रवाह जिनपर राज्यों का बहुत सीमित नियंत्रण रहता है, संचार में अभूतपूर्व वृद्धि, अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों तथा सत्ताओं का आविर्भाव, सरकारी सीमाओं से बाहर के कार्य भूमण्डलीय सैन्य व्यवस्था तथा इंटरनेट के कारण दूरी के विचार का पुनर्व्यवस्थापन।

भूमण्डलीकरण उस पूँजीवादी विस्तार की ऐतिहासिक प्रक्रिया का लक्ष्य उत्पाद है जो यूरोप में शुरू हुआ तथा बाद में जिसने समूचे विश्व को अपने दायरे में समेट लिया। इस सम्बंध में कोई ऐसा प्रारंभिक बिन्दु नहीं है जिसपर सभी सहमत हों तथापि ऐसे कुछ ऐतिहासिक काल खंडों की पहचान की जा सकती है, जहाँ से इसके विकास की पहचान की जा सकती है। 1519 और 1521 में जहाजों से विश्व की प्रारंभिक परिक्रमा के पश्चात् 16वीं शताब्दी में यूरोपीय पूँजीवाद का

प्रथम महान विस्तार हुआ। परन्तु विश्व व्यापार और निवेश का प्रथम वृहद विस्तार यूरोप में औद्योगिक क्रान्ति के बाद 19वीं शताब्दी के अंतिम चरण में हुआ, जिसने इन देशों को निर्मित माल का उत्पादक देश बना दिया। यह उपनिवेशीकरण का स्वर्ण काल भी था। जब पश्चिम की महान शक्तियाँ विश्व को आपस में बाँटकर और उनके संसाधनों का शोषण करती थीं। प्रथम विश्व युद्ध के साथ यह क्रम रुका और 1930 के दशक के महान अवसाद के कारण मुक्त व्यापार संरक्षणवाद विरोधी कदम उठाए गए। द्वितीय विश्व युद्ध की समाप्ति से बहु राष्ट्रीय कम्पनियों के अभ्युदय से पूँजीवाद के महान विस्तार का एक अन्य दौर आया जिसने उत्पादन तथा व्यापार का अन्तर्राष्ट्रीयकरण किया। आर्थिक क्षेत्र में नई ब्रेटन वुड्स व्यवस्था ने अन्तर्राष्ट्रीय वित्तीय बाजारों के उत्थान में सहायता की। राजनीतिक रूप में उपनिवेशीकरण के समाप्त होने की प्रक्रिया से अनेक नए-नए राज्यों के आविर्भाव से नई विश्व व्यवस्था तैयार हुई। भूमण्डलीय शक्तियों के विजय का तीसरा तथा अपेक्षाकृत अधिक समसामयिक दौर बर्लिन की दीवार के पतन तथा सोवियत संघ के विखण्डन के साथ हुआ जिससे पूँजीवादी तथा समाजवादी शक्तियों के बीच शीत युद्ध समाप्त हुआ जिसमें पूँजीवाद विजयी रहा इसके साथ ही विश्व के सभी भागों में रहने वालों के लिए भूमण्डलीकरण एक वास्तविकता बन गया।

7.3 भूमण्डलीकरण के प्रति दृष्टिकोण

भूमण्डलीकरण की इस नई प्रक्रिया के स्वरूप और परिणाम तथा उसके प्रभाव के बारे में विद्वानों में मतभेद हैं। भूमण्डलीकरण की अनवरत प्रक्रिया को समझने के लिए तीन दृष्टिकोणों की पहचान की जा सकती है। एक दृष्टिकोण के ओहमी जैसे विद्वानों का है, जिसे अति भूमण्डलीयवादी कहा जाता है। वे इसे केन्द्रीय और अपरिवर्तनीय प्रक्रिया के रूप में देखते हैं तथा भूमण्डलीकरण को इतिहास के एक नए काल खंड के रूप में परिभाषित करते हैं जिसमें परम्परागत राष्ट्र-राज्य "भूमण्डलीय अर्थव्यवस्था में अस्वाभाविक, यहाँ तक की असंभव व्यावसायिक इकाई हो चुके हैं, इस दृष्टि से, जो आर्थिक शक्ति या बाजार की विशेष सुविधा प्रदान करती है। सीमा रहित अर्थव्यवस्था भूमण्डलीय पूँजी के लिए और संप्रेषण प्रक्रियाओं के लिए राष्ट्रीय सरकारों को कम कर देती है अथवा सामान्य मध्यवर्ती संस्थाएँ बढ़ते हुए शक्तिशाली स्थानीय, क्षेत्रीय तथा प्रशासन की भूमण्डलीय क्रियाविधि के बीच बुरी तरह पिस जाते हैं। इस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय बाजार तथा बहुराष्ट्रीय निगम शक्तिशाली हो चुके हैं और अव्यक्त ताकतें विश्व को नियंत्रित करती हैं। परिणामस्वरूप राज्यों की शक्ति क्रमिक रूप से ह्रास की ओर अग्रसर हो रही हैं। अब शक्ति का फैलाव हो रहा है, अब यह स्थानीय है और अन्तर्राष्ट्रीय है यह महत्वपूर्ण है न कि राज्य जो कि इससे पहले अपनी सत्ता और वैधता खो चुके हैं और अब जो कुछ सीमाओं पर घटित हो रहा है। उनपर उनका बहुत मामूली नियंत्रण रहता है। उनका विश्वास है, आर्थिक भूमण्डलीकरण ही सामाजिक और राजनीतिक संगठनों – अन्तर्राष्ट्रीय नागरिक समाज तथा महा राज्य सरकार के नए-नए रूप पैदा कर रहा है और अन्ततः वह परम्परागत राष्ट्र-राज्य का स्थान ले लगा और वह विश्व समाज का प्राथमिक राजनीतिक और आर्थिक इकाई का स्थान ले लगा। इस प्रकार विकसितविकासशील राज्य के रूप में जो विभाजन पहले किया जाता था अथवा केन्द्र परिधि पर आधारित अन्तर्राष्ट्रीय सम्बंध बनते थे, वे विलुप्त हो रहे हैं तथा आर्थिक, राजनीतिक एवं सामाजिक शक्ति की अपेक्षाकृत अधिक जटिल नया स्वरूप उभर रही हैं। इस स्थिति में जो राज्य भूमण्डलीकरण की प्रक्रिया में नहीं शामिल होते या जो समय की धारा के साथ नहीं मिलकर चलते थे, पीछे छूट जाते हैं। पहले जो कल्याण राज्य की नीतियाँ अथवा प्रशासन के सामाजिक, लोकतांत्रिक प्रतिमान होते थे, उनका अब कोई उपयोग नहीं रहा। विश्वभर में एक नया अन्तर्राष्ट्रीय अभिजात वर्ग या 'ज्ञान' वर्ग विकसित हो रहा है जो भूमण्डलीकरण के परिवर्तनों से मिलने वाले लाभ से सज्जित है जबकि अन्य सीमा रेखा पर चले गए हैं। इन परिवर्तनों के साथ विश्वभर में उपभोक्तावाद का सिद्धान्त चल रहा है जो परम्परागत संस्कृतियों और जीवन पद्धतियों को विस्थापित कर विश्व सभ्यता के भीतर एक नई सामान्य पहचान को प्रतिष्ठित कर रहा है जिसे बाजारों के अनुशासन द्वारा सार्वभौम मानकों के माध्यम से पारिभाषित किया जाता है। अतः अत्यधिक भूमण्डलीय विचारधारा वाले व्यक्तियों का विश्वास है कि भूमण्डलीकरण मानव कार्य का 'एक सैद्धान्तिक पुनर्केन्द्रीयकरण का प्रतिनिधित्व करता है।'

कुछ विद्वानों के दृष्टिकोणों का इससे तीव्र मतभेद है, उन्हें शंकालु बताया जाता है जो यह तर्क देते हैं कि भूमण्डलीकरण एक मिथक है, जैसा कि अति भूमण्डलीय विचारधारा के लोग मानते हैं। उनका कहना है कि 19वीं शताब्दी में व्यापार में अपेक्षाकृत अधिक वृद्धि हुई श्रमिकों की बाढ़ आई और अन्तर्राष्ट्रीय प्रणाली के रूप में राज्यों के एकीकरण का अपेक्षाकृत उच्च स्तर पर आर्थिक अन्तर निर्भरता बढ़ी और एडम स्मिथ और अन्य द्वारा तुलनात्मक लाभ के सिद्धान्तों का प्रचार हुआ इसलिए आज जो हम अनुभव कर रहे हैं वे इन प्रक्रियाओं के अन्तर्राष्ट्रीय का अत्यधिक बढ़ता हुआ स्तर है। अति-भूमण्डलीयता की विचारधारा वाले विद्वानों के विचारित आर्थिक शक्ति की तुलना में राजनीतिक शक्ति को महत्व देने वाले महसूस करते हैं कि राज्यों की राजनीतिक शक्ति को कम आँकने की आर्थिक शक्तियाँ मूर्खता कर रही हैं, बाजार शासन नहीं करता है बल्कि राज्य सभी आर्थिक कार्यकलापों का नियमन करता है। भूमण्डलीकरण की ताकतें राज्यों को भूमण्डलीकरण, उदारीकरण और निजीकरण की ओर अग्रसर करती हैं। इस प्रकार दिनोंदिन परस्पर आपसी सम्बंधों के बढ़ने वाले राज्यों के बीच सम्बंधों का निर्धारण करने के मामलों में अकेले अर्थशास्त्र नहीं बल्कि राजनीति अधिक महत्वपूर्ण

है। संदेहवादी यह भी तर्क देते हैं कि बढ़ते हुए आर्थिक कार्यकलाप विश्व अर्थव्यवस्था के क्षेत्रीयकरण के आविर्भाव यूरोप, उत्तरी अमेरिका और एशिया-प्रशान्त, जैसे तीन प्रमुख वित्तीय खंडों के रूप लिए हैं। इसका तात्पर्य यह है कि वास्तव में विश्व अर्थव्यवस्था पहले की अपेक्षा कम समेकित या भूमण्डलीय है तात्पर्य यह है कि यह पहले की अपेक्षा अधिक स्तंभों पर टिकी है। इस विचारधारा वाले लोगों को यह भी तर्क देते हैं कि नए अपेक्षाकृत कम राज्य केन्द्रित विश्व का कोई सबूत नहीं है। इसकी अपेक्षा राज्य सीमा पार के आर्थिक क्रियाकलाप के सक्रिय संवर्धन और विनिमयन में अपेक्षाकृत अधिक केन्द्रीय भूमिका निभा रहे हैं। वे भूमण्डलीय प्रणाली को स्वरूप प्रदान कर रहे हैं। वे वास्तव में ऐसा महसूस करते हैं कि भूमण्डलीकरण बहुपक्षीय आर्थिक व्यवस्था का एक उप-उत्पाद है जिसे द्वितीय विश्व युद्ध के उपरान्त की अवधि में अमेरिका द्वारा पैदा किया गया है, अन्य ऐसा महसूस करते हैं कि पश्चिमी साम्राज्यवाद का ऐसा चरण है जिसमें उन पश्चिमी राज्यों द्वारा विश्व व्यापार को तीव्र किया गया है तथा उसमें निवेश किया गया है और जो एकाधिकार पूँजी के अभिकर्ता के रूप में उभरे हैं। अन्त में, संदेहवादी विचारधारा वाले विद्वानों का मत है कि विश्व अर्थव्यवस्था की पुनर्संरचना नहीं हुई है। अधिकांश व्यापार तथा निवेश उत्तर का पक्ष लेते हैं और दक्षिण को हासिये पर कर देते हैं जिसके परिणामस्वरूप दोनों क्षेत्रों में असमानताएँ बढ़ती जा रही हैं और पुराना अन्तर्राष्ट्रीय विभाजन अपेक्षाकृत मजबूत होता जा रहा है। वास्तव में, वे महसूस करते हैं कि इन्हीं असमानताओं के बढ़ने के कारण विश्व सभ्यता तथा अन्तर्राष्ट्रीयतावाद के बजाय कट्टरवादिता संजातीय पुनरुत्थान और आक्रामक राष्ट्रवादिता बढ़ रही हैं। सांस्कृतिक सामंजस्यकरण के बजाय हम पाते हैं कि स्थानीय पहचानों का पुनर्ग्राह्यता हो रहा है। विश्व प्रशासन के स्थान पर केवल पश्चिमी प्रभुत्व चल रहा है जो भूमण्डलीकरण के लुभावने नारे के पीछे छिपा हुआ है।

तीसरा, तथा अपेक्षाकृत अधिक संतुलित दृष्टिकोण परिवर्तनवादियों द्वारा दिया जाता है जिनका विश्वास है कि भूमण्डलीकरण दुनिया में परिवर्तन ला रहा है और वे आधुनिक समाजों तथा विश्व व्यवस्था के तीव्र सामाजिक, आर्थिक तथा राजनीतिक परिवर्तनों को लाने वाले एक प्रमुख शक्ति के रूप मानते हैं। इस प्रकार की प्रणाली में अन्तर्राष्ट्रीय तथा देशी, बाह्य तथा आंतरिक मामलों के बीच कोई स्पष्ट अंतर नहीं रह गया है। इस संदर्भ में भूमण्डलीकरण को शक्तिशाली परिवर्तनकारी शक्ति के रूप में माना जाता है। जो विश्व व्यवस्था तथा समाज अर्थव्यवस्थाओं तथा प्रशासकीय संस्थाओं के व्यापक परिवर्तन के लिए उत्तरदायी हैं। हालाँकि इस परिवर्तन की दिशा अनिश्चित बनी रहती है क्योंकि भूमण्डलीकरण अनिवार्यतः विरोधाभासों से पूर्ण भूमण्डलीय प्रक्रिया का परिवर्तित रूप है। कोई निर्धारित आदर्श पद्धति सामने रखने की बजाय परिवर्तनवादी विचारधारा वाले विद्वान भूमण्डलीकरण को एक दीर्घकालीन ऐतिहासिक प्रक्रिया के रूप में मानते हैं जिसमें विरोधाभास पड़े हुए हैं और जो अनेक अनुमानिक कारकों द्वारा रूपायित किए गए हैं। तथापि उनका विश्वास है कि भूमण्डलीय, आर्थिक, राजनीतिक, सैनिक, प्रौद्योगिकी तथा सांस्कृतिक प्रवाहों की सामयिक पद्धतियाँ ऐतिहासिक रूप से अभूतपूर्व हैं। उनका तर्क है कि वास्तव में विश्व के सभी देश यदि उनकी सीमा तथा उनके समाज के सभी हिस्से नहीं हैं तो भी वे एक या अन्य रूपों में व्यापक विश्व प्रणाली के कार्य रूप में हिस्से हैं। बल्कि स्तरीयकरण की नई पद्धतियों के साथ ऐसा भूमण्डलीकरण है जिसमें कुछ राज्य, समाज तथा समुदाय क्रमिक रूप से विश्व व्यवस्था में सन्निहित हो जाते हैं जबकि कुछ अन्य क्रमशः हासिये की ओर बढ़ते जाते हैं।

इस प्रकार भूमण्डलीकरण की बहस के मूल में यह विश्वास है कि यह राष्ट्रीय सरकारों की सत्ता शक्ति और कार्यों का पुनर्गठन या पुनःअभियंत्रण कर रहा है। साथ ही इस तथ्य पर विवाद नहीं है कि राज्य अपनी सीमाओं के अन्दर प्रभावी सर्वोच्चता के लिए अन्ततः वैधानिक दावा बनाए रखता है जो कि अन्तर्राष्ट्रीय प्रशासन की संरचनाओं के बढ़ते हुए अधिकार क्षेत्र के साथ-साथ भिन्नता लिए रहता है। इसके प्रमुख उदाहरणों में यूरोपीय संघ और विश्व व्यापार संगठन शामिल हैं जहाँ सम्प्रभुता शक्ति अब अन्तर्राष्ट्रीय, राष्ट्रीय तथा स्थानीय शक्तियों के रूप में विभक्त है। इसलिए भूमण्डलीकरण परिवर्तन के साथ सम्बंध है अथवा प्रभुसत्ता, प्रादेशिकता तथा राज्य शक्ति के बीच सम्बंध का बहुआयामी रूप है इस प्रकार नई प्रभुसत्ता वाली संस्था राज्यत्व की परम्परागत अवधारणाओं को विस्थापित कर रही हैं और उनके स्थान पर पूर्ण अदृश्य, क्षेत्रीय रूप से विशिष्ट तथा सार्वजनिक शक्ति के रूप में मानती हैं। परिणामस्वरूप सम्प्रभुता राज्य शक्ति तथा क्षेत्रीयता का रूप एक दूसरे के साथ अपेक्षाकृत अधिक जटिल सम्बंधों वाला है जबकि जिस समय आधुनिक राज्य स्वरूप ग्रहण कर रहे थे तो उस काल खण्ड में उनके सम्बंध इतने जटिल नहीं थे।

नवमार्क्सवादियों द्वारा भूमण्डलीकरण की उत्पत्ति तथा स्वरूप के बारे में भिन्न प्रकार का आलोचनात्मक दृष्टिकोण प्रस्तुत किया जाता है और खास तौर पर, विकासशील विश्व के बारे में भिन्न प्रकार का दृष्टिकोण दिया जाता है। इसे साम्राज्यवाद का एक नया रूप बताते हुए वे इसे नव उदारवादी संकीर्ण नीतियों का विस्तार बताते हैं जिनका प्रचलन विकसित पश्चिमी देश इसलिए करते हैं ताकि वे अपनी अर्थव्यवस्थाओं को व्यवस्थित रख सकें तथा 1970 एवं 1980 के दशकों में तेल संकट के कारण आए हुए भूमण्डलीय संकट पर काबू पा सकें। इन नीतियों से विकसित देशों को तो मदद मिली परन्तु उन विकासशील देशों को मदद नहीं मिली जिन्हें ऊपर आज आंतरिक रूप से निजीकरण और उदारीकरण के लिए अत्यधिक दबाव है तथा जो भूमण्डलीकरण की ताकतों के लिए अपनी अर्थव्यवस्थाओं को खुला रखने के लिए बाह्य

रूप से बाध्य हैं। विकासशील विश्व के लिए भूमण्डलीकरण 1980 के दशक के ऋण संकट का एक हिस्सा है जिनके का संरचनात्मक समायोजन कार्यक्रम (Structural Adjustment Programmes & SAPS) चलाए गए। इनमें से अनेक देशों को इस अवधि में सरकारी सहायता की शुष्कता की स्थिति में उन वाणिज्यिक बहुराष्ट्रीय बैंकों से भारी मात्रा में ऋण लेना पड़ा जो पेट्रो डालर से अभिभूत थे। कुछ देश ऋणों की पुनःअदायगी के लिए असमर्थ थे। उदाहरण के लिए, 1982 में मेक्सिको को भूमण्डलीकरण मुद्रा कोष की शर्तों की बाध्यता के कारण अपने देश में अनेक परिवर्तनों को लागू करना पड़ा, जैसे राज्य की रोलिंग बैक (Rolling back) योजना, व्यापार प्रतिबंधों को हटाना तथा निर्यातानुमुखी वृद्धि पर जोर, क्षेत्रीय मूल्य नियंत्रण आदि जिनके कारण मेक्सिको की अर्थव्यवस्था में अन्दरूनी तौर पर पूरी तरह परिवर्तन की दिशा आ गई। विकासशील राज्यों पर राजनीतिक क्षेत्र के शर्तों के कारण इस बात पर जोर दिया गया कि वे लोकतांत्रिक व्यवस्था, अच्छा प्रशासन तथा मानव अधिकारों के संरक्षण पर जोर दें।

इन विकासों के कारण प्रतिस्पर्धात्मक बाजार शक्तियाँ लागू की गईं और विकासशील राज्यों के अन्दर कल्याणवाद के ढाँचे को तहस नहस कर दिया गया जिसकी वजह से वहाँ अपेक्षाकृत अधिक वर्ग तथा क्षेत्रीय असमानताएँ बढ़ीं और आबादी के बहुसंख्यक वर्गों जैसे छोटे-छोटे किसानों खेतिहर मजदूरों और लघु उद्योगपतियों पर भूमण्डलीकरण का बहुत असर पड़ा। भारत में आंध्र प्रदेश और पंजाब जैसे क्षेत्रों में कपास की खेती करने वाले किसानों द्वारा आत्महत्या की घटनाओं के रूप में इसका प्रभाव देखा गया। इस प्रकार संरचनात्मक समायोजन कार्यक्रमों के रूप में भूमण्डलीकरण से विकासशील राज्यों में ह्रास आया और खुली अर्थव्यवस्थाओं की दुनिया में प्रबंध करने के मामलों में उनमें अक्षमता आई। ये राज्य भूमण्डलीकरण के परिणामस्वरूप उपलब्ध नए अवसरों का लाभ उठा पाने और प्रतिस्पर्धा में टिके रहने का लाभ नहीं उठा सके और उसका वास्तविक लाभ विकसित पश्चिमी देशों को अधिक मिला और अपने देश में अगर लाभ मिला तो वह आबादी के ऐसे लोगों को मिला जो पहले से ही खुशहाल थे। संरचनात्मक समायोजन कार्यक्रमों के परिणामस्वरूप लेटिन अमेरिका के कुछ राज्यों में शुरु में कुछ प्रगति हुई परन्तु गरीबी और सामाजिक असमानताओं की खाई और गहरी हुई। इसका एक अच्छा उदाहरण अर्जेंटीना में देखा जा सकता है। विश्व बैंक ने अफ्रीका पर पड़ने वाले प्रभाव के बारे में महाद्वीप के बारे में अपनी रिपोर्ट में स्पष्ट संकेत दिया था। वास्तव में 1990 के दशक के दौरान विश्व बैंक और अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष ने इन देशों के गरीबों की सहायता के लिए नीतियाँ अथवा सुरक्षा तंत्रों के लिए आग्रह किया। इससे अनेक विकासशील देशों में, यहाँ तक कि कुछ विकसित देशों में भी सरकार के खिलाफ उपद्रव तथा हिंसा की घटनाएँ बढ़ने लगीं। ये घटनाएँ रोजगार के स्तरों में कमी होने तथा विषमताओं के बढ़ने के खिलाफ ज्यादा होने लगीं। हाल ही में ए.जी. फ्रैंक ने संकेत दिया कि भूमण्डलीकरण के प्रभाव तथा संरचनात्मक समायोजन कार्यक्रमों ने निर्भरता सिद्धान्त को सही साबित किया है परन्तु विरोधाभास यह है कि यह सिद्धान्त भूमण्डलीकरण के बारे में अध्ययन के लिए आज मुश्किल से इस्तेमाल में लाया जाता है। इस प्रकार भूमण्डलीकरण एक ऐसी शक्ति है जो सभी राज्यों को एक ही तरह प्रभावित नहीं करती। यहाँ तक की आबादी के विभिन्न वर्गों को भिन्न-भिन्न तरीकों से यह प्रभावित कर सकती है जो कि प्रतिस्पर्धात्मक बाजारों को सामना करने की उनकी योग्यता पर निर्भर करते हैं।

7.4 राज्य सम्प्रभुता पर प्रभाव

अधिकतर विद्वान इस बात पर सहमत हैं कि राज्य-राष्ट्र का काल समाप्त नहीं हुआ है बल्कि 19वीं शताब्दी में गौरव के शिखर पर पहुँचने के पश्चात् 20वीं शताब्दी के अंतिम वर्षों तक इसमें ह्रास आया है। राज्य अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में अब भी सर्वाधिक महत्वपूर्ण भूमिका निभा रहा है और अपनी स्वायत्तता बनाए हुए हैं परन्तु यह स्थिति असमान है। कुछ राज्यों का ह्रास हुआ है जबकि कुछ का उत्थान हुआ है। श्रेष्ठ साम्राज्यों का पतन हुआ है परन्तु नए नए साम्राज्यों का आविर्भाव हुआ है। इसका तात्पर्य यह है कि राज्य का अंत नहीं हुआ है अपितु इसकी शक्ति और सत्ता में परिवर्तन आया है। डेविड हेल्ड द्वारा राष्ट्र-राज्य की सम्प्रभुता के बारे में चुनौतियाँ अथवा कुछ भूमण्डलीकरण या बाह्य दुष्प्रभावों की जाँच करने पर इसे सर्वोत्तम तरीके से समझा जा सकता है।

7.4.1 नई विश्व अर्थव्यवस्था की चुनौतियाँ

राज्य की सम्प्रभुता को प्रभावित करने वाले आर्थिक लोकतांत्रिक प्रक्रियाओं में दो प्रमुख परिवर्तन बहुराष्ट्रीय निगमों (Multinational Corporations & MNCs) द्वारा आयोजित रहे हैं। ये हैं, उत्पादन का अन्तर्राष्ट्रीयकरण तथा वित्तीय लेन-देन। बहुराष्ट्रीय कम्पनियाँ विश्व के साथ, अपने कार्यकलापों में उत्पादन तथा वित्तीय लेन-देन करते समय केवल राष्ट्रीय अर्थव्यवस्थाओं को मन में नहीं रखते। राष्ट्रीय आधार होने के बावजूद उनके हित भूमण्डलीय होते हैं और अपने गृह देश में उनके कार्यकलाप अपेक्षाकृत कम महत्वपूर्ण होते हैं। बहुराष्ट्रीय निगमों के बैंकों जैसे वित्तीय संगठन के भूमण्डलीय स्तर के तथा नई सूचना प्रौद्योगिकी से जुड़े होते हैं और उन्होंने यह संभव बना दिया है कि स्टॉक और शेयर अब मोबाइल (संचल) हो चुके हैं और वे आसानी से सीमाओं को पार कर जाते हैं। इसलिए वित्तीय विश्व अर्थव्यवस्था अब राज्य के ही नियंत्रण में नहीं रह गई। संचार तथा परिवहन के क्षेत्र में प्रौद्योगिकी प्रगति उन राष्ट्रीय बाजारों के बीच

सीमाओं का क्षरण कर रही हैं जो कि अतीत में स्वतंत्र राष्ट्रीय नीतियों के गढ़ हुआ करते थे। बाजार तथा समाज एक दूसरे के प्रति अधिकाधिक संवेदनशील होते जा रहे हैं। यद्यपि उनकी राष्ट्रीय पहचान अलग अलग होती हैं तथा अन्तर्राष्ट्रीय बाजारों में आवागमन के द्वारा उनकी मौद्रिक तथा वित्तीय नीतियाँ प्रभावित होती हैं। उदाहरण के लिए, 1937 में प्रमुख बाजार की अस्त व्यस्तता का प्रभाव अनेक देशों पर पड़ा था।

परिणामस्वरूप, राज्य के भीतर आंतरिक नीति नियामक—निवेश, रोजगार तथा राजस्व बहुराष्ट्रीय कम्पनियों की गतिविधियों तथा विश्व अर्थव्यवस्था में परिवर्तनों के कारण प्रभावित होता है। सरकारों द्वारा प्रमुख कल्याण नीतियाँ, आयात अथवा तटकर के अवरोधक (राज्य के हस्तक्षेप) उदारवाद के युग में गृह उद्योग की सुरक्षा के लिए सरकारों द्वारा इस्तेमाल में लाए जाते थे। अब उनपर अमल कर पाना अपेक्षाकृत अधिक कठिन होता जा रहा है। ऐसा इसलिए है क्योंकि राज्य की अर्थव्यवस्थाएँ अब केवल राज्य सरकारों द्वारा ही नहीं नियंत्रित होती हैं बल्कि उनके प्रबंधों पर विदेशी ताकतों जैसे ह्रास, मुद्रा स्फीति व्यापार समझौतों आदि का असर पड़ता है जो कि विश्व अर्थव्यवस्था के अंतर सम्बंधों के कारण इस प्रकार की स्थितियाँ आती हैं। हालाँकि कुछ राज्य इस स्थिति में बेहतर प्रबंध कर सकते हैं और वे विश्व अर्थव्यवस्था के क्षेत्रीयकरण के लाभ भी उठा सकते हैं और सीमाओं को भी बहाल करने में सक्षम होते हैं। उदाहरण के लिए, अमेरिका अथवा यूरोपीय संघ ने इस स्थिति का लाभ उठाया है। इस प्रकार विश्व प्रणाली के भीतर प्रवृत्तियाँ विभिन्न राज्यों पर एक जैसे प्रभाव नहीं डालती हैं बल्कि सम्प्रभुता सम्पन्न राज्य के विचार के बीच एक निश्चित कारक होता है जो कि उसके भविष्य तथा ऐसी आधुनिक अर्थव्यवस्थाओं का निर्धारण करता है जो कि अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक शक्तियों द्वारा विभिन्न क्षेत्रों में बंट जाती हैं।

7.4.2 नए अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों से चुनौतियाँ

राज्य तथा अन्तर्राष्ट्रीय प्रणाली के बीच अनेक अन्तर्राष्ट्रीय संगठन तथा सत्ता राजनीतिक संघों के नए—नए रूप उभरे हैं जो राष्ट्र के बाहर के सभी क्षेत्रों की सभी गतिविधियों, (व्यापार, समुद्र, अंतरिक्ष) का प्रबंध करते हैं तथा सामूहिक नीति समस्याओं का समाधान करते हैं। 1909 में 37 अंतर सरकारी संगठन, 176 अन्तर्राष्ट्रीय गैर सरकारी संगठन थे। 1984 तक इसकी संख्या बढ़कर क्रमशः 280 और 4615 हो गई। परिणामस्वरूप, हमारे सामने अनेक राज्यों को निर्णय प्रक्रिया में शामिल करने वाले नए—नए रूप तथा अन्तर्राष्ट्रीय दबाव समूहों के समग्र परिदृश्य देखने को मिलते हैं। अन्तर्राष्ट्रीय डाक यूनियन अथवा दूर संचार यूनियन जैसे अन्तर्राष्ट्रीय एजेन्सियाँ हैं जो काफी हद तक गैर—राजनीतिक संगठन हैं लेकिन विश्व बैंक, अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष, यूनेस्को, संयुक्त राष्ट्र जैसे अनेक अन्तर्राष्ट्रीय संगठन हैं जो बहुत अधिक राजनीतिक तथा विवादास्पद हैं तथा राज्यों के अंदरूनी मामलों में हस्तक्षेप करने के मामले में उनकी शक्ति बढ़ी है। इसलिए राष्ट्रराज्य प्रभुसत्ता की धारणा के बीच निश्चित रूप से तनाव विद्यमान रहता है जो इसके आंतरिक मामलों में तथा इसकी राजनीतिक व्यवस्था तथा अर्थव्यवस्था के प्रबंधन में हस्तक्षेप करने में सक्षम अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों के अस्तित्व से भरा हुआ है। यूरोपीय संघ अति राज्य संसा का एक ऐसा उदाहरण है जो कानून बना सकता है सजा दे सकता है नियमन कर सकता है। निर्देश दे सकता है, नीति पर अमल कर सकता है तथा सामान्य मुद्रा रख सकता है। यूरोपीय राज्यों ने अपनी आर्थिक प्रगति को बढ़ाने तथा अमेरिका और जापान की प्रतिस्पर्धा का सामना करने के उद्देश्य से इस संस्था के प्रति अपनी प्रभुसत्ता को सोच समझकर समर्पित कर दिया है। इसका तात्पर्य यह है कि प्रभुसत्ता अब अभिभाज्य, असीमित, विशिष्ट, सतत तथा एक ही राज्य में अन्तरनिहित नहीं है।

7.4.3 अन्तर्राष्ट्रीय कानून से चुनौतियाँ

अन्तर्राष्ट्रीय कानून में परिवर्तनों ने विनियमनों तथा अधिकारों तथा कर्तव्यों के नए—नए रूप लागू किए हैं जिनका राज्यों पर दबाव पड़ता है। इनके पीछे कोई जोर—जबर्दस्ती करने वाली शक्ति का समर्थन नहीं है इसके बावजूद ये इतने महत्वपूर्ण हैं कि राज्यों को उन्हें मानना पड़ता है। परम्परागत रूप से राज्य सम्प्रभुता में एक नियम यह रहा है कि व्यक्तियों तथा राज्य एजेन्सियों को ऐसी छूट होनी चाहिए कि किसी अन्य देश के न्यायालय में उनपर मुकदमा न चलाया जा सके। परन्तु हाल के वर्षों में अन्तर्राष्ट्रीय अदालतों में इन नियमों पर सवाल उठाए जा रहे हैं। राज्यों तथा अन्तर्राष्ट्रीय कानून के बीच एक ऐसा तनाव बना हुआ है जिसका विशेषकर यूरोपीय संघ के अंदर हल किया जाता है। इतना ही नहीं 1950 में मानव अधिकारों की सुरक्षा तथा बुनियादी स्वतंत्रताओं की सुरक्षा के लिए 1950 में यूरोपीय समझौता किया गया जो कि एक महत्वपूर्ण कदम था। यह मानव अधिकारों के बारे में कई घोषणापत्र जैसा नहीं है यह कुछ अधिकारों के सामूहिक परिवर्तन की दिशा में एक कदम आगे ले जाता है। एक प्रमुख अभिनव तथ्य यह है कि व्यक्ति अपनी ही सरकारों के खिलाफ कार्यवाही शुरू कर सकती है।

यूरोपीय देशों ने यह स्वीकार किया है कि उनके नागरिक मानव अधिकारों के बारे में यूरोपीय आयोग पर सीधे याचिका दाखिल कर सकते हैं जो मामलों को यूरोप के काउंसिल की मंत्री समिति के सामने तथा उसके बाद मानव अधिकारों से सम्बंध यूरोपीय अदालत में ले जा सकते हैं। इस प्रकार कोई भी राज्य अब अपनी मर्जी के अनुसार अपने नागरिकों की

मर्जी के खिलाफ व्यवहार नहीं कर सकता। एक राज्य की सदस्यता के बीच में अंतर उभरा है जोकि परम्परागत रूप से अपने नागरिकों को कुछ अधिकार तथा कर्तव्य निर्धारित करता है और न्यूरेबर्ग स्थिति अन्तर्राष्ट्रीय ट्रिब्यूनल द्वारा निर्धारित अधिकारों तथा स्वतंत्रताओं के नए रूपों में अन्तर्राष्ट्रीय कानून बना सकता है। ट्रिब्यूनल ने यह प्रावधान निर्धारित किया है कि जब बुनियादी मानवीय मूल्यों की रक्षा करने वाले अन्तर्राष्ट्रीय कानून का राज्य के कानूनों के साथ टकराव हो जाता है तो यह प्रत्येक व्यक्ति का कर्तव्य है कि वह प्रथम का अनुसरण करें। इतना ही नहीं, अन्तर्राष्ट्रीय कानून का दायरा और उसकी दिशा में भी परिवर्तन आया है। परम्परागत रूप से सम्प्रभुता संपन्न राज्यों के विचार को मानव जाति के सर्वोच्च राजनीतिक संगठन के रूप में महत्व प्रदान किया जाता था। हाल के वर्षों में अन्तर्राष्ट्रीय कानून अब राज्यों के बीच कानून के रूप में नहीं परिभाषित किया जाता है, अपितु इसे राज्यों के ऊपर एक सार्वभौम एजेन्सी के रूप में न केवल माना जाता है बल्कि सभी इसे स्वीकार करते हैं। यहाँ तक स्मरण रखना महत्वपूर्ण है कि भूमण्डलीकरण के बावजूद इसे सभी राज्य राज्य और व्यक्ति स्वीकार नहीं करते। ये उदाहरण के लिए इस्लामी कट्टरवादी आन्दोलन इसे स्वीकार नहीं करते।

अंत में एक स्वायत्त सामरिक अभिकर्ता तथा राज्यों की भूमण्डलीय प्रणाली के विकास के बीच एक विरोधाभास है जो महाशक्तियों तथा शक्ति प्रखण्डों के अस्तित्व के रूप में दिखाई पड़ता है और कभी कभी राज्य की सत्ता और अखण्डता में भीतर से कटती कार्य का संचालन करता है। नाटो और वारसा पैक्ट के अस्तित्व से विशेषकर उनकी सैनिक और विदेश नीति सम्बंधी निर्णय करने वाली शक्तियों पर दबाव पड़ सकता है। राज्यों द्वारा सशस्त्र सैनिकों के संयुक्त इस्तेमाल के बारे में "सुरक्षा का अन्तर्राष्ट्रीयकरण" भी उभरा है जिसने राज्यों के ऊपर एक ऐसी नियंत्रक संरचना का सृजन किया है जिसपर व्यक्तिगत रूप से उन राज्यों का बहुत मामूली नियंत्रण होता है।)

7.5 राज्य के आंतरिक कार्य पर भूमण्डलीकरण का प्रभाव ।

7.5.1 लोकतांत्रिक निर्णय करना

राष्ट्र-राज्यों के आंतरिक कार्य संचालन पर भूमण्डलीकरण के प्रभाव के बारे में अनेक सवाल उठाए जाते हैं। उदार राजनीतिक सिद्धान्त द्वारा एक प्रमुख सवाल उठाया जाता है जो कि लोकप्रिय सम्प्रभुता से निकट रूप से जुड़ा हुआ है और जो लोकतांत्रिक निर्णय प्रक्रिया पर भूमण्डलीकरण के बारे में है। परम्परागत रूप से उदार सिद्धान्त में यह स्वीकार किया गया कि शासकों तथा शासितों के बीच एक जैसा तथा उपयुक्त सम्बंध है। पूर्ववर्ती ने बहुसंख्यक शासन तथा जबाबदेही की अवधारणाओं पर आधारित निर्णय किए और परवर्ती ने उन्हें वैधता प्रदान की। राष्ट्र-राज्यों को अपने आप में पूर्ण इकाइयों के रूप में देखा गया और युद्ध अथवा आक्रमण की स्थिति को छोड़कर अन्य राज्यों या अन्तर्राष्ट्रीय प्रणाली में परिवर्तनों को विचार के लिए नहीं लिया गया। नव-उदारवाद के आविर्भाव से नागरिक समाज तथा प्रतिस्पर्धात्मक बाजारों के लिए और अधिक जगह पैदा करने के लिए राज्य की ओर झुकाव हुआ जोकि राष्ट्र-राज्यों के भीतर ही सीमित या घिरा हुआ नहीं है। इतना ही नहीं विश्व बैंक तथा अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष जैसी एजेन्सियों के सक्रिय हस्तक्षेप के कारण संरचनात्मक समायोजन कार्यक्रमों तथा विकास परियोजनाओं तथा व्यापार प्रतिबंधों, अनुदान, सैनिक आयातों आदि की ओर झुकाव हुआ और यह झुकाव इस हद तक हुआ कि लोकतांत्रिक निर्णय प्रक्रिया के सामने इससे गंभीर पेंचिदगियाँ पैदा हुई। परिणामस्वरूप राज्यों को अपने ही फैसलों और कार्यों पर उस तरह नियंत्रण नहीं रहा जैसा कि अतीत काल में होता था। इसका तात्पर्य यह है कि सहमति की परम्परागत अवधारणा में परिवर्तन जो कि लोकतांत्रिक सिद्धान्त का एक प्रमुख तत्व है। सामाजिक अनुबंध की पहले की धारणाएँ तथा मतपेटी के इस्तेमाल पर आधारित चुनावी लोकतंत्र जो कि मुक्त और समान व्यक्तियों के समुदाय पर आधारित लोकतंत्र की भागीदारी के ओर ले जाता है अब और अधिक वैध नहीं रह गया है। अब प्रश्न यह उठता है कि कौन-सा सार्थक समुदाय है, — स्थानीय, क्षेत्रीय, राष्ट्रीय, अन्तर्राष्ट्रीय? कौन कानून बनाता है यह वैध प्रश्न है क्योंकि अब प्रादेशिक सीमाओं को अधिक महत्वपूर्ण नहीं माना जा रहा है। इसलिए भूमण्डलीकरण में उदार लोकतंत्र में निहित स्वीकृतियों की फिर से खुलने की संभावना है। भूमण्डलीकरण के साथ-साथ उदार लोकतांत्रिक सिद्धान्त पर पुनः दृष्टिपात करने की आवश्यकता है।

7.5.2 संजातीय पुनरुत्थान

एक दूसरा मुद्दा है, भूमण्डलीकरण का सहअस्तित्व और जातीय पहचान, भाषा, जनजाति या धर्म पर आधारित स्वीकृतियाँ जो आजकल सामान्य राष्ट्रीय भावना पर आधारित सामंजस्यपूर्ण राष्ट्र-राज्य की अवधारणा पर सवाल खड़ा कर रही है कि पश्चिम में चर्च और सामंतवाद के खिलाफ या विकासशील विश्व में औपनिवेशिक शासन के खिलाफ लम्बे संघर्षों से अवधारणाओं का निर्माण हुआ। इससे पहले राष्ट्र-राज्य के साथ अपने सम्बंध तथा जातीय पहचानों की जाँच करते समय विद्वानों का विश्वास रहता था कि जातीय बंधन मौलिक थे, अर्थात् वे प्रारंभ से ही थे तथा निर्धारित थे और सार्वभौमता के सिद्धान्त के आधार पर भूमिकाओं के बढ़ते हुए आबंटन तथा आधुनिकीकरण के साथ उनके विलुप्त हो जाने की आशा थी। राष्ट्र-राज्य समय के साथ-साथ जातीय अल्पसंख्यकों की समस्या को एक करने में सक्षम हो जाएँगे और आत्मसात करने

का गुण मात्र सामाजिक सिद्धान्त नहीं रह जाएगा, अपितु राज्यों द्वारा अनुसरण किए जाते हुए नीति का लक्ष्य भी बन जाएगा। 1980 के दशक के प्रारंभ से न केवल विकासशील देशों में बल्कि कनाडा जैसे आर्थिक दृष्टि से विकसित देशों में भी जातीय आन्दोलन होने लगे। एन्डरसन जैसे विद्वानों ने यह संकेत किया कि पहचान का आविष्कार 'कल्पना' से ही जाना जा सकता है। इसका तात्पर्य यह था कि ये तथ्य अब केवल रक्त सम्बंध, भाषा और संस्कृति में ही मूल रूप से नहीं रह गए थे बल्कि सामाजिक अथवा राजनीतिक कार्यों द्वारा उनकी संरचना की जा सकती थी। इसका तात्पर्य यह था कि जातीयता तथा राष्ट्रीयता के अवधारणाओं के बीच तथा जातीय समूहों और राष्ट्र के बीच सम्बंधों में पर्याप्त परिवर्तन आ चुका है। राज्यों के अन्दर तीन प्रकार की स्वीकृतियाँ स्थान लेती हुई प्रतीत होती हैं। पहला, जो इस विश्वास पर आधारित की सांस्कृतिक पहचान तथा आर्थिक समृद्धि बनाए रखे जा सकती है अथवा वर्तमान राज्य से अलग होते हुए हासिल की जा सकती है। इसका एक सुन्दर उदाहरण पूर्ण सोवियत संघ है। दूसरा, जो यह स्वीकार करते हैं कि राष्ट्रवादी आकांक्षा बिना पूर्ण स्वतंत्र राज्य सत्ता के हासिल नहीं किए जा सकती। उदाहरण के लिए युगोस्लाविया। तीसरा, अपेक्षाकृत अधिक व्यापक कारण है जिसमें राज्य एक विशिष्ट जातीय समूहों की पर्याप्त देख रेख नहीं करता जो कि पिछड़ गया है और हासिल पर जा चुका है उदाहरण के लिए, भारत में दलित। इसलिए आज भूमण्डलीकरण पहली बड़ी ताकत है जो राज्य के सामने बुनियादी चुनौती प्रस्तुत कर रही है, जातीय पहचान का पुनः आविर्भाव और दूसरा है वे विपरीत दिशा प्रायः खिचाव डालते हैं। भूमण्डलीकरण एक भूमण्डलीय संस्कृति का प्रोत्साहन देता है जबकि जातीय पहचान स्थानीय संकीर्ण पहचानों को प्रोत्साहित करते हैं तथा 'अन्य' पर दबाव डालते हैं। इस प्रकार राष्ट्र-राज्य को बाहर से तथा भीतर से दोहरे दबाव का सामना करना पड़ता है। राष्ट्रवाद का सिद्धान्त जिसने 19वीं शताब्दी में राज्य को जन्म दिया। अब राज्यों को एक साथ बनाए रखने में सक्षम नहीं रह गया। बाह्य प्रभाव भी पहचानों को पुनर्निर्भाषित करने पर दबाव डाल सकते हैं।

7.6 सारांश

अधिकांश विद्वान डेविड हेल्ड के विचार से सहमत होंगे जो राज्य की प्रभुसत्ता के बारे में भूमण्डलीकरण के प्रभाव के बारे में संतुलित दृष्टिकोण बनाए रखने की कोशिश करते हैं वे तर्क देते हैं कि राज्य अपनी प्रभुसत्ता को नहीं खो चुके हैं जिसकी वजह से एक नई विश्व लोकतांत्रिक व्यवस्था कायम हो, न ही जॉन आस्टीन द्वारा प्रस्तुत प्रभुसत्ता का पारम्परिक सिद्धान्त छोड़ा जा सकता है। इसके बजाय यह महसूस करते हैं कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था के अंदर लोकतांत्रिक राज्य के बदलते हुए स्थान के सिद्धान्त का फारमूला तैयार करने की आवश्यकता है। हम एक ऐसी प्रणाली की ओर बढ़ रहे हैं जिसमें सत्ता एकदूसरे पर स्थानांतरित होती है और जिसमें विविध प्रकार की वफादारी होती है। अधिकारों और कर्तव्यों तथा सत्ता के ढाँचे की परस्पर विरोधी व्याख्याएँ होती हैं जिसमें कोई राज्य सर्वोच्च नहीं होता। इसमें प्रभुसत्ता केवल एक नया अदृश्य नहीं रह जाती। यह मध्यकालीन ईसाई धर्म की तरह हो जाती है जिसमें कोई भी शासक न तो सर्वोच्च होता है और नहीं अन्य से – एक नव मध्यकालीन अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था से ऊपर नहीं होता है। इसके लिए कानून तथा व्यवस्था को सुरक्षित रखने के लिए नए अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों की आवश्यकता होगी। इस प्रकार का नया 'धर्म निरपेक्ष मध्य कालवाद' ऐसी तमाम समस्याओं से ग्रस्त हो सकता है जिसमें लोकतांत्रिक राज्य परम्परागत रूप से जैसे प्रतिनिधित्व तथा जबाबदेही की अवधारणाओं के साथ कार्य करते हैं। लोकतंत्र की संस्थाओं ने इन दबावों के कारण परिवर्तन आ सकता है। अतीत की तरह ही इन राज्यों पर नागरिकों का नियंत्रण नहीं रह सकेगा। इसका एक अच्छा उदाहरण पूर्वी यूरोप के राज्य हैं जो अपने निजी मामलों पर नियंत्रण रखने की कोशिश किए हैं लेकिन अन्तर्राष्ट्रीय घटनाएँ जो उनमें बाहर हो गई हैं उनका प्रभाव पड़ा है। इस प्रकार भविष्य के लिए एक आदर्श प्रणाली यह होगी कि सम्प्रभुता सम्पन्न राज्यों को जारी रखा जाए, लेकिन साथ ही नई बहुसत्तात्मक प्रणालियों के साथ उनका सह-अस्तित्व बना रहे। आवश्यकता इस बात की है कि राज्यों के अंदर और राज्यों के बीच लोकतंत्र बना रहे। उदाहरण के लिए, अन्तर्राष्ट्रीय ताकतों के रूप में एक-दूसरे से पृथक संजाल के अंदर नेटवर्क तथा संबंध। राज्य प्रणाली के लोकतंत्रीकरण का यही तात्पर्य है, परस्पर सम्बंध राजनीतिक निर्णयों की संरचना तथा उनके परिणाम जिससे प्रत्येक एक-दूसरे को प्रभावित करें और एक दूसरे से टकराएँ तथा एक-दूसरे पर प्रभाव डाले। यह सब एक अन्तर्राष्ट्रीय नागरिक व्यवस्था तथा नागरिक समाज के अंदर विद्यमान रहने की परिकल्पना की गई है।

7.7 बोध प्रश्न

1. भूमण्डलीकरण क्या है? भूमण्डलीकरण के विभिन्न दृष्टिकोणों का विश्लेषण कीजिए।
2. राज्य सम्प्रभुता पर भूमण्डलीकरण के प्रभाव की समीक्षा कीजिए।
3. राज्य के आंतरिक कार्यों पर भूमण्डलीकरण के प्रभाव पर विचार व्यक्त कीजिए।

इकाई 8

क्षेत्रीय संघटन और राज्य

संरचना

- 8.1 प्रस्तावना
- 8.2 परिभाषा
- 8.3 संघटन के विभिन्न दृष्टिकोण
- 8.4 राज्य पर क्षेत्रीय संघटन का प्रभाव
 - 8.4.1 राज्य के स्वरूप और उसके कार्यों पर प्रभाव
 - 8.4.2 प्रभुसत्ता और क्षेत्रीय दायित्वों पर प्रभाव
- 8.5 क्षेत्रीय संघटन के स्वरूप
 - 8.5.1 पश्चिमी यूरोप का संघटन : यूरोपीय संघ
 - 8.5.2 मध्य पूर्व और अरब देशों का संघटन : अरबी लीग
 - 8.5.3 अफ्रीकी राज्यों का संघटन: अफ्रीकी एकता का संगठन
 - 8.5.4 अमेरिकी राज्यों का संघटन : अमेरिकी राज्यों का संगठन
 - 8.5.5 ऑस्ट्रेलिया, न्यूजीलैण्ड और संयुक्त राज्य का संघटन: ऑस्ट्रेलिया, न्यूजीलैण्ड और संयुक्त राज्य समझौता (1951)
 - 8.5.6 एशियाई महाद्वीप में संघटन: दक्षिण-पूर्वी एशियाई राष्ट्रों की एसोसिएशन (आसियान) तथा क्षेत्रीय सहयोग के लिए दक्षिण एशियाई एसोसिएशन (सार्क)
 - 8.5.7 एशिया प्रशान्त महासागर देशों में संघटन: (एशिया-प्रशान्त महासागर आर्थिक सहयोग (एपेक))
- 8.6 क्षेत्रीयवाद और राज्यों को सुदृढ़ बनाना
- 8.7 सारांश
- 8.8 बोध प्रश्न

8.1 प्रस्तावना

दूसरे विश्व युद्ध के बाद राष्ट्र-राज्य समुदाय के संघटन का विकास स्पष्ट और व्यापक हो गया था। जैसे जैसे अन्तर्राष्ट्रीय समुदाय के सदस्यों की संख्या बढ़ने लगी, उसी प्रकार पारस्परिक सहयोग के लिए उन्होंने परस्पर संबंध और संस्थाओं की स्थापना की। वर्तमान समय में अधिकाधिक राज्य और उनके लोगों को पारस्परिक निर्भरता का और अपनी आवश्यकताएँ एवं उद्देश्यों की पूर्ति के लिए क्षेत्रीय सहयोग स्थापना की आवश्यकता का अहसास हुआ है। इस कारण क्षेत्रीय/अन्तर्राष्ट्रीय संघटन की एक विशेष विचारधारा का विकास हुआ है। क्षेत्रीय संघटन की यह विचारधारा अति विशिष्ट महत्वपूर्ण है। यह विशिष्ट इस अर्थ में है कि एक तरफ तो विश्व राजनीति में प्रभुसत्ता संपन्न राज्यों की संख्या में वृद्धि हो रही है तो दूसरी तरफ प्रभुसत्ता सम्पन्न राज्य विकास के लिए सामूहिक कार्य करने हेतु पारस्परिक संबंध स्थापित करने और कई अधिकारों के बारे में समझौता करने की इच्छा रखते रहे। इसके परिणामस्वरूप नए राज्यों का उदय तथा पर्याप्त संख्या में सार्वभौमिक संस्थाओं तथा क्षेत्रीय कार्य-संगठनों का विकास हुआ है।

सार्वभौमिक संस्थाएँ विश्व शांति, समृद्धि तथा विकास के लिए सार्वभौमिक सहयोग करने का तथा क्षेत्रीय कार्य संगठन अपने सदस्य-राष्ट्रों के विकास के लिए क्षेत्रीय सहयोग बढ़ाने के कार्य करने में लगे रहे। इस प्रक्रिया से राज्य पर पड़ने वाले प्रभाव को समझना काफी महत्वपूर्ण है क्योंकि इस विचारधारा से राज्यों के स्वरूप, उनकी कार्य प्रणाली तथा भूमिका में कई परिवर्तन हमारे समक्ष आए।

8.2 परिभाषा

क्षेत्रीय संघटन का अर्थ है ऐसे छोटे-छोटे गैर-राजनीतिक सहयोगी संगठनों का विकास करना जो आर्थिक, तकनीकी, वैज्ञानिक, सामाजिक और सांस्कृतिक क्षेत्रों में क्षेत्रीय स्तर पर सर्वाधिक प्रभावी ढंग से स्थापित किए जाते हैं। ये ऐसे कार्य क्षेत्र हैं जिनमें राज्य अपनी राष्ट्रीय प्रभुसत्ता को जोखिम में डाले बिना पारस्परिक सहयोगी संस्थागत संबंध स्थापित कर

सकते हैं। ऐसे क्षेत्रीय कार्य संगठनों के पारस्परिक लाभ का आधार इन क्षेत्रों में विकास के वांछित उद्देश्य प्राप्त करने का उपयोगी तरीके अपनाना ऐसी सोच के प्रति बड़े अहसास ने क्षेत्रीय संघटन के प्रति एक निश्चित विचारधारा को जन्म दिया है। इतिहास के 'आधुनिक काल' में प्रभुसत्ता सम्पन्न राज्यों की संकल्पना एवं वास्तविक स्थापना राष्ट्र परिवार का निर्माण हुआ है। ऐसे में संघटन, सहयोग और अन्तर्राष्ट्रीय संबंधों के नियमन की विचारधारा ने नया स्वरूप ग्रहण किया है और यह एक बड़ी आवश्यकता भी बन गई है।

क्षेत्रीय संघटन को अन्तर राज्य संघटन के रूप में परिभाषित किया जा सकता है। यह आधुनिक बहु राज्य व्यवस्था का एक सहायक उपाय है। अपने सर्वाधिक तात्त्विक रूप में यह शब्द/घटक सहयोग करने वाले राज्यों में एक समान उद्देश्य और संस्थापन करना तथा इन उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए लागू करना – ये दोनों व्याख्याएँ प्रस्तुत करता है। दूसरे शब्दों में क्षेत्रीय संघटन का अर्थ राष्ट्र-राज्यों के संघटन की तरफ और या उसके लक्ष्य प्राप्ति की प्रक्रिया है। यह ऐसी प्रक्रिया है जिसके द्वारा राष्ट्र-राज्यों का समूह परस्पर संस्थागत सहयोग स्थापित करता है। इन राष्ट्र-राज्यों द्वारा अपने संबंधों का निर्वाह करने के लिए स्थापित ये संगठित संस्थाएँ या तंत्र प्रणालियाँ भी क्षेत्रीय संघटन के एक हिस्से का निर्माण करती हैं। ये संस्थागत तंत्र प्रणालियाँ नीतियों और कार्यों में सहयोगी निर्णय करने का साधन प्रदान करती हैं। प्रत्येक संघटित संस्था प्रत्येक सदस्य को समग्र में मिला देती हैं, उनके आंतरिक संबंधों को विनियमित करती है तथा उनके अन्तर्राष्ट्रीय व्यवहार को प्रभावित करती हैं। संपूर्ण व्यवस्था की प्रत्येक इकाई के उचित स्थान को स्वीकार करते हुए और उसका सम्मान करते हुए संघटित संस्था न केवल स्थिरता बनाए रखती हैं अपितु विकास के लिए सहयोग भी प्रदान करती हैं।

8.3 संघटन के विभिन्न दृष्टिकोण

क्षेत्रीय संघटन के वरीय पद्धतियों और दृष्टिकोणों के बारे में तीन विभिन्न प्रकार की विचार योजनाएँ हैं।

(क) संघीय विचार: संघीय विचार संप्रदाय संघटन को वैधानिक रूप से एक संस्थागत अर्थ में ग्रहण करता है। यह समूह संघटन पर एक प्रक्रिया की अपेक्षा एक लक्ष्य परिणाम के रूप में विचार करता है। यह इसे प्रभुसत्ता सम्पन्न राज्यों की राजनीतिक एकता के अर्थ में प्रस्तुत करता है। विश्व संघ के समर्थक इस विचारधारा के पक्ष से संबंधित हैं।

(ख) क्षेत्रीय संघटन का संप्रेषण रूप: संप्रेषण सिद्धान्तवादी, जैसे कार्ल डब्ल्यू ड्यूच संघटन को अन्तर्राष्ट्रीय परराष्ट्रीय आदान प्रदान की ऐसी प्रक्रिया मानते हैं जो अंततः "सुरक्षा समुदाय" या "एक संघटित सामाजिक-राजनीतिक व्यवस्था" के विकास की ओर ले जा सकती है और लेकर भी जाएगी।

(ग) क्षेत्रीय संघटन का नव कार्य सिद्धान्तवादियों का विचार: विचार का तीसरा संप्रदाय नव कार्य सिद्धान्तवादियों का है वे संघटन को एक प्रक्रिया तथा एक परिणाम दोनों के रूप में देखते हैं। वे सहयोगी निर्णय निर्माण प्रक्रिया पर जोर देने को प्राथमिकता देते हैं जो संघटन का प्रामाणिक चिह्न भी है।

ये तीनों विचारधाराएँ क्षेत्रीय संघटन की संकल्पना को एक विशिष्ट पक्ष का द्योतक है। क्षेत्रीय संघटन में संघटन प्रक्रिया, सहयोगी संबंधों को बनाने वाली संस्थाएँ तथा इन सभी संस्थाओं और उनके कार्यों के पीछे रहने वाली सहयोगी निर्णय-निर्माण प्रक्रिया शामिल है। इसे राष्ट्र-राज्यों की शांतिपूर्ण और स्वेच्छा से क्षेत्रीय, महाद्वीपीय और सार्वभौमिक रूप से संगठित संस्थाओं, या एसोसिएशनों या एजेन्सियों के समीकरण की प्रक्रिया के रूप में परिभाषित किया जा सकता है।

8.4 राज्य पर क्षेत्रीय संघटन का प्रभाव

क्षेत्रीय संघटन के बढ़ते प्रभाव का राज्य के स्वरूप, उसके कार्यों तथा कार्य प्रणाली पर पड़ने वाले प्रभाव का विश्लेषण करना बहुत महत्वपूर्ण है। यह राज्य की प्रभुसत्ता का कहाँ तक क्षय करता है? क्या राज्य अपने मूल दायित्वों को पूरा करने के लिए अखंड है या उसने इन महत्वपूर्ण तथ्यों की कुछ विशेषताओं पर समझौता किया है? आइए, हम इन प्रश्नों की समीक्षा करते हैं।

8.4.1 राज्य के स्वरूप और उसके कार्यों पर प्रभाव

मूल संघटन का राज्य के स्वरूप और कार्यों पर प्रभाव पड़ने के प्रश्नों को देखने से पूर्व यह समझना महत्वपूर्ण है कि एक राज्य का गठन/संघटन कैसे होता है। पामेर और पार्विन्स के अनुसार, "क्षेत्र अनिवार्यतः एक भूमि होती है जो तीन या अधिक राज्यों की सीमाओं से घिरी हुई होती है। ये राज्य अपने एक समान हितों तथा भौगोलिकता के कारण परस्पर संबद्ध होते हैं। यह आवश्यक नहीं है कि ये राज्य संलग्न हो या एक ही महाद्वीप में हों। अन्तर्राष्ट्रीय संबंधों में क्षेत्र का एक भौगोलिक क्षेत्र या इकाई होना आवश्यक नहीं है। क्षेत्र की संकल्पना भूमि, सेना/राजनीतिक समूह या आर्थिक समूहों या परराष्ट्रीय इकाई के रूप में की जा सकती है। एक क्षेत्र के राज्यों को या समान आवश्यकताओं या किसी विषय,

समस्या या लक्ष्य के बारे में एक समान अनुभवों वाले तथा अपेक्षित उद्देश्य/उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए किए जाने वाले उपायों की दृष्टि से राज्यों को संगठित करने की संकल्पना को क्षेत्रीयता की संकल्पना के रूप में परिभाषित किया जा सकता है। क्षेत्रीयता की संकल्पना के अंतर्गत संगठित किसी संगठन को क्षेत्रीय संगठन कहा जा सकता है। क्षेत्रीय संगठन पर आधारित क्षेत्रीय व्यवस्था किसी क्षेत्र विशेष एक समान राजनीतिक सैन्य या आर्थिक कार्य करने वाले दो या अधिक राज्यों के बीच दीर्घकालीन समझौते का परिणाम होती है। इसमें शर्त यह होती है कि प्रतिबद्धताएँ एक निश्चित क्षेत्र और विशिष्ट राज्यों तक सीमित हों, ऐसी प्रणाली या व्यवस्था निश्चित भौगोलिक क्षेत्र के कई देशों के समूह में स्थाई किस्म के संगठनों द्वारा आगे बढ़ाई जाती है। इसका कारण उन देशों की निकटता, हितों, या सांस्कृतिक, भाषाई ऐतिहासिक या आध्यात्मिक घनिष्ठता होती है जिसके लिए वे अपने बीच उठ सकने वाले किसी विवाद को शान्तिपूर्वक सुलझाने तथा अपने क्षेत्र में सुरक्षा और शान्ति बनाए रखने, तथा अपने हितों की सुरक्षा एवं आर्थिक एवं सांस्कृतिक संबंधों के विकास की सुरक्षा के लिए संयुक्त रूप से जिम्मेदार होते हैं। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि एक क्षेत्रीय व्यवस्था में (i) भौगोलिक तथ्य नितान्त आवश्यक तत्व नहीं होता, (ii) जैसे राज्यों के बीच सहयोग एवं समन्वय को बढ़ावा देने का विचार होता है जो भौगोलिक, सांस्कृतिक, आर्थिक और राजनीतिक हितों के द्वारा परस्पर संबद्ध है, (iii) ऐसी व्यवस्था एक या अनेक उद्देश्यों के साथ सैनिक या आर्थिक या राजनीतिक हो सकती है।

ऐसी अवस्था में, जहाँ स्वयं राज्य एक क्षेत्रीय समझौता करने में भागीदार है, तो प्रश्न उठता है कि इसका राज्य के स्वरूप और कार्यों पर क्या प्रभाव पड़ता है। इसका उत्तर केवल सकारात्मक ही हो सकता है, अर्थात् ऐसी व्यवस्था उनकी राष्ट्रीय प्रभुसत्ता को संकट में नहीं डालती। इतिहास के आधुनिक काल में राष्ट्र परिवार बनाने वाली प्रभुसत्ता सम्पन्न राज्यों की संकल्पना और वास्तविक स्थापना के साथ संघटन, सहयोग और अन्तर्राष्ट्रीय संबंधों के विनियम की प्रवृत्ति ने महत्वपूर्ण आवश्यकता का रूप ग्रहण कर लिया है तथा यह किसी भी रूप में राज्य के मूल स्वरूप और उसके कार्यों पर विपरीत प्रभाव नहीं डालती। चूँकि यह प्रभुसत्ता सम्पन्न राष्ट्र-राज्यों की शान्ति और एकीकरण की आत्म इच्छित प्रक्रिया है। अतः यह राज्यों की अपनी पहचान बनाए रखने में सुरक्षा प्रदान करती है तथा साथ ही राज्य का स्वरूप एवं उसके कार्यों को किसी भी तरह प्रभावित किए बिना संघटन और सहयोग के लाभ भी प्रदान करती है।

8.4.2 प्रभुसत्ता और क्षेत्रीय दायित्वों पर प्रभाव

आज राजनीतिज्ञों से यह घिसा-पिटा जबाब सुनने को मिलता है कि वे किसी राष्ट्रराज्य को निर्धारित करने वाले अनेक घटकों पर नियंत्रण नहीं रख सकते हैं। प्रायः यह कहा जाता है कि अन्तर्राष्ट्रीय ताकतें किसी राज्य के लिए कोई विशिष्ट राष्ट्रीय नीति का पालन करना सीमित या असंभव कर देती हैं। यदि इन दावों की सच्चाई को एक क्षण के लिए छोड़ भी दें तो हमें वैध प्रभुसत्ता और वास्तविक प्रभुसत्ता में पहले प्रस्तुत किए गए अंतर या हम कह सकते हैं कि प्रभुसत्ता और स्वायत्ता के बीच के अंतर को याद रखना उपयोगी होगा। यह अंतर कभी-कभी राज्य द्वारा वैध प्रभुसत्ता के अभाव में हमारी समस्याओं को राजनीतिक और आर्थिक स्वायत्तता समाप्त होने पर पैदा होने वाली समस्याओं से अलग करने के लिए किया जाता है। आगे हम जाँच करेंगे कि क्षेत्रीय संघटन और उससे पैदा होने वाले दायित्व कहाँ तक राज्य की प्रभुसत्ता : को क्षय करते हैं जैसा कि वैधानिक अर्थ में या स्वायत्तता समाप्त होने के अर्थ में समझा जाता है।

प्रमुख शक्तियों और शक्तिशाली गुटों से युक्त राज्यों की भूमंडलीय व्यवस्था के विकास के साथ अनेक क्षेत्रीय संगठनों के प्रादुर्भाव से उनका संचालन कभी-कभी राज्य के अधिकार और अखंडता को कम कर देता है। विश्व शक्ति के रूप में संयुक्त राज्य अमेरिका और फिर सोवियत संघ के आधिपत्य से और फिर उत्तरी अटलांटिक संधि संगठन (नाटो) के गठबंधन तथा वारसा पैक्ट के कारण अनेक राष्ट्रों के लिए स्पष्ट निर्णय लेना कठिन हो गया है। किसी राज्य की विशिष्ट विदेश नीतियाँ अपनाने, कुछ सामरिक विषयों पर जोर देने, वैकल्पिक सैन्य तकनीकों में से चुनाव करने तथा अपने बड़े क्षेत्र में स्थित किसी शस्त्र प्रणाली को नियंत्रित करने की क्षमता शक्ति संबंधों में अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था में उसकी हैसियत के कारण प्रतिबंधित हो जाती है। इस तथ्य को उदघाटित करने के लिए नाटो का उदाहरण देखिए। नाटो की चिन्ता सामूहिक सुरक्षा की है जिसने एक तरफ तो प्रभुसत्ता सम्पन्न राज्यों का संगठन बनाए रखने (जो सिद्धान्ततः किसी सदस्य राज्य को उचित निर्णय होने पर कार्रवाई नहीं करने देता) और दूसरी तरफ एक अन्तर्राष्ट्रीय संगठन विकसित कर रहा है जो यदि वैधानिक नहीं है तो भी अपने तर्क और निर्णय निर्माण प्रक्रियाओं के अनुसार कार्य करने के बीच स्पष्ट विभाजन रेखा खींचता है। एक राष्ट्र राज्य की प्रभुसत्ता आवश्यक है और एक बार इसका निर्णय हो जाए तो यह क्षेत्रीय संगठन में शामिल हो सकता है।

लेकिन ऐसी प्रतिबद्धता के बिना भी राज्य की प्रभुसत्ता एवं स्वायत्तता को सीमित एवं नियंत्रित किया जा सकता है यह अपेक्षाकृत बड़े क्षेत्रीय नीतिगत ढाँचे में कार्य करने के लिए राष्ट्रीय नीतियों के संघटन वाले क्षेत्रीय संगठन के दैनिक कार्यों पर लागू होता है। इस प्रकार क्षेत्रीय दायित्व स्वतः ही राज्य की स्वायत्तता को सीमित कर देते हैं। इस प्रकार क्षेत्रीय संघटन पर आधारित ऐसी व्यवस्थाएँ अनौपचारिक लेकिन अधिकार में संपूर्ण उच्च सरकारी कार्मिकों का नेटवर्क स्थापित

करने या दायित्व और नियंत्रण की राष्ट्रीय तंत्र प्रणाली से निगरानी करने में कठिन साझेदारी की स्थापना करती हैं। इसके अतिरिक्त क्षेत्रीय संगठनों के सदस्य कई बार दुर्लभ संसाधनों, शस्त्र समझौतों, अन्तर्राष्ट्रीय हैसियत प्राप्त करने और राष्ट्रीय प्रगति के अन्य साधनों की प्रतिस्पर्धा के लिए प्रतिद्वंद्वी भी बन जाते हैं।

कई बार प्रभुसत्ता सम्पन्न राष्ट्र अपने राष्ट्रीय हितों का ध्यान करते हुए अपने निर्णय निर्माण पर जोर देने तथा प्रभुसत्ता सम्पन्न राज्यों की क्षेत्रीय संस्थाओं का सदस्य होने पर ऐसी संस्थाओं की अपेक्षाओं के बीच ऐसे राष्ट्र की प्रभुसत्ता पर गंभीर प्रश्न खड़े हो जाते हैं। इस तथ्य को सिद्ध करने के लिए हम यूरोपीय समुदाय का उदाहरण देते हैं। यूरोपीय समुदाय के सदस्य राज्य अपने राज्य की परिधि में अब अकेले ही शक्ति के केन्द्र नहीं हैं। जबकि दूसरी तरफ, यह जानना भी महत्वपूर्ण है कि किसी यूरोपीय राज्य के संदर्भ में विचार किया जाए तो यूरोपीय समुदाय के भी अधिकार सीमित हैं। जैसे समुदाय अपने आप सेना, पुलिस बल और प्रत्यक्ष कानून लागू करने वाली अन्य संस्थाओं के अधिकार ग्रहण नहीं कर सकता। समुदाय अपने अधिकार सदस्य राज्यों द्वारा प्रभुसत्ता के स्वेच्छया समर्पण से प्राप्त करता है। यह समर्पण एक तरफ द्वितीय विश्व युद्ध के बाद पहले तीन दशकों तक संयुक्त राज्य अमेरिका को तथा दूसरी तरफ जापानी अर्थव्यवस्था की प्रगति से उत्पन्न चुनौती के प्रति है। हॉपमैन ने इसे इस प्रकार प्रस्तुत किया है, "आज राष्ट्र राज्य जीवित है तो भी इसकी कुछ शक्ति दूसरों के साथ सम्मिलित हो गई है, और प्रत्यक्षतः प्रभुसत्ता के कुछ निर्णय महत्वपूर्ण रूप से बाधित हैं या वे दूसरों के निर्णयों के द्वारा अथवा किसी के भी नियंत्रण से बाहर आर्थिक प्रवृत्तियों के द्वारा प्रभावहीन बना दिए जाते हैं। यूरोपीय समुदाय कुछ भावी स्थितियाँ बनाने और अनेक प्रकार के प्रतिफल प्रदान करने वाले राज्य को बनाए रखने में सहायता प्रदान करता है। यह अपने देश में और विदेश में कार्य करने की राष्ट्र-राज्य की क्षमता को मजबूती प्रदान करता है।"

संक्षेप में, वैध प्रभुसत्ता का विचार विशेषतः दंडात्मक अधिकारों का प्रयोग करने में राज्य की क्षमता के बारे में अक्षुण्ण रहता है। फिर भी राज्यों का संचालन हमेशा ही एक जटिल अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था है जो उनकी स्वायत्तता को सीमित और प्रभुसत्ता का उल्लंघन करती है, प्रभुसत्ता की उन परम्पराओं की स्पष्टता को कम करती है जो एफ हॉब्स से और दूसरी तरफ रूसों के अनुरूप है ये प्रभुसत्ता के राजनीतिक अधिकार का असीम और अविभाज्य के रूप में व्याख्या करते हैं। इसके अतिरिक्त, यदि प्रभुसत्ता जैसी की संकल्पना है जो विश्लेषणात्मक और आदर्श शक्ति-अंतिम निर्णय लेने, और निश्चित समुदाय में कानून बनाने और लागू करने की वैधानिक क्षमता के रूप में रखा जाए तो इस पर अनेक एजेंसियों में विभाजित करने तथा इसकी रक्षा करने वाली और इस बहुलता की प्रकृति नियमों और प्रक्रियाओं के द्वारा सीमित करने पर भी विचार करना होगा। ऐसा ही विचार लोकेन की राजनीतिक समुदाय की संकल्पना में निहित है और राजनीति के विश्लेषण की परम्पराओं का केन्द्र है जो किसी राज्य या समाज की प्रभुसत्ता को न तो निर्धारित करता है और न ही कम करता है। फिर भी आज जहाँ राज्य स्थित है उसकी नई अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियों में आगे विस्तार की आवश्यकता होती है। यह कार्य आधुनिक राजनीतिक सिद्धान्त ने पहले ही आरंभ कर दिया है।

8.5 क्षेत्रीय संघटन के स्वरूप

विश्व के विभिन्न महाद्वीपों में क्षेत्रीय संघटन की संकल्पना के साथ कई प्रयोग किए गए हैं और इस प्रकार पश्चिमी यूरोप में जिसे यूरोपीय संघ के नाम से जाना जाता है, क्षेत्रीय संघटन के मुख्यतः सर्वाधिक सफल स्वरूप से आरंभ होकर हमारे पास अनेक स्वरूप हैं। इस प्रकार विश्व के प्रत्येक महत्वपूर्ण क्षेत्र में क्षेत्रीय संघटन का लगभग एक ऐसा स्वरूप स्थित है। विश्व के विभिन्न भागों में राज्यों के क्षेत्रीय संघटन के सर्वाधिक सफल और प्रसिद्ध उदाहरण नीचे दिए गए हैं।

8.5.1 पश्चिमी यूरोप का संघटन : यूरोपीय संघ

संघटन की संकल्पना अत्यधिक सफलतापूर्वक एवं फलदायक रूप से पश्चिमी यूरोप में अजमाई जा चुकी है। अपने आर्थिक और औद्योगिक नीतियों और निर्णयों के संगठित, संस्थागत और व्यवस्थित सहयोग एवं समन्वय के माध्यम से पश्चिमी यूरोप के राज्यों ने सफलतापूर्वक न केवल 1914-45 के बीच में हुई भारी क्षति को न केवल सफलतापूर्वक पूरा किया है अपितु अपनी अर्थव्यवस्था का भी भरपूर विकास किया है। पश्चिमी यूरोपीय संघटन विशेषतः पश्चिमी यूरोपीय राज्यों के आर्थिक संघटन ने शेष विश्व के लिए अनुकरणीय उदाहरण प्रस्तुत किया है।

i) पश्चिमी यूरोपीय संघटन का स्वरूप एवं संस्थाएँ

पश्चिमी यूरोपीय संघटन के त्रिआयामी क्षेत्र रहे हैं: राजनीतिक, सैन्य एवं आर्थिक, फिर भी वास्तव में आर्थिक संघटन ही खरा उतरा है और उसने एक समुदाय के रूप में पश्चिमी यूरोपीय अब राज्यों की सहायता की है। आइए हम राजनीतिक और सैन्य संघटन की संक्षिप्त जाँच करें और पश्चिमी यूरोप के आर्थिक संघटन की विस्तृत चर्चा के साथ इसको समझे।

ii) पश्चिमी यूरोप का राजनीतिक संघटन

शक्ति क्षति के कारण यूरोप में शक्ति शून्य की स्थिति हो गई थी। जिससे महाद्वीप के सभी राज्य पीड़ित थे। इसलिए यूरोपीय राज्य के नेताओं के लिए अन्तर्राष्ट्रीय संबंधों के पूर्व शक्ति केन्द्र में अपने प्रभाव क्षेत्र को बढ़ाने आरंभ किए गए। सोवियत संघ (USSR) और संयुक्त राज्य अमेरिका (USA) के प्रयासों के विरुद्ध एक प्रभावशाली उपाय के रूप में यूरोप के नेताओं के लिए राजनीतिक संघटन की बात सोचना अनिवार्य हो गया था। सोवियत संघ द्वारा पश्चिमी यूरोपीय राज्यों को समाजवादी व्यवस्था में बदलने की सफलता ने उन्हें सोवियत संघ की कठपुतली बना दिया था जिससे वे स्वेच्छा और समान साँझे राजनीतिक संघटन के माध्यम से अपनी पहचान सुरक्षित रखने की आवश्यकता के पूर्ति और अधिक सचेत हो गए थे।

यूरोप “संघबद्ध हो या नष्ट हो” का विचार पश्चिमी यूरोपीय राष्ट्रों में काफी लोकप्रिय विचारधारा थी। आरंभ हुए अनेक आन्दोलन यूरोपीय एकता को बनाए रखने के लिए प्रतिबद्ध थे। इस विचार को ध्यान में रखते हुए उन्होंने अपनी गतिविधियों के सहयोग से यूरोपीय एकता के लिए अन्तर्राष्ट्रीय समिति का गठन किया। 1948 में हेंग में इस समिति का एक सम्मेलन हुआ तथा ब्रुसेल्स ताकतों – ब्रिटेन, फ्रांस, बेल्जियम, नीदरलैंड और लक्जमबर्ग को यूरोपीय एकता और यूरोपीय सभा स्थापित करने का कार्य करने को कहा गया। अनुवर्ती कार्य के द्वारा यूरोपीय परिषद की स्थापना हुई।

iii) यूरोपीय परिषद (1949)

ब्रुसेल्स शक्तियों के राजनेताओं की लम्बी चर्चा के बाद सदस्य राज्यों की नीतियों में समन्वय स्थापित करने के लिए बनाए गए एक अंतः सरकारी संगठन के रूप में यूरोपीय परिषद स्थापित करने पर सहमति हुई। मार्च 1949 में यूरोपीय परिषद का संविधान बनाने के लिए 10 राष्ट्रों के प्रतिनिधियों (ब्रुसेल्स ताकतें तथा साथ में डेनमार्क, आयरलैंड, इटली, नार्वे तथा स्वीडन) का सम्मेलन हुआ। 5 मई 1949 को इन 10 राष्ट्रों ने इस संविधान पर हस्ताक्षर किए तथा यूरोपीय परिषद की स्थापना हुई। बाद में 1950 में तुर्की और यूनान 1951 में आइसलैंड और पश्चिमी जर्मनी, 1956 में ऑस्ट्रेलिया तथा 1961 में साइप्रस इस परिषद के सदस्य बन गए तथा इसे पश्चिमी यूरोपीय राज्यों की व्यापक प्रतिनिधि संस्था बना दिया।

परिषद के उद्देश्यों और लक्ष्यों में पूरी तरह स्पष्ट कर दिया गया है कि रक्षा से संबंधित मामले परिषद के कार्यक्षेत्र में नहीं आते। इसका मुख्य उद्देश्य सामान्य विरासत – उनके आदर्शों और सिद्धान्तों की सुरक्षा और अनुभव के लिए इसके सदस्यों में गहन एकता स्थापित करना तथा उनकी आर्थिक और सामाजिक उन्नति करना था। यह उद्देश्य सामान्य विषयों पर चर्चा करने तथा आर्थिक, अन्तर्राष्ट्रीय, सांस्कृतिक, वैज्ञानिक, वैधानिक और प्रशासनिक मामलों में समझौते और सांझी कार्रवाई के द्वारा तथा मानव अधिकारों और मौलिक स्वतंत्रताओं को बनाए रखने तथा लागू करने के द्वारा पूरा किया जाना चाहिए। यद्यपि यूरोपीय परिषद की कार्य प्रणाली अपने मुख्य उद्देश्य – पश्चिमी यूरोप की राजनीतिक एकता की दिशा में वांछित परिणाम प्रस्तुत करने में असफल रही।

iv) पश्चिमी यूरोप की सुरक्षा/सैन्य संघटन

अपनी रक्षा/सुरक्षा आवश्यकताओं के लिए संयुक्त राज्य अमेरिका पर अपनी निर्भरता कम करने के लिए पश्चिम यूरोपीय राज्यों ने कई औपचारिक सुरक्षा प्रबंध या संगठनों की स्थापना का निर्णय लिया। इनमें से कुछ महत्वपूर्ण इस प्रकार हैं डनकिर्क संधि, 1947, ब्रुसेल्स संधि 1948, उत्तर एटलांटिक संधि संगठन (नाटो) 1949, यूरोपीय सुरक्षा समुदाय 1952, पश्चिमी यूरोपीय संघ 1955। ये सभी संस्थाएँ पश्चिमी यूरोप की सुरक्षा संकल्पना को बढ़ावा देने में व्यस्त थे।

v) पश्चिमी यूरोप का आर्थिक संघटन

युद्ध के बाद सर्वाधिक आश्चर्यजनक सफल विकास था पश्चिमी यूरोप का आर्थिक संघटन। कई सुसंगठित आर्थिक संस्थाओं के माध्यम से पश्चिमी यूरोपीय राज्य ने अत्यधिक सफलतापूर्वक अपनी आर्थिक विकास आवश्यकताएँ एवं कार्यक्रमों को पूरा किया। निम्नलिखित संस्थाओं ने शीघ्र आर्थिक क्षतिपूर्ति एवं विकास करने में पश्चिमी यूरोपीय राष्ट्रों की व्यापक सहायता की।

यूरोपीय आर्थिक सहयोग संगठन मूलतः ऐसे देशों के बीच सलाह को बढ़ावा देने में लगा था जो यूरोपीय आर्थिक सहयोग विशेषतः व्यापार, अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान और श्रम संचालन के मामलों के लिए उपायों पर विचार करने तथा आवश्यक तंत्र प्रणाली स्थापित करना चाहते थे। आर्थिक सहयोग और विकास संगठन को तीन मुख्य कार्य सौंपे गए (i) सदस्य देशों में उच्चतम आर्थिक प्रगति और रोजगार तथा जीवन स्तर को बढ़ाना (ii) सदस्य राष्ट्रों की तरह आर्थिक विकास प्रक्रिया में गैर सदस्य देशों के महत्वपूर्ण आर्थिक विकास में योगदान करना और (iii) विश्व व्यापार विस्तार के लिए कार्य करना। बेनीलक्स देशों (बेल्जियम, नीदरलैंड और लक्जमबर्ग) के आर्थिक संघटन के लिए उपयोगी साधन रहा हो, इसने इन तीन

देशों में आर्थिक विकास और राजनीतिक और सांस्कृतिक सहयोग को बढ़ावा देने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। यूरोपीय समुदाय मुख्यतः तीन समुदायों से मिलकर बना है जो हैं (i) यूरोपीय कोयल और इस्पात समुदाय तथा (ii) यूरोपीय आर्थिक समुदाय या यूरोपीय कॉमन मार्केट तथा (iii) यूरोपीय आण्विक ऊर्जा समुदाय। 1967 तक इन समुदायों की स्वतंत्र संगठनात्मक संरचना थी लेकिन इसके बाद में यूरोपीय आयोग यह यूरोपीय संघ में शामिल हो गए। जैसा कि पहले वर्णन किया गया है कि यूरोपीय संघ का कई वर्षों बाद एक संघटित आर्थिक आधार के साथ विकसित आर्थिक समुदाय के रूप में उदय हुआ। अब इसकी एक ही मुद्रा यूरो और एक ही बैंकिंग यूनिन है। यह यूरोपीय समुदाय के विद्यमान आर्थिक संघटन के साथ महत्वपूर्ण राजनीतिक संघटन, संपूरक बनने का भी प्रयास कर रहा है। आज तक यूरोपीय संघ क्षेत्रीय संघटन का सर्वोत्तम उदाहरण है।

8.5.2 मध्य पूर्व और अरब देशों का संघटन : अरब लीग

अरब लीग को सर्वाधिक व्यापक गैर-पश्चिमी क्षेत्रीय संघटन के रूप में परिभाषित किया जा सकता है। इसकी स्थापना 1945 में हुई तब मिश्र, ईराक, जोर्डन, लेबनान, सऊदी अरब, सीरिया और यमन ने इसकी स्थापना के लिए समझौते पर हस्ताक्षर किए। बाद में, अल्जीरिया, कुवैत, लीबिया, मोरक्को, सूडान तथा यूनीशिया भी इसमें शामिल हो गए।

जैसा कि अरब राज्यों की लीग के समझौते में कहा गया है, कि अरब लीग के प्राथमिक उद्देश्य सदस्य राज्यों के बीच संबंधों को मजबूत करना, उनके बीच सहयोग स्थापित करने के लिए, उनकी नीतियों में समन्वय करना तथा उनकी स्वतंत्रता और प्रभुसत्ता को सुरक्षित रखना है। समझौते में सदस्य राज्यों के बीच आर्थिक और वित्तीय मामलों, संचार, सांस्कृतिक मामलों, राष्ट्रीयता और संबंधित मामलों, सामाजिक मामलों तथा स्वास्थ्य समस्याओं में सहयोग को विशेष रूप से उद्धृत किया गया है।

अपनी स्थापना से ही अरब लीग ने सदस्यों के बीच तथा विश्व के अन्य देशों के बीच राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक संबंधों को सुधारने और मार्ग दर्शन में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। इसने सदस्य राज्यों के बीच कई महत्वपूर्ण आर्थिक व्यापारिक और सांस्कृतिक सहयोग के समझौते किए हैं तथा उन्हें पूरे किए हैं। यह अरबों की एकता बनाने के लिए महत्वपूर्ण भूमिका निभाता रहा है। इसने 1986 में लीबिया पर संयुक्त राज्य के आक्रमण के समय अपनी एकता प्रकट की। फिर भी, आज तक यह अरबों की एकता को घोषित लक्ष्य को प्राप्त करने में पूरी तरह सफल नहीं हुआ है। फिर भी यह क्षेत्रीय संघटन का एक स्वीकृत मामला है।

8.5.3 अफ्रीकी राज्यों का संघटन : अफ्रीकी एकता का संगठन

अफ्रीकी एकता संगठन अफ्रीका में क्षेत्रीय संघटन का सर्वाधिक महत्वपूर्ण और व्यापक उदाहरण है। इसका घोषणा-पत्र मई 1963 में तीस अफ्रीकी राज्यों के राष्ट्राध्यक्षों एवं विदेश मंत्रियों की अदीस अबाबा में हुए सम्मेलन में स्वीकृत किया गया था। मूलतः इसके 32 सदस्य थे लेकिन आज इसकी संख्या लगभग दो गुनी हो गई है।

अफ्रीकी एकता संगठन के घोषणा-पत्र के अनुसार संगठन का उद्देश्य अफ्रीकी राज्यों की एकता और प्रभुसत्ता में वृद्धि करने के अलावा, उनकी प्रभुसत्ता, क्षेत्रीय संघटन और स्वतंत्रता की रक्षा करना है। इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए घोषणा-पत्र सदस्य राज्यों से अपनी नीतियों में समन्वय और सामंजस्य की माँग करता है। अफ्रीका से उपनिवेशवाद के सभी रूपों का उन्मूलन करना तथा संयुक्त राष्ट्र तथा मानव अधिकारों के सार्वभौमिक घोषणा-पत्र के अनुसार अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग को बढ़ावा देना इस संगठन के अन्य उद्देश्य थे।

वास्तव में अफ्रीकी एकता संगठन एक अफ्रीकी संगठन है जो इसके सदस्यों के हितों में वृद्धि करने के लिए बनाया गया है। चूंकि इसके अधिकतर सदस्य अफ्रीकी राज्य हैं अतः इसे महाद्वीपीय क्षेत्रीय संघटन कहा जा सकता है। यद्यपि अफ्रीकी राज्यों का इसके उद्देश्यों को पूरा समर्थन प्राप्त है, तो भी यह संगठन मजबूत, संगठित और दक्ष क्षेत्रीय व्यवस्था के रूप में कार्य करने में असफल रहा है। वास्तव में यह प्रभुसत्ता सम्पन्न राज्यों की एक कमजोर संस्था बन कर रह गया। इसने सीमित कार्य किए हैं तथा सदस्यों के बीच निरंतर राष्ट्रीय प्रतिद्वन्द्वता के कारण यह कमजोर रहा है। लेकिन इसके साथ यह भी स्वीकार करना होगा कि अफ्रीकी एकता संगठन ने अफ्रीकी राज्यों को उपनिवेशवाद के विरुद्ध एवं पारस्परिक विकास के लिए अफ्रीकी एकता तथा संगठनात्मकता की आवश्यकता से अच्छी तरह अवगत करा दिया। इसने अफ्रीकी राज्यों को कई महत्वपूर्ण अन्तर्राष्ट्रीय विषयों और समस्याओं के संदर्भ में संयुक्त राष्ट्र में एक इकाई की तरह व्यवहार करने के लिए सफलतापूर्वक तैयार कर दिया।

8.5.4 अमेरिकी राज्यों का संघटन : अमेरिकी राज्यों का संगठन

तीन मौलिक कारणों से अमेरिकी राज्यों के संगठन की तरफ विशेष ध्यान जाता है। पहला यह है कि यह क्षेत्रीय संगठन का विद्यमान सबसे अधिक प्राचीन एवं बृहत्तम उदाहरण है। दूसरा इसकी संरचना अधिक राष्ट्रीय नहीं अपितु संघीय है।

इसलिए यह व्यवस्था बदलते समय के अनुसार विकसित एवं परिवर्तित होती रही है। अमेरिकी राज्यों के संगठन की उत्पत्ति पीछे 1889 में ढूँढा जा सकता है जब प्रथम पैन-अमेरिकी सम्मेलन आयोजित किया गया था। तबसे और विशेषतः 1948 से अमेरिकी राज्यों के संगठन धीरे-धीरे विकसित होते होते क्षेत्रीय संघटन का व्यापक उदाहरण बन गया। इसके संचालन का क्षेत्र अमेरिकी महाद्वीप तक सीमित है।

अमेरिकी राज्यों के संगठन के सदस्य राज्यों के बीच सहयोग और सांझेवारी को बढ़ावा देने के साथ-सा क्षेत्र में शान्ति और स्थिरता की सामूहिक सुरक्षा देने के लिए भी कार्य करता है। इसका दायित्व अंतः अमेरिकी विवादों को शान्तिपूर्वक ढंग से सुलझाने का है। यह संगठन इस सिद्धान्त के आधार पर क्षेत्रीय सुरक्षा व्यवस्था का संचालन भी करता है कि, किसी भी अमेरिकी राज्य पर किया गया शस्त्र आक्रमण सभी अमेरिकी राज्यों के विरुद्ध आक्रमण समझा जाएगा और इस प्रकार अमेरिकी राज्यों के संगठन के सभी राज्य इसमें हिस्सा लेंगे।

अमेरिकी राज्यों के संगठन अमेरिकी राज्यों में क्षेत्रीय संघटन लागू करने का प्रभावशाली साधन रहा है। इसने सदस्य राज्यों को अपने पारस्परिक विवाद शान्तिपूर्वक ढंग से सुलझाने में सहायता प्रदान की है। यह सदस्यों के लिए आर्थिक विकास और सुरक्षा का एक साधन रहा है। इसकी कार्य प्रणाली में संयुक्त राज्य अमेरिका की महत्वपूर्ण भूमिका रही है।

8.5.5 ऑस्ट्रेलिया, न्यूजीलैण्ड और संयुक्त राज्यों का संघटन : ऑस्ट्रेलिया, न्यूजीलैण्ड और संयुक्त राज्य समझौता 1951

क्षेत्रीय संघटन का यह एक और मामला है जिसमें ऑस्ट्रेलिया और न्यूजीलैण्ड ने सामूहिक सुरक्षा तथा प्रशान्त महासागर क्षेत्र में शान्ति रखने के लिए अपने सामूहिक प्रयत्नों के समन्वय हेतु 1951 में अमेरिका के साथ समझौता किया। संधि के अनुच्छेद 4 के अंतर्गत कहा गया है कि प्रत्येक पक्ष यह मानता है कि प्रशान्त महासागर क्षेत्र में किसी भी सदस्य पर किया गया शस्त्र हमला इसकी शान्ति और सुरक्षा के लिए खतरा होगा। इसमें घोषणा है कि इसकी संवैधानिक प्रक्रियाओं के अनुसार इसे सांझा खतरा मानकर इससे निपटा जाएगा। किसी एक राज्य पर शस्त्र आक्रमण सभी राज्यों पर आक्रमण माना जाएगा और सामूहिक फौज द्वारा मुकाबला किया जाएगा। मुख्यतः यह एक रक्षात्मक प्रबंध था जिसके माध्यम से संयुक्त राज्य अमेरिका प्रशान्त महासागर क्षेत्र में कम्युनिस्ट खतरे का सामना करना चाहता था जबकि ऑस्ट्रेलिया और न्यूजीलैण्ड का मानना था कि यह पुनः उन्नत एवं शस्त्र युक्त जापान के हमले की संभावना को रोकेगा।

8.5.6 एशियाई महाद्वीप में संघटन: दक्षिण-पूर्वी एशियाई राष्ट्रों की एसोसिएशन (आसियान) तथा क्षेत्रीय सहयोग के लिए दक्षिण एशियाई एसोसिएशन (सार्क)

दक्षिण-पूर्वी एशियाई राष्ट्रों की एसोसिएशन (आसियान)

वियतनाम में संकट, वियतनाम में संयुक्त सज्य की साम्राज्यवादी भूमिका, कंपूचिया, इंडोनेशिया, लाओस और बर्मा में राजनीतिक संकट तथा पारस्परिक प्रयासों के माध्यम से विकास की आवश्यकता के अनुभव ने एक क्षेत्रीय आर्थिक एसोसिएशन स्थापित करने दक्षिण-पूर्वी एशियाई देशों को प्रेरित किया। 1967 में इंडोनेशिया, मलेशिया, फिलीपींस, सिंगापुर और थाईलैण्ड ने आसियान की स्थापना की। 1984 में बुनई, 1995 में वियतनाम और जुलाई 1997 में लाओस तथा म्यांमार इसमें शामिल हुए। तथा 1999 में कंपूचिया आसियान में शामिल हुआ। भारत, जापान और चीन आसियान के संवाद सदस्य थे। भारत इस क्षेत्रीय कार्यकारी संगठन का संपूर्ण सदस्य बनना चाहता है।

आसियान दक्षिण-पूर्वी एशियाई राज्यों की असेन्य और रक्षा विषयों से असम्बद्ध आर्थिक और सांस्कृतिक एसोसिएशन है। यह एक क्षेत्र में गहन एवं संघटित तरीके से आर्थिक उद्देश्यों को पूरा करने में लगा क्षेत्रीय संघटन का सही उदाहरण है। इसके मुख्य उद्देश्य हैं— (i) इस क्षेत्र में आर्थिक वृद्धि, सांस्कृतिक विकास एवं सामाजिक प्रगति करना, (ii) क्षेत्रीय शान्ति और स्थिरता को बढ़ावा देना, (iii) विभिन्न क्षेत्रों में सांझे विषयों के बारे में सक्रिय सहयोग एवं पारस्परिक सहायता को बढ़ावा देना (iv) अपनी अपनी जनता को प्रशिक्षण एवं अनुसंधान संबंधी सुविधाएँ प्रदान करने के लिए परस्पर सहयोग एवं सहायता प्रदान करना (v) दक्षिण-पूर्व एशियाई अध्ययन को बढ़ावा देना (vi) कृषि, व्यापार एवं उद्योग में विकास के लिए सहयोग करना और (vii) एक जैसे उद्देश्य एवं लक्ष्य के लिए विद्यमान अन्तर्राष्ट्रीय एवं क्षेत्रीय संगठनों के बीच निकट एवं लाभदायक सहयोग बनाना।

अपने सदस्यों के विकास हेतु सामाजिक-आर्थिक सहयोग को बढ़ावा देने के लिए एक क्षेत्रीय एसोसिएशन के रूप में आसियान ने 8 अगस्त 2002 को अपनी स्थापना के 35 वर्ष पूरे किए हैं। यह अपने सदस्यों के विकास के लिए सामाजिक-आर्थिक सहयोग को बढ़ावा देने के लिए एक मजबूत एवं संघटित क्षेत्रीय एसोसिएशन के रूप में स्थापित होने का प्रयास कर रही है। इसने अपने सदस्यों को लगभग 7 से 8 प्रतिशत तक आर्थिक विकास दर प्राप्त करने में सक्षम बनाया है। अब यह दक्षिण-पूर्वी एशिया और इंडो-चीन क्षेत्रों में विकास के लिए एक गहन कार्यक्रम आयोजित

करने के लिए आधारभूत संरचना को मजबूत करने का प्रयास कर रही है। यह बढ़ती हुई प्रतिस्पर्धा एवं भूमण्डलीकरण के जमाने में अग्रणी होने और बने रहने के लिए गंभीर प्रयास कर रही है। अब यह वर्ष 2003 तक आसियान मुक्त व्यापार क्षेत्र बनाने के लिए गहन परिश्रम कर रही है। वास्तव में आसियान क्षेत्रीय संघटन का महत्वपूर्ण उदाहरण सिद्ध हुआ है। वर्तमान में यह सदस्य देशों के बीच विकास के लिए क्षेत्रीय सहयोग की महत्वपूर्ण, सक्रिय एवं उपयोगी एजेन्सी के रूप में विकसित हो रही है।

क्षेत्रीय सहयोग के लिए दक्षिण एशियाई एसोसिएशन (सार्क)

जब एशिया महाद्वीप के दक्षिण-पूर्वी क्षेत्र में आसियान फल-फूल रहा था तब लगभग आसियान के अनुरूप दक्षिण एशिया में एक अन्य क्षेत्रीय मंच का प्रादुर्भाव हुआ। दक्षिण एशियाई देशों की इस क्षेत्रीय एसोसिएशन को सार्क के नाम से जाना जाता है। दक्षिण क्षेत्रीय के सात देशों अर्थात् भारत, पाकिस्तान, बांग्लादेश, श्रीलंका, नेपाल, भूटान और मालदीव देश सदस्यों में आर्थिक और सांस्कृतिक सहयोग को बढ़ावा देने के लिए एक एजेंसी या संस्था के रूप में कार्य करने के लिए आसियान के अनुरूप एक क्षेत्रीय मंच बनाने के लिए संबद्ध हुए।

इसके उद्देश्य हैं : (i) सदस्य देशों में सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक और तकनीकी सहयोग का विकास करना, (ii) इसने घोषणा की कि कार्य प्रणाली के मार्गदर्शक सिद्धान्त प्रभुसत्ता, समानता, स्वतंत्रता, अखंडता और एक दूसरे के मामलों में हस्तक्षेप न करने के सिद्धान्त के अनुसार होंगे, (iii) यह भी कहा गया कि सभी स्तरों पर निर्णय सर्वसम्मति के आधार पर लिए जाएंगे तथा द्विपक्षीय और निरंतर जारी विषयों को इस प्रकार के विचारों से अलग रखा जाएगा, (iii) फिर यह भी स्वीकार किया गया कि क्षेत्रीय सहयोग सदस्य राज्यों में द्विपक्षीय और बहु-पक्षीय सहयोग को पूरक तथा अनुपूरक होगा।

संस्थागत संरचना के बारे में समझौते में कहा गया है कि सभी राज्य प्रमुख या सरकार प्रमुख प्रति वर्ष बैठक करेंगे तथा नीति बनाने, सहयोग की प्रगति की समीक्षा करने, अतिरिक्त तंत्र प्रणाली स्थापित करने तथा सामान्य हितों के मामले निर्धारित करने के लिए सभी सदस्य राज्यों के विदेश मंत्रियों की परिषद की रचना की जाएगी। मंत्रियों की परिषद की सहायता के लिए सदस्य राज्यों के विदेश सचिवों की एक समिति बनाई जाएगी। यह भी निर्णय किया गया कि कार्यक्रमों के कार्यान्वयन समन्वय उनकी निगरानी करने के लिए सदस्य राज्यों के प्रतिनिधियों की एक तकनीकी समिति तथा दो से अधिक राज्यों के शामिल होने पर किसी परियोजना के कार्यान्वयन के लिए एक कार्य समिति का भी गठन किया जाएगा। यह भी पुष्टि की गई कि एसोसिएशन के लिए उचित समय पर एक सचिवालय की स्थापना की जाएगी जो इस समय काठमांडू, नेपाल में कार्य कर रहा है।

8.5.7 एशिया में प्रशान्त महासागर देशों में संघटन : एशिया-प्रशान्त महासागर आर्थिक सहयोग (एपेक)

क्षेत्रीय संघटन का एक अन्य प्रसिद्ध उदाहरण एशिया और प्रशान्त महासागरीय क्षेत्रों के 21 देशों वाले एपेक मंच को देखा जा सकता है। जिसे प्रशान्त महासागरीय रिंग के देशों के रूप में जाना जाता है। कुछ सर्वाधिक शक्तिशाली अर्थव्यवस्थाएँ जो इस संधि को करने के लिए एक जुट हुई उन्हें एपेक के नाम से जाना जाता है। इसका गठन ऑस्ट्रेलियाई प्रधानमंत्री श्री बॉब हॉक की प्रेरणा से 1989 में हुआ। इसके मूल 12 सदस्य देश थे, संयुक्त राज्य, ऑस्ट्रेलिया, कनाडा, जापान, दक्षिण कोरिया, न्यूजीलैण्ड, मलेशिया, थाइलैण्ड, सिंगापुर, फिलीपींस, इंडोनेशिया और ब्रूनै। चीन, ताइवान और हांगकांग इसमें 1991 में शामिल हुए। मेक्सिको एवं पपुआ गुआना इसमें 1993 में तथा चीली 1994 में शामिल हुए। बाद में 1998 में रूस, पेरू एवं वियतनाम भी इस मंच के सदस्य बन गए।

आरंभ में एपेक मुक्त व्यापार एवं निवेश को बढ़ावा देने में लगा रहा। इसने सूचना तकनीक के लिए बाजार को उदार बनाने में सहायता की तथा आर्थिक बाधाओं को दूर करने के लिए एक कार्य योजना बनाने का बीड़ा उठाया। एपेक सदस्यों ने एपेक में आर्थिक सहयोग और विकास के लिए नियमों का एक ढाँचा बनाने की घोषणा को स्वीकार किया। इसने निजी क्षेत्र के प्रतिनिधियों के साथ तथा राष्ट्रीय/अन्तर्राष्ट्रीय वित्तीय संस्थाओं के साथ कार्य करने का भी निर्णय लिया तथा आधारभूत कार्यों में निजी क्षेत्र को शामिल करने का एक ढाँचा भी बनाया। इसके बाद, इसने यह भी निर्णय लिया कि व्यापारियों की आवाजाही, व्यापक निवेश प्रवाह तथा निवेश सुरक्षा की मजबूती एवं आधारभूत योजना निर्माण में निजी क्षेत्र को शामिल करने के लिए व्यापार क्षेत्र के साथ मिलकर कार्य किया जाए।

इस प्रकार एपेक क्षेत्रीय संघटन की ही अभिव्यक्ति नहीं है अपितु यह विश्व संघटन को बढ़ावा देने और उस पर बल देने के लिए एक प्रभावी समूह भी है।

8.6 क्षेत्रीयवाद और राज्यों को सुदृढ़ बनाना

ऊपर कुछ क्षेत्रीय समूहों के वर्णन से स्पष्ट हो जाता है कि क्षेत्रीय संगठन न तो अपने उद्देश्यों में और न ही संरचना में एक समान है। महत्वपूर्ण तथ्य यह है कि क्षेत्रीय संघटन का आधार वे स्थापित राज्य हैं जो अन्य देशों के साथ समझौते

करने एवं लागू करने में सक्षम हैं। हर्सेल के शब्दों में, “यह कोई संयोग नहीं है कि क्षेत्रीयता के सर्वाधिक बड़े उदाहरण ऐसे क्षेत्रों में हैं जहाँ विभाजन एवं शासन के बारे में कोई संदेह नहीं था। यूरोपीय संघ एक अच्छा उदाहरण है : एक विशिष्ट अधिकारों के साथ एक क्षेत्रीय संस्था की स्थापना के लिए शक्तिशाली देश कुछ प्रभुसत्ता को एकीकृत करते हुए एकत्रित हुए। इसके विपरीत दक्षिण एशिया के देश न तो अपनी शक्ति के बारे में और न ही दूसरे देशों की शक्ति के बारे में निश्चित हैं। और अपनी ही समस्याओं से भी ग्रस्त हैं, सार्क प्रयोग में सफल नहीं हुए अपनी प्रभुसत्ता को दूसरे पर लादने को इतना अधिक तूल देने की आवश्यकता नहीं है कि दूसरे की प्रभुसत्ता की क्षति हो।

रॉड ह्यूज और मार्टिन हारूप के अनुसार एक विशेष समस्या यह है कि कौन से क्षेत्रीय विकास राष्ट्रीय सरकारों के लिए घरेलू राजनीति में नए आयाम लाने वाली उलझनों को व्यवस्थित करने की कठिनाई है। राजनीतिक व्यवस्था की संरचना की कीमत बहुत बड़ी हो सकती है। किसी सदस्य देश में मुक्त व्यापार क्षेत्र स्थापित करने से समग्र रूप से आर्थिक लाभ हो सकता है लेकिन प्रत्येक राज्य में हानि उठाने वाले तो शिकायत करेंगे और व्यापार में होने वाली सामान्य बढ़ोतरी विशिष्ट प्रकार के रोजगार, व्यापार संघ और उद्योगों को होने वाली क्षति की तुलना में बहुत कम हो सकते हैं। निःसंदेह इस समस्या का एक समाधान एक बड़े क्षेत्र से संबंध होने की भावना उत्पन्न कर दिया जा सकता है। जैसे यूरोपीय संघ ने एक यूरोपीय पहचान बनाने के लिए गंभीर प्रयत्न किए जो नए राज्यों में निष्ठाएँ पैदा करने के पूर्व राष्ट्रीय निर्माताओं के प्रयत्नों के समान है। तो भी अभी तक क्षेत्र में स्थापित राष्ट्रों में आगे बढ़ने की भावना का अभाव है।

इस प्रकार राज्यों को अपने-अपने क्षेत्रों में समूहों या वर्गों की कठिनाइयों को सुलझाने की समस्याओं का सामना करना पड़ता है। इन समस्याओं के बावजूद, क्षेत्रीयता की प्रवृत्ति में वृद्धि हो रही है। राज्य इससे अपनी प्रभुसत्ता की क्षति देखने की अपेक्षा परस्पर सहयोग और समर्थन के माध्यम से राज्य के शक्तिशाली होने के रूप में देखते हैं।

8.7 सारांश

इस तथ्य से इंकार नहीं किया जा सकता है कि क्षेत्रीय संघटन के अनेक लाभ हैं। क्षेत्रीय संघटन संस्थाओं में शामिल हो कर राष्ट्र-राज्य अधिक आर्थिक वृद्धि दर सुनिश्चित कर सकते हैं। पश्चिमी यूरोपीय राज्यों द्वारा की गई तीव्र आर्थिक प्रगति इसका अद्वितीय उदाहरण है। क्षेत्रीय संघटन राष्ट्र-राज्यों की परस्पर अपने संघर्ष सुलझाने के साथ-साथ अन्तर्राष्ट्रीय संबंधों में भी उनकी भूमिका को शक्ति प्रदान करता है। सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक संघटन धीरे-धीरे हमेशा राजनीतिक संघटन कर सकते हैं, जिससे भविष्य में विश्व संघ का प्रादुर्भाव हो सकता है। इसके अतिरिक्त परस्पर निर्भरता के बढ़ते इस काल में अपनी पहचान समाप्त किए बना या अपने सम्मान के साथ समझौता किए बिना क्षेत्रीय संघटन इच्छित उद्देश्य और लक्ष्य प्राप्त करने में राज्यों की सहायता कर सकता है। क्षेत्रीय संघटन विश्व के कई भागों में बहुत सफल रहा है क्योंकि यह निश्चित रूप से शांति, समृद्धि, विकास और अन्तर्राष्ट्रीय संबंधों में स्थिरता स्थापित कर विभिन्न राज्यों में युद्ध के अवसर कम कर देता है।

पश्चिमी यूरोप का संघटन इस बात का द्योतक है कि क्षेत्रीय संघटन बहुमुखी विकास और समृद्धि ला सकता है। एक स्वस्थ परंपरा के रूप में इसे स्वीकार करना होगा। यह राष्ट्रीयता और अन्तर्राष्ट्रीयता दोनों के समर्थकों को एक होने का आधार प्रदान करता है। यह परस्पर सहयोग, साझेदारी और अन्तर्राष्ट्रीय संबंधों में शामिल होने के द्वारा प्रगति के लाभ प्राप्त करता है। फिर भी, कई नकारात्मक एवं बाधक प्रवृत्तियाँ जैसे शीत युद्ध, सुस्त्रा गठबंधन, सैन्यवाद एवं नियम जैसे मामले जैसी कई गंभीर अन्तर्राष्ट्रीय समस्याएँ धनी और निर्धन राष्ट्रों के बीच बढ़ती असमानता निरस्त्रीकरण और शस्त्र नियंत्रण करने की असफलता, राष्ट्रीयता के संकीर्ण विचार लक्ष्यों के प्रति निरंतर लगाव आदि क्षेत्रीय संघटन की विचारधारा को मजबूत करने बाधक है। फिर भी, क्षेत्रीय आर्थिक संघटन की प्रक्रिया यदि संकीर्ण भावनायुक्त नहीं है तो राज्यों की प्रभुसत्ता की क्षति किए बिना स्वस्थ क्षेत्रीय संबंधों को बनाने और उनमें सुधार लाने में सहायता करती है।

8.8 बोध प्रश्न

1. विश्व में क्षेत्रीय संघटन का विकास करने वाले विभिन्न स्वरूपों की समीक्षा कीजिए।
2. राष्ट्र-राज्य की प्रभुसत्ता पर क्षेत्रीय संघटन के प्रभाव की चर्चा कीजिए।
3. क्षेत्रीय संघटन से राज्यों को अलग-अलग एवं सामूहिक रूप से होने वाले लाभों का विश्लेषण कीजिए।

इकाई 9

अन्तर्राष्ट्रीय संगठन और राज्य

संरचना

- 9.1 प्रस्तावना
- 9.2 ऐतिहासिक पृष्ठभूमि
- 9.3 अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों का वर्गीकरण
 - 9.3.1 कार्य-आधारित वर्गीकरण
 - 9.3.2 प्रचालन क्षेत्र आधारित वर्गीकरण
 - 9.3.3 सरकार और राज्य संधियों पर आधारित वर्गीकरण
 - 9.3.4 सदस्यता और कार्यकलाप आधारित वर्गीकरण
- 9.4 राष्ट्रीय राज्य व्यवस्था और अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों में उसकी अंतर्क्रिया
 - 9.4.1 संप्रभुता के मुद्दे
 - 9.4.2 संप्रभुता समानता का मुद्दा
- 9.5 अन्तर्राष्ट्रीय संगठन: राज्यों पर उनके प्रभाव
 - 9.5.1 विभिन्न दृष्टिकोण
- 9.6 सारांश
- 9.7 बोध प्रश्न

9.1 प्रस्तावना

अन्तर्राष्ट्रीय संगठन आयोजन की एक प्रक्रिया है जो संबंधों का तानाबाना जोड़ने में सहयोग प्रदान करती है। अन्तर्राष्ट्रीय संगठन ऐसी संस्थाएँ हैं जो इस प्रक्रिया के द्वारा अपनी अभिव्यक्ति व्यक्त करती हैं और सहयोग देती हैं वहीं पर ये समकालीन विश्व कार्यों में महत्वपूर्ण कारक हैं। आज विश्व में असंख्य अन्तर्राष्ट्रीय संगठन मौजूद हैं। तथापि, राज्य अभी भी लगातार एक उच्चतम राजनीतिक इकाई के रूप में बने हुए हैं जो किसी विशिष्ट क्षेत्र के लोगों की अपनी आकांक्षाओं को दर्शाते हैं। परन्तु अन्य देशों और सहयोग के लिए लोगों की इच्छाओं, में आपसी समझ में वृद्धि हो रही है। इसके साथ ही प्रौद्योगिकी विकास भी एक महत्वपूर्ण कारक है जो लोगों को परस्पर एक जुट करने में सहयोग दे रहा है। इसके परिणामस्वरूप कोई राज्य कितना भी शक्तिशाली क्यों न हो, वह अकेला नहीं रह सकता है और न ही वह अन्य के सहयोग के बिना कुछ कर सकता है। सम्पूर्ण विश्व के लोग तथा सरकारें चाहे वे कितनी ही कमजोर या छोटी हों अथवा उनके कार्य कितने ही छोटे हों, वे आपसी संबंधों को निश्चित रूप से प्रभावित करते हैं। इसलिए राजनेताओं ने संख्या निर्माण की सोच पैदा करके इनके माध्यम से अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग को प्रभावी बनाने के लिए सुनिश्चितता का उपाय किया है। यह संस्थाएँ एक लम्बे समय और सतत् प्रक्रिया के माध्यम से विकसित हो रही हैं तथा यह प्रक्रिया अभी भी, लगातार अपनी गति पर चल रही है।

अतः, अन्तर्राष्ट्रीय संगठन की प्रक्रिया से राज्य स्थापित और विकसित होते हैं तथा उनकी सतत् संस्थागत संरचना उनके आपसी संबंधों को उनकी आकांक्षाओं को पूरा करने के लिए कार्य करती हैं। यह संस्थाएँ अन्तर्राष्ट्रीय संबंधों की परम्परागत व्यवस्था के अत्यधिक विकेन्द्रीकरण के विरुद्ध अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करती हैं तथा राज्यों की एक दूसरे पर निर्भरता को लगातार बनाए रखने में अपना सहयोग देती हैं। इसके अतिरिक्त असंगठित विश्व को संगठित करना है जो अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर आयोजन प्रक्रिया के प्रकटीकरण के संबंध में हो सकता है। इसके अलावा, दूसरों पर आत्म-निर्भर रहने की आवश्यकताओं की रचना तंत्र को अपनाकर स्वयं संस्थागत रूप में स्थापित करती हैं। यह विकासशील संस्थागत संरचना के प्रकटीकरण के रूप में हो सकता है जो विश्व कार्यकलापों में महत्वपूर्ण कारक है। राज्यों के साथ इन संगठनों के संबंध तथा राज्य की शक्तियों और उसके स्वरूप के निर्धारण में अनेक कारक प्रभावित करते हैं।

9.2 ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

ऐतिहासिक पृष्ठभूमि की ठोस समझ हमें अहसास कराती है कि अन्तर्राष्ट्रीय संगठन विश्व राजनीति की एक अनुपम परिघटना है, जिसका हाल के दिनों में विकास हुआ है, परन्तु अब यह स्थापित परम्परा बन गई है। अन्तर्राष्ट्रीय संगठन के विकास के लिए निम्नलिखित चार पूर्व शर्तें हैं 1. विश्व स्वतंत्र राजनीतिक इकाई के रूप में अनेक राज्यों में विभाजित होना अनिवार्य है। 2. इन राज्यों के बीच सम्पर्क के सारभूत साधन और उपाय मौजूद होना आवश्यक हैं 3. राज्य समस्याओं के संबंध में जागरूकता पैदा करे जो उनके सहअस्तित्व के संबंध में पैदा हुई हों तथा 4. इसके आधार पर उन्हें परस्पर संबंध बनाए रखने और उनके परिचालन के लिए संस्थागत उपायों की रचना करने के लिए साधनों की पहचान करना अत्यंत आवश्यक होता है।

यह उन्नीसवीं शताब्दी का दौर था, जब ये चार पूर्व शर्तें आधुनिक अन्तर्राष्ट्रीय संगठन निर्माण के लिए समुचित व उपयुक्त उपाय थे, वहीं पर यह एक बेहतरीन संयोजन में मान्यता प्राप्त थी। अब यह सभी ने मान लिया है कि युद्ध मानव के कल्याण और उसकी खुशियों के विपरीत व घातक है, साथ में ही यह चिन्ताओं और असंतुष्टि प्रदर्शित करता है और अन्तर्राष्ट्रीय कार्यकलापों की असमानताओं, स्थापित नियमों और प्रणालियों की जानकारी भी उपलब्ध कराता है।

उन्नीसवीं शताब्दी तक बहुराज्य व्यवस्था या प्रणाली को संप्रभुसत्ता के सैद्धान्तिक नियमों से विशिष्टता प्रस्तुत की जाती थी, जो बिना किसी उत्तरदायित्व के प्राधिकृत प्रदान करती थी। राज्य केवल अपने हितों के लिए निर्णय लेते थे। अपनी शक्ति के प्रदर्शन के लिए वे गनमाने कानूनी अधिकारों का प्रयोग करने के लिए स्वतंत्र थे। यह बहु राज्य व्यवस्था का एक प्रकार था जिसे उन्नीसवीं शताब्दी में विकसित इस व्यवस्था को अन्तर्राष्ट्रीय जीवन की शर्तों के अनुसार समुचित या मान्यता प्रदान नहीं की गई। इसलिए संप्रभुसत्ता सम्पन्न राज्यों की मुक्त-चक्रीय जिम्मेदारी को आवश्यक और संभावित संशोधन करने का निर्णय लिया गया। इसमें कोई संशय नहीं है कि उन्नीसवीं शताब्दी का विश्व अलग और स्वतंत्र संप्रभुता एवं अन्तर्राष्ट्रीय संबंधों के विकेन्द्रीकरण व्यवस्था की विशेषताओं के सिद्धान्तों का ही लगातार गुणगान करता रहा था परन्तु इसी समय में संप्रभुसत्ता सम्पन्न राज्यों के द्वारा प्रोत्साहित स्वीकृति और सहयोग के माध्यम से कार्य करने पर नियंत्रण तथा कार्यात्मक नवीनता की उपलब्धियों को प्राप्त करने और नई आवश्यकताओं की जानकारी के लिए अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त की जाती रही है। अन्ततः उस समय के राजनेताओं के कम्शों पर यह जिम्मेदारी आई की संचार और उद्योगवाद के युग की बदली हुई परिस्थितियों में संप्रभुसत्ता सम्पन्न राज्यों की पुरानी व्यवस्था को अपने हितों के अनुसार किस प्रकार से व्यवस्था की जाए ताकि उनके कार्यकलापों को बदली हुई स्थिति के अनुकूल सामन्यजस पैदा हो और व्यवस्था सुचारु रूप से चलती रहे।

विकास की तीन प्रमुख धाराएँ बहुपक्षीय, उच्च स्तर, राजनीतिक परामर्श या सम्मेलन के रूप में पैदा हुई जिन्हें उन्नीसवीं शताब्दी में खोजा जा सकता है। 1815 में वियना कांग्रेस ने सम्मेलनों की एक श्रृंखला आरम्भ की। इसमें कोई शक नहीं है कि 1815 और 1822 के बीच हुए सम्मेलनों से यह सत्य सामने आया कि संस्थागत प्रबंधन के लिए यूरोप तैयार नहीं है। इसके बावजूद, कूटनीति की तकनीक द्विपक्षीय से बहुपक्षीय में परिवर्तित हो गई थी। बड़े राज्यों के नेता स्व यूरोप के लिए संगठित हो गए और राजनीतिक मुद्दों के दबावों के कारण शताब्दी में लगभग तीस बार एक साथ सम्मिलित हुए। अतः यह कहा जा सकता है कि उन्नीसवीं शताब्दी में सम्मेलन जीवन का एक सत्य के रूप में स्थापित हुआ यही इस शताब्दी की प्रमुख कूटनीति रही थी।

बहरहाल, सम्मेलन प्रणाली का सहयोग अन्तर्राष्ट्रीय संगठन में इतना अधिक नहीं था कि इसकी भरपूर प्रशंसा की जाए। यह प्रणाली उच्च राजनीतिक और सुरक्षा की समस्याओं से निपटने के लिए स्थायी कार्यात्मक संख्याओं को पैदा नहीं कर सकी। सम्मेलन सामयिक होने के बजाय कभी कभार होते थे। सहयोग में सुधार हुआ, किन्तु यह नियमित नहीं था, यह प्राधिकारियों पर निर्भर था कि जो अपने शक्तिशाली होने का दम भरत थे और उन्होंने इसे स्पष्ट रूप से कानूनी स्मारक के रूप में स्थापित कर लिया था। सम्मेलन प्रणाली कानूनी नियमों से संचालित नहीं होती थी अथवा राष्ट्रीय राज्यों की सर्वोत्तम राजनीतिक एजेंसी भी इसे निष्पक्ष रूप से लागू नहीं करती थीं और न ही यह व्यापक समुदाय के नैतिक स्तर को बनाए रखने में सक्षम थी। सम्मेली गेजा के आसपारा बैठे लोग यानि कि सम्मेलन के कर्ता-धर्ता राजनेता स्वार्थी राष्ट्रवादियों और शक्तिशाली दम्भी राजनेताओं को मानवता के लिए विश्व स्तर पर सोचने वाले, न्याय-मूलक राजनेताओं के रूप में बदलने में असमर्थ रहे थे।

कभी कभार राजनीति सम्मेलन प्रणाली अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं को ओर अधिक उजागर करने में सहयोग देती थी न कि उन समस्याओं का समाधान प्रस्तुत करती। बहुराष्ट्रीय कूटनीतिक संभावनाओं का मार्ग प्रशस्त करने की बात करती थी किन्तु उनकी वास्तविकताओं को समझने का कभी प्रयास नहीं किया जाता था। यह महाशक्तियों का आधुनिक अन्तर्राष्ट्रीय संगठन – कार्यकारी परिषद को प्रमुख संगठन के आदि प्ररूप के अनुरूप निर्मित किया जाता था। यद्यपि ये एजेंसियाँ दो

या कुछ राज्यों के प्रतिनिधियों द्वारा परम्परागत संधि जो समझौते के अन्तर्गत अनुबंध होता जिसमें बहुपक्षीय सम्मेलन के साथ प्रक्रिया के लिए अर्ध-संसदीय प्रणाली की व्यवस्था रखी जाती थी।

अन्तर्राष्ट्रीय संगठन के विकास का यह चरण जिसमें विभिन्न मामले जैसे के सम्पूर्ण नए समूह – व्यावसायिक विशेषज्ञ, तकनीक विशेषज्ञ, अन्तर्राष्ट्रीय सिविल अधिकारी, निजी समूह लाभार्थी, मानविकीय संगठन, सरकारी कर्मचारी और विदेश कार्यालय से बाहर मंत्री सचिव आदि का उदगम शामिल हैं। यह लोग अन्तर्राष्ट्रीय कार्यों में भागीदार थे जिसमें राजनयिकों, विदेश मंत्रियों तथा अन्य राजनेताओं का ही एकाधिकार का वास्तव में संप्रभुता का एक आवरण सहित रूप में था।

9.3 अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों का वर्गीकरण

आधुनिक विश्व समाज की जटिलताओं के कारण असंख्य राष्ट्रीय एजेंसियों और संस्थाओं का उदगम हुआ है। यह बहुत कठिन कार्य है कि अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों के वर्गीकरण के लिए किसी विशिष्ट मानदण्ड को अपनाया जाए। इसके लिए विभिन्न प्रकार के सिद्धान्तों की रचना की है। अतः अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों के वर्गीकरण के लिए निम्नलिखित सिद्धान्त

9.3.1 कार्य-आधारित वर्गीकरण

अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों का पहला वर्गीकरण कार्यों पर आधारित है। इसके आधार पर संगठनों को राजनीतिक, प्रशासनिक तथा न्यायिक रूप में वर्गीकृत किया गया है। राजनीतिक संगठनों की पहली चिन्ता या कार्य है कि वे अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर शांति और सुरक्षा को बनाए रखें। इसका उदाहरण संयुक्त राष्ट्र संघ और अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन के रूप में दिया जा सकता है। राजनीतिक संगठनों में व्यापक सक्षमता होती है वे अत्यधिक साम्यर्थता रखते हैं। प्रशासनिक संगठनों के उद्देश्य और लक्ष्य बहुत सीमित होते हैं। न्यायिक परिषद सबसे पहले प्रशासनिक संगठन होता है। तीसरी श्रेणी में न्यायिक संगठन आते हैं जैसे कि स्थायी न्यायालय और अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय आते हैं। अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों का यह वर्गीकरण अवैधानिक माना जाता है तथा यह प्रस्तुतीकरण और वर्णन के उद्देश्यों के लिए मुख्य रूप से परम्परा पर आधारित है। वास्तव में सच यह है कि विभिन्न संगठनों के बीच उनके कार्यों के आधार पर स्पष्ट रूप से विभेद नहीं किया जा सकता है, इसलिए इनका सही-सही वर्गीकरण करना भी बहुत कठिन कार्य है। फिर भी यह कहा जा सकता है कि इस प्रणाली का भी अत्यंत महत्व है।

9.3.2 प्रचालन क्षेत्र आधारित वर्गीकरण

संगठनों के वर्गीकरण के संबंध में दूसरा उदाहरण उनके परिचालन के क्षेत्र के आधार पर प्रस्तुत किया जा सकता है। जैसे कि सार्वभौम विश्वव्यापी और क्षेत्रीय। विश्वव्यापी संगठन के सदस्य वैश्विक होते हैं तथा क्षेत्रीय संगठनों से अधिक शक्तिशाली और समर्थ होते हैं। विश्वव्यापी संगठन जैसा कि संयुक्त राष्ट्र संघ, इसके अन्तर्गत अनेक क्षेत्रीय निकाय हो सकते हैं, जैसा कि आर्थिक और सामाजिक परिषद के क्षेत्रीय आयोग एशिया, सुदूर-पूर्व, यूरोप, लेटिन अमेरिका, अफ्रीका इत्यादि के लिए आर्थिक आयोग। क्षेत्रीय संगठन प्रायः सीमित क्षेत्रों में कार्य करते हैं तथा उनके पास सीमित शक्तियाँ होती हैं। क्षेत्रीय संगठनों के निर्माण में भौगोलिक स्थितियों का ध्यान रखने में उनका मार्गदर्शन लेना आवश्यक होता है। आमतौर पर क्षेत्रीय संगठनों का निर्माण राज्यों द्वारा किया जाता है जिसमें सामान्य राजनीतिक उद्देश्यों को महत्व दिया जाता है न की सामान्य भौगोलिक क्षेत्रों के साथ राज्यों का। क्षेत्रीय संगठनों के उदाहरण नाटो, वारसा संधि संगठन इत्यादि के रूप में दिया जा सकता है।

9.3.3 सरकार और राज्य संधियों पर आधारित वर्गीकरण

अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों के वर्गीकरण में तीसरा मानदण्ड यह स्वीकार किया गया है कि क्या यह राज्यों के बीच हुई संधियों पर आधारित हैं अथवा सरकारों की संधियों पर आधारित हैं। जबकि राज्यों के बीच संधियों के आधार पर निर्मित संगठनों को सम्पूर्ण रूप से राज्य की संस्थाओं के साथ समाविष्ट कर लिया जाता है जैसे कि विधानमण्डल, कार्यपालिका और न्यायिक अंगों के साथ सम्मिलित कर लिया जाता है जबकि अन्तर्राष्ट्रीय संधियों का संबंध केवल प्रशासनिक संबंध से होता है। अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों का उदाहरण खाद्य और कृषि संगठन, विश्व स्वास्थ्य संगठन आदि के रूप में दिया जा सकता है। अन्तर्राष्ट्रीय संधियों द्वारा निर्मित अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों के उदाहरण में अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक निधि आदि को शामिल किया जा सकता है। आमतौर पर अन्तर्राष्ट्रीय संधियों से निर्मित संस्थाएँ जो अपने चरित्र में अस्थायी ही होती हैं जैसे कि संयुक्त राष्ट्र पुनर्वास प्रशासन है। कई बार अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों का निर्माण संवैधानिक कठिनाइयों के समाधान के लिए अन्तर्राष्ट्रीय संधियों द्वारा किया जाता है।

9.3.4 सदस्यता और कार्यकलाप आधारित वर्गीकरण

प्रोफेसर नारमन हिल ने सदस्यता और कार्यकलाप के आधार पर अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों के वर्गीकरण का एक अन्य सुझाव दिया है। उन्होंने सदस्यता के बिन्दु अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों को (क) द्विपक्षीय (ख) क्षेत्रीय और (ग) विश्वव्यापी के रूप में

वर्गीकृत किया है। द्विपक्षीय संगठनों का उदाहरण संयुक्त राज्य अमेरिका और कनाडा के लिए अन्तर्राष्ट्रीय संयुक्त आयोग और सूडान के लिए एंग्लो-मिश्र आयोग है। क्षेत्रीय संगठनों के लिए ओ. ए. एस. तथा लीग और संयुक्त राष्ट्र संघ को विश्वव्यापी संगठन का नाम दिया है। कार्यकलाप के आधार पर अन्तर्राष्ट्रीय संगठन सामान्य या कार्यात्मक हो सकते हैं। संयुक्त राष्ट्र संघ और ओ. ए. एस. सामान्य संगठन का उदाहरण है तथा अन्तर्राष्ट्रीय कॉटन सलाहकार समिति, रबर अध्ययन समूह, केन्द्रीय कमीशन फॉर नेवीगेशन ऑफ रहीने 1804, सामान्य श्रेणी में आते हैं। अन्तर्राष्ट्रीय टेलीग्राफिक यूनियन, जनरल पोस्टल यूनियन इत्यादि कार्यात्मक संगठन के उदाहरण हैं। इसके अतिरिक्त कार्यात्मक संगठन जैसे कि आई. एल.ओ., एफ. ए. ओ., यूनेस्को, डब्ल्यू. एच. ओ., आई. बी. आर. डी., आई. एफ. सी., आई. ली. ए. ओ., यू. पी. ओ., डब्ल्यू. एम. ओ., इत्यादि हैं। अतः यह पता चलता है कि ऐसा कोई एक सिद्धान्त नहीं है जो अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों के वर्गीकरण के लिए स्वीकृत हो सकते हैं। ये विभिन्न श्रेणियों के अन्तर्गत आते हैं जो उनके कार्यों की प्रकृति, परिचालन के क्षेत्र और उनके निर्माण के प्रकारों और उद्देश्यों पर निर्भर करता है।

9.4 अन्तर्राष्ट्रीय संगठन और राष्ट्रीय राज्य-व्यवस्था

अन्तर्राष्ट्रीय संगठन, जैसे कि इसकी पृष्ठभूमि बताती है कि न तो यह स्वतः समाविष्ट है और न यह आत्मनिर्भर है। यह राष्ट्रीय-राज्य व्यवस्था और अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था के साथ सतत चलने वाली अन्तःक्रिया है और क्योंकि यह दो व्यवस्थाओं के मध्य है, तथा इसका उद्देश्य विकास करना है जो दोनों स्तरों पर होता है।

आमतौर पर, राष्ट्र-राज्य सरकार का एकाधिकार उसके समुदाय के बल पर होता है तथा इसके समाज के समूह में संघर्ष के दौरान होने वाली हिंसा को कठोरता से दबाती है। परन्तु अन्तर्राष्ट्रीय समाज इस प्रकार की व्यवस्था में स्पष्ट रूप से शिथिल होती है या अनदेखी करती है, वास्तव में, यह लम्बे समय तक चलने वाली हिंसा को भी मान्यता प्रदान करती है अथवा यह मानती है कि युद्ध कल्याण एवं सुरक्षा के लिए राज्य का कानूनी अंतिम हथियार है। अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों का इन सीमाओं के अन्दर ही काम करने के लिए मजबूर किया गया, शान्तिपूर्ण सहयोग की परिधि के अन्दर बने रहना तथा शक्तिशाली राष्ट्रों की परम्परागत युद्धों के विपरीत सीधी चुनौतियों से बचने का सुझाव दिया गया था। हेग शान्ति सम्मेलन में अन्तर्राष्ट्रीय युद्ध का व्यवहार, लीग ऑफ नेशन ने अन्तर्राष्ट्रीय युद्ध को नियन्त्रित करने के लिए आह्वान किया और संयुक्त राष्ट्र संघ ने सभी आक्रामक युद्धों को उन्मूलन करने के लिए विशेष अभिकल्प एवं विधियों का निर्माण किया ताकि अन्तर्राष्ट्रीय युद्धों पर लगाम करी जा सके। यद्यपि इन तीनों अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों के प्रयासों को एक दूसरे राष्ट्र के साथ मनमानी हिंसा और युद्धों के व्यवहार ने अत्यधिक आघात पहुँचाया जिसके लिए गंभीर प्रश्न उठाए जा सकते हैं। इन सबके बावजूद अन्तर्राष्ट्रीय संगठन अपने उद्देश्यों पर सफलतापूर्वक डटे रहे और अपने कार्यों को निष्पादित करते रहे हैं।

इसके अतिरिक्त अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों के समक्ष यह कठिनाई है जिसे मैंगोर ने राष्ट्रराज्य के साथ तुलना करके कहा है कि ये आम आदमी तक नहीं पहुँच पाए हैं। अर्थात् इनका व्यक्ति से सीधा सम्पर्क नहीं बन पाया है। एक अन्तर्राष्ट्रीय संगठन राष्ट्र-राज्य के नागरिकों से सीधे ही किसी व्यक्ति से कर उगाई नहीं कर सकता तथा अन्तर्राष्ट्रीय कानून के तोड़ने पर उसे बन्द, रोक तथा उसे दंडित नहीं कर सकते हैं। दूसरी ओर, यह स्पष्ट रूप से कहा जा सकता है कि राज्य सरकारें भी इन शर्तों को प्रभावी रूप से लागू नहीं करती हैं और न ही उन पर इन नियमों को लागू करने के लिए कोई दबाव या जिम्मेदारी हो। उदाहरण के लिए सभी राज्य अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों द्वारा निर्धारित चन्दा या सहयोग राशि को बढ़ाने के लिए विरोध करते रहते हैं किन्तु ये यह भी राज्य अपने नागरिकों से इन संगठनों के नाम से अधिक खर्च उठाने के बदले में उन पर करों का अधिभार लागू कर देते हैं।

संक्षेप में, अन्तर्राष्ट्रीय संगठन की शक्ति, विशेषकर राष्ट्र-राज्य व्यवस्था के संदर्भ में पहला, राज्यों पर निर्भर करती है। सबसे पहले मनमाने फंदे में फँसता है, संप्रभुसम्पन्न राज्य की युद्ध करने की शक्ति उत्पन्न करता है। दूसरा, अन्तर्राष्ट्रीय दबावों के साथ राष्ट्रीय सरकारों को प्रभावित करने की शक्ति अर्जित करता है जो उनके अधिकार के क्षेत्र में व्यक्तिगत रूप पर नियंत्रण करने में सहायक होगा।

बहरहाल, आधुनिक अन्तर्राष्ट्रीय संगठन पूर्व के संगठनों से प्रमुख रूप से तीन प्रकार से अलग हैं। इनकी स्थापना संधियों पर या अन्तर-राज्य संविदा पर आधारित है, परन्तु अब इनमें परिवर्तन के लिए दबाव बने हैं। पहला, बहुपक्षीय अनुबंध पर बल दिया गया है। बल्कि बहुपक्षीय के अनुरूप है दूसरे, शर्तों को शसंशोधन के साथ मूल दस्तावेजों में मैत्रीभाव सत्ता और स्व-निर्माण को आधुनिक अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों ने अपनी संधियों में सम्मिलित करने का प्रयास किया है। यह पूर्व की ओर आधुनिक संगठनों में मुख्य अन्तर है। तीसरी, महत्वपूर्ण विशेषता यह है कि अब आधुनिक अन्तर्राष्ट्रीय संगठन सामयिक परिषदें और स्थायी सचिवालयों के माध्यम से संस्थागत के रूप में परिवर्तित हो गईं

सामान्यतया, अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों का उदगम उन घटनाओं के कारण हुआ है जो राष्ट्रराज्य व्यवस्था के स्तर पर पैदा हुए। और इस प्रकार के आवश्यक विशेषताओं की निम्न प्रकार से पहचान की गई है। इनका निर्माण राज्यों ने किया है तथा राष्ट्रीय सरकार प्रतिनिधित्व करती है। सभी सदस्य समान संप्रभु सम्पन्न हैं। वे संवैधानिक या कार्यपालिका के अधिकारों

का प्रयोग नहीं करते हैं तथा सदस्य राज्य के नियमों के अंतर्गत आबद्ध है, उसके लिए प्रतिबद्ध हैं। इनके कार्य हैं, पहला अन्तर-सरकारी सहयोग का निर्माण करना। इन विशेषताओं को निम्नलिखित चार शीर्षकों में विभाजित किया गया है। भागीदारी का सरकारी आधार जिसमें संप्रभुता और सदस्यता, समानता, संप्रभुता। संप्रभुता का उपसाध्य की समस्याओं का स्वभाविक समावेश होना आवश्यक है। यह सब राष्ट्रीय शक्ति की समस्या, क्षेत्रवाद, मत देने से संबंधित गुटों की समस्या पैदा करती है और मतैक्य (सर्वसम्मति) बनाना बहुसंख्यक राज (वीटो की शक्ति के साथ) तथा अधिदेश प्राप्त सत्ता एवं सहयोगात्मक कार्य, जैसे अन्तर्राष्ट्रीय संगठन की अवशिष्ट अधिकार इत्यादि शामिल हैं।

9.4.1 संप्रभुता के मुद्दे

यह आश्चर्यजनक दुविधा का विषय है कि राज्यों की संप्रभुता को शक्ति या बल का प्रतीक माना गया है, जिसके कारण अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग के स्तर को आगे बढ़ाने में बाधाएँ उत्पन्न करता है, परन्तु इसी समय में यह भी लगता है कि यह प्रक्रिया अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों की स्थापना में पूरा सहयोग देती है। अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं के उदगम में मान्यता देने का कार्य महत्वपूर्ण होता है, चाहे संप्रभुता का मार्ग अनिश्चित ही क्यों न हो। पॉल टेलर ने सुझाव दिया है कि अन्तर्राष्ट्रीय संगठन संप्रभुता और अन्तर्राष्ट्रीय नियमों के सीमांत में होने चाहिए। ये वर्तमान में संतुलन प्रस्तुत करते हैं या फिर राष्ट्रीय लचीलेपन की आवश्यकता तक स्वतंत्रता एवं अन्तर्राष्ट्रीय प्राधिकार के बीच तनाव पैदा करती है। परन्तु आश्चर्यजनक सत्य है कि उनके आरंभ होने के लिए स्वीकृति के दृष्टिकोण की प्रतीक्षा की जाती है जबकि राज्य वास्तव में अलग, स्वायत्त अस्तित्व है, और सरकार को चाहिए कि वह संप्रभुता से संबंधित हो। जब सरकारों की संप्रभुता निर्मित हो जाती है, उस समय अन्तर्राष्ट्रीय संगठन एकमत से उसे नष्ट करने में जुट जाते हैं। यह सब उन्हीं आवश्यक सिद्धान्तों का प्रतिरोध करते हैं जिनके आधार पर उनके अपना निर्माण हुआ है।

प्रारंभिक अवस्था में राजनीति अस्तित्व के मौजूदगी के बावजूद उसे राज्य कहे जा सकते हैं परन्तु अलग संप्रभुता के अस्तित्व के रूप में राज्य की विचारधारा की मान्यता देना, एक कमजोर मान्यता होगी। शांति योजना राष्ट्रीय सरकारों की संरचना की अखंडता पर अधिक बल नहीं देती है। तथा अन्तर्राष्ट्रीय कानून लोगों का कानून और कानून की व्यवस्था बीच कोई स्पष्ट अन्तर नहीं कर पाता है। वह ऐसा करने में असफल है जो कि वास्तव में सरकारों की विशेष महत्व का विषय था।

अठारवीं शताब्दी के मध्य तक के वर्षों में अनेक विद्वानों तथा शारीरिक विकास ने अपना अस्तित्व जमा लिया था। एक तरफ राज्य व्यवस्था का उदगम हो चुका था जिसमें नए स्थायित्व और स्तर के लिए आवश्यकता महसूस की जा रही थी, वहीं पर दूसरी ओर अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं के समाधान के लिए यूरोप की मूल इकाई के दृष्टिकोण को कमजोर करने का प्रयास किया जा रहा था।

अब तक, अलग राज्यों की व्यवस्था का आधार तथा सरकारों की संप्रभुता की मान्यता स्थापित हो चुकी थी, अन्तर्राष्ट्रीय संगठन राष्ट्रीय स्वायत्तता की खोज के लिए अपना रुख बदलने के लिए कटिबद्ध हो गए थे जो संप्रभुता का परिणाम था। एकता के लिए एक नई तलाश अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग के लिए की जाने वाली खोज में समाविष्ट है। और राज्यों की संप्रभुता की संकल्पना राजाओं की शक्ति और स्वतंत्रता पुनर्बलन का ही एक मार्ग था तथा जो उन खोजों को स्थापित करना चाहते थे वे ही अब कठिन परीक्षा में उलझ कर रह गए थे।

राज्य में कौन से तत्व हैं जो संप्रभुता को प्रदान या न्यायोचित ठहराते हैं? इस प्रश्न का जो उत्तर दिया जाना है, वह अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग प्रभावों और सरकारों के स्तर के संबंध में हमारी समझ में बहुत अन्तर है। तथा जिस तरह से राजनेता संप्रभुता को न्यायोचित और उसकी समझ का तरीका उनकी भूमिका को प्रभावित करता है जिसके अन्तर्गत उन्होंने अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों का निर्माण और उनको स्वीकृति प्रदान की है अर्थात् हमारा उत्तर उनकी सोच के बिल्कुल विपरीत है।

9.4.2 संप्रभुता समानता का मुद्दा

समानता, संप्रभुता का एक परिणाम है या यह कह सकते हैं कि यह एक उपनियम है जो सिद्धान्त यह माँग करता है कि संप्रभुसत्ता राज्य के रूप में प्रत्येक सदस्य संगठन के कार्य में भागीदारी का समान अधिकार रखता है तथा किसी भी राज्य के आकार, जनसंख्या, सम्पत्ति या शक्ति को ध्यान में रखे बिना इससे प्राप्त होने वाले लाभों को प्राप्त करने का अधिकार है। वही पर समानता का यह सिद्धान्त यह भी माँग करता है कि सबकी समान जिम्मेदारी और कर्तव्य हो।

इसलिए संयुक्त राष्ट्र संघ के प्रत्येक सदस्य राज्य को एक मत देने का अधिकार है तथा प्रत्येक राज्य किसी भी अंग के निर्वाचन के लिए पात्रता रखता है। प्रत्येक राज्य को सुनने का अधिकार दिया गया है। इसी प्रकार उसे बोलने का अधिकार भी दिया गया है, वास्तव में, इसका अर्थ असीमित बोलने का अधिकार भी है। प्रतिनिधि की टिप्पणी को काट छांट करना, उसके सरकार के विरुद्ध भेदभाव के रूप में परिभाषित किया जा सकता है। समिति के अध्यक्ष और सचिवों की नियुक्ति या चयन सामूहिक बहुमत से किया जाता है और सभी सदस्य राज्यों को इसका अवसर उपलब्ध कराया जाता है ताकि प्रत्येक राज्य समुचित आदर और जिम्मेदार पदों का भार संभाल सके, उसकी गरिमा का लाभ उठा सके। पदों की जिम्मेदारी बारी-बारी से दी जाती है जो वास्तव में प्रथागत या परम्परागत होती है जो सत्रवार होती है तथा इसमें यह

ध्यान रखा जाता है कि व्यापक रूप से पदों का वितरण हो जिसमें किसी प्रकार का भेदभाव न हो। संयुक्त राष्ट्र संघ की सुरक्षा परिषद में प्रत्येक महीने में वर्णक्रम के अनुसार बारी-बारी से अध्यक्षता करने का अवसर दिया जाता है ताकि प्रत्येक राज्य कम से कम वर्ष में एक बार इस पद का सम्मान प्राप्त कर सके। यह बात ध्यान में रखी जानी चाहिए कि राष्ट्रीय समानता के लिए सम्मान देना इसका मुख्य आधार है वहीं पर यह अन्तर्राष्ट्रीय परामर्श प्रक्रिया की प्रमुख कठिनाई है। समानता का सिद्धान्त सार्वभौमिकता से लागू नहीं किया जाता है, तथापि, सुरक्षा परिषद में पाँच महाशक्तियों को स्थायी सदस्यता दी गई है जबकि अन्य राज्यों के साथ ऐसा नहीं किया गया तथा इन महाशक्तियों के पास वीटो पावर है जिसका प्रयोग सुरक्षा परिषद में अपने हितों को कायम रखने के लिए करते रहते हैं। इसके अलावा सदस्य राज्य भी संयुक्त राष्ट्र संघ को बराबर अंश दान सहयोग नहीं देते हैं तथा बजट वितरण भी एक निश्चित मानक के आधार और उसकी वापसी देय या भुगतान पामता को ध्यान में रखकर दिया जाता है। अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक निधि और अन्तर्राष्ट्रीय बैंक प्रत्येक देश द्वारा स्टाक शेयर धारण के अनुसार ही उसे वोट देने व महत्व देते हैं। राष्ट्रों के बीच शक्ति और सम्पत्ति के आधार पर विभेद किया जाता है और संगठन के कार्य व्यवहार पर राज्यों द्वारा अनौपचारिक रूप से प्रभाव डालने का प्रयास किया जाता है।

संक्षेप में, यह कहा जा सकता है कि समानता के लिए कुछ किए गए सम्मान के बावजूद सिद्धान्त और वास्तविक समानता की क्षमता के बीच भेदभाव बना हुआ है जिसके कारण अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है, जैसे कि राष्ट्रीय शक्ति, क्षेत्रवाद, तथा वोट देने की शक्ति, सर्वसम्मति बनाम नियम निर्णय लेने में प्रभावी होता है, जैसे कि वीटो करने की शक्ति इत्यादि। ये समस्याएँ संकट पैदा करती हैं विशेषकर यहाँ पर जहाँ राजनीति और सुरक्षा संबंधी मुद्दे दाँव पर लगे हैं।

9.5 अन्तर्राष्ट्रीय संगठन राज्यों पर उनके प्रभाव

एक अन्तर्राष्ट्रीय संगठन की मौलिक विशिष्टता यह है कि बहु-राज्य-व्यवस्था में संवैधानिक और कार्यपालिका शक्तियों की कमी होती है। संयुक्त राष्ट्र संघ की मुख्य जिम्मेदारी शांति और सुरक्षा को बनाए रखना, लोगों की आर्थिक स्थिति में सुधार करना या मानव अधिकारों की रक्षा करना और किसी भी स्थिति में इनका संरक्षण करना था। परन्तु इस दृष्टिकोण या सिद्धान्त का पालन मुश्किल से किया जाता है जब वे लोग जो इसकी वकालत करते हैं, के समक्ष स्व-हित लाभ आड़े आता है और इन सिद्धान्तों का पालन नहीं किया जाता है और न इनको बनाए रखा जाता है। वे इसका तब प्रयोग करते हैं जब उन्हें इसमें उनका स्वार्थ या लाभ हो, यदि उनको लाभ हो रहा है तो समर्थन करेंगे और यदि हानि दिखाई दे रही है तो इसका घोर विरोध करेंगे। इसके अतिरिक्त, अन्तर्राष्ट्रीय एजेंसियों को प्रायः राज्यों के घरेलू क्षेत्राधिकार के मामलों में दखल देने का अधिकार नहीं है। परन्तु इन अहस्तक्षेप प्रावधानों में कभी कभी छूट दी जाती है और प्रभावित राज्यों की क्षमता का प्रतिरोध करते हुए अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों को उनके क्षेत्राधिकार में नियमों की अपने पक्ष में व्याख्या करके उन्हें प्रभावित राज्यों के क्षेत्राधिकार में हस्तक्षेप करने की अनुमति दे दी जाती है।

यहाँ तक कि उनके अधिकृत प्राधिकार में अन्तर्राष्ट्रीय एजेंसियों का अधिकार न्यूनतम रहता है अथवा राज्यों को किसी विषय के मनवाने या स्वीकार करने के लिए कोई अधिकार नहीं होता है। वे सरकारों को अपना सुझाव दे सकते हैं किन्तु उन्हें अदेश नहीं दे सकते हैं। वे किसी भी समस्या का अध्ययन, परिचर्या, योजना तथा कार्रवाई प्रस्तावित कर सकते हैं किन्तु उसे कानूनी रूप नहीं दे सकते हैं और न कानून बनाने के लिए कह सकते हैं। संयुक्त राष्ट्र महासभा सर्वसम्मति से अर्ध विकसित देशों को विकसित करने के लिए तकनीक सहायता प्रदान करने के लिए कार्यक्रम बनाती है अथवा वहाँ के बच्चों को चिकित्सक सहायता देने के लिए प्रस्ताव करती है, यह सब तब ही संभव हो सकता है जब प्रत्येक सरकार व्यक्तिगत रूप से उनको सहयोग और स्वीकृति प्रदान करने को सहमत हो जाए। अन्यथा ये सब प्रयास व्यर्थ ही रहेंगे। यदि अन्तर्राष्ट्रीय संगठन यह प्रस्ताव करता है कि खतरनाक उद्योगों में महिलाओं से काम न कराया जाए अथवा उसमें कमी की जाए, यह सब तब तक प्रभावी या लागू नहीं हो सकता है जब तक राष्ट्रीय सरकार इसे लागू न करें। इसके साथ ही अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों को किसी राज्य पर कर लगाने का अधिकार भी नहीं है। व्यक्तिगत या सरकारों को उनको बजट उपलब्ध कराने के लिए यहाँ तक की संयुक्त राष्ट्र संघ तथा कुछ अन्य एजेंसियाँ, भी राज्यों के आकलन के अनुसार धन उपलब्ध कराने में सफल नहीं होते हैं। यहाँ पर संगठन में मत देने की शक्ति और उसकी स्थिति को ध्यान रखकर निर्णय लिए जाते हैं। सामान्यतः अन्तर्राष्ट्रीय एजेंसी राज्य के साथ उसके हित लाभ या फिर अपनी प्रस्तावित अनुशंसा के निष्पादन पर जनमत पर कितना प्रभाव है, इन सब बातों को ध्यान में रखकर ही ये संगठन अपना निर्णय लेते हैं। विशिष्ट एजेंसियों में, जैसे कि यू.पी.यू. राष्ट्रीय सरकारों को अपने नियम बनाकर अपने निर्णय से अनुबंधित करना चाहती हैं, इसके लिए कोई भी सरकार यह नहीं चाहेगी कि निर्धारित नियमों के अनुसार कार्यों को पूरा न करने पर या असफल होने पर संघ से अलग होने का जोखिम उठाए, ऐसा कोई भी राज्य नहीं चाहेगा और वे इन शर्तों के लागू करने के लिए सहमत नहीं होंगे। इसी प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष और विश्व बैंक के पास भी इसी प्रकार की शक्तियाँ मौजूद हैं यदि उनके द्वारा लागू की गई मांगों को राज्य पूरा नहीं करते हैं या नहीं कर सकेंगे ऐसी स्थिति में वे संगठन के लाभों को न देने की धमकी दे सकते हैं।

इसका परिणाम यह हुआ कि अन्तर्राष्ट्रीय संगठन की प्रकृति विशेष रूप से सहयोगात्मक सिद्ध होती है। संयुक्त राष्ट्र संघ के घोषणापत्र में ठीक ही कहा है कि सामान्य लोगों के हितों को ध्यान में रखते हुए राज्यों को सदभावनापूर्ण कार्य करने चाहिए। अन्तर्राष्ट्रीय एजेंसियों को अपने कार्यों के प्रभावी बनाए रखने के लिए लगातार परामर्श और सम्मेलनों का आयोजन करते रहना चाहिए। आधुनिक अन्तर्राष्ट्रीय एजेंसियाँ विश्व की नगर बैठकों के परिणामों और की रिपोर्टों को लगातार तैयार करने की प्रक्रिया में जुटी रहती हैं। यह सब अच्छे परिणामों की प्राप्ति के लिए स्वैच्छिक सहयोग पर निर्भर करता है, इस लिए राष्ट्रीय मतभेदों के दृष्टिकोणों पर लगातार परिचर्या और बहस होती रहनी चाहिए ताकि उनके समुचित समाधान निकाले जा सकें तथा राज्यों के साथ अन्तिम समझौतों के लिए व्यापक संभावित क्षेत्रों की पहचान की जानी चाहिए ताकि उनके विकास को संभव बनाया जा सके।

9.5.1 विभिन्न दृष्टिकोण

उपर्युक्त दृष्टिकोण को देखा जाए, तो राष्ट्रीय राज्यों पर अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों का प्रभाव विवादपूर्ण सिद्ध होता है। एक परिप्रेक्ष्य यह है कि अन्तर्राष्ट्रीय संगठन महत्वपूर्ण राजनीतिक कारक बन गए हैं जो उनके सदस्य राज्यों पर महत्वपूर्ण प्रभाव डालने का प्रयास करते हैं। इसके बावजूद अन्तर्राष्ट्रीय संगठन अपने कर्मचारियों का एक निकाय बनाता है, उसका अपना एजेंडा होता है। इस सब कारणों से उनके अपने हितों और परिप्रेक्ष्यों का विकास होता है। रॉड हेग तथा मार्टिन हरूप ने सुझाव दिया है कि यद्यपि अधिकतर संगठनों के पास कार्य तंत्र की प्रणाली प्रभावी नहीं होती है उसमें कमियों के कारण अधिकतर राज्य उनके निर्णयों को लागू नहीं करते हैं। प्रायः ये पथभ्रष्ट हो जाती हैं। अन्तर्राष्ट्रीय शासन-सम्मेलन, परिचर्या, संधियाँ और घोषणाओं का रचनातंत्र आधुनिक राजनीति की विशेषताओं के अनुरूप होती है इनके विश्व का उपर्युक्त समर्थन नहीं मिलता है जिसका मुख्य कारण विश्व की सरकारों को सार्वभौमिक समस्याओं को प्रस्तुत करने की कमी के कारण असफल रही हैं।

सबसे अधिक आलोचनात्मक विचार यह है कि अन्तर्राष्ट्रीय संगठन केवल राष्ट्रीय स्व हितों को लगातार निष्पादन करने के लिए उन्हें अलंकृत करने के अभिकल्प बन कर रह गए हैं। अन्तर्राष्ट्रीय संगठन अपने अनुबंधों पर राज्यों पर शासन या प्राधिकार नहीं रखते हैं बल्कि इन संगठनों के माध्यम से शक्तिशाली अन्य राज्यों पर अपना प्रभुत्व जमाते हैं उन पर शासन करते हैं। 1991 में खाड़ी युद्ध का मामला तथा 2003 में ईराक युद्ध दोनों ही यह सिद्ध करते हैं कि अमेरिका ने अपनी तेल आपूर्ति को सुनिश्चित करने के लिए ईराक युद्ध किया और उसे पराजित करके अपने कुत्सित हितों को पूरा करने में शर्मनाक युद्ध को अंजाम दिया। वास्तव में, संयुक्त राष्ट्र संघ पर यह धब्बा तो लग ही गया है कि वह संयुक्त राज्य अमेरिका को बचाने के लिए राष्ट्रीय स्व हितों को पूरा करने का प्रयास करता रहा है। इससे भी भयानक यह है कि उसने युद्ध के बाद मनमाने ढंग से अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था को बदल दिया और उसे व्यापारिक क्षेत्र में अपने आर्थिक हितों को कायम रखने के लिए तबदील कर दिया है। अतः हेग और हरूप का कहना है कि केवल शक्तिशाली राज्य ही अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों के नियमों का पालन करते हैं, क्योंकि वे अच्छी तरह से जानते हैं कि वे पहले से ही क्या कुछ कर चुके हैं। यद्यपि यथार्थवादियों का यह बिल्कुल सही सुझाव है कि अधिकतर शक्तिशाली राज्यों ने अपनी परम्परागत स्वायत्तता बनाई हुई है, यही मामला अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों के संबंध में सिद्ध होता है इन सबके लिए ये संगठन बहुत ही महत्वपूर्ण हैं। वे इनको सूचना और सलाह देते हैं। ये अलोकप्रिय नीतियों को सही ठहराने के लिए लाभदायक हैं तथा अलोकप्रिय निर्णयों को सही ठहराने के लिए राष्ट्रीय सरकारों को उपलब्ध कराते हैं जो अपने अंतःकरण से समर्पित और बलि का बकरा बनने के लिए तैयार रहते हैं। इसके अतिरिक्त विश्व व्यापी संगठनों की सदस्यता के लिए विशेषकर राष्ट्र संघ सभी की नाना प्रकार से पुष्टि (घरेलू प्रतिपक्ष सहित) करता है कि ये राष्ट्रीय शासक हैं और राज्य शासन तथा प्रभुसत्ता प्राप्त कर चुके हैं। संयुक्त राष्ट्र संवेदनशील बाहरी धमकियाँ देने वालों के साथ संबद्ध हो गया है तथा संयुक्त राष्ट्र संघ घोषणा पत्र में व्यक्त सिद्धान्तों को कमजोर करता रहा है जिसमें कहा गया है कि घरेलू मामलों में बाहरी हस्तक्षेप को स्वीकार नहीं करेगा। इसके अतिरिक्त अन्तर्राष्ट्रीय संगठन राज्यों के सामान्य हितों के विस्तृत करके प्रोत्साहित कर सकता है तथा सबके हितों को सुरक्षित रखकर और अपने सटीक परिणामों के माध्यम से अपने और उनके बीच की शंकाओं को कम कर सकता है। ये सब कार्यकलाप सबके हितों के लिए होने चाहिए। विशेषकर अन्तर्राष्ट्रीय संगठन जटिल मुद्दों को हल करने के लिए आवश्यक कदम उठा सकता है जिन्हें केवल राज्य अपने परम्परागत सैनिक बलों के माध्यम या प्रयोग से सुलझाने में असमर्थ रहते हैं।

राज्यों और अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों के बीच संबंधों में कौन से मतभेद हैं जो भ हो अन्तर्राष्ट्रीय संगठन राज्यों के किसी न किसी स्तर पर प्रभावित करते हैं। हेग और हरूप ने कहा है कि अधिकतर संगठनों का शासन करने पर कार्य जटिल और कठिन है। राज्यों को चाहिए कि वे अपनी अंशदान की राशि का भुगतान करें, बैठकों में शामिल हो, अपने राष्ट्रीय हितों की पहचान करते हुए उन्हें प्रस्तुत करें, वापसी में अपने यहाँ संबंधित समूहों से परामर्श करें, कुछ प्रस्ताव रखें, दूसरों के समक्ष प्रतिक्रिया व्यक्त करें और अनुबंधों या समझौतों को अपने पर लागू करें। यह सब कार्यकलाप घरेलू और विदेश नीति के बीच की दूरी को कम करने में सहायक होंगे। अन्तर्राष्ट्रीय अखंडता से सबसे बड़ी घरेलू हानि संभवतः संवैधानिक प्रावधानों के कारण होती है जो केवल अन्तर्राष्ट्रीय अनुबंधों में सरकार के हस्ताक्षर होने के पश्चात देखने में आता है।

वास्तव में इसके कारण राज्यों को अनेक बाधाओं का सामना करना पड़ता है। जब अन्तर्राष्ट्रीय संगठन अपनी शक्ति से या पूरे दबाव से राज्यों के घरेलू मामलों, राष्ट्रीय संप्रभुता को स्पष्ट रूप से उल्लंघन करते हैं। शीत युद्ध के विघटन के ठीक बाद अन्तर्राष्ट्रीय समुदाय का उदय हुआ जिसमें उसे, आमतौर पर मानवीय आधारों पर हस्तक्षेप करने का प्राधिकार दिया गया था। इसके लिए इराक, रुवाण्डा, सोमालिया और कोसावो का उदाहरण दिया जा सकता है। चाहे यह सफल रहे हों अथवा इनका आपरेशनों का भविष्य जो भी रहा हो, इसके द्वारा राष्ट्रीय संप्रभुता की जीवन शक्ति के लगातार हानि पहुँचाई हैं और इस संबंध में बार-बार सवाल उठे हैं। यहाँ एक महत्वपूर्ण प्रश्न खड़ा हो गया है। क्या अब राज्य की स्वायत्तता उसके अच्छे व्यवहार की शर्त पर निर्भर करेगी जिसका निर्णय उदयशील अन्तर्राष्ट्रीय समुदाय लेगा? राज्य व्यवस्था के सम्पूर्ण इतिहास में उसका आधार गैर-हस्तक्षेप के रूप में परम्परागत रही है। जिसके बाद में शीत युद्ध के ढह जाने और अन्तर्राष्ट्रीय आतंकवाद के उदगम विशेषकर 11 सितम्बर, 2001 की घटना को मध्य नजर रखते हुए नई संभावनाओं के द्वार खुल गए हैं। विश्व के संदर्भ में राज्य की संप्रभुता, स्वायत्तता और भूमिका के बारे में नए सवाल उठ गए हैं जिनके उत्तर अभी तक स्पष्ट नहीं हुए हैं।

9.6 सारांश

आज राज्य विश्व संदर्भ के अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति तथा संप्रभुता स्वायत्तता की परिभाषा के नए वातावरण में अपना कार्य कर रहे हैं। राष्ट्रीय राज्य व्यवस्था के संदर्भ में पहले यह स्थिति थी कि अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों को अपने अधिकार क्षेत्र में ही कार्य करने के लिए बाध्यता थी, उन्हें राज्य के क्षेत्राधिकार में हस्तक्षेप करने की सख्त मनाई थी। उन्हें केवल अपने क्षेत्राधिकार में कार्य करने की अनुमति होती थी जिसे भली भाँति परिभाषित किया गया था और जब वे और अधिक प्रभावी बनने का प्रयास करते या अपनी सीमाओं को लांघने की कोशिश करते राज्य उन्हें उनकी पुरानी स्थिति में ले जाकर खड़ा कर देते थे अथवा यह कहें कि राज्य उन्हें प्रतिबंधित करके वे स्वयं स्वतंत्रतापूर्वक प्रयास आरंभ करने लगते थे। अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों को चाहिए कि वे अपने निर्णयों को लागू करवाने के लिए निश्चित रूप से राष्ट्रीय सरकारों पर निर्भर रहना चाहिए। वे कभी-कभी कार्यक्रमों का अपने स्वयं के प्रशासन से निष्पादित कर सकते हैं।

इसका अर्थ यह नहीं लिया जाए कि अन्तर्राष्ट्रीय संगठन पूर्ण रूप से राष्ट्रीय-राज्य-व्यवस्था अन्तर्राष्ट्रीय पर निर्भर थे और वे राज्यों को प्रभावित नहीं करते थे। अन्तर्राष्ट्रीय विवादों का शान्तिपूर्ण समझौते, आर्थिक और सामाजिक सहयोग, मानव अधिकारों का संरक्षण और अन्य कार्य जिनके लिए उनका उत्तरदायित्व है, को पूरा करने वाली उपलब्धियों के रिकार्ड यह सिद्ध करते हैं कि उनके प्रभावकारिता की यह अंतिम परीक्षा है। कुछ ऐसे साक्ष्य देखने में आ रहे हैं कि प्राधिकार और अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों के कार्यक्रमों के प्रति सरकारों और लोगों दोनों की आदर भावना पनप रही है। इस संबंध में संयुक्त राष्ट्र महासभा की भूमिका का विस्तृत होना महत्वपूर्ण है। युद्ध के पश्चात् राजनीतिक और आर्थिक अन्तर्राष्ट्रीय संबंधों की गंभीर समस्याएँ इसके समक्ष रखी गई हैं और शीर्ष राजनीतिक एवं राजनयिक नेता इसमें भागीदारी करके आपस में विचार-विमर्श किए गए हैं। यद्यपि अनेक मुद्दों पर कार्रवाई करने के लिए अनिर्णयात्मक रहे हैं। वास्तव में, तथ्य यह है कि सरकारें अपनी नीतियों को महासभा के समक्ष रखकर उनपर निर्णय करवाने के पक्ष में हैं क्योंकि ये लोग इसे बहुत महत्वपूर्ण मानते हैं तथा उन्हें उम्मीद है कि अंतिम निर्णय हो जाए और हो सकता है, वह उन्हीं के पक्ष में चला जाए। अन्तर्राष्ट्रीय कार्यात्मक कार्यकलापों के वास्तविक परिणामों के साथ अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों की प्रतिष्ठा का जुड़ा होना भी अत्यंत महत्वपूर्ण विषय है। आज लोग भी इस योग्य हैं कि यह सब ठोस लाभों के रूप में देखना चाहते हैं, जैसे कि खाद्य, औषधियाँ, आर्थिक पुनर्वास, नई फसल के लिए बीजों की उपलब्धिता, नागरिक विमानन में सुरक्षा के उपाय और यह सब एक विश्वास को जन्म दे रहे हैं कि अन्तर्राष्ट्रीय संगठन जो कहते हैं, वे कर भी-सकते हैं। इस प्रकार का आदर भाव और विश्वास दोनों ही प्रभावकारिता के संकेत और स्थिति को स्पष्ट दर्शाती हैं। इसके साथ ही, अन्तर्राष्ट्रीय समुदाय द्वारा राज्यों के घरेलू मामलों में सीधे ही हस्तक्षेप करने की प्रक्रिया का भी उदगम हो चुका है। कुछ मामलों में वैयक्तिक रूप से राज्य बिना कहे या लागू किए बिना ही अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था को सहयोग और सहायता देने के लिए उद्धत रहते हैं। यह सब संप्रभु स्वायत्तता के मुद्दे और अन्तर्राष्ट्रीय समुदाय में राज्य का स्थान या महत्व से जुड़े हुए नए सवालों को जन्म देता है।

9.7 बोध प्रश्न

1. अन्तर्राष्ट्रीय संगठन का ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य का मूल्यांकन कीजिए।
2. अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों का संक्षेप में विश्लेषणात्मक वर्गीकरण कीजिए।
3. अन्तर्राष्ट्रीय संगठन और राष्ट्रीय-राज्य-व्यवस्था के बीच संबंधों की आलोचनात्मक समीक्षा कीजिए।
4. अन्तर्राष्ट्रीय संगठन राज्यों की शक्तियों और उनकी प्रकृति पर किस प्रकार से प्रभावित करते हैं, स्पष्ट कीजिए?

इकाई 10

संक्रमणकालीन बहुराष्ट्रीय निगम और राज्य संरचना

संरचना

- 10.1 प्रस्तावना
- 10.2 बहुराष्ट्रीय संक्रमणकालीन निगमों की परिभाषा के विषय में
- 10.3 भूमण्डलीकरण और बहुराष्ट्रीय निगमों की बदलता स्वरूप
- 10.4 राज्य और बहुराष्ट्रीय निगम
 - 10.4.1 राज्य की मुख्य विशेषताएँ
- 10.5 बहुराष्ट्रीय निगमों का बढ़ता प्रभाव और सम्प्रभुता को हानि
 - 10.5.1 वित्तीय प्रवाह और सम्प्रभुता को हानि
 - 10.5.2 व्यापार का त्रिकोणीय पक्ष और सम्प्रभुता को हानि
 - 10.5.3 विनियामकी विवाचन (निर्णयन) और सम्प्रभुता को हानि
 - 10.5.4 अतिदेशीयता और सम्प्रभुता
- 10.6 बहुराष्ट्रीय निगमों का अवबोधन—उत्साह
- 10.7 अधिकार निगमों का अवबोधन—संदेहवादी
- 10.8 सारांश
- 10.9 बोध प्रश्न

10.1 प्रस्तावना

हाल के वर्ष, इस बात के साक्षी रहे हैं कि नेताओं और आलोचकों में भीषण बहस छिड़ी है कि तीव्र भूमण्डलीकरण विश्व में बहुराष्ट्रीय निगमों का प्रचुरता से उदय हुआ है जिसके सगक्ष राज्य की भूमिका में परिवर्तन हुआ है। एक ओर नेता लोग यह घोषणा कर रहे हैं कि श्राज्य का अन्तः शीघ्र ही हो जाएगा जबकि आलोचक इस प्रकार की संभावनाओं से इंकार करते हैं। इसके स्थान पर वे विश्वास करते हैं, कि यह अप्रयुक्त का मामला है, इसे स्वयं नष्ट होने दीजिए, इस संबंध में राष्ट्र-राज्य अपने बयान बढ़ा-चढ़ा कर प्रस्तुत कर चुके हैं। तथापि बहुराष्ट्रीय या संक्रमणशील निगमों के स्तर के संबंध में दोनों की एक जैसी समझ के साझीदार हैं। वे तुलनात्मक राजनीति के किसी भी अर्थपूर्ण अध्ययन करने में अपनी उपेक्षा दिखाने के लिए अत्यंत महत्वपूर्ण बहुराष्ट्रीय राजनीतिक अभिनेता बन गए हैं। आज विश्व में इसके परिणामों को महत्वपूर्ण आकार दिया जा रहा है, बहुराष्ट्रीय निगमों के अनेक नगरों के सुझाव के साथ विश्व में व्यापक रूप से अभूतपूर्व अबाध दर और गति से इनका विस्तार हुआ है। बहुराष्ट्रीय निगमों का जितना बड़ा आकार और उनकी सम्पत्ति है, उसकी तुलनात्मक राजनीति के विद्यार्थियों के लिए इसकी उपेक्षा करना भी उतना ही बड़ा काम है। यद्यपि अधिकतर विश्लेषक इस विषय पर सहमत हैं कि इन निगमों का विस्तृत कार्यक्षेत्र और अत्याधिक संख्या में होने के बावजूद विशेषकर राष्ट्रराज्य के खास प्रकारों के सामान्यतः अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था में इनकी उपयोगिता य बिल्कुल नहीं है इस पर भी सही सहमत हैं। इस इकाई के उद्देश्य को पूरा करने के लिए हम बहुराष्ट्रीय निगमों के समर्थकों के लिए बहुराष्ट्रीय निगम उत्साह का उद्बोधन और इसके निन्दकों के लिए बहुराष्ट्रीय निगम: संदेहवादी का अवबोधन प्रस्तुत करेंगे। बहरहाल बहुराष्ट्रीय निगमों की शक्तियों और उनकी कमजोरियों तथा राष्ट्र-राज्य पर उनके पड़ने वाले प्रभावों का विश्लेषण करने से पहले हम बहुराष्ट्रीय निगम और राज्य के महत्व इन दो शब्दों की संक्षेप में परिभाषा देने का प्रयास करेंगे।

10.2 बहुराष्ट्रीय संक्रमणकालीन निगमों की परिभाषा के विषय में

बहुराष्ट्रीय निगमों की सुस्पष्ट परिभाषा के संबंध में विवादास्पद स्थिति अब लगभग समाप्त हो गई है। यहाँ तक कि बहुराष्ट्रीय और संक्रमणकालीन इन दो शब्दों के लिए तुलनात्मक राजनीतिक साहित्य में समान अर्थों में प्रायः प्रयोग

किए जाते हैं अथवा यह कह सकते हैं कि एक ही अर्थ में दोनों शब्दों को इस्तेमाल किया जाता है। फिर भी विभिन्न विद्वान इनको अलग-अलग नामों से इनकी विशेषताओं को प्रस्तुत करते हैं। अनेक भूमण्डलीयवादी इसे पादमुक्त-मुक्त (आधारहीन) तथा राज्यविहीन के रूप में व्यापकता से स्वीकार करते हैं, बहुराष्ट्रीय निगम को सुविधा के लिए एकल गृह देश में स्थापित मूलतः फर्म या कम्पनी के रूप में परिभाषित की जा सकती है जो कि किसी एक या इससे अधिक राज्यों में जिन्हें मेजबान देश के रूप में जाना जाता है उनमें निगम व्यापार के लिए निवेश करते हैं। फिर भी, यह परिभाषा सरल और कम विवादास्पद होते हुए भी विदेशी प्रत्यक्ष निवेश के लागू करने के संबंध में एक प्रमुख मुद्दा पैदा कर देते हैं। उदाहरण के लिए, जेकिन्स बार-बार सवाल उठाते हैं कि बहुराष्ट्रीय निगम के प्रस्तुत करने के लिए किस की हित साधना है। निगम का मूल देश, मेजबान देश, या फिर स्वयं फर्म की हित साधना है। इस विवाद के परिणामस्वरूप बहुराष्ट्रीय निगम पर विवाद का लेबल लगा हुआ है। क्या यह सच नहीं है कि बहुराष्ट्रीय अस्तित्व दाव की रकम के साथ अनेक देशों की हित साधना सम्पन्न होती है, या फिर यह और भी अधिक सत्य है कि बहुराष्ट्रीय निगम अपने मूल देश के हितों को पूरा करते हैं और थोड़ा बहुत जिस देश के साथ संबद्ध होते हैं यानि के मेजबान देश को भी कुछ आर्थिक लाभ उपलब्ध करा देते हैं। इसके अलावा अन्य पक्ष यह तर्क देते हैं कि वास्तव में, इसका नाम निगम शब्द ही मन मिथ्या है जो वास्तव में विशाल अस्तित्व का केवल एक हिस्सा है। यदि सच पूछा जाए तो इसका नाम निगम के स्थान पर बहुराष्ट्रीय उद्यम होना अधिक तथ्यपूर्ण है। यह विवाद का विषय कोई मायने नहीं रखता है कि कौन क्या कहता है और क्या होना चाहिए। वास्तव में, विवादास्पद स्थिति स्वयं ही अर्थहीन हो जाती है जब हम देखते हैं कि बहुराष्ट्रीय निगम दोनों तरह से लगातार अपने आकार और लाभ में विस्तृत हो रहे हैं। यदि हम 1960 के दशक से बहुराष्ट्रीय निगमों के विकास के आँकड़ों को आकलन करते हैं तो देखते हैं कि उस प्रकार के निगम घातांकी रूप से अत्यधिक संख्या में उभर कर सामने आए हैं। इन निगमों के विभिन्न स्वरूप हैं जैसे कि अन्तर्राष्ट्रीय, बहुराष्ट्रीय, राष्ट्र-पारीय या भूमण्डलीकरण निगम, इस तरह की कम्पनियों की संख्या 1960 में 3500 थीं तब से लेकर 1999 तक इनकी संख्या बढ़कर 60,000 हो गई है। इनमें से कुछ मूल कम्पनियाँ जैसे कि सेल, बार्कलेस बैंक, कोका कोला, फोर्ड माइक्रोसॉफ्ट या नेशले का 5,00,000 से अधिक विदेशी सम्बद्ध हैं। इसी प्रकार से इनका विदेशी प्रत्यक्ष निवेश को कुल मिलाकर स्टॉक में विश्वव्यापी विस्तार हुआ है, यह व्यापक विस्तार की राशि 1960 में 66 बिलियन डालर थी जो 1999 में 4,000 बिलियन डालर से अधिक की राशि हो गई। इसकी तुलना में यह राशि 1914 में केवल 14 बिलियन डालर मात्र थी। भौगोलिक रूप से भी इनका व्यापक विस्तार हुआ है जिसके परिणामस्वरूप यहाँ तक है कि जो औद्योगिकीकृत देश थे उनका भी इन पर कभी भी प्रभुत्व नहीं रहा है जैसे कि स्वीडन तथा कनाडा तथा कुछ और बड़े विकासशील देश भी कुछ ही कम्पनियों के बहुराष्ट्रीय विस्तार दे सके थे। यह बहुराष्ट्रीय कम्पनियाँ केवल 100 के लगभग अपने देशों से अन्य देशों में उच्च स्तर पर परिसम्पत्तियों को ही स्थापित कर पाई हैं। इन कम्पनियों में 50 पश्चिमी यूरोप, 27 संयुक्त राज्य अमेरिका, 17 जापान, 3 कनाडा और एक-एक ऑस्ट्रेलिया, वेनेजुयला तथा दक्षिणी कोरिया की कम्पनियाँ हैं।

10.3 भूमण्डलीकरण और बहुराष्ट्रीय निगमों की बदलता स्वरूप

सम्पूर्ण विश्व में भूमण्डलीकरण की प्रक्रिया के बाहर होने के साथ ही बहुराष्ट्रीय निगमों की प्रकृति में प्रचण्ड और सशक्त परिवर्तन आया है। यह हमारे समक्ष परिवर्तन के साक्ष्य हैं कि बहुराष्ट्रीय निगमों के अन्दर उत्पादन कार्यकलापों के स्तर पर तीव्र वृद्धि देखी जा सकती है। पुराने समय में एक स्पष्ट सीमांकन होता था जिसमें उत्पादन गतिविधियाँ केवल मुख्यालय में ही होती थीं तथा सहायक गतिविधियाँ उपांग शाखाओं में चलाई जाती थीं। अब, वास्तव में, कम्पनियाँ पूरी तरह से भूमण्डलीय हो गई हैं, जहाँ पर मुख्यालय केवल कार्यनीतियों के लिए निर्णय लेने के लिए सुविधाजनक स्थान के रूप में प्रयोग किया जाता है। वे दिन अब समाप्त हो गए हैं जब बहुराष्ट्रीय निगम को अनेक विदेश सम्बद्धता के लिए एक अमरीकी कम्पनी के आई.बी.एम. के समान आदर और सम्मान दिया जाता था। भूमण्डलीय संचार के क्षेत्र में क्रान्तिकारी विकास के कारण ब्रिकी का व्यापक प्रसार किया जाता था। आज बहुराष्ट्रीय निगमों की उत्पादन गतिविधियाँ सही में भूमण्डलीय बन कर रह गई हैं तथा इन्हें मुख्यालय में खोजने की आवश्यकता नहीं रही है। अनेक नई घटनाएँ समरूप या समान छाप वाली छवि पर विशेष जोर देने की रचना पर विपणन संबंधी कार्यनीतियों का भूमण्डलीकरण तथा सार्वभौमिक रूप से उच्चतम श्रेणी के प्रबंधन अधिकारियों की भर्ती करके सामान्य लोगों की शंका को निराधार बल दिया गया है। जो बहुराष्ट्रीय कम्पनियों के बारे में भूमण्डलीय रूप प्रदान कर दिया है। इसके विपरीत, जिस प्रकार से बहुराष्ट्रीय निगमों के महत्व में अभूतपूर्व वृद्धि की पृष्ठभूमि में कहा जा सकता है कि राज्य पर बहुराष्ट्रीय निगमों का राजनीतिक निहितार्थ होता है जिसका समयसमय पर विश्लेषण किया जाता रहा है। बहरहाल, बहुराष्ट्रीय निगम उत्साहपूर्ण अवबोधन पर चर्चा करने या इस पर बहस करने से पहले हमें यह देखना चाहिए कि अधिकतर राज्यों की सम्प्रभुता को कम करने के लिए कौन शक्तिशाली मामला बना रहा है? इन सबके बारे में विचार करने से अच्छा यह रहेगा कि हमें राज्य के विभिन्न अर्थों को अच्छी तरह से तुरन्त समझ लेना चाहिए।

10.4 राज्य और बहुराष्ट्रीय निगम

इस संदर्भ में बहुराष्ट्रीय निगम और सरकारों के बीच संतुलन बनाने का प्रयास किया गया है जिसमें रोड हेग और मार्टीन हरूप ने आधुनिक स्वरूप प्रस्तुत किया है। इन्होंने आर्थिक और राजनीतिक शक्तियों के बीच संबंधों के बहुत पुराने सवाल को हल करने का प्रयास किया है। इसके वर्तमान स्वरूप में शासन से संबद्ध होने का तर्क बहुत साधारण है। पूँजी संचल या गतिशील होती है और श्रम कम है, इसमें राज्य की भूमिका नगण्य है अथवा यह कह सकते हैं कि राज्य इसमें शामिल नहीं है। कम्पनियाँ अन्य देशों के बीच अपनी फैक्टिरियाँ स्थापित कर सकती हैं जबकि राज्य ऐसा करने में असमर्थ होते हैं, राज्य की परिभाषा के अनुसार वे सीमित स्थान या निर्धारित स्थान में स्थित होते हैं। इसके परिणामस्वरूप अन्य देश अपने यहाँ विदेशी प्रत्यक्ष निवेश के लिए किसी भी कम्पनी को आकर्षित करने के लिए प्रतियोगिता कर सकते हैं। अच्छा वातावरण उपलब्ध कराने के लिए जो कम से कम मैत्रीपूर्ण व्यापारिक संबंधों के रूप में प्रतियोगिता वाले राज्यों के लिए स्पष्ट रूप से उनकी सरकारों के समक्ष संभावित प्रतियोगी गैर-विनियम और कर प्रतियोगिता में छूट देना एक प्रमुख चुनौती का सामना करना पड़ता है। इसलिए स्पष्ट है कि बहुराष्ट्रीय निगम कम लागत और करों की छूट, देश से बाहर भेजने के लिए अधिक लाभ, कमजोर या नमनीय मजदूर संघों, तथा विधेय विनियम, प्रासंगिक कौशल के साथ कार्यबल, स्थायी राजनीतिक स्थिति, व्यापारिक वातावरण और प्रभावी परिवहन और संचार सुविधाओं का ध्यान रखते हुए अपने हितों को सुरक्षित रखते हुए कार्य स्थापित करेगी। सरकारें बहुराष्ट्रीय निगमों के साथ विभिन्न मुद्दों और उनकी माँगों को पूरी करते हुए उन्हें समाहित करने तथा सम्प्रभुता के साथ समझौता करने के लिए बाध्य होती हैं।

श्राज्यश की संकल्पना की एक व्यापक रूप से प्रयोग की जाने वाली परिभाषा श्राजनीतिक शासन की एकमात्र विधि सम्मत इकाई है, जिसकी अपनी जनसंख्या, क्षेत्र और स्वायत्तता अथवा सम्प्रभुता सम्पन्न सरकार की प्रसिद्ध है। यह सब विशेषताएँ सम्प्रभुता के सिद्धान्त को दृढ़ बनाती हैं जो राज्य की प्राधिकृतता को एकीकृत करती हैं जिसके साधन या माध्यम होते हैं अपने देश में और अपने देश के बाहर स्वतंत्रतापूर्वक और स्वायत्तता के अस्तित्व के साथ कार्यवाई और निर्णय लेने के लिए आबाध रूप से अपने अधिकृत क्षेत्र के प्राधिकार के तहत स्वतंत्र और सक्षम होते हैं। यह राज्य की प्रभुसत्ता की महत्वपूर्ण विशेषता भी है जिसमें बहुराष्ट्रीय निगमों के समर्थकों द्वारा भयानक आक्रमण किया जाता है, उनका केवल यही एक तर्क नहीं है कि राज्य की प्रभुसत्ता तेजी से समाप्त हो रही है बल्कि बहुराष्ट्रीय राजनीतिक अभिनेता के रूप में बहुराष्ट्रीय निगमों का महत्व बढ़ रहा है। इसी प्रकार राष्ट्र-राज्य का भविष्य राजनीतिक इकाई के रूप में भी उसपर बाहरी स्रोतों से अनेक आक्रमण अभी तक होते रहे हैं। अधिराष्ट्र निकायों के विकास में वृद्धि हो रही है जैसेकि संयुक्त राष्ट्रीय और यूरोपीयन संघ जिसमें आर्थिक और सांस्कृतिक भूमण्डलीकरण की वृद्धि हुई है। पर्यावरण के संकट से निपटने के लिए अन्तर्राष्ट्रीय समाधान खोजने की आवश्यकता है परन्तु राष्ट्र-राज्य की संस्थाएँ इस दशा में काम करने के लिए अर्थहीन हैं। इसके अतिरिक्त आर्थिक जीवन का भूमण्डलीकरण का विकास हुआ है और इसीलिए बाजार की विशेषताओं में तीव्रता से परिवर्तन हुआ। अन्तर्राष्ट्रीय परिवर्तन के संदर्भ में बाजार और विश्व बाजार के रूप में बदल गया है। अधिकतर व्यापार को बहुराष्ट्रीय निगमों अपने नियंत्रण में लिए हुए हैं। यह पलक झपटे ही निगमों के नियंत्रण में हो गई। इन सबके परिणामस्वरूप हमारी सारी दलीलें राष्ट्र-राज्यों की शक्तियों के क्षरण होने या कम होने और उनकी अर्थव्यवस्था पर नियंत्रण की खामियों की ओर केन्द्रित हो जाता है। राज्यों की सम्प्रभुता के क्षरण के मुद्दे की समीक्षा करने से पहले, आइए, हम राज्य की कुछ प्रमुख विशेषताओं के संबंध में चर्चा करते हैं।

10.4.1 राज्य की मुख्य विशेषताएँ

एंड्रयू हेवुड ने राज्य को पाँच मुख्य विशेषताओं में वर्गीकृत किया है, यह हमारे उद्देश्य को पूरा करने के लिए महत्वपूर्ण हैं तथा इन्हें निम्नलिखित में पुनः प्रस्तुत किया जा रहा है।

- राज्य सम्प्रभुता सम्पन्न होता है। वह असीमित और अबाध शक्तियों का प्रयोग करता है तथा समाज में सभी अन्य संस्थाओं और समूहों में श्रेष्ठतम होता है।

थॉमस हॉबस ने इस राज्य के विचार को तिर्मिंगलन लेवीयशन अति भयंकर भीमकाय राक्षस या अप्राकृतिक पिशाच के रूप में प्रस्तुत किया है। यह प्रायः समुद्री दैत्य के नाम से भी जाना जाता है। राज्य संस्थाओं में सार्वजनिक और इसके विपरीत नागरिक समाज की संस्थाओं को निजी के रूप में मान्यता दी जाती है। सार्वजनिक निकाय सामूहिक निर्णय लेने के लिए बाध्य होती हैं जबकि निजी निकाय, जैसे कि परिवार, निजी व्यापार और व्यापारिक संघ अपने व्यक्तिगत हितों को पूरा करने के लिए कार्य करती हैं। राज्य के कार्य विधि सम्मत या वैधानिक तरीके से पूरे किए जाते हैं। राज्य के निर्णय (यद्यपि आवश्यक नहीं) समाज के सदस्यों द्वारा स्वीकृत हों और उनके पालन के लिए बाध्य हो। क्योंकि यह दावा किया जाता है कि ये जन हित में बनाए जाते हैं या सामान्य जन की भलाई के लिए बनाए जाते हैं। राज्य को चाहिए कि यह हमेशा अच्छे कार्य कर जो लोगों की स्थायी भलाई के लिए ही हों।

राज्य एक शासन या प्राधिकार का साधन है। राज्य प्राधिकारी की पृष्ठभूमि बल धारणा के आधार पर शासन पर काबिज होते हैं। राज्य सरकार को अपने कानून बनाने में सुनिश्चित होना चाहिए वहीं पर उसे अपने कानूनों का उल्लंघन करने पर दण्ड देने की क्षमता होनी चाहिए। राज्य को वैधानिक हिंसा (मेक्स वेबर) करने की छूट होनी चाहिए। इसलिए कहा जा सकता है कि यह प्रभुसत्ता का व्यवहारिक प्रदर्शन होता है।

राज्य एक क्षेत्रीय या प्रादेशिक संस्था होती है। राज्य का क्षेत्राधिकार भौगोलिक रूप से परिभाषित किया गया है और वे लोग जो राज्य की सीमाओं में रहते हैं, चाहे के नागरिक हों या फिर और—नागरिक वे राज्य क्षेत्र में सम्मिलित होते हैं। अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर, राज्य को (कम से कम सिद्धान्त में) एक स्वायत्त अस्तित्व के रूप में स्वीकार किया जाता है।

राज्य की कुछ महत्वपूर्ण विशेषताओं को देखने के पश्चात् अब हम शायद राज्य की सम्प्रभुता को अच्छी तरह विश्लेषित करने में समर्थ हैं अथवा राज्य की स्वायत्तता और जो विद्वानों के दो व्यापक श्रेणियों के तर्कों की उपर्युक्त शब्दों में पहचान की है वे हैं बहुराष्ट्रीय निगम – उत्साह का अवबोधन और बहुराष्ट्रीय निगम – संदेहवादी का अवबोधन।

10.5 बहुराष्ट्रीय निगमों का बढ़ता प्रभाव और सम्प्रभुता को हानि

पीटर विल्लेट्स ने बहुराष्ट्रीय निगमों सहित राष्ट्र-पारीय अधिकर्ताओं के व्यापक क्षेत्र में हाल में ही अध्ययन किया है। इसमें उन्होंने उन आधारों को बताया है जिसके कारण राज्य अपनी सम्प्रभुता को बनाए रखने में असमर्थ दिखाई दे रहे हैं। इन आधारों को संक्षेप में नीचे इसलिए दिया जा रहा है ताकि आप बहुराष्ट्रीय निगमों की प्रकृति और उसके विस्तार को समझ सकें। ये निगम अपने बहुराष्ट्रीय भविष्य को विस्तार देने के लिए और राज्य की सभी शक्तियों को उपमार्गी प्रक्रिया द्वारा नष्ट करने के प्रयासों में लगे हुए हैं।

10.5.1 वित्तीय प्रवाह और सम्प्रभुता को हानि

राज्यों पर प्रमुख कम्पनियों के अत्याधिक बहुराष्ट्रीयकरण के राजनीतिक प्रभाव का विश्लेषण करते हुए विल्लेट्स तर्क देते हैं कि यह अधिक समय तक नहीं चलेगा कि प्रत्येक देश को उसकी अर्थव्यवस्था से जोड़कर उसकी पहचान करेगा। इसके कारण सम्प्रभुता के दो सबसे अत्याधिक महत्व वाले मूल विशेषताओं पर प्रभावी नियंत्रण रखने में राज्य की क्षमता पर गंभीर प्रभाव पड़ा है, अर्थात् मुद्रा पर नियंत्रण और विदेश व्यापार। एक उदाहरण के माध्यम से स्पष्ट करते हैं कि अन्तरा फर्म व्यापार अत्याधिक वृद्धि का मामला और लगातार स्थानान्तरण मूल्यों को निर्धारित करने का सहारा लेना पड़ता है जिसका पूरा लाभ बहुराष्ट्रीय निगमों को मिलता है, इस संबंध में विल्लेट्स दिखाना चाहते हैं कि किस प्रकार से राज्य वित्तीय प्रवाह के नियंत्रण के संबंध में सम्प्रभुता को कितना तेजी से नुकसान उठाना पड़ रहा है या यह कह सकते हैं कि सम्प्रभुता को गहरी चोट पहुँच रही है। अन्तरा फर्म व्यापार मूल रूप से यह प्रक्रिया है जिसमें बहुराष्ट्रीय निगम की एक शाखा होती है जो अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का रूप धारण करती है वह दूसरे देश में उसी कम्पनी से संबद्ध होती है। बॉक्साइट के केस में सारा व्यापार अन्तराफर्म होता है तथा इसलिए बॉक्साइट के लिए विश्व बाजार के रूप में ऐसी कोई वस्तु नहीं है। स्थानांतरण मूल्य वह मूल्य होता है जिसे वस्तुओं या सेवाओं के अन्तरा फर्म व्यापार के लिए बहुराष्ट्रीय निगम निर्धारित करती है। इस प्रक्रिया के अन्तर्गत क्या होता है कि निर्यात के लिए मूल्य निर्धारित किया जाता है, परन्तु यह आवश्यक नहीं है कि इसका संबंध किसी बाजार दर से संबद्ध हो। अतः स्थानान्तरण मूल्य में परिवर्तन से यह आवश्यक नहीं है कि इसका बिक्री पर किसी प्रकार का प्रभाव पड़ता हो अथवा कम्पनी को पूर्व कर लाभ की प्राप्ति होती हो। विल्लेट्स के अनुसार अन्तरा-फर्म व्यापार का जो तर्क है वह अन्तःदेशीय व्यापार से बिलकुल भिन्न है, सरकार बहुराष्ट्रीय निगमों पर अपने वित्तीय और राजकोषीय प्रभावों की स्पष्ट अपेक्षा नहीं कर सकती है। कहने का तात्पर्य यह है कि सरकार अपनी नीतियों से निगमों को प्रभावित करने में असमर्थ होती है। इन सभी कारणों के परिणामस्वरूप राज्य वित्तीय प्रभावों पर नियंत्रण करने में असमर्थ होती है इसलिए राज्यों की प्रभुसत्ता का क्षरण होता है अथवा यह कह सकते हैं कि उसकी सम्प्रभुता को नुकसान उठाना पड़ता है। 10.5.2 व्यापार का त्रिकोणीय पक्ष और सम्प्रभुता को हानि

त्रिकोणीय पक्षों के साधनों पर आश्रित रहने की प्रवृत्ति में वृद्धि हुई है जिसके कारण व्यापार पर राज्यों के नियंत्रण से बचने या उपेक्षा करने के लिए कम्पनियों ने एक स्तर की तकनीकी प्रणाली का निर्माण कर लिया है। त्रिकोणीय पक्ष की प्रक्रिया यह स्थिति स्पष्ट करती है कि जिसमें व्यापार दो देशों में होता है किन्तु अप्रत्यक्ष रूप से यह व्यापार तीसरे देश के माध्यम से संचालित होता है। इस संबंध में उपर्युक्त उदाहरण ब्रिटेन और अर्जेंटीनिया के बीच हुए फाकलैण्ड युद्ध हैं, विल्लेट्स यह बताना चाहते हैं कि यूरोपीय समुदाय ने अर्जेंटीनिया की कम्पनियों पर आर्थिक संस्वीकृतियाँ लागू की जो वित्तीय संबंधी थी फिर भी वह इस त्रिकोणीय पक्ष को संतुष्ट कर रहा था और अपना आयात ब्राजील या पश्चिमी यूरोप के माध्यम से लगातार कर रहा था। यह बहुराष्ट्रीय कम्पनियों के लिए भी संभव था कि वे अपनी वैकल्पिक रूप से अपनी शाखाओं को तीसरे देश में फिर से स्थापित कर लेती थी और उसके माध्यम से अपने आदेश या व्यापार को संचालित करती रहती थी। यह सब उदाहरण स्पष्ट करते हैं कि राज्य अपनी वस्तुओं का प्रत्यक्ष आयात या निर्यात पर नियंत्रण तो करने में सफल हो

सकते थे किन्तु अप्रत्यक्ष रूप से एक देश से दूसरे देश में व्यापार पर पाबन्दी लगाने यह उसे रोकने में राज्य सक्षम नहीं थे वे उनके लिए यह कार्य सम्भव नहीं था। विल्लेट्स तर्क प्रस्तुत करते हैं कि त्रिकोणीय पक्षों की शक्ति बहुराष्ट्रीय कम्पनियों में निहित है इसलिए शायद इनकी कार्यवाहियों का सामना करने के लिए केवल सुरक्षा परिषद के संकल्प ही कर सकते हैं या उनके द्वारा ही इस पर नियंत्रण किया जा सकता है। परन्तु इस स्थिति में संबद्ध व्यापार पर सम्प्रभुता का मुद्दा सुरक्षा परिषद के पास चला जाएगा। और व्यापार पर नियंत्रण व्यक्तिगत राज्यों के पास नहीं रहेगा।

10.5.3 विनियामकी विवाचन (निर्णयन) और सम्प्रभुता को हानि

बहुराष्ट्रीय निगमों द्वारा एक अन्य आधार पर विनियामकी विवाचन नामक दस्तावेज तैयार किया जो वास्तव में सम्प्रभुता से एक समझौता था। इसमें अपने देश में कम्पनियों की व्यापारिक गतिविधियों को नियंत्रित करने से संबंधित था, इससे सरकारों का कम्पनियों पर नियंत्रण कमजोर हुआ। विवाचन और विनियामकी विवाचन यह दो शब्द विशिष्ट अर्थों में प्रयुक्त होते हैं ये विभिन्न सरकारों पर बहुराष्ट्रीय निगमों के नियंत्रण को लागू करने के संबंध में प्रयोग किया जाता है। विवाचन की साधारण प्रक्रिया होती है इसमें एक उत्पाद को किसी एक बाजार से खरीदा जाता है और दूसरे बाजार में बेच दिया जाता है। इन दो बाजारों के बीच क्रय विक्रय में जो मूल्य के अन्तर से लाभ प्राप्त होता है उसे विवाचन शब्द से जाना जाता है या उसका लिए इसका प्रयोग किया जाता है। विनियामकी विवाचन का प्रयोग विश्व की बैंकिंग व्यवस्था के संबंध में किया जाता है। विनियामकी विवाचन का प्रयोग निधियों या व्यापारिक गतिविधियों को एक देश से दूसरे देश के संचालन की प्रक्रिया के लिए प्रयोग किया जाता है ताकि सरकार द्वारा लागू की जाने वाले कानूनी बाधाओं से बचते हुए लाभ कमाया जा सके। इसी तरह से विल्लेट्स कहते हैं कि यह शर्त सरकारी नीति के प्रतिउत्तर में किसी भी कम्पनी द्वारा आर्थिक कार्यकलाप के स्थानान्तरण पर लागू की जा सकती है। यद्यपि बहुराष्ट्रीय कम्पनियाँ और बैंकों की व्यापारिक गतिविधियों को भी नियंत्रित करने के लिए अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर संस्थानिक रचनातंत्र विकसित किया हुआ है। इस प्रकार के अन्तर्राष्ट्रीय शासनादेश की अनिवार्यता नहीं होती जैसे कि बास्ले समिति और यूरोपीय समुदाय इसे सभी देशों पर लागू नहीं करते हैं। विल्लेट्स फिर कहते हैं कि पचाहे कम्पनियों पर सम्प्रभुता को सफलतापूर्वक लागू भी कर दिया जाए या उसे स्वीकृति उपलब्ध कर भी ली जाए फिर भी यह अन्तःसरकारी निकाय के समक्ष सम्प्रभुता का आंशिक समर्पण तो माना ही जाएगा।

10.5.4 अतिदेशीयता और सम्प्रभुता

एक काल्पनिक स्थिति का उदाहरण देते हुए विल्लेट्स प्रदर्शित करते हैं कि किस प्रकार से सभी बहुराष्ट्रीय निगमों की संरचना में इतर क्षेत्रीयता की समस्या समाई हुई होती है जिसके कारण विभिन्न सरकारों के बीच एक दूसरे से टकराने की स्थिति बन जाती है। इस उदाहरण को प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि एक काल्पनिक कम्पनी जिसका मुख्यालय अमेरिका में स्थित है और एक सहायक कम्पनी है जो उसके अपने ब्रिटेन में है। विल्लेट्स यह बताना चाहते हैं कि एक समय में प्राधिकार की तीनधाराएँ किस प्रकार कार्य करती हैं। एक लम्बे समय तक अमेरिका मुख्य कम्पनी पर नियंत्रण रखता है और ब्रिटेन उसकी सहायक कम्पनी को नियंत्रित करता है। इन दोनों देशों के बीच किसी प्रकार का विरोध या संघर्ष नहीं होगा। यह दोनों अपने-अपने क्षेत्राधिकार में सम्प्रभुता सम्पन्न प्राधिकारी होंगे और अपने आन्तरिक मामलों को स्वयं निर्धारित करेंगे। वे सामान्य स्थितियों के अन्तर्गत क्रय, उत्पादन और विक्रय पर अपनी नीतियों के नियंत्रण के संबंध में बहुराष्ट्रीय निगमों को अच्छे अधिकार भी सहर्ष देना चाहेंगे। तथापि जब अमरीकी सरकार बहुराष्ट्रीय निगमों को भूमण्डलीय प्रचालन अपने अधिकार क्षेत्र में लेकर निर्णय लेने की स्थिति में है यहाँ पर सम्प्रभुता के लिए संघर्ष होना अनिवार्य हो जाएगा। यहाँ पर सहायक कम्पनी अनिवार्य रूप से उलझन में फँस जाएगी वह नहीं जानती कि वह ब्रिटेन सरकार के आदेश का पालन करे अथवा उसके मुख्यालय द्वारा प्रेषित आदेश अमेरिका के आदेश का पालन करें। इस प्रकार की काल्पनिक स्थिति वास्तव में बीते समय में वास्तविक रूप धारण कर लिया था जब साईबेरियाई गैस पाइप लाइन पर संघर्ष का मामला सामने आया। अमेरिका ने कनाडा पर क्रोधित होकर कहा कि वह कनाडा में स्थित अमेरिकी कम्पनियों की सहायक कम्पनियों को आदेश दे कि ट्रेडिंग विद दी इनेमी एकट के अन्तर्गत शत्रुश्मन देशों, जैसे कि क्यूबा तथा चीन, को अपना माल न बेचे।

10.6 बहुराष्ट्रीय निगमों का अवबोधन उत्साह

बहुराष्ट्रीय निगम – उत्साह का दृष्टिकोण एक आर्थिक व्यापार संघ है जो कि आवश्यक क्षमता जाने – कैसे और उनकी बुद्धिमानी जो विश्व के एकल आर्थिक इकाई के रूप में देखते हैं और अधिकतम क्षमता तथा उत्पादन के लिए उत्पादन के घटकों का संयोजन करते हैं जैसे कि श्रम, भूमि, पूँजी और प्रबंधन। वे बहुराष्ट्रीय निगम की क्षमता में आश्चर्यजनक विश्वास प्रदर्शित करते हैं, कम दाम पर अधिक और अच्छा उत्पाद प्रस्तुत करते हैं। इसीलिए इन उत्पादों के लिए तीव्रता से सार्वभौमिक माँग पैदा हुई है। बहुराष्ट्रीय निगम – उत्साह में अटल विश्वास के लिए प्रमुख कारण बहुराष्ट्रीय निगमों की

कार्यक्षमता है, अपने संसाधनों को पैदा करना, अनेक देशों से अपने प्रबंधन स्टाफ का चयन करना जोकि लागत-प्रभावी शर्तों पर उत्पादन के प्रत्येक कारक को प्रस्तुत करते हैं।

बहुराष्ट्रीय निगम – उत्साह कम विकसित देशों में आधुनिक विश्व का शक्तिशाली एजेंट के रूप में बहुराष्ट्रीय निगमों की ओर देखता है। उनके अनुसार बहुराष्ट्रीय निगम रोजगार के नए अवसर पैदा करना, विकसित प्रौद्योगिकी प्रस्तुत करना, तथा विश्व के कम विकसित देशों में स्थानीय नागरिकों को आधुनिक प्रबंधन की कला और विज्ञान में निपुण बनाने का कार्य करता है। उप-उत्पादन में सबसे महत्वपूर्ण में से एक हैं, इसलिए बहुराष्ट्रीय निगमों की गतिविधियाँ उत्पादन और वितरण प्रक्रिया का अन्तर्राष्ट्रीयकरण हो गया है। उनकी विवेकपूर्ण आर्थिक – विकास संरचना में व्यावसायिक निष्ठा का आभास होता है। इन्होंने राष्ट्र-राज्य के अपने प्रबंधकों और कर्मचारियों की अन्ध देशभक्ति या अन्ध राष्ट्रभक्ति से दूर रखा है इसलिए बहुराष्ट्रीय निगम विश्व के अच्छे नागरिक साबित हुए हैं। पुराणपंथी राष्ट्रवाद तथा युद्ध के विरोधी हैं वहीं पर वे विश्व कानून और सरकारों के माध्यम से विश्व शान्ति और विकास का मार्ग तैयार करते हैं।

वास्तव में, बहुराष्ट्रीय निगम-उत्साह यानि कि बहुराष्ट्रीय निगमों का अत्यन्त शक्तिशाली तर्क यह है कि उन्होंने अपने उत्पादों को विश्व स्तर पर पहुँचा दिया और उन्हें सुविधाओं के साथ सम्मिलित कर दिया है। इसलिए अन्तर्राष्ट्रीय युद्धों का व्यवहार अपने आप में अप्रचलित हो गए हैं। अटलांटिक समुदाय दो भयंकर और भीमत्स युद्धों का साक्षी है, परन्तु अब बहुराष्ट्रीय निगमों की गतिविधियों के लाभदायक विकास के परिणामस्वरूप पूर्णरूपेण से परिवर्तन हो गया है तथा क्योंकि इस क्षेत्र में क्षेत्रीय एकीकरण की प्रक्रिया भी सफल हो गई है। बहुराष्ट्रीय निगम-उत्साह का तर्क है कि अन्तःनिर्भरता में विकास होने तथा आपसी प्रतियोगिता का आज अटलांटिक देशों में विकास हुआ है इसलिए यह कहा जा सकता है कि अमेरिका और कनाडा या फ्रांस और जर्मनी के बीच युद्ध जैसी घटना होना असंभव है।

बहुराष्ट्रीय निगम – उत्साह के दृष्टिकोण का निष्कर्ष निकालते हुए हमें यह ध्यान रखना चाहिए कि वे सब भूमण्डलीय निगमों की कार्यविधियों के संबंध में बहुत आशावादी हैं तथा उनका मानना है कि इनके कारण शान्ति और समृद्धि के नए युग में प्रवेश किया है। उनके विचारों में केवल एक विचार शामिल करने की आवश्यकता है फिर भी बहुराष्ट्रीय निगम गतिविधियों के अन्तर्राष्ट्रीय विनियमों के अच्छे हुए बिना, तथा विभिन्न राष्ट्रीय कानून व्यवस्था के स्तरीकरण के बिना यह सब संभव नहीं हो सकता है। इस तरह के रचना तंत्र को अपनाए बिना बहुराष्ट्रीय निगम उत्साह में पूँजी, प्रबंधन, प्रौद्योगिकी और उच्च सुविधाजनक आर्थिक उत्पाद का भी प्रभावी नहीं बनाएगी बल्कि स्थानान्तरण के साथसाथ सदभावना पूर्ण विधिसम्मत समुदाय को विश्व वास्तविक एक श्विश्व गाँव या भूमण्डलीय व्यापार केन्द्र के रूप में परिवर्तित करने में भी समर्थ हो जाएगी।

10.7 अधिकार निगमों का अवबोधन – संदेहवादी

बहुराष्ट्रीय निगम – उत्साह में बहुत अधिक विषमताएँ हैं, बहुराष्ट्रीय निगम-संदेहवादी के संबंध में बहुराष्ट्रीय कम्पनियों की भूमण्डलीय निगमित गतिविधियों के साथ समस्याओं की व्यापक क्षेत्रों की पहचान की गई है। केवल तीसरी दुनिया के अत्यधिक गरीब देशों ने ही बहुराष्ट्रीय निगम के संबंध में आशंका व्यक्त की है बल्कि विश्व के विकसित भागों में बहुराष्ट्रीय निगमों के कार्यों के गंभीर निहितार्थ के संबंध में लगातार चिन्ता व्यक्त की जाती रही है। पश्चिमी देशों के अनेक सुसंगठित मजदूर संघों का मानना है कि बहुराष्ट्रीय निगम अपने संयंत्रों को वहीं स्थापित करते हैं, जहाँ पर सस्ते श्रमिक मिलते हैं, इनके इस तीव्र परिचालन के कारण अमेरिका, ब्रिटेन और विश्व के अन्य विकसित देशों में बेरोजगार की गंभीर समस्या पैदा हो गई है।

बार्नेट और मूलर ने बहुराष्ट्रीय निगम – संदेहवादी के संबंध में बहुत ही सारगर्भित तर्क प्रस्तुत किए हैं। इन दोनों विद्वानों का मानना है कि बहुराष्ट्रीय कम्पनियाँ बहुत ही शक्तिशाली मानव संगठन हैं और ये भविष्य के उपनिवेश निर्माण के साधन हैं। बहुराष्ट्रीय निगमों पर वे सीधे प्रहार करते हैं कि कौन विश्वास करता है कि बहुराष्ट्रीय कम्पनियों की भूमण्डलीय निगमित गतिविधियाँ शान्ति और समृद्धि के नव स्वर्ण युग में प्रवेश कर रही हैं, बार्नेट और मूलर तर्क देते हैं कि व्यापक भुखमरी, अत्याधिक बेरोजगारी और व्यापक असमानता जैसी भयंकर समस्याओं के संबंध में इस तरह की निगमों के पास कोई कार्यक्रम अथवा कोई एजेण्डा नहीं है। यहाँ पर मुख्य विवाद यह है कि बहुराष्ट्रीय निगम छिपे हुए जमींदार की तरह से हैं जो सबसे पहले अपने लाभ की चिन्ता करते हैं, वे बुनियादी मानवीय आवश्यकताओं के बारे में गंभीर या संवेदनशील नहीं हैं। इसके अति विशाल और सम्मोहक विज्ञापन अभियानों के कारण, ये कम्पनियाँ केवल तीसरी दुनिया के लोगों की पसंद या जायका और उनके जीवन शैली को ही नष्ट नहीं कर रहे हैं बल्कि उनको ऐश्वर्य वस्तुओं का आदी बनाकर उन्हें आवश्यकता के रूप में परिवर्तित कर रहे हैं। सामाजिकता के व्यापक और गंभीर मुद्दों जैसे कि पोषण, स्वच्छ वायु और सार्वजनिक स्वास्थ्य को इन निगमों ने कभी नहीं उठाया और न ही इन पर कुछ काम किया, इसलिए बहुराष्ट्रीय निगम – संदेहवादी तर्क अपने आप में तथ्यपूर्ण है। यहाँ पर हमें एक हाल में हुए विवाद को अवश्य याद रख लेना चाहिए कि

कोका-कोला में कीटनाशक दवाओं का अत्यधिक मिश्रण पाया गया जिसके फलस्वरूप भारतीय संसद और मीडिया हिल गया था। कई दिनों तक यह मिलावट का मुद्दा संसद और मीडिया पर छाया रहा।

वास्तव में बहुराष्ट्रीय निगम-संदेहवादी का मुद्दा तीसरी दुनिया के अत्यधिक गरीब देशों में बहुराष्ट्रीय निगम की गतिविधियों को विस्तार देने से संबंधित राजनीतिक विवाद है। किसी विनियामक की रचना तंत्र के बिना इन देशों का भविष्य न केवल उजड़गा बल्कि आने वाले समय में घोर असमानता, व्यापक बेरोजगारी तथा प्राकृतिक संसाधनों का दोहन जैसी समस्याओं का सामना करना पड़ेगा। बहरहाल बार्नेट और मूलर के अनुसार इस तरह का भाग्य केवल अत्यधिक गरीब देशों के लिए ही आरक्षित नहीं हैं, बल्कि यहाँ तक की आगे चलकर अमीर देश भी इससे प्रभावित होंगे। अमेरिका और अन्य विकसित देशों से फैक्टरी और यहाँ तक कम्पनी मुख्यालय अलग-अलग देशों में प्रयास होने में वृद्धि होने के परिणामस्वरूप बेरोजगारी और आय का सहवर्ती कुवितरण से पश्चिम के उद्योगों पर और अधिक भार बढ़ेगा। अन्त में बहुराष्ट्रीय निगमों अत्यधिक गरीब देशों में अपने उपनिवेश स्थापित कर रही हैं, और अमीर देशों को लगातार कमजोर और अस्थिर बनाने में लगी हुई हैं जबकि जो लोग इस प्रकार के निकायों का निर्माण कर रहे हैं वे स्वयं अत्यधिक लाभ कमाकर अमीर बनते जा रहे हैं। वे अन्ततः निराशावादी मानते हैं कि न तो तीसरी दुनिया की सरकारें और न ही पश्चिम का औद्योगिकृत सरकारें कुछ बहुराष्ट्रीय निगमों के हाथों में सम्पत्ति के केन्द्रीयकरण की प्रक्रिया को रोकने में असमर्थ होंगे जबकि उस समय तक प्रत्येक व्यक्ति दरिद्र हो जाएगा।

10.8 सारांश

उपर्युक्त चर्चा से जो निष्कर्ष निकला है वह बिल्कुल स्पष्ट है कि बहुराष्ट्रीय निगमों न केवल बहुत ही महत्वपूर्ण बहुराष्ट्रीय राजनीतिक अभिकर्ता बन गई हैं बल्कि वे बहुत ही धनी और शक्तिशाली सिद्ध हुई हैं जिसके कारण वे आज के विश्व में होने वाले परिणामों पर विशेष दबाव डालकर उसे प्रभावित भी कर सकती हैं तथापि, मेजबान देशों, मूल देश या गृह देश और फर्म के बीच अन्तर्निर्भरता संशय मिश्रित करके बहुराष्ट्रीय निगमों ने भविष्य में विवादों को पैदा करके एक भूमण्डलीय नेटवर्क तैयार किया है ताकि वह अन्य लोगों को भ्रमित करती रहें और अनुकूल लाभ कमाती रहें। इसके साथ यह, भी एक सत्य है कि कुछ ही ऐसे देश हैं जो अन्तर्राष्ट्रीय निवेश का प्रतिरोध अथवा मना करने की स्थिति में हैं, वे लगातार पूछते रहते हैं कि बहुराष्ट्रीय निगमों का राष्ट्रीय हितों पर क्या प्रभाव पड़ेगा। यह कोई मामला नहीं है कि आज बहुराष्ट्रीय निगम किस प्रकार शक्तिशाली बन गई हैं, राष्ट्र-राज्य यह नहीं लिख सकते थे कि यदि विशुद्ध रूप से क्षेत्रीयता का कारक सामने न होता। राष्ट्र-राज्य लगातार अपने क्षेत्राधिकारों और उनके निवासियों पर स्पष्ट तौर पर सीमांकन करने के लिए सेना और राजनीतिक शक्ति का प्रयोग करते रहते हैं। बहुराष्ट्रीय निगम कभी भी राज्य के प्राधिकारों को चुनौती नहीं दे सकते हैं और न ही वे राजनीतिक शक्ति बनने का दावा करती हैं, इसलिए उन्हें राजनीति नियम की एकमात्र विधिसम्मत इकाई विश्व स्तर पर सार्वभौमिक रूप से स्वीकार किया गया है। इसके साथ ही जीवनक्षम राजनीतिक संगठन के रूप में राष्ट्र-राज्य के सिद्धान्त को आने वाले समय में और अधिक शक्ति मिलने की संभावनाएँ हैं। उदाहरण के लिए, बीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में 18 नए राज्यों का उदय हुआ है। कुछ भी हो इस प्रवृत्ति के उन्नयन का यह स्पष्ट सूचक है। राज्य लगातार शक्तिशाली होता जा रहा है जिसमें सांस्कृतिक संबद्धता और राजनीति इकाई दोनों के संरक्षण की शक्ति समाई हुई है अथवा उसमें अन्तर्निष्ठ है। इसलिए वे उनको जो सामान्य सांस्कृतिक या मानव जातीय अधिकार के प्रयोग के लिए अनुमति प्रदान करते हैं। राज्य के सभी नायक इस विचार से सहमत हैं कि कोई भी अन्य सामाजिक समूह वैकल्पिक राजनीतिक समूह निर्माण करने का दावा प्रस्तुत नहीं कर सकता है। इस तरह के विवाद में यह तर्क निहित है कि बड़ी राष्ट्रीय निकाय जैसे कि यूरोपीय संघ अथवा बहुराष्ट्रीय निगम कभी भी राज्य का दर्जा और कमान जैसे कि राज्य के रूप में सभी की मान्य राजभक्ति समाहित हो अन्य कोई इसका स्थान प्राप्त नहीं कर सकता है।

10.9 बोध प्रश्न

1. बहुराष्ट्रीय निगमों से आप क्या समझते हैं? भूमण्डलीकरण के युग में बहुराष्ट्रीय निगमों की बदलती हुई प्रकृति की चर्चा कीजिए।
2. राज्य की मुख्य विशेषताओं की संक्षेप में लिखिए तथा बहुराष्ट्रीय निगमों के बढ़ते हुए महत्व के उदय होने की स्थिति में राज्य की बदलती हुई प्रकृति को स्पष्ट कीजिए।
3. बहुराष्ट्रीय निगम किस प्रकार से सरकारों की सम्प्रभुता को प्रभावित करती हैं?
4. बहुराष्ट्रीय निगम – उत्साह और बहुराष्ट्रीय निगम – संदेहवादी के प्रमुख तर्कों को संक्षेप में लिखिए।
5. विश्व के विकासशील राष्ट्रों पर बहुराष्ट्रीय निगमों के प्रभावों की आलोचनात्मक समीक्षा कीजिए।
6. कुछ लोग महसूस करते हैं कि आर्थिक विकास का यह एक नया विशाल मार्ग है, जबकि अन्य लोग यह समझते हैं कि वे अल्प-विकासशीलता को बनाए रखते हैं। आप क्या अनुभव करते हैं?

इकाई 11

राष्ट्रवाद : विभिन्न दृष्टिकोण

संरचना

- 11.1 प्रस्तावना
- 11.2 राष्ट्रवाद क्या है?
- 11.3 राष्ट्रवाद और संबंधित शब्दों में अंतर
- 11.4 राष्ट्रवाद का उदय और राष्ट्रीय अस्मिता की विशेषताएँ
- 11.5 राष्ट्रवाद के अध्ययन के दृष्टिकोण
 - 11.5.1 राष्ट्रवाद का उदार मानवतावादी दृष्टिकोण
 - 11.5.2 विस्तारवादी दृष्टिकोण
 - 11.5.3 मार्क्सवादी दृष्टिकोण
 - 11.5.4 अविभाज्य-फासीवादी दृष्टिकोण
 - 11.5.5 उपनिवेश-विरोधी दृष्टिकोण
- 11.6 'राज्य रहित राष्ट्र और राष्ट्र रहित राज्य
- 11.7 भूमण्डलीकरण और राष्ट्रवाद का भविष्य
- 11.8 सारांश
- 11.9 बोध प्रश्न

11.1 प्रस्तावना

राष्ट्रवाद को उन्नीसवीं और बीसवीं शताब्दी का धर्म कहा गया है। इसे विश्व के बारे में सोचने का तरीका माना जाए तो यह ऐतिहासिक घटनाक्रमों की व्याख्या करने और वर्तमान राजनीति का विश्लेषण करने में राष्ट्र की भूमिका के महत्व पर जोर देता है और यह दावा भी करता है कि राष्ट्रीय चरित्र मनुष्यों के बीच भेद करने वाला एक व्यापक तत्व है। राष्ट्रवाद यह मान्यता लेकर चलता है कि सभी मनुष्यों की एक और केवल एक राष्ट्रीयता होनी चाहिए और उसे ही उनकी अस्मिता और निष्ठा का प्रमुख कारक होना चाहिए। इसका यह अर्थ हुआ कि लोगों को अपने आपको एक राष्ट्रीयता के सदस्य के रूप में देखना चाहिए और राष्ट्र के हितों की रक्षा और प्रगति के लिए आवश्यक कोई भी बलिदान करने को तैयार रहना चाहिए। सार्वभौमिक प्रयोज्यता के सिद्धान्त के रूप में, राष्ट्रवाद अपने भाग्य का स्वयं फैसला करने के योग्य होने की जनता की इच्छा का, और अपनी संस्कृति और व्यक्तित्व को विकसित करने वाली जनता के रूप में सम्मान प्राप्त करने की उनकी इच्छा का भी प्रतिनिधित्व करता है। पिछले दो सौ वर्षों के दौरान, राष्ट्रवाद ने उदारवाद, समाजवाद और साम्यवाद का दामन पकड़ा है और विजय प्राप्त की है। विश्व में हर कहीं, राष्ट्रवाद सबसे पहले आता है और अन्य विचारधाराएँ दूसरे स्थान पर आती हैं। बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्ध में पूर्व-औपनिवेशिक देशों में चले राष्ट्रीय आन्दोलनों और उसी शताब्दी के अंत में सोवियत संघ के विघटन ने राष्ट्रवाद के शक्तिशाली स्वरूप को उजागर किया। आज, हम उस युग में जी रहे हैं जहाँ शान्तिपूर्ण बहुसंस्कृतिकवाद के बजाय राष्ट्रों के सामने सर्वनाश का खतरा लगातार बना रहता है। राष्ट्रवाद उन्हें उनकी संस्कृतिक के संरक्षण का एक उपयोगी साधन प्रदान करता है। यह तथ्य तब और भी महत्वपूर्ण हो जाता है जब भूमण्डलीकरण के संदर्भ में सभी समुदायों अथवा संप्रदायों को एकरूपता देने का प्रयास किया जाता है।

11.2 राष्ट्रवाद क्या है?

राष्ट्रवाद अनेक तत्वों का मिश्रण है जिनमें से कुछ की जड़ें मानवीय प्रकृति में हैं और जिनमें से अनेक का एक लंबा इतिहास है। फिर भी यह एक आधुनिक परिघटना है। इसका पता करना तो कठिन है ही स्पष्ट शब्दों में इसकी व्याख्या करना और भी कठिन है। एक अर्थ में है यह उस समूह का विस्तार होता है जिसका सदस्य कोई व्यक्ति है। इस अर्थ में यह एक प्रकार का सामूहिक अहंवाद होता है। नकारात्मक अर्थ में लें तो यह अजनबी के प्रति उस भय का प्रकटीकरण है

जिसकी जड़ें मानव स्वभाव में गहरे पैठी होती हैं। आधुनिक अर्थ में इसका जन्म परिचित भूमि और लोगों के प्रति उस प्रेम से होता है जिसे अक्सर राष्ट्रभक्ति का मूल तत्व माना जाता है। हेज के अनुसार, राष्ट्रवाद का इस्तेमाल विभिन्न प्रकार से किया गया है और इसका उपयोग आमतौर पर एक राष्ट्रीयता के सदस्यों की मानसिक स्थिति को इंगित करने के लिए होता है, जो शायद पहले ही एक राष्ट्रीय राज्य के अंग हैं यह वह मानसिक स्थिति होती है जिसमें आदर्श अथवा अपने राष्ट्रीय राज्य के यथार्थ के प्रति निष्ठा और तमाम निष्ठाओं से गुरुतर होती हैं, और अपनी राष्ट्रीयता में गर्व और इसकी आंतरिक उत्कृष्टता और श्मकसदृश में विश्वास इसके श्मभिन्न अंगर होते हैं। इसी प्रकार, हाब्स कोहन राष्ट्रीयता को एक ऐसी मानसिक स्थिति मानते हैं जिसमें एक राजनीतिक यथार्थ से अनुरूपता बनाने का प्रयास होता है। दूसरी ओर, गेलमर लिखता है – राष्ट्रवाद प्रमुख रूप से एक राजनीतिक सिद्धान्त है जिसके अनुसार राजनीतिक इकाई और राष्ट्रीय इकाई में अनुरूपता होनी चाहिए राष्ट्रवादी भावना तो सिद्धान्त के उल्लंघन से पैदा होने वाला क्रोध का भाव, अथवा इसकी पूर्णता से पैदा होने वाला संतोष का भाव है। गिडेन्स राष्ट्रवाद के मनोवैज्ञानिक स्वरूप की ओर इशारा करते हुए उसे श्रुतीकों और विश्वासों के एक समूह के साथ व्यक्ति का जुड़ाव बताता है जिसमें एक समुदाय विशेष के सदस्यों के बीच सामान्यता पर जोर होता है।

संक्षेप में, राष्ट्रवाद के दो पहलू होते हैं— (i) राष्ट्रवाद तो राजनीतिक प्रकृति की विचारधारा है जिसमें इस धारणा का बचाव किया जाता है कि राज्य और राष्ट्र को एक-दूसरे के अनुरूप होना चाहिए और (ii) इसमें एक समान अतीत और संस्कृति पर आधारित समूह का गठन करने के प्रति जागरूक व्यक्तियों को अस्मिता प्रदान करने वाला बनने की क्षमता होती है और एक ठोस प्रदेश के साथ जुड़ाव होता है। राष्ट्रवाद की ताकत एक समुदाय विशेष का सदस्य होने के भाव पैदा करने की उसकी सामर्थ्य से आती है। लोगों में एकजुटता का भाव पैदा करने में प्रतीकों और कर्मकाण्डों की प्रमुख भूमिका होती है।

इस प्रकार, राष्ट्रवाद की अवधारणा को समझने के लिए, हमें यह ध्यान में रखना होगा कि राष्ट्रवाद एक भावना है जिसका संबंध एक स्वदेश, एक समान भाषा, आदर्शों, मूल्यों और परम्पराओं के साथ जुड़ा होता है जिसमें एक समूह विशेष की पहचान झंडे और ऐसे गानों जैसे प्रतीकों से होती है जिनमें इसे दूसरों से भिन्न बताया जाता है। इस जुड़ाव से अस्मिता बनती है और उस अस्मिता के प्रति आकर्षता का एक अतीत होता है और उसमें लोगों को लामबंद करने की शक्ति होती है।

स्वदेश और समान संस्कृति के प्रति जुड़ाव की भावना को एक राज्य के निर्माण हेतु राजनीतिक माँग में कैसे बदला जा सकता है इस संक्रमण को कैसे संभव बनाया जा सकता है? राष्ट्रवाद के सिद्धान्त को इस प्रकार के सवालों से निपटना होता है एक सज्य के निर्माण के प्रयास में राष्ट्रवाद हिंसा का कैसे प्रयोग करता है और इस प्रयोग को कैसे वैध ठहराता है?

विभिन्न सामाजिक और सांस्कृतिक स्तर के लोगों को एकजुट करने की क्षमता राष्ट्रवाद की एक प्रमुख विशेषता है। राष्ट्रवाद केवल जन साधारण की बिना शर्त निष्ठा बनाए रखने के लिए की गई शासक वर्ग की ईजाद नहीं है, बल्कि इसके जरिए उन्हें यह भी विश्वास दिलाया जाता है कि उनमें बहुत कुछ समान है जो उन्हें अलग करने वाले तत्वों से कहीं अधिक महत्वपूर्ण है। राष्ट्रवाद की स्थिरता को समझने का प्रयास करने की दिशा में यह एक बुनियादी तत्व है।

11.3 राष्ट्रवाद और संबंधित शब्दों में अंतर

राष्ट्रवाद की राजनीतिक प्रकृति को समझने के लिए राष्ट्र राज्य, राष्ट्र-राज्य और राष्ट्रवाद में एक बुनियादी अवधारणा के स्तर पर एक बुनियादी अंतर करना आवश्यक हो जाता है। राज्य शब्द एक कानूनी संस्था के लिए है और आम तौर पर इसका प्रयोग एक मानव समुदाय के लिए होता है जो एक निश्चित प्रदेश (भूभाग) के भीतर शारीरिक बल के वैध प्रयोग पर एकाधिकार का दावा करता है। दूसरी ओर, राष्ट्र एक मानव समूह होता है जो जागरूक होकर एक समुदाय का गठन करता है, एक साँझा संस्कृति का पालन करता है और एक स्पष्ट रूप में सीमांकित प्रदेश से जुड़ा होता है। उसका एक समान अतीत और भविष्य के लिए एक समान योजना होती है, और वह स्व-शासन का दावा करता है। एक राष्ट्र में ये पाँच पहलू होते हैं मूल मनोवैज्ञानिक (एक समूह का गठन करने की चेतना), सांस्कृतिक, प्रादेशिक, राजनीतिक और ऐतिहासिक। राष्ट्र-राज्य शब्द से अभिप्राय एक प्रकार के राज्य के गठन से है जिसके पास बल के वैध प्रयोग का एकाधिकार होता है और जो एकरूपीकरण के माध्यम से अपने लोगों को एकता के सूत्र में बाँधने का प्रयास करता है जिसका ध्येय एक समान संस्कृति, प्रतीकों, मूल्यों, परम्पराओं और मूल संबंधी मिथक का निर्माण होता है। राष्ट्रवाद एक समुदाय से जुड़े होने का भाव है जिसके सदस्य कुछ प्रतीकों, विश्वासों और जीवन-पद्धतियों के साथ अपनी अस्मिता जोड़ते हैं और उनमें अपने समान राजनीतिक भाग्य का निर्णय करने की इच्छा होती है।

11.4 राष्ट्रवाद का उदय और राष्ट्रीय अस्मिता की विशेषताएँ

राष्ट्रवाद के उदय से पहले 15वीं और 18वीं शताब्दी के बीच राष्ट्रीय चेतना और राष्ट्रीयताओं के विभेदन का उदय हुआ। हेज राष्ट्रीय चेतना के उदय के लिए सात कारकों को उत्तरदायी मानता है— भाषायी और साहित्यिक, राजनीतिक, वाणिज्यिक, आर्थिक, चर्चसंबंधी, धार्मिक और सांस्कृतिक राष्ट्र और राष्ट्रवाद आधुनिक परिघटनाएँ हैं और राष्ट्रों की व्याख्या केवल राष्ट्रवाद के युग के परिप्रेक्ष्य में की जा सकती है। गेलनर के अनुसार, राष्ट्रवाद तो आधुनिकीकरण के कुछ विशिष्ट पहलुओं का परिणाम है। यह औद्योगिक समाज के उदय से जुड़ी परिघटना है। गिडेन्स राष्ट्रों और राष्ट्रवाद को आधुनिक राज्य के उदय के साथ जोड़कर देखता है, और 18वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में इसका उद्गम मानता है। ऐतिहासिक दृष्टि से देखें तो नातेदारी में एक ठोस प्रदेश से जुड़े बृहत्तर इंसमूहों के गठन का पहला चिह्न देखने को मिला। बाजारों के अस्तित्व में आने, व्यापार तेज होने, लड़ाइयाँ लड़े जाने, और राज्य के अधिकार क्षेत्र में धीरे-धीरे किन्तु निरंतर विस्तार होने से एक ऐसे सामुदायिक संगठन का उदय हुआ जो दूसरों से अलग अपनी अस्मिता के प्रति जागरूक था। इसी दौर में हम राष्ट्रों के उदय की बात कर सकते हैं। इस प्रकार, राष्ट्रवाद के उदय के लिए निम्न कारकों को उत्तरदायी बताया जा सकता है—

- i) व्यक्तिगत मत जो पुनरुत्थानवादी और सुधारवादी युग का लक्षण था, पप) चर्च की सार्वभौमिक सत्ता का विघटन,
- iii) उभरते व्यापारी वर्गों में एकरूप व्यापारिक नियमों, व्यापार में सामंती बाधाओं के उन्मूलन और ऐसी स्थितियाँ पैदा करने की इच्छा जिनमें वे शान्तिपूर्वक व्यापार करके लाभ भी कमा सकें,
- iv) रक्तपात, हिंसा और असहिष्णुता के युग में शांति, व्यवस्था और सुरक्षा की इच्छा, 1) उन सम्राटों की व्यक्तिगत महत्वाकांक्षाएँ जिन्होंने अपेक्षाकृत अधिक शक्तिशाली सामंती सरदारों के विरुद्ध जाकर उभरते व्यापारी वर्ग से गठजोड़ किया, और
- vi) प्रादेशिक संप्रभुता की नीति, जिसमें राष्ट्रवादियों को अत्यधिक सुविधाजनक सैद्धान्तिक हथियार थमा दिया जिसकी मदद से प्रतिद्वंद्वी सागंती अथवा धार्मिक आकाओं के दावे का मुकाबला किया जा सकता था। एक निश्चित राष्ट्रीय क्षेत्र के भीतर सभी सामाजिक रिश्तों को नियंत्रित रखने की दिशा में व्यवस्था, स्थिरता और निश्चितता प्रदान करने वाली एक एकीकृत वैधानिक व्यवस्था का विचार खूब पसंद किया गया।

बीथेम के अनुसार, राष्ट्रवाद के उदय के लिए तीन कारक उत्तरदायी हैं— आर्थिक, सैन्य और सांस्कृतिक। पुनरुत्थानकारी और सुधारवादी युग के बाद, प्रशासन और कर से जुड़े एक से कानूनों को जब राज्य ने लागू किया तो उससे राष्ट्रीय बाजारों की स्थापना में मदद मिली, राष्ट्रीय उद्योग के विस्तार के लिए एकीकृत बाजार मिले, और विदेशी बाजारों को पछाड़ने में भी मदद मिली। राष्ट्रीय एकीकृत अर्थव्यवस्था बनने से 20वीं शताब्दी में एक कल्याणकारी राज्य के विकास में भी मदद मिली। दूसरे, राज्यों में सैन्य प्रतिस्पर्धा के मामले में भी समान राष्ट्रीयता पर आधारित राज्य ही राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था के संसाधनों के कारण बेहतर साबित हुए। फिर, वे एकीकृत राष्ट्रीय सेना के निष्ठापूर्ण सहयोग पर भी निर्भर कर सकते थे। तीसरे, राष्ट्र—राज्य लोगों की सांस्कृतिक—धार्मिक, जातीय, भाषायी — अपेक्षाओं को पूरा करने में सक्षम था। इस प्रकार, राष्ट्रीय चेतना ने राज्यों की स्थिति को मजबूत करने और आंतरिक तथा बाहरी चुनौतियों का सामना करने में सहायता की। राष्ट्रीय अस्मिता की विशेषताएँ राष्ट्र—राज्य के साथ उदित होने वाली एक आधुनिक परिघटना के रूप में राष्ट्रवाद के राजनीतिक पहलू से हटकर एक बड़ा सवाल यह है कि राष्ट्रीय अस्मिता का निर्माण कैसे होता है। दूसरे शब्दों में, कुछ तर्कसंगत घटनाक्रमों के साथ ऐसे महत्वपूर्ण क्षेत्र होते हैं जो कम तर्कसंगत होकर भी कम महत्वपूर्ण नहीं होते और उनका संबंध एक भावना और संवेग पैदा करने से होता है। गीबरनो के अनुसार, व्यापक तौर पर तीन कारक हैं जो एक राष्ट्रीय अस्मिता के निर्माण में सहायक रहे हैं— i) मुद्रण प्रणाली का विकास और बोलियों का उदय, ii) राष्ट्रीय अस्मिता और संस्कृति का परस्पर संबंध, और iii) समान प्रतीक और संस्कार। अब हम इन कारकों पर विस्तार से विचार करेंगे। यूरोप में प्रिंटिंग प्रेस के आविष्कार के बाद हुए बोलियों के विकास ने एक समुदाय के प्रति जुड़ाव की भावना पैदा करने में एक निर्णायक भूमिका अदा की। राष्ट्रीय चेतना का विकास किसी संस्कृति विशेष के उन साझा मूल्यों, परंपराओं, और स्मृतियों से होता है जिसे एक विशेष भाषा में सोचा और बोला जाता है। यद्यपि बोली राष्ट्रीय चेतना के निर्माण के विकास का अनिवार्य आधार नहीं है, फिर भी वह इस समुदाय को सुगम बनाने में सहायक तो होती है। जहाँ राष्ट्र और राज्य का विस्तार साथ-साथ हुआ वहाँ शिक्षा, और सक्षरता के साधारणीकरण ने लोगों के बीच संवाद की संभावना को मजबूत ही नहीं किया बल्कि एक प्रगाढ़ सामुदायिक बंध के विकास में भी सहायता की। अंग्रेजी, फ्रांसीसी और जर्मन भाषाओं के विकास और स्कूली व्यवस्था पर आधारित शिक्षा प्रणाली के परिणामस्वरूप एक प्रगाढ़ राष्ट्रीय चेतना का निर्माण हुआ। जब राज्य एक संस्कृति और भाषा का थोपने में सफल होता है तो यह श्राष्ट्रवाद होता है जो राष्ट्रों को जन्म देता है। यदि

राष्ट्र कामयाब होता है तो वह राजनीतिक संबंधों के अलावा आर्थिक, प्रादेशिक, धार्मिक, भाषायी और सांस्कृतिक जैसे मिले-जुले संबंधों को विकसित करने में सफल होता है।

दूसरा, राष्ट्रीय अस्मिता से जुड़ा प्रमुख प्रश्न है — मैं कौन हूँ? अस्मिता तो स्व की व्याख्या है जिससे यह तय होता है कि सामाजिक और मनोवैज्ञानिक स्तर पर कोई व्यक्ति क्या है और कहाँ है। अस्मिता का अस्तित्व उन समाजों में होता है जो उन्हें परिभाषित और संगठित करते हैं। वर्तमान युग में, राष्ट्र इन्हीं में से एक समुदाय का प्रतिनिधित्व करता है। राष्ट्रीय अस्मिता इसी से पैदा होती है। अस्मिता को तय करने के मानदंड हैं लम्बे समय तक निरंतरता और विभेदन। जहाँ निरंतरता का आधार ऐतिहासिक मूल में होता है वहीं विभेदन का उदय एक साँझा संस्कृति वाले समुदाय के गठन की चेतना से होता है जो सदस्यों और अजनबियों के बीच भेद करने वाले ठोस प्रादेशिक क्षेत्र से जुड़ा होता है। यह अस्मिता तीन कार्य करती है i) यह व्यक्ति को उसकी समान राजनीतिक अस्मिता के बारे में निर्णय लेने के अधिकार जैसे विकल्प चुनने में सहायता करती है, ii) यह दूसरों के साथ संबंध को संभव बनाती है क्योंकि राष्ट्र एक साझा समूह होता है जिसमें एक समान संस्कृति वाले व्यक्ति साथ-साथ रहने और काम करते हैं, और iii) राष्ट्रीय अस्मिता व्यक्तियों को एक श्रेष्ठतर सत्ता के साथ जुड़ने की शक्ति और लोच प्रदान करती है। इस अस्मिता का निर्माण एक साझा संस्कृति के विकास से होता है, जिसमें वे मूल्य, विश्वास, प्रथाएँ, परम्पराएँ, आदतें और रीतियाँ आती हैं जो एक समुदाय विशेष की संस्कृति ग्रहण करने वाले नए सदस्यों को हस्तांतरित कर दी जाती हैं। एक विशिष्ट संस्कृति के तत्वों के साथ पहचान जोड़ने की प्रक्रिया में एक सशक्त भावनात्मक निवेश निहित होता है। राष्ट्रवाद के नजरिये से देखे तो एक साझा संस्कृति एक विशेष समुदाय के सदस्यों के बीच एकजुटता का बंधन निर्मित करने की पक्षधर होती है और उन्हें यह कल्पना करने में मदद करती है कि वे जिस समुदाय के सदस्य हैं वह दूसरों से अलग और विशिष्ट है।

तीसरा, राष्ट्रीय अस्मिता के निर्माण में प्रतीक और संस्कार (कर्मकांड) भी सशक्त भूमिका निभाते हैं। राष्ट्र एक समुदाय होता है जिसके अपने अंदर तो समानताएँ होती हैं और दूसरों से भिन्नताएँ! समुदाय के निर्माण की चेतना उन प्रतीकों के प्रयोग और कर्मकाण्डों के दुहराने से पैदा होती है जो समुदाय के एक-एक सदस्य को शक्ति प्रदान करते हैं। एक राष्ट्र दूसरों से अपने को अलग दिखाने के लिए ऐसे अवसरों को पसंद करता है जिनमें वे एकजुटता महसूस करते हैं और ऐसे प्रतीकों का प्रदर्शन करता है जो उसकी एकता का प्रतिनिधित्व करते हैं। उदाहरण के लिए, एक फौजी अपने झंडे के पीछे इसलिए जान दे देता है क्योंकि वह झंडे को अपने देश के साथ जोड़कर देखता है। फिर झंडे जैसे प्रतीकों में विशेष प्रकार की स्मृतियाँ अथवा भावनाएँ जमाने की भी शक्ति होती है। इससे राष्ट्रवाद को विभिन्न सांस्कृतिक स्तरों तथा सामाजिक पृष्ठभूमियों वाले लोगों को एक सूत्र में बाँधने में मदद मिलती है। प्रतीकों की यह विशेषता होती है कि वे भिन्नता को तो छिपा लेते हैं और समानता को उजागर करते हैं। जिससे व्यक्तियों में सामूहिकता की भावना पैदा होती है। और अंतिम बात यह है कि जो व्यक्ति एक ही-संस्कृति में जीते हैं और एक ठोस भूभाग के प्रति जुड़ाव रखते हैं और जिनके पास एक साझा अतीत का अनुभव होता है और भविष्य की योजना होती है, उन्हें ऐसे अवसर पैदा करने की जरूरत होती है जिनमें उन्हें एकजुट करने वाली हरेक बात पर जोर हो। इन क्षणों में, व्यक्ति अपने बारे में तो भूल जाता है और एक समूह से जुड़े होने की भावना वहाँ प्रबल हो जाती है। कर्मकाण्डों के माध्यम से, व्यक्ति असाधारण तीता वाली एक अनुभूति को महसूस कर पाते हैं जो उस सत्ता अर्थात् राष्ट्र के साथ उनके जुड़ाव से पैदा होती है जो उनसे ऊपर होता है और जिसके वे अंग होते हैं।

इस प्रकार, राष्ट्रवाद की शक्ति अकेले तर्कसंगत विचार से ही पैदा नहीं होती बल्कि भावनाओं की उस अतर्कसंगत शक्ति से भी यह पैदा होती है जिसका जन्म एक विशेष समूह के प्रति जुड़ाव की भावना से होता है। राष्ट्रवाद का यह दोहरा चेहरा उस तरीके का परिणाम होता है जिसके जरिये ये भावनाएँ एक शान्तिपूर्ण और लोकतांत्रिक आन्दोलन का रूप ले लेती हैं जिसका उद्देश्य अपने राष्ट्र को दूसरों से उनपर मनवाना और बनाना और भिन्नताओं को समाप्त करना होता है।

11.5 राष्ट्रवाद के अध्ययन के दृष्टिकोण

पिछले 300 वर्षों के दौरान राष्ट्रवाद ने विभिन्न दौर देखे हैं। एक सांस्कृतिक और मानवीय अवधारणा के रूप में सामने आने के बाद ये राष्ट्रवाद, साम्राज्यवाद, मार्क्सवाद और फासीवाद आदि अनेक विचारधाराओं ने इसका उपयोग और दुरुपयोग किया है। पूर्वऔपनिवेशिक देशों के मुक्ति संग्राम में राष्ट्रवाद का इस्तेमाल एक सशक्त हथियार के रूप में हुआ। राष्ट्रवाद को उदारवादी — तर्कसंगत से लेकर फासीवादी — अतर्कसंगत तक अनेक दृष्टिकोणों से देखा गया है। इनमें से प्रमुख दृष्टिकोण हैं—

- राष्ट्रवाद का उदारवादी दृष्टिकोण 1. मानवतावादी 2. विस्तारवादी
- राष्ट्रवाद का मार्क्सवादी दृष्टिकोण

- राष्ट्रवाद का अविभाज्य-फासीवादी दृष्टिकोण
- राष्ट्रवाद का साम्राज्यवाद-विरोधी दृष्टिकोण अब हम इन दृष्टिकोणों पर विस्तार से विचार करेंगे।

11.5.1 राष्ट्रवाद का उदार मानवतावादी दृष्टिकोण

यह औपचारिक राष्ट्रवाद का सबसे प्रारंभिक रूप है और इसका उल्लेख बोलिनब्रोक, रूसो, हर्डर, फिख्ते और मात्सीनी आदि की रचनाओं में मिलता है। हर्डर के अनुसार, मानव जाति प्रकृति और तर्क से अलग-अलग राष्ट्रीयताओं में बंटी होती है और राष्ट्रीयता की इस विशेष मेधा के विकास से ही व्यक्ति और मानवता दोनों मिलकर पूर्णता की दिशा में प्रगति करते हैं। प्रत्येक राष्ट्र का अपना विशिष्ट व्यक्तित्व होता है जो प्रकृति का उपहार होता है, और उस विशिष्ट मेधा के विकास का दायित्व उन व्यक्तियों पर होता है जो उस राष्ट्र के अंग होते हैं। विभिन्न राष्ट्रीयताओं में विभेद का आधार ऐतिहासिक परंपरा, अपनी विशिष्ट भाषा, साहित्य, शिक्षा प्रणाली और प्रथाएँ होती हैं, और एक सुविकसित राष्ट्रीयता में यह आधार राष्ट्रीय आत्मा होती है। हर्डर ने राष्ट्रीयता के सांस्कृतिक पक्ष पर जोर दिया है। हर्डर के अनुसार विभिन्न राष्ट्रीयताओं में विभेद का आधार भूगोल, जलवायु, ऐतिहासिक परम्पराएँ, भाषा, साहित्य, शिक्षा और शिष्टाचार जैसे कारक होते हैं। इसी प्रकार, रूसों की लोक संबंधी अवधारणा में लोक से आशय उन लोगों से होता है जिनके पास एक समान भाषा और ऐतिहासिक परम्परा होती है। उसमें लोकप्रिय संप्रभुता के सिद्धान्त को लागू करने और राजनीतिक लोकतंत्र के संचालन को सुनिश्चित करने की इच्छा होती है और उसके लिए आवश्यक साधन की उसके पास होते हैं। राष्ट्रीय संस्थाएँ ही एक श्लोकश (लोगों) की प्रतिभा, चरित्र, रुचि और प्रथाओं का निर्माण करती हैं और उनमें उनके देश के प्रति अगाध प्रेम जगाती हैं, और उनका आधार वे आदतें होती हैं जिनके उद्गम तक पहुँचना असंभव है।

किन्तु यहाँ यह बात उल्लेखनीय है कि इस प्रकार के राष्ट्रवाद में एक राष्ट्र के ऊपर दूसरे राष्ट्र की सर्वोच्चता का कोई आदेश नहीं था और यह राष्ट्रवाद अराजनीतिक था। हर्डर के शब्दों में – श्मानव जाति एक समूची इकाई है, हम काम करते हैं और कष्ट उठाते हैं, बोते हैं और काटते हैं – हममें से प्रत्येक सभी के लिए यह करता है। एक राष्ट्र की खुशी को दूसरे राष्ट्र पर नहीं लादा जा सकता प्रत्येक को अपने तरीके से अपनी खुशी ढूँढनी और पानी होगी। मानवता का आदर्श समस्त राष्ट्रों से ऊपर होता है। यह आदर्श एक लक्ष्य और मार्गदर्शक सिद्धान्त होता है यह एक समर्थता होती है जिसका विकास करना होता है। हर्डर ने राष्ट्रीयता के उद्देश्य के लिए साम्राज्यवाद और जीत के युद्ध का विरोध किया है। केवल अतर्कसंगत स्वेच्छाचारी तंत्र में ही विभिन्न राष्ट्रीयताओं वाले लोकों को एक शासन तले लाने का प्रयास किया जाता है। एक उदारवादी और राष्ट्रवादी होने के नाते, हर्डर ने फ्रांसीसी क्रान्ति का स्वागत किया था और उसमें प्रबोधन के बीज देखे थे।

इसी प्रकार, फिख्ते का भी यही मानना था कि व्यक्ति जो राष्ट्र की सेवा करता है और राष्ट्र की विशिष्ट प्रतिभा का निर्माण करता है, वहीं मानवजाति के प्रति उसकी सर्वोत्तम सेवा होती है। हर्डर की तरह फिख्ते का भी यह विश्वास था कि जहाँ कहीं एक अलग भाषा मिलती है वहाँ एक अलग राष्ट्र का वजूद होता है। उसका मानना कि श्राज्यों की पहली, मौखिक और सचमुच प्राकृतिक सीमाएँ निस्संदेह उनकी आंतरिक सीमाएँ होती हैं। जो व्यक्ति समान भाषा बोलते हैं वे प्रकृति के हाथों ही अनेक अदृश्य बंधनों से एक-दूसरे से बंधे होते हैं, वे एक-दूसरे को समझते हैं और उनके पास यह अधिकार होता है कि वे अपने आपको अधिकाधिक स्पष्ट रूप में समझाने का प्रयास जारी रखें। प्रसीया पर नेपोलियन की विजय के बाद, राष्ट्रवाद के प्रति उसके विचार अत्यधिक अहंवादी भाषा में व्यक्त होते थे यह वह भाषा थी, जिसका प्रयोग सभी देशों के राष्ट्रभक्तों ने विदेशी शासन के प्रति विरोध की स्थिति पैदा करने के लिए किया है। एकता के लिए की गई ऐसी ही अपील से अंततः जर्मन राष्ट्र का उदय हुआ। फिख्ते की विचारधारा में सांस्कृतिक राष्ट्रवाद ने राजनीतिक स्तर पर जागरूक और सक्रिय रूप लिया। अपनी पुस्तक दि क्लोज्ड कामर्शियल स्टेट में फिख्ते ने आर्थिक राष्ट्रवाद के पक्ष में तर्क दिए। जब तक कोई राष्ट्र आर्थिक रूप से

आत्म-निर्भर नहीं हो जाता, तब तक वह एक राजनीतिक सत्ता के रूप में जीवित नहीं रह सकता। फिख्ते का मानना था कि अंतर-राष्ट्रीय मुक्त व्यापार से राष्ट्रों के बीच एकता को बढ़ावा नहीं मिलता बल्कि उससे साम्राज्यवाद और युद्ध का ही खतरा पैदा होता है। इससे राष्ट्रों के बीच कटुता और शत्रुता पनपती है। प्रत्येक साम्राज्यवाद आर्थिक आत्मनिर्भर होने का प्रयास करें तो युद्ध का एक बुनियादी कारण खत्म हो जाएगा।

उदारवादी मानवतावादी राष्ट्रवाद का एक और प्रतिनिधि था जूजोपे मात्सीनी। उसने केवल इटली के लोगों की भावनाओं को ही राष्ट्रीय एकता और विदेशी शासन से मुक्ति के पक्ष में नहीं उभारा बल्कि पूरे यूरोप में ऐसे ही राष्ट्रवादी आन्दोलनों को भी हवा दी। हर्डर और फिख्ते की तरह मात्सीनी ने भी यही कहा कि प्रत्येक आवाम का अपना विशेष मकसद होता है और उसी मकसद से उसकी राष्ट्रीयता का निर्माण भी यह विशेष मकसद (मिशन) तो मानवता के आम मकसद की एक विशेष पूर्ति भर होता है। उसी के शब्दों में – श्मानवता तो राष्ट्रीयताओं का संघ होता है, लोकों का गठबंधन होता है जिसे

शान्ति और प्रेम (के वातावरण) में उनके मकसदों को निश्चित रूप देने के उद्देश्य से किया जाता है। यह उन स्वतंत्र और समान लोगों का संगठन है जो बिना किसी अवरोध और बाधा के ईश्वर के एक-सूत्रीय विचार के प्रगतिशील विकास की ओर बढ़ेंगे जिसे उसने पालने पर, पिछले जीवन पर, राष्ट्रीय मुहावरें, और प्रत्येक के रूप पर लिख दिया है। मानवता की संधि पर व्यक्ति नहीं बल्कि केवल वे स्वतंत्र और समान जन ही कर सकते हैं जिनका अपना कोई नाम झंडा और एक अलग व्यक्तिगत अस्तित्व के प्रति जागरूकता होती है। मात्सीनी का विश्वास था कि राष्ट्र-राज्य वह माध्यम और अभिकरण है जिसके माध्यम से इतिहास अपने आपको व्यापकतर मानवीय स्वतंत्रता की ओर अपने क्रमिक विकास में प्रकट करता है। राष्ट्रों के साथ जुड़कर व्यक्ति अपने भाग्य को उस तरह साकार कर पाते हैं जैसे अलग-थलग रहकर वे कभी नहीं कर पाते। व्यक्तियों से भी ऊपर होती है मानवता जिसमें व्यक्ति समाए होते हैं, और मानवता अपने आपको सबसे स्पष्ट रूप में राष्ट्रीयताओं में व्यक्त करती है। किन्तु, मात्सीनी ने अधिकारों के बजाय कर्तव्यों पर जोर दिया है। मनुष्य का अपने प्रति, अपने परिवार के प्रति और अपने समुदाय के प्रति दायित्व होता है, और जो भी अधिकार उसे कथित तौर पर प्राप्त होते हैं वे इन्हीं दायित्वों का विस्तार और प्रतिबिम्ब होते हैं। मनुष्य का सबसे बड़ा दायित्व होता है मानवता की सेवा करना, क्योंकि केवल सच्चे दिल से मानवता की सेवा करके ही वह स्वयं की और अपने देश की सेवा कर सकता है। केवल राष्ट्रीय राज्यों का गठन करके ही राष्ट्रीयताएँ मानवता की सेवा कर सकती हैं। किन्तु, मात्सीनी राष्ट्र के प्रति निष्ठा से भी ऊपर मानवता के प्रति निष्ठा को रखता था। यद्यपि मात्सीनी उन मुक्ति संग्रामों की हिमायत करता था जिनके परिणामस्वरूप राष्ट्रीयताओं को मुक्ति और एकता हासिल होती है, फिर भी वह यूरोप के नक्शे को वापस प्राकृतिक राष्ट्रीय सीमाओं के स्वरूप में आने के बाद एक ऐसे विश्व की आशा करता था जो सार्वभौमिक और सतत् शान्ति तथा एकता को समर्पित होगा।

संक्षेप में, इस दृष्टिकोण में राष्ट्रवाद के मानवीय और सांस्कृतिक पहलू पर और किसी राष्ट्रीयता का सदस्य होने के मनुष्य के प्राकृतिक अधिकार पर जोर दिया गया और एक राष्ट्र पर दूसरे राष्ट्र के प्रभुत्व का विरोध किया गया है।

11.5.2 विस्तारवादी दृष्टिकोण

मात्सीनी जैसे चिंतकों के इस दृष्टिकोण के विपरीत कि मुक्त संग्रामों से राष्ट्रीयताओं को एकता और स्वाधीनता हासिल होगी, उदारवादी युद्धों की विजय में वहीं बुराईयाँ उभरकर आईं जिनका उन्हें विनाश करना था। बल्कि वे तो पहले से भी कहीं अधिक विनाशकारी और व्यापक युद्धों की अग्रदूत बन गए। राष्ट्रीय एकीकरण और लोकतंत्र ने अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर वैमनस्य को और भी तेज कर दिया और जन-जन को उसका सक्रिय सहभागी बना दिया। 1850 के दशक के बाद, औद्योगिक क्रान्ति अनेक यूरोपीय देशों और अमेरिका तक फैल चुकी थी। एकताबद्ध राष्ट्रों के पास अब औपनिवेशिक अथवा अन्य – विजय की नीतियों के लिए आवश्यक जुड़ाव और भावनात्मक बल था। औपनिवेशिक विवादों ने अब राष्ट्रों के मतभेद का रूप ले लिया जिसमें स्वयं अवामों के हित दाँव पर थे और जिसमें अवामों के पास एक निर्णायक भूमिका निभाने का अवसर था। राष्ट्रवाद और लोकतंत्र की विजय ने राज्य की संप्रभुता को मजबूत कर दिया और राष्ट्रों को उनकी सीमाओं से भी आगे प्रसार करने का मार्ग प्रशस्त किया। इसके परिणामस्वरूप, राष्ट्रवाद की वैधता के सैद्धान्तिक आधार अब उदारवाद और मानवतावाद से हटकर वैज्ञानिक और जीव वैज्ञानिक हो गए। कुछ लेखकों ने यह प्रस्तावना की कि राष्ट्रवाद का आधार जीव वैज्ञानिक है और साम्राज्यवाद तो अस्तित्व के लिए संघर्ष और योग्यतम की उत्तरजीविता के विकासवादी सिद्धान्त की ही परिणति थी। इस परिवर्तन के आते ही, साम्राज्यवादी विस्तार को वैज्ञानिक आधार पर उचित ठहराया जा सका। इसमें राष्ट्रों के बीच कलह की स्थिति निहित होने के कारण, इसकी तुलना प्रजातियों के बीच अस्तित्व के लिए प्रतिस्पर्धा से की जा सकती। कुछ लेखकों ने इसे प्राकृतिक माना तो कुछ ने यह कहा कि मानव प्रगति के लिए यह आवश्यक है कि मजबूत राष्ट्र विकास अथवा विस्तार के लिए संघर्ष करें, और तभी श्रेष्ठतर प्रजातियों का वजूद बना रहेगा। स्वस्थ प्रजातियों में यह शारीरिक आग्रह होने और पिछड़ी प्रजातियों की मौजूदगी के कारण राष्ट्रवाद का तर्क साम्राज्यवाद का रूप लेने से बच नहीं सका। साम्राज्यवाद के बारे में यह कहा जा सकता है कि यह उस सिद्धान्त के अनुरूप है जिसके अंतर्गत राष्ट्रीयता के आधार पर राज्य पद का दावा करने वाले साम्राज्यवाद कमजोर राष्ट्रीयताओं और पिछड़े अवामों को अपने अधीन कर लेते हैं और अपने में मिलता लेते हैं। राष्ट्रवाद का यह साम्राज्यवादी – प्रसारवादी दृष्टिकोण लुदविग गम्प लोविज, जे. आर. सीले, जे. ए. क्रैम्ब, जे. डब्ल्यू. बर्गस और त्रीत्शके इत्यादि जैसे विचारकों के लेखन में व्यक्त हुआ। यहाँ हम उनके विचारों पर विस्तार से चर्चा करेंगे।

गम्प लोविज के अनुसार, राज्य की सर्वाधिक प्राकृतिक प्रवृत्ति तो सत्ता और प्रदेश (राज्य क्षेत्र) की निरंतर वृद्धि है। राष्ट्रीय प्रसार तो राज्य के अस्तित्व की ही अभिव्यक्ति है यह वह अनिवार्य प्रवृत्ति है जिसका प्रतिरोध करने की शक्ति शासकों और लोगों में नहीं होती। विदेशी विजय की यह प्रवृत्ति इतनी आवश्यक और इतनी मजबूत होती है कि कोई भी राज्य इससे बच नहीं सकता, चाहे वह छोटा हो या बड़ा! सभी राज्य अपनी प्रादेशिक सीमा और सत्ता बढ़ाने का प्रयास करते हैं और तभी रुकते हैं जब उनका अस्तित्व ही मिट जाता है। इसी प्रकार, अंग्रेजी साम्राज्यवाद के महान सपर्थक जे. आर.

सीले ने अपने देशवासियों से यह आग्रह किया था कि वे अपनी साम्राज्यवादी जिम्मेदारियों को ग्रहण करने की अपनी नियति के प्रति सचेत हों। उसने नियति शब्द का प्रयोग अंग्रेजी साम्राज्यवादी निर्यात की व्याख्या के लिए वैसे ही किया जैसे 19वीं शताब्दी में व्यक्त नियति पद का प्रयोग अमेरिका ने पश्चिमोन्मुख विस्तार को उचित ठहराने के उद्देश्य से और कुछ अन्य ने और भी अधिक महत्वाकांक्षी प्रादेशिक आकांक्षाओं के लिए किया था। एक अन्य अंग्रेजी इतिहासकार जे. ए. कैम्ब ने अंग्रेजी साम्राज्यवाद का एक चरम रूप प्रस्तुत किया। कैम्ब की यह मानना था कि अंग्रेज प्रजाति में साम्राज्य (चलाने) की मेधा प्रकृतिदत्त थी और ऐसी प्रजाति को अपने नियत काम को पूरा करने के लिए दुस्साहस करना ही होता है, कष्ट उठाने ही पड़ते हैं, और सब कुछ त्यागना ही पड़ता है। नागरिक सामंतवादी अथवा – अल्पतांत्रिक राज्य तो राष्ट्रीय में, राष्ट्रीय तो साम्राज्यवादी में परिवर्तित हो जाता है। यह सब कुछ धीमे-धीमे अथवा तेजी से होता है, किन्तु होता बिना प्रतिरोध के और यह सब जैसे प्रकृति के एक निर्धारित नियम से होता है। अमेरिका में, बर्गस ने विश्व की राजनीतिक सभ्यता को संचालित करने के ट्यूटनी राष्ट्रों के मकसद की बात कही। दुनिया के पिछड़े अवांओं को जीत के माध्यम से ट्यूटनी राष्ट्रों के शासकत्व के माध्यम से यह सिखाना ही चाहिए कि वे कैसे रहें। यह कहा गया कि छोटे-छोटे राज्यों को बड़े राजनीतिक समूहों में तब तक जुड़ते रहना चाहिए जब तक विश्व के समस्त अर्ध-सभ्य और असभ्य समुदाय बड़े सभ्य राष्ट्रों के संरक्षण में न आ जाएँ।

त्रीत्सके के लेखन में यह बात जोरदार ढंग से सामने आई कि साम्राज्यवाद और युद्ध तो राष्ट्रवाद की ही अभिव्यक्ति थे। उसका मानना था कि राज्य किसी लक्ष्य का साधन नहीं, बल्कि अपने अन्य में एक आत्म-निर्भरतापूर्ण लक्ष्य था। राज्य को अपना लक्ष्य अपने अंदर ही खोजना चाहिए और किसी भी व्यक्ति को यह अधिकार नहीं है कि वह राज्य को अपना नौकर माने, बल्कि यह तो नैतिक कर्तव्य और शारीरिक आवश्यकता के चलते बाध्य है कि अपने आपको राज्य के अधीन करे। वह युद्ध को एक प्रकार का मुकदमा मानता था जिसके जरिये राज्यों को अपने दावों को वैध करना होता है और यह रुग्ण राष्ट्र के लिए एक कठिन किन्तु लाभकारी उपचार होता है। युद्ध, एक परीक्षा होती है जिसमें कमजोर और कायरों की पहचान हो जाती है और वे न्यायसंगत ढंग से नष्ट हो जाते हैं। छोटे राज्यों का यह कर्तव्य होता है कि वे अधिक विस्तार करें, क्योंकि इस प्रकार का विस्तार एक अवाम के नैतिक दम-खम की निशानी होती है। यह राज्य के गौरव के लिए और उसके अपने भविष्य में विश्वास के लिए आवश्यक होता है कि वह आकार में विस्तार का प्रयास करें। त्रीशके ने जर्मनी को इस बात के लिए प्रेरित किया कि वह उस प्रकार के साम्राज्यवादी प्रयासों में लगे जिनके बल पर इंग्लैण्ड इतना महान राष्ट्र बन गया था। उसका कहना था कि यदि जर्मनी को पश्चिमी दुनिया के राष्ट्रों में सर्वोच्च शक्ति बनना है तो उसे समुद्र पार के भूभागों पर कब्जा करना ही होगा।

इस प्रकार, पहले जिस राष्ट्रवाद को एकरूपीय समूह को सांस्कृतिक बंधन में बांधने का साधन माना जाता था, वहीं अब अपने आपमें एक लक्ष्य और साम्राज्यवादी विस्तार का साधन बन गया। यह यूरोप और संयुक्त राज्य अमेरिका के औद्योगिक देशों के हाथों में एशिया, अफ्रीका और लैटिन अमेरिका के अविकसित देशों को जीतने का एक शक्तिशाली हथियार बन गया।

11.5.3 मार्क्सवादी दृष्टिकोण

राष्ट्रवाद और राष्ट्र राज्य के विचार को मार्क्सवाद ने दूसरे ही अर्थ में लिया। भास का कहना था कि समाज के विभाजन का आधार वर्ग होता है राष्ट्रीयता नहीं। राज्य का उद्देश्य तो प्रभुत्वशाली वर्ग के निहित स्वार्थों की रक्षा करना होता है और इस प्रकार राज्य राष्ट्रीयता का नहीं बल्कि वर्ग हित का प्रतिनिधित्व करता है। अपने युग के बारे में लिखते हुए मार्क्स ने इस बात पर जोर दिया था कि यद्यपि पूँजीवादी-उदारवादी राज्य राष्ट्रीय हित की बात करता है, फिर भी औद्योगिकीकरण ने एक ऐसे मजदूर वर्ग को जन्म दिया है जिसका हित सार्वभौमिक है, चाहे उसकी राष्ट्रीयता कुछ भी हो। इसका परिणाम यह हुआ है कि औद्योगिक देशों में राष्ट्रीयता की अवधारणा मृतप्राय है। चरम राष्ट्रवाद एक ऐसा वैचारिक साधन है जो वर्ग प्रभुत्व में सहायक होता है। यह बूर्जुआ वर्ग के हाथों गढ़ी गई कहानी है और इसका इस्तेमाल भी वह उसी तरह कर रहा है जैसे धर्म, आचार, लोकतंत्र, स्वतंत्रता, विज्ञान, कला अथवा साहित्य का किया था। मार्क्स का कहना था कि मजदूर वर्ग का कोई राष्ट्र नहीं है इसके वर्गीय हित सार्वभौमिक हैं। मजदूर वर्ग की मुक्ति तो विश्व स्तर पर उत्पादक शक्तियों के विकास में निहित थी जो राष्ट्र-राज्य के संकीर्ण क्षेत्र में संभव नहीं था। इस प्रकार, सिद्धान्त रूप में, मार्क्स और एंगेल्स ने राष्ट्रीयताओं के उन्मूलन का विचार दिया जो उनके अनुसार मध्यम वर्ग की विचारधारा का सृजन था।

मार्क्स की दृष्टि में राष्ट्रवाद तो बूर्जुआ हितों की अभिव्यक्ति है। उसके अनुसार, बूर्जुआ (वर्ग) ने अपनी सुविधानुसार यह मान लिया कि राष्ट्र केवल पूँजीवादियों से बनता है। इसलिए देश उनका है। उसका तर्क था कि एक वर्ग के रूप में बूर्जुआ वर्ग का हित साझा था और यह हित समुदाय देश के अंदर सर्वहारा के खिलाफ और देश के बाहर अन्य राष्ट्रों के बूर्जुआ के खिलाफ खड़ा होता है। इसी के बूर्जुआ अपनी राष्ट्रीयता कहता है।

जर्मन विचारधारा में मार्क्स ने सर्वहारा को एक ऐसा वर्ग कहा है जिसके समान अन्य कोई वर्ग नहीं है, जिसे समाज में अब एक वर्ग नहीं माना जाता, एक वर्ग के रूप में महत्व नहीं दिया जाता, और जो अपने आपमें सभी वर्तमान समाज के भीतर सभी वर्गों और राष्ट्रीयताओं के विलीन होने की अभिव्यक्ति है। आधुनिक पूँजीवादी समाज में, सर्वहारा जितना अधिक जीवन काम में बिताता है उतना ही वह गरीब होता जाता है। मार्क्स ने इस स्थिति की निंदा की और यह सोचा कि समूची दुनिया के सर्वहारा एकजुट होकर संघर्ष कर सकते हैं। दि कम्मुनिस्ट मैनिफेस्टो (साम्यवाद का घोषणापत्र) में मार्क्स ने लिखा है, मजदूरों का कोई देश नहीं है। लोगों के बीच राष्ट्रीय मतभेद और शत्रुता का प्रतिदिन अधिकाधिक लोप हो रहा है। मजदूरों की राष्ट्रीयता न तो फ्रांसीसी है, न अंग्रेजी, और न ही जर्मन, यह तो कारखाने की हवा है। उसकी जो जमीन है वह न तो जर्मन है, न अंग्रेजी, और न ही फ्रांसीसी, यह तो जमीन के कई फुट नीचे हैं। इसी प्रकार, एंगेल्स ने भी मार्क्स की बात दोहराते हुए कहा कि मजदूर वर्ग को अन्तर्राष्ट्रीय संदर्भ में सोचना चाहिए। राष्ट्रीय एकपक्षता और संकीर्ण मानसिकता अधिकाधिक असंभव होती जाती है।

अपने संगठन कम्मुनिस्ट इंटरनेशनल के बारे में यह लिखा कि इंटरनेशनल किसी देश को मान्यता नहीं देताय इसकी इच्छा एकजुट होने की है विलीन होने की नहीं। यह राष्ट्रीयता की माँग के खिलाफ है क्योंकि यह एक अवाम को दूसरे अवाम से अलग करती है और अत्याचारी इसका इस्तेमाल पूर्वग्रह और शत्रुता पैदा करने में करते हैं।

किन्तु 1848 में मार्क्स और एंगेल्स में राष्ट्रवाद को लेकर एक बड़ा बदलाव तब देखने में आया जब उन्होंने हंगरी और पोलैण्ड और जर्मनी जैसे उन ऐतिहासिक अथवा महान राष्ट्रों के राष्ट्रीय उद्देश्य का समर्थन किया जो बड़े स्थिर राष्ट्रीय राज्यों की स्थापना का प्रयास कर रहे थे। मार्क्स यह भी मानते थे कि दमित राष्ट्रों की मुक्ति से राष्ट्रीय विभाजन पर काबू पाने में मदद मिलेगी और दोनों राष्ट्रों के मजदूर वर्ग की एकजुटता में भी मदद मिलेगी। राष्ट्रीय मुक्ति आन्दोलन से शासक वर्ग की राजनीतिक, आर्थिक, सैनिक और वैचारिक शक्ति को कमजोर करने में भी मदद मिलेगी और दमित राष्ट्र के मजदूर वर्ग में एक क्रान्तिकारी विचारधारा बनेगी। एंगेल्स ने गैर-ऐतिहासिक राष्ट्र की अवधारणा सामने रखी। उसके अनुसार, यूरोप में इटली, पोलैण्ड, हंगरी और जर्मनी जैसे कुछ महान ऐतिहासिक राष्ट्र हों और एकता का विचार वहाँ उचित था, किन्तु वहीं रोमानिया, चेक और स्लोवाक जैसे कुछ छोटे देश भी थे जिनकी कोई ऐतिहासिक महत्ता और विरासत नहीं थी। यूरोप में लोकतांत्रिक क्रान्ति की विफलता का एक बड़ा कारण इन राष्ट्रों की प्रति-क्रान्तिकारी भूमिका थी। 1917 से पहले, यूरोप के क्रान्तिकारी वामपंथी व्यापक तौर पर मार्क्स और एंगेल्स के विचारों का समर्थन करते थे और सर्वहारा अन्तर्राष्ट्रीयतावाद के नाम पर राष्ट्रीय अलगाव का विरोध करते थे। किन्तु राष्ट्रवाद पर मार्क्स के विचारों से संबंधित कुछ प्रश्नों का समाधान इतिहास ने कर दिया है। 1890 में जब जर्मनी ने फ्रांस पर आक्रमण किया तो मार्क्स ने जर्मनी के मजदूर वर्ग से आग्रह किया कि वे बिस्मार्क का समर्थन नहीं करें बल्कि उसके खिलाफ विद्रोह कर दें। बहरहाल, मजदूर वर्ग ने बिस्मार्क का समर्थन किया। इसी तरह के आग्रह प्रथम और द्वितीय विश्व युद्धों में भी किए गए किन्तु मजदूर वर्ग युद्ध में शामिल न होने को सहमत नहीं हुआ, और न ही युद्ध रुका।

राष्ट्रवाद और राष्ट्रीयताओं का सवाल रूसी क्रान्ति के बाद प्रमुखता से उभरा क्योंकि रूस में अनेक राष्ट्रीयताएँ थीं। लेनिन अन्तर्राष्ट्रीयतावाद और राष्ट्रीयताओं के आत्म-निर्णय के अधिकार के द्वंद्वात्मक संबंध को भली प्रकार समझते थे। लेनिन का मानना था कि केवल अलग होने के अधिकार से राष्ट्रों के बीच दीर्घकालिक जुड़ाव और ऐच्छिक एकता और सहयोग संभव होता। इसी प्रकार, जब दमित राष्ट्रों के मजदूर आन्दोलन दमित राष्ट्रों के आत्म-निर्णय के अधिकार को मान्यता देंगे तभी दमितों की शत्रुता और शंका समाप्त होगी और दोनों देशों के सर्वहारा बर्जुआ के खिलाफ अन्तर्राष्ट्रीय संघर्ष में एकजुट होंगे। लेनिन ने राष्ट्रीय लोकतांत्रिक संघर्षों और समाजवादी क्रान्ति के आपसी संबंध को भी भली प्रकार समझा और यह दिखाया कि दमित राष्ट्रों के जन-समूह तो सचेत सर्वहारा के साथी थे। दूसरी ओर, राष्ट्रीयताओं की समस्या के प्रति स्टालिन का समाधान यथार्थवादी तो था किन्तु मार्क्सवादी परम्परा से हट कर था। उसने सोवियत राज्य के अंदर विभिन्न राष्ट्रीयताओं को स्वायत्तता दी। प्रत्येक राष्ट्रीयता राज्य स्तर का विधान बना सकती थी और अपनी भाषा और संस्कृति का विकास कर सकती थी। उन्हें केन्द्र के स्तर पर भी समान दर्जा दिया गया। किन्तु, धीरे-धीरे सभी राष्ट्रीयताओं को सी.पी.एस.यू. ने अपने में मिला लिया। जो भी हो, महत्वपूर्ण बात यह है कि वर्ग के साथ राष्ट्रीयताओं को भी मान्यता मिली। स्टालिन की एक देश में समाजवाद की नीति का उद्देश्य रूस को विश्व क्रान्ति का अगुआ बनाना था और यह अधिकाधिक रूसी राष्ट्रीय हित के विस्तार को उन्मुक्त कर दिया गया। जार शासनाधीन रूस के नायक राष्ट्रीय हित में दूसरों के साम्यवादी आन्दोलन के नायक बन गए। युद्ध का एक स्वाभाविक परिणाम यह रहा समस्त साम्यवादी देशों की राष्ट्रीय चेतना का उदय। इस प्रकार, एक राष्ट्र की कम्मुनिस्ट पार्टी को दूसरे राष्ट्र की कम्मुनिस्ट पार्टी का विरोध राष्ट्रीय हित में करना पड़ा और अन्तर्राष्ट्रीय सर्वहारा क्रान्ति के विचार ने दम तोड़ दिया। यूनान, बुल्गारिया और युगोस्लाविया की कम्मुनिस्ट पार्टियों के बीच झगड़ा, और पूर्व सोवियत संघ और चीन के बीच मतभेद इसके स्पष्ट उदाहरण हैं। एशिया में, आधुनिक राष्ट्रवाद और मार्क्सवादी समाजवाद लगभग एक ही समय में आगे आए। अभी हाल में, सोवियत संघ और युगोस्लाविया के टूटने से यह सिद्ध हो गया है कि जातीय, धार्मिक और अन्य पहचानें स्वर्ग निष्ठाओं

की तुलना में अधिक प्रभुत्वशाली हैं। क्रोएशिया में हुआ खून-खराबा, और जॉर्जिया तथा मोल्दाविया में स्थानीय राष्ट्रवादियों और रूस के बीच हुई सशस्त्र झड़पें इस बात के स्पष्ट प्रमाण हैं कि राष्ट्रीय सवाल अत्यंत गंभीर हैं।

राष्ट्रवाद और मार्क्सवाद के बीच कुछ ऐसी समानताओं का मिलना संभव है जिन्होंने विशेषकर मार्क्स के साथ विभिन्न देशों में इन दो प्रकार की विचारधाराओं को मिलाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। स्मिथ के अनुसार, राष्ट्रवाद और मार्क्सवाद दोनों ही श्रुति आन्दोलन हैं। दोनों ही वर्तमान स्थिति को दमनकारी बताते हैं और उसे बदलना चाहते हैं। जहाँ मार्क्सवाद क्रान्ति के जरिये बदलाव चाहता है, वहीं राष्ट्रवाद व्यक्ति की खोई अस्मिता की बहाली चाहता है। जहाँ मार्क्सवाद बुर्जुआ वर्ग को दुश्मन मानता है, वहीं राष्ट्रवाद विदेशी आततायी या औपनिवेशिक शासक को शत्रु समझता है। दोनों को ही आधुनिक राष्ट्र-राज्य में अपने संघर्ष का उचित मैदान दिखाई देता है। दोनों ही अपने लक्ष्य की प्राप्ति के लिए जन-आन्दोलनों पर निर्भर करते हैं। उपनिवेश-विरोधी संघर्षों के दौरान, कई देशों में मार्क्सवाद और राष्ट्रवाद एक हो गए। किन्तु, जहाँ राष्ट्रवाद संस्कृति को प्राथमिकता देता है, वहीं मार्क्सवाद में प्रत्येक परिघटना का कारण आर्थिक होता है। जहाँ मार्क्सवाद किसी भी राष्ट्रीयता की स्थिति में पूँजीवाद में ही अपना शत्रु देखता है, वहीं राष्ट्रवादियों के लिए दुश्मन वे होते हैं जो राष्ट्र की पवित्रता को भंग करते हैं। और अंत में, जहाँ मार्क्स ने अतीत के पार जाने के लिए उसे स्वीकार किया है, वहीं राष्ट्रवाद अतीत से प्रेरणा लेकर उसे वर्तमान से जोड़ता और राष्ट्रीय चरित्र की मौलिक विशेषताओं को बहाल करने का प्रयास करता है।

11.5.4 अविभाज्य-फ्रांसीसीवादी दृष्टिकोण

उन्नीसवीं शताब्दी में, राष्ट्रवाद ने स्वतंत्रता और मुक्ति आन्दोलनों में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। एक समय में यह एक प्रगतिशील सिद्धान्त था जो फ्रांसीसी क्रान्ति से विरासत में प्राप्त लोकतांत्रिक सार्वभौमिक मूल्यों से अभिन्न रूप में जुड़ा था। किन्तु, 20वीं शताब्दी में, इस राष्ट्रवादी राष्ट्रवाद की जगह अविभाज्य राष्ट्रवाद ने ले ली। इस प्रकार का राष्ट्रवाद मौरिस बारस, चार्ल्स मोरास, आर्थर डी. जॉनिंग और एच. एस. चौम्बरलेन आदि के लेखनों में प्रकट हुआ। मुसोलिनी ने अविभाज्य राष्ट्रवाद को व्यावहारिक रूप दिया, जिसे हिटलर और नात्सी जर्मनी ने बड़ी निर्भरता से इस्तेमाल किया। इस शब्द का प्रयोग सबसे पहले मोरास ने किया और अविभाज्य राष्ट्रवाद को राष्ट्रीय नीतियों के विशेष पालन, राष्ट्रीय अविभाज्यता अथवा अखंडता के पूर्ण रख-रखाव और राष्ट्रीय शक्ति की निरंतर वृद्धि की परिभाषा दी। एक सिद्धान्त के रूप में, इस प्रकार के राष्ट्रवाद में इस बात पर जोर था कि व्यक्ति राज्य के लिए जीता है, राज्य की सेवा करता है और राज्य को महिमामंडित करता है। इसमें राज्य की व्यवस्थित अवधारणा रखी गई, राजनीतिक लोकतंत्र को अस्वीकार किया गया और आक्रामक अन्तर्राष्ट्रीयतावाद की एक अच्छाई के रूप में हिमायत की गई। इसमें राष्ट्र के प्रति पूर्ण निष्ठा का आग्रह था और राष्ट्रीय हित को व्यक्ति और मानवता के हित के भी ऊपर रखने का प्रशंसा भाव था।

अविभाज्य राष्ट्रवाद का एक प्रारंभिक हिमायती मौरिस बारस था जिसका मानना था कि फ्रांसीसी राष्ट्रवाद को बढ़ावा देने के लिए क्षेत्रीयतावाद को प्रोत्साहित किया जा सकता है, फ्रांसीसी भाषा से विदेशी शब्द निकालकर उसे शुद्ध किया जा सकता है, और नेपोलियन जैसे फ्रांसीसी सेना नायकों के प्रति श्रद्धा को प्रेरित किया जा सकता है। उसके अनुसार, मनुष्य उन्हीं विचारों को सोचता है जिन्हें उसे एक विशेष प्रजाति अथवा राष्ट्रीयता के सदस्य के नाते सोचना ही चाहिए। रक्त और माटी तो राष्ट्रवाद के जुड़वां आधार हैं और व्यक्तिगत तथा सामाजिक जीवन के निर्धारक तत्व हैं। इन विचारों को एक अन्य फ्रांसीसी चार्ल्स मोरास ने आगे बढ़ाया। उसने एक सच्चे राष्ट्रवादी की यह परिभाषा दी – वह अपने देश को सभी चीजों के ऊपर रखता है इसलिए वह सभी निलम्बित प्रश्नों को राष्ट्रीय हित के सापेक्ष रखकर उनकी कल्पना करता है, उनसे निपटता है और उनका समाधान करता है। बारस की तरह उसने भी यह तर्क दिया कि मृतकों का सम्मान जीवितों में सर्वाधिक सक्रिय के रूप में करना चाहिए। उसका यह कहना था कि मृतकों से ही जीवितों को पहल की प्रेरणा मिलती है। उसने न केवल रक्त पंथ का सृजन किया बल्कि पवित्र माटी के पंथ को भी प्रोत्साहित किया। किन्तु, हेज के अनुसार, चार्ल्स मोरास के पूरे लेखन में उसका अविभाज्य राष्ट्रवाद घृणा पैदा करने वाला रहा है। उसने फ्रांसीसियों के भीतर यहूदी, प्रोटेस्टेंट, उदारवादी और साम्यवादी जैसे बाहरी प्रभावों के प्रति घृणा का निरंतर उपदेश दिया जर्मन, अंग्रेज, अमेरिकी और रूसी आदि विदेशियों के खिलाफ निरंतर सीधे विष-वमन किया। वह सौ प्रतिशत फ्रांसीसी राष्ट्रवाद का पक्षधर था, जो संदेहजनक भी है और प्रभावी भी।

मुसोलिनी और इतालवी फासीवाद में अविभाज्य राष्ट्रवाद को ठोस अभिव्यक्ति मिली। ब्रेनेदेतो क्रोचे, जोवानी जेन्तीले, और विन्सेन्जो ग्लोबेर्ती ने अपने लेखन में राष्ट्रवाद को धीरे-धीरे उदारवाद से अलग कर दिया और उसे एक पवित्र अहंवाद के पथ का रूप दे दिया।

फासीवाद एक विरोधी आन्दोलन था – उदारवाद-विरोधी, संसद-विरोधी, यहूदीवाद-विरोधी, साम्यवाद-विरोधी, आंशिक रूप में पूँजीवाद-विरोधी, बुर्जुआ-विरोधी और पुरोहित विरोधी। इन स्थितियों में राष्ट्रवादी भावनाओं के साथ मिटकर

सर्व-राष्ट्रवाद को जन्म दिया जिसके चलते विद्यमान राज्यों के लिए चुनौती खड़ी हुई और फासीवादी शासनों की अधिकांश उग्र प्रसारवादी विदेश नीति को आकार मिला। मुसोलिनी के अनुसार फासीवाद की बुनियाद तो राज्य की अवधारणा, इसका चरित्र इसका दायित्व और लक्ष्य था। जनता का संरक्षक होने के अतिरिक्त राज्य को पूर्ण रूप से जनता की भावना का रक्षक और संप्रेषक भी माना गया। राज्य ही अपने नागरिकों को नागरिक शुचिता की शिक्षा देता है, उन्हें उनके मकसद के प्रति जागरूक करता है और उनमें एकता पैदा करता है। यह मनुष्य को आदिम जनजातीय जीवन से मानवीय सत्ता की उस उच्चतम अभिव्यक्ति होती है, और इसकी विपरीत स्थिति पतन की निशानी होती है। युद्ध को यहाँ एक अच्छे लक्ष्य के रूप में सराहा गया और युद्ध का उद्देश्य पराजित राष्ट्र का पुनर्वास नहीं बल्कि उसका सर्वनाश माना गया। इस प्रकार, फासीवाद में राष्ट्रवाद पूरी तौर पर पतनशील और उच्छेदनवादी हो गया।

अविभाज्य राष्ट्रवाद से निकट से जुड़ा नस्ल की सर्वोच्चता का सिद्धान्त था। इसके अनुसार, इतिहास को समझने का गुर मानव नस्लों में पाए जाने वाले स्तर और रुझान के अंतरों में निहित है, और मानव जाति में विभिन्न नस्लें पाई जाती हैं जिनकी पहचान उनकी अलग शारीरिक, भावनात्मक और आत्मिक विशेषताओं से होती हैं। उदाहरण स्वरूप, मानव जाति को तीन प्रमुख नस्लों – श्वेत, पीली और अश्वेत – में विभाजित करते हुए गोबिनो ने श्वेत अथवा आर्य प्रजाति को सर्वोच्च बताया जो स्वभाव से ही शासकों की प्रजाति होती है। एक सिद्धान्त के रूप में, नस्लवाद तो भिन्न के प्रति घृणा की बात करता था और उन्हें राजनीतिक, नागरिक और सामाजिक अधिकार नहीं देने की हिमायत करता था। वैसे तो, उदारवादी राष्ट्रवाद में हम और वे के बीच अंतर किया जाता था, किन्तु अपने फासीवादी रूप में राष्ट्रवाद अपने अतिवादी स्वरूप में आ गया जिसमें अन्य के अस्तित्व को हीन और संभावी शत्रु समझा जाता था। इस विचार में, अन्य अथवा दूसरे के अस्तित्व को भी अपनी जान के प्रति खतरा माना जाता था। इसलिए, अन्य को नष्ट करना ही था ताकि अपने विशिष्ट अस्तित्व की रक्षा हो सके। मित्र और शत्रु समूहों के रूप में होते हैं। उनके बीच का टकराव अनिवार्य रूप में पूर्ण ही होना चाहिए जिसमें शत्रु का विनाश अवश्य होना चाहिए। यह सीमाएँ निर्धारित करने का नहीं बल्कि उन सभी को समाप्त कर देने का मामला था जो भिन्न हैं, चाहे उनके विचार और दृष्टिकोण कुछ भी हों। नस्लवाद के मामले में यही हुआ जब उसे राष्ट्रवाद में शामिल कर लिया गया। उदाहरणस्वरूप, नात्सीवाद ने बृहत्तर जर्मनी के निर्माण की हिमायत की। जर्मन समस्याओं का कारण बताए गए लोगों के संहार को उनकी नस्लीय हीनता के आधार पर उचित ठहराया गया। दूसरे के वजूद को आर्य श्रेष्ठता के प्रति खतरा समझा गया। प्रदूषण अथवा (नस्ल की) मिलावट से किसी भी कीमत पर बचना ही था।

संक्षेप में, फासीवाद और नात्सीवाद दोनों ने ही राष्ट्रवाद को एक मिथक के रूप में इस्तेमाल किया। महत्वपूर्ण बात यह नहीं थी कि कोई विचार सही है या नहीं, बल्कि महत्वपूर्ण बात यह थी कि उस विचार को आम जनता के आगे सही बनाकर पेश किया जा सकता है या नहीं। मुसोलिनी ने राष्ट्र के मिथक की रचना की – हमारा मिथक राष्ट्र है, हमारा मिथक राष्ट्र की महानता है, और हम हर वस्तु को इस मिथक इस गौरव के अधीन करते हैं, जिसे हम एक पूर्ण वास्तविकता में बदलना चाहते हैं। जर्मन राष्ट्रीय समाजवाद ने नस्ल के मिथक का सहारा लिया। आज एक नई आस्था का उदय हो रहा है रक्त का मिथक, और यह विश्वास है कि रक्त से ही मनुष्य के दैवीय मकसद की रक्षा होनी है यह विश्वास, जो स्पष्टतम ज्ञान पर आधारित है, कि नॉर्डिक रक्त उस रहस्य का प्रतीक है जिसने प्राचीन धार्मिक संस्कारों को हटाकर उनकी जगह ले ली है। यह राष्ट्रवाद का वह रूप था जिसका पोषण प्रेम नहीं घृणा से हुआ था। यह लोगों के मन में विश्वास नहीं भय पैदा करने वाला था। इसने आगे चलकर राष्ट्रवाद के विरोध का ही रूप ले लिया जबकि राष्ट्रवाद के नारों को इसने छोड़ा नहीं। यह एक राष्ट्रवाद था जो सिद्धान्त रूप में एक राष्ट्र वाले राष्ट्रवाद के अलावा और किसी भी राष्ट्रवाद को सहन नहीं कर सकता था।

11.5.5 उपनिवेश-विरोधी दृष्टिकोण

बीसवीं शताब्दी में, दो विश्व युद्धों के बीच की अवधि में रूसी क्रान्ति फासीवाद का उदय ऐसी दो परिघटनाएँ थी जिनका राष्ट्रवाद के विचारों को यूरोप से एशिया, अफ्रीका और लैटिन अमेरिका जैसी गैर-यूरोपीय जगहों पर फैलाने में महत्वपूर्ण योगदान रहा। सामूहिक रूप में, इन्होंने राष्ट्रीय मुक्ति आन्दोलनों को गति दी, जिसके परिणामस्वरूप अनेक देश यूरोप की साम्राज्यवादी ताकतों से मुक्ति पा सके। इस प्रकार के क्रान्तिकारी बदलावों ने एक नए प्रकार के राष्ट्रवाद के विकास में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। शचीन, भारत, पाकिस्तान, मिश्र और वियतनाम जैसे नए राष्ट्रों को जन्म देने वाली परिस्थितियाँ पश्चिमी देशों की परिस्थितियों से बिल्कुल भिन्न थीं। ये वे देश थे जिन्हें इंग्लैण्ड, फ्रांस, स्पेन, और हॉलैण्ड जैसे साम्राज्यवादी देशों ने अपने अधीन किया हुआ था और उनकी अर्थव्यवस्थाओं का दोहन किया था। साम्राज्यवादी देश उन्हें अपनी निजी संपत्ति मानते थे और उन्हें अपनी इच्छा से बेच देते या चुरा लेते थे। उन्होंने इन देशों की स्वाधीनता को नष्ट कर दिया और वहाँ ऐसी कठपुतली सरकारें रख छोड़ी जो साम्राज्यवाद को कोई भी नुकसान पहुंचाने की स्थिति में नहीं थीं।

भारत, चीन और अरब देशों में एक नए प्रकार के राष्ट्रवाद और अवधारणा के एक नए अर्थ का उदय हुआ था। यद्यपि नए राज्यों की बुनियाद— बनने वाली राष्ट्रवाद की नई अवधारणा की अधिकांश विचारधारा और राजनीतिक सिद्धान्त पश्चिमी देशों से ही निकले थे, फिर भी इसने इस सिद्धान्त को अपने ही ऐतिहासिक अनुभवों, अपनी विशिष्ट परिस्थितियों और साम्राज्यवाद के विरुद्ध अपने ही विद्रोह के परिप्रेक्ष्य में अपनाया। नए राष्ट्रवाद का आधार यह था कि इसकी शुरुआत साम्राज्यवाद के प्रति, उसके प्रतिनिधियों के प्रति, उसके नागरिकों और उससे जुड़े किसी भी व्यक्ति के प्रति घृणा से हुई। यह उन लोगों के प्रति स्वाभाविक घृणा थी जिन्होंने उनकी जमीनों पर जबरन कब्जा कर लिया था, उनकी संपदा का जबरन दोहन किया था, उनकी सरकारों को कुचल दिया था, उनकी जनता को गुलाम बना लिया था और जिन्हें लूट-खसोट और चोरी करने में कोई हिचक नहीं होती थी। इस घृणा की अभिव्यक्ति बॉक्सर विद्रोह में हिंसक रूप में हुई जिसमें हत्या, विनाश और संहार का सहारा लिया गया, और भारत में गांधीजी के नेतृत्व में यही अभिव्यक्ति शांतिपूर्ण और अहिंसक तरीके से हुई। ये राज्य साम्राज्यवाद के प्रति जागरूक हुए और उन्होंने इसके विनाश को अपना लक्ष्य बनाया। उन्होंने उनको भी नष्ट करने की ठान ली जो दूसरे राज्यों को जीतने, दमन करने, लोगों को गुलाम बनाने, स्वतंत्रता छीनने, संपदा का दोहन करने, और नस्ल, क्षेत्र, संप्रदाय तथा वर्ग के आधार पर लोगों को बाँटने जैसी बुराइयों में शामिल थे। इसके साथ ही, राष्ट्रवाद वह रचनात्मक शक्ति थी जो लोगों को राष्ट्रीय पुनर्निर्माण में अपना योगदान करने को प्रेरित कर सकती थी। इस एकता के दो मतलब थे। i) भौगोलिक हिस्सों की एकता, और (ii) धर्म, वर्ग, जाति और संप्रदाय के तत्वों की अनेकता में एकता। इन राज्यों ने सभी वर्गों, जातियों और समूहों के कल्याण के लिए काम करने का संकल्प लिया क्योंकि इन सभी ने स्वतंत्रता संग्राम में हिस्सा लिया और योगदान किया था। अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टि से, इन राष्ट्र-राज्यों ने सैनिक ठिकानों, दूसरे राज्यों के मामलों में अनुचित बाहरी हस्तक्षेप, और अलगाववाद का विरोध किया और निगुर्तता तथा अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग में आस्था जताई।

उपनिवेश-विरोधी राष्ट्रवाद की एक प्रमुख विशेषता यह थी कि अधिकांश मामलों में इस बात की कोई तुक ही नहीं थी कि राज्य के उदय से पहले राष्ट्र का निर्माण हो। यहाँ राष्ट्रवाद के प्रारंभिक स्वरूप और उसके बाद के स्वरूप में अंतर किया जा सकता है। प्रारंभिक राष्ट्रवाद जहाँ औपनिवेशिक शासकों के विरुद्ध एक आन्दोलन था और उसने स्वाधीनता के लिए संघर्ष किया, वहीं बाद में उसने एक राजनीतिक प्रवचन का रूप ले लिया जिसका इस्तेमाल नए नेताओं ने उस राष्ट्र के निर्माण के प्रयास में किया जिसमें औपनिवेशिक युग से विरासत में मिले राज्य की वैधता को बनाए रखने की सामर्थ्य थी। स्वाधीनता प्राप्ति के बाद, इन औपनिवेशिक राज्यों ने नए राज्यों की स्थापना की, अपनी सीमाएँ खींची, अपनी राजधानियाँ बनाई, और अपनी आर्थिक आवश्यकताओं के अनुरूप एक केन्द्रीय प्रशासन और राजनीतिक संस्थाओं का गठन किया। इसके परिणामस्वरूप, प्रत्येक उपनिवेश अवांओं का समूह हो गया। पुराने राज्य अथवा अपने अंश एक ही सीमा के अंदर आ गए। ये सभी राज्य विभिन्न जातीय समुदायों और जनजातियों की मिली-जुली पच्चीदाकारी थे। इस प्रकार, ऐसे क्षेत्रों में राज्यों की कृत्रिम और आरोपित प्रकृति स्वाधीनता के बाद वहाँ होने वाली अधिकांश परेशानियों का कारण बनी। इन राज्यों की सबसे बड़ी समस्या उनकी क्षण भंगुरता रही। नवनिर्मित राष्ट्र-राज्यों ने पूर्वाष्ट्रीय संबंधों के स्थान पर राष्ट्रीय अस्मिता और निष्ठा की भावना को स्थापित करने के लिए संघर्ष की शुरुआत की। किन्तु, अनेक मामलों में, आजादी के उत्सव से बना खुशी का माहौल जल्दी ही बदरंग हो गया। इसका कारण नए राज्यों की यह कमजोरी रही कि वे आर्थिक पिछड़ेपन को समाप्त नहीं कर पाए और उस आबादी से एक सुव्यवस्थित नागरिक समाज की रचना नहीं कर पाए जो स्वयं में उतना ही बहुरूपीय होता जितना राज्य के संदर्भ में। उनमें से कई राज्य जनता के दावों को पूरा नहीं कर पाए तो अमेरिका या रूस की ओर चले गए। किन्तु इसका अर्थ था पराधीन होना। फिर, स्वाधीनता ने उभरते राज्य राष्ट्रवादों के अंदर जातीय राष्ट्रवाद को मुक्त भी किया, और कुछ मामलों — जैसे भारत, पाकिस्तान, मलेशिया, इंडोनेशिया, नाइजीरिया आदि — में उपनिवेश-विरोधी और राष्ट्रवाद के लिए खतरा पैदा हो गया जिसका उद्देश्य राज्य का संरक्षण और औपनिवेशिक शासकों को हटाना था। जहाँ मुसलमानों ने एक अलग राष्ट्र राज्य की माँग करके भारतीय राज्य की अखंडता के लिए चुनौती खड़ी कर दी वहीं जाति, वर्ग, जातीय मूल, धर्म और भाषा के आधार पर अस्मिता की अलग सतहों का निर्माण हो गया जिससे विरासत में मिले मनमाने ढंग से बने राज्य में से एक अनन्य राष्ट्र के निर्माण की जटिलताएँ और भी बढ़ गई। स्वाधीनता के बाद, राष्ट्रीयता को, बचाने में भारी समस्याएँ आईं। सामाजिक-राजनीतिक परिवेश ने गांधी, नेहरू, सुकर्णो और नासिर जैसे कुछ नेताओं को पैगम्बर मुक्तिदाताओं की श्रेणी में ला खड़ा किया। फिर भी, पश्चिमी शिक्षित कुलीनों और अधिकतर निरक्षर जनसमूह के बीच की खाई स्वाधीनता के बाद और भी चौड़ी हो गई। उनमें से अधिकांश ने राज्य के ढाँचे को नहीं बदला और उपनिवेशियों के विशेषाधिकारों को बनाए रखा। उनकी सरकारों की भंगुरता के कारण शत्रुता की स्थिति बढ़ गई और स्थापित राज्यों के भीतर ही जातीय अल्पसंख्यकों की स्वाधीनता के लिए आन्दोलन खड़े हो गए। स्वाधीनता के बाद सूडान, जाइर, चाड, नाइजीरिया, केन्या, घाना और श्रीलंका में गृहयुद्ध हुए और पूर्वी और पश्चिमी पाकिस्तान में दरार पैदा हो गई।

राष्ट्रवादी बुद्धिजीवियों के सामने सबसे बड़ा काम था राज्य को वैधता देने के लिए एक राष्ट्र का निर्माण करना किन्तु, उनका समाज क्योंकि बहुरूपीय है इसलिए टकराव से बचा नहीं जा सकता, और इसके दो स्रोत हैं। i) औपनिवेशिक शासकों से विरासत में प्राप्त और अत्यधिक मनमाने ढंग से बने राज्यों में शामिल जातीय समूहों के बीच उठते मतभेद, और ii) गरीबी की स्थितियों में रह रहे बेशुमार लोगों और मुट्ठी भर अमीर कुलीनों के बीच चौड़ी खाई। पहले मामले में, राष्ट्रवाद का इस्तेमाल पुरानी शत्रुता और विवादों को झड़काने के लिए हथियार के रूप में किया जाता है, और दूसरे मामले में इसका इस्तेमाल राष्ट्र की वैकल्पिक छवि को बढ़ावा देने अथवा तमाम परेशानियों के लिए पश्चिम को दोष देने के लिए किया जा सकता है।

11.6 राज्य रहित राष्ट्र और राष्ट्र रहित राज्य

एक राजनीतिक सिद्धान्त के रूप में, राष्ट्रवाद यह कहता है कि राष्ट्र और राज्य में संगति होनी चाहिए। जब राष्ट्र और राज्य में सह-विस्तार होता है तो फिर इस शब्द का बहुत कम प्रयोग होता है। यह मान कर चला जाता है कि सभी पार्टियाँ और गुट-राष्ट्रवादी हैं क्योंकि जिस राष्ट्र का वे प्रतिनिधित्व करते हैं वह पहले ही राज्य का रूप ले चुका होता है। यहाँ राष्ट्रवाद एक एकताकारी कारक के रूप में काम करता है। फिर भी, दुनिया में ऐसे कितने ही राष्ट्र हैं जो बिना राज्य के हैं और ऐसे राज्य भी हैं और रहे हैं जो बिना राष्ट्र के हैं। राष्ट्र को सही ढंग से समझने के लिए, यह समझना भी महत्वपूर्ण है कि इन राज्यों में राष्ट्रवादी प्रवचन किये प्रकार मुखरित किया जाता है।

राज्य रहित राष्ट्रों में राष्ट्रवाद एक अलग ही राजनीतिक परिदृश्य उपस्थित करता है जो उन राष्ट्रराज्यों के विशिष्ट चरित्र पर निर्भर करता है जिनमें इस तरह के राष्ट्र आते हैं। ऐसी कम से कम चार स्थितियाँ स्पष्ट हैं—

- एक राष्ट्र राज्य अपने अल्पसंख्यकों की सांस्कृतिक भिन्नताओं का संज्ञान ले सकता है, और इसमें वह उनकी अपनी संस्कृति के पोषण और प्रोन्नयन और सामाजिक-सांस्कृतिक परम्पराओं के कुछ गहरे जमे तत्वों के अनुरक्षण से अधिक की अनुमति भी नहीं देता। उदाहरणस्वरूप, यद्यपि स्कॉटलैण्ड और वेल्स दोनों ब्रिटेन के अंदर समान भागीदार हैं, फिर भी उन्हें अपनी घरेलू समस्याओं को सुलझाने के लिए लंदन जाना पड़ता है।
- राज्य के भीतर कुछ स्वायत्तता एक और विकल्प है जैसा कि फ्रांस की तानाशाही के बाद स्पेन में बनी स्वायत्त समुदाय व्यवस्था के अंदर बॉस्क और कैटलोनिया में
- एक राष्ट्र को एक परिसंघ के भीतर एकीकृत किया जा सकता है, जिसमें राज्य बिहीन राष्ट्रों के लिए अत्यधिक आत्म-निर्णय की गुंजाइश होती है। उदाहरणस्वरूप, कनाडा की राजनीतिक व्यवस्था में क्यूबेक व्यापक राजनीतिक अधिकारों से लाभ हुआ है जिससे यह वास्तव में स्वाधीन हुए बिना अपने सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक जीवन के बारे में निर्णय कर सकता है।

कुछ ऐसे राष्ट्र भी हैं जिन्हें उस राज्य की बिल्कुल भी मान्यता प्राप्त नहीं है जिसमें वे आते हैं। ऐसे मामलों में, राज्य अपने भौगोलिक क्षेत्र के भीतर मतभेदों को समाप्त करने के लिए नीतियाँ बनाने में स्वयं को ही लगाता है। राष्ट्रीय अल्पसंख्यकों के सैनिक नियंत्रण के रूप में हिंसा भी एक विकल्प है। इस्रायल में रह रहे फिलिस्तीनी और चीन में रह रहे तिब्बती इस स्थिति के स्पष्ट उदाहरण हैं।

दूसरी ओर, राष्ट्र विहीन राज्य अथवा राज्य-राष्ट्र जैसे मुहावरों का इस्तेमाल ऐसी स्थिति के लिए लेता है जिसमें राज्य का निर्माण मनमाने ढंग से कर लिया जाता है और इसकी सीमाओं में रहने वाले समूहों की सांस्कृतिक और भाषायी पहचानों को भी अनदेखा कर दिया जाता है। एक राज्य-राष्ट्र में एक ऐसे राज्य उपकरण का निर्माण शामिल है जो अपने राज्य-क्षेत्र के भीतर हिंसा के साधन के वैध प्रयोग पर नियंत्रण रखता है, आंतरिक और बाह्य संप्रभुता बनाता है, और अपनी प्रस्थिति के लिए अन्तर्राष्ट्रीय मान्यता प्राप्त करता है। राष्ट्र-रहित राज्यों की धारणा को एशिया और अफ्रीका के पूर्व औपनिवेशिक देशों के मामले में लागू किया जाता है जहाँ अधिकांश मामलों में इस बात का कोई अर्थ नहीं है कि राज्य के उदय से पहले राष्ट्र का निर्माण हुआ। यहाँ औपनिवेशिक शासन के विरुद्ध संचालित आन्दोलन तथा स्वाधीनता संघर्ष में लगे राष्ट्रवाद के प्रारंभिक स्वरूप और उस नए राष्ट्रवाद में अंतर किया जा सकता है जिसका उपयोग एक राजनीतिक प्रवचन के रूप में नए नेताओं ने औपनिवेशिक मालिकों से विरासत में प्राप्त राज्य की वैधता को बनाए रखने में सक्षम राष्ट्र के निर्माण के लिए किया। जैसा कि हम ऊपर कह चुके हैं, स्वाधीनता बाद की एक प्रमुख, समस्या राष्ट्र निर्माण की अर्थात् पूर्व-राष्ट्रीय जातीय, जनजातीय निष्ठाओं को राष्ट्रीय अस्मिता की भावना में बदलने की रही है। यहाँ राष्ट्र और आधुनिकता के बीच द्विभाजन के परिणामस्वरूप राज्य में मिलाए गए विविध समूहों के बीच दूरियाँ बढ़ीं। इन राज्यों के आर्थिक पिछड़ेपन और बहुरूपीय प्रकृति के कारण इन्हें विविध जातीय समूहों और जनजातियों को एक राष्ट्रीय ढाँचे में एकीकृत करने में सफलता नहीं मिली। इस तरह राज्य का अस्तित्व तो है किन्तु वह एक एकीकृत राष्ट्र-राज्य की स्थिति तक अभी भी नहीं पहुँचा है।

11.7 भूमण्डलीकरण और राष्ट्रवाद का भविष्य

एक महत्वपूर्ण प्रश्न जो अभी तक अनुत्तरित है वह यह है कि राष्ट्रवाद और भूमण्डलीकरण की मौजूदा लहर में क्या अंतर है? अर्थात् i) क्या भूमण्डलीकरण राष्ट्रवाद के लिए खतरा है, अथवा ii) क्या भूमण्डलीकरण एक नई भूमण्डलीय पहचान बना रहा है, अथवा iii) क्या इसने साझा पारंपरिक संस्कृतियों को मजबूत करने के रूप में पलटी मारने की शुरुआत कर दी है?

आज एक भूमण्डलीय संस्कृति विद्यमान है जिसके पाँच स्पष्ट आयाम हैं। यह हैं— i) एथनोस्कोस जिसका अर्थ होता है विश्व के देशों में प्रवासियों, अतिथियों कामगारों, निर्वासितों और शरणार्थियों आदि का निरंतर आवागमन, ii) टेक्नोस्केप्स जिसका अर्थ होता है बहुराष्ट्रीय कम्पनियों की बनाई मशीनरी का आदानप्रदान, iii) फाइनेंस स्केप, जिसका अर्थ है दुनिया भर के बाजारों और शेयर बाजारों में धन का तीव्र प्रवाह, iv) आइडियोस्केप्स, जिसका अर्थ होता है राज्य और राजनीतिक विचारधाराओं से जुड़ी लोकतंत्र, स्वतंत्रता, कल्याण और अधिकार जैसी दुनिया का प्रवाह, और v) मीडियास्केप्स जिसका अर्थ है अखबारों, छवियों तथा पत्रिकाओं, टेलीविजन और फिल्म आदि के माध्यम से सूचना का प्रवाह। भूमण्डलीय संस्कृति की गहनता और तीव्रता विश्व को एक ऐसी अनूठी जगह में बदलने का प्रयास कर रही है जहाँ सांस्कृतिक एकीकरण और विखंडन की प्रक्रियाएँ चलती हैं। यहाँ महत्वपूर्ण प्रश्न यह उठता है कि क्या हम एक साझा संस्कृति की ओर बढ़ रहे हैं अथवा भूमण्डलीकरण क्या एक विशेष संस्कृति को मजबूत करेगा। गीबटनो के अनुसार, यद्यपि भूमण्डलीकरण के कारण संस्कृतियाँ एक-दूसरे को काटती हैं और एक दूसरे से मिलती हैं, फिर भी हम एक ऐसी प्रक्रिया को देख रहे हैं जिसमें केवल कुछ ही संस्कृतियों को भूमण्डलीय संस्कृति की श्रेणी तक ले जाया जा सकता है जबकि अधिकांश संस्कृतियाँ अपने आपको अपने आत्म-निर्णय के अधिकार के लिए एक भूमण्डलीय पहचान की दो कमजोरियाँ हैं— i) एक समय आने पर उसमें निरंतरता नहीं रह जाती, अर्थात् एकजुटता की भावना को जगाने के लिए कोई साझा अतीत नहीं है, और ii) दूसरों से कोई अंतर नहीं होता (जैसा कि राष्ट्रीय संस्कृति के मामले में है)। भूमण्डलीय संस्कृति के लिए सभी अयामों में सामुदायिकता का बोध पैदा करना आवश्यक है, और यह एक भूमण्डलीय भाषा के अभाव में संभव नहीं है। राष्ट्रवाद की अपार सफलता का स्रोत सामाजिक और राजनीतिक रूप में अलग-अलग जन-समूहों को आकर्षित और लामबंद करने की उसकी क्षमता है। भूमण्डलीय पहचान की अवधारणा इस प्रकार की क्षमता प्राप्त करने से बहुत अलग है और वह राष्ट्रीय अस्मिता की प्रबल भावना का सरल विकल्प है। दूसरी ओर, जातीयता का वर्तमान पुनरुत्थान अस्मिता की आवश्यकता के अनुरूप तो है किन्तु यह स्थानीय किस्म की अस्मिता है। आधुनिक समाजों के केन्द्र में संपर्कों की तीव्र वृद्धि और सूचना का निरंतर प्रवाह हैं, और ये दोनों ही विशिष्ट संस्कृतियों की एकरूपता को नष्ट करने वाले हैं। भूमण्डलीकरण सर्वत्र व्याप्त है और इसके परिणामों से कोई नहीं बच सकता। लेमूची के अनुसार, जटिल समाजों में जो अत्यधिक भिन्नता वाले संबंध होते हैं ये ऐसी सदस्यता और पहचान देने में असमर्थ होते हैं जिनसे व्यक्ति की आत्म-सिद्धि, परस्पर संवाद और मान्यता की जरूरत पूरी हो सके। इस संदर्भ में, राष्ट्रवाद भूमण्डलीकरण से जुड़े आधुनिकता के दो आंतरिक घटकों — आमूल संदेह और विखंडन — की प्रतिक्रिया के रूप में सामने आता है। आधुनिकता और भिन्न संस्कृतियों की विपरीत प्रवृत्तियों की स्थिति में, हम उस स्थिति पर जा पहुँचे हैं जहाँ कुछ भी मानकर नहीं चला जा सकता। इस प्रकार, संदेह और विखंडन की दुनिया में परम्परा को नया महत्व प्राप्त हो जाता है। राष्ट्रवाद परम्परा पर इस मायने में अत्यधिक निर्भर करता है कि इसकी केन्द्रीय विशेषताओं के रूप में इसकी साझा स्मृतियाँ होती हैं। राष्ट्रवाद में सांस्कृतिक प्रतिरोध निहित होता है और यह शक्ति संबंधी राजनीति अर्थात् जातीयता पर आधारित सांस्कृतिक भिन्नता के दावे को पुष्ट करने के जरिये आधुनिक समाजों को चुनौती देता है। यह बात राज्य विहीन राष्ट्रों के मामले में विशेष रूप से प्रासंगिक है। अस्मिता की राजनीति में एक प्रगतिशील तत्व भी मिलता है क्योंकि यह भिन्न और अशक्त के पक्ष में खड़ी होती है।

उपर्युक्त विवेचन को ध्यान में रखते हुए, हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि राष्ट्रवाद का भविष्य उज्ज्वल है। भूमण्डलीकरण और भूमण्डलीय संस्कृति की खोज के बावजूद विश्व के अनेक हिस्सों में आत्म-निर्णय के अधिकार के लिए इस समय जो संघर्ष का प्रसार हो रहा है उससे यह संकेत मिलता है कि राष्ट्र-राज्यों की लोकतांत्रिक प्रकृति और उनमें अल्पसंख्यकों को पर्याप्त स्वायत्तता देने से भी समस्या का समाधान नहीं हुआ है और राष्ट्रवाद की परिभाषा में बल-प्रयोग आज भी निर्णायक बना हुआ है। एक जनआन्दोलन के रूप में राष्ट्रवाद ने बड़ी-बड़ी सेनाएँ जुटाने और युद्ध छेड़ने का दिशा में एक निर्णायक भूमिका अदा की है। आज के दौर में, राष्ट्रवाद बहुत बड़े तबकों को आकर्षित कर रहा है और एक ऐसा गतिशील अभिकरण बना हुआ है जो हिंसा पर निर्भर करने के साथ-साथ जनता की शांतिपूर्ण लामबंदी को बढ़ावा भी देता है। बाल्टिक गणतंत्र में स्वाधीनता की माँग और पूर्व सोवियत संघ का टूटना राष्ट्रवाद की शक्ति के उदाहरण भूमण्डलीकरण के संदर्भ में, प्रभुसत्ता देने की अनिच्छा और घरेलू मामलों में नियंत्रण न रहने से राष्ट्र-राज्यों के राजनीतिक प्रवचन में राष्ट्रवाद की उपस्थिति बढ़ेगी। यहाँ अंतर्विरोधी शक्तियों की वृद्धि देखी जा सकती है एक ओर, अन्तर्राष्ट्रीय मंचों और संस्थाओं में भागीदारी करना और विश्व समुदाय के अन्य सदस्यों के साथ समान नीतियों की स्थापना की तलाश करना, और दूसरी ओर राष्ट्र-राज्य के हितों की रक्षा करना। उदाहरणस्वरूप, यूरोपीय संघ ने राष्ट्र-राज्य की अखंडता

और अस्मिता के संरक्षण को कम नहीं किया है। इस बात की संभावना है कि यूरोपीय संघ एक नए प्रकार के राष्ट्रवाद का विकास करेगा। यह स्थानीय पहचान को समाप्त नहीं करेगा, किन्तु जब भी संघ को एक साझा शत्रु से लड़ने अथवा अपनी संपत्ति की सुरक्षा करने के लिए आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक क्षेत्रों में साझा कार्रवाई की जरूरत होगी तब इस प्रकार के राष्ट्रवाद का प्रयोग किया जाएगा। उसे महा-राष्ट्रवाद कहा जा सकता है। किन्तु यहाँ शोचनीय मुद्दे ये होंगे कि एक विशिष्ट यूरोपीय अस्मिता का निर्माण कैसे किया जाए और किस समूह को बाहरी माना जाए।

आज का राष्ट्रवाद आधुनिकता की सेवा में परम्परा का इस्तेमाल करता है। तुरैन के अनुसार, राष्ट्र एक गैर-आधुनिक कारक है जो आधुनिकता का सृजन करता है। संदेह और विखंडन तो आधुनिकता में प्रमुख हैं क्योंकि ये अप्रत्याशित होते हैं। ज्ञान की एक आधिकारिक पद्धति के अभाव में एक विशेष प्रकार का विखंडन परिलक्षित होता है जो हमारे समय में विद्यमान विखंडन से भिन्न है। परम्परा की ओर वापसी उस संदर्भ में निरंतरता के महत्व पर जोर देती है जहाँ एक सामाजिक, राजनीतिक और प्रौद्योगिक परिवेशों के प्रति सामंजस्य और निरंतर बदलाव मिलकर व्यक्तियों के दैनिक जीवन का निर्धारण करते हैं। राष्ट्र की अवधारणा की जड़ें पूर्व-आधुनिक काल में हैं और एक अवधि में जाकर हुए समुदाय के विकास के परिणामों के रूप में यहाँ शामिल रहेगी कि यह लगातार साकार होती रहेगी। आधुनिकता के कारण आए नए तत्वों को जीवन के पारंपरिक स्वरूपों में शामिल और मिश्रित किया जाएगा।

भूमण्डलीकरण उन व्यक्तियों में पहचान की माँग को उठाता है जो यह मानते हैं कि जो विचार, विश्वास, मूल्य और ज्ञान अपनी पूर्णता में उनके जीवन का साझा आधार हैं उन्हें अधिक संसाधन सम्पन्न बाहरी संस्कृतियों के प्रसार से खतरा है। अनेक मामलों में, राष्ट्रवाद तो प्रगतिशील एकरूपीकरण की प्रतिक्रिया स्वरूप जन्म लेता है और अस्मिता की राजनीति की रक्षा के लिए होने वाले संघर्ष का प्रतिनिधित्व करता है। यद्यपि, भूमण्डलीकरण की प्रक्रिया तेज हो रही है, फिर भी ऐसी कोई भूमण्डलीय पहचान नहीं है जो एक अन्यथा विविध मानव समूह की आवश्यकताओं को पूरा करने के अनुकूल होगी। इस प्रकार, राष्ट्रवाद तो भूमण्डलीकरण की लहर के बाद भी जीवित रहेगा।

11.8 सारांश

राष्ट्रवाद पर उपर्युक्त चर्चा को हम संक्षेप में इस प्रकार प्रस्तुत कर सकते हैं—

राष्ट्रवाद एक भावना है जिसका संबंध एक मातृभूमि, एक साझा भाषा, आदर्शों, मूल्यों और परम्पराओं से है। यहाँ एक समूह ध्वज, गीत आदि जैसे प्रतीकों के साथ अपनी पहचान जोड़ता है, जो इसे दूसरों से भिन्न बनाते हैं। यह जुड़ाव एक पहचान बनाता है और इस पहचान के प्रति आकर्षण का एक अतीत और लोगों को लामबंद करने की ताकत होती है।

राष्ट्रवाद के सिद्धान्त को इस प्रकार के प्रश्नों से निपटना होता है— राष्ट्रवाद एक राज्य के निर्माण के प्रयास में हिंसा के प्रयोग को किस प्रकार जायज ठहराता है, राष्ट्रीय विचारधारा की क्या भूमिका होती है, राष्ट्रीय आन्दोलनों में नेताओं की क्या भूमिका होती है, और वे प्रतीकों तथा आदर्शों के प्रचार में कहा तक योगदान कर सकते हैं?

राष्ट्रवाद की एक अत्यधिक महत्वपूर्ण विशेषता विभिन्न सामाजिक तथा सांस्कृतिक स्तरों के लोगों को एकजुट करने की क्षमता है। यह शासक वर्ग की ईजाद है जिसके जरिये वे आम जनता की बिना शर्त निष्ठा को बनाए रखते हैं और उनमें यह विश्वास बनाए रखते हैं कि उनके बीच समानता अधिक है और विषमता कम। राष्ट्रवाद क्यों बना हुआ है यह समझने के लिए यह एक बुनियादी कारक है। राष्ट्रवाद का उदय अमेरिकी और फ्रांसीसी क्रान्तियों के बाद हुआ। प्रारंभिक उदारवादी लेखकों ने राष्ट्रवाद के मानवीय पहलू पर जोर देते हुए राष्ट्रवाद के साझा भाषा, साहित्य, धर्म, परम्परा, आदत, प्रतीक जैसे सामाजिक-सांस्कृतिक पहलुओं को भी प्रमुखता दी। औद्योगिक क्रान्ति के परिपक्व होने के साथ, मानवतावादी राष्ट्रवाद ने साम्राज्यवादी-प्रसारवादी राष्ट्रवाद का रूप ले लिया। मार्क्सवाद ने राष्ट्रवाद को ऐतिहासिक भौतिकवाद के परिप्रेक्ष्य में लिया और इसे बूर्जुआ पूँजीवाद का नाम दिया। 20वीं शताब्दी के दौरान, फासीवाद ने राष्ट्रवाद को नस्लीय सर्वोच्चता और अनार्थ प्रजातियों के संहार के साथ जोड़ दिया। एशिया और अफ्रीका के पूर्व-औपनिवेशिक देशों ने राष्ट्रवाद को अपने राष्ट्रीय मुक्ति आन्दोलनों में एक प्रभावी हथियार के रूप में इस्तेमाल किया। जहाँ राष्ट्रवाद का लाभकारी पक्ष प्रशंसनीय है, वहीं फासीवाद के रूप में इसका चरित्र घिनौना भी है।

11.8 बोध प्रश्न

1. राष्ट्रवाद की अवधारणा की व्याख्या करते हुए राष्ट्रवाद और राज्य, राष्ट्र तथा राष्ट्र-राज्य में अंतर स्पष्ट कीजिए।
2. राष्ट्रवाद के अध्ययन के विभिन्न दृष्टिकोणों की व्याख्या कीजिए।
3. वर्तमान राजनीतिक परिदृश्य में राष्ट्र और राज्य की विवेचना कीजिए।
4. भूमण्डलीकरण की वर्तमान लहर के संदर्भ में राष्ट्रीयवाद का मूल्यांकन कीजिए।

इकाई 12

राष्ट्रवाद के स्वरूप

संरचना

- 12.1 प्रस्तावना
- 12.2 राष्ट्र और राष्ट्रवाद
 - 12.2.1 राष्ट्रवाद की प्राचीन और आधुनिक अवधारणा
 - 12.2.2 राष्ट्र की विशेषताएँ
- 12.3 राष्ट्रवाद: ऐतिहासिक स्वरूप
 - 12.3.1 यूरोपीय राष्ट्रवाद
 - 12.3.2 गैर-यूरोपीय राष्ट्रवाद
 - 12.3.3 अंतर के रूप में राष्ट्रवाद
- 12.4 विभिन्न राष्ट्रवाद: नागरिक और जातीय
- 12.5 सारांश
- 12.6 बोध प्रश्न

12.1 प्रस्तावना

राष्ट्रवाद ऐसी सर्वाधिक प्रभावी ऐतिहासिक शक्ति रही है जिसने व्यक्तियों की आत्मपरिभाषा को आकार दिया है। इस जटिल परिघटना ने ऐतिहासिक अनुभवों अथवा संप्रत्ययीकरण की सार्वभौमिकता के अर्थों में एकरूपता को धता भी बताया है। किन्तु, राष्ट्रवाद के विभिन्न स्वरूप हैं और इस विभिन्नता का कारण किसी देश विशेष की विशिष्ट सामाजिक संरचना और विशिष्ट ऐतिहासिक स्थितियाँ होती हैं। इस इकाई में, हम राष्ट्रवाद के उन स्वरूपों की चर्चा करेंगे जिनका उदय विशिष्ट ऐतिहासिक संदर्भों में हुआ है। उन सामाजिक-आर्थिक और राजनीतिक शक्तियों की पहचान करेंगे जिनके भीतर विशिष्ट स्वरूपों का उदय हुआ है और उस व्यापक ढाँचे की व्याख्या करेंगे जिसके भीतर राष्ट्रवादों को समझा और समझाया जा सकता है।

12.2 राष्ट्र और राष्ट्रवाद

आप पिछली इकाई में यह पढ़ चुके हैं कि राष्ट्रवाद को सामान्यता एक एकीकृत सत्ता के रूप में एक अवाम की आत्म-परिभाषा और आत्म-चेतना के तौर पर समझा जाता है। इसका सरोकार इन बातों से है कि लोग स्वयं को किस प्रकार देखते हैं अथवा एक (उदाहरणस्वरूप, एक जातीय समुदाय) के रूप में पहचानते हैं और इस एकत्व का सटीक उद्देश्य क्या है (उदाहरणस्वरूप, आत्म-निर्णय)। लोगों के बीच अंतरसंबंधों अथवा एकजुटता की अभिव्यक्ति और इस एकजुटता की दूरारों की सृष्टि में गान्गता भी राष्ट्रवाद का अभिन्न तत्व है। इस एकजुटता की परिकल्पना करने और उसे व्यक्त करने के विभिन्न तरीके होते हैं। राष्ट्रवाद के विद्वान जहाँ इस बात पर एक राय नहीं हैं कि लोगों को सामाजिक एकजुटता के रूप में क्या चीज बाँधती है (जैसे, उनका जातीय मूल अथवा आत्म-निर्णय के प्रति उनकी इच्छा), वहीं कुल मिलाकर वे इस बात पर सहमत हैं कि राष्ट्रवाद में ये तत्व शामिल हैं (क) राष्ट्र के सदस्यों के बीच किसी स्तर का एकीकरण, (ख) पूर्ण (राष्ट्र) अथवा सामूहिक पहचान का विचार, और (ग) पूर्ण (राष्ट्र) की सदस्यता की प्रकृति की कुछ अंश तक समझ और वैसी ही अन्य पूर्ण सत्ताओं (राष्ट्रों) के साथ उसका संबंध।

दूसरे शब्दों में, राष्ट्रवाद में एक अवाम की यह आत्म-परिभाषा की जाती है कि वे एक राष्ट्र के अंग हैं और यह चेतना कि राष्ट्र के रूप में इनमें ऐसा कुछ है जो उन्हें अन्य राष्ट्रों से भिन्न बनाता है, और यह भी कि एक बड़ा अनिवार्य तत्व भी है जहाँ से राष्ट्र की आत्म-परिभाषा निकलती है। सामाजिक एकजुटता, सामूहिक पहचान और व्यक्तिगतता का बोध तथा पूर्ण (राष्ट्र) के साथ उसका संबंध ऐसे अनिवार्य तत्व हैं जिसके रहते हुए एक अवाम अपने आपको राष्ट्र कह सकता है और उस रूप में मान्यता प्राप्त कर 300 सकता है। किन्तु किस प्रकार सामाजिक एकजुटता बनता है और एक सामूहिक पहचान और राजनीतिक वैधता के सवाल आपस में जुड़े हैं, उनकी राष्ट्रवादी आत्म-समझ के बनने और दूसरों के राष्ट्रवादी दावों को मान्यता मिलने के संदर्भ में महत्वपूर्ण भूमिका है। यहीं आकर बनेडिक्ट एंडरसन की राष्ट्रों की कल्पित समुदायों के रूप में व्याख्या सहायक होती है जिसके जरिये राष्ट्रवाद और इसके स्वरूपों को समझा जा सकता है।

एंडरसन कहते हैं कि आमने-सामने के संपर्क वाले आद्य गाँवों से बड़े सभी समुदाय और शायद ये स्वयं भी कल्पित हैं (ब्रेनेडिक्ट एंडरसन इमेजिन्ड कम्युनिटीज रु रिफ्लेक्शन्स ऑन दि आरिजन एण्ड स्प्रेड ऑफ नेशनलिज्म, वेसों, लन्दन, 1983, 1991)। इस प्रकार, समुदायों, और राष्ट्रों की पहचान और तुलना का आधार यह नहीं होता है कि वे झूठे हैं या वास्तविक, अथवा प्राकृतिक है या वास्तविक या कल्पित, किन्तु इसका आधार वह शैली या ढंग होता है जिसमें उनकी कल्पना की जाती है। समुदायों की पहचान के विभिन्न तरीके हो सकते हैं, जैसे उनका स्तर, प्रशासनिक संगठन की सीमा, आंतरिक समानता की मात्रा, इत्यादि। किन्तु, राष्ट्रवाद से जुड़ी सामाजिक एकजुटता और सामूहिक पहचान की कल्पना करने के विशिष्ट स्वरूप का ही इस इकाई में हम मुख्य रूप में विवेचन करेंगे।

ऐतिहासिक स्थितियों और संदर्भों के अनुसार राष्ट्रवादों की विषयवस्तु और स्वरूप भी बदलता रहा है। एंटनी डी. स्मिथ ने राष्ट्रवाद की यह परिभाषा दी है— यह उस समूह की ओर से स्व-शासन की प्राप्ति और अनुरक्षण के लिए चलाया गया वैचारिक आन्दोलन है जिसके कुछ सदस्य दूसरों की तरफ एक वास्तविक अथवा संभावी राष्ट्र बनाने के लिए इसकी अवधारणा करते हैं (एंटनी डी. स्मिथ की परिभाषा में राष्ट्रवादी की केन्द्रीय विषयवस्तु को पकड़ने की कोशिश की गई है, जिसे वह स्वाधीनता का आदर्श कहता है। राष्ट्रीय स्वाधीनता की प्राप्ति और अनुरक्षण के ऐसे प्रयासों के तर्कसंगत सहायक तत्व ये हो सकते हैं—

1. सह-राष्ट्रवासियों अथवा नागरिकों को एक एकरूपीय इकाई में समाहित करके उनमें बंधुत्व और समानता पैदा करना।
2. अतिरिक्त देशीय सह-राष्ट्रवासियों का एक ही राष्ट्र-राज्य में एकीकरण
3. राष्ट्रीय भिन्नता पर जोर देकर सांस्कृतिक व्यक्तिगतता को जोरदार ढंग से व्यक्त करना।
4. आत्म-निर्भर विकास और आर्थिक आत्म-निर्भरता के लिए अभियान।
5. अन्तर्राष्ट्रीय शक्ति और प्रस्थिति बनाए रखने के लिए राष्ट्र राज्य का प्रसार।
6. अन्तर्राष्ट्रीय समता बनाए रखने के लिए व्यापक संस्थागत परिवर्तनों के माध्यम से राष्ट्र के सांस्कृतिक और सामाजिक ताने-बाने को नया रूप देना।

जहाँ आधुनिक राष्ट्रवादियों के लेखन में अनेक प्रकार के सरोकार व्यक्त होते हैं, वहीं राष्ट्रवादी आन्दोलन अपने लक्ष्यों का चुनाव परिस्थितियों के आधार पर इन सहायक तत्वों में से करता है। इस प्रकार, सामुदायिक बंधुत्व का आदर्श, लोक संप्रभुता की इच्छा, सामुदायिक पुनर्निर्माण और आत्म सहायता की आवश्यकता, आत्म-शुद्धि के माध्यम से अपनी अस्मिता पाने की धारणा, हजड़ों की तलाश, जुड़ाव की आवश्यकता, मानव गरिमा का एक नया बोध जिसे केवल एक राष्ट्रीय राज्य में साकार किया जा सकता है, भागीदारी और हनक मानव के निर्माण के आदर्श, प्रत्येक राष्ट्र के पास अपनी आत्म-अभिव्यक्ति के लिए एक राज्य होने की आवश्यकता का विचार प्रत्येक व्यक्ति की आत्मसिद्धि के लिए अपने आपको राष्ट्र-राज्य से जोड़ने की जरूरत, सामुदायिक स्वर्णिम युग की ओर वापसी, प्राकृतिक मनुष्य तथा प्रकृति के साथ. पहचान आदि बार-बार आने वाले विषय हैं। इन आदर्शों और आकांक्षाओं में स्मिथ तीन निर्णायक धारणाओं की पहचान करते हैं, जो आधुनिक राष्ट्रवाद की अनिवार्य शर्तें हैं। ये हैं— (सामूहिक) स्वायत्तता, व्यक्तिगतता, और बहुलता के विचार जिनसे मिलकर आधुनिक स्ववाधीनता का आदर्श बनता है। व्यक्ति की स्वायत्तता का सिद्धान्त कांट के साथ जुड़ा है। अपने सामूहिक स्वरूप में, इसका श्रेय यद्यपि रूसों और फिखने को जाता है। अपनी सामुदायिक व्यक्तिगतता के कारण, समूह को अपनी आवश्यकताओं और चरित्र के अनुसार अपने नियम बनाने और अपनी संस्थाएँ स्थापित करने के लिए बाहरी हस्तक्षेप और आंतरिक विभाजन से मुक्त होना चाहिए। समूह आत्म-निर्णायक होता है, क्योंकि इसी व्यक्तिगतता इसे विशिष्ट कानून देती है। केवल समुदाय के सभी गतिशीलता साथ-साथ काम करके समुदाय के लिए कानून बना सकते हैं। कोई भी तबका, कोई भी व्यक्ति, और कोई भी बाहरी तत्व विधान नहीं दे सकता।

12.2.1 राष्ट्रवाद की प्राचीन और आधुनिक अवधारणा

राष्ट्रवाद के विशिष्ट ऐतिहासिक स्वरूपों की विवेचना करने से पहले यह बताना महत्वपूर्ण होगा कि राष्ट्रवादों ने जिस तरह से स्वायत्तशासी सामूहिकता अथवा राष्ट्र के बारे में सोचा है उसमें भिन्नताएँ होने के बावजूद राष्ट्र की आधुनिक समझ प्रारंभिक चरणों की समझ से अत्यंत भिन्न है। प्राचीन रोम में, लैटिन शब्द 'natio' अर्थात् बाहरी लोगों का एक समूह का मतलब विदेशियों के समुदायों से होता था जो रोम में परदेसियों या अजनबियों की तरह रहते थे और उन्हें रोमन नागरिकता का अधिकार प्राप्त नहीं था।

इसके अतिरिक्त, नेशन (राष्ट्र) अपमानसूचक होता था क्योंकि नेशनल की हैसियत रोमन से नीचे ही होती थी। विदेशियों का समुदाय अर्थ में प्रयुक्त इस शब्द का इस्तेमाल मध्ययुगीन विश्वविद्यालयों के छात्रों के समुदायों के लिए होता था। ये छात्र उस स्थान से बहुत कम होते थे जहाँ विश्वविद्यालय स्थित होता था, और अपने प्राध्यापकों के साथ उन्हें कुछ बौद्धिक पदों से जोड़कर देखा जाता था। इसके परिणामस्वरूप, राष्ट्र की विदेशियों का समुदाय न समझकर एक मत (राय) का समुदाय समझा जाने लगा। राष्ट्र की अवधारणा अब अलाभकारी नहीं रही, किन्तु इसका प्रयोग अब भी बहुत सीमित था। यह अस्थायी भी थी, क्योंकि छात्र जैसे ही अपनी पढ़ाई पूरी कर लेता था और विश्वविद्यालय से उसका नाता टूट जाता था, श्नेशन अथवा राष्ट्र के रूप में उसकी पहचान समाप्त हो जाती थी।

मत का समुदाय के रूप में राष्ट्र शब्द के प्रमुख अर्थ का सदुपयोग एक और स्थिति में भी हुआ: मध्ययुगीन चर्च परिषद् में। ये परिषदें परिपक्व क्रिस्तियाना के गठन के संदर्भ में विभिन्न स्थितियों की प्रतीक थीं और इसमें धर्मनिरपेक्ष और धार्मिक ईसाई दोनों का प्रतिनिधित्व होता था। राष्ट्र कहे जाने वाले इस शब्द को एक बार और संशोधित किया गया, और अब इसका अर्थ हो गया (सांस्कृतिक तथा राजनीतिक) अधिकारण के प्रतिनिधि अर्थात् सांस्कृतिक तथा राजनीतिक कुलीन। राष्ट्रीय अस्मिता एक आदरसूचक बात हो गई, किन्तु यह फिर भी अस्थायी और अतिविशिष्ट व्यक्तियों के एक छोटे से समूह तक ही सीमित रही। किन्तु, इस नए आदरसूचक अर्थ में ही इस अवधारणा को 16वीं शताब्दी के प्रारंभ में इंग्लैण्ड की जनता के बीच प्रयुक्त किया गया, और एक बार फिर इसने अपना स्वरूप बदलते हुए संप्रभु लोक का आधुनिक राजनीति अर्थ ग्रहण कर लिया (एटिमोलॉजी, डिफिनिशंस, टाइम्स, इनसाइक्लोपीडिया ऑफ नेशनलिज्म में, लिया ग्रीनफील्ड, खंड एक, अकेडमिक प्रेस, 2001, पृ. 251-65)।

राष्ट्रवाद को एक संप्रभु लोक अथवा समानों के समुदाय का यह जो नया अर्थ मिला, इससे राष्ट्रत्व एक वांछनीय प्रस्थिति बन गई। इसके अतिरिक्त, इस अवधारणा को पूरी दुनिया में एक अभूतपूर्व स्वीकार्यता मिली। राष्ट्र की अवधारणा ने एक ऐसी व्यापक अस्मिता का रूप ले लिया जिसमें अंग्रेज जनता का प्रत्येक सदस्य आ जाता था और प्रत्येक की एक राष्ट्रीय अस्मिता थी। यहाँ यह बात ध्यान रखने योग्य है कि राष्ट्र के इस नए अर्थ और विस्तार के साथ ही लोक अथवा जनता के अर्थ में भी एक अनूठा बदलाव आ गया। राष्ट्र के साथ जुड़ने से पहले, श्लोकश शब्द का प्रयोग सामान्यतया, जन समूह, कुली-कबाड़ी अथवा निम्न वर्ग के लिए होता था, जबकि राष्ट्र का मतलब कुलीन वर्ग होता था। इन दोनों अर्थों के समीकरण में इन दोनों ही अवधारणाओं पर पुनर्विचार का संकेत था। राष्ट्र के रूप में लोक को अत्यधिक प्रतिष्ठा मिली और लोग अब राजनीति विहीन कुली-कबाड़ी न रहकर निष्ठा का विषय और राजनीतिक एकजुटता का आधार बन गए। इस नए संयोग में, जब, अंग्रेज, फ्रांसीसी, जर्मन, अथवा रूसी जनता की तो उससे अभिप्राय उन सभी सदस्यों से होता था जो एक नागरिक के रूप में स्वतंत्र तथा समान सदस्य होते थे। इसी के साथ सामाजिक व्यवस्था में एक बड़ा बदलाव आया। सभी वर्गों को समेटने वाले समुदाय के रूप में परिभाषित राष्ट्र की कल्पना अब एक संप्रभुता के रूप में और समानों के यूरोपीय के रूप में ही की जा सकती थी (वहीं)। एक नए किस्म के राजनीतिक भाईचारे के लिए आधार के तौर पर यह जो परिवर्तित सामाजिक एकजुटता के प्रति आकांक्षा थी उसने राष्ट्रवाद को और परिपक्व किया। एक संप्रभु लोक के अपने आधुनिक अर्थ में राष्ट्र शब्द का प्रयोग जब राष्ट्र के रूप में मान्यता चाहने वाले और राजनीतिक, प्रादेशिक अथवा और जातीय विशेषताओं का दावा करने वाले दूसरे जनसमूहों और देशों के संबंध में किया गया तो उसका एक और ही अर्थ निकलने लगा। इस साहचर्य के परिणामस्वरूप, राष्ट्र का अर्थ एक बार फिर बदल गया और वह एक अनूठी संप्रभु जनता हो गया। राष्ट्र का यह अर्थ क्योंकि एक संप्रभु लोक के अनूठेपन से जुड़ा था इसलिए इसकी प्रकृति भी विशिष्टतावादी हो गई। दूसरे शब्दों में, औद्योगीकरण, सामाजिक गतिशीलता, बुर्जुआ क्रान्ति, लोकतंत्र हेतु आन्दोलन जैसी जो संरचनात्मक स्थितियाँ, एक संप्रभु जनता के रूप में राष्ट्र की धारणा से जुड़ी थीं उन्हें राष्ट्र के उस विचार से पीछे धकेल दिया जिसमें लोगों की पहचान विशेष जातीय विशेषताओं से भी थी। राष्ट्रवाद के कुछ विद्वान मानते हैं कि राष्ट्र के नए अर्थ में राष्ट्रवाद की प्रकृति को बहुत बदल दिया है। यहाँ यह कहा जा सकता है कि आज राष्ट्र के दोनों ही अर्थ प्रचलन में हैं और उनमें राष्ट्रवाद के दो अत्यंत भिन्न स्वरूप परिलक्षित होते हैं जिनमें विभिन्न प्रकार की राष्ट्रीय अस्मिता और चेतना और राष्ट्रीय समूहों की दो अत्यंत भिन्न किस्मों के दर्शन होते हैं। इन दोनों स्वरूपों पर हम इसी इकाई के भाग 12.3 में चर्चा करेंगे।

12.2.2 राष्ट्र की विशेषताएँ

ऊपर बताया जा चुका है कि सामाजिक एकजुटता और संयोजन का तरीका भिन्न था और तात्कालिक सामाजिक-राजनीतिक शक्तियों पर निर्भर था, फिर भी बहुलता के आधार राष्ट्र की ये विशेषताएँ बताई जा सकती हैं—

1. सीमाएँ अथवा प्रादेशिक क्षेत्र अथवा दोनों।
2. अविभाज्यता — यह धारणा कि राष्ट्र एक अखंड इकाई है।

3. संप्रभुता अथवा कम से कम संप्रभुता की आकांक्षा, और इस प्रकार अन्य राष्ट्रों के साथ औपचारिक समानता, जो सामान्यतया एक स्वायत्त तथा मानित आत्म-निर्भर राज्य के रूप में होती हैं।
4. वैधता की एक ऊर्ध्व धारणा — अर्थात् यह विचार कि सरकार तभी न्यायसंगत होती है जब उसे जन-इच्छा का समर्थन प्राप्त हो अथवा जब वह जनता अथवा राष्ट्र के हितों का पोषण करती है।
5. सामूहिक मामलों में जनता की भागीदारी — (युद्ध अथवा नागरिक गतिविधियों के लिए) राष्ट्रीय सदस्यता के आधार पर लामबंद जनसमूह।
6. प्रत्यक्ष सदस्यता, जिसमें प्रत्येक व्यक्ति को राष्ट्र का एक अंग और अन्य सदस्यों के समान माना जाता है।
7. संस्कृति, जिसमें भाषा, साझा विश्वासों तथा मूल्यों, आदतन रीतियों का एक मिश्रण शामिल है।
8. लौकिक गहराई — अर्थात् यह धारणा कि राष्ट्र का अस्तित्व सार्वकालिक है जिसमें विगत और भावी पीढ़ियाँ भी आ जाती हैं, और उसका एक इतिहास होता है।
9. समान वंश अथवा नस्लीय विशेषताएँ।
10. विशेष ऐतिहासिक अथवा नस्लीय विशेषताएँ भी।

उपर्युक्त विशेषताएँ राष्ट्र की विशेषताएँ तो हैं ही, उन दावों का आधार भी हैं जो राष्ट्रों की व्याख्या करते समय किए जाते हैं। इसके अतिरिक्त, संप्रभुता, अखंडता तथा सामाजिक एकजुटता भी एक राष्ट्र के निर्माण की आकांक्षा और लामबंदी में सहायक होते हैं। बहुलता के प्रतिमानों के बावजूद, ऐतिहासिक राष्ट्रवादों में इस संदर्भ में भिन्नता रही है कि इस एकजुटता की अवधारणा किस प्रकार की गई और फिर उसे किस प्रकार मूर्त रूप दिया गया। आगे हम राष्ट्रवाद के कुछ स्वरूपों का विवेचन करेंगे।

12.3 राष्ट्रवाद: विभिन्न ऐतिहासिक स्वरूप

12.3.1 यूरोपीय राष्ट्रवाद

ऐतिहासिक स्तर पर राष्ट्रवाद ने विविध स्वरूप धारण किए हैं। किन्तु, सभी मामलों में जैसे एक लोक-समूह अथवा अनेक लोक-समूहों का अस्तित्व रहा है, जिनका उदय सामाजिक-आर्थिक बदलाव की प्रक्रियाओं से हुआ है। उन पर उनकी पारंपरिक अस्मिता और उसमें व्यक्त सामाजिक व्यवस्था की परिभाषा का बंधन रहा है। जैसे, इंग्लैण्ड में पूँजीवाद, औद्योगीकरण और शहरीकरण के विकास ने एक मध्यम वर्ग को जन्म दिया — जो परम्परागत कुलीन वर्ग से अलग और विषम था। साथ ही, पूँजीवाद से सम्बद्ध सामाजिक संबंध और आर्थिक लेन-देन की पारम्परिक श्रेणीबद्धता, और पारस्परिकता के विचार से भिन्न थे जिन्होंने राज्य और समाज की पारंपरिक संरचनाओं में जान फूँकी। बाद में राज्य की जिन संरचनाओं का विकास हुआ उनमें राजनीतिक क्षेत्र और सामाजिक और आर्थिक क्षेत्रों के बीच और भी अधिक दूरी देखने को मिली, और यह बाद वाली स्थिति मुक्ति तथा स्वतंत्रता की धारणाओं के कारण थी। इस प्रकार के समाज को एकजुट करने वाले सत्र व्यक्तिगत मुक्ति की पारस्परिक मान्यता और राज्य के प्रति निष्ठा की भावना थी। इस प्रकार, राष्ट्र की अंग्रेजी अवधारणा व्यक्तिवादी थी और व्यक्तिगत संप्रभुता तथा राज्य के प्रति निष्ठा पर फल-फूल रही थी। किन्तु, स्वतंत्रता और बदलाव के विचार केवल इंग्लैण्ड तक सीमित नहीं थे।

यूरोप में सामाजिक चिंतन और रीति को अनुप्राणित करने वाले प्रबोधन के विचार ने फ्रांस में राजतंत्र के खिलाफ राजनीतिक स्वतंत्रता के आन्दोलनों को हवा दी। स्वतंत्रता, समानता और बंधुत्व के लिए होने वाले क्रान्तिकारी संघर्ष ने सामाजिक-राजनीतिक ढाँचे के आधार को ही बदल दिया। सामूहिक जीवन में समानता और भागीदारी के विचार नई सामाजिक एकजुटता के प्रमुख तत्व बन गए। फ्रांसीसी राष्ट्रवाद की प्रमुखता लोगों का भाईचारा हो गया और उसकी विशेषता एक दैनिक जनमत हो गया जो उसकी सहभागी, गणतान्त्रिक प्रकृति की सूचक थी। वंशवादी शासन के विरुद्ध संघर्ष में खड़ी होने वाली प्रमुख सामाजिक ताकतें असल में छोटे जमींदार, उमरते हुए राष्ट्रीय मध्यम तथा निम्न-मध्यम वर्ग के लोग और पेशेवर बुद्धिजीवी थे। यही लोग इस संघर्ष के प्रवक्ता रहे। व्यक्तिवादी और नागरिक किस्म के अंग्रेजी राष्ट्रवाद की तुलना में फ्रांसीसी और जर्मन राष्ट्रवाद एक अलग तरह के राष्ट्रवाद का उदाहरण थे जिनका उदय पश्चिमी यूरोप में हुआ था — यह समूहवादी राष्ट्रवाद था। किन्तु, राष्ट्रवाद के फ्रांसीसी और जर्मन स्वरूप इस अर्थ में भिन्न थे कि फ्रांसीसी राष्ट्रवाद में तो नागरिक संबंधों पर जोर था जबकि जर्मन राष्ट्रवाद एकजुटता के जातीय आधार पर बल देता था। नेपोलियन के युद्धों के समय जर्मनों ने मध्ययुगीन शासन के अवशेषों पर एक, आधुनिक सरकार की नींव रखी, जिसे विगत संस्कृति में उनके अभिमान ने मजबूती प्रदान की।

स्रोत: लिया ग्रीनफील्ड, एटिमोलॉजी, डिफिनिशंस, टाइप्स, इनसाइक्लोपीडिया ऑफ नेशनलिज्म, खंड एक. अकेडमिक प्रेस, 2001, पृ. 261।

आगे हम पश्चिमी यूरोप में राष्ट्रवाद के तीन आदर्श नमूनों के अर्थात् इंग्लैण्ड, फ्रांस और जर्मनी का अध्ययन करेंगे।

इंग्लैण्ड

राष्ट्रवाद ने इंग्लैण्ड में 16वीं शताब्दी के प्रारंभ में आकार लेना शुरू कर दिया था। यह 15वीं शताब्दी में सामंती व्यवस्था के विनाश के साथ हुआ। 15वीं शताब्दी में इंग्लैण्ड में सामंती व्यवस्था थी जो इस विचार से प्रेरित थी कि असमानता तो प्राकृतिक और दैवीय, स्थायी और अपरिवर्तनीय थी। असमानता और ऊँच-नीच (श्रेणीबद्धता) को दैवीय योजना अथवा इश्वरीय व्यवस्था बताया जाता था। सामाजिक व्यवस्था में व्यक्ति के दर्जे को ईश्वर की ओर से प्रदत्त बताया जाता था जो उसकी योजना का अंग था। उस समय तीन प्रमुख सामंती व्यवस्थाएँ अथवा वर्ग थे: सामंत, पुरोहित और श्रमिक। इनकी अपनी-अपनी निश्चित और अलग भूमिका थी, और एक से दूसरे वर्ग में जाने पर प्रतिबंध था। 1485 में समाप्त होने वाले श्वार ऑफ द रोजेजश ने इस व्यवस्था में भारी फेरबदल कर दिया, और अंग्रेजी राजगद्दी पर टुडोर वंश का अधिकार हो गया। इस युद्ध ने पारंपरिक, सामंती अभिजात वर्ग का सफाया कर दिया और इससे सामाजिक व्यवस्था के ऊपरी स्तर पर जगह खाली हो गई। इस तरह, निचले वर्ग का स्थान लेने वाले नए अभिजातवर्ग में अधिकारी और विशेषकर विश्वविद्यालय शिक्षित अल्पसंख्यक भद्रजन और निम्न वर्ग से आए लोग थे। नए अभिजात वर्ग के उदय से अंग्रेजी समाज का आधार ही बदल गया। अब समाज में व्यक्ति की हैसियत उसके जन्म पर निर्भर नहीं रह गई थी। इसके अतिरिक्त, पूँजीवाद के विकास से आर्थिक गतिविधि को भी लाभकारी होने के कारण सम्मान मिला और वह मात्र भरण-पोषण का साधन नहीं रह गई। व्यापारियों के एक नए वर्ग का उदय हुआ जिसने सामाजिक स्तरीकरण को पुनर्परिभाषित करने और व्यावसायिक गतिशीलता का उचित ठहराने में अपना योगदान किया। नए अभिजात वर्ग ने उच्च वर्ग की ओर गतिशीलता के इस नए ढाँचे को औचित्य प्रदान किया। इस काम में उनका साथ उस नई सामाजिक चेतना ने दिया जो दैवीय योजना और नियतिवादी व्यवस्था जैसी सामंती कल्पनाओं से दूर थी। यह नई चेतना राष्ट्रवाद था, जो समाज की बदती व्यवस्था को प्रस्तुत करता था जिसमें राष्ट्र अथवा जनता के प्रत्येक सदस्य को कुलीनों की गरिमा प्राप्त थी और वह समान भी था और स्वतंत्र भी, उसे स्व-शासन अथवा संप्रभुता का अधिकार प्राप्त था। सामूहिक रूप में जनता अथवा राष्ट्र भी संप्रभु हो गया। यहाँ यह समझना महत्वपूर्ण है कि इंग्लैण्ड में राष्ट्र की संप्रभुता तो कल्पित राष्ट्रीय सामूहिकता के प्रत्येक सदस्य की अनुमानित संप्रभुताओं से निकली थी और राष्ट्र एक ऐसी मिश्रित सत्ता के रूप में परिभाषित था जिसका अस्तित्व तभी तक था जब तक इसके सदस्य सामाजिक मेल-जोल रखते हैं और इन सदस्यों की इच्छाओं और हितों से अलग उनकी अपनी कोई इच्छा और हित नहीं होता। इस प्रकार, अंग्रेजी राष्ट्रवाद मूलतः व्यक्तिवादी था, और इस अर्थ में नागरिक भी था कि राष्ट्रीय अस्मिता जो समुदाय में ऐच्छिक सदस्यता अथवा नागरिकता के बराबर थी।

फ्रांस

फ्रांस में राष्ट्रवाद के उभार से बहुत पहले वहाँ फ्रांसीसी अस्मिता विद्यमान थी, जिसमें फ्रांसीसी ईसाइयत को फ्रांसीसी राजाओं की रोमनी ईसाइयत से श्रेष्ठ समझा जाता था। 12वीं शताब्दी के बाद से राजा को पृथ्वी पर ईश्वर का असली पुरोहित समझा जाता था और धार्मिक तथा राजनीतिक गतिविधि के क्षेत्रों में तब कोई अंतर नहीं था। किन्तु प्रारंभिक आधुनिक काल में फ्रांसीसी अस्मिता का धर्म निरपेक्षीकरण हुआ जिसका प्रमुख कारण 16वीं शताब्दी में होने वाले धार्मिक युद्ध थे। इस स्थिति ने फ्रांसीसी अस्मिता को एक राजनीतिक स्वरूप देने में मदद की। राज्य एक क्षेत्र है जिस पर राजा का अधिकार है, इस विचार ने फ्रांसीसी अस्मिता को एक अच्छा ईसाई होने की जगह राजा की प्रजा के समुदाय का सदस्य होने में बदल दिया। प्रजा के समुदाय का निर्माण संबंधों की एक श्रृंखला से हुआ था जिसमें विभिन्न श्रेणियों वाले वे अधिकारी आते थे जो राजा के अधिकार क्षेत्र को बांधते थे। कालांतर में इन अधिकारियों के पास अधिकार आ गए और वे अपने-अपने अधिकार क्षेत्र में निष्ठा का प्रदर्शन करने लगे। निष्ठा की इस समांतर व्यवस्था के उभार ने राज्य को ऐसी संरचनाओं के जाल के रूप में पहचान दे दी जो राजा से भिन्न थी। इस स्थिति ने प्रजा के मन में राजा के प्रति निष्ठा को हटा दिया। यहाँ यह भी कहना होगा कि राजा और राज्य के बीच इस दूरी और इसके परिणामस्वरूप प्रजा की निष्ठा का केन्द्र बदलने के प्रमुख कर्ता और लाभ प्राप्त करने वाले फ्रांसीसी कुलीनजन थे। जहाँ इंग्लैण्ड में अभिजात वर्ग को सामंती व्यवस्था के भीतर राजा की ओर से कुछ स्वायत्तता मिली हुई थी, वहीं फ्रांस के निरंकुश राजतंत्र का अर्थ यह था कि अभिजात वर्ग को अपनी हैसियत और पैसे के लिए राजा की सत्ता पर निर्भर रहना होता था। अभिजात तंत्र हमेशा ही राजा की निरंकुशता का विरोधी रहा और उसके खिलाफ संघर्ष करता रहा। अभिजात वर्ग अब राजा और राज्य को एक नहीं देखना चाहता था, इसलिए उसने इस बात पर जोर दिया कि राज्य को फ्रांस – फ्रांसीसी जनता और राज्य-क्षेत्र का समुदाय, राष्ट्र माना जाए। उनकी यह धारणा राष्ट्र की अंग्रेजी धारणा से प्रभावित थी। और, फ्रांस में इसका आयात उन

फ्रांसीसी बुद्धिजीवियों ने किया था जिनकी कुलीन वर्ग से संगति ने फ्रांस में अभिजात वर्ग की पहचान को पुनर्परिभाषित करने में योगदान किया।

जब फ्रांस में पहली बार राष्ट्र की अवधारणा आई तो इसे अभिजात तंत्र का पर्याय माना गया और 1789 की फ्रांसीसी क्रान्ति तक इसे यही माना जाता रहा। 1789 के बाद भी राष्ट्र का प्रयोग उन कुलीनों के प्रतिनिधित्व वाली जनता के लिए होता था जो अपनी प्रतिनिधित्व की भूमिका में अपनी राजनीतिक शक्ति को मजबूत कर रहे थे। इंग्लैण्ड के विपरीत, फ्रांसीसी राष्ट्रवाद समूहवादी, अधिनायकवादी और जन-साधारण तथा उनके प्रतिनिधियों के बीच असमानता पर आधारित था। साथ ही, अंग्रेजी राष्ट्रवाद के विपरीत फ्रांसीसी राष्ट्रवाद नागरिक था, अर्थात् फ्रांसीसी राष्ट्र में सदस्यता नस्ल अथवा जाति आदि के बंधनों पर निर्भर नहीं थी। यहाँ राष्ट्र का मतलब नागरिकों के रूप में भागीदारी पर आधारित सदस्यता का खुलापन होता था। यहाँ राष्ट्रवाद के कुछ विद्वान नागरिक सदस्यता में मिलने वाली व्यक्तिगत स्वतंत्रता और उसकी समूहवादी प्रकृति से बनने वाले अधिनायकवाद के बीच एक विरोधाभास देखते हैं।

जर्मनी

अंग्रेजी अथवा फ्रांसीसी राष्ट्रवाद के विपरीत, जर्मन राष्ट्रवाद अभिजात वर्ग के कारण नहीं बल्कि मध्यम वर्गीय बुद्धिजीवियों के असंतोष के कारण उपजा था। यहाँ यह कहना होगा कि वहाँ मध्यमवर्गीय बुद्धिजीवियों अथवा शिक्षित बूर्जुआश को ऊँचा दर्जा मिला हुआ था जबकि उनमें से अधिकांश विश्वविद्यालय की शिक्षा प्राप्त करने से पहले निचले तबकों से थे। अपनी सामाजिक हैसियत बढ़ाने की दिशा में शिक्षा का महत्व 18वीं शताब्दी में घटने लगा। इसके अनेक कारण थे। इनमें से प्रमुख कारण शायद वे आकांक्षाएँ और अपेक्षाएँ थीं जो प्रबोधन आन्दोलन ने बुद्धिजीवियों में जगाई थीं। इसके परिणामस्वरूप मोहभंग और असंतोष की स्थिति बनी क्योंकि बुद्धिजीवियों की संख्या बढ़ने के साथ उनमें बेरोजगारी और गरीबी भी बढ़ी। जब हैसियत घटी तो प्रबोधन के विरुद्ध शिक्षित बूर्जुआ की प्रतिक्रिया भी हुई। बुद्धिजीवियों की इस प्रतिक्रिया को रोमैंटिसिज्म का नाम मिला। इसमें अलग-अलग दृष्टिकोणों का समावेश था। इसमें फ्रांसीसी और औद्योगिक क्रान्तियों के बाद आने वाले बदलावों के प्रति असंतोष की अभिव्यक्ति थी, जो बौद्धिकता अथवा तर्कसंगतता की जगह सृजनात्मकता को रखने का प्रयास भी था। रोमैंटिक्स (रुमानियों) ने एक प्रगतिशील सुव्यवस्थित तर्कसंगत समाज की धारणा को अस्वीकारते हुए प्रकृति के साथ स्वयं के संबंध की अभिव्यक्ति और विविध समझ की संभावनाओं के द्वार खोले। रुमानियों ने एक लम्बे समय तक एक जर्मन राजनीतिक व्यवस्था के लिए कोई दर्शन नहीं बनाया। यह काम तब हुआ जब नेपोलियन के आक्रमण ने जर्मन भाईचारे को स्वर दिया। इस प्रकार, जहाँ फ्रांस में शासकों को निशाना बनाया गया था, वहीं रुमानी अथवा स्वच्छतावादियों ने शासकों के मामले को जर्मनों का मामला बताकर प्रस्तुत किया। जर्मन प्रबोधन के प्रतिनिधि क्योंकि फ्रांसीसियों के विरुद्ध अपने वैरभाव के कारण अपनी साख खो चुके थे, इसलिए जर्मन राष्ट्रीय चेतना का निर्धारण रुमानी दर्शन से हुआ। रुमानी दर्शन स्व पर विजय पाने की हिमायत करता था और समुदायों को असली स्व अथवा व्यक्ति मानता था। असली समुदाय बस वे थे जो भाषाओं के बंधन से बंधे थे, जिनका निर्धारण रक्त अथवा नस्ल के बंधनों से होता था। इन सिद्धान्तों के आधार पर राष्ट्र के विचार की अवधारणा नस्ल और भाषा से निर्मित एक प्राकृतिक समुदाय के रूप में हुई। इस प्रकार, जर्मन राष्ट्र की परिकल्पना भी फ्रांसीसी राष्ट्र की तरह ही एक सामूहिक सत्ता के रूप में हुई। किन्तु, फ्रांसीसी उदाहरण के विपरीत, यह मुख्यतया एक जातीय समुदाय था जिसकी सदस्यता का निर्धारण उन प्राकृतिक बंधनों से होता था जो जन्मजात थे और उन्हें अर्जित नहीं किया जा सकता था। (अंग्रेजी, फ्रांसीसी और जर्मन राष्ट्रवादों के लिए देखिए – लिया ग्रीनफील्ड, श्वेस्टर्न यूरोप, इनसाइक्लोपीडिया ऑफ नेशनलिज्म, खंड एक, अकेडमिक प्रेस, लंदन, 2001, पृ. 883-98)।

12.3.2 गैर-यूरोपीय राष्ट्रवाद

अभी तक हमने देखा कि राष्ट्रवाद के लिए सामाजिक एकजुटता, सामूहिक अस्मिता, स्वायत्त स्वयं का बोध और संप्रभु सामूहिकता के साथ उसके संबंध की आवश्यकता होती है। ऊपर हमने राष्ट्रवाद के जिन तीन यूरोपीय अनुभवों की चर्चा की है उनमें ये सभी पक्ष स्पष्ट थे। किन्तु बेनेडिक्ट एंडरसन जैसे राष्ट्रवाद के विद्वानों ने राष्ट्र की धारणा को एक प्रवचनगत निर्माण बताया है और सामाजिक एकजुटता और सामूहिक पहचान के बारे में सोचने का एक तरीका की बात की है।

अब जिसे पिछले वर्षों में उभरने वाली राष्ट्र की सर्वाधिक लोकप्रिय अवधारणा कहा जा रहा है, उसमें बेनेडिक्ट एंडरसन ने राष्ट्र को एक कल्पित राजनीतिक समुदाय बताया है जिसकी कल्पना सीमित और संप्रभु दोनों ही रूपों में की गई है। शक्यतः से एंडरसन का आशय इस तथ्य से है कि छोटे से छोटे राष्ट्र के सदस्य भी साथी सदस्यों अधिकांश अपने की जानकारी नहीं रखा पाएँगे, न उनमें मिल पाएँगे और न ही उनके बारे में कभी सुन पाएँगे, फिर भी प्रत्येक के मन में उनके संसर्ग की छवि रहती है। कल्पना की यह प्रक्रिया इसलिए सीमित होती है क्योंकि यह राष्ट्र की सीमाओं के भीतर ही होती

है और मानव जाति से इसका यह विस्तार नहीं होता। अंत में, ऐंडरसन का कहना है, इसकी कल्पना एक समुदाय के रूप में की जाती है क्योंकि वास्तविक असमानता और शोषण के बावजूद राष्ट्र की अवधारणा हमेशा ही एक गहन क्षतिज संबंध के रूप में की जाती है।

ऐंडरसन का एक और प्रमुख प्रासंगिक तर्क यह है कि कभी उभार पर रहे राष्ट्रवाद ने एक निर्णायक (अथवा आदर्शवादी) स्वरूप ग्रहण कर लिया, जहाँ से यह भावी लामबंदियों के लिए उपलब्ध था। ऐंडरसन ने ऐसे तीन आदर्शों की पहचान की है जो अनुकरण के लिए उपलब्ध थे: (i) अमेरिकी देशों का क्रियोल राष्ट्रवाद, जिसमें कल्पित समुदायों का निर्माण तीर्थयात्री क्रियोल कार्यकर्ताओं और प्रान्तीय क्रियोल मुद्रकों ने किया था, जिनके हितों की टकराहट मेटोपोल से थीय (ii) यूरोप का भाषायी राष्ट्रवाद, जिसका झुकाव जनता के कल्याण की ओर और आधार एक राष्ट्रीय राज्य थाय (iii) रूसीकरण वाला राष्ट्रवाद, अथवा ऊपर से सांस्कृतिक एकरूपता को थोपना। ऐंडरसन की योजना में व्यापक तत्व यह है कि ये तीन आदर्शवादी स्वरूप औपनिवेशिक बुद्धिजीवियों को अनुकरण के लिए उपलब्ध थे। जहाँ इन पूर्व-विद्यमान स्वरूपों (मुद्रण-भाषाएँ, राष्ट्र का विचार) ने उपनिवेश-विरोधी भावना को आकार और परिभाषा देने में मदद की, वहीं जनसाधारण के लिए इन आदर्शकारी अनुभवों की व्याख्या का काम औपनिवेशिक शिक्षा से निकले द्विभाषी बुद्धिजीवियों ने किया, और यह औपनिवेशिक शासन के खात्मे में भी सहायक होगा। यहाँ यह बात ध्यान देने योग्य है कि औपनिवेशिक शासन 18वीं, 19वीं और 20वीं शताब्दी में अधिकांश अमेरिका (17वीं और 18वीं शताब्दियों में), एशिया और अफ्रीका के लिए एक महत्वपूर्ण ऐतिहासिक अनुभव था। औपनिवेशिक समाजों में राष्ट्रवाद की प्रवृत्ति उपनिवेश-विरोधी थी और उसका उदय, ऐंडरसन के अनुसार, औपनिवेशिक कुलीनों के एक प्रारंभिक समूह की कुंठाओं और एकजुटताओं से हुआ था। जैसा कि हम यूरोपीय अनुभव के बारे में ऊपर बता चुके हैं, उपनिवेश-विरोधी राष्ट्रवादों का उदय भी राजनीतिक शासन के ढाँचों और सामाजिक शक्तियों के संतुलन के विशिष्ट संदर्भ के अंदर ही हुआ। लैटिन अमेरिका में राष्ट्रवाद के उदय की विवेचना करते हुए ऐंडरसन कहता है कि लैटिन अमेरिका में स्पानी (औपनिवेशिक) शासन का संचालन एक प्रशासनिक ढाँचे ने किया जिससे पेशे के एक विचित्र नमूने का जन्म हुआ। स्पानी अमेरिका अनेक प्रशासनिक इकाइयों में बँटा हुआ था। उस प्रशासनिक ढाँचे के शीर्षस्थ अधिकारी स्पेन से आते थे और उपनिवेश में सेवा करने के बाद ऊँचे पदों पर वापस नहीं पहुँच जाते थे। औपनिवेशिक नौकरतंत्र के शीर्षस्थ पदों पर आधीन ये अधिकारी शबाहरीर थे और उन्हें अपने पेशे में ऊपर की ओर जाने के अवसर प्राप्त थे, वहीं उनके नीचे भारी संख्या में काम करने वाले अधिकारियों को नौकरी में अलग ही स्थितियों से गुजरना पड़ता था। ये क्रियोल अधिकारी वंश, भाषा और एक हद तक संस्कृति से भी स्पेनवंशी थे। किन्तु, उनका जन्म अमेरिका में ही होने के कारण उन्हें नौकरी में इतने अवसर नहीं दिए जाते थे। उनकी तरक्की इस अर्थ में प्रतिबंधित थी कि वे उस उपनिवेश में तो कहीं भी आ-जा सकते थे जहाँ उनका जन्म हुआ था, किन्तु असली स्पेनवंशी की तरह वे एक स्पेनिश उपनिवेश से दूसरे उपनिवेश (मेक्सिको, चिली आदि) में नहीं आ-जा सकते थे, और न ही स्पेन लौट सकते थे। स्पेनिश और क्रियोल अधिकारियों में नौकरी के संदर्भ में इस अंतर ने क्रियोल कुलीनों में कुंठा पैदा कर दी। साथ ही, इस स्थिति ने उनमें एकजुटता की भावना को और मातृभूमि अर्थात् उनके औपनिवेशिक जन्म-स्थान के साथ उनकी पहचान को भी प्रोत्साहित किया। क्रियोल अधिकारी जो उपनिवेश में एक स्थान से दूसरे स्थान तक आ-जा सकते थे, इस कारण उन्हें देश के बारे में जानकारी हो जाती थी। वे शिक्षित कुलीन तो थे ही, इसलिए वे अपनी अस्मिता और एकजुटता की भावना को मुद्रण मीडिया के माध्यम से व्यक्त करने में सक्षम थे जिससे राष्ट्रीय अस्मिता और एकीकरण के लिए एक सांस्कृतिक आधार उपलब्ध हुआ। ऐंडरसन का मानना है कि उपनिवेशों में कुछ प्रारंभिक राष्ट्रवादी आन्दोलनों के पीछे यही सभी कारक काम कर रहे थे। राष्ट्रीय मुक्ति संघर्षों का नेतृत्व अधिकतर विशेषाधिकार संपन्न कुलीनों ने ही किया, जो उन्हीं लोगों की भाषा बोलते, और उन्हीं के धर्म को मानते थे जिनके शासन को वे चुनौती दे रहे थे। ऐंडरसन का विचार है कि ऐसा सबसे पहले शाही शहरों में नहीं बल्कि उपनिवेशों में हुआ कि लोग अपने आपको भिन्न राष्ट्रीयताओं के वाहक के रूप में देखने लगे। किन्तु इसका विकास शुरू होते ही राष्ट्र की धारणा एक विश्ववादी प्रवचन में प्रवेश कर गई। अंततः इसने 18वीं और 19वीं शताब्दी की क्रान्तिकारी राजनीति और यूरोपीय चिंतन में और पूरी दुनिया के उपनिवेश-विरोधी आन्दोलनों को अनुप्राणित किया। (अधिक जानकारी के लिए देखें बनेडिक्ट ऐंडरसन, इमेजिन्ड कम्युनिटीज, 1983, 1991 और क्रेम कैलूहम, नेशनलिज्म, ओपन यूनिवर्सिटी प्रेस, बकिंगहम, 1997, अध्याय 6, इम्पीरियलिज्म कॉलोनियलिज्म एण्ड द वर्ल्ड सिस्टम ऑफ नेशन स्टेट्स)।

12.3.3 अंतर के रूप में राष्ट्रवाद

राष्ट्रवाद की उत्पत्ति और प्रसार के बारे में ऐंडरसन के विचार इस अर्थ में प्रवर्तनकारी थे कि राष्ट्र पूरी तरह से नस्ल, धर्म अथवा भाषा जैसे सामाजिक कारकों अथवा ढाँचागत स्थितियों से निर्धारित नहीं होते। वे, जैसा कि गेलनर का मानना है, मात्र बुनावट ही नहीं थे। राष्ट्रों का अस्तित्व कल्पित था, और इस कल्पना की सहायता के लिए अनेक कारक विद्यमान। इनमें प्रमुख था मुद्रण-पूँजीवाद का कारक। वैसे, कई विद्वान ऐंडरसन के राष्ट्रवाद संबंधी निश्चायकता अथवा शिश्चायक

स्वरूप के रूपक को भ्रामक और समस्याजनक मानते हैं। उदाहरण के लिए, क्रेग कैलूहन ने ऐंडरसन के इस तर्क को सही नहीं माना है कि ऐसे निश्चायक स्वरूप होते हैं जिन्हें बुनियादी अथवा मूलभूत परिवर्तनों के बिना नई सांस्कृतिक स्थितियों में आरोपित किया जा सकता है। इसी प्रकार, पार्था चटर्जी ने इस तर्क को खारिज कर दिया है कि पश्चिमी यूरोप, अमेरिकी देशों और रूस के राष्ट्रवाद संबंधी ऐतिहासिक अनुभव ने बाद के सभी राष्ट्रवादों को निश्चायक स्वरूप दिए जिनमें से एशिया और अफ्रीका के राष्ट्रवादी कुलीनों ने अपनी पसन्द के स्वरूपों को चुन लिया था। वस्तुतः चटर्जी ने ऐंडरसन की कल्पित समुदाय वाली राष्ट्र की अवधारणा का इस्तेमाल राष्ट्रवादों के निश्चायक स्वरूपों के तर्क के खंडन के लिए किया है। यदि शेष विश्व के राष्ट्रवादों को अपने कल्पित समुदायों का चुनाव उन्हें पहले से उपलब्ध कुछ निश्चायक स्वरूपों से ही करना है, तो चटर्जी का सवाल है — उन्हें कल्पना किसकी करनी है? चटर्जी का दावा है कि ऐंडरसन के विचार में राष्ट्रवाद की कल्पनाओं और उपनिवेश-विरोधी प्रतिरोध के उपनिवेशीकरण का प्रस्ताव है। चटर्जी का यह भी कहना है कि उपनिवेश-विरोधी राष्ट्रवाद आधुनिक पश्चिमी देशों के प्रचारित राष्ट्रीय समाज के निश्चायक स्वरूपों के साथ पहचान पर आधारित नहीं थे। एशिया और अफ्रीका में राष्ट्रवादी कल्पना के सर्वाधिक प्रभावी और रचनात्मक स्वरूप वास्तव में निश्चायक स्वरूपों से उनकी भिन्नता पर आधारित थे। चटर्जी ने अपनी पूर्व पुस्तक (नेशनलिस्ट थॉट एण्ड द कॉलोनियल वर्ल्ड: ए. डेरिवेटिव डिस्कोर्स?) में कहा है कि बाद के औपनिवेशिक विश्व में राष्ट्रवादों का प्रकट होना शाही प्रभुत्व और औपनिवेशिक उत्पीड़न का अनिवार्य अंग था, और इसलिए व्युत्पन्न प्रवचन भी। इसके कारण समुदायों के बीच प्रामाणिक, स्वतः निर्मित, स्वायत्त विकास का मार्ग अवरुद्ध हो गया और उन पर स्वार्थी, राष्ट्रवादी राजनेताओं, बुद्धिजीवियों, नौकरशाहों और पूँजीवादियों का वर्चस्व बना रहा।

12.4 विभिन्न राष्ट्रवाद: नागरिक और जातीय

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि कुछ मूलभूत विशेषताएँ होने के बावजूद वास्तव में कोई एकरूप राष्ट्रवाद नहीं है, और न ही ऐसी कोई निर्धारक दशाएँ अथवा संरचनाएँ हैं जिनसे ऐसे किसी स्पष्ट राष्ट्रवाद का जन्म हो जो औरों से अलग हो। ऐतिहासिक स्तर पर, हमने देखा है कि राष्ट्रवादों का उदय अलग-अलग स्वरूपों में हुआ है और अलग-अलग तरीकों से ही उनका विकास भी। फिर भी, समाज विज्ञानियों में यह प्रवृत्ति रही कि उन्होंने राष्ट्रवाद को दो व्यापक और द्विभाजी श्रेणियों में विभाजित करते हैं। इन दो श्रेणियों को विभिन्न स्रोतों में विरोधी शब्दों में व्यक्त किया गया है। जैसे राजनीतिक बनाम सांस्कृतिक, पाश्चात्य बनाम पूर्वी और अभी हाल में नागरिक बनाम जातीय राष्ट्रवाद। इससे यह पता चलता है कि विद्वानों में राष्ट्रवाद के उदगम और प्रकृति को लेकर एक राय नहीं है। इस वर्गीकरण के साथ प्रायः अच्छे राष्ट्रवाद (राष्ट्रभक्ति) और खराब राष्ट्रवाद (अंधराष्ट्रभक्ति) की बात होती है जिन्हें क्रमशः नागरिक और जातीय राष्ट्रवादों के लिए प्रयोग किया जाता है। इस प्रकार के वर्गीकरण में यह मानकर चला जाता है कि ये दो प्रकार के राष्ट्रवाद अपने में स्पष्ट और अलग होते हैं और वे उस जन-साधारण की उपेक्षा कर देते हैं जो वहाँ मौजूद हो सकते हैं, और सामाजिक-आर्थिक ढाँचों के उस व्यापक ढाँचे की भी जिसके वे दोनों हिस्से होते हैं।

द्विभाजी श्रेणियों के तीनों जोड़ों अर्थात् राजनीतिक बनाम सांस्कृतिक, पाश्चात्य बनाम प्राच्य, और श्नागरिक बनाम जातीय। एक ही विभाजन रेखा पर ध्यान केन्द्रित करते हैं, किन्तु उनमें आग्रह का थोड़ा-सा अंतर होता है। राजनीतिक बनाम सांस्कृतिक श्रेणी जहाँ इस बात पर सहमत हैं कि सभी राष्ट्रवाद सांस्कृतिक और राजनीतिक होते हैं, वहीं वह विभिन्न राष्ट्रवादों में भाषा, साहित्य, इतिहास तथा लोकवार्ता के प्रति पूर्वग्रह बनाम राजनीतिक संगठन के सिद्धान्तों की ऐतिहासिक प्राथमिकता और प्रमुखता पर जोर भी देती है। पाश्चात्य-प्राच्य श्रेणी में प्राच्य और पाश्चात्य की श्रेणियाँ भौगोलिक विभाजक न होकर सामान्यतया सांस्कृतिक होती हैं। एक पश्चिमी राष्ट्र की परिभाषा नागरिक के रूप में और प्राच्य राष्ट्र की जातीय के रूप में की जाती है। नागरिक और जातीय श्रेणियाँ राजनीतिक और सांस्कृतिक स्वरूपों में काफी योगदान करती हैं। इनमें नागरिक श्रेणी में अधिक जोर नागरिकता की अवधारणा और संस्कृति पर होता है, और जातीय में यह समझ रहती है, जिससे शायद अधिक जोर प्राकृतिक अथवा शारीरिक अर्थात् नस्ल, रक्त और माटी जैसी शक्तियों पर होता है जिनसे राष्ट्रत्व और राष्ट्रीय पहचान के नीचे अंतिम वास्तविकता रूप लेती है।

इस विभाजन रेखा में वह आम दृष्टिकोण व्यक्त होता है जो हैस कोहन जैसे कुछ समाज विज्ञानियों का भी दृष्टिकोण है। इस दृष्टिकोण के अनुसार, राष्ट्र मानव जाति की सबसे पुरानी पहचान का सर्वाधिक पूर्ण प्रकटकीकरण है। इसके अनुसार, राष्ट्रों का एक लंबा और आविकल इतिहास है जिसकी जड़ें पूर्व आधुनिक काल में हैं। लगभग सभी राष्ट्रवाद अपनी राष्ट्रीय अस्मिता के उदगम को पूर्व-आधुनिक काल में देखते हैं। अर्नेस्ट गेलनर और एंटनी स्मिथ जैसे राष्ट्रवाद के अन्य विद्वान इस बात से तो असहमत हैं कि राष्ट्र प्राकृतिक संबंधों की अभिव्यक्ति हैं, किन्तु वह इससे भी इंकार नहीं करते कि पूर्व-आधुनिक जातीय अस्मिताओं और समुदायों की स्मृतियों और प्रारंभिक जातीय संबंध अवश्य ही राष्ट्रवादों को प्रभावित करते हैं। एकीकृत जर्मनी, यूरोपीय संघ, भूमंडलीय अर्थव्यवस्था, पूर्वी यूरोप के राष्ट्रीयता संघर्ष आदि की ओर ले जाने वाली प्रक्रियाओं के सदर्भ में, राष्ट्र-राज्य के भविष्य के विषय में जर्गन हेबरमास ने लिखा है कि राष्ट्र का अर्थ अब एक

साझा ऐतिहासिक नियति वाले समुदाय की पूर्व-राजनीतिक एकता न रहकर यह हो गया है कि यह एक ऐसी सत्ता है जिसे एक लोकतांत्रिक राज्यतंत्र के भीतर नागरिक की राजनीतिक पहचान की व्याख्या में एक रचनात्मक भूमिका अदा करनी थी। इस प्रकार, राष्ट्रीय अस्मिता जिस ढंग से नागरिकता को तय करती थी, अब वह ढंग उलट गया है। इन घटनाक्रमों के संदर्भ में, राष्ट्र की अवधारणा अब नागरिकों के ऐसे राष्ट्र के रूप में की जाएगी जो अपनी अस्मिता को कुछ साझा जातीय और सांस्कृतिक गुणों से नहीं बल्कि उन नागरिकों की रीतियों से ग्रहण करता है जो अपने अधिकारों का प्रयोग सभी के समान हित में सक्रियता से करते हैं। इससे अर्नेस्ट रेनां का यह सूत्र याद हो आता है, एक राष्ट्र का अस्तित्व दैनिक जनमत होता है। इसी का प्रयोग करके रेनां 1871 के बाद निवासियों को फ्रांसीसी राष्ट्रीयता का हवाला देकर एलसेस पर जर्मनी के दावे का विरोध कर सका था। रेनां ने फ्राष्ट्र की राष्ट्र नागरिकों के ऐसे राष्ट्र के रूप में की थी जो अपनी पहचान को कुछ साझा जातीय और सांस्कृतिक गुणों से नहीं बल्कि उन नागरिकों की रीतियों से ग्रहण करते हैं जो अपने अधिकारों का प्रयोग सभी के समान हित में सक्रियता से करते हैं।

12.5 सारांश

उपर्युक्त विवेचन से यह बात सामने आती है कि राष्ट्रवाद का ऐसा कोई सामान्य एकरूपीय अथवा निश्चायक स्वरूप नहीं है जो संसार में हर कहीं मान्य हो। ऐतिहासिक दृष्टि से, विभिन्न राष्ट्रत्व की संरचनाओं और राष्ट्रीय सामूहिककर्ताओं की अवधारणाओं में विभिन्न प्रकार के राष्ट्रवादों का जन्म हुआ है। इन सभी विभिन्न आन्दोलनों, विचारों, नीतियों और परियोजनाओं का एक साझा गुणक राष्ट्रवादी प्रवचन है। दूसरे शब्दों में, राष्ट्रवाद को एकता के सूत्र में बांधने वाली शक्ति राष्ट्रवाद का प्रवचन और उपदेश हैं, जिसके केन्द्र में आत्म-चेतना और आत्म-निर्णय के विचार हैं। ये दोनों विचार एक एकीकृत सत्ता के रूप में श्लोकश अथवा जनता की अवधारणा पर आश्रित हैं। ऐतिहासिक स्तर पर, राष्ट्र के विचार का उदय एक ऐसी श्रेणी के रूप में हुआ है जो एक अस्मिता अथवा एकत्व का परिचायक है। एकत्व, अस्मिता और एकता का यह अर्थ काफी हद तक समानता की उन धारणाओं पर आधारित था जिन्होंने राष्ट्र के आधुनिक अर्थ को पुष्टि दी। प्रभुसत्ता और समानता पर जोर देने वाले राष्ट्रवाद की आकांक्षा तो सभी राष्ट्रवादों का आधार रहा है। सामाजिक एकजुटता अथवा समाजों के समुदाय के विषय में जिस ढंग से सोचा गया और वे जिस ढंग से अस्तित्व में आए, वह अलग रहा है। किन्तु, सभी मामलों में राष्ट्रवाद का प्रयास इस विचार को आगे लाने का रहा है कि राष्ट्र तो प्रभुत्व और असमानता के मौजूदा ढाँचों से मुक्ति दिलाएगा। इस प्रकार, अंग्रेजी राष्ट्रवाद का उदय उन बदलावों की प्रतिक्रियारूप हुआ जो शहरीकरण और औद्योगीकरण के कारण आए थे। इसके परिणामस्वरूप, सामाजिक संबंधों और आर्थिक लेन-देन की ऐसी स्थिति बनी जिसमें आम व्यक्ति ऊँच-नीच के पारंपरिक ढाँचों से प्रतिबंधित और प्रतिकूल था। अंग्रेजी राष्ट्र के विपरीत, फ्रांसीसी क्रान्ति ने राष्ट्र के उस विचार को जन्म दिया जिसमें सामूहिक जीवन में समानता और भागीदारी का विशेष स्थान था। फ्रांस के विपरीत, जर्मनी में ऐसे राष्ट्रवाद का उदय हुआ जिसमें भाषा और रक्त संबंधों पर आधारित सांस्कृतिक अस्मिता पर जोर था। एक विशिष्ट राष्ट्रीय अस्मिता के आधार के रूप में सांस्कृतिक विशिष्टता का विचार उपनिवेश-विरोधी राष्ट्रवादों में भी देखा गया जो अपने अनूठेपन की संप्रभुता के आधार के रूप में प्रस्तुत करते थे। राष्ट्रवाद के विद्वान अक्सर राष्ट्रवादों को नागरिक-संजातीय, अथवा पाश्चात्य-प्राच्य, अथवा राजनीतिकसांस्कृतिक की श्रेणी में रखने की भूल कर बैठते हैं, जिसमें नागरिक राष्ट्रवादों को पश्चिमी स्वरूपों और सकारात्मक गुणों से जोड़कर देखा जाता है। श्नागरिक और संजातीय की अवधारणाएँ जहाँ उपयोगी हैं, वहीं उनमें वे सभी महत्वपूर्ण अंतर नहीं आ जाते जो ऐतिहासिक राष्ट्रवादों के बीच पाए जाते हैं। इसके अतिरिक्त, जब इन्हें द्विभाजी, विरोधात्मक और अनन्य के रूप में लिया जाता है तो ये वर्णनात्मक और व्याख्यात्मक श्रेणियों के रूप में भी विफल रहते हैं।

12.6 बोध प्रश्न

1. राष्ट्रवाद के केन्द्र में सामाजिक एकजुटता और लोक संप्रभुता के विचार हैं। स्पष्ट कीजिए कि इन केन्द्रीय विचारों की अभिव्यक्ति अंग्रेजी और फ्रांसीसी राष्ट्रवाद के विभिन्न स्वरूपों में किस प्रकार हुई है।
2. लोक के विचार का समावेश विभिन्न तरीकों से फ्रांसीसी और जर्मन राष्ट्रवादों में किस प्रकार हुआ है, व्याख्या कीजिए।
3. निश्चायक स्वरूपों के रूप में ऐंडरसन की धारणा की क्या प्रासंगिकता है? आपके विचार में राष्ट्रवाद के वास्तविक अनुभव कहाँ तक निश्चायक स्वरूपों की धारणा को बनाए रख सकते हैं?
4. आपके विचार में राष्ट्रवाद की नागरिक और संजातीय श्रेणियों की विशेषताएँ औरसीमाएँ क्या हैं?

इकाई 13

उपनिवेशवाद और उपनिवेश-विरोधी संघर्ष

संरचना

- 13.1 प्रस्तावना
- 13.2 आधुनिक उपनिवेशवाद का उद्भव और विस्तार
 - 13.2.1 उपनिवेशवाद की अर्थव्यवस्था
 - 13.2.2 उपनिवेशवाद का स्वरूप
 - 13.2.3 साम्राज्यवाद के बारे में संवाद
 - 13.2.4 उपनिवेशवाद का सामाजिक प्रभाव
 - 13.2.5 मध्यवर्ग की भूमिका
- 13.3 उपनिवेशवाद के मामले का अध्ययन
 - 13.3.1 अमेरिका में उपनिवेशवाद
 - 13.3.2 दक्षिण और दक्षिण पूर्व एशिया में औपनिवेशिक साम्राज्यवाद
 - 13.3.3 दक्षिण और पूर्व एशिया में उपनिवेश-विरोधी संघर्ष
 - 13.3.4 जापान और संयुक्त राज्य अमेरिका
 - 13.3.5 एशियाई साम्राज्यों में उपनिवेशवाद
 - 13.3.6 अफ्रीका में उपनिवेशवाद
- 13.4 उपनिवेश-विरोधी आन्दोलनों के पैटर्न
 - 13.4.1 आदर्श के रूप में भारत
 - 13.4.2 धर्म बनाम धर्म निरपेक्षता

13.5 सारांश

13.6 बोध प्रश्न

13.1 प्रस्तावना

आधुनिक इतिहासकारों ने 19वीं शताब्दी के उत्तरार्ध से 20वीं शताब्दी के मध्य तक की अवधि को आधुनिक साम्राज्यवाद का युग कहा है। साम्राज्य शब्द 1872 में बेंजामिन डिजरेयली के द्वारा 1874 में ब्रिटेन के आम चुनाव के संदर्भ में गढ़ा गया था। साम्राज्यवाद के आलोचकों में सर्वाधिक प्रसिद्ध नाम है, ब्रिटेन के उदारवादी, जे. ए. हॉब्सन तथा बोल्सेविक क्रान्ति के रूसी मार्क्सवादी नेता, वी आई लेनिन।

वास्तव में इसे औपनिवेशिक साम्राज्य काल कहा जाना चाहिए। 19वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में कार्ल मार्क्स और फ्रेड्रिक एंजिलस ने उपनिवेशवाद शब्द का प्रयोग किया। हॉब्सन पहला व्यक्ति था जिसने साम्राज्यवाद शब्द का प्रयोग आर्थिक दृष्टिकोण से किया तथा बाद में अनेक राजनीतिक अर्थशास्त्रियों और इतिहासकारों द्वारा प्रबल संवाद आरंभ हुआ जो अभी तक समाप्त नहीं हुआ है।

साम्राज्यवाद मूल रूप से एक राजनीतिक संकल्पना है जो अन्य देशों के ऊपर एक देश के आधिपत्य को सूचित करता है। उपनिवेशवाद मूलतः एक जनसांख्यिकीय संकल्पना है जो किसी विदेश में आबादी की उपस्थिति का द्योतक है। निःसंदेह जब एक आबादी अपने मूल देश को छोड़कर किसी अन्य देश में स्थानीय लोगों की शर्तों के रूप में रहती है। ऐसी आबादी को विदेशी या आप्रवासी, या अल्पसंख्यक कहा जाता है। लेकिन जब विदेशी आबादी स्थानीय लोगों पर संख्या या शक्ति या दोनों के संदर्भ में आधिपत्य करती है तो प्रायः उन्हें औपनिवेशिक कहा जाता है। निःसंदेह शक्ति के संदर्भ में और सामाजिक विज्ञान के संदर्भ में अन्य व्यक्तियों के ऊपर अधिकार का स्पष्ट अर्थ राजनीतिक अधिकार है। लेकिन ये तब तक साम्राज्यवादी अधिकार नहीं है जब तक विदेश में उसका कोई ऐसा केन्द्र न हो जहाँ से अधिकार ग्रहण किए जाते हैं। दूसरी तरफ, उस देश में साम्राज्यवादी नियम के अंतर्गत साम्राज्यवादी सरकार के कार्मिकों की उपस्थिति आवश्यक होती है चाहे अस्थायी रूप से हो। बहरहाल उपनिवेशवाद तथा साम्राज्यवाद दोनों में अर्थव्यवस्था का तत्व अत्यधिक होता है।

13.2 आधुनिक उपनिवेशवाद का उद्भव और विस्तार

13.2.1 उपनिवेशवाद की अर्थव्यवस्था

उपनिवेश एवं साम्राज्य स्थापित करना दोनों ही प्राचीन परम्पराएँ हैं। प्राचीन यूनान और रोम दोनों के उपनिवेश तथा साम्राज्य का थे। यद्यपि साम्राज्य का अर्थ है उपनिवेशों से बड़ा राज्य क्षेत्र। ऐसे उपनिवेश को गृह देश का सहारा होता है जो बदले में उपनिवेशों से राजस्व प्राप्त करता है। 15वीं और 16वीं शताब्दियों में भूमि और स्वर्ण जैसे प्राकृतिक संसाधनों की तलाश में यूरोपीय अधिकारों का एक बड़ा उपनिवेशवाद चला। अमेरिका और अफ्रीका के महाद्वीप इसके शिकार हुए। बाद में एशिया और ऑस्ट्रेलिया इस आन्दोलन के शिकार हुए। 17वीं शताब्दी के अंतिम उत्तरार्ध में इतिहासकार जी एम ट्रेवेलियन द्वारा बताया गया कि इंग्लैण्ड के राज्यकर्मियों एवं व्यापारियों ने अपने अमेरिकी उपनिवेशों को उच्च महत्व दिया। वे लिखते हैं— समुद्रपार आधिपत्यों को दोहरे उद्देश्य पूरे करने के रूप में आँका गया। एक था, पुराने इंग्लैण्ड के उद्यमियों, विरोधियों, शोषित, ऋणग्रस्त, अपराधियों तथा असफल व्यक्तियों की दुनिया जहाँ अत्यधिक अच्छे या बुरे व्यक्तियों की कर्मठता अपने गृह (देश) में समस्या न बने और उन्हें शायद सामान्य लाभ के लिए उपर्युक्त बनाया जा सके क्योंकि तब तक इंग्लैण्ड में आबादी का अधिक दबाव व आर्थिक संकट का भीषण प्रश्न नहीं था। दूसरा, उपनिवेशों को इंग्लैण्ड के उद्योगों और व्यापार के लाभ हेतु ऐसे बाजार के रूप में देखा गया जहाँ से कच्चा माल प्राप्त किया जा सके तथा तैयार माल बेचा जा सके।

18वीं शताब्दी के अंत में, उत्तरी अमेरिका में 13 ब्रिटिश औपनिवेशिक साम्राज्य से अलग हो गए तथा यद्यपि उन्होंने शीघ्र ही स्वयं को राज्य घोषित कर दिया, तो भी वे कुल मिलाकर उपनिवेश ही बने रहे। उन्होंने या तो अपना अस्तित्व समाप्त कर लिया था अथवा उनके मूल निवासी आत्म संयमित हो गए थे। लेटिन अमेरिका के पुर्तगाली और स्पेनी उपनिवेशों में भी प्रक्रिया कमोबेश वहीं थी परन्तु उसमें कुछ मिश्रण था। 19वीं शताब्दी की प्रथम तिमाही में ये इरिक हॉबरबॉम ने जिसे फ़क्रियोल राष्ट्रवाद कहा गया है की वृद्धि से ब्रिटेन और अमेरिका के समर्थन से अपने साम्राज्यों से पृथक हो गए। 19वीं शताब्दी के मध्य तक ब्रिटेन विश्व का सबसे बड़ा औपनिवेशिक साम्राज्य बन गया था। ब्रिटिश ताज ने 1858 में अंग्रेजी ईस्ट इंडिया कम्पनी से भारत का प्रशासन अपने हाथ में ले लिया। जल्दी ही उसने अपने सफेद उपनिवेशों को स्थानीय स्वायत्तता प्रदान कर दी लेकिन उनकी अर्थव्यवस्था पर वित्तीय नियंत्रण कमोबेश पूरी तरह रहा। नीदरलैंड और फ्रांस ने दक्षिण-पूर्व एशिया और अफ्रीका में अपने उपनिवेश स्थापित किए। नए राज्य बेल्जियम ने भी अफ्रीका के कॉंगो में एक उपनिवेश हथिया लिया था। जब जर्मनी इस दौड़ में शामिल हो गया तो 19वीं शताब्दी की अंतिम तिमाही में अफ्रीका में उपनिवेश हथियाने की तीव्र दुश्मनी के कारण फूट पड़ी और जिसके परिणामस्वरूप प्रथम विश्व युद्ध छिड़ा।

13.2.2 उपनिवेशवाद का स्वरूप

1865 में मार्क्स ने तीन प्रकार के उपनिवेशों की पहचान की—

- 1) वेस्ट इंडीज की तरह बागबानी उपनिवेश
- 2) मेक्सिको और भारत की तरह के अत्यधिक आबादी वाले देश
- 3) ऑस्ट्रेलिया की तरह वास्तविक उपनिवेश 19वीं शताब्दी के अंत में ऐंजल्स द्वारा उपनिवेश की सूची में अफ्रीका की तरह स्टॉक मार्केट की सहायक मार्केट शब्द जोड़ा गया।

यद्यपि अनेक ब्रिटिश इतिहासकार इसके सक्षी होंगे कि व्यापार के साथ शासन ने पैर जमाए हैं लेकिन मार्क्स के अनुसार सामान्यतः उपनिवेश का और विशेषकर ब्रिटेन का आरंभिक व्यापार औद्योगिक पूँजी के लिए आरंभिक संग्रहण करने की प्रक्रिया का एक हिस्सा था। जैसे अमेरिका में सोने और चाँदी की खोज करना, आदिवासी आबादी की खानों में दोहन करना, लोगों को दास बनाना तथा दबा के रखना, ईस्ट इंडीज में विजय अभियान और लूटपाट को आरंभ करना, काले लोगों के व्यावसायिक शोषण के लिए अफ्रीका को भूल भुलैया में परिवर्तित करना तथा पूँजीवादी उत्पादन के सुनहरी उदय को सूचित करना आदि। ये आदिवासी क्षेत्रों से आरंभिक संग्रहण करने के लिए ये आदर्श कारवाइयों के मुख्य क्षण रहे।

आरंभिक संग्रहण के विभिन्न क्षणों को अब परस्पर आंबटित किया गया कमोबेश यह क्रमानुसार था विशेषतः स्पेन, पुर्तगाल, हालैण्ड, फ्रांस और इंग्लैण्ड में यह क्रम लागू किया गया। 17वीं शताब्दी के अंत में इंग्लैण्ड में वे व्यवस्थित रूप से संगठित हो गए। उपनिवेशों को मिलाने, राष्ट्रीय ऋण, कर के आधुनिक स्वरूप को लागू करने तथा संरक्षण व्यवस्था लागू करने के लिए एकत्रित हुए थे। ये पद्धतियाँ आंशिक रूप से भूमण्डलीय ताकत अर्थात् औपनिवेशिक प्रणाली पर निर्भर थीं। लेकिन उन सभी ने राज्य के अधिकार लागू किए।

ये अधिकार केन्द्रित और समाज की संगठित शक्ति थे। ये अधिकार उत्पादन के सामन्ती रूपों की निर्माण प्रक्रिया को पूँजीवादी रूप में परिवर्तित करने तथा परिवर्तन को शीघ्र लागू करने के लिए ताप गृह प्रथा के अनुसार लागू किए गए। ये अधिकार प्राचीन समाज में आने वाली नई विचारधारा के पोषक थे। यह स्वयं में आर्थिक शक्ति थे। मार्क्स के विचार में यह भूमण्डलीय शक्ति राज्य द्वारा पोषित तथा अधीनस्थ देशों के विरुद्ध आर्थिक कपटपूर्ण व्यवस्था थी। इस प्रकार के पूँजीवादी उपनिवेशवाद की कुछ विशेषताएँ हैं। ब्रिटेन की संसदीय कार्यवाही का उदाहरण देते हुए मार्क्स ने दिखाया है कि इंग्लैण्ड भारत के आयात के बदले पूर्ण भुगतान नहीं करता था क्योंकि इसके लिए इंग्लैण्ड अच्छी सरकार प्रदान करने के नाम पर इसका भुगतान लेता था। वह लिखता है,

अकेले भारत को अच्छी सरकार के बदले में 5 मिलियन चुकाने पड़ते थे। इसके अतिरिक्त ब्रिटिश राशि पर ब्याज और लाभांश तथा कर्मचारियों द्वारा वेतन के रूप में की गई बचत एवं इंग्लैण्ड में निवेश करने के लिए व्यापारियों द्वारा लाभ के रूप में सालाना इंग्लैण्ड भेजे गए धन की गणना नहीं की जाती थी। प्रत्येक ब्रिटिश उपनिवेश इसी कारण निरंतर बड़ी राशि भेजता था। ऑस्ट्रेलिया, वेस्ट इंडीज और कनाडा में अनेक बैंक ब्रिटिश पूँजी के साथ स्थापित हुए तथा उनका लाभांश इंग्लैण्ड में चुकाया जाता था। इसी प्रकार इंग्लैण्ड में अनेक विदेशी प्रतिभूतियाँ, यूरोपीय, उत्तरी अमेरिका और दक्षिणी अमेरिका प्रतिभूतियों का अधिग्रहण कर लिया था जिसपर बह ब्याज अर्जित करता था। इसके अतिरिक्त उसकी विदेशी रेल व्यवस्था, नदियाँ, खदानों आदि में होने वाले लाभांश में भी रुचि थी। इसके अतिरिक्त लगभग इन सभी मदों पर केवल इंग्लैण्ड को होने वाले निर्यात राशि पर छूट प्रदान की जाती थी। दूसरी तरफ इंग्लैण्ड से विदेश स्थित इंग्लिश प्रतिभूतियों के मालिकों को और विदेशों में अंग्रेजों के उपभोग के लिए भेजे जानी वाली मदों में महत्वपूर्ण अंतर होता था।

19वीं शताब्दी के मध्य तक उपनिवेशवाद मार्क्स के कथन के अनुरूप विदेश में ऋण और निवेश के माध्यम से पूँजीवादी उत्पादन के विस्तारित रूप से संबद्ध हो गया। इस नीति के मुख्य साधन बैंक तथा स्टॉक एक्सचेंज थे। ये तथ्य लेनिन ने अपने साम्राज्यवाद (पूँजीवादी) के विस्तारण में विशेष रूप से उजागर किए हैं।

13.2.3 साम्राज्यवाद के बारे में संवाद

औपनिवेशिक साम्राज्यवाद हमेशा दो प्रकार का औचित्य सिद्ध करता था। एक यह था कि पिछड़े देशों के लाभार्थ सभ्यता मुहिम चलाना गोरों की जिम्मेदारी थी। दूसरा यह अनजाने में पश्चिम का व्यापार बाधरहित होने के कारण हालात की मजबूरी थी। 1961 में रोबिसन और गैलेफर ने अपने शोध ग्रंथ में दर्शाया है कि ब्रिटेन ने प्रायः अपने सहयोगियों के माध्यम से गैर-यूरोपीय देशों के साथ व्यापार किया है। वह अकेले तब ही व्यापार करता था जब ऐसे सहयोगी नहीं मिलते थे या वे इसके विपरीत सोचते थे कि वह उनके प्रदेश को भी अपने में मिला लेगा। फिर, ब्रिटेन का अफ्रीका को मिलाना मुख्यतः भारत के लिए व्यापार मार्गों के लिए सुरक्षा कवच था। गैलेफर के भारतीय छात्र अनिल सील ने इस अनुसंधान को और आगे बढ़ाया, उसने बताया कि ब्रिटेन के द्वारा भारत को अपने साथ मिलाने का मुख्य उद्देश्य उसके ईस्ट इंडीज के व्यापार मार्गों — की सुरक्षा करना था।

जे. हॉब्सन द्वारा आर्थिक साम्राज्यवाद पर सामान्य व्यक्ति के लिए नहीं अपितु इंग्लैण्ड के मुट्ठी भर पूँजीपतियों के लाभ का आरोप लगाने से 20वीं शताब्दी में उपनिवेशी साम्राज्यवाद पर एक गंभीर संवाद आरंभ हो गया था। 1917 में लेनिन ने आर्थिक साम्राज्यवाद को पूँजीवाद की एक ऐसी उच्चतम अवस्था माना जिसने संपूर्ण विश्व को पश्चिमी नेतृत्व में विभाजित कर दिया जिसके कारण प्रथम विश्व युद्ध हुआ। उसने एकाधिकार का विस्तार, औद्योगिक पूँजी तथा आर्थिक पूँजी की संबद्धता तथा उपनिवेशों को पूँजी का निर्यात इस पूँजीवाद की इस समय की प्रमुख विशेषताएँ थीं। फिर भी, 1919 में एक उदार जर्मन अर्थशास्त्री जे. ए. स्कंपीटर ने साम्राज्यवाद समाजशास्त्रीय सिद्धान्त प्रस्तुत किया जिसमें पूँजीवाद और साम्राज्यवाद के अनिवार्य संबंध से इंकार किया गया है। उसने साम्राज्यवाद को पूर्ववर्ती और सामंतवादी मनोवृत्तियों तथा कुछ पूँजीवादी सामाजिक संरचनाओं में से प्रवाहित होने वाला माना है।

लेनिन के आलोचकों ने साम्राज्यवाद के तीसरे तथ्य—उपनिवेशों को पूँजी के निर्यात के बारे में चुनौती दी है। उन्होंने यह दिखाने के लिए विवरण प्रस्तुत किया है कि अधिकांश ब्रिटिश विदेशी निवेश उनके आत्म नियंत्रित राज्य क्षेत्रों (गोरे उपनिवेशों) और स्वतंत्र लेटिन अमेरिकी देशों में किया जाता था न कि भारत में। केवल द्वितीय विश्व युद्ध के बाद ही ब्रिटेन ने अफ्रीका में विकास के लिए निवेश करना आरंभ किया। इस प्रकार लेनिन की यह आलोचना मार्क्स के उपनिवेशों के आरंभिक स्रोत संग्रहण वाले तर्क को ही दृढ़ करती है। लेकिन लेनिन को उपनिवेशवाद के मुख्य उद्देश्य कच्चे माल का दोहन करने वाले तथ्य की उपेक्षा करने के बारे में दोष नहीं दिया जा सकता। अपितु उसने इस पक्ष को जोर देकर एक गतिशील दिशा प्रदान की कि यह विकसित पूँजीवाद की निरंतर आवश्यकता थी। उसके अनुसार जितना अधिक पूँजीवाद विकसित होगा कच्चे माल की उतनी ही अधिक कमी महसूस होगी। इसी प्रकार पूरे विश्व में कच्चे माल के स्रोत के लिए जितनी अधिक प्रतिस्पर्धा और दोहन होगा उतना अधिक ही उपनिवेशों का अधिग्रहण करने के लिए घोर संघर्ष होगा। यहाँ

तक कि गैर-माक्सवादी इतिहासकारों के द्वारा भी कच्चे माल का दोहन और तैयार वस्तुओं का विपणन उपनिवेशी साम्राज्यवाद की मुख्य विशेषताएँ बताई गई हैं। भारत के पूर्व राजनीतिक अर्थशास्त्रियों, जैसे दादा भाई नारोजी, एम. जी. रानाड़े व आर. सी. दत्त ने उपनिवेशी अधिकारों के द्वारा संबंधित लोगों के प्रत्यक्ष शोषण वाले पक्ष को उजागर किया है जो भारत के लोगों की गरीबी का मुख्य कारण था।

दूसरी ओर, यह भी ध्यान रखना चाहिए कि अमेरिकी क्रान्ति के बाद ब्रिटेन के उपनिवेशों को कुछ स्वायत्तता प्रदान की गई जो उत्तरी अमेरिका के उपनिवेशों को कभी नहीं मिली। फिर अमेरिकी क्रान्ति के कुछ वर्ष बाद ब्रिटेन ने संयुक्त राज्य अमेरिका के साथ अपने संबंधों में सुधार किया। 1812 के मोनरॉड डॉक्ट्रीन ने लेटिन अमेरिकी धरती पर ब्रिटेन और संयुक्त राज्य अमेरिका के साथ स्पर्धा से सभी यूरोपीय अधिकारों को अलग कर दिया। लेटिन अमेरिका स्वास्तिक उपनिवेशों के रूप में विकसित हुआ।

13.2.4 उपनिवेशवाद का सामाजिक प्रभाव

उपनिवेशवाद का निर्विवाद रूप से मुख्य प्रभाव आर्थिक होता है लेकिन इसका सामाजिक प्रभाव भी होता है। उपनिवेशवादी इतिहास को कैम्ब्रिज विद्यालय के वास्तविक संस्थापक आर. रोबिंसन ने आरंभिक व्यापार और उपनिवेशवाद के कार्यान्वयन में सहयोगियों की भूमिका पर प्रमाणिक जोर दिया। स्वाभाविक है कि मुख्य लोगों और जनता के बीच सामाजिक संबंध ऐसे कार्यान्वयन से प्रभावित होते हैं। कुछ उपनिवेशों में मूल देशवासियों को जानबूझकर नष्ट किया गया या हाशिये पर रखा गया। कुछ स्थानों पर जातीय मिश्रण हुआ और कुछ स्थान घनी आबादी वाले थे, जहाँ लोगों की सांस्कृतिक गतिविधियाँ प्रभावित हुईं। कुछ प्रमुख व्यक्तियों ने आधुनिकीकरण की तरफ बढ़ने के लिए जो भी मिला ग्रहण कर लिया तथा कुछ लोगों के रूढ़िवादी तरीके से प्रतिक्रिया की। फिर भी, अधिकतर मामलों में प्रतिक्रियाएँ मिश्रित थीं कुछ क्षेत्रों में अंशतः आधुनिक तथा कुछ मामलों में। अंशतः रूढ़िवादी।

महत्वपूर्ण तथ्य यह था कि उपनिवेशवाद के सहयोगी समय-समय पर बदलते रहते थे। पुराना समूह शासकों के प्रति कुंठित होकर आलोचक और यहाँ तक कि हिंसक हो जाता था जबकि फिर कुछ नए समूह शामिल कर लिए जाते थे। फिर भी, औपनिवेशिक शासन के सहयोगी या विरोधी आधुनिकता या रूढ़िवादिता से एक दम दूर नहीं होते। यद्यपि कभी-कभार रूढ़िवादी लोग उपनिवेशी शासन व्यवस्थाओं के आधुनिक आन्दोलनों का विरोध करने लगते थे। अफ्रीकी-एशियाई देशों के ऊपर अपने अधिकार जमाने की पश्चिम की आरंभिक कोशिशों का उपनिवेशी लोगों के द्वारा प्रतिरोध किया गया था। इसका एक विशिष्ट उदाहरण जिसे ब्रिटेन वाले भारतीय विद्रोह कहते हैं। उपनिवेशी सरकारें तथा उनके इतिहासकार ऐसे विद्रोहों को उनकी प्रगतिशील, कल्याणकारी गतिविधियों का रूढ़िवादी प्रतिरोध कहते हैं। कुछ समाजशास्त्रियों ने उन्हें आरंभिक प्रतिरोधी आन्दोलन कहा है।

13.3 उपनिवेशवाद के मामले का अध्ययन

गैर-यूरोपीय महाद्वीपों के बारे में उपनिवेशवाद और उपनिवेश विरोधी संघर्षों का संक्षिप्त विवरण उपर्युक्त तथ्यों को सिद्ध कर देंगे—

13.3.1 अमेरिका में उपनिवेशवाद

कोलम्बस के कदम पड़ने पर स्पेन और पुर्तगाल के नजदीक आने के साथ अमेरिकी महाद्वीपों में उपनिवेशवाद आरंभ हुआ। अपने कैथोलिक विश्वास के कारण स्पेन और पुर्तगाल दोनों में पोप के प्रति श्रद्धा होने और पोप के द्वारा हस्तक्षेप करने से उपनिवेश के लिए विश्व गोलार्द्ध में विभाजित हो गया जिसमें पश्चिमी गोलार्द्ध ब्राजील से लेकर पुर्तगाल में तथा पूर्वी गोलार्द्ध ब्राजील से लेकर स्पेन में पड़ता है। स्पेन ने मैक्सिको का अधिग्रहण कर लिया और उसका अधिकांश उत्तरी क्षेत्र संयुक्त राज्य अमेरिका से संबद्ध है। ब्रिटिश और फ्रांसीसी उपनिवेशकों द्वारा दो देश अपना लिए गए। अंततः ब्रिटिश औपनिवेशिक फ्रांसीसी और स्पेनी औपनिवेशिकों को परास्त कर या उनके क्षेत्रों पर आधिपत्य कर पर्याप्त रूप से उन्हें विस्थापित कर अन्यो की तुलना में अधिक सफल हुए। 1976 में 13 नए इंग्लैण्ड की कालोनी सम्राट से अलग हो गई। दूसरी तरफ, कनाडा संयुक्त राज्य अमेरिका के उत्तर में वफादार उपनिवेश के रूप में प्रकट हुआ और 1867 में उसे पर्याप्त स्वायत्तता का पूरा आकार प्रदान किया गया। फ्रांसीसी मूल के कनाडा में विवादित विषयों को सुलझाने के लिए वहाँ सरकार की संघीय व्यवस्था भी स्वीकृत की गई। व्यापक वृक्षारोपण को बढ़ाने के लिए फ्रांसीसी उपनिवेशी शासन कुछ कैरिबियन द्वीपों तक सीमित रह गया था।

19वीं शताब्दी के आरंभ में ब्रिटेन और संयुक्त राज्य अमेरिका की अप्रत्यक्ष सहायता से लेटिन अमेरिकी देशों ने स्वयं को स्वतंत्र घोषित कर दिया। 1812 में अमेरिका के राष्ट्रपति। मुनरो ने घोषणा की कि किसी भी यूरोपीय शक्ति को इस महाद्वीप में नहीं आने दिया जाएगा। संयुक्त राज्य अमेरिका के राजनीतिक प्रभाव एवं ब्रिटेन के आर्थिक प्रभाव से लेटिन

अमेरिकी राज्य सीमित होकर और प्रायः तानाशाही नेतृत्व में अस्थिर राज्य व्यवस्थाओं के कारण ब्रिटेन और संयुक्त राज्य अमेरिका के आश्रित हो कर रह गए थे। उनकी उपज, खदानें और विशेषतः तेल निर्यात व्यापार एंग्लो-संयुक्त राज्य अमेरिका पर वास्तविक नियंत्रण के माध्यम से नियंत्रण में आ गए। केवल द्वितीय विश्व युद्ध के बाद ही क्यूबा चिल्ली, अर्जेंटीना तथा कुछ अन्य देशों में इस प्रकार की राजनीतिक अर्थव्यवस्था के विरुद्ध विद्रोह हुआ। फिर भी, क्यूबा के अतिरिक्त इनमें से कोई भी विद्रोह टिक नहीं पाया।

13.3.2 दक्षिण और दक्षिण पूर्व एशिया में औपनिवेशिक साम्राज्यवाद

19वीं शताब्दी के आरंभ में भारत और सिलोन (आधुनिक श्रीलंका) सहित दक्षिणी एशिया ब्रिटिश के नियंत्रण में था। तो भी भारत में यह अधिकार तकनीकी रूप से दिल्ली मुगल शासकों के पदाधिकारियों के रूप में इंग्लिश ईस्ट इंडिया के द्वारा लागू किए जाते थे। 1857 में शासकों को पदच्युत कर दिया गया था। 1858 में इंग्लैण्ड की महारानी विक्टोरिया ने राज्य और ब्रिटिश इंडिया की सरकार का अधिग्रहण कर लिया। फिर भी एक तिहाई उपमहाद्वीप को स्वदेशी राजकुमारों के अधीन नाममात्र रूप से स्वतंत्र रहने दिया। 1877 में महारानी विक्टोरिया को भारत की महारानी घोषित किया गया तथा राजकुमारों के राज्यों को ब्रिटिश ताज की प्रभुसत्ता के अंतर्गत लाया गया।

तटीय सिलोन (श्रीलंका) की डच राज्य से 1796 में तथा 1815 में आंतरिक भूमि को भी अधिग्रहण कर लिया गया। बीच के वर्षों में श्रीलंका मद्रास राज्य के अध्यक्ष के एक भाग के रूप में शासित रहा। 1815 में यह ताज का उपनिवेश के रूप में परिवर्तित कर दिया गया। ब्रिटिश शासकों द्वारा भारत को उसके विशाल और विभिन्न आर्थिक स्रोतों के कारण हीरा समझा जाता था। सिलोन (श्रीलंका) को कृषि उपनिवेश के रूप में विकसित किया गया।

1886 तक बर्मा (म्यांमार) को उसकी जंगलात, तेल और कृषि स्रोतों के कारण साम्राज्य के व्यापक लाभ हेतु मिला लिया गया। ब्रिटेन ने अफगानिस्तान को मिलाने का प्रयास किया लेकिन रूसी बादशाह (जार) के द्वारा यह विफल कर दिया गया। फिर भी 1902 में इस देश का अधिकांश क्षेत्र ब्रिटिश भारत में मिला लिया गया।

पूर्व की तरह ब्रिटिश, फ्रांसीसी तथा डच में प्रदेशों को हड़पने के लिए प्रतिस्पर्धा थी और उन्होंने दक्षिण-पूर्व एशिया को इस प्रकार विभाजित कर दिया था। सिंगापुर और हांगकांग सहित मलेशिया ब्रिटेन के लिए थे, इंडोनेशिया डच के लिए तथा कंबोडिया (आज का कम्पुचिया) लाओस तथा वियतनाम सहित इंडो-चीन फ्रांस के लिए था। वियतनाम में चीन को छोड़कर फ्रांसीसियों ने राजवंश के शासकों को सीमित राजनीतिक स्वायत्तता प्रदान कर दी थी लेकिन इंडो-चीन पर संपूर्ण आर्थिक नियंत्रण बनाए रखा।

13.3.3 दक्षिण और पूर्व एशिया में उपनिवेश-विरोधी संघर्ष

1848 में विद्रोह के बाद सिलोन ने राजा के साथ शान्ति स्थापित की। 1931 में उसे संपूर्ण वयस्क मताधिकार प्रदान किया गया जिसे ब्रिटेन ने भारतीयों को कभी नहीं दिया। सिलोन की स्वतंत्रता की प्रगति संवैधानिक थी जिसका नेतृत्व आंशिक रूप से भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस से तथा अंशतः अन्तर्राष्ट्रीय समाजवाद के सिद्धान्तों से प्रभावित शिक्षित विशिष्ट वर्ग ने किया था।

बर्मा को ब्रिटेन-भारत का अप्रत्यक्ष सहारा (बैकयार्ड) माना गया जिसका यह 31 मार्च 1937 तक एक हिस्सा रहा। इसमें 1919 के वे सुधार स्वीकृत करने से भी इंकार कर दिया गया जिनके द्वारा ब्रिटिश-भारत के अन्य प्रान्तों में दोहरी शासन प्रणाली स्थापित की गई थी। इसका मध्य वर्ग जो अधिकांशतः उपजाऊ इरावडी घाटी में स्थापित था उसने उन प्रान्तों की तरह सुधारों के लिए आन्दोलन किया। इस प्रकार 1937 में बर्मा में ब्रिटिश भारत से अलग होने के बाद कुछ स्थानीय स्वायत्तता प्रदान की गई।

ब्रिटिश शासकों ने ताज उपनिवेश स्थापित नहीं किया जैसा कि उन्होंने मलय-पेनिंसुला में देखा था। उनकी शक्ति का आधार संरक्षक व्यवस्था थी संपूर्ण प्रशासन अपने हाथ में लेकर जो स्थानीय शासकों की प्रभुसत्ता को स्वीकार कर परस्पर तथाकथित समझौतों के माध्यम से की गई थी। यद्यपि अधिकतर चीनी और भारतीय उपनिवेशों के चीन की कम्युनिस्ट पार्टी कैमिंटिंग तथा भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के साथ अच्छे संपर्क थे तो भी जापान की द्वितीय विश्व युद्ध में हार के बाद स्थानीय मलेशियाई राजनीतिक रूप से काफी सक्रिय हो गए थे जब ब्रिटेन ने एक मलय यूनियन बनाने का प्रस्ताव रखा।

फ्रांसीसियों ने संरक्षक के रूप में अधिकांश इंडो-चीन (कम्बोडिया, लाओस, अन्नान व टोकिन) पर नियंत्रण किया। केवल कोचिन चीन ही उनके प्रत्यक्ष नियंत्रण में था। इंडोचीन की कम्युनिस्ट पार्टी के नेतृत्व में जापानी प्रतिरोधी शक्ति विरोधी ताकतों ने एक गणतंत्र के रूप में वियतनाम के निर्माण की घोषणा की। यह पश्चिमी ताकतों विशेषतः संयुक्त राज्य अमेरिका को शामिल करते हुए इतिहास में सर्वाधिक बदनाम सिविल युद्धों में से एक युद्ध की शुरुआत थी।

13.3.4 जापान और संयुक्त राज्य अमेरिका दक्षिण और पूर्वी एशिया में उपनिवेशवाद की कथा

20वीं शताब्दी के आरंभ में जापानी साम्राज्य के उत्थान का संदर्भ बताए बिना पूरी नहीं होगी। आरंभ में 1902 में जापान का संघर्ष ब्रिटेन के साथ तथा 1904 में रूसी जार के साथ हुआ। उसने कोरिया का 1905 में अधिग्रहण कर 1911 में अपने में मिला लिया। उसने चीन और पैसिफिक क्षेत्र में साम्राज्यवादी महत्वाकांक्षा के साथ संयुक्त पक्ष की तरफ से प्रथम विश्व युद्ध में लड़ाई की। वास्तव में 1931 में उसने मंजुरिया पर आक्रमण किया। दूसरे विश्व युद्ध के दौरान वह मुख्य ताकतों में शामिल हो गया तथा दक्षिणी पूर्वी एशिया पर हमला करते हुए ब्रिटिशभारत की सीमा रेखा तक आगे बढ़ गया। इससे दक्षिणी-पूर्वी एशिया में राष्ट्रवाद के उत्थान को बहुत सहायता मिली तथा इस क्षेत्र में यूरोपीय ताकतों का नियंत्रण कमजोर हो गया। यहाँ तक संयुक्त राज्य अमेरिका ने 1898 में फिलिपंस को अधिग्रहण कर लिया और 1946 तक अपने अधिकार में रखा।

13.3.5 एशियाई साम्राज्यों में उपनिवेशवाद

शेष एशियाई महाद्वीप लगभग पूरी तरह तीन साम्राज्यों – चीन, रूसी जार तथा तुर्की में विभाजित था। यहाँ उपनिवेशों और एक साम्राज्य के बाहरी हिस्सों में अन्तर किया जाना चाहिए। उपनिवेश भौगोलिक रूप से मुख्य भूमि से पृथक होता है जबकि साम्राज्य में ऐसा नहीं होता। चीनी और रूसी साम्राज्य तथा कुछ हद तक तुर्की साम्राज्य भौगोलिक रूप से संघटित थे। फिर भी तीनों यूरोपीय उपनिवेशी अधिकारों की क्षेत्रीय अभिलाषाओं तक सीमित थे।

प्रथम विश्व युद्ध के आरंभ तक ब्रिटेन ने चीन में अफीम के मुक्त व्यापार के अधिकार प्राप्त करने के लिए लड़ाई लड़ी। 1840 की अफीम लड़ाई (ओपियम वार ने चीन को पश्चिमी ताकतों के साथ 17 असमान संधियों पर हस्ताक्षर करने के लिए विवश कर दिया और जापान ने उस देश को इन ताकतों का वास्तविक रूप से आश्रित बना दिया। किसी तरह रूस अपने क्षेत्र में एंग्लो-फ्रांसीसी षड़यंत्र का प्रतिरोध करने में सक्षम रहा और 1907 में उसने ब्रिटेन से ईरान में उसका क्षेत्र छीन लिया। यद्यपि ब्रिटेन ने नवीनतम खोजे गए व्यापक तेल स्रोतों पर अपना एकाधिकार बनाए रखा। प्रथम विश्व युद्ध के बाद बोल्सेविक क्रान्ति ने इस साम्राज्य को बहुराष्ट्र संघ में परिवर्तित कर दिया था जो 1990 में समाप्त हो गया।

प्रथम विश्व युद्ध के बाद तुर्की साम्राज्य बिखर गया तथा इसका पश्चिमी एशियाई अधिकार राष्ट्र लीग के द्वारा ब्रिटेन और फ्रांस को सौंप दिया गया। इन क्षेत्रों में से सउदी अरब को 1932 में स्वतंत्रता प्रदान कर गई। दूसरे विश्व युद्ध के बाद शेष अरब देशों ने एक न्यास राज्य क्षेत्र बना लिया और वे ब्रिटेन और फ्रांस के नियंत्रण में आ गए। 1950 के दशक तक उनको स्वतंत्र घोषित कर दिया गया।

13.3.6 अफ्रीका में उपनिवेशवाद

लेटिन अमेरिका के बाद अफ्रीका सबसे अधिक आक्रांत था। सहारा मिश्र का उत्तरी क्षेत्र उप-महाद्वीप का सर्वाधिक हिस्सा था। यह किसी भी यूरोपीय शक्ति से विजित नहीं हुआ तो भी ब्रिटेन और कुछ हद तक फ्रांस ने इस पर पर्याप्त अधिकार जमा लिया तथा इस देश पर नियंत्रण किया। प्रथम विश्व युद्ध 1914 में ब्रिटेन ने स्वयं को मिश्र का संरक्षक घोषित कर दिया जिससे जनता की नाराजगी बढ़ गई और आन्दोलन होने लगे। ब्रिटेन द्वारा 1922 में संरक्षणता समाप्त करने की घोषणा की लेकिन उन पर ब्रिटेनी दबाव बनाए रखा जिससे 1936 में उसे एक असमान एंग्लो-मिश्र सन्धि पर हस्ताक्षर करने पड़े। जब सन्धि के द्वारा ब्रिटेन को स्वेज नहर और कुछ अन्य क्षेत्र ब्रिटेन को प्राप्त हो गए। मिश्र के पड़ोसी सूडान और इथोपिया अभी भी औपनिवेशिक ताकतों के अधीन जो ट्यूनिशिया, अल्जीरिया, मोरोक्को का एक भाग तथा मध्य और पश्चिमी अफ्रीका से सटा हुआ बड़ा क्षेत्र फ्रांस के अधीन था। लेकिन उपमहाद्वीप का बड़ा हिस्सा ब्रिटेन के अधीन था। अफ्रीका के अन्य स्वामी स्पेन, इटली, बेल्जियम और जर्मनी थे।

अफ्रीका की तरफ आकर्षित करने वाला पहला श्ववसाय था दासता। बाद में हाथी दांत के व्यवसाय ने व्यापारियों को इस महाद्वीप में अत्यधिक आकर्षित किया। इसमें कुछ धर्म प्रचारक भी आ गए जिन्हें स्थानीय निवासियों द्वारा मार दिया गया। इससे सेना अर्थात् पश्चिमी ताकत महाद्वीप में प्रवेश कर गई। 19वीं शताब्दी के मध्य तक यूरोपीय ताकतें अफ्रीका में हीरे, स्वर्ण और अन्य बहुमूल्य खनिजों के बारे में जान गई थीं। उन्होंने अफ्रीका को विभाजित करने की उत्तेजक कूटनीतिक गतिविधियाँ चलाई और 19वीं शताब्दी के अंत तक उनमें विभाजन आरंभ हो गया। अब अफ्रीका के लिए छीना-झपटी था जिसने जीवादी साम्राज्यवाद के चरित्र को स्पष्ट रूप से उजागर कर दिया था।

13.4 उपनिवेश-विरोधी आन्दोलनों का स्वरूप

इस वंचित और शोषित होने की भावना ने मुख्य लोगों की निष्क्रियता को तोड़ा औपनिवेशिक शासन की स्थापना के बाद आधुनिक उच्च वर्गों ने औपनिवेशिक शासन के विरोध का नेतृत्व किया। उन्होंने लोगों को एक मंच पर संगठित किया गया शासकों से अपनी बात कहने तथा एक समान व्यवहार के अधिकार की माँग की। आरंभ में उनकी आवाज में नम्रता थी

लेकिन बाद में कुंठित होकर उनमें उग्रवाद पनपने लगा। जैसे 19वीं शताब्दी के अंत से तीन दशक पूर्व भारत में क्रान्तिकारी राष्ट्रीय आन्दोलन (जिसे ब्रिटेन ने उग्रवादी कहा है) काफी शक्तिशाली था। दूसरे महाद्वीप के दौरान और उसके बाद एशिया और अफ्रीका में उपनिवेश-विरोधी आन्दोलनों में हिंसक घटनाओं का व्यापक बोलबाला हो गया था।

शासक व्यवस्था के सहयोगी रूढ़िवादी तथा आधुनिक दोनों पड़ोश के संपर्क में थे लेकिन स्थानीय समाजों के दोनों वर्गों में उनके विरोधी थे। कहना व्यर्थ है कि एक ही समय में सहयोग लाभ उठाने वाले थे तथा विरोधी उससे वंचित रहते थे। फिर भी, उपनिवेशविरोधी आन्दोलन विभिन्न रूपों में बढ़ते गए।

13.4.1 आदर्श के रूप में भारत

भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने भारतीयों को एक निष्ठावान लेकिन आलोचनात्मक मंच पर संगठित किया। उसने भारतीय समाज के सभी वर्गों के उच्च लोगों को और यहाँ तक कि ब्रिटिश राज के कुछ सहृदय यूरोपीय लोगों को भी इसमें शामिल कर लिया। इसका नेतृत्व बेशक उच्च मध्यम वर्ग के पेशेवर लोगों के पास था लेकिन इसमें अनेक भूमिपति और राज विरोधी लोग शामिल थे और वे इसके समर्थक थे। 19वीं शताब्दी के अंत में इसमें एक चरम पंथी वर्ग का उदय हुआ जो क्रान्तिकारी हिंसक उपायों का पक्षधर था। प्रथम विश्वयुद्ध के बाद मोहनदास कर्मचन्द गांधी ने भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस को जनसाधारण का दल बना दिया तथा एक असहयोग आन्दोलन के माध्यम से ब्रिटिश साम्राज्य की शक्ति को चुनौती दी। कई आरंभिक समूहों के इससे अलग होने के बावजूद भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की ताकत धीरे-धीरे इतनी बढ़ती गई कि ब्रिटिश राज द्वारा अंत में इस संगठन को अधिकार सौंपने पड़े। लोक राजनीति और संविधानवाद एक विशेष प्रकार का मिश्रण इस संघर्ष की विशेषता थी।

भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस संपूर्ण औपनिवेशिक विश्व में अपने तरह का प्रथम संगठन था। कई तरीकों से अन्य उपनिवेशों विशेषतः दक्षिण-पूर्व एशिया में उसका अनुकरण किया गया। प्रथम विश्व युद्ध के बाद इस राष्ट्रीय प्रवृत्ति का विभिन्न सीमा में समाजवादी विश्व तथा इसके सिद्धान्तों के साथ संबंध स्थापित हो गया। दूसरे विश्व युद्ध के दौरान यहाँ तक कि पश्चिमी ताकतों के साथ अपने विरोध के कारण जापानी साम्राज्य भी दक्षिणपूर्व और दक्षिण एशिया में राष्ट्रीय आन्दोलनों में सहायता करने लगा।

अधिकांश अफ्रीका में आरंभिक प्रतिरोध असफल रहने के कुछ समय बाद उपनिवेश-विरोधी आन्दोलन प्रथम विश्व युद्ध के बाद आधुनिक उच्च वर्ग के नेतृत्व में आरंभ हुआ लेकिन दूसरे विश्व युद्ध के बाद यह मजबूत हुआ।

13.4.2 धर्म बनाम धर्म निरपेक्षता

1880 के दशक में धर्म आधारित, पैगम्बरी उपनिवेश-विरोधी संघर्ष सूडान-महदिष्ट (उद्धारक) में आरंभ हुआ। मुस्लिम दुनिया के कुछ अन्य हिस्सों में अति नैतिक बहावी आन्दोलन पुनः आरंभ हो गया था। इन आन्दोलनों का मिश्रित प्रमाण अखिल इस्लामी उत्थान के रूप में हुआ। इस्लामी विश्व के खलीफा तुर्की के सुल्तान के अपमान से नाराज मुस्लिम समाज के साथ यह पश्चिमी रोधी दिशा थी जिसने खलीफा आन्दोलन की उत्पत्ति की जिसका भारत और अफगानिस्तान में गहरा प्रभाव पड़ा। फिर भी मुस्लिम समुदाय के अखिल मुस्लिमवाद का अखिल अरबीवाद पर विपरीत प्रभाव पड़ा। अनेक देशों में तुर्की साम्राज्य के खिलाफ नाराजगी थी। प्रथम विश्व युद्ध के दौरान इस नाराजगी को ब्रिटेन द्वारा बढ़ावा दिया गया क्योंकि तुर्की जर्मनी के नेतृत्व में विरोधी खेमे था। इसके परिणामस्वरूप प्रथम विश्व युद्ध के बाद एंग्लो-फ्रांस संरक्षण के अंतर्गत अरबों के लिए अनेक अधीनस्थ क्षेत्रों की उत्पत्ति हो गई। एशिया में गेलीयोज ने इस व्यवस्था में महत्वपूर्ण योगदान प्रदान किया।

प्रथम विश्व युद्ध से पूर्व 1907-08 में तुर्की या यंग तुर्की के नाम से एक धर्मनिरपेक्ष राष्ट्रीयवादी आन्दोलन चला। परन्तु यह आन्दोलन अति राष्ट्रीयवादी था जो तुर्की के राजशाही शान के पुनरुज्जीवित करने से संबंधित था। यह अरब आन्दोलनों में परिवर्तित हो गया।

दूसरी तरफ दोनों विश्व युद्धों के बीच की अवधि में तुर्की साम्राज्य में धर्मनिरपेक्ष राष्ट्रीयवादी आन्दोलन छेड़े गए। स्वयं तुर्की में कमल अरातुर्क ने तुर्की राजतंत्र को उखाड़ फेंका। मिश्र में वफद दल में चुनाव जीता लेकिन मिश्री शासक और उसके ब्रिटिश सहयोगियों के संयुक्त प्रयासों ने उन्हें सत्ता से दूर रखा।

19वीं शताब्दी के अंत में संगठित अश्वेत अफ्रीकी श्रमिकों ने कई खदान केन्द्रों पर हड़ताल कर दी थी। छात्रों और बड़े आश्चर्य की बात है कि इसाई चर्च के नेताओं ने अखिल अफ्रीकी आन्दोलन चलाने में उनका नेतृत्व किया। प्रथम अखिल अफ्रीकी कांग्रेस की 1991 में लंदन में बैठक हुई। लेकिन अखिल अफ्रीकीवाद एक वास्तविक उद्देश्य की अपेक्षा विचारधारा अधिक रही। 1920 में ब्रिटिश पश्चिमी अफ्रीका की राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना की गई। अन्य संगठन जैसे कीनिया में केन्द्रीय किकीयु एसोसिएशन और दक्षिण अफ्रीका में अफ्रीकी राष्ट्रीय कांग्रेस ने इसका अनुकरण किया। चूंकि अफ्रीकी

उपनिवेशों की सीमा रेखाएँ अपनी इच्छा से निर्धारित की गई थी और जनजातीय घनिष्ठ संबंध बहुत दृढ़ थे इसलिए एक अखिल अफ्रीकी जागरूकता विकसित करने का भी प्रयास किया गया। फिर भी यह दूसरे विश्व युद्ध के बाद ही हुआ जिसमें अफ्रीकी सैनिकों ने महत्वपूर्ण हिस्सा लिया था इसलिए ये आन्दोलन मजबूत और युद्ध प्रिय बन गए थे। साम्राज्यवादी ताकतों ने संपूर्ण अफ्रीकी जातीय दमन आरंभ कर दिया परन्तु अंत में उन्हें यह बन्द करना पड़ा।

13.5 सारांश

यद्यपि आरंभिक संघर्ष एक भौगोलिक और साम्राज्यवादी राजनीतिक निहितार्थ था तो भी दोनों व्यवस्थाओं का मजबूत आधार आर्थिक स्वार्थ था। आधुनिक उपनिवेशवाद 15वीं शताब्दी में आरंभ हो गया था और 19वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में चरम अवस्था में आ गया था जब साम्राज्यवाद वास्तव में पश्चिम के विकसित पूँजीवादी देशों का एक वास्तविक मार्ग बन गया। इसका असली उद्देश्य लक्ष्य देशों के प्राकृतिक संसाधनों को हड़पना और अपने तैयार उत्पादों के लिए पूँजी बाजार के रूप में विकसित करना था। इसके परिणामस्वरूप संघर्ष के कारण दो विश्व युद्ध हुए।

लक्ष्य देशों ने विजेताओं का आरंभिक प्रतिरोध किया। यह प्रतिरोध रुढ़िवादी था और प्रायः धार्मिक भावनाओं से जुड़ा था लेकिन वे सफल नहीं हुए। औपनिवेशिक साम्राज्यवादी ताकतों ने प्रायः सहयोगियों की सहायता से शासन किया लेकिन इस सहयोग का क्षेत्र सीमित था और उपनिवेशों के नाराज उच्च वर्ग अंत में संगठित हुए और उन्होंने शासक ताकतों का विरोध किया। प्रथम विश्व युद्ध के बाद एशिया में तथा दूसरे विश्व युद्ध के बाद अफ्रीका में उपनिवेश-विरोधी संघर्ष बहुत शक्तिशाली हो गया। 1970 के दशक तक उपनिवेश समाप्ति की प्रक्रिया समाप्त हो गई थी।

13.6 बोध प्रश्न

1. उपनिवेशवाद पर मार्क्सवादी विचारधारा की चर्चा कीजिए।
2. साम्राज्यवाद और इसकी आलोचनाओं के बारे में लेनिन के विचारों का विवेचन कीजिए।
3. दक्षिण और दक्षिण-पूर्व एशिया में उपनिवेश स्थापना और इस क्षेत्र में उपनिवेश-विरोधी संघर्षों का विश्लेषण कीजिए।
4. अफ्रीका में उपनिवेशवाद और उपनिवेश-विरोधी संघर्ष की समीक्षा कीजिए।
5. उपनिवेश-विरोधी संघर्ष में धर्म की भूमिका की चर्चा कीजिए।

इकाई 14

राष्ट्रीयता और आत्म-निर्णय

संरचना

14.1 प्रस्तावना

14.2 अर्थ

14.2.1 राष्ट्रीयता और राष्ट्र

14.2.2 आयरिश उदाहरण

14.2.3 ब्रिटिश उपनिवेश

14.2.4 डच, फ्रांसीसी, पुर्तगाली और बेल्जियन उपनिवेश

14.2.5 राष्ट्रीयता के प्रश्न के मूल स्रोत

14.3 ऐतिहासिक उद्गम

14.3.1 जनता, राष्ट्रीयता और राष्ट्र

14.3.2 राष्ट्रीयता का विषय

14.4 आत्म-निर्णय पर बहस

14.4.1 आत्म निर्णय का विषय

14.4.2 भारत का उदाहरण

14.4.3 आत्म-निर्णय बनाम अलगाव

14.4.4 भूमण्डलीकरण और राष्ट्रीय प्रश्न

14.5 सारांश

14.6 बोध प्रश्न

14.1 प्रस्तावना

उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध के प्रारंभ में जॉन स्ट्यूर्ट मिल ने यह तर्क दिया था कि जहाँ किसी भी बल में राष्ट्रीयता की भावना विद्यमान होती है वहाँ प्रथम दृष्टया उसी सरकार के अधीन और उनकी अपनी सरकार के अधीन राष्ट्रीयता के सभी सदस्यों को एकजुट करने का मामला बनता है। (रिप्रेजेंटेटिव गवर्नमेंट, 1861, पृ. 360-61)। और, इस तरह उसने राष्ट्रों के आत्म-निर्णय के अधिकार का एजेण्डा तय किया था। दूसरी ओर, उसने यह भी कहा था कि विभिन्न (अलग-अलग) राष्ट्रीयताओं से बने देश में स्वतंत्र संस्थाओं का होना लगभग असंभव है। मिल का मानना यह था कि ऐसी राष्ट्रीयताओं को अलग-अलग कर उन्हें अलग राज्यों का रूप दे देना चाहिए ताकि उन्हें प्रतिनिधि स्व-शासन के पूरे लाभ मिलें।

वर्ष 1848 की महाद्वीपीय क्रान्ति के कम से कम एक सौ साल तक यूरोप के राजनीतिक परिदृश्य पर राष्ट्रीयता का प्रश्न छाया रहा और उसके कारण दो विश्व युद्ध हुए। आज भूमण्डलीकरण के युग में भी राष्ट्रीयता का प्रश्न बना हुआ है।

14.2 अर्थ

14.2.1 राष्ट्रीयता और राष्ट्र राष्ट्रीयता

शब्द को परिभाषित करना अत्यंत कठिन है। निस्संदेह, उसकी उत्पत्ति राष्ट्र शब्द से हुई है। भाववाचक संज्ञा के रूप में इसका अर्थ होता है राष्ट्रत्व – अर्थात् एक राष्ट्र होने का भाव, जैसे पोल या स्लाव लोगों की राष्ट्रीयता, अथवा एक राष्ट्र के सदस्य होने की स्थिति, जैसे मेरी भारतीय राष्ट्रीयता या टोनी ब्लेयर की ब्रिटिश राष्ट्रीयता (जैसा पासपोर्ट में दर्ज रहता है)। वस्तुवाचक संज्ञा के रूप में इसका अर्थ होता है, एक छोटा राष्ट्र अथवा एक संभावी राज्य, जैसे यूनाइटेड किंगडम (यूके) में स्टॉकिश राष्ट्रीयता। जे. एस. मिल ने स्वयं वेल्श लोगों और स्कॉटिश हाईलैंडर के बारे में कहा है कि उन्होंने ब्रिटिश राष्ट्र के सदस्य बने रहने का विकल्प चुना। दो विश्व युद्धों के बीच की अवधि में पोलिश राष्ट्रीयता को मान्यता देने का सवाल अक्सर पूछा जाता रहा है। आज स्कॉटिश लोगों के सामने सवाल यह है कि वे एक राष्ट्र हैं अथवा अंग्रेजों की बृहत्तर अस्मिता का मात्र एक अंग किन्तु, दोनों ही स्थितियों में समस्या एक खड़ी होती है। पोलिश लोगों को किस हद

तक राजनीतिक स्वतंत्रता का अधिकार था? अथवा, यूनाइटेड किंगडम के उत्तरी आयरलैण्ड के लोगों अथवा स्कॉटिश लोगों का किस हद तक आज इसका अधिकार है?

दूसरी ओर, राजनीतिक स्वतंत्रता की अवधारणा इन दो रूपों में की जाती है – (1) संप्रभुतासम्पन्न प्रस्थिति के साथ पूर्ण स्वाधीनता, और (2) आत्म-निर्णय का अधिकार, अर्थात् एक राष्ट्र राज्य अथवा एक साम्राज्य के सौंचे के अंदर लोगों (जनता) के आंतरिक मामलों को नियंत्रित करने की व्यापक स्वायत्तता अथवा स्वतंत्रता। किन्तु, यहाँ यह बात ध्यान देने योग्य है कि जब दूसरी व्यवस्था विद्यमान होती है तो शीर्ष सरकार इस व्यवस्था को स्व-शासन का नाम देती है जबकि सम्बंधित जनता इसे आत्म-निर्णय कहती है। इन दोनों अवधारणाओं के बीच अंतर इस बात का है कि स्व-शासन को केन्द्रधर्मसाम्राज्यिक सरकार का उपहार माना जाता है जबकि आत्म-निर्णय को स्थानीय जनता ने आन्दोलन अथवा संघर्ष के माध्यम से अर्जित अथवा प्राप्त किया होता है। इसके अतिरिक्त, स्वशासन में केन्द्र अथवा साम्राज्यिक सरकार का स्थानीय शासन पर अंतिम नियंत्रण होता है, भले ही वह नाममात्र का हो, जबकि आत्म-निर्णय में एक संप्रभु, स्वाधीन प्रस्थिति का दावा करने का विकल्प स्थानीय लोगों के पास बना रहता है।

तथापि दोनों ही स्थितियों में, अधीनस्थ सरकार की यह प्रवृत्ति रहती है कि वह पूर्ण स्वाधीनता की दिशा में जाएगी।

14.2.2 आयरिश उदाहरण

आयरलैण्ड का उदाहरण इस संदर्भ में उल्लेखनीय है। कैथोलिक बहुसंख्यकों वाला यह क्षेत्र उस यूनाइटेड किंगडम का हिस्सा बनकर कभी प्रसन्न नहीं रहा जिसमें प्रोटेस्टैंट बहुल इंग्लैंड का वर्चस्व था। उन्नीसवीं शताब्दी के अंत तक स्थिति यह बन गई कि उत्तरी आयरलैण्ड प्रवासियों के कारण प्रोटेस्टैंट बहुसंख्यकों वाला क्षेत्र हो गया। 1922 में यूनाइटेड किंगडम ने दक्षिणी आयरलैण्ड को स्व-शासन का अधिकार दे दिया, और आयरिश फ्री स्टेट का नाम भी। एमन दे वालेयर की रिपब्लिकन पार्टी ने इस व्यवस्था की निंदा की और 1936 के आयरिश चुनाव जीतने के बाद अपने देश का नाम बदलकर रख दिया। फिर, द्वितीय विश्व युद्ध के दौरान उस देश ने तटस्थ भूमिका निभाई जिसमें यूनाइटेड किंगडम एक बड़ा पक्ष था, और 1948 में आयरलैण्ड गणराज्य की घोषणा कर दी।

14.2.3 ब्रिटिश उपनिवेश

यूनाइटेड किंगडम ने अपने श्वेत उपनिवेशों को स्व-शासन का पर्याप्त अधिकार दिया और 1929 में उन्हें डोमिनियन का नाम दिया। ब्रिटेन ने अपने साम्राज्य को ब्रिटिश कॉमनवेल्थ (राष्ट्रकुल) भी कहा। 1917 में मांटैग्यू-चेम्सफोर्ड सुधारों के अंतर्गत ब्रिटिश भारतीय प्रान्तों को अधिकारों के कुछ हस्तांतरण का प्रस्ताव रखा गया, किन्तु द्विराज की इस प्रस्तावित व्यवस्था को ब्रिटिश भारत के प्रमुख राजनीतिक दलों ने अस्वीकार कर दिया। 1929 में उन्होंने डोमिनियन के दर्जे की माँग की जिसे साइमन कमीशन ने ठुकरा दिया। कमीशन ने प्रान्तों को और अधिक अधिकार हस्तांतरित करने का प्रस्ताव रखा और भारतीय प्रजा के ही प्रशासन में केन्द्र को भी कुछ अधिकार हस्तांतरित करने की बात की। इसी के विरोध में 1930 के दशक का सविनय अवज्ञा आन्दोलन चला। 1947 के भारतीय स्वाधीनता अधिनियम के अनुसार ब्रिटिश भारत को विभाजन के बाद स्वाधीन डोमिनियन का दर्जा मिल गया। भारत की संविधान सभा ने भारत को एक संप्रभु लोकतांत्रिक गणराज्य घोषित कर दिया किन्तु कॉमनवेल्थ ऑफ नेशन्स का सदस्य बना रहना पसंद किया, जिसका नाम अब ब्रिटिश कॉमनवेल्थ हो गया था। 14.2.4 डच, फ्रांसीसी, पुर्तगाली और बेल्जियन उपनिवेश यूरोप के पहले उपनिवेशवादी डच थे। किन्तु, दूसरी औपनिवेशिक ताकतों के साथ अपनी प्रतिस्पर्धा के चलते उन्हें अपने अनेक विदेशी क्षेत्रों से हाथ धोना पड़ा और बाद में वे इंडोनेशिया में सिमटकर रह गए! द्वितीय विश्व युद्ध के बाद चले एक जबरदस्त स्वाधीनता आन्दोलन के कारण इंडोनेशिया भी उनके हाथ से जाता रहा।

चौथे रिपब्लिकन संविधान के तहत फ्रांस ने अपने साम्राज्य को फ्रेंच यूनियन का नाम दिया, जिसे उसके सहयोगी राज्यों के लिए बहुत कम स्वायत्तता का प्रावधान था। 1954 में वियतनाम, कंबोडिया और लाओस इस यूनियन (फ्रांसीसी संघ) से अलग हो गए, जिसके परिणामस्वरूप भारत-चीन युद्ध हुआ। जब अल्जीरिया ने स्वतंत्रता की माँग रखी तो उसे हिंसक दमन का सामना करना पड़ा, जो 1960 के दशक में जाकर ही समाप्त हुआ। इस बीच 1958 में, फ्रेंच यूनियन का नाम बदलकर फ्रेंच कम्यूनिटी कर दिया गया। किन्तु यह प्रयोग विफल हो गया और फ्रांसीसी अधिकार वाले अधिकांश क्षेत्र 1960 के दशक तक स्वतंत्र हो गए।

बेल्जियम को 1958-59 में जब कांगों में स्वतंत्रता आन्दोलन का सामना करना पड़ा तो उसने वहाँ चुनाव और व्यापक स्वतंत्रता का वचन दे दिया। किन्तु, भयंकर दंगे भड़क जाने के कारण उसे जनवरी 1960 में ही बेल्जियन कांगों को पूर्ण स्वतंत्रता देनी पड़ी। दूसरी ओर, पुर्तगाल स्वयं एक तानाशाह शासक के अधीन था। उसने अपने उपनिवेशों को स्व-शासन का अधिकार देने की कभी कोशिश नहीं की और उन्हें अपने प्रान्त ही मानता रहा। भारत ने गोवा को 1961 में

जबरदस्ती आजाद करवा लिया। पुर्तगाल में तानाशाही का अंत हो जाने के बाद उसके अन्य उपनिवेशों को भी स्वतंत्र कर दिया गया।

इस प्रकार, राष्ट्रीयता की अवधारणा का मेल स्व-शासन की अवधारणा के साथ सही नहीं बैठता। यह श्वात्म-निर्णय की अवधारणा के साथ सही बैठता है।

14.2.5 राष्ट्रीयता के प्रश्न के मूल स्रोत

राष्ट्रीयता के प्रश्न का स्रोत राज्य प्रणाली के बुनियादी मनमानेपन में मिलता है। राजनीतिक शक्ति स्वभाव से प्रादेशिक है। किसी राज्य की सीमाएँ एक सरकार की शक्ति की सरहदों पर स्थित होती हैं। इस प्रकार की शक्ति हमेशा ही ऐतिहासिक परिस्थितियों और पड़ोसी राज्य की शक्ति के सापेक्ष होती है। यह एक जाति की जातीय-सांस्कृतिक सीमाओं के अनुरूप शायद ही कभी होती है। सभी आधुनिक राज्यों में सामान्यतया अल्पसंख्यक समूहों की एक अच्छी खासी संख्या होती है, जिनमें ये अधिकांश का जमाव एक विशिष्ट भौगोलिक क्षेत्र में होता है। जब भी एक या अधिक अल्पसंख्यक समूह सत्ता की व्यवस्था से अप्रसन्न हो जाते हैं तो आत्म-निर्णय के अधिकार की माँग की संभावना प्रबल हो जाती है, जिसका अर्थ होता है उनके अपने होने का, अपने भाग्य का स्वयं निर्धारण करने का अधिकार कहना न होगा, यह एक राजनीतिक माँग है जिसकी जड़ें सामाजिक-आर्थिक और भौगोलिक कारकों में होती हैं। इस प्रकार, यदि कोई क्षेत्र एक मुख्यभूमि से दूर अथवा अलग है तो इस बात की संभावना रहती है कि अलगाव की माँग उठेगी। यदि क्षेत्रों के बीच अत्यधिक आर्थिक असमानता है अथवा उनके बीच सांस्कृतिक सम्बन्धों या सदभाव का अभाव है तो इस प्रकार की माँगें जोर भी पकड़ सकती हैं। असंतुष्ट लोगों में शुरु में यह एक सह-भावना के रूप में प्रकट होती है और बाद में एकजुटता का रूप ले लेती है। एकजुटता की यही भावना राष्ट्रीयता का आधार होती है। इस प्रकार की भावना मूल रूप में लोकतांत्रिक होती है क्योंकि यह वर्तमान सत्ता के साथ समानता का एक वैकल्पिक आधार तलाशने का प्रयास करती है।

14.3 ऐतिहासिक उद्गम ।

14.3.1 जनता, राष्ट्रीयता और राष्ट्र

यहाँ आकर राष्ट्र, राष्ट्रीयता और जनता शब्दों के बीच स्पष्टीकरण आवश्यक हो जाता है। यद्यपि इन शब्दों का प्रयोग अदल-बदल कर लोगों के बीच संवाद में होता रहा है, इनका विकास विभिन्न ऐतिहासिक संदर्भों में हुआ है। सबसे पहली बात तो यह कि जनसंख्या शब्द की तुलना में जनता शब्द कहीं अधिक विशिष्ट अर्थ देने वाला है। जनसंख्या का अर्थ निकलता है एक प्रदेश में रहने वाले विभिन्न व्यक्तियों का समूह।

1789 में, जब फ्रांसीसी विधानमंडल के तीसरे वर्ग ने यह घोषणा की कि श्रांस में सम्प्रभुता फ्रांसीसी राष्ट्र की है और अपने आपको राष्ट्रीय विधान मंडल (नेशनल असेंबली) का नाम दिया, तो इस अर्थ में उसने राष्ट्र शब्द का ही प्रयोग किया था। इसका अभिप्राय फ्रांस की जनसंख्या से था। जनता का चरित्र और भी स्पष्ट होता है – उसमें एक निश्चित वस्तुनिष्ठ सामान्यता होती है जिसे शायद प्रादेशिक निष्ठा के अर्थ में ही स्पष्ट रूप में परिभाषित किया जा सकता है। इसी अर्थ में राष्ट्र संघ के करारपत्र और संयुक्त राष्ट्र संघ के घोषणा पत्र में जनता के नाम को लिया गया।

ऐतिहासिक संदर्भ में, आधुनिक अर्थ में श्राष्ट्रों का उदय राजतंत्र के दैवीय अधिकार वाले सिद्धान्त के दम तोड़ देने के बाद हुआ, जिसके आलोक में राज्यों को चर्च (ईसाई धर्म संस्था) के समर्थन वाले वंशों की संपत्ति समझा जाता था। प्रोटेस्टैंट क्रान्ति ने यूरोप के राजनीतिक मामलों में पोप की सर्वोच्चता का अंत कर दिया और डी. बर्न्स के शब्दों में मध्ययुगीन एकता के विनाश की नींव रख दी। प्रवृत्ति के इस बदलाव के पीछे जो भावना सक्रिय थी वह साम्राज्यवाद-विरोधी भी थी और सामंतवाद-विरोधी भी। किन्तु, इसके चलते यूरोप के राजनीतिक संरूपण में एक रिक्त स्थान छूटा रह गया। उदाहरणस्वरूप, 1648 की वेस्टफेलिया संधि में 300 जर्मन राज्यों का निर्माण हुआ जिनमें से अधिकांश प्रोटेस्टैंट थे और पोप के नियंत्रण से मुक्त थे। किन्तु इनकी हैसियत सामंती राज्यों से अधिक बिल्कुल नहीं थी।

और फिर भी समूची जर्मन जनसंख्या एकजुट नहीं थी। पश्चिम में फ्रांस और पूर्व में पोलैण्ड में जर्मनों की अच्छी-खासी जनसंख्या थी। 1772 में, पोलैण्ड के पहले विभाजन के समय एक स्वच्छंदतावादी पोलिश-जर्मन बुद्धिजीवी जे.जी. हर्डर ने भाषा में जर्मन फोल्कस्तुम (जनतापन) को ढूँढ़ने का प्रयास किया। उसके एक शताब्दी बाद 1870 के फ्रांस-प्रशास्य युद्ध के परिणामस्वरूप जर्मनी एक हो गया। यह एक अलग बात है कि इसकी परिणति अंततः अत्यधिक विकृत उग्र राष्ट्रीयता में हुई।

पूरी जर्मन जनसंख्या तो क्योंकि कभी एकजुट नहीं हुई, इसलिए पड़ोसी देशों में जर्मन जनसंख्या समूह बिखराव की स्थिति में ही रहे। इसी को बहाना बनाकर हिटलर ने जर्मनी के पड़ोसियों पर आक्रमण कर दिया। सबसे बड़ी जर्मन भाषी इकाई ऑस्ट्रिया एकीकृत जर्मनी से बाहर ही रहा। इसका एक कारण तो धार्मिक मतभेद था और दूसरा यह कि बाद में वह स्वयं

एक साम्राज्य बन गया। पवित्र रोमन साम्राज्य का अंत करने वाला दर असल नेपोलियन बोनापार्ट था जिसने पोलैण्ड के छोटे-से स्वाधीन राज्य की नींव भी रखी। किन्तु, अंतिम पवित्र रोमन सम्राट फ्रांसिस द्वितीय 1804 में कैथोलिक ऑस्ट्रिया का सम्राट बन बैठा, और 1815 में पोलैण्ड का चौथी बार विभाजन हो गया। ऑस्ट्रियाई साम्राज्य के तत्वावधान में ही राष्ट्रों के आत्म-निर्णय के अधिकार के मुद्दे में तेजी पकड़ी। वर्ष 1848 की महाद्विपीय क्रान्तियों के दौरान ऑस्ट्रियाई साम्राज्य की छोटी-छोटी राष्ट्रीयताओं ने सबसे पहले फिर उठाया। 1867 में ऑस्ट्रिया ने ऑस्ट्रियाई - हंगरी साम्राज्य के रूप में अपना पुनर्गठन किया और उसे हंगरी के राजनीतिक दावों को मान्यता देनी पड़ी। बहरहाल, पूर्वी यूरोप की स्लाव राष्ट्रीयताओं में अशांति बनी रही। द्वितीय विश्व युद्ध के दौरान, जर्मनी के साथ केन्द्रीय शक्तियों में ऑस्ट्रिया भी था। जब मित्र दलों के साथ अमेरिका भी युद्ध में शामिल हो गया तो उसके राष्ट्रपति वुड्रो विल्सन ने एक चौदह सूत्रीय कार्यक्रम तैयार किया जिसमें और बातों के अलावा मध्य यूरोप, विशेषकर ऑस्ट्रिया, की राष्ट्रीयताओं को आत्म-निर्णय का अधिकार देने का वादा भी किया गया।

14.3.2 राष्ट्रीयता का विषय

हमने देखा कि 1770 के दशक में जर्मनी में जनतापन का एक स्वच्छंदतावादी विचार उभरा। इसमें जर्मन जनता को भाषा के आधार पर एकजुट करने का प्रयास किया गया। इस प्रवृत्ति ने उन्नीसवीं शताब्दी में गति पकड़ ली। और, राष्ट्रीयता के बंधन के रूप में सहानुभूति पर जोर देने वाले जे.एस. मिल ने भी इस प्रवृत्ति को माना। मिल के अनुसार राष्ट्रीयता की यह भावना शिवभिन्न कारणों से पनपी होगी, जैसे: (1) प्रजाति और वंश की अस्मिता का प्रभाव, (2) समान भाषा, (3) सम्प्रदाय, धर्म, (4) भौगोलिक सीमाएँ, (5) सबसे मजबूत राजनीतिक पूर्ववृत्त, जिससे उसका आशय था एक राष्ट्रीय इतिहास का स्वामित्व, और उसके परिणामस्वरूप सामुदायिक संस्मृतियाँ, सामूहिक अभियान और अपमान, आनन्द और खेद, जो अतीत की समान घटनाओं से जुड़े होते हैं। किन्तु मिल ने इन सभी कारणों को सीमित भी कर दिया, उसके शब्दों में इनमें से कोई भी परिस्थिति न तो अनिवार्य है, और न ही स्वयं में आवश्यक रूप में पर्याप्त। बाद के राजनीतिक चिंतकों और इतिहासकारों ने राष्ट्रीयता अथवा राष्ट्रत्व का एक निश्चित आधार ढूँढने का व्यर्थ प्रयास किया है। विशुद्ध रूप में नस्ल पर आधारित राज्य तो अफ्रीका में भी नहीं मिल सकते, यद्यपि हिटलर के समय जर्मनी ने इसे बनाने की कोशिश की थी। इस प्रकार के नस्ल-आधारित राज्यों का अस्तित्व सभ्यता के इतिहास में कभी नहीं रहा। यद्यपि जोसेफ स्टालिन की प्रसिद्ध परिभाषा में प्रदेश के साथ-साथ भाषा और समान ऐतिहासिक अनुभव को राष्ट्रत्व के मुख्य कारक के रूप में प्रस्तुत किया गया था, और यद्यपि हॉब्सबॉम के अनुसार आधुनिक राष्ट्रवाद का उदय धर्म के अवशेषों पर हुआ, फिर भी दुनिया में आज भी कुछ राज्य हैं जिनकी पहचान धर्म से होती है यूरोप में आयरलैण्ड और पश्चिम एशिया में इस्त्रायल, और एशिया में पाकिस्तान समेत अनेक इस्लामी गणराज्य द्य फिर भी पश्चिम एशिया के मुस्लिम राज्य धर्म के आधार पर एकजुट नहीं हो पाए और पाकिस्तान का 1971 में भाषा के आधार पर विभाजन हो गया। जहाँ तक साझा इतिहास का सवाल है तो फ्रांसीसी राजनीतिक चिंतक ई. रनों का इस सम्बन्ध में यह मानना है कि गलत इतिहास भी स्वयं में एक राष्ट्रीय भावना की निर्माण प्रक्रिया का एक अंग है। आज के तीसरी दुनिया के देशों में एक रोचक प्रवृत्ति पाई जाती है - अपनी राष्ट्रीय एकता को मजबूत करने की दृष्टि से इतिहास को फिर से लिखने का प्रयास।

इसलिए, रेनान ने यह निष्कर्ष निकाला कि राष्ट्र एक आत्मिक इकाई है जो एक समान भावना के आधार पर जीवित रहती है। परिणामस्वरूप, ध्यान अतीत से हटकर वर्तमान और फिर भविष्य पर आ गया। इस परिप्रेक्ष्य में राष्ट्र निर्माण की वह अवधारणा प्रासंगिक हो जाती है जिसे जवाहरलाल नेहरू ने लोकप्रिय किया था। इसमें प्रगति और विकास की दृष्टि से राष्ट्रीय एकता पर जोर दिया गया है। अमेरिकी राजनीति विज्ञानी कार्ल डेविस का तर्क है कि एक राष्ट्र का अस्तित्व एक दैनिक जनमत संग्रह है, जिसका अर्थ होता है कि साथ-साथ रहने का एक साझा इरादा ही राष्ट्रीयता का सार है।

और यहीं परेशानी खड़ी हो जाती है। किसी राष्ट्र अथवा राष्ट्रीयता को जन्म देने वाली वस्तुनिष्ठ परिस्थितियाँ बदल भी सकती हैं। सम्बंधित लोगों में, विशेषकर कुलीन जनों में, सामाजिक और आर्थिक असमानताएँ भी पनप सकती हैं। वर्गीय अथवा क्षेत्रीय कुलीनों के बीच राजनीतिक महत्वाकांक्षाएँ बढ़कर तथाकथित राष्ट्रीय कुलीनों के दृष्टिकोण और हितों से भिन्न भी हो सकती हैं। क्षेत्रों और वर्गों के मतभेद खोज लिए जाते हैं। जहाँ इस तरह के मतभेद गुप्त रूप में पहले से ही मौजूद होते हैं, वहाँ उन्हें बढ़ा-चढ़ाकर प्रस्तुत किया जाता है। सबसे अधिक बात असमानता और अथवा भेदभाव के आधार की होती है, चाहे वह वास्तविक हो या काल्पनिक। जहाँ शासक प्रादेशीय कुलीन उसे काल्पनिक बताते हैं। वहीं असंतुष्ट कुलीन उसे हमेशा वास्तविक बताते हैं। यदि शासक कुलीन दबाव अथवा राज्य शक्ति का प्रयोग करते हैं तो विद्रोह होते हैं। यदि इस प्रकार के विद्रोह सफल हो जाते हैं तो नए राष्ट्र राज्यों का निर्माण होता है, और पुरानी व्यवस्था ध्वस्त हो जाती है। इस प्रकार, राष्ट्रीय आत्म-निर्णय राजनीति का एक अत्यंत विवादास्पद मुद्दा बन गया है।

14.4 आत्म-निर्णय पर बहस

14.4.1 आत्म निर्णय का विषय

विल्सन ने राष्ट्रीयताओं को आत्म-निर्णय का अधिकार देने का जो वादा किया उसने तीन प्रकार के आलोचकों को जन्म दिया। पहली तरह के आलोचक वे प्रत्यक्ष रूढ़िवादी थे जिन्हें पुराने साम्राज्यों की प्रादेशिक व्यवस्था का टूटना पसंद नहीं था। दूसरा वर्ग उन आमूल परिवर्तनवादियों का था जो यह सोचते थे कि विल्सन के कार्यक्रम का क्षेत्र अत्यधिक संकुचित था और वह केवल ऑस्ट्रियाई-हंगरी साम्राज्य तक ही सीमित था, और उसकी परिधि में ब्रिटिश और फ्रांसीसी जैसे पारम्परिक साम्राज्य नहीं आते थे। इसमें समूचे औपनिवेशिक जगत की तरफ से आँखें मूंद ली गई थीं। आलोचकों की तीसरा वर्ग व्यावहारिकतावादियों का था। वे सोचते थे कि आज के राज्य इतने बहुजातीय हैं कि उन्हें संजातीय के आधार पर अलग-अलग नहीं किया जा सकता।

निश्चित रूप में, इनमें से पहले दो वर्ग पक्षपाती हैं, और यहाँ केवल चौथे वर्ग की आलोचना पर ही विचार किया जा सकता है। 1905 में बंगाल का विभाजन करने वाले भारत के पूर्व गवर्नर-जनरल और ब्रिटिश विदेश मंत्री लॉर्ड कर्जन ने कथित रूप में कहा था कि राष्ट्रीय आत्म-निर्णय का अधिकार एक दुधारी तलवार है, जिसका अर्थ है कि यह लोगों को जोड़ती है तो उन्हें तोड़ती भी है। किस राज्य का जो भी प्रादेशिक विभाजन किया जाता है, असंतुष्ट अल्पसंख्यक तो रहेंगे ही और सन्निहित राज्य लगातार शान्ति को खतरा पैदा करने वाले अयुक्त संयोजनवाद (इरिडेंटिज्म) में लगे रहेंगे। एक बात और, यद्यपि आज पश्चिम में भाषा ही राष्ट्रत्व का लोकप्रिय मापदंड है, फिर भी, विशेषकर धर्म जैसे अन्य कारक आज भी राजनीतिक जनमत बनाने में अत्यधिक निर्णायक भूमिका निभाते हैं। उदाहरण स्वरूप, आयरलैण्ड की समस्या प्रमुख रूप में धार्मिक ही है। 1990 के दशक का यूगोस्लाविया का जातीय संकट भी धार्मिक मतभेदों पर आधारित था। यह तस्वीर तब और भी उलझ जाती है जब धार्मिक समूह भाषा के आधार पर बँटे दिखाई देते हैं।

14.4.2 भारत का उदाहरण

यह एक सुविदित तथ्य है कि समूचा भारत अंग्रेजों के आने से पहले राजनीतिक दृष्टि से कभी एकजुट नहीं था। अंग्रेज भी पूरे भारत को एक ही तरह से नहीं चला पाए। इस उप-महाद्वीप का लगभग दो-तिहाई हिस्सा उनके प्रत्यक्ष नियंत्रण में था, जबकि एकतिहाई पर विभिन्न छोटे-बड़े स्थानीय रजवाड़ों का शासन था।

अंग्रेजों के अधीन भी समूचे भारत पर एक जैसा शासन नहीं रहा। ब्रिटिश हुकूमत बंगाल, बम्बई और मद्रास के तटों से फैलनी शुरू हुई। इस प्रदेश को पहले प्रेसीडेंसी के रूप में संगठित किया गया। ये विभिन्न भाषाओं और धर्मों वाले लोगों के प्रदेश होते थे, और इसके अतिरिक्त अनेक आदिम जनजातियाँ भी थीं। इनमें बर्मा और अदन जैसे नए प्रदेशों को भी सम्मिलित कर लिया गया। इनमें से कुछ को अलग प्रान्त बना दिया गया। 1905 में लॉर्ड कर्जन ने धर्म के आधार पर बंगाल प्रेसीडेंसी का विभाजन कर दिया, जिसके परिणामस्वरूप एक जबरदस्त विभाजन-विरोधी आन्दोलन खड़ा हो गया। इसी समय भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन के नेताओं ने सरकार के धर्म के मुकाबले में भाषा को भारत के प्रान्तीयकरण का आधार बना लिया। अंग्रेज 1947 में धर्म के आधार पर देश का बँटवारा करने के बाद भारत से चले गए। एक मुस्लिम बहुल राज्य के रूप में पाकिस्तान का निर्माण हुआ। किन्तु 1971 में भाषा के आधार पर पाकिस्तान का विभाजन हो गया। यद्यपि, 1960 के दशक में तत्कालीन मद्रास (अब तमिलनाडू) में भी एक अलगाववादी माँग उठी, किन्तु उस आन्दोलन को वहीं शांत कर दिया गया। भारतीय राज्य की अखंडता को भाषा से कभी खतरा पैदा नहीं हुआ, किन्तु इसके कारण कई राज्यों का पुनर्गठन अवश्य हुआ है। किन्तु, भारत में भाषा ही राज्यों के पुनर्गठन का एकमात्र कारक नहीं रहा है। जनजातीय और जातीय पहचान के आग्रह के कारण भी उत्तर-पूर्व और मध्य भारत में अनेक राज्यों का निर्माण हुआ है। उत्तरांचल राज्य के निर्माण का एकमात्र आधार क्षेत्रीय असमानता थी।

उत्तर-पूर्व और उत्तर-पश्चिम के सीमांत क्षेत्रों के धार्मिक और जनजातीय समूह जब तक भारत से अलग होने की माँग करते रहे हैं। सामान्य रूप में, भारत ने धर्म के आधार पर वी.डी. सावरकर और एम. ए. जिन्ना के द्विराष्ट्र के सिद्धान्त को कभी स्वीकृति नहीं दी। भारतीय जनमत 1947 के ब्रिटिश भारत के विभाजन को एक साम्राज्यवादी षड्यंत्र ही मानता है।

भारतीय राष्ट्र प्रादेशिक है यद्यपि कुछ विद्वानों ने इसे एक बहुसांस्कृतिक और बहुराष्ट्रीय राज्य भी कहा है।

14.4.3 आत्म-निर्णय बनाम अलगाव

आत्म-निर्णय के अधिकार का अर्थ केवल राष्ट्रीय आत्म-निर्णय नहीं होता। इसमें इतनी व्यापकता है कि सभी प्रकार की जनता इसमें आ जाती है। उदाहरण स्वरूप, 1776 की अमेरिकी क्रान्ति आत्म-निर्णय के अधिकार के आग्रह के कारण हुई, इसमें राष्ट्रीय आत्मनिर्णय की बात नहीं कही गई। उत्तरी अमेरिकी विद्रोही अपने आपको फिर भी एक बड़ी सत्ता से अलग होने की इच्छा ही होती है। जब लोग मनोवैज्ञानिक संदर्भ में भी आत्म-निर्णय की बात करते हैं, तो वे अपने आपको औरों

से अलग दिखाना चाहते हैं। जब लोगों का एक समूह अपने आत्म-निर्णय के अधिकार पर जोर देता है तो वह भी वहीं कर रहा होता है। अलगाववादी एक अकेला राष्ट्र बना भी सकते हैं और नहीं भी। जब ऑस्ट्रियाई साम्राज्य ध्वस्त हुआ तो कई राष्ट्रीयताएँ उभर कर सामने आईं, जिनमें से कुछ तो बिल्कुल स्पष्ट नहीं थीं। यही प्रक्रिया सोवियत संघ और यूगोस्लाविया के समाजवादी राज्यों के टूटने के बाद भी दोहराई गई। वैसे, जब किसी राज्य अथवा साम्राज्य में बसे लोगों के एक वर्ग में राष्ट्रीयता की एक स्पष्ट भावना बलवती होती है तो, जैसा मिल ने कहा है, वहाँ अलगाव अथवा आत्म-निर्णय का स्पष्ट मामला होता है। किसी भी स्थिति में, आत्म-निर्णय का अधिकार उस बड़ी सत्ता के लिए चुनौती पेश करता है जिससे इसका सम्बन्ध होता है। इस माँग का राष्ट्रवादी तत्व इसे अतिरिक्त मजबूती प्रदान करता है। परिणामस्वरूप, श्रव्यवस्था के हिमायती इसका विरोध करते हैं। उसी प्रकार वही लोग राष्ट्रवाद का विरोध भी करते हैं। भूमण्डलीकरण के इस युग में यह मुद्दा और भी तीखा हो गया है। भूमण्डलीकरण के हिमायती राष्ट्रीय स्वायत्तता अथवा सम्प्रभुता को मूल रूप में पिछड़ना मानते हैं। राष्ट्रीय सम्प्रभुता के हिमायती भूमण्डलीय व्यवस्था को मूल रूप में असमान मानते हैं। वे राज्य अथवा राष्ट्रीय अधिकार को भूमण्डलीय शोषण के विरुद्ध प्रमुख ढाल मानते हैं। यहाँ इतिहास के एक उदाहरण से हमें काफी शिक्षा मिल सकती है। बोल्शेविक क्रान्ति से पहले वी. आई. श्लेनिन ने रूस के जार शासन की दमिति राष्ट्रीयताओं को आत्मनिर्णय का अधिकार देने का वादा किया था। किन्तु, क्रान्ति के बाद, लेनिन इसके विरोधी हो गए। उन्होंने आत्म-निर्णय के अधिकार का नया रूप देते हुए उसे सोवियत संघ की बृहत्तर राजनीतिक इकाई के अंदर ही प्रत्येक राष्ट्रीयता को समान प्राप्ति के अधिकार के रूप में प्रस्तुत कर दिया। किन्तु, सोवियत राज्य की नीति अल्पसंख्यक राष्ट्रीयताओं को पूरी तरह से कभी संतुष्ट नहीं कर पाई और संघ 1990 में टूट गया।

14.4.4 भूमण्डलीकरण और राष्ट्रीय प्रश्न

मार्क्सवादियों के अनुसार, राष्ट्रीयता का प्रश्न यूरोप में पूँजीवाद के उभार के साथ ही उठा। स्वयं मार्क्स का विचार था कि एक दिन पूँजीवाद अपनी आर्थिक शक्ति के दम पर राष्ट्रीय सीमाओं को मिटा देगा। किन्तु, लेनिन राष्ट्रवाद में साम्राज्यवाद से लड़ने की क्षमता देखते थे और वह उपनिवेशों में राष्ट्रीय बूर्जुआ के साथ मार्क्सवादियों के सहयोग का स्वागत करते थे। परिणामस्वरूप, एशिया और अफ्रीका के राष्ट्रवादी आन्दोलनों और अन्तर्राष्ट्रीय कम्युनिस्ट आन्दोलन के बीच एक हद तक सहयोग हुआ।

वर्ष 1989 में सोवियत संघ का पतन हो जाने के बाद से अमेरिका का विश्व मामलों में अभूतपूर्व प्रभुत्व हो गया है और उसने एक नई आर्थिक व्यवस्था का सूत्रपात किया है जिसमें आर्थिक राष्ट्रवाद की समाप्ति की परिकल्पना है। आर्थिक राष्ट्रवाद की नीति को उन्नीसवीं शताब्दी से सभी विकासशील देशों ने अपनाया है। भूमण्डलीय पर्यावरण के प्रश्न पर अमेरिका अभी भी हठपूर्वक अपना ही एजेंडा चला रहा है और अपनी स्वतंत्रता पर पर्यावरण सम्बन्धी कोई भी नियम थोपा जाना उसे स्वीकार नहीं है। फिर भी, विश्व के अन्य देश को वह बाध्य करता है कि वे आर्थिक भूमण्डलीकरण का अनुसरण करें। भारत जैसे विकासशील देशों को अपनी अर्थव्यवस्था पर भूमण्डलीकरण की इन सर्वांगीण माँगों से खतरा महसूस होता है, जबकि कृषि उनकी अर्थव्यवस्था का प्रधान स्रोत है। अपने हितों के टकराव से उन विकासशील देशों में प्रबल राष्ट्रीय प्रतिक्रियाएँ हुई हैं जो भूमण्डलीकरण के कार्यक्रम को आर्थिक महाशक्तियों की नव-साम्राज्यवादी चाल मानते हैं।

नव-औपनिवेशिक अथवा नव-साम्राज्यवादी बंधन को लेकर विकासशील देशों में व्याप्त इस डर ने उनकी स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद आत्म-निर्भरता के कार्यक्रम को जन्म दिया जिसके सबसे बड़े समर्थक जवाहरलाल नेहरू थे। स्वदेशी का कार्यक्रम एक भिन्न अर्थ में इसी भाव को परिलक्षित करता है।

14.5 सारांश

राष्ट्रीयता और आत्म-निर्णय दोनों ही परस्पर सम्बद्ध धारणाएँ हैं। उन्नीसवीं शताब्दी में उनका केन्द्र यूरोप में था प्रथम विश्व युद्ध के बाद एशिया और अफ्रीका उसका केन्द्र बन गए। मार्क्सवाद ने अपने ऐतिहासिक दृष्टि से साम्राज्यवाद-विरोधी चरित्र के कारण उनका समर्थन किया। सोवियत संघ के पतन के फलस्वरूप भूमण्डलीकरण का कार्यक्रम सामने आया है जिसने राष्ट्रवादी अर्थव्यवस्थाओं और भावनाओं को दुर्बल करता है।

14.6 बोध प्रश्न

1. राष्ट्रीयता का अर्थ बताते हुए उसके विकास के कारणों का विवेचन कीजिए।
2. आत्म-निर्णय की अवधारणा का विश्लेषण उसकी ऐतिहासिक पृष्ठभूमि में कीजिए।
3. राष्ट्रीय आत्म-निर्णय के सवाल पर चलने वाली बहस का मूल्यांकन कीजिए।
4. मार्क्सवाद और भूमण्डलीकरण के कार्यक्रम का राष्ट्रीय आत्म-निर्णय से क्या सम्बन्ध है?

इकाई 15

राज्य निर्माण और संविधानवाद

संरचना

- 15.1 प्रस्तावना
- 15.2 राज्य निर्माण
 - 15.2.1 साधक अपेक्षाएँ
 - 15.2.2 राज्यों का ऐतिहासिक अस्तित्व
 - 15.2.3 ऑल्मंड – पॉवेल योजना का महत्व
- 15.3 संविधानवाद
 - 15.3.1 उद्गम
 - 15.3.2 संविधानवाद का अर्थ
- 15.4 संविधान के नमूने
 - 15.4.1 संविधानवाद का ब्रिटिश नमूना
 - 15.4.2 अमेरिकी नमूना
 - 15.4.3 महाद्वीपीय व्यवस्थाएँ
 - 15.4.4 संविधान निर्माण का विकासात्मक नमूना
 - 15.4.5 संविधान निर्माण का क्रान्तिकारी नमूना
- 15.5 संविधानवाद और राज्य निर्माण
 - 15.5.1 एक ढाँचे के रूप में संविधान
 - 15.5.2 राज्य और नागरिक समाज
 - 15.5.3 कानून का शासन
 - 15.5.4 सेना और नौकरशाही
- 15.6 अधिकारों का संविधान
 - 15.6.1 उद्भव
 - 15.6.2 अधिकारों का स्वरूप
- 15.7 सारांश
- 15.8 बोध प्रश्न

15.1 प्रस्तावना

इतिहास में राष्ट्र और राज्य की अवधारणाओं का विकास समानांतर रूप में हुआ। राष्ट्र ऐसे ब्रिटिश्यों का समूह है जो एक निश्चित बंधन में एक-दूसरे से जुड़े होते हैं (देखिए इकाई 14)। राज्य एक संरचित अधिकरण है जो एक निश्चित प्रदेश में लोगों पर शासन करता है। आवश्यक नहीं कि ये दोनों साथ-साथ ही विद्यमान रहें। उदाहरण स्वरूप, 1646 में वेस्टफेलिया की संधि में 300 जर्मन राज्यों को मान्यता दी गई थी। किन्तु आज केवल दो जर्मन भाषी राज्य ही देखने में आते हैं—जर्मनी और ऑस्ट्रिया। जर्मनी और ऑस्ट्रिया के विभाजन का एक प्रमुख कारण धार्मिक है। जर्मनी प्रोटेस्टैंट है जबकि ऑस्ट्रिया कैथोलिक प्रमुख रूप में, राज्य एक प्रादेशिक अवधारणा है, किन्तु राष्ट्र एक मानवीय इकाई है। जबसे संयुक्त राष्ट्र संघ का गठन हुआ है तभी से राष्ट्र-राज्य का यौगिक शब्द विश्व के राजनीतिक शब्द-भंडार में स्थान पा गया है। संयुक्त राष्ट्र संघ के घोषणापत्र में राज्य को वस्तुतः राष्ट्र के समकक्ष रखा गया। किन्तु, राष्ट्रीय मामले राज्य के मामलों से कहीं अधिक जटिल होते हैं यद्यपि कि वे एक-दूसरे से जुड़े हैं। मनोविज्ञान की भूमिका राज्य की अपेक्षा राष्ट्र के मामलों में कहीं अधिक महत्वपूर्ण होती है। राजनीति विज्ञान राष्ट्र निर्माण की अपेक्षा राज्य निर्माण कहीं अधिक अच्छे ढंग से विवेचना कर सकता है, यद्यपि कि तीसरी दुनिया के देशों में राष्ट्र निर्माण शब्द कहीं अधिक लोकप्रिय है। राज्य निर्माण में न केवल सरकार आती है, जो राज्य निर्माण का प्रमुख केन्द्र है, बल्कि उसमें एक आबादी का मनोवैज्ञानिक

एकीकरण और आर्थिक विकास भी आते हैं। गैब्रिएल ए. ऑल्मंड और जी.बी. पॉवेल, जूनियर के शब्दों में वैसे तो इसे उस रूप में रखना अत्यधिक सरलीकरण होगा, फिर भी हम राष्ट्र निर्माण और एक राजनीतिक व्यवस्था में इसके सही निपटारे की समस्या को मूल रूप में एक संरचनात्मक समस्या के तौर पर देख सकते हैं। अर्थात् यह मूल रूप में उन नई भूमिकाओं, संरचनाओं और उप-व्यवस्थाओं के संरचनात्मक विभेदीकरण का मामला है जो ग्रामीण क्षेत्र को भेदती हैं। दूसरी ओर, राष्ट्र निर्माण में राजनीतिक घटनाक्रमों के सांस्कृतिक पहलुओं पर जोर दिया जाता है। यह उस प्रक्रिया का संकेत देता है जिसके माध्यम से लोग अपनी प्रतिबद्धता और निष्ठा को अपेक्षाकृत छोटे कबीलों, गाँवों अथवा छोटे-मोटे सामंती देशों से एक बड़ी केन्द्रीय राजनीतिक व्यवस्था की ओर हस्तांतरित करते हैं। राज्य और राष्ट्र निर्माण की ये दोनों प्रक्रियाएँ आपस में सम्बद्ध होते हुए भी, इन्हें अलग-अलग करके देखना महत्वपूर्ण होगा। ऐसे कई मामलें हैं जिनमें केन्द्रीकृत और पैठ रखने वाले नौकरतंत्र का गठन हुआ है जबकि केन्द्रीय राजनीतिक संस्थाओं के प्रति निष्ठा और प्रतिबद्धता का एकरूप नमूना कभी उभर नहीं पाया है। ऑल्मंड और पॉवेल ने राज्य निर्माण का विवेचन राजनीतिक विकास के सिद्धान्त के संदर्भ में किया है, जिसके अन्य तीन अवयव राष्ट्र निर्माण, भागीदारी और (कल्याण का) वितरण हैं। उन्होंने राज्य निर्माण के प्रमुख सवाल को इस प्रकार रखा कि हम किस प्रकार का नौकरतंत्र खड़ा करना चाहते हैं, किस प्रकार का शासन-निर्माण और अधिनिर्णायक संरचनाएँ, और इन संरचनाओं पर हम किस प्रकार का भार लादना चाहते हैं। इस सैद्धान्तिक योजना की कभी यह थी कि इसमें एक पूर्व-विद्यमान, कम विभेदनकारी राजनीतिक व्यवस्था और एक विभेदित, आधुनिक राजनीतिक व्यवस्था के बीच निरंतरता को अवश्यसंभावी मानकर चला गया था। यह योजना राज्यों अथवा राजनीतिक व्यवस्थाओं को उस रूप में नहीं लेती है जिस रूप में व्यवस्था के सिद्धान्तवादी उसे लेते हैं, और जो क्रान्तिकारी परिवर्तनों के माध्यम से अस्तित्व में आते हैं। अथवा, शायद वे जानबूझ कर क्रान्तियों की ओर से अपनी आँखें मूंद रखते हैं और क्रान्ति के बाद की स्थिति से आगे बढ़ना पसंद करते हैं। वे इस तथ्य की फिर भी अवहेलना कर जाते हैं कि एक क्रान्ति और क्रान्ति-पूर्व के अनुभवों का भी राज्य निर्माण की प्रक्रिया में अपना अलग योगदान हो सकता है, जैसा कि भारत जैसे अनेक उत्तर-औपनिवेशिक देशों के साथ

15.2 राज्य निर्माण

15.2.1 साधक अपेक्षाएँ

किन्तु राज्य निर्माण का कार्य आसान नहीं है। ऑल्मंड और पॉवेल के अनुसार राज्य निर्माण तब होता है जब राजनीतिक भद्रजन ऐसे नए ढाँचों और संगठनों का गठन करते हैं जिनका उद्देश्य समाज में ष्पैठ बनाना होता है जिससे कि इसके अंदर व्यवहार को नियंत्रित किया जा सके और उससे और अधिक मात्रा में संसाधन प्राप्त किए जा सकें। इसके अंतर्गत यह निर्धारित किया जाता है कि अधिकरण का ढाँचा, इसके फैलाव की प्रादेशिक सीमा, अधिकरण के साथ लोक-अनुरूपता और इस प्रकार के अधिकार को प्राप्त करने का साधन क्या होगा। अधिकरण का एक निर्णायक मानदंड यह होता है कि लोग इसे कितना वैध मानते हैं और लोगों के बीच शासन को लेकर संतोष का कैसा भाव है। यदि सरकार का सर्वोपरि हित इस बात में है कि वह लोगों से कानून और व्यवस्था को मानने को प्रेरित करे तो लोगों का हित इस बात में है कि वे अपने अधिकारों का संरक्षण करें और उन्हें बढ़ावा दें।

15.2.2 राज्यों का ऐतिहासिक अस्तित्व

प्राचीन यूनान और रोम की शुरुआत नगर-राज्यों के रूप में हुई। यद्यपि उनसे भी प्राचीन राज्य मिश्र और मेसोपोटामिया को साम्राज्य कहा गया है, फिर भी यह संदेहजनक है, कि उनके अधिकार आधुनिक साम्राज्यों जैसे व्यापक थे। बहरहाल, यूनान और रोम दोनों ही आगे जाकर साम्राज्य बने और कालांतर में उनका विलय भी हो गया। ऑल्मंड और पॉवेल कहते हैं कि विशेषकर साम्राज्यिक रोम जैसे विशाल साम्राज्यों में, ऐसे उदाहरण मिलते हैं कि कुलीनों ने निष्ठा और प्रतिबद्धता की एक समान राष्ट्रीय संस्कृति बनाने का कभी प्रयास नहीं किया, बल्कि वे एक केन्द्रीकृत और पैठ बनाने वाली नौकरशाही को बढ़ाकर ही संतुष्ट रहे, जबकि उन्होंने सांस्कृतिक स्तर पर स्पष्ट अवयवी इकाइयों को बना रहने दिया और थोड़ी स्वायत्तता भी प्राप्त करने दी।

ऑल्मंड और पॉवेल के उपर्युक्त कथन में एक सांस्कृतिक सर्वाधिकारवाद की बू आती है जो अमेरिकी राज्यतंत्र की विशेषता है जहाँ अंग्रेजी भाषा का ज्ञान नागरिकता की पहली शर्त है। इसमें इस आनुभाविक यथार्थ की अवहेलना की गई है कि कोई भी बड़ी राजनीतिक इकाई पर्याप्त मात्रा में स्थानीय और सांस्कृतिक स्वायत्तता देने को बाध्य होती है जिससे कि लोगों में राज्य के प्रति एक समग्र प्रादेशिक निष्ठा जगाई जा सके। रोमन साम्राज्य के विलय के बाद यूरोप में अनेक सामंती राज्य बन गए यद्यपि उनमें से कुछ स्वयं को रसाम्राज्य ही कहते थे। उन पर ऐसे वंशों का शासन था जिनके पास शासन की दैवीय अधिकार के नाम पर अपनी प्रजा पर निरंकुश अधिकार था। पंद्रहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध के सुधारवाद ने दैवीय अधिकार के इस सिद्धान्त का उन्मूलन कर दिया और पुनरुत्थान के साथ ही लोगों में एक नया

आत्म-विश्वास भी आ गया। इस प्रकार, वंशीय राज्य के मुकाबले राष्ट्रीय राज्य की अवधारणा का जन्म हुआ। सम्राट राष्ट्र की एकता का प्रतीक बन गया।

15.2.3 ऑल्मंड – पॉवेल योजना का महत्व

बहरहाल, ऑल्मंड – पॉवेल योजना का विश्लेषणात्मक महत्व बहुत अधिक है। इन लेखकों के अनुसार आदिम राजनीतिक व्यवस्थाओं ने अपनी समस्याओं का निपटान अधिकतर रुक-रुक कर और बिखरे हुए अंदाज में किया। इसके लिए उन्होंने तदर्थ अथवा न्यूनतम संरचनात्मक विभेदन और विशेषीकरण को साधन बनाया। पारंपरिक राजनीतिक व्यवस्थाओं की विशेषता उनकी विशेषीकृत नियंत्रणकारी संरचनाएँ और अपने सदस्यों में निष्ठा पैदा करने की उनकी प्रतीकात्मक क्षमता और बृहत्तर राजनीतिक व्यवस्था के साथ उनकी पहचान थी। किन्तु राजनीतिक व्यवस्था में भागीदारी और अपने उत्पादों के वितरण की समस्याओं का निपटारा ये व्यवस्थाएँ फिर भी रुक-रुक कर और बिखरे हुए अंदाज में ही करती थीं! आधुनिक स्थिर लोकतंत्रों में ये सभी कार्य स्पष्ट रूप में देखने को मिलते

फिर भी, अलग-अलग देशों में उन व्यवस्थाओं ने अलग-अलग ढंग से कार्य किया है। इस प्रकार, ब्रिटेन में टुडॉर युग में राज्य निर्माण का कार्य नागरिक जीवन में राज्य की पैठ और इन दोनों के बीच एकीकरण के अर्थ में संपन्न कर लिया गया था। किन्तु, सांस्कृतिक एकरूपीकरण और उपव्यवस्थागत स्वायत्तता के विकास के अर्थ में राष्ट्र निर्माण की प्रक्रिया उन्नीसवीं और बीसवीं शताब्दियों तक चलती रही। उन्नीसवीं और फिर बीसवीं शताब्दी में ही कल्याण कार्य की भागीदारी और वितरण की समस्या पर ध्यान दिया गया। देर तक चलने वाली इस क्रमिक प्रक्रिया से ब्रिटेन को संक्रमण की आसान राह पर चलने में मदद मिली।

जर्मनी में ये चार प्रक्रियाएँ एक छोटी अवधि में और लगभग साथ-साथ ही चलीं। टुडॉर युगीन ब्रिटेन में सामंतों को अपनी रियासतों से हाथ धोना पड़ा और उन्हें उचित अधिकार और प्रभावशाली पद देकर संसद और नौकरशाही में जगह दे दी गई। दूसरी ओर, जर्मनी में सामंतों को राज्य के नौकरशाही और सैनिक ढाँचे में ले लिया गया। फ्रांस ने इन दोनों के बीच का रास्ता अपनाया। वहाँ सामंती अभिजात वर्ग को शाही दरबार में जगह दी गई और उनके अधिकार और सामुदायिक मूल से उन्हें वंचित कर दिया। पद पर आधारित एक नए अभिजातवर्ग ने राज्य सत्ता पर अधिकार कर लिया और मध्यम वर्ग के लिए उच्च पदों के दरवाजे बंद कर दिए। इससे राज्य के लिए अधिकरण, अस्मिता, निष्ठा और भागीदारी का संकट खड़ा हो गया। फ्रांस का किसान वर्ग करों, सैन्य सेवाओं और सामंती विशेषाधिकारों के बोझ के कारण अलग-थलग पड़ गया। इस प्रकार क्रान्तिकारी फ्रांस में अस्थिरता की स्थिति बन गई। उपर्युक्त विश्लेषण में सुगम ब्रिटिश नमूने और अस्थिर फ्रांसीसी-जर्मन नमूने के बीच जो अंतर दिखाया गया है वह इस मान्यता पर आधारित है कि ब्रिटेन के पास जो राजनीतिक विकास की प्रक्रिया को अंजाम देने का समय और अक्ल दोनों थी किन्तु औरों के पास इनमें से कुछ भी नहीं था। यह एक ऐतिहासिक विश्लेषण है, और यह इतना अमूर्त है कि इसमें फ्रांस और जर्मनी के राजनीतिक अनुभव की स्पष्ट तस्वीर मिलनी संभव नहीं है। उत्तर-नात्सी जर्मनी अथवा पाँचवा रिपब्लिकन फ्रांस अपनी राजनीति कैसे चलाते हैं? क्या उन्होंने राज्य निर्माण की प्रक्रिया को नए सिरे से शुरू किया है? या फिर, अमेरिका 1776 के बाद राज्य निर्माण की समस्या से कैसे निपट पाया?

15.3 संविधानवाद

15.3.1 उद्भव

सत्रहवीं शताब्दी में प्रबोधन युग की शुरुआत से व्यक्तिगत स्वतंत्र के महत्व को तो बल मिला ही सम्राट के अधिकारों में कटौती की प्रक्रिया भी चल निकली। इस प्रवृत्ति की राजनीतिक विचारधारा की अभिव्यक्ति सामाजिक अनुबंध के उस सिद्धान्त में हुई जिसमें सम्राट के लिए शासन करने के किसी दैवीय अधिकार का कोई प्रावधान नहीं था। उसके बजाय यह कहा गया कि सम्राट को यह अधिकार जनता ने ही कुछ शर्तों पर दिया है। यद्यपि जॉन हॉब्स को निरंकुशतावादी माना जाता है, फिर भी उसमें भी जनता के जीवन की रक्षा करने के सम्राट के कर्तव्य पर जोर दिया था। लॉक ने एक कदम और आगे बढ़ते हुए इस कर्तव्य में संपत्ति को भी जोड़ दिया और यह भी कहा कि शसपत्ति में स्वतंत्रता शामिल है। वैसे, लॉक का अधिक बुनियादी आग्रह नागरिक समाज की स्वायत्तता को लेकर था जिसकी रचना नागरिक समाज और राज्य के संस्थापक शासक के बीच होने वाले अनुबंध के पहले एक सामाजिक अनुबंध के माध्यम से हुई थी। इस तरह, लॉक का सम्राट एक सीमित अधिकार वाला सम्राट था। इसलिए, वह उस सीमिति अथवा संवैधानिक साम्राज्य का समर्थन करता था जिसकी रचना 1688 की शगौरवमय क्रान्ति के फलस्वरूप हुई थी।

यही संविधानवाद की प्रक्रिया का आधार था। बाद में इसका विकास फ्रांसीसी राजनीतिक दार्शनिक मॉटेस्क्यू ने किया। मॉटेस्क्यू ने 1689 में स्थापित सरकार के ब्रिटिश नमूने का विस्तार करते हुए अधिकार अथवा सत्ता के अलगाव की योजना

दी। इसी योजना से प्रभावित होकर विश्व के पहले लिखित संविधान अर्थात् अमेरिकी संविधान की रचना हुई। उसी के बाद अन्य अनेक लोकतांत्रिक देशों में लिखित संविधान को अपनाया गया।

15.3.2 संविधानवाद का अर्थ

संविधानवाद का शाब्दिक अर्थ होता है कि किसी निकाय का गठन और संरचना कैसे होती है। राजनीति शास्त्र में इसका अर्थ होता है कि एक राज्य और उसके अधिकरण का किस प्रकार गठन होता है। जब अरस्तू ने यूनानी जगत के लगभग 150 नगर राज्यों का अध्ययन करने के बाद पॉलिटिक्स की रचना की, और संविधानों का वर्गीकरण किया, तो वह संविधानवाद के इसी शाब्दिक अर्थ का प्रयोग कर रहा था। बाद में, इसमें एक महत्व जुड़ गया। एक संविधान में विश्वस्त तौर पर इस सीमा तक स्थिरता और सम्माननीयता का गुण होता है कि लोग यह अपेक्षा करते हैं कि सरकार के सदस्य और अंग इसका पालन करेंगे। जब सरकार संविधान का पालन करती है तो इस स्थिति को ही संविधानवाद कहा जाता है। इसका यह अर्थ होता है कि सरकार को किसी व्यक्ति की सनक से नहीं चलाया जा सकता।

बहरहाल, जैसा कि संवैधानिक राजतंत्र के नाम से आभास होता है, संविधानवाद तो गणराज्यवाद नहीं है। आज भी यूरोप में ऐसे-वंशगत सम्राट हैं जिन्होंने अपने पूर्ण अधिकार निर्वाचित विधायिका को दे दिए हैं। दूसरी ओर, एक निर्वाचित राष्ट्रपति के नेतृत्व वाली व्यवस्था अर्थात् गणराज्यवाद का संवैधानिक शासन होना आवश्यक नहीं है। अनेक देशों में सैनिक शासकों ने अपने आपको राष्ट्रपति ही घोषित नहीं किया बल्कि जनमत संग्रह जैसे छलपूर्ण तरीकों से जनता का समर्थन भी हासिल कर लिया है। उन्होंने अपने देश के संविधान से छेड़छाड़ की है और, अक्सर, तो उसे उठाकर खिड़की से बाहर फेंक दिया है।

सिद्धान्त के स्तर पर, संविधानवाद और लोकतंत्र में भी अंतर है, जिसका सटीक उदाहरण फ्रांसीसी क्रांति के दार्शनिक रूसो के सामाजिक अनुबंध के सिद्धान्त में मिलता है। रूसो ने प्रत्यक्ष लोकतंत्र की हिमायत की थी और सरकार को कोई विशेष प्रस्थिति देने और जनता की इच्छा को किसी भी प्रकार की सीमा में बांधने को अस्वीकार कर दिया था जिसे वह संप्रभु मानता था। वैसे आज के जन राज्यों में प्रत्यक्ष लोकतंत्र असंभव ही है। इसलिए, हर जगह प्रतिनिधि सरकार के सिद्धान्त को स्वीकार कर लिया गया है। प्रतिनिधियों ने क्योंकि भविष्य में राज्य करने का अधिकार दूसरों के हाथ में दे दिया है, इसलिए उनके अधिकारों की सीमा तय करने हेतु एक संविधान जरूरी हो जाता है — इन्हें खेल के नियम कहा जा सकता है। यह माना जाता है कि संविधान के निर्माता कोरे कागज से शुरू करते हैं और उनका अपना कोई स्वार्थ नहीं होता। वे पूर्वग्रह से भी मुक्त होते हैं। बाद में आने वाले राजनेताओं को इन नियमों का पालन करना है। यही कारण है कि विश्व के अधिकांश संविधान निर्माता संविधान को शकटोर बनाते हैं, अर्थात् उन्हें साधारण विधायी प्रक्रिया से बदला नहीं जा सकता। जहाँ ऐसे लिखित और कठोर संविधान वजूद में नहीं होते, वहाँ कुछ परम्पराओं और प्रथाओं को राष्ट्रीय आम सहमति से अनुल्लंघनीय मान लिया जाता है। इनमें से पहली तरह के संविधान का उदाहरण संयुक्त राज्य संविधान है, जबकि दूसरी तरह के संविधान का उदाहरण ब्रिटिश संविधान है।

15.4 संविधान के नमूने (मॉडल)

15.4.1 संविधानवाद का ब्रिटिश नमूना

लोकवाद और संविधानवाद का अंतर्विरोध आगे जाकर एक निर्वाचित विधायिका और एक गैर-राजनीतिक न्यायपालिका के बीच वैधता के दावे का रूप ले लेता है। ब्रिटेन में कोई — लिखित संविधान न होने के कारण संसद में सम्राट की संप्रभुता ही सरकार का मान्य सिद्धान्त होता है। इसका यह अर्थ होता है कि सम्राट संसद का एक अंग तो होता है किन्तु किसी सदन का सदस्य नहीं होता। सम्राट सदनों को संबोधित कर सकता है। कोई भी अदालत संसद के किसी अधिनियम की समीक्षा नहीं कर सकती और न ही उसे अवैध ठहरा सकती है, भले ही ब्रिटिश अदालतें अत्यंत उदारता के साथ संसदीय अधिनियमों की व्याख्या करती हैं।

ब्रिटेन की संवैधानिक व्यवस्था में एक द्विसदनी विधायिका का प्रावधान है — ऊपरी सदन अर्थात् हाऊस ऑफ लॉर्ड्स में आनुवंशिक और नामित लार्ड होते हैं, जबकि निचले सदन में जनता के निर्वाचित प्रतिनिधि होते हैं। अधिशासी अधिकार नाममात्र को सम्राट के पास होते हैं किन्तु अधिकार वास्तव में मंत्रिमंडल के पास होते हैं जिसमें दोनों ही सदनों के सदस्य होते हैं, किन्तु वह हाऊस ऑफ कॉमन्स (निचले सदन) के प्रति उत्तरदायी होता है। निचले सदन का विश्वास खो देने की स्थिति में हटा दिए जाने का मंत्रिमंडल का यह उत्तरदायित्व कार्यपालिका की निरंकुशता के विरुद्ध एक आश्वासन होता है। दूसरी ओर निचले सदन को भंग करने और नए चुनाव कराने का मंत्रिमंडल का अधिकार भी सदन की निरंकुशता के विरुद्ध एक प्रकार का आश्वासन भी होता है। चुनाव उन मतदाताओं की बात करता है जो राजनीतिक संप्रभुता सम्पन्न होते हैं।

विधायिका और न्यायपालिका के बीच किसी संभावी टकराव से निपटने के लिए यह व्यवस्था रखी गई है कि देश की सर्वोच्च न्यायिक सत्ता हाऊस ऑफ लॉर्ड्स होता है, और हाऊस ऑफ लॉर्ड्स आम तौर पर देश की राजनीति से अलग रहता है। किन्तु, यह सत्ता का रुढ़ विभाजन नहीं होता है। अमेरिका का संघीय सर्वोच्च न्यायालय न्यायिक समीक्षा के जिस अधिकार का प्रयोग करता है वह ब्रिटेन के हाऊस ऑफ लॉर्ड्स की न्यायिक समिति के पास नहीं होता। कुल मिलाकर, हाऊस ऑफ लॉर्ड्स अधिक से अधिक यह कर सकता है कि किसी कानून को पारित होने में विलम्ब करना है।

15.4.2 अमेरिकी नमूना

ब्रिटेन और संयुक्त राज्य अमेरिका की संवैधानिक व्यवस्थाओं का बुनियादी अंतर यह है कि संयुक्त राज्य का संविधान क्योंकि लिखित रूप में है इसलिए वहाँ संवैधानिक कानून को सामान्य कानूनों से ऊपर रखा गया है, जबकि ब्रिटेन का कोई लिखित संविधान नहीं है और संसद के बनाए सभी कानूनों की वहाँ बराबर ताकत होती है। संयुक्त राज्य अमेरिका में कानूनों की व्याख्या करते समय सर्वोच्च न्यायालय संवैधानिक कानून की सामान्य कानून से ऊपर रखता है और ऐसे किसी भी विधान को खारिज कर देता है जिसकी राय संविधान के विरुद्ध जाती है। न्यायिक समीक्षा का यही आधार है। उसी के चलते, विशेषकर 1930 के दशक में, न्यायिक व्यवस्था पर यह आरोप लगा कि वह सार्वजनिक नीति के प्रति उदासीन हैं। किन्तु, हाल के वर्षों में यह देखा गया है कि संयुक्त राज्य की न्यायपालिका सार्वजनिक नीति के प्रति काफी संवेदनशील है।

संयुक्त राज्य अमेरिका में नाममात्र की और वास्तविक कार्यपालिका वहाँ का राष्ट्रपति होता है, जिसका चुनाव अप्रत्यक्ष रूप में जनता करती है। संयुक्त राज्य अमेरिका विधायी अधिकार निर्वाचित, द्विसदनी कांग्रेस में निहित होते हैं। कार्यपालिका की विधायिका के प्रति कोई जिम्मेदारी नहीं होती। किन्तु यह व्यवस्था नियंत्रण के आधार पर काम करती है — इसे नियंत्रण और संतुलन की अवधारणा कहा जाता है। प्रत्येक प्रशासनिक विभाग का प्रमुख एक सेक्रेटरी (मंत्री) होता है और ये सेक्रेटरी अपने राष्ट्रपति के लिए काम करते हैं। इनका चुनाव वह संयुक्त राज्य कांग्रेस के दूसरे सदन अर्थात् सीनेट अथवा राज्य परिषद् की स्वीकृति से ही करता है। सारे कानून कांग्रेस ही लागू करती है, किन्तु उसमें राष्ट्रपति की सहमति आवश्यक होती है। कांग्रेस के पास सरकारी कोष का भी पूरा नियंत्रण होता है। राष्ट्रपति कांग्रेस को संबोधित नहीं कर सकता किन्तु वह, या उसके सेक्रेटरी, कांग्रेस की समितियों से मिल सकते हैं। विधान और वित्तीय विधेयकों का प्रारूप कांग्रेस की समितियाँ बनाती हैं।

संयुक्त राज्य अमेरिका का संविधान न केवल लिखित रूप में है किन्तु कठोर भी है। संविधान में किसी संशोधन के लिए दोनों सदनों की दो-तिहाई संख्या को प्रस्ताव लाना होता है अथवा उस लोकसमिति का अनुसरण करना होता है जिसमें राज्य विधानमंडल की दो-तिहाई संख्या निवेदन करती है और राज्य विधानमंडलों अथवा राज्य की लोकसमितियों को उसे अनुमोदित करना होता है। संयुक्त राज्य संविधान संशोधन के लिए राष्ट्रपति की सहमति आवश्यक नहीं होती। बहरहाल, मौलिक अमेरिकी संविधान एक कोश ढाँचा मात्र है। इसे लागू हुए दो सौ वर्ष से ऊपर हो चुके हैं, किन्तु इसमें केवल 26 संशोधन हुए हैं।

संयुक्त राज्य अमेरिका का संविधान की एक प्रमुख विशेषता जो इसे ब्रिटेन की संवैधानिक व्यवस्था से अलग करती है, वह है इसका संघीय चरित्र। ब्रिटेन—जिसका औपचारिक नाम यूनाइटेड किंगडम है— एक इकाई राज्य है और यह एक इकाई के रूप में ही शासित होता है। यूनाइटेड किंगडम में संप्रभुता सम्राट अथवा शासनाधिकार महारानी के पास होता है। संयुक्त राज्य अमेरिका में संप्रभुता संघ और राज्यों के बीच विभाजित रहती है। संघ के अधिकारों पर संविधान का नियंत्रण होता है। अवशिष्ट अधिकार राज्यों के पास होते हैं। संविधान का संरक्षक होने के नाते संघीय सर्वोच्च न्यायालय संघीय सम्बन्धों का भी संरक्षक होता है। राज्यों के अपने अलग न्यायालय होते हैं। पिछले दो सौ वर्षों से संघ के अधिकारों में न्यायिक निर्णय, लोक समितियों और राज्यों की समितियों के माध्यम से बहुत बढ़ोतरी हुई है।

ब्रिटिश अधिपत्य वाले कनाडा में संसदीय सरकार को ब्रिटिश नमूने और संघीय प्रादेशिक ढाँचे का एक मिला-जुला रूप 1867 में उभर कर सामने आया। इसकी मूल अवधारणा प्रान्तीय स्वायत्तता थी। इसी नमूने को एक जनतंत्रीय स्वरूप में भारत ने 1950 में अपनाया, और साथ ही पूर्व सोवियत समाजवादी गणराज्य संघ के संविधान से भी कुछ तत्व लिए।

15.4.3 महाद्वीपीय व्यवस्थाएँ

महाद्वीपीय यूरोप में मध्य-उन्नीसवीं शताब्दी के बाद से सरकार के तीन अन्य प्रमुख रूप उभर कर सामने आए। स्विट्जरलैण्ड के छोटे से गणराज्य में एक मंडली कार्यपालिका अस्तित्व में आई। वहाँ मंत्रियों का चुनाव आनुपातिक प्रतिनिधित्व के माध्यम से विधायिका करती है, किन्तु वे उसके प्रति जिम्मेदार नहीं होते। वे विधायिका के पूरे कार्यकाल तक अपने पदों पर बने रहते हैं। पहल, जनमत संग्रह, और वापस बुलाने के रूप में उसमें प्रत्यक्ष लोकतंत्र के तत्व भी हैं।

स्विट्जरलैण्ड एक विशेष प्रकार का परिसंघ भी है। यह अपने आपको 'परिसंघ' कहता है, जो कभी 1777 और 1789 के बीच परिसंघीय संविधान बनने के समय संयुक्त राज्य अमेरिका की पदवी होती थी। स्विस लोग अपने आपको एक बहु-धर्मीय और बहु-भाषायी राष्ट्र मानते हैं। तीन प्रमुख भाषाओं – जर्मन, फ्रांसीसी और इतालवी – और दो प्रमुख धार्मिक पंथो – कैथोलिक और प्रोटेस्टैंट – के आधार पर स्विस जनता 22 प्रदेशों और छह अर्धप्रदेशों में बँटी हुई है जो अपने आपमें एकरूपीय हैं। स्विस प्रदेशों को संयुक्त राज्य अमेरिका के राज्यों की अपेक्षा अधिक स्वायत्तता प्राप्त है। स्विट्जरलैण्ड बहुसांस्कृतिक राष्ट्रत्व की दिशा में पहला प्रयोग है और कनाडा से अधिक व्यापक है। यहाँ यह बात ध्यान देने योग्य है कि जब मजदूरों और किसानों का पहला राज्य – सोवियत समाजवादी गणराज्य संघ – बना तो उसने स्विट्जरलैण्ड के नमूने को ही अपनाया और अपने आपको एक बहु-राष्ट्रीय राज्य कहा। द्वितीय विश्व युद्ध के बाद जर्मनी ने चांसलर व्यवस्था वाली सरकार को अपनाया, जिसमें चांसलर का पद एक प्रधानमंत्री के बराबर होता है और उसकी नियुक्ति संघीय विधायिका के पहले सदन बुंदेस्टाग की सहमति से संघीय राष्ट्रपति करता है। यदि बुंदेस्टाग राष्ट्रपति की सिफारिश से सहमत नहीं होता तो उसे चांसलर का चुनाव करना होता है। बुंदेस्टाग एक वैकल्पिक चांसलर का चुनाव करने से पहले चांसलर के विरुद्ध अविश्वास प्रस्ताव भी नहीं ला सकता।

पिछली शताब्दी के सातवें (1960 के दशक के बाद से एक नए किस्म का संविधान उभर कर आया है जिसमें राज्याध्यक्ष सरकार से ऊपर होता है और एक प्रकार से संविधान का अंतिम संरक्षक होता है। इस प्रकार का संविधान सबसे पहले फ्रांस में अस्तित्व में आया जब चार्ल्स दि गॉल ने पंचम गणतंत्र का गठन किया। बाद में श्रीलंका (सीलोन) ने इसे अपनाया। अन्य जगहों पर कुछ फौजी तानाशाहों ने भी इसी प्रकार के संवैधानिक स्वरूप को खड़ा करने का प्रयास किया है।

15.4.4 संविधान निर्माण का विकासात्मक नमूना

अलिखित तथा लचीले संविधान और लिखित तथा कठोर संविधान ने अंतर को उनका पालन करने वाले देशों के इतिहास में देखा जा सकता है। ब्रिटिश संविधान तो राजनीतिक विकास के लगभग सतत मार्ग की देन है। ब्रिटेन के इतिहास में केवल एक बार ऐसा मौका आया है जब राजतंत्र को आक्रामक ढंग से उखाड़ फेंका गया था – 1648 के गृह युद्ध में। क्रान्ति के नेता ऑलिवर क्रॉमवेल ने तब श्लॉर्ड प्रोटेक्टर की भूमिका संभाल ली थी और 1649 में एक राजप्रपत्र (इंस्ट्रुमेंट ऑफ गवर्नमेंट) जारी किया जो कुछ वर्षों तक एक अस्थायी संविधान के रूप में प्रभावी रहा। ऑलिवर क्रॉमवेल के निधन के बाद रिचर्ड क्रॉमवेल लॉर्ड प्रोटेक्टर बन गया और तब ब्रिटिश जनता को यह महसूस हुआ कि उन्हें तो बस आनुवंशिक तानाशाही मिली है। उन्होंने इसे उखाड़ फेंका और राजतंत्र को वापस ले आएँ। किन्तु नए सम्राट चार्ल्स द्वितीय का विधायिका का सम्मान करने का कोई इरादा नहीं था। यही हाल उसके बेटे जेम्स द्वितीय का रहा। इस तरह – 688 में गौरवमयी क्रान्ति हुई और सम्राट को हटा दिया गया। किन्तु, राजतंत्र का अंत नहीं हुआ। नए सम्राट विलियम ऑल ऑरेंज ने 1689 का अधिकार घोषणापत्र जारी कर दिया जो ब्रिटेन में संवैधानिक राजतंत्र का आधार है। उसके बाद के वर्षों में दो प्रमुख घटनाएँ हुईं। एक थी मंत्रिपरिषद् और उसकी कैबिनेट समिति के राजनीतिक नेतृत्व की स्थापना और दूसरी थी मताधिकार का क्रमशः विस्तार। 1928 में ब्रिटेन में सर्वजनीन वयस्क मताधिकार की स्थापना हो गई।

यह एक विरोधाभास रहा कि ब्रिटेन में कैबिनेट के नेतृत्व का विकास और समापन नकारात्मक अर्थात् मंत्रीय जिम्मेदारी के रूप में हुआ। तकनीकी रूप में इसका यह अर्थ होता है कि मंत्रि परिषद् सामूहिक रूप में उस विधायिका के प्रति उत्तरदायी है जिसे सम्राट ने सरकार के सभी अधिकार दे रखे हैं। इसका अत्यधिक व्यावहारिक महाच है क्योंकि सरकार (शासन) के सभी अधिकारों का प्रयोग मंत्रि परिषद् की सलाह पर सम्राट ही करता है। इसी से यह मुहावरा चल पड़ा है कि राजा कोई गलती नहीं कर सकता। मंत्रि परिषद् का जहाँ तक सम्बन्ध है तो वह विधायिका का विश्वास होने का दावा करती है। यह सच है कि विधायिका निंदा प्रस्ताव लाकर मंत्रि परिषद् को हटा सकती है। किन्तु, जब तक मंत्रि परिषद् पदारूढ रहती है, वही विधायिका की नेता और प्रवक्ता होती है। इसकी सलाह को कोई भी सम्राट टुकरा नहीं सकता।

सम्राट हमेशा मंत्रिपरिषद् की सलाह मानता है, और मंत्रि परिषद् विधायिका के प्रति उत्तरदायी होती है— ये दो तथ्य ब्रिटेन के संवैधानिक सरकार के दो पैर हैं जिन पर

वह खड़ी होती है। किन्तु ये तथ्य अपने आप ब्रिटेन को एक लोकतंत्र नहीं बना देते। ब्रिटेन का लोकतंत्र अंततोगत्वा जनता के मतदान के अधिकार पर आधारित है। लोकतंत्र की इसी आवश्यकता ने ब्रिटिश संसद के एक आनुवंशिक और नामित सदन अर्थात् हाऊस ऑफ लार्ड्स को वस्तुतः शक्तिहीन बना दिया है।

यहाँ ध्यान देने योग्य बात यह है कि ब्रिटिश संविधानवाद ने एक लोकतंत्र के रूप में विकसित और परिपक्व होने में 1215 में 1929 तक लगभग सात सौ वर्षों का समय लिया। यह एक सतत प्रक्रिया थी – उसमें 1648 और 1659 के बीच एकमात्र अस्थायी व्यवधान आया। इस तरह, ब्रिटेन को एक पूर्ण और औपचारिक संविधान बनाने का कभी मौका ही नहीं

मिला। इसलिए, ब्रिटिश संविधान को अलिखित कहा जाता है। किन्तु ब्रिटेन के संविधान में कई लिखित तत्व भी हैं। कई संसदीय अधिनियमों के माध्यम से संशोधित अथवा समीक्षित किया जा सकता है, फिर भी उन्हें पावन माना जाता है। निस्संदेह, ब्रिटेन की मेधा संवैधानिक परिपाटियों के विकास में ही निहित है। कैबिनेट प्रणाली लगभग पूरी की पूरी परिपाटी पर आधारित है।

15.4.5 संविधान निर्माण का क्रान्तिकारी नमना

दूसरे उदारवादी लोकतंत्रों में संवैधानिक शासन ने क्रान्ति का मार्ग अपनाया है। आमतौर पर एक उदारवादी, अधिनायकवाद – विरोधी क्रान्ति के बाद जनता कोरे कागज से शुरुआत करना चाहती है, एक ही प्रयास में अपने राजनीतिक ढाँचे का पुनर्निर्माण करना चाहती है, और इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए एक असेम्बली या कन्वेंशन में इकट्ठी बैठना चाहती है।

विश्व की ऐसी पहली सभा 1787 की फिलाडेल्फिया की संवैधानिक कन्वेंशन थी जिसमें संयुक्त राज्य अमेरिका के संविधान का निर्माण किया गया। 1776 में आजाद होने वाले और 1777 में परिसंघ का गठन करने वाले 13 उत्तरी अमरीकी राज्यों के 52 प्रतिनिधियों ने मूल रूप में परिसंघ की शर्तों पर पुनर्विचार करने के लिए बैठक की थी। किन्तु, अंत में उन्होंने सात नियम बनाए जिन्हें बाद में संयुक्त राज्य अमेरिका का संघीय संविधान कहा गया। जब सभी 13 राज्यों ने इसका अनुमोदन कर दिया, तभी इसे लागू किया गया। बाद में इसमें 26 संशोधन किए गए और कन्वेंशनों और न्यायिक निर्णयों से उसे समृद्ध किया गया।

दूसरी ऐसी सभा 1789 की फ्रांसीसी स्टेट जनरल थी जिसकी पहली बैठक शाही सम्मन से तीन शसत्ता वर्गों – पादरी वर्ग, सामंत वर्ग और जनसाधारण – में हुई। ये तीनों वर्ग क्योंकि आपस में मिल नहीं पाए, इसलिए तीसरे वर्ग ने पादरी वर्ग के एक बड़े तबके की भागीदारी से स्वयं को राष्ट्रीय असेम्बली का रूप दे दिया और यह घोषणा कर दी कि फ्रांस में संप्रभुता राष्ट्र में निहित होगी। 12 अगस्त 1789 के श्जनाधिकार घोषणापत्र में यह ऐलान किया गया कि श्जमान रूप में जन्मे सभी मनुष्यों को समान अधिकार प्राप्त होने चाहिए। इसने और आगे जाते हुए एक संविधान का प्रारूप तैयार किया जिसमें संवैधानिक राजतंत्र का सिद्धान्त तो रखा ही गया अधिकारों के विभाजन के अमेरिकी नमूने को भी जगह दी गई। राष्ट्रीय असेम्बली में यह प्रावधान रखा कि संविधान को 10 वर्षों तक बदला नहीं जा सकेगा। तत्कालीन सम्राट लुई छठवें ने इस संविधान को स्वीकार तो कर लिया पर उसके अनुसार चला नहीं। ऑस्ट्रिया के साथ हुए युद्ध ने स्थिति को और भी जटिल कर दिया और संविधान राष्ट्रीय सभा के नेतृत्व का स्थान राजतंत्र का उन्मूलन करने वाले कन्वेंशन ने ले लिया। फ्रांस में उथल-पुथल मचाई और उसके परिणामस्वरूप नेपोलियन बोनापार्ट की तानाशाही का उदय हुआ।

विशुद्ध राजनीतिक रंग की अमेरिकी क्रान्ति के विपरीत फ्रांसीसी क्रान्ति केवल राजनीतिक ही नहीं सामाजिक-आर्थिक भी थी। किन्तु इसमें ऐसे नेतृत्व का अभाव था जो उस प्राचीन शासन का स्थानापन्न दे सके जिसे उसने उखाड़ फेंका था। इसलिए, यह क्रान्ति विफल हो गई। किन्तु एक संविधान का निर्माण तो हो ही चुका था। फिलाडेल्फिया संवैधानिक कन्वेंशन और फ्रांसीसी राष्ट्रीय असेम्बली दोनों ने ही उन संदर्भों शर्तों के आगे जाकर इसे पूरा किया था जिनके आधार पर उनका गठन किया गया था। दोनों ही क्रान्तिकारी प्रकृति के थे। यह 1848 के फ्रैंकफुर्ट संसद में नहीं हुआ जिसे सम्राट ने बुलाया था और एक संवैधानिक राजतंत्र के लिए एक संविधान का निर्माण किया था। सम्राट ने संविधान को स्वीकार नहीं किया और फ्रैंकफुर्ट असेम्बली को पराजय स्वीकार करनी पड़ी।

15.5 संविधानवाद और राज्य निर्माण

15.5.1 एक ढाँचे के रूप में संविधान

इस तरह, ऐतिहासिक संदर्भ में किसी देश का संविधान राज्य निर्माण की रूपरेखाओं का ही व्याख्या करता है। संरचना की दृष्टि से, यह वह ढाँचा है जिसके अंदर राज्य और समूची राजनीतिक व्यवस्था संप्रभु सत्ता की शक्ति की सीमाओं और जनता के अधिकारों का निर्धारण करके कार्य करती हैं। यदि इसे वर्णनात्मक अर्थ में न लेकर मानकीय अर्थ में लिया जाए तो, संविधान के गठन से एक साथ दो मूलभूत उद्देश्यों की प्राप्ति होती है— (1) यह राज्य और नागरिक समाज को अलग करता है। (2) यह राज्य की सत्ता को एक शासक की सनक से मुक्त करता है।

15.5.2 राज्य और नागरिक समाज

जब राज्य नागरिक समाज के मामलों पर नियंत्रण रखता है तो वह व्यवस्था सर्वाधिकारी होती है। आदिम समाजों में राजनीतिक नियंत्रण और सामाजिक अधिकरण में कोई भेद नहीं होता। पारंपरिक समाजों में भी आनुवंशिक शासक अक्सर पुरोहित नेतृत्व और सामंती। अधीनस्थों के साथ साँठ-गांठ करके सामाजिक मामलों पर अपना नियंत्रण रखता है। कार्ल मार्क्स के अनुसार अठारहवीं शताब्दी से पहले ऐसा नहीं हुआ कि यूरोप के नागरिक समाज ने वास्तव में स्वायत्तता प्राप्त

की। वह विकासशील पूँजीवाद और राजनीतिक उदारवाद का युग था। दूसरी ओर, दो विश्व युद्धों के बीच पूँजीवाद के संकट ने यूरोप में सर्वाधिकारवादी साम्यवाद और फासीवाद को जन्म दिया।

राज्य और नागरिक समाज के सम्बन्ध से जुड़ी एक और समस्या नागरिक समाज से राज्य की स्वायत्तता है। सांप्रदायिक और जातीय अतिवाद से संचालित राज्यों में कर्मकभी राज्य क्षेत्रवादी हितों का पिछलग्गू हो जाता है। राज्य की सत्ता की तटस्थता उसकी स्थिरता की एक आवश्यक शर्त है। पूरे मध्य युग में, यूरोप में यह स्थिति रही कि धार्मिक नेता राजनीतिक वर्चस्व के लिए धर्मनिरपेक्ष नेताओं से होड़ करते रहे। सुधारवादी दौर के बाद, यूरोप के राज्य खुनी धार्मिक टकरावों में उलझ गए। इस प्रकार के क्षेत्रवादी टकरावों से राज्य की सत्ता को अलग करने के लिए ही धर्म निरपेक्षता के सिद्धान्त का उदय हुआ। 1791 में अमेरिकी संविधान के सबसे पहले संशोधन में यह व्यवस्था की गई कि कांग्रेस धार्मिक मामलों में हस्तक्षेप नहीं करेगी।

किन्तु, समाज में धर्म ही एकमात्र विघटनकारी शक्ति नहीं है। नस्ल और भाषा झगड़े के दो अन्य प्रमुख कारण हैं। अमेरिका ने भयंकर नस्लीय झगड़े देखे हैं। 1868 से कई संवैधानिक संशोधनों के जरिये इस बुराई को कम करने के प्रयास किए गए हैं और सामान्य विधायी और अधिशासी उपाय भी किए गए हैं। भारत में भी धर्म और भाषा के कारण काफी झगड़े हुए हैं। भारत के संविधान में धर्मनिरपेक्षता को एक दिग्दर्शक शक्ति के रूप में अपनाया गया है। संविधान के सत्रहवें भाग में हिन्दी और अंग्रेजी को संघ की राजभाषा के रूप में घोषित किया गया है। राज्यों को अपने आंतरिक प्रयोग के लिए अपनी भाषा को अपनाने की स्वतंत्रता है। संसद सदस्य आठवीं अनुसूची में उल्लिखित भारतीय भाषाओं में से किसी भी भाषा में बोल सकते हैं। धार्मिक और भाषायी अल्पसंख्यकों को अपनी अलग शैक्षिक संस्थाएं खोलने की छूट है। प्रत्येक नागरिक को धर्म की स्वतंत्रता दी गई है।

15.5.3. कानून का शासन

कानून के शासन की अवधारणा का विकास सबसे पहले ब्रिटेन यूनाइटेड किंगडम में मनमानी अधिशासी सत्ता से लड़ने के लिए किया गया था। इसमें सामान्य कानून के अंतर्गत आने वाली प्रथाएँ और परम्पराएँ, विधान और न्यायिक निर्णय शामिल थे। संविधानवाद वास्तव में कानून के शासन का एक उप-समूह है। इसकी विशिष्टता है संवैधानिक कानून को देश के सर्वोच्च कानून के रूप में मान्यता देना।

कानून के शासन के पालन के लिए एक स्वाधीन न्यायपालिका की आवश्यकता होती है जिसके सदस्यों को कानून का ज्ञान और ईमानदार होना चाहिए। कानून को लागू करने की प्रक्रिया में न्यायाधीश उसकी व्याख्या और इसके क्षेत्र का विस्तार न्यायाधीशनिर्मित कानूनों के रूप में करते हैं। न्यायिक समीक्षा, अर्थात् संविधान के साथ टकराव के आधार पर एक सामान्य कानून को अवैध करार देने का अधिकार कानून को व्याख्याचित और लागू करने के न्यायपालिका के अधिकार की ही एक प्रशाखा है। मनमानी अधिशासी कार्यवाई के विरुद्ध नागरिकों के अधिकार सुनिश्चित करने के लिए न्यायपालिका बंदी उपस्थापक नियम और परमाधिदेश जैसी अनेक याचिकाओं को लागू करती है।

15.5.4 सेना और नौकरशाही

एक गैर-राजनीतिक सेना और एक गैर-दलीय नौकरशाही संविधानवाद की सर्वोच्च आवश्यकताओं में आते हैं। सशस्त्र बलों और नौकरतंत्र के सदस्यों को देश के प्रधान अधिशासी की नाम मात्र की सत्ता के अधीन रखा जाता है। उन्हें विभिन्न प्रकार की लोक परीक्षा व्यवस्थाओं के माध्यम से नियुक्त किया जाता है। उनसे अपेक्षा की जाती है कि वे कानून के दायरे में सरकार के आदेशों का पालन करेंगे। व्यापक तौर पर, सेना देश की प्रतिरक्षा का काम संभालती है और नौकरशाही राज्य की नीतियों को लागू करती है। नौकरशाही राज्य और जनता के बीच मुख्य कड़ी होती है, और राज्य की विकास सम्बन्धी गतिविधियों के प्रमुख कड़ी होती है, और राज्य की विकास सम्बन्धी गतिविधियों की प्रमुख एजेंट भी। नौकरशाही और सेना उस राजनीतिक कार्यपालिका के प्रति जबाबदेह होती हैं, जो लोकतंत्र में जनता का प्रतिनिधित्व करती है।

15.6 अधिकारों का संविधान

15.6.1 उद्भव

अंग्रेजी के शब्द राइट का मौलिक अर्थ उचित सही है। आज राइट का जो अर्थ अधिकार प्रचलित है उसका उद्गम नेचर (प्रकृति) के साथ उसके सम्बन्ध से हुआ है। यहाँ यह ध्यान देना जरूरी है कि संवैधानिक सरकार के सिद्धान्त का जनक जॉन लॉक प्राकृतिक अधिकार के सिद्धान्त का भी जनक था। इससे उसका अभिप्रायः अस्तित्व की कतिपय स्थितियों के प्रति जनता के प्राकृतिक दावे अधिकार से था। उसने जीवन के अधिकार और सम्पत्ति के अधिकार का उल्लेख करते हुए सम्पत्ति को एक व्यापक अर्थ में परिभाषित किया था, जिसमें स्वतंत्रता भी शामिल थी।

इससे सरकार की सत्ता और जनता के अधिकारों के बीच एक अंतर्विरोध की स्थिति बन गई थी। जनता के अधिकारों को तब तक सुरक्षित माना जाता था जब तक कि सरकार की सत्ता सीमित थी। इस सैद्धान्तिक स्थिति के कारण सरकार की पिछली तमाम धारणाओं में एक आमूल अवरोध पैदा हो गया। प्राचीन यूनानी न्याय की बात करते थे। यह सरकार की जिम्मेदारी होती थी कि वह अपनी जनता के प्रति न्याय करे। इस तरह, न्याय की व्याख्या करना यूनान के राजनीतिक सिद्धान्त का केन्द्रीय सरोकार था। वंशवादी राजतंत्रों के जमाने में यह दृष्टिकोण बना रहा किन्तु सरकार से आने वाली हर चीज को एक शाही मेहरबानी समझा जाता था। लॉक ने इस नजरिये को बिल्कुल बदल दिया।

यह सच है कि प्रत्येक विचार की अपनी ऐतिहासिक जड़ें होती हैं। 1215 में ही ब्रिटिश कुलीन वर्ग ने सम्राट को एक दस्तावेज पर हस्ताक्षर करने के लिए बाध्य कर दिया था, जिसे बाद में मैग्ना कार्टी के नाम से जाना गया। इसमें उनकी यह माँग थी कि बिना मुकदमे के किसी भी नागरिक को हिरासत में नहीं लिया जाएगा और किसी संसद की सहमति के बिना कोई कर नहीं लिया जाएगा। सम्राट ने अपने वचन का पालन नहीं किया। 1628 में संसद ने सम्राट को एक अधिकार याचिका प्रस्तुत की जिसे तुरन्त ही स्वीकार नहीं किया गया। 1648 में गृह युद्ध हुआ और इसके फलस्वरूप चार्ल्स प्रथम का सिर कलम कर दिया गया। 1688 की गौरवमयी क्रान्ति में कोई खून-खराबा नहीं हुआ। किन्तु इसके परिणामस्वरूप 1689 में अधिकारों की घोषणा सामने आई। लॉक का सिद्धान्त इसी क्रान्ति पर आधारित था।

किन्तु अधिकारों की घोषणा प्राकृतिक अधिकारों की अवधारणा की जीत नहीं थी। यह सम्राट की ओर से आई थी। किन्तु, यह घोषणा जारी करते समय सम्राट ने अपने लिए कुछ सीमाएँ भी निश्चित कर दी। इस प्रकार, एक सीमित अथवा संवैधानिक राजतंत्र के विचार का जन्म हुआ।

अमेरिका में स्वाधीनता की घोषणा में ही सबसे पहले प्राकृतिक अधिकारों के सिद्धान्तों पर जोर दिया गया। इसमें प्रकृति के ईश्वर और प्रकृति के नियमों के जरिये अलग और समान प्रस्थिति के जनता के अधिकार की बात कही गई। इसमें कहा गया:

हम इन सत्यों को स्वतः प्रमाणित मानते हैं कि सभी मनुष्यों को समान बनाया गया है, कि उन्हें उनके सृजनहार ने कुछ अभिन्न अधिकार दिए हैं, कि इन अधिकारों में जीवन, स्वतंत्रता और सुख की प्राप्ति है। कि इन अधिकारों की प्राप्ति के लिए मनुष्यों के बीच सरकारों को संस्थापित किया गया है, उनके न्यायसंगत अधिकारों को शासितों की सहमति से पाया गया है कि जब भी किसी प्रकार की सरकार इन उद्देश्यों की विनाशक हो जाती है, तो जनता का यह अधिकार बनता है कि वह इसे बदल दे या समाप्त कर दें, और एक नई सरकार का गठन करे, और इसकी नींव ऐसे सिद्धान्तों पर रखें और इसके अधिकारों का गठन इस रूप में करे जो उन्हें उनकी सुरक्षा और सुख को सर्वाधिक प्रभावित करने वाले दिखाई दें।

अधिकारों की घोषणा में एक प्राकृतिक सामूहिक अधिकार पर जोर था – एक दमनकारी शासक के विरुद्ध एक शासित जनता के अधिकार पर। 1787 में जिस अमेरिकी संविधान का प्रारूप तैयार किया गया और जिसे 1789 में लागू किया गया, उसमें अधिकारों का कोई विधेयक नहीं था। किन्तु वहाँ उस सशक्त संघीय सरकार को लेकर व्यापक संदेह था जिसका गठन संविधान के जरिये हुआ था। इसलिए संविधान का प्रारूप बनाने वाले फिलाडेल्फिया संवैधानिक कन्वेंशन के नेताओं ने संविधान के लागू होने के तुरंत बाद जनता को यह विश्वास दिलाया कि उनके मूलभूत अधिकारों को संविधान में शामिल कर लिया गया है। 1791 में अमेरिकी संविधान में पहले दस संशोधन हुए जिनमें उन अधिकारों को शामिल किया गया।

15.6.2 अधिकारों का स्वरूप

पहले दस संशोधनों में जिन अधिकारों को सुनिश्चित किया गया वे इस अर्थ में प्राकृतिक अधिकार थे कि उनका प्रारूप एक नकारात्मक रूप में तैयार किया गया था। उनमें राज्य को उन अधिकारों का सम्मान करने के लिए बांध दिया गया था। किन्तु, वे व्यक्तिगत अधिकार थे, सामूहिक नहीं। बाद में, 1803 के मार्बरी बनाम मैडिसन मामले के फैसले में जब अमेरिकी संघीय सर्वोच्च न्यायालय ने न्यायिक समीक्षा का अधिकार ले लिया तो उसने अमेरिकी जनता के मूलभूत अधिकारों के संरक्षक की भूमिका भी संभाल ली।

इस तरह, उदारवादी लोकतांत्रिक सिद्धान्त में जनता के अधिकारों और राज्य की सत्ता के बीच अंतर्विरोध माना जाता है। इसे पहली बार 1936 के पूर्व सोवियत संघ के संविधान में दूर किया गया, जिसमें अधिकारों का गठन एक सकारात्मक भाषा में किया गया, जिसके अनुसार यह राज्य की जिम्मेदारी थी कि वह उन अधिकारों की व्यवस्था करे। इसलिए, नागरिकों के मूलभूत अधिकारों की संवैधानिक गारंटी आवश्यक हो जाती है।

पश्चिमी देशों के उदारवादी लोकतांत्रिक संविधानों में राजनीतिक अधिकारों पर अधिक जोर दिया गया है क्योंकि इनका सम्बन्ध राज्य की सत्ता से है। उदारवादी लोकतंत्र का आर्थिक दर्शन अहस्तक्षेप की नीति का रहा है, जिसका यह आशय

है कि यदि जनता को अकेला छोड़ दिया जाए तो वह अपने हितों की स्वयं रक्षा कर सकती है। राज्य को चाहिए कि वह अपने आपको कानून और व्यवस्था बनाए रखने तक सीमित रखें और नागरिकों के साथ कोई भेदभाव न करे। 1936 के सोवियत संघ के संविधान में सर्वाधिक जोर आर्थिक अधिकारों पर दिया गया, विशेषकर एक सुनिश्चित रोजगार के अधिकार पर। इसके पीछे यह विश्वास था कि रहन-सहन की अच्छी स्थितियों के अभाव में राजनीतिक अधिकारों का कोई अर्थ नहीं है। किन्तु, यह व्यवस्था 1990 में ध्वस्त हो गई।

जब भारत का संविधान तैयार हो रहा था तो उस बीच भारत की संविधान सभा ने कुछ सकारात्मक मूलभूत अधिकारों को सुनिश्चित करने की संभावना और वांछनीयता पर काफी बहस की। किन्तु, उदारवादी लोकतांत्रिक ढाँचे के अंदर उसे उपादेय नहीं माना गया। इसलिए, आयरिश संविधान के अनुसार, भारतीय नागरिकों की सामाजिक-आर्थिक स्थिति को सुधारने के उद्देश्य से राज्य नीति के कुछ निदेशक सिद्धान्त उसमें डाल दिए गए।

सकारात्मक अधिकारों की व्यवस्था का प्रमुख दोष इसका मूलतः ऐच्छिक स्वरूप है। यदि राज्य उन्हें लागू नहीं कर पाता है तो उसे किसी भी प्रकार से उसके लिए कठघरे में खड़ा नहीं किया जा सकता है। किसी भी सकारात्मक अधिकार के लिए कोई न्यायिक गारंटी नहीं दी जा सकती क्योंकि दोषी राज्य आसानी से अपनी असमर्थता व्यक्त कर सकता है। एक राज्य के कामों के बारे में केवल राजनीतिक निर्णय ही हो सकता है। दूसरी ओर, जब किसी नकारात्मक अधिकार का उल्लंघन होता है तो यह कहा जाता कि राज्य ने अपनी सीमा पार कर दी है। अदालत यदि राज्य के किसी कानून या आदेश को नियम विरुद्ध मानती है तो वह उसे लागू करने से मना कर देगी और लोग उस कानून या आदेश का उल्लंघन करने को आजाद हो जाएंगे।

15.7 सारांश

इस इकाई में आपने यह पढ़ा कि श्राष्ट्र और श्राज्य की अवधारणाओं का इतिहास में समांतर विकास हुआ है, किन्तु दोनों का विस्तार आवश्यक रूप में साथ-साथ नहीं हुआ है। जहाँ राज्य एक प्रादेशिक अवधारणा है, वहीं राष्ट्र एक मानवीय अवधारणा है। राज्य की पहचान अक्सर राष्ट्र की अवधारणा से होती है। साथ ही, ये दोनों अवधारणाएँ परस्पर संबंधित हैं। राष्ट्र निर्माण में जनता का आर्थिक विकास और मनोवैज्ञानिक एकीकरण दोनों ही आ जाते हैं। राज्य निर्माण में अधिकरण का निर्धारण और प्रादेशिक विस्तार और सत्ता के साथ अनुरूपता की आवश्यकता होती है। इस संदर्भ में, संविधानवाद महत्वपूर्ण है। विभिन्न देशों के संविधानों में राज्य निर्माण की निर्धारक विशेषताओं की व्याख्या की गई है। नागरिक समाज, कानून का शासन, सेना और नौकरतंत्र राज्य निर्माण में जबाबदेह संस्थाओं की भूमिका निभाते हैं। अधिकार भी राज्य निर्माण का अभिन्न अंग होते हैं। बल्कि, जनता के अधिकारों का संरक्षण और हितों की प्रोन्नति राज्य निर्माण के मूल तत्व हैं।

15.8 बोध प्रश्न

1. आप राज्य निर्माण और राष्ट्र निर्माण की अवधारणाओं में कैसे अंतर करेंगे? इन दोनों के अवयवों का विवेचन कीजिए।
2. संविधानवाद का अर्थ बताइए। क्या संवैधानिक शासन और लोकतंत्र की अवधारणाओं में कोई अंतर्विरोध है?
3. प्रमुख पश्चिमी लोकतंत्रों के संविधानों के नमूनों का विवेचन कीजिए।
4. संविधानवाद के विकास के उदविकासात्मक और क्रान्तिकारी नमूनों की विवेचना कीजिए। उनके अंतरों के संरचनागत निहितार्थ क्या हैं?
5. आज राज्य निर्माण के क्षेत्र में संविधानवाद की क्या प्रासंगिकता है?
6. संविधानवाद में अधिकारों की क्या प्रासंगिकता है? संवैधानिक व्यवस्थाएँ अधिकारों की रक्षा किस प्रकार करती हैं?

इकाई 16

संजातीयता राजनीति तथा राज्य

संरचना

- 16.1 प्रस्तावना
- 16.2 संजातीयता अर्थ
 - 16.2.1 संजातीय समूह की विशेषताएँ
 - 16.2.2 संजातीयता
- 16.3 संजातीयता तथा राज्य
- 16.4 आत्मसात्करण तथा एकीकरण
- 16.5 बहुलवाद
 - 16.5.1. बहु सांस्कृतिकवाद
- 16.6 शक्ति का बँटवारा
 - 16.6.1 संघवाद (संघ राज्य पद्धति)
 - 16.6.2 सहयोगवाद
- 16.7 सारांश
- 16.8 बोध प्रश्न

16.1 प्रस्तावना

आज लगभग सभी राज्यों में भिन्नता और असमानता दिखाई पड़ती है— कई व्यक्तिगत भिन्नता के साथ समाज में संजातीयता, संस्कृति तथा धर्मों में भी असमानता दिखाई पड़ती है। बड़ी संख्या में इन राज्यों में विभिन्न प्रकार की समस्या रहती है, जैसे संजातीय संघर्ष, जातीय—धार्मिक पहचान को प्रबल करना, पहचान बनाने के लिए आंदोलन, आत्म निर्णय का अधिकार आदि। शांति और युद्ध की संभावना, राष्ट्रीय एकता को कायम रखने, तथा विश्व के कई भागों में मौलिक मानवाधिकार की रक्षा आदि इस बात पर निर्भर करता है कि राज्य किस प्रकार से प्रजातीय तनावों से निबट रहा है और वर्तमान विश्व का महत्वपूर्ण राजनीतिक यह मुद्दा भी है। हालाँकि प्रत्येक राज्य अपनी सांस्कृतिक विभिन्नता के साथ अलग प्रकार से इन मुद्दों से निबटता है फिर भी कुछ सामान्य तरीकों को सभी राज्य अपनाते हैं या जिसका सुझाव विशेषज्ञ देते हैं। तुलनात्मक राजनीति के विद्यार्थियों को प्रजातीय समूहों से जूझने के लिए राज्य की प्रतिक्रिया और विचारधारा को समझना आवश्यक होगा जिससे कि नीतियों के सुझाव में सामान्य तथ्यों और विशिष्ट परिस्थितियों का विश्लेषण हो सके।

16.2 संजातीयता अर्थ

वंश, संजातीयता तथा सांस्कृतिक पहचान कुछ जटिल अवधारणाएँ हैं जिसका आधार ऐतिहासिक, सामाजिक तथा प्रासंगिक है। जेम्स के अनुसार, ये सामाजिक संबंध बहुत गतिशील होते हैं समय के साथ इनका अर्थ भी बदलता रहता है। एपल इसे स्थान 'विन्डक कहते हैं जो जटिल राजनीतिक और सामाजिक क्षेत्रों में कार्य करते हैं।

ऐतिहासिक रूप से एथनिक शब्द ग्रीक के एथनोस (एथनिकोस) से लिया गया है, जिसका अर्थ होता है गैर—ईसाई राष्ट्र या वे लोग जिनका ईसाई या यहूदी धर्म में परिवर्तन नहीं हुआ है। इस शब्द का प्रयोग, व्यक्तियों के उन बड़े समूह के संदर्भ में भी किया जाता है जिनमें सामान्य विशेषता या रीति—रिवाज पाई जाती है तथा जो विदेशज आदिम समूह के हो। मानवशास्त्रीय साहित्यों में संजातीय समूह जैसे शब्द उस जनसंख्या के लिए निर्मित हैं, जो कि (1) जैविक रूप से स्थायी है, (2) मूलभूत सांस्कृतिक मूल्यों को आपस में बाँटता है, जिसका अनुभव सांस्कृतिक एकता में दिखाई पड़ता है। (3) संचार तथा अंतर्क्रिया का क्षेत्र बनाता है (4) जिसके पास सदस्यता रहती है जिससे वह स्वयं की पहचान करता है और दूसरे से भी करवाता है तथा जो दूसरी श्रेणिय भिन्न है। संजातीय समूह से समाजशास्त्रियों का सामान्यतः अर्थ है, तुलनात्मक रूप से ऐसी स्थायी सामाजिक — सांस्कृतिक इकाई जो अनिर्दिष्ट कार्यों को करता है और जो भाषा, क्षेत्र या बन्धुता से जुड़ा रहता है। इसी दृष्टिकोण से संजातीय समुदाय एक अत्यधिक पुरातन संगठित वास्तविकता है। सामाजिक विज्ञान के अंतर्राष्ट्रीय एनसाइक्लोपीडिया ने इसे इस प्रकार परिभाषित किया है — संजातीय समूह जनसंख्या का एक

पृथक अंग है जिसकी संस्कृति भिन्न होती है। ऐसे समूह के सदस्य, स्वयं के अनुभव के आधार पर या माना जाता है कि वे वंश, जाति, राष्ट्रीयता या संस्कृति के सामान्य बंधन से जुड़े रहते हैं।

आधुनिक राजनीतिक प्रयोग में संजातीय शब्द सामान्यतरु सामाजिक एकता का स्पष्ट उल्लेख है जो एक पृथक और सामान्य भाषा पर आधारित है तथा ऐतिहासिक रूप से विशेष क्षेत्र, व्यवसाय, जीवन-शैली, सांस्कृतिक-सामाजिक परंपरा और लोक-साहित्य से जुड़े रहते हैं। इस शब्दावली का प्रयोग सामाजिक वर्ग के संजातीय या राष्ट्रीय अल्पसंख्यक समूह तथा समाज में भिन्न सांस्कृतिक और सामाजिक समूह को दिखाने के लिए भी किया जाता है। किस आधार पर अधिक बल दिया जाए, इस पर मतभेद है। कुछ संजातीय लोग समूह के रूप में वंश की पहचान हैं तथा कुछ लोगों वंश का अधिक छोटा उपभाग मानते हैं, आदि।

कुछ और अन्य लोगों के अनुसार संजातीय समूह में आदिकालीन (प्रारंभिक) सम्बद्धता और जुड़ाव पाया जाता है। उनके लिए यह वह पहचान है जिसके साथ मनुष्य का जन्म होता है या जन्म के समय प्राप्त करता है। किन्तु कुछ लोगों के लिए, उदाहरणतः पॉल ब्रॉस के अनुसार, हालाँकि संजातीय समूह केन्द्रीय रूप से सांस्कृतिक तथ्यों, मूल्यों से जुड़ा है, उनकी स्वयं की परिभाषा न सिर्फ प्राप्त पहचान के आधार पर होती है बल्कि सामाजिक राजनीतिक निर्माण द्वारा भी है।

संजातीय वर्ग उसे कहा जाता है जिसमें अन्य लोगों से भिन्न, व्यक्तियों का एक समूह होता है जिसमें सांस्कृतिक आधार है और जिसकी श्रम सदस्यता एवं उत्पादन का पूर्ण विभाजन रहता है। यह विशिष्ट सांस्कृतिक चिह्न उनकी भिन्न भाषा या बोली, वेश-भूषा, खान-पान परंपरा या धर्म में दिखाई देती है।

कुछ विद्वानों के दृष्टिकोण में संजातीय समूह की विशेषताएँ अलगाववाद या प्रवसन (स्थानांतरण) में दिखाई पड़ती हैं। टी. के. उमेन के विचार में संजातीय समूह में ऐसे लोगों का समूह है जो एक सामान्य इतिहास, परंपरा, भाषा तथा जीवन शैली को आपस में बाँटते हैं किन्तु वे अपनी जन्मभूमि से उखड़ गए हैं या उससे जुड़े नहीं हैं। अमेरिका के कुछ विद्वानों ने इस शब्दावली का प्रयोग आप्रवासी समूह के लिए किया है जिसकी पहचान, भाषा तथा राष्ट्रीय मूल में सांस्कृतिक भिन्नता है तथा जिनमें कोई भिन्न शारीरिक विशेषता नहीं है। फिर भी कुछ और लोगों के लिए, क्षेत्रीय संबंध अधिक महत्वपूर्ण होते हैं। उदाहरण के लिए, स्मिथ ने प्रजातीय समूह का विवरण एक ऐसी मानव जनसंख्या के लिए किया है जिसमें वंश, मिथ्या, इतिहास, तथा संस्कृति को आपस में बाँटा गया है और जो किसी विशिष्ट क्षेत्र से जुड़े रहते हैं और जिनमें एकता होती है।

संजातीय समुदायों की विशेषताओं को लेकर, मार्क्सवादी लेखकों में भी भिन्नता है। वॉर्ड वी ब्रॉमले ने इन भिन्नताओं को सोवियत विद्वानों के बीच दिखाया है। कुछ लोगों ने इसमें मौलिक विशेषता, भाषा तथा संस्कृति को माना है तो कुछ लोगों ने इसमें क्षेत्र तथा जातीय आत्म-चेतना को जोड़ा है, तथा अन्य ने इसमें मनोवैज्ञानिक विशिष्टताओं को चित्रित किया है। चौथी विचारधारा ने इसमें सामान्य मूल और राज्य संबंधन को जोड़ा तथा पाँचवी ने इसमें सिर्फ विशिष्ट मनोवैज्ञानिक औपचारिकता देखी है। ब्रॉमले ने प्रजातीय समूह की परिभाषा इस प्रकार दी है— एक ऐसी स्थिर अंतर-वंशीय व्यक्तियों का समूह जो ऐतिहासिक रूप से किसी क्षेत्र में निर्मित हुआ है और जिसमें न सिर्फ सामान्य लक्षण होते हैं बल्कि स्थिर मानसिकता, एकता की जागरूकता तथा समरूप (आत्म-चौतन्य) प्रतिपादनों से भिन्नता जो कि अपने नाम से जाना जाता है। (एथनोइम)।

उपर्युक्त परिभाषाओं से यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रजातीयता का कोई स्पष्ट प्रतिपादित अर्थ नहीं है। हालाँकि प्रत्येक परिभाषाओं में कुछ विशेषताएँ वर्णित हैं।

16.2.1 संजातीय समूह की विशेषताएँ

विश्लेषकों, विशेषज्ञों या सामान्य तथ्यों के आधार पर यह देखा जा चुका है कि संजातीय शब्द का कोई स्पष्ट उल्लिखित अर्थ नहीं है। फिर भी इन परिभाषाओं में कुछ विशेषताओं का ज्ञान होता है। पॉल ब्रॉस के साहित्य के आकलन से यह प्रतीत होता है कि प्रजातीय समूह को तीन प्रकार से परिभाषित किया जा सकता है— वस्तुनिष्ठ गुण (विशेषज्ञता) के आधार पर, व्यक्तिनिष्ठ अनुभव के संदर्भ में, तथा व्यवहार के संबंध में।

वस्तुनिष्ठ परिभाषा में यह मान लिया जाता है कि हालाँकि सभी प्रजातीय वर्गों में कोई विशिष्ट गुण विद्यमान नहीं है, किन्तु कुछ भिन्न सांस्कृतिक विशेषता हैं, जिससे एक समूह दूसरे से पृथक हो जाता है। भाषा, क्षेत्र, धर्म, रंग, खान-पान, वेश-भूषा — इनमें से उनकी कोई भी विशेषता हो सकती है। इसकी वस्तुनिष्ठ परिभाषा कठिन है क्योंकि सामान्यतः प्रजातीय वर्गों की सीमा को निर्धारित नहीं किया जा सकता। व्यक्तिनिष्ठ परिभाषा में यह कठिनाई होती है कि कुछ मूल प्रश्न जैसे किस प्रकार कोई व्यक्तियों का समूह व्यक्तिनिष्ठ आत्म-चेतना को प्राप्त करता है, का जवाब नहीं दूँ पाता है। व्यवहारवादी परिभाषाएँ, वस्तुनिष्ठ परिभाषा का ही रूप होते हैं, क्योंकि उनका मानना है कि अन्य समूहों के साथ संबंध और अंतरक्रिया में प्रजातीय समूह का व्यवहार विशेष और निश्चित रहता है। व्यवहारवादियों का मानना है कि प्रजातीय

समूहों के बीच सांस्कृतिक भिन्नता है जो अन्य समूहों के साथ व्यवहार करने में उभर कर सामने आता है। किन्तु उनके व्यवहार और अंतरक्रिया में सुस्पष्ट संहिता रहने के कारण यह जटिल समाज की अपेक्षा साधारण समाज में अधिक विशिष्ट, व्यापक और प्रत्यक्ष रहते हैं क्योंकि ये लोग अपनी पृथक्ता को विशिष्ट गुणों के कारण स्थापित कर सकते हैं, बिना किसी भिन्न व्यवहार-संहिता को अपनाए हुए भी।

हालाँकि इससे व्यक्तिनिष्ठ का वस्तुनिष्ठ पर अधिक प्रभाव या इससे विपरीत भी, जैसी कोई बात नहीं है, बल्कि दोनों के बीच संबंध और पूरकता होती है जिससे प्रजातीय समूह के उद्भव और विकास की प्रक्रिया का ज्ञान होता है और जिसमें निरंतरता, अभिग्रहण और परिवर्तन जैसी विशेषताएँ हैं। ऐसे संयुक्त परिप्रेक्ष्य का प्रतिपादन समन्वयवादियों ने किया है। समन्वयवादी विचारधारा से प्रभावित होकर उर्मिला फाइनिस ने संजातीय समूह की परिभाषा इस प्रकार दी है—

व्यक्तियों का ऐतिहासिक रूप से निर्मित समूह जिसका किसी विशिष्ट क्षेत्र से वास्तविक या काल्पनिक संबंध हो तथा जो समान समूहों के साथ अपनी मान्यता और मूल्यों को बांटता हो और दूसरों द्वारा उसे पहचान प्राप्त हो सके।

इस परिभाषा में प्रजातीय समूह के पाँच गुण दिखाई पड़ते हैं— (क) वास्तविक या मान्य ऐतिहासिक जड़ों में व्यक्तिनिष्ठ विश्वास (ख) एक सांकेतिक या वास्तविक भौगोलिक केन्द्र (ग) कुछ आपस में बाँटने वाले प्रतीक, जैसे जाति, भाषा, धर्म, वेश-भूषा, खान-पान या इनमें से कुछ प्रतीकों का संयोग जो हालाँकि भिन्न और लचीला है, वह जातीय पहचान का स्पष्ट आधार है। (घ) स्व.मान्य विशिष्टता या समूह-स्वरूप की जागरूकता (ङ) दूसरों द्वारा समूह विभिन्नता को स्वीकार करना।

जो सबसे महत्वपूर्ण है वह आत्म-ज्ञान तथा दूसरों द्वारा स्वीकृत स्तर है। और यही आत्म-बोध, सभी परिभाषाओं में प्रतीत होता है। मैक्स बेबर ने उदाहरण-स्वरूप जातीय समूह की परिभाषा इस प्रकार की है—

वैसे मानवीय समूह जिनमें परंपराओं के वास्तविक रूप में समानता के कारण या उपनिवेशन और प्रवासन के कारण अपने सामान्य वंश पर निष्ठा रखते हैं क्योंकि यह विश्वास अवंशीय साम्प्रदायिक संबंध के लिए महत्वपूर्ण हो जाता है।

समकालीन लेखकों में उदारवादी तथा मार्क्सवादी दोनों ही इस आत्म चयन को विशेष महत्व देते हैं। शिबुतानी तथा वॉन, उदाहरण के लिए, यह सुझाव देते हैं कि एक संजातीय समूह वैसे लोगों का होता है जो स्वयं को किसी विशेष प्रकार की श्रेणी में रखते हैं। वे संवेदनशील कड़ी से जुड़े रहते हैं और अपने प्रकार को सुरक्षित रखना चाहते हैं। कुछ अपवादों को छोड़कर, ये सभी समान भाषा बोलते हैं या उनकी बोली कम से कम एक दूसरे को समझ में आती है तथा वे सामान्य सांस्कृतिक कुल-परंपरा को भी आपस में बाँटते हैं। चूँकि वे उन इकाइयों से आते हैं जिसमें सगोत्रीय या सजातीय विवाह होता है, इस कारण वे देखने में भी एक प्रकार के होते हैं। हालाँकि इससे भी यह महत्वपूर्ण है कि वे सामान्य वंश में विश्वास रखते हैं, जो आंशिक तौर पर काल्पनिक इतिहास की मिथ्या से समर्थित होता है।

उसी प्रकार ब्रॉमले के अनुसार—षसंकीर्ण दृष्टिकोण और सबसे सामान्य रूप में संजातीय समूह की परिभाषा है। अपनी पहचान के प्रति जागरूकता तथा अन्य समान समुदायों से भिन्नता। इस प्रकार, जो तथ्य उभर कर आता है, वह यह है कि प्रजातीय समूह में पहले से मान्य या कल्पित आधार के संबंधों के गुण होते हैं। यह एक सजातीय अनुभव है जो मिथ्या या स्मृतियों से उनके मन में बैठाया जाता है और प्रतीकों के अर्थ की सामान्य समझ से पुनः स्थापित किया जाता है।

इस प्रकार हम संजातीय समूह की कामचलाऊ परिभाषा इस प्रकार कर सकते हैं—उन व्यक्तियों का समूह, जो वास्तविक अथवा काल्पनिक उभय वंश पर आधारित रिश्तेदारी की भावना या वास्तविक अथवा कल्पित सांझी सामाजिक अथवा सांस्कृतिक अनुभवों या पिछले इतिहास की सांझी स्मृतियों के भागीदार होते हैं और धर्म, भाषा, बोली, प्रजाति, कबीले के एक या अधिक प्रतीकात्मक तत्वों पर या अपनी रिश्तेदारी का सार के रूप में फैली हुई राष्ट्रीयता पर ध्यान केन्द्रित करते हैं।

ऐसी परिभाषा से हमें यह विश्वास हो जाता है कि हालाँकि ऐतिहासिक निरंतरता महत्वपूर्ण है, किन्तु संजातीय समूह का निर्माण, उस प्रगति की प्रक्रियाओं पर निर्भर करता है जिसके अंतर्गत कई प्रतीक महत्वपूर्ण हो जाते हैं। संजातीयता का कोई विशेष गुण स्थायी रूप से महत्वपूर्ण नहीं होता। विभिन्न घटक जो ऐतिहासिक स्तर पर उभर कर आए हैं, वे समय के साथ समान रूप में नहीं हो सकते हैं। उनकी सामाजिक श्रेणियों, व्यावसायिक और वर्गीय श्रेणियों में ऊर्ध्वाधर (सीधी) और क्षैतिज सपाट भिन्नता हो सकती है।

16.2.2 संजातीयता

उपर्युक्त विश्लेषण से यह स्पष्ट हो जाता है कि वर्तमान सामाजिक संदर्भ में वे समूह जो अपने अर्थपूर्ण प्राथमिक और अधिक घरेलू पहचान पर विशेष बल देते हैं जिसका आधार धर्म, जाति, संस्कृति, भाषा, और राष्ट्रीय विशेषताएँ या उनमें से किसी का संयोजन होता है, संजातीय समूहों के रूप में उल्लिखित किए जाते हैं। ऐसे संजातीय समूह की संख्या — जिसे लोग या राष्ट्रीयता के नाम से जाना जाता है— पूरे विश्व भर में बहुत अधिक है। ये कितनी संख्या में हैं, यह निर्धारित

करना कठिन है क्योंकि इन मामलों से संबंधित बहुत कम ही क्रमबद्ध शोध-प्रबन्ध हैं। स्टेवेनहेगन के अनुसार मानवशास्त्रीय और भाषाई आधार पर, जातीय समूह, व्यक्ति और राष्ट्रों का शोध-आकलन लगभग पाँच से आठ हजार है तथा वास्तविक आँकड़ा बाद की संख्या का है। हमारा संबंध, इस समूह की संख्या से उतना नहीं है जितना कि विशिष्ट राज्यों में ये समूह रहते हैं। इस प्रकार संपूर्ण विश्व-भूमि जो कि विभिन्न राज्यों में विभाजित है (एनटॉरटिका को छोड़कर) लगभग सभी राज्यों में एक या दो ऐसी संजातीय या सांस्कृतिक समूह हैं और इसलिए ये विजातीय और बहुल समाज कहलाते हैं।

कई नए राज्यों में स्थिति विशेषतः विभिन्न है क्योंकि उन्होंने द्वितीय विश्व युद्ध के बाद से स्वतंत्रता प्राप्त की थी, अर्थात् औपनिवेशिक उपरान्त राज्य जैसे कि एशिया, अफ्रीका तथा कैरीबियन। हाल ही के वर्षों में, विश्व के अधिकतर बहु-जातीय राज्यों में समूह चेतना तथा संजातीय एवं सांस्कृतिक मांगें उभरी हैं जिसे सामान्यतः संजातीयता का उदय कहा जाता है।

संजातीयता का सामान्य अर्थ है, वैसी परिस्थिति जहाँ किसी सामाजिक संदर्भ में कुछ सदस्य निश्चित सांस्कृतिक, राष्ट्रीय या वर्ण के आधार पर अपने भिन्न मूल पारिवारिक पहचान को स्थापित कर सके। इसका अर्थ है कि जो समूह किसी सामान्य इतिहास या संस्कृति से जुड़े हैं, उनकी विरासत और कार्यों की प्रकृति में एक विशिष्टता होती है जिससे यह समूह समाज के बृहद् निर्माण से भिन्न दिखाई पड़ता।

राजनीतिक अर्थ में, संजातीयता शब्द संजातीय पहचान को उद्घोषित करता है जिसकी परिभाषा डी वॉस के अनुसार है, किसी भी संस्कृति के व्यक्तियों का पद समूह जिसका प्रयोग व्यक्तिनिष्ठ, सांकेतिक या प्रतीकात्मक रूप में होता है ताकि वे दूसरे समूह से भिन्ना रख सकें या पॉल ब्रास के अनुसार आंतरिक सम्बद्धता का निर्माण कर सकें और दूसरे समूहों से अलग रह सकें।

इस प्रकार, ज्योतिन्द्र दास गुप्ता के अनुसार, संजातीयता को बंधनकारी साधन के रूप में माना जा सकता है जो एक अभिज्ञेय सामाजिक सामूहिकता को दर्शाता है और जिसका आधार है एक विशिष्ट सामान्यता को आपस में बाँटने का बोध, जो ऐतिहासिक निरंतरता से आगे बढ़ता है।

हालाँकि संजातीयता, ऐतिहासिक निरंतरता को दर्शाता है, फिर भी इसे सही प्रकार से समझने के लिए सिर्फ आदिकालीन आधार पर्याप्त नहीं है, जहाँ बहुत पुरानी पहचान का पुनरुद्भव होना है बल्कि यह व्यक्तियों द्वारा रणनीति से चयनित किया गया विकल्प है जो दूसरी परिस्थिति में सत्ता और विशेषाधिकार के लिए अन्य समूह की सदस्यता स्वीकार करते। इस प्रकार संजातीयता को समूह की गतिशीलता के लिए एक नेतृत्व के अंतर्गत यंत्र और केन्द्र-बिन्दु के रूप में देखा जाता है जिसे सामाजिक-सांस्कृतिक और राजनीतिक-आर्थिक उद्देश्यों के लिए संजातीय समूहों के चयनित प्रयोग से उपयोग में लाया जाता है। संजातीय समूह के विषय में सबसे विवेचित मुद्दा कोई विशिष्ट सांकेतिक वस्तु नहीं है जो उसे भिन्न बनाता है बल्कि उन वस्तुओं का सामाजिक उपयोग है, और वैसी संजातीय निष्ठा, समूह सदस्यों के सामाजिक-आर्थिक अभिरुचि के कारण दिखाई पड़ता है। अपरिष्कृत रूप में संजातीयता, मानव-जाति केन्द्रीकरण का स्वरूप लेता है। संजातीय केन्द्रीकरण मूलतः मनोवैज्ञानिक शब्द है जिसमें प्रतिकूल मानसिकता होती है और जो किसी-एक जातीय समूह का पक्षपात करता है और दूसरे का त्याग करता है। इसे राष्ट्रीयता और जातिवाद से सम्बद्ध किया जा सकता है किन्तु इसका केन्द्र-बिन्दु सिर्फ संजातीय समूह के साथ व्यक्तिगत संबंधों का ही होता है न कि राष्ट्र। संजातीय केन्द्रीकरण इस प्रकार के व्यवहार को सामान्य या सार्वभौमिक आधार देता है जिसके अंतर्गत राष्ट्रीयता और जातिवाद भी होती है। यह आवश्यक रूप से अपने संजातीय समूह के प्रति व्यक्तिगत मनोवैज्ञानिक झुकाव (पक्षपात) से सम्बद्ध रहता है और दूसरी संजातीय समूह के विरुद्ध। "समूह के अंतर्गत रहने वालों के प्रति अनुकूल विचारों को प्रतिपादित करता है तथा समूह के बाहर वालों के प्रति प्रतिकूल विचार। संजातीय-केन्द्रित विचारों और व्यवहारों की गहनता, सौम्य और शांतिपूर्ण से लेकर युद्धकारी और महत्वाकांक्षी होने तक बदलती रहती है। सामान्यतरु संजातीय हितों का कुछ राजनीतिक स्पष्टीकरण इसलिए भी आवश्यक है ताकि संजातीय समूहों को सामाजिक स्थान से राजनीतिक स्थान ले जाया जा सके। और वर्तमान दशकों में यह प्रक्रिया महत्वपूर्ण भी होती जा रही है जिसमें राजनीतिक और सामाजिक आशय रहते हैं, जिसमें सरकारों का स्थायित्व और संरचना भी सम्मिलित है। इस प्रकार के बदलाव के कई कारण हैं। इनमें से कुछ कारणों का अध्ययन आप संजातीय आंदोलन की इकाई में पढ़ेंगे।

16.3 संजातीयता तथा राज्य

ऊपर हमने यह देखा कि बहुसंख्यक समाज बहुजातीय और बहुसांस्कृतिक हैं। इनमें से कई परेशानी में भी हैं। कुछ ने तो यह सिद्ध कर दिया है कि वे संजातीय राष्ट्रीय आधार पर भाईचारे का न तो निर्माण कर सकते हैं और न ही उसे कायम रख सकते हैं। किसी-राष्ट्रीय समूह के सदस्य दूसरे समूह-सदस्य के अधिकार और इच्छाओं के प्रति उदासीन रहते हैं। आर्थिक कारणों से हुए अंतर्राष्ट्रीय प्रवासन से यह और भी अधिक बढ़ गया है। फिर भी, कई राज्यों में संजातीय मुद्दों को

नजर अन्दाज करने की प्रवृत्ति आ गई है। हालांकि ज्यादातर राज्य, बहु-जातीय हैं, सिर्फ कुछ ने इसे स्वीकार किया है और उससे भी कम ने अपनी बहुल-जातीयता के लिए संवैधानिक या अन्य कानूनी प्रावधान बनाए हैं। यहाँ तक की प्रजातांत्रिक राज्यों का भी कथन है कि सभी नागरिकों के लिए समान अधिकार और अवसर इसलिए उपलब्ध कराए गए हैं ताकि विशेष जातियों की सांस्कृतिक विशिष्टताओं को सम्मानित किया जा सके। जैसा कि विल किमलिका का कथन है कि निम्नांकित विशिष्ट आधार पर उदारवादी प्रजातांत्रिक राज्य ऐतिहासिक रूप से राष्ट्र निर्माण का कार्य करते हैं। उन्होंने राज्य-क्षेत्र के सभी नागरिकों को सामान्य भाषा में कार्यरत सामान्य लोक संस्थान से जुड़ने के लिए प्रेरित और कभी-कभी बाध्य किया है। राज्य ने भी विभिन्न रणनीतियों को अपनाया है जिससे वे भाषायी और संस्थागत संघटन के उद्देश्य को प्राप्त कर सके। नागरिकता तथा नागरिकता प्रदान करने के कानून, शिक्षा कानून, भाषा-कानून, लोक-सेवा रोजगार की नीतियाँ, सेना-सेवा, राष्ट्रीय संचार आदि। साथ ही संजातीय राष्ट्रीयता की सत्यता की पृष्ठभूमि में राज्यों ने भी संजातीय समूह के लिए आवश्यक प्रारूप अपनाए हैं। ये रणनीतियाँ सामान्यतः तीन श्रेणियों में वर्णित हैं— आत्मसात्करण बहुलवाद तथा अनुकूलन।

16.4 आत्मसात्करण तथा एकीकरण (मेल्टिंग पॉट मॉडल)

हालांकि विश्व के अधिकांश राज्य बहु-जातीय और बहु-राष्ट्रीय हैं, उन्होंने एक न एक बार अपने नागरिकों के बीच राष्ट्रीय पहचान के निर्माण का प्रयास किया है और यह चेष्टा की है कि समानांतर (प्रतिस्पर्धात्मक) राष्ट्रीय पहचानों को दबाया जाए जो कि राष्ट्रीय अल्पसंख्यकों में रहता है। राष्ट्र-राज्य का सिद्धांत, राष्ट्रीय एकता और समरूपता को सर्वोच्च मूल्य के रूप में उद्घोषित करता है। एक राष्ट्र, एक राज्य का मूल्य तभी प्राप्त हो सकता है जब हम नीति की उस प्रक्रिया को बनाएँ जिससे गौण जातियाँ और राष्ट्रीयता तेजी से आत्मसात, संघटित या समायोजित हो सके। इन आत्मसात्करण की नीतियों के पीछे यह विचारधारा होती है कि सांस्कृतिक रूप से विभिन्न जातियाँ लुप्त हो जाएँ और एक बृहद समाज में पिघलकर उनमें समा जाएँ—जैसे संयुक्त राष्ट्र। इसलिए इसे मेल्टिंग पॉट अवधारणा कहा जाता है। मेल्टिंग पॉट, जो मूल रूप से आंग्ल-यहूदी लेखक, इजरायल जेंगुविल द्वारा प्रतिपादित किया गया है— उन्होंने इसी नाम से, 1908 में न्यूयार्क में अपने नाटक का प्रदर्शन किया, और इस शब्द से अमेरिका में 19वीं शताब्दी में आए हुए प्रवासियों को संबोधित किया, उन्हें स्वयं को अमेरिकी सोचने के लिए प्रोत्साहित किया गया जिससे उनकी मूल संस्कृति धीरे-धीरे पिघलकर विलीन होने लगी और जैसा कि कुठाली या घरिया (मेल्टिंग-पॉट) की प्रक्रिया में होता है कि वह चमकती हुई नई मिश्रधातु का ही एक भाग बन जाता है। आत्मसात्करण की प्रक्रिया के कारण जिसे राज्य ने भी बढ़ावा दिया है, सभी लोग अमेरिकी में परिवर्तित हो गए और एक सामान्य संस्कृति को आपस में बॉटने लगे।

आत्मसात्करण नीति के समर्थकों ने यह सुझाव दिया है कि बहु-राष्ट्रीय राज्यों में, राज्य की एजेन्सियों को राष्ट्र-निर्माण की पूर्वापेक्षा के लिए समावेशन और आत्मसात्करण की नीतियों को अपनाने की आवश्यकता है। अन्यथा, अंगीभूत राष्ट्रीयता (नागरिकता) समूह हित के लिए संपूर्ण राजनीतिक व्यवस्था में एक बड़ी मांग रख सकते हैं या देश के अंदर ही किसी-क्षेत्रीय टुकड़े पर अपना नियंत्रण या फिर पूर्ण प्रभुसत्ता सम्पन्न राष्ट्र की भी मांग कर सकते हैं हालांकि कुछ प्रेक्षकों के सुझाव के अनुसार बहुसंख्यक संस्कृतियों में समावेशन नहीं होता है। उनके अनुसार चूँकि सामाजिक सांस्कृतिक पहचान एकनिष्ठ होती है, इसलिए विभाजक भी है, उन्हें धर्मनिरपेक्ष, सार्वभौमिक नीतियों के आधार पर अशक्त कर देना चाहिए, यदि उसे पूर्णरूप से बदला नहीं जा सके। संघटनकर्ताओं द्वारा दो सुझाव दिए गए हैं— पहला, प्रमुख प्रकार है, जिसमें सिर्फ एक ही आदिकालीन पहचान को वैध माना गया है। यहाँ की राष्ट्रीय संस्कृति एक प्रबल सांस्कृतिक मुख्यधारा की तरह है जिसमें दूसरी संस्कृतियाँ घुलमिल जाती हैं। मुख्यधारा की संस्कृति में समीकृत हो जाना, अल्पसंख्यकों की राष्ट्रीयता और देशभक्ति का एक वास्तविक मापदंड है। दूसरा समरूप ढाँचा जिसका यह मानना है कि पुरानी पहचान धीरे-धीरे विलीन हो जाती है और एक नये व्यक्ति (प्रजातांत्रिक और समाजवादी व्यक्ति) का उदय होता है जिसमें व्यापक राजनीतिक पहचान होती है और सभी नागरिकों का राज्य के साथ समान संबंध होता है।

सामान्यतः आत्मसात्करण अवधारणा में व्यक्ति के अधिकार, नैतिक बाध्यता और विशेषाधिकारों को स्वीकार किया जाता है जिसमें भिन्न सामूहिक अस्तित्व को निम्न महत्व दिया जाता है तथा सम्पूर्ण राज्य की जनसंख्या को एक सामान्य पहचान के साथ आत्मसात किया जाता है। किन्तु अनुभवों के आधार पर यह देखा गया है कि व्यक्ति के अधिकार और स्वतंत्रता, समानता और भाईचारा महत्वपूर्ण होते हैं और वे मानव इतिहास की उपलब्धियों का भी प्रतिनिधित्व करते हैं, किन्तु स्वयं में वे जातीय मुद्दों से जुड़ने के लिए सक्षम नहीं है। इस अवधारणा का सैद्धांतिक तर्क और आनुभाषिक तथ्य भी समर्थन करते हैं।

सैद्धांतिक आधार पर, राज्य और राष्ट्र को एक दूसरे के अनुरूप करने में अन्य सभी राष्ट्रीयताओं को उनकी विषयस्थिति के कारण संकुचित हो जाना पड़ता है। इस प्रकार जैसा कि ऐक्टन ने उल्लेख किया है कि उस प्रधान अंग में मानवीयता और सभ्यता का स्तर जो समुदाय के सभी अधिकारों पर दावा करता है, निम्न जातियों को मिटा दिया जाता है या अवैध घोषित कर दिया जाता है, अन्यथा उन्हें निर्भरता की स्थिति में ला दिया जाता है। इतिहास में कई जगह ऐसी कोशिश की गयी है

जिससे जाति संहार उपायों से जातीय नक्शे को श्साफ़ किया जा सके। हाल के इतिहास में ऐसे श्साफ़ कर देने के कदम कई जगह उठाये गए हैं जैसे— हिटलर के अंदर यहूदियों और जिप्सियों के प्रति, स्टालिन के अंदर क्रीमियन तातर, बोल्गा जर्मन्स, चेचन इगुश के प्रति, रवान्डा और बुरुण्डी में तुत्सी और मुत्रु दोनों के प्रति, दक्षिण-पूर्वी एशिया के कुछ भागों में समुद्र-पार चीनियों के प्रति, इराक में कुर्यों के प्रति इत्यादि। इसे क्रूर एकपक्षीय बहिष्करण द्वारा किया जाता है। (युगाण्डा से एशियाई, पूर्व-केंद्रीय यूरोप से जर्मन आदि।) संजातीय नक्शों में समरूपता लाने के लिए सहमति या भय के परिणाम से लाया गया जनसंख्या का आदान-प्रदान एक दुसरी प्रणाली है। उदाहरण के लिए, टर्की से मेलनिज को तथा ग्रीस से टर्क को; ग्रीस से मेसोडोनियन बलगर्स को और बुल्गेरिया से हेलेनिज को; पाकिस्तान से अधिकतर हिंदू और सिख तथा भारत से कई मुसलमानों कोरु अरब से लगभग सभी यहूदियों को उस क्षेत्र से जो अब इजराइल बन गया है— इन सभी में जातीय नक्शों में समरूपता लाने की चेष्टा की गयी है। किंतु इन सभी से क्या प्राप्त होगा?

इतिहास में यह पाया गया है कि राज्य द्वारा विभिन्न जातीय समूह को अपेक्षाकृत संजातीय राष्ट्रीय संस्कृति में निर्मित करने में कई दशक बीत जाते हैं और फिर भी, ये विशिष्ट संजातीय विदेशी अंतरिक्ष छोड़ जाते हैं, जैसा कि आधुनिक फ्रांस और स्पेन में पाया जाता है। यह दर्शाया गया है कि फ्रांस में फ्रेंच को राष्ट्रीय भाषा बनने में चार सौ वर्ष लगे जो 1539 में उस राष्ट्र की सरकारी भाषा के रूप में अपनाई गई। और आज भी, ऐसे क्षेत्र, जैसे ब्रेटन और लैंगुएडिक में भाषा और बोली की विभिन्नता राष्ट्र के लिए महत्वपूर्ण हैं। अमेरिका में भी संपूर्ण आत्मसात्करण जिससे कि संजातीय पहचान और भाईचारा विलीन हो जाए, संभव नहीं हो पाया है, जिसका विश्लेषण वर्तमान दशक के प्रारंभिक वर्षों में अधिक किया गया था।

आधुनिकीकरण द्वारा एकीकरण अब पूर्ण रूप से संदिग्ध हो गया है। प्रचुर रूप में उत्पन्न अलगाववादी आंदोलनों का अनुभव जो स्वायत्त जीवन की माँग कर रहा है, अब बहुत आम हो गया है, विशेषकर आधुनिकीकरण से प्रेरित होकर। वास्तव में, विपरीत मान्यता आज सत्य सिद्ध हो रही है। अर्थात् बहु-जातीय राज्यों में आधुनिकीकरण, आत्म-संकल्प के लिए दृढ़तापूर्वक सक्रियता लाने की चेष्टा करता है। कथित संपत्ति-संबंध के सामाजिकीकरण के पश्चात तथा मार्क्सवादीमुखी समाजवादी राज्यों में वर्ग भाईचारे के आधार पर संजातीय राष्ट्रीयता को ऊपर उठाने पर भी संजातीयता अभी भी जारी है।

फलस्वरूप, राष्ट्र-राज्य की अवधारणा में अंतर्निहित आत्मसात्करण के विचार का महत्व कम हो रहा है हालाँकि कई देशों में यह राजनीतिज्ञों और प्रशासकों के बीच अभी भी लोकप्रिय है। पश्चिमी उदारवादी प्रजातांत्रिक देशों में पिछले तीस वर्षों से जातीय समूहों ने आंग्ल-पुष्टिकरण मॉडल को चुनौती दी है। आत्मसात्करण तथा श्मेल्टिंग पॉट प्रक्रिया का कार्य अभी भी हो रहा है। उदाहरण के लिए यह सिद्ध है कि आप्रवासियों के अमेरिका में जन्मे बच्चों के लिए अंग्रेजी उनकी प्रथम भाषा है किन्तु साथ ही उनके अभिभावक भिन्न और पृथक् परिवेश में जीवन व्यतीत करते हैं। हालाँकि आत्मसात्करण के आदर्श के लिए, उन्मुखता में बदलाव आया है। सामान्यतः 1960 से कई उदारवादी सुमावों ने इस विश्वास को दूर कर दिया है कि राष्ट्र के निर्माण में अल्पसंख्यकों का आत्मसात्करण इस दृष्टिकोण से एक आवश्यक प्रक्रिया है, क्योंकि बहुलवादी समाज अत्यधिक वांछनीय है।

16.5 बहुलवाद

संजातीय समूह के आंदोलनों के परिणामस्वरूप, मानवाधिकार के प्रति बढ़ती चिन्ता तथा कुछ परिणाम जिसका राज्य सामना कर रहे हैं क्योंकि कई राज्यों में अल्पसंख्यकों पर बहुसंख्यक के मूल्यों को थोपा जा रहा है, जिससे कि कई बहु-जातीय राज्यों में बहु-संख्यक समुदायों में उग्रराष्ट्रीयता आने का भय है और अल्पसंख्यकों में साम्प्रदायिकता आने का डर है। इस प्रकार विभिन्नता को स्वीकृति मिल रही है तथा बहुलवाद के मूल्यों को अपनाया जा रहा है। बहुलवाद का अर्थ है कि लोगों ने विश्व को अब भिन्न दृष्टिकोण से देखना सीख लिया है। दूसरी संस्कृति, दूसरी भाषा और मान्यताओं को भी स्वीकार कर लिया है और भिन्न रहने के अधिकार को भी सम्मान दिया है। 1960 से ही बहुतों ने आत्मसात्करण की नीतियों से अलग हटकर थोड़ा-बहुत विभिन्नताओं को भी जगह दी है जो कि ब्रिटिश की एकीकरण नीति तथाकथित जेनकिन्स फार्मूला की भाँति है। (ब्रिटिश राजनीतिज्ञ राय जेनकिन्स के नाम पर)। उन्होंने कहा मेरी समझ से इस देश को मेल्टिंग पॉट की आवश्यकता नहीं है जिसमें सभी सामान्य श्रेणी में परिवर्तित हो जाते हैं, ठीक उसी प्रकार जैसे किसी रूढिबद्ध अंग्रेज की दृष्टि अपनी जगह नहीं रहती है बल्कि वह कार्बन कॉपियों की श्रृंखला होती है। इसलिए एकीकरण की परिभाषा में आत्मसात्करण की समतल प्रक्रिया को नहीं कहता बल्कि आपसी सहिष्णुता की वातावरण के साथ सांस्कृतिक विभिन्नता को कहता हूँ।

शैक्षिक एवं नीति निर्धारकों द्वारा बहुलवाद को एक उदारवादी नीति के रूप में देखा गया है, जिसने संजातीय एवं वंशीय समूहों को अपनी पैतृक-संपत्ति और विशिष्टता को कायम रखने में सक्षम रखा है। पॉल ब्रॉस के सुझाव के अनुसार प्यह

एक ऐसी प्रणाली है जिसमें किसी एक समूह के विचार, मूल्य, संस्कृति या भाषा को दूसरे समूह पर प्रतिरोपित नहीं किया जा सकता। बहुलवाद दृष्टिकोण, व्यक्तिगत अधिकार एवं विशेष अधिकार के साथ सामूहिक खण्डों को भी स्वीकार करता है तथा राज्य के व्यक्तित्व के विकास में विभिन्नता की भूमिका को दर्शाता है। बहुलवाद के साथ जुड़ी यह विभिन्नता, रॉबर्ट और क्लिफ्टन के अनुसार, तीन क्षेत्रों में अंतर्निहित हैं— सांस्कृतिक, सामाजिक—संरचनात्मक तथा मनोवैज्ञानिक। बहुलवाद के विषय में मूल रूप से यह मानना है कि राष्ट्रीय प्रयासों की संबद्धता और समन्वय, समायोजित प्रतिक्रियाशील प्रारूप में अधिक सम्भव होगा, सामान्य विचारों, हितों और आशंकाओं के समन्वय से विभिन्नता असंगत रहती है तथा जहाँ की विशिष्ट अभिव्यक्ति राष्ट्रीय हितों से बेमेल रहती है, वहाँ कुछ उप-राष्ट्रीय विश्वासों का जारी रहना उसे राष्ट्रीय-विरोधी नहीं मानना चाहिए। इस दृष्टिकोण का दूसरा उपसिद्धांत यह है कि राष्ट्र-राज्य का उद्देश्य लुप्त हो जाता है, जब उसकी शक्ति-संरचना बहु-जातीय विशेषता को प्रदर्शित नहीं करती है।

वास्तव में, बहुलवाद को क्रियान्वित करने के लिए, राज्य को उपलब्ध कई साधन हैं। इनमें सम्मिलित है संजातीय आधार पर पृथक किए गए निर्वाचक-गण का निर्माण: सरकार में आनुपातिक या प्रतिपूरक प्रतिनिधित्व, संजातीय आधार पर आत्मसात्करण क्षेत्रीय इकाइयों में शक्ति का हस्तान्तरण रु निषेधाधिकार शक्ति का निर्धारण तथा संजातीयता संबद्ध सरकारी निर्णयों पर नियंत्रण-संतुलन, नौकरशाही और विधायी निकायों में जातीय-कोटा की शुरुआत निम्न स्तरीय अल्पसंख्यकों में क्षतिपूरक सामाजिक और आर्थिक लाभों को उपलब्ध कराना, सरकारी शक्तियों के प्रयोग के लिए संवैधानिक कानूनी गारंटी का निर्माण, या जातीय अंधविश्वास या निष्पक्षता लाना। इन सभी साधनों का उनका अपना परिणाम होता है तथा उनकी उपयोगिता और प्रभावशालीनता प्रत्येक की विशिष्टता पर निर्भर करती है। हालाँकि, सामान्य जानकारी के लिए, इनमें दो पहलु होते हैं। एक नीति निर्धारण और कार्यान्वयन से संबंधित रहता है और दूसरा राजनीतिक संरचना से संबद्ध। नीति के क्षेत्र में सबसे महत्वपूर्ण है भाषा तथा शिक्षा से संबद्ध प्रश्नय संसाधनों का वितरण या आवंटन य तथा समूह या समुदाय के अधिकार। संरचनात्मक आधार पर महत्वपूर्ण मुद्दा है, राजनीतिक शक्ति का बंटवारा। आज बहुलवाद में सबसे अधिक जिस नीति की बात हो रही है वह है, बहु-सांस्कृतिकवाद।

16.5.1 बहु-सांस्कृतिकवाद

बहु-सांस्कृतिकवाद शब्द में सांस्कृतिक बहुलवाद के कई रूप हैं। कुछ लोगों द्वारा स्वीकृत तथा अन्य द्वारा अस्वीकार की जाने वाली बहु-सांस्कृतिकवाद विवादास्पद रही है क्योंकि यह माना गया है कि राष्ट्रीय एकता की पारंपरिक अवधारणा से यह ताल-मेल नहीं रख सकती। बोल चाल की भाषा में, बहु-सांस्कृतिकवाद का अर्थ है, राष्ट्र के अंदर बहु-संस्कृतियों का एक साथ होना। इसके पीछे मूल भाव है कि आप्रवासी अपनी पुरानी परंपरा जो उनके खान-पान, वेश-भूषा, धर्म आदि से जुड़ी है, उनको जारी रखने के लिए तथा एक-दूसरे के साथ जुड़ने के लिए स्वतंत्र हैं। उदारवादी बहु-सांस्कृतिकवाद, संजातीय एवं सांस्कृतिक पहचान के सिद्धांत के रूप में तथा राजनीतिक संस्थानों के साथ संबंध के कारण जिसका कनाडा के राजनीतिक दार्शनिक बिल किमलिका ने विस्तृत चित्रण किया है, सांस्कृतिक आत्म-विश्लेषण संजातीय पहचान के लिए एक मुख्य स्रोत है तथा प्रजातांत्रिक एवं बहुजातीय उदारवादी राज्यों में राजनीतिक संघटन का भी मुख्य रूप है। संजातीय पहचान, राजनीतिक स्थिरता के लिए मुख्य आधार बनता है और फलस्वरूप यह सबसे दृढ़ राजनीतिक शिकायत भी है जिसे स्वीकार करना होगा। अर्थात् सरकार के सभी स्तर पर यह संस्थागत हो गया है— संजातीय सांस्कृतिक लकीरों पर समूहीकरण। अना दीवी के अनुसार, यह एक सैद्धांतिक स्थिति है जिसमें औपचारिक प्रकार की स्वीकृति तथा विशिष्टताओं तक पहुंच पाना पहले से ही किसी विशिष्ट सांस्कृतिक समूह की सदस्यता रहने पर उद्घोषित किया जा चुका है।

राष्ट्रीय स्तर पर ऐसी बहु-सांस्कृतिकवाद की नीति को 1971 में औपचारिक रूप से अपनाने वाला पहला देश था कनाडा। किन्तु तब से यह कई देशों में भी अपना लिया गया है जैसे ऑस्ट्रेलिया, न्यूजीलैंड, स्वीडन, ब्रिटेन, नीदरलैंड तथा अन्य स्थानों पर। इसमें पश्चिम के उदारवादी प्रजातांत्रिक राष्ट्रों को राष्ट्र-राज्य की परिधि में सांस्कृतिक बहुलवाद के प्रति और अधिक संवेदनशील बनाने की आवश्यकता को दर्शाया है, जो अब तक सांस्कृतिक रूप से एक समझा जाता तथा जहाँ समाज के उन भागों तक उदारवादी नीतियों का विस्तार था जो लाभ से वंचित और राजनीति से भी अलग कर दिए गए थे। यह एक विशेष क्षण है, जिसमें उदारवादी नीतियों का विस्तार है, और अमेरिका में 1950 और 1960 की नागरिक अधिकार आंदोलन के पश्चात् यह उसका और भी अधिक विकास माना जा सकता है।

कनाडा और ऑस्ट्रेलिया, जैसे देशों में बहु-सांस्कृतिकवाद के चार अर्थ होते हैं। पहला, एक वर्णनात्मक अर्थ है जिसमें यह दर्शाया गया है कि राष्ट्र में कई सांस्कृतिक समूह होते हैं जिसके कारण बहु-जातीय समाज का निर्माण होता है। दूसरा, यह इस अवधारणा पर आधारित एक सिद्धांत है जिसमें किस प्रकार समाज को संगठित किया जाय, यह चित्रित है। इसमें यह स्वीकार कर लिया गया है कि आप्रवासी अपनी भाषा और सांस्कृतिक परंपरा को कायम रखेंगे जो आने वाले उनके वंशों तक जारी रहेगा। तीसरा बहु-सांस्कृतिकवाद में सामाजिक नीतियों की चर्चा है जिसके द्वारा सरकारी उत्तरदायित्व का निर्वाह होता है ताकि संरचनात्मक लाभ को हटाया जा सके और समानता तथा पहुंच को सुनिश्चित करने के लिए

नीतियों को कार्यान्वित किया जा सके। चौथा, यह विशेष संस्थानों के अर्थ में होता है जिसका निर्माण, सहभागिता, पहुँच और समानता की नीतियों को कार्यान्वित करने के लिए होता है। संक्षेप में, इस आधार पर नीतियाँ निर्मित हैं जिसमें विभिन्न जातीय समूहों में सांस्कृतिक पहचान को समर्थन देने तथा उनमें अंतर्क्रिया और आदान-प्रदान करने से ही संपूर्ण समाज के एकीकरण को प्रोत्साहन मिलेगा।

यह बहु-सांस्कृतिकवाद, एनी यीटमैन के अनुसार, समय के साथ और तीव्र होता जाएगा न कि घटेगा तथा जिस सामाजिक मापदण्ड के आधार पर सामाजिक संगठन फैले हुए हैं, वह संभवतः वैश्विक प्रकृति के हो जाएंगे। इस संदर्भ में बहु-सांस्कृतिकवाद वैसी आनुभाविक सत्यता है जिसमें सामाजिक संगठन के क्षेत्र के सहभागी सांस्कृतिक, भाषाई तथा बहु-जातीय संबंधों से जुड़े हैं और इसका परिणाम है सामाजिक संगठनों के क्षेत्र में संचार एक अंतर-सांस्कृतिक विशेषता अपनाया जाता है, जिसका अर्थ है, सामाजिक संगठनों में नयाचार और प्रक्रियाएँ। चूंकि सामाजिक आंदोलन के संविधान तथा सामाजिक परिवर्तन के शक्तिशीलता में प्रजातीयता सांस्कृतिक इतिहास, लैंगिकता तथा सामाजिक-लिंग की भिन्नता प्रवेश कर चुकी है। ऐसी परिस्थिति में समीकरण अथवा निष्कासन, वैधानिक प्रक्रिया नहीं हो सकती, जहाँ तक राज्य की प्रतिक्रिया का संबंध है। यह बहु-सांस्कृतिकवाद की नीति से आती बहु-सांस्कृतिकवाद, समस्याहीन समन्वय की दृष्टि से देखा जाता है, जो व्यक्तिगत चयन को संतुलित करके प्राप्त होता है। इसका आधार है किसी भी समाज का समान सदस्य होना। सिर्फ समान अधिकार की ही हमें आवश्यकता नहीं है बल्कि हमारी पहचान का भी समान मूल्य होना चाहिए। और जैसे कि इन पहचानों को हमारी जातीय पृष्ठभूमि सूचित करती है, हमारी सांस्कृतिक परंपरा को भी नजर अंदाज नहीं किया जा सकता या व्यक्तिगत मान-सम्मान को ठेस नहीं पहुँचाया जा सकता।

हालाँकि बहु-सांस्कृतिकवाद की आलोचना कुछ क्षेत्रों से हो रही है। कुछ लोगों का यह मानना है कि बहु-सांस्कृतिकवाद की नीतियाँ सामाजिक सामंजस्य को खतरा पहुँचा रही हैं जो कि स्थायी सामाजिक एवं राजनीतिक व्यवस्था को कायम रखने के लिए आवश्यक है। मूलतः बहु-सांस्कृतिकवाद भेदनीति जैसी है क्योंकि प्रवासियों के लिए विशेष कार्यक्रमों को कोष-संचित किया जाता है। यह भी एक व्यापक भय है कि आज आप्रवासी को संकुचित-सीमित कर दिया जाएगा जिससे समाज छोटे-छोटे विरोधी समूहों में बँट जाएगा। उनके अनुसार इस अवधारणा में जातीय समुदायों के बीच बेचौनी फैलेगी तथा पक्षपात और असमानता को भी बढ़ावा मिलेगा। ऐसे परिणाम, पश्चिमी संस्कृति की उदारवादी और समतावादी तत्त्वों पर भी प्रहार कर सकते हैं। यह भी प्रस्तावित है कि संजातीय विभिन्नता को बढ़ावा देने में सरकार का कोई स्थान नहीं है क्योंकि यह महत्वपूर्ण उदारवादी बहुलवादी मूल्यों को नीचे गिराता है तथा सामाजिक और राजनीतिक विभेदों को बढ़ावा देता है।

वामपंथी दृष्टिकोण से भी आलोचना की गई है जिसमें राजनीतिक अर्थशास्त्र से सूक्ष्म तत्व लिए गए हैं। उसमें यह कहा गया है कि बहु-सांस्कृतिकवाद राज्य का सिद्धांत है जिसका कार्य है पूंजी प्रक्रिया से उभरे वर्ग और श्रम के भेद को कम करना। सामाजिक समन्वय पर विशेष बल के कारण बहु-सांस्कृतिकवाद ने एकत्रीकरण को स्पष्ट नहीं किया जो सामाजिक-आर्थिक असमानता की मूल संरचनात्मक विशेषता है और साथ ही कार्यों में वर्ग-शोषण भी है। फिर भी बहु-सांस्कृतिकवाद ने सामाजिक समन्वय को लाने के स्थान पर उसका विपरीत किया है।

इस संदर्भ में, कुछ लोगों ने बहु-सांस्कृतिकवाद को भूमण्डलीय पूँजीवाद में एक नैतिक सिद्धांत माना है। इस दृष्टिकोण के अनुसार, वैसा रवैया (आचार-व्यवहार) जो किसी खाली वैश्विक स्थिति के प्रकार हो, प्रत्येक स्थानीय संस्कृति के साथ वह वैसा ही व्यवहार करता है जैसा कि कोई औपनिवेशिक किसी उपनिवेश में रहने वाले लोगों के साथ करता है अर्थात् मूल निवासी की तरह जिसका अध्ययन और सम्मान सावधानीपूर्वक करना होगा। इसका यह अर्थ है कि पारंपरिक साम्राज्यवादी उपनिवेशवाद तथा भूमण्डलीय पूँजीपति स्व-उपनिवेशन के बीच का संबंध ठीक वैसा ही है जो पश्चिमी-सांस्कृतिक साम्राज्यवाद तथा बहु-सांस्कृतिकवाद के बीच है। इस विश्वव्यापी पूँजीवाद में, बिना उपनिवेश किए, उपनिवेशवाद का विरोधाभास है। राष्ट्र-राज्य महानगरों की बहु-सांस्कृतिकवाद में युरोपीय-केन्द्रित फासले को बढ़ावा दिया है तथा बिना स्वयं की संस्कृति की जड़ों के स्थानीय संस्कृतियों के प्रति सम्मान दिया है। दूसरे शब्दों में, बहु-सांस्कृतिकवाद जातिवाद का अस्वीकृत, विपरीत, आत्म-संदर्भित रूप है, वैसा जातिवाद जो एक फासले का है, यह दूसरी की पहचान को सम्मान देता है। यह अन्य जातियों को स्व-सीमित वास्तविक समुदाय मानता है। जिसकी ओर बहु-सांस्कृतिकवाद अपनी विशिष्ट सार्वभौमिक स्थिति के कारण दूरी रखता है। कुछ भाष्यकार जो जातीय समूह का प्रतिनिधित्व करते हैं, उन्होंने भी बहु-सांस्कृतिकवाद को मात्र सांकेतिक माना है अर्थात् जो सिर्फ प्रतीकात्मक जातीयता को बढ़ावा देता है या उन गैर आंग्ल-जातीय संस्कृति के तत्वों को जो आंग्ल-सेक्सन प्रधान यथापूर्व स्थिति को क्षति नहीं पहुँचाता।

बहु-सांस्कृतिकवाद, इस प्रकार, ज्यादातर समाज तथा अत्यधिक दक्षिणपंथी दल और समूह से, और इसके अलावा 11 सितंबर के बाद से भय, आशंका तथा सुरक्षा संबंध के कारण सरकार के ठंडे रुख से गम्भीर चुनौतियों का सामना कर रहा है। हालाँकि इन आलोचनाओं का आधार कमजोर है और उसमें कोई आनुभाविक तत्व नहीं है। विल किमलिका के अनुसार

यह सत्य है कि बहु-सांस्कृतिकवाद से संबद्ध नीतियाँ समूह को एक पृथक और स्व-शासित राष्ट्र के रूप में देखने के लिए प्रेरित नहीं करती। इसके विपरीत, इनमें यह अभीष्ट है ताकि आप्रवासी समुदाय के सदस्य समाज की मुख्यधारा के संस्थानों में आसानी से भागीदार हो सकें। आप्रवासी समूह अब समाज की मुख्यधारा में अधिक स्वीकृति एवं प्रत्यक्षता की मांग कर रहा है।

संक्षेप में, इन बहु-सांस्कृतिकवाद की नीतियों में एकीकरण के विषय में संशोधन सम्मिलित है। ऐसे कम उदाहरण पाए जाते हैं, जिसमें आप्रवासी प्रजातीय समूह, संबंध-विच्छेदी आंदोलन, या राष्ट्रीय राजनीतिक दलों अथवा क्रांतिकारी आंदोलन के पीछे गतिशील रहते हैं ताकि निर्वाचित सरकार को उखाड़ फेंक सकें। इसके बजाय, वे वर्तमान राजनीतिक व्यवस्था में एकीकृत हो जाते हैं जैसे कि वे आर्थिक और सामाजिक रूप से समीकृत हैं तथा वे बृहद् समाज की आर्थिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक जीवन में योगदान देते हैं। इसे एक सराहनीय उपलब्धि के रूप में देखना चाहिए। कनाडा का उदाहरण देते हुए किमलिका के अनुसार, आत्मसात्करण के सभी बृहद् संकेतकों में, कनाडा में आप्रवासियों का आत्मसात्करण 1971 की बहु-सांस्कृतिकवाद की नीतियों को अपनाने से पहले की तुलना में आज अधिक तीव्रता से हो रहा है। वे संभवतः जातीय आधारों पर नागरिकता प्राप्त करने, मतदान करने, औपचारिक भाषा सीखने, अंतर्जातीय विवाह करने तथा दोस्ती करने में सक्षम होंगे। यदि हम दूसरे पश्चिमी प्रजातांत्रिक देशों में, जैसे न्यूजीलैंड या ब्रिटेन या स्वीडन के आप्रवासिक बहु-सांस्कृतिकवाद का परीक्षण करें तब सभी में समान बातें होती हैं। प्रत्येक मामलों में, भाषाई समीकरण व्यक्तिगत अधिकार के प्रति सम्मान तथा अंतर्जातीय सदभावना के प्रति अत्यधिक प्रतिबद्धता के संदर्भ और आधार पर ही बहु सांस्कृतिक समायोजन चालित होता है। और इन सीमाओं को आप्रवासीय समूह समझती और स्वीकार करती है। इस प्रकार उन देशों में जहाँ औपचारिक रूप से बहु-सांस्कृतिकवाद की नीतियों को अपनाया गया है (जैसे कनाडा और ऑस्ट्रेलिया) आप्रवासी जातीय समूह अधिक तीव्रता के साथ एकीकृत हो जाते हैं, उन राष्ट्रों की तुलना में जो ऐसा नहीं कर पाते, जैसे (अमेरिका, फ्रांस) तथा ये आप्रवासी न सिर्फ संस्थागत रूप से एकीकृत होते हैं बल्कि वे राजनीतिक प्रक्रिया में सक्रिय प्रतिभागी होते हैं, मुख्यधारा के, संस्थानों के स्थायित्व की सुरक्षा के लिए प्रतिबद्ध रहते हैं तथा उदारवादी-राजनीतिक मूल्यों को भी सुरक्षित रखते हैं। संक्षेप में, ऐसा कोई प्रमाण नहीं है जिसमें यह प्रतीत हो कि बहु-सांस्कृतिकवाद छोटे विरोधी समूहों में बॉट या सांस्कृतिक तथा भाषाई रंग-भेद या प्शांशिक नागरिकता जैसा कोई कार्य कर रहा हो। इसके विपरीत यह प्रमाण जिसकी अभी शुरुआत हुई है, उससे यह विदित होता है कि बहु-सांस्कृतिकवाद अपने उद्देश्य के अनुकूल ही कार्य कर रहा है, अर्थात् आप्रवासिक समूहों का बेहतर समीकरण।

16.6 शक्ति का बंटवारा

जातीयता के अंतर्गत जातीय समूह के मामलों में जो एक पहलु है, वह है कि अल्पसंख्यकों ने बहुसंख्यक राष्ट्र-निर्माण में अपनी भूमिका निभाई है। उन्होंने स्वयं को प्रतिस्पर्धात्मक राष्ट्र-निर्माण प्रक्रिया में अपनी-सामाजिक संस्कृति को कायम रखा या पुनर्निर्माण किया है। इसके लिए उन्होंने आत्म-संकल्प का प्रश्न उठाया है और जिसका सामान्य अर्थ है अपनी किस्मत को स्वरूप देने के लिए शक्ति। यह अवधारणा कि प्रत्येक लोगों को अपनी राजनीतिक स्थिति को निर्धारण करने की स्वतंत्रता और आर्थिक, सामाजिक तथा सांस्कृतिक विकास की भी स्वतंत्रता प्राप्त है, इसे कई प्रकार से समझा गया है। यह आंतरिक तथा बाह्य भी हो सकता है तथा इसके घटकों में एक तरफ साधारण स्व-शासन से लेकर संपूर्ण स्वशासन तक होते हैं। कई प्रेक्षकों और राज्यों के अनुसार एक मध्यम मार्ग जिससे जातीय समूह के राज्यारोहण के डर को शांत किया जा सके, वह है शक्ति का बँटवारा। शक्ति बँटवारे के दो प्रचलित प्रक्रियाएँ हैं— संघवाद तथा सहयोगवाद।

16.6.1 संघवाद एशियम—

जापति कि की एक शाम तक चायवाशिम संघीय संघ, संघवाद इत्यादि शब्दों का व्युत्पत्तीयमूल लैटिन शब्द फीट्स है। इसका अर्थ है, मैत्री, संस्था, समझौता, अनुबंध, संघ, संधि, यूनियन इत्यादि। सरकार की प्रक्रिया के रूप में संघवाद शक्तियों को केन्द्र सरकार और क्षेत्रीय उप-इकाइयों (प्रांत राज्य केन्टन) में बाँटता है जहाँ जातीय या राष्ट्रीय अल्पसंख्यक क्षेत्रीय रूप में संघटित हैं। संघीय उप-इकाइयों को परिसीमित किया जा सकता है ताकि राष्ट्रीय अल्पसंख्यक, इन उप-इकाइयों में से किसी एक में बहु-संख्यक हो सकते हैं। इस परिस्थिति में संघवाद राष्ट्रीय अल्पसंख्यकों के लिए बृहद् स्व-शासन को उपलब्ध करा सकता है जिसमें कुछ क्षेत्रों में उसकी निर्णय लेने की क्षमता को भी आश्वस्त किया जाता है, तथा जिसमें बृहद् समाज मतदान द्वारा उसे पराजित नहीं कर सकता है। इस प्रकार संघवाद का अर्थ है, शक्ति का वितरण ताकि ऊपर और नीचे के राजनीतिक स्तर और संस्थाओं के प्रकार को उचित ठहराया जा सके और जिसमें इन सभी का सयाजन होता है प्रतिनिधित्व और प्राधिकार, संघ और विभिन्नता, संगठन और स्वतंत्रता।

इसी संदर्भ में, एकता और अनेकता के द्वैधवृत्ति मांगों के साथ समझौता करते हुए, बहुजातीय समाजों में संघ को एकात्मक या परिसंघ से ऊपर कुछ लाभ प्राप्त है। एक समझौते के रूप में केन्द्रीय तथा क्षेत्रीय सरकारों के बीच प्राधिकारों को

वितरण करते हुए, संघीय प्रणाली कुछ कार्यों में संपूर्ण राजनीतिक एकता स्थापित करती है तथा अन्य में क्षेत्रीय स्वायत्तता। एकात्मक संस्थानों की तुलना में जिन क्षेत्रीय दावों (माँगों) का प्रतिरोध किया जाता है, उससे कड़ी प्रतिक्रिया उत्तेजित हो सकती है, जिससे राष्ट्रीय एकता को खतरा हो सकता है। क्षेत्रीय समूहों को कुछ सुरक्षा प्रदान होती है ताकि वे अपने विशेष हितों की रक्षा कर सकें और निरंकुश शासन या नौकरशाही द्वारा शक्ति के एकाधिकार के खतरे को भी कम करता है। परिसंघीय संस्थान या अंतर-सरकारी सद्भावना की तुलना में, संघीय सरकार, सकारात्मक केन्द्रीय नीतियों को उपलब्ध कराती है जो एकमत क्षेत्रीय समझौते पर आश्रित नहीं हैं और इसके अलावा, सामान्य राष्ट्रीयता के विकास के लिए केन्द्र-बिन्दु भी उपलब्ध कराती।

इसलिए संघीय विचारधारा में सम्प्रभुता को आपस में बांटने का भी विचार है जो कि लोगों की आवश्यकताओं और इच्छाओं के प्रति जिम्मेदार है—व्यक्तिगत स्तर पर तथा संजातीय सामाजिक समूह—सदस्य के रूप में। अमेरिका के मुख्य न्यायाधीश रोजर.बी.टेनी के शब्दों में, सामान्य (केन्द्रीय) सरकार तथा राज्य की शक्ति हालाँकि एक ही क्षेत्रीय सीमा के अंतर्गत रहती या क्रियान्वित होती है, फिर भी इनमें अलग और विशिष्ट सम्प्रभुताएँ हैं, जो एक दूसरे से पृथक और स्वतंत्र, आपने क्षेत्रों में कार्य करते हैं।

ऐतिहासिक रूप में, इस प्रकार के संघवाद का प्रयोग जिसमें राष्ट्रीय अल्पसंख्यकों को व्यवस्थापित किया जाए, उसका मुख्य उदाहरण है कनाडा और स्विटजरलैंड। इन देशों में दिखता स्थायित्व और विकास, दूसरे बहु राष्ट्रीय देशों को युद्ध—उपरांत अवधि (जैसे युगोस्लाविया) या उपनिवेश—उपरांत (जैसे, भारत, मलेशिया, नाईजीरिया), संघीय प्रणाली अपनाने में प्रेरित किया है हालाँकि ऐसे कई संघ, गंभीर समस्याओं का सामना कर रहे हैं, फिर भी वर्तमान समय में बहुराष्ट्रीय देशों में संघवाद के प्रति रुचि फिर से उभर कर आई है और कुछ देशों में संघवाद को अपनाने की प्रक्रिया भी शुरू हो गई है। (बेलजियम, स्पेन, रूस)

यह कहा जाता है कि बहुजातीय समाजों में संवैधानिक व्यवस्था के संदर्भ में स्वायत्तता के लिए संघवाद के किसी भी रूप की आवश्यकता होती है जिसमें सम्प्रभुता की द्वैतता तथा रहती है और दोनों स्तर के सरकारों की शक्ति में समन्वय रहता है। आलोचकों का कभी-कभार यह कहना है कि संघीय संस्थानों में चूँकि शक्ति का विभाजन, विधिविदिता, कठोरपन, और प्राविधिकता है, इस कारण राज्य के कार्यों में अवरोध पैदा करता है। कुछ लोगों के अनुसार, बॉटे गए क्षेत्रों में अक्सर, गतिहीनता और अनिश्चितता रहती है। नीतियों में बड़े स्तर पर परिवर्तन लाने के लिए उच्च स्तर की सहमति या राजनीतिक इच्छा का अधिक दबाव चाहिए। सरकार से जो नागरिक प्रतिक्रिया या निर्णय की अपेक्षा करते हैं, उन्हें जटिल प्रक्रियाओं का सामना करना पड़ता है तथा दुहरापन, अनिश्चितता और विभाजित क्षेत्रधिकार में विलंब आदि को भी झेलना होता है। ऐसे आलोचकों के लिए संघवाद नीति का विरोधी (दुश्मन) है जो कि सुनियोजित, व्यापक, निरंतर, समरूप तथा विषय-निष्ठ है।

इन आलोचनाओं के उत्तर में डेनियल जे इलाजर के अनुसार, यह दृष्टिकोण व्यापक रूप से स्वीकृत अवधारणा पर आधारित है किन्तु शासन में कार्यकुशलता क्या होती है इसकी समझ भ्रांतिपूर्ण है। यह अवधारणा, सरकारी संगठनों की क्रमबद्ध सोच पर आधारित है। अब हमें यह प्रतीत होता जा रहा है कि ऐसी सोच न सिर्फ पुरानी है बल्कि गलत भी है। कागजों पर जो स्पष्ट क्रमबद्धता नजर आती है, वह व्यावहारिक नहीं है। कभी-कभी दबाव के कारण वे कुछ क्षण के लिए कार्य तो करते हैं किन्तु उसके परिणाम न तो सही या न तो कार्यकुशल होते हैं। इलाजर आगे यह विदित करते हैं कि यदि कोई अद्वैतवादी के रूप में शुरुआत करना चाहता है और एक प्रणाली के विचार और व्यवहार की वांछनीयता और व्यवहार्यता को सबों के लिए मानता हो, तब संघवाद न सिर्फ कार्य-कुशल नहीं है बल्कि गलत भी है क्योंकि यह विभिन्नता की परेशानी और मोर्चाबंदी को बढ़ावा देता है। यदि कोई बहुलवाद के रूप में शुरुआत करना चाहता हो और विश्व को एक विजातीय स्थान के रूप में देखना चाहता हो, तब उसे संघवाद का भिन्न मल्यांकन करना होगा जिसमें स्वतंत्रता की सुरक्षा संस्थापित है। इसप्रकार अद्वैतवादी जेकोबिन तथा मार्क्सवादी दृष्टिकोण ने संघवाद को एक गलत नीति के रूप में अस्वीकृत इस सीमा तक किया है कि उन्हें सच्चाई के साथ समझौता और बहुलवाद के अस्थायी अस्तित्व को भी स्वीकार करना पड़े। संघवादी विचार, की तुलना में, बहुलवाद को अपना रहे हैं और उसकी सुरक्षा के लिए साधन की भी मांग कर रहे हैं।

आज एक आम धारणा बन गई है कि संघीय शासन विजातीय जनसंख्या से राजनीतिक और आर्थिक एकीकरण के लिए एक व्यावहारिक संवैधानिक समर्थन प्राप्त करने की चेष्टा कर रहा है। संघवाद इसलिए सफल है क्योंकि राजनीतिक गतिशीलता को यह राष्ट्रीय से प्रांतीय केन्द्रों तक हस्तांतरण करता है। समरूप प्रांतों के मतभेदों को अंतर-जातीय भेद में परिवर्तित करता है तथा संजातीय समूहों को स्थानीय स्वायत्तता प्रदान करता है। इस प्रकार केन्द्रीकर्ता और प्रान्तकर्ता के बीच यह सामान्य आधार स्थापित करता है। संघीय प्रणाली सफल हो या विफल, यह प्रतिभागियों की विचारधारा पर निर्भर करता है, जिसमें सरकार और नागरिक दोनों होते हैं। यह मात्र संविधान से संबद्ध प्रश्न नहीं है बल्कि व्यवहार में क्या

समझा और कार्यान्वित हुआ है, इससे जुड़ा है। यह कहना अनावश्यक है कि सीमित सफलता और विफलता के अनुभवों ने यह दर्शाया है कि संघवाद द्वारा प्रजातीय मुद्दों के प्रभावी समाधान के लिए यह महत्वपूर्ण हो जाता है कि स्वायत्त क्षेत्रों, राज्य के मूलभूत प्रतिमान के अंतर्गत, स्थानीय मुद्दों के प्रति प्रभावी नियंत्रण प्राप्त कर सके। यह सत्य है कि स्वायत्तता, स्वतंत्रता के समानांतर नहीं है, और स्वायत्त सरकार को केन्द्रीय सरकार के प्रभाव से उन्मुक्त नहीं होना चाहिए। साथ ही, राज्य को लचीली विचारधारा अपनानी होगी जिससे स्वायत्त क्षेत्र, वास्तविक शक्ति का प्रयोग कर सके, खासकर जब वह शक्ति प्रयोग, राज्य की केन्द्रीयकरण तथा समरूपता के प्रति झुकाव के विरोध में रहती है।

16.6.2 सहयोगवाद

जातीय आकांक्षाओं के लिए, संघवाद एक स्वीकृत उपकरण है, किन्तु यह पूर्ण समाधान नहीं है। राष्ट्रीय अल्पसंख्यकों को स्वीकार करने में, मात्र संघवाद की सत्यता पर्याप्त नहीं है— यह उस पर निर्भर करता है कि किस प्रकार संघीय सीमाओं का निर्धारण तथा शक्ति को आपस में बाँटा जा रहा है। साथ ही संघवाद, स्व-शासन के लिए मात्र एक उपकरण है, उस स्थिति में जब राष्ट्रीय अल्पसंख्यक, संघीय उप-इकाई में बहुसंख्यक का रूप लेते हैं। इन पहलुओं को ध्यान में रखते हुए कुछ राज्यों ने एक अन्य प्रक्रिया का सुझाव दिया — सहयोगवाद।

सहयोगवाद या फिर एरेन्ड लिजफार्ट के अनुसार, सहयोगी प्रजातंत्र इस विचार पर आधारित है कि पहचान (आईडेंटिटी) न कि हित, राजनीतिक व्यवहार की मुख्य प्रेरणा है। पहचानों में संघर्ष, खतरनाक सिद्ध हो सकता है और, इसलिए समूहों के बीच की विभेदता को शांत तथा व्यवस्थित करना अधिक जरूरी है न कि प्रतियोगिता द्वारा उनके प्रस्तावों को स्वीकार करना। राष्ट्रीयता और जातीयता की राजनीति के संदर्भ में, यह सरकार का एक स्वरूप (मॉडल) उपलब्ध कराती है जिसमें एक से अधिक राष्ट्रों या प्रजातीय समूहों के बीच पृथक्करण के आधार पर शांतिपूर्ण सामंजस्य की स्वीकृति होती है, समान साझेदारी होती है न कि एक राष्ट्र की दूसरे पर प्रबलता। इस प्रकार यह सिर्फ एक राष्ट्र, एक राज्य नीति का विकल्प नहीं है, बल्कि आधिपत्य और अंतर्राष्ट्रीय उपनिवेशवाद व्यवस्था का भी विकल्प है।

एरेन्ड लिजफार्ट, जिन्होंने सहयोगी प्रजातंत्र की सूक्ति को प्रतिपादित किया, जिसकी शुरुआत सांस्कृतिक बहुल राज्यों की महत्वपूर्ण विशेषताओं को रेखांकित करते हुए किया जहाँ उनके अनुसार, सहयोगवाद का कोई न कोई रूप व्यवहार में रहता है, जैसे स्विटजरलैंड, बेल्जियम, लेबनान (1970 के दशक के मध्य तक), नीदरलैंड तथा ऑस्ट्रिया। सहयोगवाद की मुख्य विशेषता इस प्रकार हैं

- (1) राज्य की शासन व्यवस्था में एक विशाल संयुक्त मन्त्रिमण्डल जिसमें सभी भागों के प्रतिनिधि होते हैं (अर्थात् राष्ट्रीय या जातीय समूह) इसे दूसरे शब्दों में अभिजातवर्ग समायोजन कहा जाता है कि इसमें उन समूहों के नेता विवादों को सुलझाने के लिए आगे आते हैं।
- (2) प्रत्येक के आकार के अनुसार एक आनुपातिक प्रतिनिधित्व चुनावी प्रणाली, लोक व्यय को आपस में बाँटने की आनुपातिक व्यवस्था तथा लोक समूहों में रोजगार।
- (3) एक आपसी निषेधाधिकार प्रणाली जिसमें कोई भी समूह, महत्वपूर्ण मामलों में सरकार के प्रति निषेध जारी कर सकता है।
- (4) प्रत्येक समूहों के लिए स्वायत्तता, चाहे वह संघ में क्षेत्रीय सरकार के द्वारा हो या हस्तांतरण व्यवस्था या संस्थानों द्वारा (जैसे शिक्षा) जो समूहों को कुछ स्व-शासन उपलब्ध कराता है।

सहयोगवाद में जो एक मूल विचारधारा है, वह यह कि शासन के अंगों में प्रतिनिधित्व के संयोजन को निर्वाचक-गणों की प्रजातीय संयोजन में प्रदर्शित करना चाहिए। जातीय भिन्नताओं को प्रतिनिधित्व मिलना चाहिए और इसलिए राजनीतिक प्रणाली में वे महत्वपूर्ण भेदक भी हैं, जॉन नेगल के अनुसार मतभेद के अन्य स्रोत नीचे दब जाते हैं। वैन डेन बर्ग के अनुसार "सहयोगी प्रजातंत्र में, जातीय आनुपातिकता का आवश्यक उपपरिणाम है वर्ग संघर्ष का मूकपन। इस सीमा तक कि जातीय संवेदनशीलता का राजनीतिकरण हो सके ओर वर्ग चेतना को नीचे रखा जा सके। इस अवलोकन से, राजनीति पर जातीयता का अभिजात दबाव का मूलाधार स्पष्ट होता है। यह जातीय विभेद के निर्माण के लिए जातीय विभिन्नता के उपकरण को भी उद्घोषित करता है जो चुनौतियों के लिए खुला है। बैरी, स्टार्डनर तथा ऑब्लर ने लिजहर्ट की आलोचना इसलिए की है क्योंकि स्थायी बहुल राजनीतिक समायोजन की जगह विभिन्न सफल सांस्कृतिक अभिजन के समन्वय का प्रस्तुतीकरण किया है। सैद्धांतिक स्तर पर सहयोगवाद की सार्थकता के विरुद्ध बैरी का कथन है कि (1) गिरिजाघर-राज्य तथा श्रमजीवी-वर्ग मुद्दे, जातीय विभाजनों से अधिक विस्फोटक हैं। (2) धार्मिक एवं वर्ग समूह के नेताओं की तुलना में संजातीय समूह के नेताओं को अपने अनुचरों को क्रमबद्ध करना कठिन हो रहा है। (3) धार्मिक एवं वर्ग समूह की अपेक्षा प्रजातीय समूह हित अधिक स्पष्ट और विनिमेय हो रहे हैं। (4) जातीय विभेद, संबंध विच्छेदी मुद्दों को उठाती हैं जो धर्म और वर्ग नहीं उठाती। उनका यह विशेषकर रूप से मानना है कि जातीय भावनाएँ तथा बढ़कर बोली लगाने की अवधारणा,

जो उन देशों में प्रामाणित है जहाँ चुनाव राजनीतिक दल पर आधारित जातीयता है (जैसे गुयाना, श्रीलंका, उत्तरीय आयरलैंड और नाईजीरिया) तथा "साम्प्रदायिक दंगों का होना, जैसे भारतीय महाद्वीप, इंडोनेसिया साइप्रस तथा उत्तरीय आयरलैंड— दोनों ही स्थिति में सहयोगवाद की सार्थकता नहीं है।

सहयोगवाद प्रणाली को सफल बनाने के लिए, मैकगैरी तथा ओ लियरी का कहना है कि कम से कम तीन मूलभूत परिस्थितियों का उपस्थित होना आवश्यक है। पहला, विरोधी जातीय समूहों को दूसरे राष्ट्रों के साथ या अपने राष्ट्र राज्य निर्माण के तात्कालिक या मध्यम-अवधि के समीकरण या एकीकरण के लिए प्रतिबद्ध नहीं होना चाहिए। राष्ट्रीय मतभेद में अपरिवर्तनीय शून्य-जोड़ की विशेषता होती है। जातीय समुदाय में पूर्ण विकसित या अनन्य चेतना के विकास को रोकने के लिए राजनीतिक अभिजनों को राज्य की राष्ट्रीय पहचानों को कम प्रदर्शित करना होगा जो कि कठिन है। दूसरे आने वाली राजनेताओं की पीढ़ी को मतभेद संतुलन तथा सहयोगवाद प्रणाली को कायम रखने की उचित प्रेरणा होनी चाहिए। उनकी प्रेरणा, स्व-हित या उच्चस्तरीय हो सकती है, किन्तु उसके बिना सहयोगवाद की व्यवस्था संभव नहीं है। तीसरे, संबद्ध जातीय समुदाय के राजनेता को स्वयं कुछ राजनीतिक स्वायत्तता का उपभोग करना होगा ताकि वे बिना बेईमानी के आरोप के समझौते कर सकें। यदि उनमें आत्म-बल की कमी है क्योंकि राजधानी शहरों में बाहरी लोग जो अपने राष्ट्र का पुनः स्थापन चाहते हो या विरोधी नेताओं द्वारा वे मात खा रहे हो—इनके कारण वे कड़े समझौते के लिए तैयार नहीं हो सकते।

16.7 सारांश

आधुनिक समाज, अल्पसंख्यक समूह की मांगों का सामना कर रहा है जो अपनी पहचान और सांस्कृतिक-विभिन्नता के समायोजन की मांग कर रहा है। पहचान से संबद्ध समूहों को सामान्यतः संजातीय कहा जाता है। समकालीन राजनीतिक प्रयोग में संजातीय और अल्पसंख्यक जैसे शब्द अन्तर्बदल कर प्रयोग किए जाते हैं जो उस समूह का विवरण करते हैं जिसमें राज्य के प्रमुख समूह नहीं बल्कि सामान्य भाषा, जाति, धर्म या राष्ट्रीय उद्भव के आधार पर समूह आपस में मिल-बॉट कर रहते हैं। इस संदर्भ में समाज के बृहद् बहु संख्यक, बहुजातीय और बहु सांस्कृतिक हैं।

हालांकि संजातीय सांस्कृतिक विविधता कोई नई अवधारणा नहीं है, पिछले कुछ दशकों से विश्व में कुछ स्पष्ट संजातीय तथा जाति-सांस्कृतिक नवजागरण हुआ है, अर्थात् संजातीयता का। संपूर्ण विश्व में व्यक्तिगत सांस्कृतिक पहचान के लिए बढ़ती जागरूकता आई है। पूरे विश्व में, बहु-राष्ट्रीय राज्य इस मुद्दे का सामना कर रहे हैं। हालांकि, संजातीय आंदोलन की उग्रता के कारण तथा कुछ राज्यों में विघटन की समस्या से, राज्य और विद्वानों द्वारा जातीयता के इस पहलू को सुलझाने के लिए नीतियों की आवश्यकता पर गंभीर विचार किया जा रहा है।

अंतर्राष्ट्रीय समुदाय स्तर पर अब यह संभावना की जा रही है कि सिर्फ सार्वभौमिक व्यक्तिगत मानवाधिकारों को अल्पसंख्यकों पर लागू नहीं करना होगा बल्कि विशिष्ट अल्पसंख्यक अधिकारों के सम्मान की भी आवश्यकता है। पारंपरिक रूप से, राज्य की नीति रही है, राष्ट्र की एकता के अंतर्गत विभिन्नता का आत्मसात्करण। इसको उन्होंने एकीकरण या राष्ट्र-निर्माण की प्रक्रिया कहा है। कई प्रकार से सरकार, सक्रीय रूप से जातीय समूहों को सामान्य शैक्षणिक, आर्थिक, राजनीतिक संस्थानों में जो राष्ट्रीय भाषा के अंतर्गत कार्यान्वयन करता है, उसमें उनके एकीकरण को प्रोत्साहित कर रही है, और दबाव भी डाल रही है। अब, बहुलवाद को भी स्वीकार किया जा रहा है तथा उन नीतियों को भी अपनाया जा रहा है जो बहुलवाद को एक सामाजिक सच्चाई के रूप में तथा बहुसांस्कृतिकवाद, अल्पसंख्यक अधिकार संघवाद, सहयोगवाद आदि के माध्यम से अल्पसंख्यक की आकांक्षाओं का समायोजन कर सके, उसका भी सम्मान हो रहा है। यह सत्य है कि कई लोगों के लिए पुराने अर्थ में समीकरण, अधिक उचित है।

संजातीयता, संजातीय भेदभाव, समायोजन, धार्मिक असहिष्णुता तथा सहनशीला आज के समकालीन विश्व में महत्वपूर्ण मुद्दे हैं। कई मामलों में, हालांकि राज्य नीतियों और कार्यक्रमों में अविभेदकता और समानता उपलब्ध कराए गए हैं, फिर भी कानूनी निर्देश और व्यावहारिकता में एक दूरी रही है। हालांकि एक सामंजस्य का उद्भव हुआ है कि बहुल समाजों में जाति धार्मिक अल्पसंख्यकों के लिए सुरक्षा का पर्याप्त प्रबंध होना चाहिए। सुरक्षा की प्रक्रिया की प्रकृति और विस्तार प्रत्येक समाज और संदर्भ के अनुसार बदलती रहती है।

16.8 बोध प्रश्न

1. संजातीयता से आप क्या समझते हैं? उसकी मूल विशेषताओं का वर्णन करें।
2. कुछ राज्यों द्वारा संजातीय समूहों को एकीकृत करने के लिए आत्मसात्करण की नीति की आलोचनात्मक व्याख्या करें।
3. संजातीय अल्पसंख्यकों के समायोजन के लिए बहु-सांस्कृतिकवाद की नीति का मूल्यांकन करें।
4. बहुजातीय समाजों में संघवाद और सहयोगवाद की भूमिका का विश्लेषण करें।

समुदाय पहचान की राजनीति

संरचना

- 17.1 प्रस्तावना
- 17.2 समुदाय पहचान की परिभाषा और संरचना
 - 17.2.1 समुदाय पहचान क्या है।
 - 17.2.2 समुदाय पहचान की संरचना
 - 17.2.3 समुदाय पहचान के लक्षण
- 17.3 समुदायों में पहचान चेतना और संघर्ष के कारण
- 17.4 समुदाय द्वारा अपनाए गए तरीके एवं रणनीतियाँ
 - 17.4.1 सांस्कृतिक प्रतिरोध
 - 17.4.2 सशस्त्र संघर्ष
- 17.5 निष्कर्ष
- 17.6 सारांश
- 17.7 बोध प्रश्न

17.1 प्रस्तावना

लिपिबद्ध मानव इतिहास ही शक्ति एवं संसाधनों के लिए संघर्ष का इतिहास है। इस संघर्ष के लिए, समूह एवं समुदाय का निर्माण पूर्वापेक्षित है। धर्म, वंश, जाति, कबीला, रंग आदि का उद्भव पृथक समुदाय में, लोगों के संघटन के आधार के रूप में हुआ। समय के साथ, इन समुदायों की पुष्टि, निहित स्वार्थ बन गया, और इस कारण अपनी पहचान की चेतना भी उनके लिए अनिवार्य हो गई। समुदाय की पहचान आज मानव जीवन की मुख्य दुविधा बन गई है, जबकि पूरा विश्व भूमंडलीय अन्योन्याश्रय का अनुभव कर रहा है। यह मुद्दा युद्ध के नए रूपों के उद्भव के लिए उत्तरदायी है राष्ट्रीय एवं अंतर्राष्ट्रीय क्षेत्रों में स्थानीय युद्ध या छद्म युद्ध। संकटकालीन परिस्थिति का सामना करते हुए से विशिष्ट-स्वायत्त, पृथककारी तथा संबंध-विच्छेदी आंदोलनों के लिए उत्तरदायी हैं जो वर्तमान राष्ट्र-राज्य व्यवस्था पर प्रत्यक्ष चुनौती है। दूसरे शब्दों में, विश्व में शायद की कोई क्षेत्र है जो समुदाय के पहचान के दावे के इस तथ्य से अप्रभावित है।

17.2 समुदाय की पहचान की परिभाषा एवं संरचना

17.2.1 समुदाय पहचान क्या है?

समुदाय पहचान की अवधारणा बहुत ही जटिल तथ्य है। जैसा कि थॉमस बेंडर लिखते हैं समुदाय सीमित व्यक्तियों को सम्मिलित करता है, सीमित सामाजिक क्षेत्र या नेटवर्क में और जो आपस में सांझी समझ एवं नैतिक बंधनों के आधार पर एक साथ संगठित है। संबंध बहुत समीप अधिकतर घनिष्ट और आमने-सामने होते हैं। हर व्यक्ति, प्रभावी या संवेदनशील कड़ी से जुड़ा रहता है, न कि व्यक्तिगत स्व-हित की अवधारणा से। समुदाय में हम लोग जैसी-अवधारणा होती है। एक सिर्फ सदस्य ही होता है।

बेंडर की समुदाय की परिभाषा को मानते हुए, यह प्रतीत होता है कि विशिष्ट सामाजिक अस्तित्व में सदस्य, सामान्य संकेतो एवं प्रतीकों रिवाज रिवाजो एवं मूल्यों, विचारधाराओं तथा विशेषताओं को आपस में बाँटता है और समुदाय के रूप में अपनी विशिष्टता का दावा करता है। इस प्रकार, निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि समुदाय की पहचान, व्यक्तियों को विशिष्ट समुदाय के प्रति निवासी होने को प्रतिबिंबित करता है और यह कि सामाजिक अस्तित्व में स्वतंत्र जीवन है और यह दूसरे समुदायों से भिन्न है। कई परिवर्ती, जैसे भाषा, वेश-भूषा, भोजन, लोकसाहित्य, त्यौहार, रीति रिवाज, शिल्पकारी या अन्य संस्थान, जैसा कि आर्मस्ट्रॉन्ग का मानना है। इन समुदायों की सीमा को रेखांकित करते हैं और अपनी विशिष्टता को जीवित रखने के लिए संरक्षक के रूप में कार्य करते हैं।

17.2.2 समुदाय की पहचान की संरचना

समुदाय अपनी पहचान का निर्माण उद्देश्यों के इर्द-गिर्द करते हैं, जैसे क्षेत्रीय स्थान, सांझी ऐतिहासिक स्मृतियाँ, सांझी परंपरा, सामान्य धार्मिक अनुष्ठान और प्रक्रिया, तथा सामान्य भाषा तथा वास्तविक या माना गया सामान्य वंश। ये सभी कारक, समुदाय के सदस्यों में संबंध की भावना को उजागर करते हैं। हालाँकि, नीरा चंदोक के अनुसार, इन अनुभवों की संरचना अनभिव्यक्त, गुप्त भावना, अकार्यान्वित या अस्पष्ट हो सकती हैं। समुदाय की पहचान की औपचारिक एवं अनौपचारिक संरचना पर टिप्पणी करते हुए, जोशुआ. ए. फिशमैन ने कहा, कि यह मुद्दा होने करने और जानने का है। सर्वप्रथम, होने के मुद्दे पर लोगों की संस्था का औपचारिक स्वरूप होना चाहिए जो अपने सामान्य वंश के साथ अंतर्वर्शीय कड़ी को आपस में बाँटते हैं और उपर्युक्त निश्चित गए उद्देश्य कारकों के इर्द-गिर्द उनका उद्भव होना चाहिए। दूसरा, करने के तथ्य पर, समुदाय की पहचान अपने सदस्यों से वास्तविक प्रक्रिया एवं व्यवहार की माँग करता है, जिसके लिए, बाह्य क्षेत्रों में भी समुदाय जाना जाता है। दूसरे शब्दों में, समुदाय की पहचान अपने सदस्यों से अंतर-समुदाय नैतिक बंधनों और भूमिका निभाने की माँग रखता है। तीसरा, जानने का मुद्दा पहचान चेतना को उल्लिखित करता है, जिसका अर्थ है, समुदाय के सदस्य इसकी समझ रखेंगे कि वे कौन हैं, कहाँ से आए हैं और अभिज्ञेय परिस्थिति में उन्हें क्या करना चाहिए। संक्षेप में, हम यह कह सकते हैं कि उन्हें बाहर और अंदर वालों के बीच भिन्नता का ज्ञान है।

17.2.3 समुदाय की पहचान के लक्षण

समुदाय की पहचान के लक्षण नीचे दिए गए हैं—

- (क) कुछ सामुदायिक पहचानें स्वाभाविक होती हैं और उन्हें बदला नहीं किया जा सकता। ऐसे समुदायों में, कोई वहाँ जन्म लेकर सदस्य बन जाता है। इस प्रकार ये पहचान, जाति, वंश, संजाती धार्मिक या कबीलीय कारकों पर आधारित हैं।
- (ख) यह भी संभव हो सकता है कि समुदाय सदस्यों की बहुत पहचानें हो, किन्तु किसी का भी महत्त्व, समय और परिस्थिति पर निर्भर करता है। इस प्रकार, ये प्रकृति में परिस्थिति परक हैं।
- (ग) पहचान, समुदाय के सदस्यों के बीच सामूहिक चेतना और संपर्क तथा अन्य समुदायों से दूरी और अलगाव से बनती हैं। इस प्रकार ये युक्ति संगत हैं।
- (घ) कुछ पहचान पूर्णतः स्वैच्छिक हैं और व्यक्तियों के चयन द्वारा उनका निर्माण होता है। किसी विशिष्ट व्यवसायी समुदाय का सदस्य होना, यह व्यक्तिगत निर्णय और चयन के आधार पर होता है और यह व्यक्ति-निर्मित सीमाओं को पार भी कर सकता है।

इस प्रकार, संक्षेप में, समुदाय पहचान की स्वरूप परिस्थितिपरक, युक्तिसंगत और प्रासंगिक होते हैं।

17.3 विशिष्टता चेतना के कारण तथा समुदायों में संघर्ष

ऐसा समय, जब विज्ञान और प्रौद्योगिकी के कारण विश्व सिकुड़ कर और अन्योन्याश्रय के संदर्भ में विश्व ग्राम हो गया है, लोगों में साम्प्रदायिक आधार पर संगठित होने की प्रवृत्ति भी बढ़ रही है। वे अधिक से अधिक अपनी सांस्कृतिक जड़ और भाईचारे के प्रति जागरूक होते जा रहे हैं और समुदाय के अंतर्गत संगठित होते जा रहे हैं जो अन्यथा सामाजिक संगठन का आदिकालीन स्वरूप माना जाता है। सबसे अधिक विकसित राष्ट्र कनाडा, अमरीका, ब्रिटेन, सबसे कम विकसित और निर्धन भारत तथा भुटान, पुराना रूस और नया बंगलादेशय प्रजातांत्रिक बेल्जियम और सत्ताधारी सूडान, मार्क्सवादी लेनिनवादी चीन तथा उग्रवादी यहूदी, मार्क्सविरोधी टर्की, प्रबल रूप का बौद्ध बर्मा, इसाई स्पेन, मुस्लिम ईरान, हिन्दु नेपाल तथा यहूदी इसरायल— सभी इस तथ्य से प्रभावित हैं। ऐसे कई कारण हैं जो विशिष्ट चेतना को उभारते हैं तथा विश्व के कई समुदायों में संघर्ष उत्पन्न करते हैं। ये इस प्रकार वर्गीकृत किए जा सकते हैं:

- (1) **उपनिवेशवाद**—उपनिवेश की प्रक्रिया जो औद्योगिक क्रांति के पश्चात् आरंभ हुई, एक मुख्य कारण है जो विभिन्न समुदाय तथा अंतर-समुदाय संघर्ष में पहचान की चेतना को उभारा। औपनिवेशिक मालिकों ने विभाजन करो, शासन करो की नीति को अपनाया। इस उद्देश्य के लिए, उन्होंने जनगणना की प्रणाली की शुरुआत की, विभिन्न वर्गीकृत और अवर्गीकृत समुदाय को पहचाना, और उन्हें नीति निर्माण का केन्द्र बनाया। उन्होंने सेना तथा नागरिक संस्थानों में विभाजित जनसंख्या को संतुष्ट किया, साम्प्रदायिक आधारों पर उन्हें नौकरी उपलब्ध कराकर। आगे, कोटा प्रणाली के माध्यम से इन समुदायों को कार्यपालिका एवं विधायी निकायों में प्रतिनिधित्व प्राप्त हुआ। विभिन्न साम्प्रदायिक, संजातीय तथा जातिवादी ब्रिगेड को अपनी बाह्य सूचक को कायम रखने के लिए प्रोत्साहित किया गया। हालाँकि, किसी एक द्वारा औपनिवेशिक साम्राज्य के विरुद्ध विद्रोह की परिस्थिति में, दूसरा ब्रिगेड या समुदाय का प्रयोग किया

जाता था जो समुदायों में ऐतिहासिक दुश्मनी का निर्माण करता था। इस प्रकार, इस पूरी प्रक्रिया ने पहचान चेतना तथा विभिन्न समुदायों में राज्य के विरुद्ध भी पहचान संघर्ष को जन्म दिया है।

(2) **धार्मिक आंदोलन की भूमिका**— 18वीं एवं 19वीं शताब्दी में, कुछ धार्मिक आंदोलनों का आविर्भाव हुआ। इन आंदोलनों का उद्देश्य था, इसाई धर्मप्रचारकों द्वारा बाह्य भय से धर्म की रक्षा करना तथा गिरते धार्मिक मूल्यों की पुनः स्थापना करना। इस उद्देश्य के लिए धर्मप्रचारकों ने समुदाय के सदस्यों में अपने स्वर्णिम अतीत की जानकारी दी तथा अपने समुदाय की खोई गरिमा एवं मान मर्यादा को पुनः स्थापित करने की चेष्टा की। हालाँकि, ऐसे कुछ धार्मिक आंदोलन, समुदाय पहचान के लिए खतरा बन गए, क्योंकि वे परिवर्तन की प्रक्रिया में जुट गए तथा अपनी सामान्य अंतर साम्प्रदायिक परंपरा में छल-योजना और गलत अर्थ लगाने लगे। इसलिए, ऐसी परिस्थिति में आंतकित समुदाय द्वारा प्रतिक्रिया सामान्य और स्वाभाविक थी। उदाहरण स्वरूप, आर्य समाज का प्रयास कि सिक्ख धर्म को बृहद् हिन्दु धर्म का भाग मान ले, इसमें एक पृथक धार्मिक समुदाय के रूप में सिक्खों के विशिष्ट पहचान को खतरा पहुँचा। ऐसे में सिंह सभा आंदोलन का आविर्भाव हुआ जो एक पृथक सिक्ख पहचान के लिए, 1870 के दशक से आरंभ हुआ।

(3) **अतार्किक एवं कठोर अंत— राज्य सीमा** : पहचान चेतना तथा पहचान के लिए संघर्ष भी अपनी सुविधा के लिए निरंकुश तथा अविवेकी सीमा के औपनिवेशिक निर्माण का परिणाम है। वास्तव में, औपनिवेशीकरण की प्रक्रिया के अंतर्गत, क्षेत्रीय इच्छा के कारण, औपनिवेशिक मालिकों ने युद्ध, संयोजन और विभाजन द्वारा निरंकुशतापूर्वक, अतार्किक और अविवेकी रूप से बाहरी-सीमाओं में बदलाव लाये। इससे, वही समुदाय अंतर्राष्ट्रीय सीमा से बाहर, दो या उससे अधिक राजनीतिक इकाई में बँट गया। हालाँकि, औपनिवेशिक मालिकों की शिथिल सीमा आवधारणा के कारण, समुदायों के दैनिक जीवन में कोई अवरोध नहीं आया। औपनिवेशिक सीमाओं के बाहर समुदायों में ऐसा विभाजन, समुदाय की विशिष्टता को कोई खतरा नहीं पहुँचा सका। इस विभाजन के बावजूद, सीमा के बाहर भी समुदाय के सदस्यों का सामान्य और नियमित आवागमन होता रहता। हालाँकि औपनिवेशिक युग के पश्चात्, नए शासनकर्त्ता अभिजनों ने कठोर सीमा अवधारणा को अपनाया जिससे सीमा के बाहर अंतक्रिया असंभव हो गई जिससे समुदाय की पहचान और एकता को खतरा पहुँचा जो अतार्किक सीमाओं द्वारा विभाजित था। इससे समुदाय जीवन पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ा क्योंकि इन कठोर और अतार्किक राजनीतिक सीमाओं के कारण एक विशृंखलित औपनिवेशिक संस्कृति उभर कर आयी जिसने मनोवैज्ञानिक लगाव और सांप्रदायिक सीमाओं पर ध्यान नहीं दिया जो अन्य स्थानों पर था।

(4) **आधुनिक बड़े राज्यों का आविर्भाव तथा स्वायत्तता की कमी**— पूर्व औपनिवेशिक एवं औपनिवेशिक अवधि में, कई समुदाय, स्वायत्त राजनीतिक इकाई के रूप में कार्य करते थे, तब भी जब वे भिन्न साम्राज्यों और राज्यशाही के भाग हुआ करते थे। कुछ अपवादों को छोड़कर, साम्राज्य और राज्यशाही ने उनके स्वायत्त और स्वाभाविक समुदायिक जीवन में हस्तक्षेप नहीं किया। वास्तव में, अनौपचारिक तरीकों से वे बहु-राष्ट्रीय साम्राज्य के अंतर्गत उनके सामाजिक और राजनीतिक विशिष्टता को स्वीकार किया और अंतर-साम्प्रदायिक जीवन के प्रति वे सम्मान प्रकट किया। औपनिवेशिक शासकों, उसी नीति का अनुसरण किया, किसी कठपुतली शासन सत्ता को स्थापित किया तथा सामाजिक-आर्थिक एवं राजनीतिक क्षेत्रों में समुदाय अधिकारों को स्वीकार किया। हालाँकि, औपनिवेशिक युग के पश्चात् इन समुदायों की स्वायत्त स्थिति की समाप्ति हो गयी। राज्य-निर्माण के नाम पर तथा स्वयं की क्षेत्रीय ढांचों में संपूर्ण संप्रभुता को स्थापित कर, शासन करने वाले अभिजात प्रशासन के केन्द्रीकरण के ऊपर कार्य करना आरंभ कर दिया। बड़े राज्य के उदय, जिससे सामाजिक क्रमबद्धता के अंतिम छोर तक तथा पूरे विस्तार में व्यापक प्राधिकार था, उसने इन समूहों की पारंपरिक स्वायत्तता पर तबाही मचाई जिसका वे काफी समय से उपभोग करते चले आए थे। ऐसे में समूह के अधिकार का सफाया हो गया। इन समुदायों के व्यक्तिगत कानून, नए राज्य वैधानिक प्रणाली से प्रतिस्थापित हो गए, जो अन्यथा अपनी प्रकृति में वैज्ञानिक, गैर-साम्प्रदायिक और गैर-ऐतिहासिक थे। आगे, राज्य ने आधुनिक किन्तु बहुसंख्यक संस्थानों को इन समुदाय के ऊपर थोपा, जो उनकी पारंपरिक प्राकृतिक तथा ऐतिहासिक साम्प्रदायिक संस्थानों के विनाश की कीमत पर था। ऐसी परिस्थिति में समुदायों का स्वायत्त जीवन समाप्त हो गया जिसके कारण समुदाय में विशेषकर छोटे आकार वालों में व्यापक असंतोष फैला।

(5) **आत्मसात्करण तथा सजातीयकरण का भय**— इनमें से कुछ समुदाय, क्षेत्रीय तथा राष्ट्रीय स्तर पर बहुसंख्यक समुदाय द्वारा अपनी विशिष्ट पहचानों पर आत्मसात्करण तथा सजातीयकरण के खतरों का अनुभव करने लगे। इस संभावना का सामना करने के लिए उन्होंने अपनी क्षेत्रीयता आधारित पहचान की माँगों को स्पष्ट किया। उदाहरणतः शबोडो कचारीश, जो एक भारत-मांगोलयड समुदाय था और जिसमें सशक्त सांस्कृतिक बंधन था। उन्हें यह भय था कि उनकी नियति में वही है जो अन्य मैदानी कबीलीय समुदाय को प्राप्त हुआ था जब वर्षों में उन्हें बृहद् असमी जनसमुदाय में आत्मसात कर लिया गया था, यदि उनका क्षेत्र स्पष्टतः रेखांकित या स्वीकृत नहीं था।

(6) **निम्न-उच्च लक्षण**— श्रेणीबद्ध समाजों में, जो आंशिक रूप से जमींदारी, जाति या संजातीय स्वरूप के ऐतिहासिक संबंधों में निहित हैं और आंशिक रूप में आधुनिक राज्य नीतियों द्वारा निर्मित हैं—उनकी परिभाषा सामाजिक-श्रेणी में समुदाय की अवस्थिति पर आधारित है। कई बार, ये सामाजिक श्रेणीबद्ध संबंध, निम्न-उच्च लक्षणों का कारण बन जाते हैं। निम्न समुदाय के सदस्य, सामाजिक व्यवहार तथा राज्य नीतियों के माध्यम से दबे उपेक्षित, निम्नीकृत तथा विभेदित रहते हैं और उच्च कोटि के समुदाय द्वारा प्रशासित होते हैं। संयुक्त राज्य में (अमरीका) में जो काले समुदायों के बीच पहचान की चेतना आई है, वह गोरों की वरिष्ठता के कारण है। ऐसे संबंधों के कारण समुदाय चेतना प्रभावित होती है राजनीतिक क्रियाओं का आधार बनती है। उदाहरणतः दक्षिण अफ्रीका में गोरे-काले के बीच संबंध तथा भारतवर्ष में उच्च और निम्न जातियों के बीच संबंध, इस श्रेणी में रखे जा सकते हैं।

(7) **सीमान्तीकरण (किनारे किए जाने का) का भय**— विभिन्न समुदाय में पहचान की चेतना का दूसरा कारण है, किनारे किए जाने का भय, क्योंकि देशी लोगों पर बाहर के समूह की प्रबलता हो जाती है। एक बाहरी समुदाय वह है, जो देशी लोगों के साथ जिस क्षेत्र में वे रहते हैं, उसकी ऐतिहासिक कड़ी में कमी रहती है, किन्तु स्वैच्छिक प्रवसन के कारण अथवा जनसांख्यिकीय इंजीनियर के राज्य प्रायोजित परियोजना के फलस्वरूप उसके भाग भी बन जाते हैं, नीति का ही उद्देश्य है देशी समुदाय की स्थिति को तटस्थ घोषित करना और अपने ही क्षेत्र में उसे अल्पसंख्यक के रूप में स्थापित करना। उदाहरणतः उत्तर दक्षिण अमरीका में रेड इंडियन, न्यूजीलैंड में माओरिस, तथा ऑस्ट्रेलिया में ऑबोरोजिन्स। इस स्थिति में, अंतर-समुदाय प्रतिस्पर्धा स्वाभाविक है क्योंकि इससे देशी समुदाय के हितों पर खतरा होता है। धरती पुत्र (सन्स ऑफ सॉयल) सिद्धांत, सीमान्त के इस भय का प्रत्यक्ष परिणाम है।

(8) **साक्षेप वंचन तथा भेदभाव की अनुभूति**— आर्थिक एवं राजनीतिक क्षेत्रों में राज्य द्वारा समानता को इनकार करने के कारण, समुदाय में वंचन तथा भेदभाव की अनुभूति होती है। कुछ समुदायों को अन्य समुदायों की तुलना में व्यवसाय क्षेत्र से पृथक् कर दिया जाता है या प्राकृतिक अधिकारों से वंचित कर दिया जाता है। राष्ट्रीय जीवन तथा सरकारी संस्थानों में उन्हें उचित प्रतिनिधित्व प्राप्त नहीं हुआ है। पीड़ित समुदाय द्वारा इसे आंतरिक उपनिवेशवाद माना जाता है। अल्पसंख्य समुदाय में सर्वथा शक्ति, सेवा और स्रोत के वंचन का जोखिम बना रहता

(9) **शक्तिहीनता का अनुभव**— यह मुख्यतः बहुसंख्यक अल्पसंख्यक साक्षेप का प्रत्यक्ष परिणाम है। इससे राज्य शक्ति और स्रोतों से, अल्पसंख्यकों का स्थायी रूप में वंचन होता है। प्रजातांत्रिक तर्कशीलता के माध्यम से इसकी पुष्टि होती है। यह दो भागों में वर्गीकृत हो सकता है।

(क) एक भाग में, राष्ट्रीय बहुसंख्यक, एक क्षेत्रीय अल्पसंख्यक हो सकता है जो क्षेत्रीय बहुसंख्यक के विरुद्ध खड़ा है, किन्तु राष्ट्रीय अल्पसंख्यक जैसे कि हिन्दु जो बहुसंख्यक है किन्तु पंजाब, जम्मू-कश्मीर राष्ट्रीय में क्षेत्रीय अल्पसंख्यक है।

(ख) दूसरे भाग में, क्षेत्रीय बहुसंख्यक, राष्ट्रीय अल्पसंख्यक हो सकते हैं जो राष्ट्रीय बहुसंख्यक के विरुद्ध हो सकते हैं, किन्तु क्षेत्रीय अल्पसंख्यक जैसे कि मुसलमान, जम्मू-कश्मीर में क्षेत्रीय बहुसंख्यक हैं, किन्तु वे राष्ट्रीय अल्पसंख्यक हैं, तथा सिक्ख, पंजाब में क्षेत्रीय बहुसंख्यक है किन्तु वे राष्ट्रीय अल्पसंख्यक भी हैं।

प्रतिस्पर्धात्मक संबंधों में, शक्ति एक अहम् भूमिक निभाती है। इस प्रकार दो समुदायों के बीच शक्ति का संघर्ष, राष्ट्रीय और क्षेत्रीय स्तरों पर देखा जा सकता है। क्षेत्रीय बहुसंख्यक सर्वथा शक्ति का विकेंद्रीकरण प्राप्त करना चाहते हैं जबकि क्षेत्रीय अल्पसंख्यक शक्ति के केन्द्रीकरण का समर्थन करते हैं और क्षेत्रीय बहुसंख्यकों का विरोध करते हैं विशेषकर जब क्षेत्रीय बहुसंख्यक हो जाते हैं। इस क्षेत्रीय एवं राष्ट्रीय स्तर पर शक्तिहीनता का अनुभव, समुदाय विशिष्ट चेतना के कारणों को बढ़ावा देता है।

(10) **राष्ट्रीय-निर्माण में त्रुटिपूर्ण अवधारणा**— तीसरे विश्व के राज्यों में राष्ट्र-निर्माण की त्रुटिपूर्ण अवधारणा भी समुदाय संघर्ष के लिए जिम्मेदार है। वास्तव में, राष्ट्र-निर्माण की प्रक्रिया में, शासक अभिजात वर्ग ने, आत्मसात्करण एवं संजातीयकरण को पूर्वास्थिति समझते हुए, सर्कीण एवं सरल रास्ता अपनाया तथा इन समुदायों के प्रचीन काल से निर्मित संरचना को भी ध्वस्त कर दिया। संजातीयकरण परियोजना के प्रति, अल्पसंख्यक द्वारा अवरोध को राष्ट्रीय एकता और निष्ठा के प्रति खतरा माना गया है और इस प्रकार राष्ट्र-विरोधी भी है। इस उद्देश्य के लिए, श्नागरिक-राष्ट्र की प्रणाली पर आधारित, राज्य, सामान्य सूचक, रीति-रिवाज, पर्व और संस्थानों को उभारने में विफल हो गया। वास्तव में, राज्य ने राष्ट्र के निर्माण का निर्णय किया, जो किसी विशिष्ट प्रबल बहुसंख्यक समुदाय के मूल्यों पर आधारित था। इस उद्देश्य के लिए राज्य ने प्रबल समुदाय के सभी रीति-रिवाज, संस्थान, सूचक और पर्व को अपनाया उन्हें राष्ट्रीय गौरव के मुद्दे के रूप में घोषित किया। दूसरी तरफ, स्थानीय संस्कृति इतिहास, भाषा, संस्थान तथा सूचक, न सिर्फ पीछे छूट गए बल्कि उन्हें नष्ट भ्रष्ट करने की चेष्टा भी की गई। इस प्रकार यह त्रुटिपूर्ण अवधारणा, ताकि गैर-ऐतिहासिक गैर-नागरिक तथा प्रबल समुदाय मुखी-राष्ट्र का निर्माण हो सके,

ऐतिहासिक रूप से विकसित स्वाभाविक राष्ट्र की कीमत पर, इसे सीमान्त अल्पसंख्यक समुदाय द्वारा पूर्ण रूप से अस्वीकार कर दिया गया।

(11) आधुनिकीकरण— जैसे-जैसे आधुनिकीकरण की प्रक्रिया फैलती है, यह सामाजिक संघटन की स्थितियों का निर्माण करती है—दोनों ही, क्षेत्रीय एवं गैर-क्षेत्रीय। यह, समाजशास्त्रीय सिद्धांत, जैसे आधुनिकीकरण, उदारवाद और मार्क्सवाद के अंतर्गत, दुर्लभ सामंजस्य के प्रति प्रत्यक्ष विरोध में रहता है और जो आधुनिकीकरण की प्रक्रिया, पृथक समुदाय को आत्मसात आधुनिक विश्वव्यापी विशिष्टता में करती है। उनका कहना था कि, जैसे-जैसे मानव-जाति, सामाजिक संगठन के आदिकालीन कबीलीय स्तर से जटिल औद्योगिक और औद्योगिक पश्चात् संरचना में परिवर्तित होता है, तब धर्म, भाषा, प्रजातीयता, जाति, रंग, प्रजाति के आदिकालीन संबंधों की पकड़ धीरे-धीरे कम होकर लुप्त हो जाएंगी। इसकी बजाय, श्रव्य-दृश्य जन संचार के आधुनिक साधन ने, बड़े स्तर पर संकीर्ण चेतना का निर्माण किया है। आधुनिकीकरण, ने बड़े स्तर पर राजनीतिक और आर्थिक प्रतिस्पर्धा को भी बढ़ावा दिया है जबकि अभिजातवर्ग अपने समुदाय के सदस्यों को गतिशील बनाते हैं, ताकि अन्य समूह की प्रतिस्पर्धा में उन्हें सत्ता और संसाधनों में यथोचित भाग प्राप्त हो सके। आधुनिकीकरण विभेद को और भी तीव्र बनाता है, सामूहिक पहचान चेतना को अभिव्यंजित करता है, और अंतर-समूह के बाहर, प्रतिस्पर्धा लाता है, जो अधिकतर साम्प्रदायिक संघर्ष और हिंसा में विकृत हो जाता है।

(12) समुदाय के नेतृत्व की भूमिका— साम्प्रदायिक पहचान की चेतना और अंत-समुदाय संघर्ष के संदर्भ में, नेतृत्वकी भूमिका को नजर अंदाज नहीं किया जा सकता। अधिकतर यह देखा गया है कि जब समुदाय अभिजात वर्ग को अपने हितों के प्रति दूसरे समुदाय से खतरा रहता है तब वह उनके समुदाय के सदस्यों को संघटित करने के क्रम में, वह इसकी अभिव्यक्त करता है कि इस स्थिति से समुदाय के अस्तित्व को खतरा है। अभिजात वर्ग अपने स्व-हित को साम्प्रदायिक हितों को रूप में चिन्तित करता है तथा वास्तविक या काल्पनिक करता है। उदाहरणतः रु पंजाब में कई बार इस संदर्भ में अकालियों ने पंथ खतरे में हैं इसका नारा लगाया।

17.4 समुदायों द्वारा अपनाए गए तरीके एवं रणनीतियां को अपनाना

जो समुदाय वास्तविक या काल्पनिक खतरे के अंतर्गत रहते हैं, वे अपनी पहचान तथा हितों की सुरक्षा के लिए विभिन्न प्रकार के तरीकों और रणनीतियों को अपनाते हैं। मॉनसरेट गुडबर्नो ने दो मुख्य रणनीतियों के विषय में बताया है जिसका प्रयोग समुदाय करते हैं। ये निम्नांकित हैं—

17.4.1 सांस्कृतिक प्रतिरोध

सभी समुदाय जो बहुसंख्यकों और पक्षपातपूर्ण राज्यों के विरुद्ध संघर्षरत हैं, उन्होंने सामान्यतः सांस्कृतिक प्रतिरोध का प्रयोग किया है। सांस्कृतिक प्रतिरोध में, समुदाय अपनी पहचान के सभी प्रकार के सूचकों और प्रतीकों का प्रयोग किया है। समुदायों ने, सांस्कृतिक प्रतिरोध की नीति को, लोक एवं निजी क्षेत्रों में अपनाया है। भारी समर्थन प्राप्त करने के दृष्टिकोण से इसमें प्रजातांत्रिक एवं गैर-लोकतांत्रिक प्रकार की क्रियाओं को भी अपनाया गया है। निजी क्षेत्रों में, परिवार एवं मित्र मण्डली के समुदाय सदस्य विरोध करते हैं। इस मामले में समुदाय की विशिष्ट और पृथक विशेषता है, भाषा, इतिहास, तथा संस्कृति जो समुदाय के अशिक्षित और अनजान सदस्यों में फैलाया जाता है, औपचारिक एवं अनौपचारिक माध्यमों द्वारा किन्तु लोक क्षेत्रों में, निम्नांकित चार प्रकार की क्रियाओं द्वारा वे इसका विरोध करते हैं।

(क) प्रतीकात्मक कार्य— छोटे समूहों अथवा एक व्यक्ति द्वारा भी किया जाता है। ऐसे कार्यों का मुख्य उद्देश्य है, सार्वजनिक क्षेत्रों पर अत्याचारी शासन के नियंत्रण को तोड़ना। ऐसे कार्य गली-मुहल्ले में किए जाते हैं और सभी दर्शकों को संबोधित किया जाता है। इस प्रकार के कार्यों में प्रायः प्रैफिटो और झंडों का प्रयोग किया जाता है।

(ख) हस्तक्षेप कार्य— सार्वजनिक घटनाओं के क्रम में समुदाय सदस्य के इन कार्यों को करते हैं। ऐसे कार्यों का उद्देश्य होता है, सत्ता को उसके जड़ से चुनौती देना तथा प्रतीकों को भ्रष्ट करना, जो यह प्रदर्शित करता है कि सजातीयता प्राप्त हो गई है। इन कार्यों को उच्च स्तर की जोखिम भरी स्थिति में किया जाता है क्योंकि ऐसी स्थिति में उच्च स्तर की सुरक्षा-व्यवस्था से किसी भी प्रकार की गड़बड़ी नहीं होती। इन कार्यों द्वारा, समुदाय के सदस्य न सिर्फ लोक-घटना के दर्शकों को संबोधित किया जाता है बल्कि अंतर्राष्ट्रीय संचार और विदेशी प्रतिनिधियों के माध्यम से अंतर्राष्ट्रीय समुदाय का भी ध्यान आकर्षित करते हैं। ये कार्य शासन करने वाले अभिजातवर्ग पर कूटनीतिक दबाव डालने में उपयोगी सिद्ध हुए हैं, ताकि अंतर्राष्ट्रीय या नागरिक समाज तथा अंतर्राष्ट्रीय मानवाधिकार संगठन द्वारा शंतिपूर्ण और प्रजातांत्रिक तरीके से साम्प्रदायिक तनाव को सुलझाया जा सके।

(ग) अभिजात वर्ग का कार्य— समुदाय के अंतर्गत, एक छोटा समर्पित अभिजात वर्ग, इस क्रिया का प्रयोग करता है। चूंकि अभिजात वर्ग का उद्देश्य है, समुदाय संस्कृति तथा अन्य प्रतीकात्मक मूल्यों को विकसित करना और कायम

रखना, वे इस दिशा में बहुत कार्य करते हैं। वे समुदाय के सदस्यों को पहचान-संकट के विषय में सूचित करते हैं, उनसे समुदाय हितों के लिए सर्वोच्च बलिदान देने की अपील भी करते हैं। इस उद्देश्य के लिए, समुदाय नेतृत्व कई सम्मेलन और कार्यशालाओं का आयोजन करते हैं। विद्वत्जन विभिन्न कार्यशालाओं के माध्यम से समस्याओं पर विचार विमर्श करते हैं तथा साहित्य का प्रकाशन करते हैं जिससे समुदाय के पारंपरिक गौरव के विषय में ज्ञान प्राप्त होता है और सदस्यों को कड़ी-मेहनत करने के लिए भी कहते हैं ताकि समुदाय की गरिमा बढ़े। वे पहचान या समुदाय हितों पर खतरों का भी पता लगाते और उसकी स्पष्ट करते और आवश्यक कदम और रणनीति का भी सुझाव देते हैं।

(घ) पूर्ण एकता के लिए कार्य- समुदाय के अभिजात वर्ग द्वारा पूर्ण एकता के लिए तैयारी की जाती है ताकि समुदाय के सदस्यों को संघटित कर समुदाय के मामलों में जन सहभागिता की प्राप्ति हो सके। इस कार्य के मुख्य उद्देश्य हैं, समुदाय की शक्ति का प्रदर्शन, किसी विशिष्ट माँग पर केन्द्र-बिंदु करके तथा उसे इस प्रकार प्रस्तुत करके जिसमें उसे प्राप्त भारी समर्थन के कारण अस्वीकृत नहीं किया जा सके। उदाहरणतः पंजाबी सूबा आंदोलन के अंतर्गत अकाली दल द्वारा विरोध, प्रदर्शन एवं मोर्चा तथा बाद में आनंदपुर साहिब संकल्प के लिए अकालियों द्वारा प्रदर्शन ताकि सिक्ख समुदाय को संघटित किया जा सके। हालाँकि ये क्रियाएँ तब होती हैं जब सत्ता की अत्याचारी प्रकृति की साक्ष्य कमी, कुछ उल्लंघन करने की अनुमति देता है तथा जनसंख्या, राज्य की शक्ति को चुनौती देता है। दिलचस्प बात तो यह है कि इस प्रकार का उल्लंघन सिर्फ वही राज्य कर सकते हैं, जो अंतर्राष्ट्रीय समुदाय के समक्ष प्रजातांत्रिक होने का ढोंग रचते हैं। सांस्कृतिक विरोध के माध्यम से, कुछ समुदाय अपनी विशिष्टता को कुछ स्तर तक प्राप्त करने में सफल हुए हैं क्योंकि कुछ राज्यों ने संवैधानिक मापदण्ड के अंतर्गत समुदाय के दावों को समायोजित करने के लिए सकारात्मक कदम अपनाये हैं।

17.4.2 सशस्त्र संघर्ष

अधिकतर मामलों में, जहाँ राज्य संवैधानिक व्यवस्थाओं के माध्यम से समुदाय को संतुष्ट करने में विफल हो जाते हैं, समुदाय अपने लिए पृथक राज्य की मांग तेज करते हैं, इससे राज्य समुदाय की पृथक्तावादी उद्देश्यों को रोकने के लिए सैनिक कार्यवाही के लिए विवश हो जाते हैं। ऐसी स्थिति में समुदाय के चतुर व्यक्ति सशस्त्र संघर्ष अपनाकर प्रवर स्थान ग्रहण कर लेते हैं। राज्य के विरुद्ध सशस्त्र बल प्रयोग करने के लिए वे निम्नलिखित दो विकल्पों में से एक विकल्प आक्रमण और पूर्ण युद्ध चुनते हैं।

(क) निर्धारित लक्ष्य पर आक्रमण- निर्धारित लक्ष्य पर आक्रमण सबसे अधिक सामान्य विकल्प है जिसका प्रयोग विभिन्न समुदाय करते हैं। विशेषकर वे जो अपेक्षाकृत कमजोर होते हैं और राज्य के विरुद्ध लड़ने में उनके पास पर्याप्त श्रोत नहीं होते हैं। इसके माध्यम से समुदाय राज्य की सम्पत्ति, क्षेत्र और संस्थानों को अपने आक्रमण का लक्ष्य बनाता है। वे उन प्रतीकों को भी अपना लक्ष्य बनाते हैं जो राज्य के अत्याचार और तानाशाह के प्रदर्शन की वस्तुएँ हैं। इस विकल्प से समुदाय सार्वजनिक स्थानों को भी अपना लक्ष्य बनाते हैं, लगाव या सम्भावित पीड़ितों की विशेषताओं की परवाह किए बिना जिससे लोगों में असुरक्षा की भावना उत्पन्न होती है। राजनीतिक हत्या, अवैध या खुले रूप से गोली और बम का सार्वजनिक स्थानों, बसों ट्रेनों या हवाई जहाजों में प्रयोग करना इन लक्ष्य आक्रमणों का सामान्य स्वरूप है। इस संदर्भ में जो आधुनिक विकास हुआ है, वह है मानव बम का प्रयोग, अपहरण तथा आत्मघाती आक्रमण। यह राज्य की अपने ही राज्य क्षेत्र में अन्यों द्वारा की जा रही हिंसा को नियंत्रित करने में उसकी संवेदनशीलता और अक्षमता को भी दर्शाता है। इन घटनाओं के कारण, अन्तर्राष्ट्रीय संचार माध्यमों ने भी समुदाय तनाव के मुद्दों को उठाया है। आगे इसने राज्य की सार्वजनिक सम्पत्ति और संस्थान की सुरक्षा के लिए गुप्त अर्धसैनिक बल, निजी सेना, कमाण्डो दस्तों अन्य कार्यप्रणाली बनाने के लिए दबाव डाला है।

(ख) पूर्ण युद्ध- पूर्ण युद्ध एक अन्य विकल्प है जिसका अधिकतर प्रयोग समुदाय द्वारा, राज्य के विरुद्ध किया जाता है ताकि उनकी मांगों को स्वीकार किया जा सके। इस प्रणाली को उन समुदायों द्वारा अपनाया जाता है जिसमें सशक्त आर्थिक और सैन्य समर्थन आधार होता है तथा उन राज्यों में जो अपने क्षेत्रों पर पूर्ण प्रभावी नियंत्रण नहीं रख सकते हैं। इस प्रकार के युद्ध में समुदाय का अनियमित नागरिक सेना को राज्य के व्यवसायिक सैनिकों के विरुद्ध लड़ना होता है और वे राज्य से अलग होने का प्रयास करते हैं। पूर्ण युद्ध की मुख्य विशेषता विशेषकर तीसरे विश्व के राज्यों में यह है कि इसमें समुदाय हथियारों की उच्च तकनीक का प्रयोग करता है तथा राज्य व्यवस्था को कमजोर करने के लिए नागरिकों पर व्यवस्थित और सनियोजित आक्रमण करता है। जो समुदाय अंतर्राष्ट्रीय सीमाओं पर स्थित है या समुद्री तट तक उनकी पहुँच है, उन्हें बाहरी शक्तियों से उदार समर्थन प्राप्त होता है। विदेशी शक्तियों से उदार समर्थन प्राप्त होता है। विदेशी शक्तियाँ उन्हें आर्थिक समर्थन, हथियार प्रशिक्षण और नियोजन आदि प्रदान करके अपना समर्थन देती हैं। बाहरी शक्तियों के सहयोग से ये समुदाय अपनी मांगों के अन्तर्राष्ट्रीयकरण तथा अपनी सरकारों पर दबाव डालने में सफल हुए हैं। कुछ मामलों में समुदाय अपनी सरकार को परिवर्तित कराने में सफल हुई

है। कुछ अन्य मामलों में उन्होंने मुख्य भागों में क्षेत्रीय नियंत्रण प्राप्त किया है तथा वहाँ वे राज्य के वास्तविक शासक भी बन गए हैं। उदाहरण के लिए, लिट्टे (एल. टी. टी. ई.) ने राज्य के विरुद्ध सैन्य शक्ति का प्रयोग करके श्रीलंका के अधिकतर उत्तरी एवं पूर्वी प्रांतों पर अपना नियंत्रण स्थापित किया तथा जॉर्जिया में पूरे अबखाजिया प्रांत के ऊपर अबखाजियों का नियंत्रण। कुछ मामलों में राज्य का क्षेत्रीय विघटन करने में भी वे सफल हुए हैं। परिणाम स्वरूप इन समुदायों ने विश्व में नए राष्ट्र राज्यों का निर्माण किया है। पूर्ण युद्ध से इन राज्यों में अराजकता की स्थिति बनी हुई है। इससे विकास प्रक्रिया पर भी प्रतिकूल प्रभाव पड़ा है। शरणार्थियों तथा राज्य विहीन नागरिकों के लिए भी गम्भीर समस्या हो गई है जिसके कारण बृहद् स्तर पर विभिन्न राज्यों की विदेश नीति भी प्रभावित हुई है। कुछ मामलों में राज्यों ने स्थिति के नियंत्रण के लिए बाहरी सहायता भी प्राप्त की है। नागरिक युद्ध की स्थिति में अंतर्राष्ट्रीय संगठन विशेषकर संयुक्त राष्ट्र शांति स्थापना कार्यो द्वारा स्थिति के नियंत्रण के लिए कुछ कदम उठाए हैं। किन्तु ये प्रयास बहुत प्रभावी नहीं हो रहे हैं, क्योंकि वर्तमान व्यवस्था से समुदाय सन्तुष्ट नहीं है और इसलिए अपनी आदिकालीन विशिष्टता की सुरक्षा तथा राज्य की भेदकारी अवधारणा के विरुद्ध लड़ाई लड़ रहे हैं।

17.5 निष्कर्ष

समुदाय की पहचान के लिए पुनः प्रयास तथा परिणाम स्वरूप राजनीतिक घटना ने राष्ट्रीय क्षेत्र में और अंतर्राष्ट्रीय क्षेत्र में भी राजनीतिक के स्वरूप, आधार तथा पैटर्न को प्रभावित किया है, राष्ट्रीय स्तर पर इसके कारण व्यापक रूप से संघर्ष और अत्याचार हुए हैं जिसके परिणाम स्वरूप, लोगों की मृत्यु, विनाश तथा विस्थापन हुआ है और जिसके कारण आन्तरिक सीमाओं में वृद्धि आई है। इससे आन्तरिक सीमाओं में पुनः अंकन किया है और परिवर्तन को प्रभावित किया है। इससे, राजनीति में संकीर्णता आई है तथा समूह या समुदाय के अधिकारों के प्रति जागरूकता भी बढ़ी है। अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर इसके कारण अंतर्राष्ट्रीय सीमाओं में परिवर्तन आया है तथा शरणार्थियों की समस्या भी बढ़ी है। संयुक्त राष्ट्र के सदस्य राज्यों के देशी क्षेत्राधिकारी जिसे बहुत ही कुशलता से धारा 7 के संयुक्त राष्ट्र चार्टर के अन्तर्गत अभेद्य बनाया गया था, उसे 40 राष्ट्रों में संयुक्त राष्ट्र की शक्तियों को शांति-स्थापन के लिए स्थापित करके, समाप्त कर दिया गया। अंतर्राष्ट्रीय समुदाय के कार्यक्रमों में बहुसंख्यक के अधिकारों को ऊँचा दर्जा दिया गया है। समुदायों में राज्य व्यवस्थाओं का विश्लेषण के कारण ऐसी स्थिति का निर्माण हुआ है जिसमें विश्व के अल्पसंख्यक अब बहु संख्या में हैं। देशी और विदेशी नीतियों तथा राष्ट्रवाद और अंतर्राष्ट्रवाद के बीच जो पारम्परिक विभेद है, उसे चुनौती मिली है।

17.6 सारांश

आज के विश्व में, जो मुख्य असमंजस है, वह है समुदाय की पहचान। ये विशिष्टताएँ स्वायत्तवादी पृथक्तावादी और विलगन्तावादी आंदोलनों को जन्म देते हैं जो वर्तमान राष्ट्र राज्य व्यवस्था को प्रत्यक्ष चुनौती देते हैं। समुदाय की पहचान स्वाभाविक (जन्म से) परिस्थितिपरक (समय और स्थिति पर निर्भर करते हुए) सम्बन्धपरक (सामूहिक चेतना या पृथक्ता पर निर्भर करते हुए) तथा प्रासंगिक (व्यक्तिगत निर्णयों पर आधारित) होते हैं। पहचान चेतना और संघर्ष का जन्म, कई कारणों से हुआ है, जैसे शूट डालों और शासन करोश की औपनिवेशिक नीति धार्मिक आन्दोलन, औपनिवेशिक शक्तियों द्वारा अपनी सुविधा के अनुसार निरंकुश और तर्कहीन सीमाओं का निर्माण, समुदाय नेतृत्व जो समुदाय के प्रति भय और डर की स्थिति को दर्शाते हैं, आधुनिक राज्यों के उदय के साथ छोटे समुदायों में स्वायत्तता की कमी जिससे आत्मसात्करण और शक्तिहीनता का भय होता है। इन वास्तविक या काल्पनिक खतरों से उबरने के लिए समुदाय ने रणनितियों का विकास किया है। इस ईकाई में दो मुख्य रणनितियों पर विचार किया गया है—सांस्कृतिक प्रतिरोध और सशस्त्र संघर्ष समुदाय की पहचान के प्रति बढ़ती जागरूकता और प्रबल प्रयास के परिणाम स्वरूप व्यापक संघर्ष और अत्याचार, आन्तरिक सीमाओं का पुनः विभाजन हुआ है और सभी राष्ट्रीय सीमा को पार कर चुका

17.7 बोध प्रश्न

1. समझाए, कि समुदाय अपनी पहचान कैसे बनाता है?
2. समुदाय की पहचान की परिभाषा दें। विभिन्न समुदायों में संघर्ष के क्या कारण होते हैं? कि
3. अपने हितों के प्रति वास्तविक अथवा काल्पनिक खतरों का सामना करने के लिए समुदायों ने क्या रणनीति अपनायी हैं?

इकाई 18

संजातीय आंदोलन

संरचना

- 18.1 प्रस्तावना
- 18.2 संजातीय राष्ट्रवाद
- 18.3 संजातीय आंदोलनों के लिए उत्तरदायी कारक
 - 18.3.1 आधुनिकीकरण और संजातीयता
 - 18.3.2 राजनीतिक अर्थव्यवस्था
 - 18.3.3 सापेक्ष वंचन (हानि)
 - 18.3.4 संजातीयता तथा संसाधन प्रतिस्पर्धा
 - 18.3.5 अभिजात वर्ग प्रतिस्पर्धा
 - 18.3.6 आंतरिक उपनिवेशवाद
 - 18.3.7 सांस्कृतिक वंचन
 - 18.3.8 बाहरी कारक
- 18.4 आंदोलन
- 18.5 संजातीय आंदोलन की रणनीतियाँ
- 18.6 सारांश
- 18.7 बोध प्रश्न

18.1 प्रस्तावना

आज अधिकांश समाज बहुजातीय तथा बहुसांस्कृतिक है। औपचारिक स्रोतों द्वारा सूचित 190 राष्ट्र राज्यों में से, 150 राज्योंवार या उससे अधिक संजातीय समूह इनकी सीमा रेखा के अंतर्गत रहते हैं। इनमें से कई को अल्पसंख्यक समूहों का सामना करना पड़ता है जो अपनी पहचान और सांस्कृतिक विभेदों के समायोजन की माँग कर रहे हैं। ऐसे समूहों के सर्वेक्षण में, टेड गुर्र ने अपनी 1993 के अध्ययन में 233 अल्पसंख्यक जातीय समूहों को छाँटा है जो प्जोखिमर में है। इससे उनका अर्थ उन समूहों से था जो द्वितीय विश्व युद्ध के उपरान्त अपने सामूहिक विभेदन के कारण राजनीतिक कार्यवाही कर रहे हैं। इस प्रकार वे वास्तविक रूप से अंतर-जातीय संघर्ष में उलझे रहते हैं। इन 233 समूहों में से मात्र 27 या 12 प्रतिशत समूहों में, 1945 से ही किसी राजनीतिक संगठन, विरोध, विद्रोह, या अन्य प्रकार के अंत-समुदाय संघर्ष का कोई इतिहास नहीं है। गुर्र ने यह भी दर्शाया है कि विश्व के 127 देशों का, जिसका उन्होंने परीक्षण किया है, उसमें 75 प्रतिशत समूहों में कम से कम एक, तथा अन्य में अधिक भी, अत्यधिक राजनीतिक अल्पसंख्यक होते हैं। इस प्रकार प्रजातीय तनाव तथा आंदोलन, हिंसक और अहिंसक संघर्ष के मुख्य स्रोत बन गए हैं। यदि विश्वभर में इतने अधिक बहुसंजातीय राज्य संकट में है तो यह स्पष्ट है कि इन आंदोलनों और उनके प्रकार और स्वरूप के पीछे कारणों को समझने की आवश्यकता है। यह जानकारी संघर्ष समाधान के लिए उपाय और प्रक्रिया भी सहायक सिद्ध होगी। विश्व के अनेक विद्वान इस प्रकार का अध्ययन कर रहे हैं। इस इकाई में हम इन पर विचार करेंगे।

18.2 संजातीय राष्ट्रवाद

इकाई में पहले आपने संजातीयता के अर्थ को पढ़ा है। इस शब्द में भी राष्ट्र की कुछ सामान्य बातें हैं। जैसा कि वॉकर केनॉट का लिखना है कि प्राचीन अर्थ में राष्ट्र वैसा व्यक्ति-समूह है जो पैतृक-संबंधों में विश्वास रखता है। यह ऐसा समूह है, जिसे पैतृक सामान्यता तथा रक्त-संबंध के अपील पर उत्प्रेरित या कार्य के लिए उत्तप्रेरित या कार्य के लिए उत्तेजित किया जा सकता है। इस संदर्भ में, राष्ट्रवाद जैसा कि प्रयोग में है, राज्य के प्रति निष्ठा को विदित नहीं करता। वैसी निष्ठा या स्वामिभक्ति, राज्य के प्रति देशभक्ति को प्रदर्शित करती है। राष्ट्रवाद, अपने राष्ट्र के प्रति निष्ठा, या विस्तारित परिवार की भावना के प्रति निष्ठा का द्योतक है। इसलिए, कोई अंग्रेज या वेल्श राष्ट्रवाद की बात कर सकता है न कि ब्रिटिश राष्ट्रवाद की। केनॉट ने इसलिए कहा कि दो के प्रति देशभक्ति, दो अलग प्रकार की बात का प्रतिनिधित्व करता है। राज्य के प्रति देशभक्ति की प्रकृति सामाजिक-राजनीतिक होती है और यह उचित स्व-हित पर आधारित होती

है। राष्ट्र के प्रति देशभक्ति, औचित्य से ज्यादा अन्तर्ज्ञान पर आधारित है जिसकी भविष्यवाणी हम समरक्तता अर्थात् सामान्य वंश या गोत्र के आधार पर करते हैं। इसलिए मानव जाति राष्ट्रीय आंदोलन करते हैं और जिनमें राष्ट्रीय समूह होने की भावना होती है।

संजातीय समूह, जिसे अल्पसंख्यक भी माना जाता है, सामान्यतः तीन प्रकार के होते हैं। राष्ट्रीय अल्पसंख्यक, आप्रवासी संजातीय समूह, तथा शरणार्थी समूह। राष्ट्रीय अल्पसंख्यकों में, राज्य के मूल निवासी होते हैं। पहले, इतिहास के किसी समय में वे स्व-शासित समूह होंगे किन्तु कई कारणों से, जैसे साम्राज्य निर्माण, औपनिवेशिक शक्तियों द्वारा नए राज्यों का गठन या संधियों द्वारा समीकरण, ये समूह बड़े राज्यों में समाहित हो गए हैं। राष्ट्रीय अल्पसंख्यक समूहों का निर्माण संभवतः नए धर्मों के निर्माण से या बाहरी धर्मों में रूपांतर और फिर बाद में उनमें एक पृथक पहचान की भावना का विकास होने से भी हुआ होगा। आप्रवासी संजातीय समूह वे होते हैं जिन्होंने अपने राष्ट्रीय समुदाय को त्याग दिया है और दूसरे राज्यों में नौकरी की खोज में स्वयं या परिवार को लेकर आ गए हैं। कुछ समय में वे समान संस्कृति या धर्म के आधार पर आप्रवासी समूह का गठन करते हैं। शरणार्थी समूह, आप्रवासी संजातीय समूह की भाँति ही होते हैं, अन्तर सिर्फ इतना है कि ये अपने देशों की स्थिति से भयभीत होकर दूसरे राष्ट्र में आ गए हैं।

अध्ययन द्वारा यह दर्शाया गया है कि प्रथम प्रकार के संजातीय समूह ही मानव-जाति राष्ट्रवाद में सम्मिलित रहते हैं। उन समूहों के साथ यह अधिक संबंध रखता है जो राज्य के कुछ क्षेत्रों में केन्द्रित रहते हैं और जिसे वे अपनी मातृभूमि समझने लगते हैं। विश्व के कई राज्य न सिर्फ बहु-जातीय हैं बल्कि बहु-मातृभूमि भी हैं। कुछ आप्रवासी समाज, जैसे आर्जेन्टाइना, ऑस्ट्रेलिया तथा अमरिका, के अपवाद को छोड़कर, विश्व, संजातीय मातृभूमि में विभाजित है, जिनके नामों से ही विशिष्ट लोगों का पता चलता है। प्रजातीय समूहों की मातृभूमि के कुछ उदाहरण इस प्रकार हैं—कैटेलेनिया, क्रोशिया, इंगलैंड, फिनलैंड, इबोलैंड, आयरलैंड, कुर्दिस्तान, मिजोलैंड, मोंगोलिया, नागालैंड, पाकीतुनिस्तान, पोलैंड, स्कॉटलैंड, स्वाजीलैंड, स्वीडन, तिब्बत, उजबेकिस्तान इत्यादि।

जिन लोगों ने अपने नाम, क्षेत्रों को दिया है, वह मातृभूमि मात्र क्षेत्र ही नहीं बल्कि उससे बहुत अधिक महत्व रखती है। ऐसे संवेदनशील लगाव के कारण, मातृभूमि को कई अन्य नाम दिए गए, जैसे जन्मभूमि, पितृ-भूमि, पवित्र मिट्टी, पैतृक भूमि, मातृभूमि कहलाने से, इसमें पैतृक और पारिवारिक अवधारणा का समावेश हो जाता है मातृ-भूमि से संवेदनशील लगाव इस बोध से होता है कि यह हमारी सांस्कृतिक भूमि है तथा मानवजाति राष्ट्रीय समूह का भौगोलिक ढाँचा है जिसका उसे सहयोग-प्राप्त है। इसलिए, इस मातृभूमि के लिए मानवजाति राष्ट्रीय समूह अधिक स्वायत्तता या पूर्ण स्वतंत्रता की मांग करती है। हालाँकि जातीय आंदोलन सिर्फ विशिष्ट क्षेत्रों में संघटित जातीय समूहों द्वारा ही नहीं होता। क्षेत्रीय संघटन से मातृभूमि का बोध होता है तथा राष्ट्रीय भाषा में अपनी शिकायतों को प्रकट करने का आसान माध्यम। हालाँकि आंदोलनों के उदय के कई कारण हैं।

18.3 संजातीय आंदोलनों के लिए उत्तरदायी कारक

जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है कि संजातीय चेतना और संघर्ष पूरे विश्व में व्यापक रूप में हैं। पाकिस्तान, सोवियत यूनियन, युगोस्लाविया तथा चेकोस्लोवेकिया—इन सभी का विघटन हो गया है। ऑस्ट्रेलियाई से वेल्श आदिवासियों तक, आरमीनियन से तमिल तक, आर्इनु से यानोमनि तक विश्व भर की सभी जातियाँ अब राजनीतिक क्रिया में गतिशील हो रही हैं कभी-कभी हिंसक संघर्ष में भी ताकि वे अपनी पहचान बना सकें, अपने अधिकार और विशेषाधिकारों की रक्षा कर सकें, अपनी शिकायतों को उपस्थित कर जीवन को सुनिश्चित कर सकें। वास्तव में, कई समाज, जो द्वितीय विश्व के पूर्व, आत्मसात के मानक (मॉडल) हुआ करते थे, आज वहाँ लगातार जातीय उतार-चढ़ाव हो रहे हैं। पुराने उदाहरणों में जो कारण उपस्थिति किए जा रहे थे कि आधुनिकीकरण आर्थिक विकास, शिक्षा और साक्षरता का बढ़ता दर विज्ञान और प्रौद्योगिकी में विकास, आदि से जातीयता, राजनीति में धर्म और संस्कृति की भूमिका में हस्तांतरण होगा, आज यह अवधारणा बदल चुकी है।

18.3.1 आधुनिकीकरण तथा संजातीयता

व्यावहारिक अर्थ में आधुनिकीकरण का अर्थ है, उच्चस्तर के परिवर्ती को प्राप्त करना, जैसे शिक्षा, प्रति व्यक्ति आय, शहरीकरण, राजनीतिक सहभागिता औद्योगिक रोजगार, संचार सहभागिता इत्यादि। जैसा कि कहा जा चुका है, प्रारम्भिक आधुनिकीकरण सिद्धांतों में संजातीय पहचानों को परंपरागत अवरोध माना जाता था। जो विकास के साथ संभवतः लुप्त हो जाएंगे। हालाँकि, पिछले दशक के अनुभवों के आधार पर यह देखा गया है लोगों का प्रगतिशील समीकरण का सिद्धांत त्रुटिपूर्ण था। शुरुआत में ऐसा विकास और आधुनिकीकरण हुआ कि समरूपता आनी शुरू हुई। किन्तु समय के साथ-साथ, आपस के ही विवाद और विरोधी तत्वों के कारण वे विफल हो गए और जिसके परिणामस्वरूप, पहले से ही विकसित तथा नए विकासशील समाजों में राष्ट्रीय अल्पसंख्यकों का प्रमुख अभिव्यक्ति थी।

विशेषकर विकसित औद्योगिक समाजों में, आधुनिकीकरण से व्यक्तित्व स्तर पर एक खालीपन आता है, जिसे कुछ लोगों ने शहस्तांतरण या जड़हीनता कहा है। कुछ हद तक हस्तांतरण, कार्य-परिस्थिति के कारण हो सकता है, या फिर अत्यधिक केन्द्रीकृत राज्य शक्ति-संरचना के अंतर्गत, औपचारिक, नौकरशाही या शहरी जीवन की व्यक्तित्वहीनता के कारण हो सकता है। आधुनिक कल्याणकारी राज्य, संरक्षक की भूमिका के अलावा, अपने नागरिक के प्रति प्रबंधक की भूमिका को भी अपना रहे हैं। परिणामस्वरूप, सभ्य समाजों में, राज्य का प्रवेश बढ़ता जा रहा है और साथ ही एक तरफ संसाधनों और पहल शक्ति का केन्द्रीकरण हो रहा है तथा दूसरी तरफ राज्य से लोगों की आशाएँ भी बढ़ती गईं। राज्य अब सामाजिक-आर्थिक जीवन के लगभग सभी पहलुओं के नियंत्रण के लिए उत्तरदायी हो गया है, तथा राज्य के नियामक की दृश्यता ने इसे वह एक नया केन्द्र-बिन्दु और कार्य का क्षेत्र तथा विस्तारित संघर्ष बना दिया है। जो ऐन्टोनी ई. एलकाक के अनुसार, इसके दो प्रभाव हैं। पहला जब भी सरकार ने नागरिकों के जीवन में हस्तक्षेप किया है, वे उनसे और भी अलग होते गए हैं, चूँकि ध्यान देने की आवश्यकता को उन्होंने नहीं समझा। राज्य की नौकरशाही संरचना, व्यक्तिगत नागरिक तथा उनके जीवन को प्रशासित करने वाली निर्णय-कर्ताओं के बीच की कड़ी है। उन निर्णयों को प्रभावित करने की उनकी क्षमता में कमी आई है, जैसे-जैसे सरकारी क्षमता और प्राधिकारों में गिरावट आती गई। इसलिए यह आश्चर्यजनक नहीं होना चाहिए कि अधिकांश लोगों ने अनुत्तरदायी राष्ट्रीय सरकार के प्रति अपनी निष्ठा को हटा लिया है और वैसे संस्थान जो अधिक प्रभावी और सुगम्य हैं। इसमें पारंपरिक या लघु-समूह मूल्यों की ओर लौटना भी सम्मिलित है। यह सत्य है कि इन संजातीय पहचानों में प्रतिकूल या असंगत तत्व नहीं पाए जाते, क्योंकि ये औद्योगिक और शहरी क्षेत्रों के कमजोर बंधनों के परिणाम हैं जिसके कारण स्व-निर्देशित अलगाववाद की भावना का उदय हुआ।

औपनिवेशिक उपरान्त के समाजों में आरंभ के राष्ट्रीय नेतृत्व ने आधुनिकीकरण और राष्ट्र निर्माण की अपनी धुन में संजातीय विभिन्नताओं को उभारा, जिसकी जड़ औपनिवेशिक शासन की प्रक्रियाओं में, औपनिवेशिक तथा राष्ट्रीय संघटन में थी। औपनिवेशिक अवधि में, सरकार की कार्यकुशल, केन्द्रीकृत और प्रबल व्यवस्था के माध्यम से उच्च स्तर का राजनीतिक-क्षेत्रीय समीकरण आया। हालाँकि इससे सांस्कृतिक तथा संजातीय समूहों को भी स्वयं को राजनीतिक रूप से संगठित करने में सहायता मिली। राष्ट्रीय आंदोलन ने भी संजातीय समूहों को, रणनीतिक तथा सैद्धांतिक रूप से तैयार किया। आत्म-निर्णय की अवधारणा, जो कि उपनिवेशों में स्वतंत्र आंदोलनों का मुख्य प्रेरक-स्रोत था, यह स्वतंत्रता की अवधारणा से लिया गया था, उसी प्रकार जैसे यह राष्ट्र की अवधारणा से लिया गया है और जो व्यक्ति की एक स्पष्ट इकाई है, जिसमें अपनी संप्रभु राज्य के निर्माण के लिए, सामान्य राजनीतिक इच्छा है। स्वतंत्रता संघर्ष की इच्छा और आवश्यकता इस प्रश्न के उत्तर की माँग करती है कि किसके लिए स्वतंत्रता। उपनिवेशवाद, एक स्तर तक, पहचान की समस्या का समाधान प्राप्त कराती थी। यह कई लोगों की आपस में बाँटी गई पहचान के लिए एक तैयार आधार उपलब्ध कराती है, जो कि शोषित और अधीनस्थ लोगों की पहचान थी और वे संपूर्ण आत्म-अभिव्यक्ति की खोज में थे। किन्तु स्वतंत्रता के पश्चात् कई भागों के समूहों ने स्वीकृति प्राप्त की। परिणामतः औपनिवेशिक उपरान्त विश्व-व्यवस्था, जो राज्य की सर्वोच्चता की अवधारणा पर निर्मित है, आरोपित राष्ट्रवाद पर संचालित है, धर्मनिरपेक्ष या धार्मिक सिद्धांतों द्वारा तर्कसंगत है, तथा अत्यधिक शक्तिशाली नौकरशाही तंत्र द्वारा संचालित है, वह आज तनाव और दबाव में है।

इस प्रकार, विकसित और विकासशील दोनों समाजों में आधुनिकीकरण, बढ़ते वर्गीकृत असमानता, व्यक्तिगत और सामूहिक अलगाववाद को और अधिक गंभीर और बिगाड़ देने का स्रोत बन जाता है। संचार का विकास, यातायात, सामाजिक नामांकन तथा शहरीकरण ने समाज की एकता और समरूपता को नहीं स्थापित किया है। वास्तविक रूप में ये सारे तत्व जो वस्तुतः रहन-सहन की शैली में एकरूपता लाने वाले थे, उन्होंने जातीय समूहों को एक सचेत अस्तित्व के रूप में पहचानने के साधन को उपलब्ध कराया है। वॉकर कोनोर के अनुसार, विश्व में आधुनिकीकरण के विभिन्न स्तरों पर संजातीय विषमता के पैटर्न के जो प्रमाण उपलब्ध हैं, उससे सामाजिक संचार और संघटन में वस्तु के बढ़ने का संकेत मिलता है और जिससे सांस्कृतिक जागरूकता और अंत-जातीय संघर्ष भी अधिक प्रबल होता है।

आधुनिकीकरण सिद्धांत के द्वारा, वर्तमान विश्व में जातीय दृढकथन का संकेत मिलता है जो वस्तु-उपरान्त मूल्य के रूप में है और जो औद्योगिक-उपरान्त समाज में, वस्तु-रुचि के साथ समानांतर प्रतिस्पर्धा रख रहा है। इस संदर्भ में, कुछ प्रेक्षकों ने आधुनिक युग में संजातीयता के पुनरुज्जीवन को विज्ञान की प्रगति और धर्म के पतन के साथ जोड़ा है। धर्मनिरपेक्ष वैज्ञानिक राज्य के क्षेत्र की वृद्धि और समुदाय के धार्मिक रंगों के खत्म होने के साथ, लोग कई दुविधाओं का सामना कर रहे हैं जैसे तर्कशीलता बनाम समुदाय (धार्मिकता) किसी एक का, दूसरे के लागत पर चयन की आवश्यकता, या किसी प्रकार संतोषजनक समीकरण लाना। इन दुविधाओं के समाधान के लिए संजातीय इतिहासवाद का उदय हुआ। संजातीय इतिहासवाद का उद्देश्य है कि संजातीय साम्प्रदायिक पहचान की पुनःखोज और पुनर्जीवनता के माध्यम से जातीय समुदाय को पुनरुज्जीवित किया जा सके तथा पूर्व जैसे विचारधाराओं का पुनर्निर्माण किया जा सके। इस संदर्भ में, धर्मनिरपेक्ष बुद्धिजीवियों की विशेष भूमिका रही है जो पहचान-संकट स्थिति से गुजर रहे हैं और जो संजातीय ऐतिहासिक पुनरुज्जीवन के रक्षक रहे हैं।

चाहे कितना भी विश्वासोत्पादक यह तथ्य क्यों न हो कि आधुनिक विश्व में, बढ़ते सामाजिक परिवर्तन के परिवेश में, संजातीयता को इस भीड़ में एक नया नाम और पहचान दिया गया है किन्तु सत्य यह है कि कोई भी सामाजिक प्रक्रिया, राजनीतिक-आर्थिक कारणों से अलग रहकर, अलगाव में नहीं हो सकती। इसलिए आधुनिकीकरण पूर्णतया इस तथ्य को नहीं बता सकती। इसके लिए हमें आर्थिक और राजनीतिक कार्यों को भी देखना पड़ेगा।

18.3.2 राजनीतिक अर्थव्यवस्था

राजनीतिक अर्थव्यवस्था का उदारवादी और मार्क्सवादी, दोनों ही प्रकार का विश्लेषण है। हालांकि इन दोनों अवधारणाओं में, आर्थिक प्रक्रिया के किसी पहलु पर विशेष बल या झुकाव, की विभिन्नता होती है। इसका एक कारण है क्षेत्रीय असमानताएँ कई विद्वानों ने यह कहा है कि बड़े-बहुजातीय समाजों में, आधुनिकीकरण और औद्योगिकीकरण असमान रूप से आगे बढ़ता है तथा अन्य की तुलना में कुछ जातीय समाज या क्षेत्रों को लाभ पहुँचाने की चेष्टा की है। उदाहरणतः वॉटसन ने लिखा है—

1945 के उपरान्त, विश्व में इसका असमान वितरण हुआ, न सिर्फ सामाजिक रूप से बल्कि भौगोलिक रूप से भी। अधिक मोटे तौर पर विकास या आधुनिकीकरण की प्रक्रिया ने स्थानिक स्तर के अलग परिणाम दिए। जहाँ नकारात्मक परिणाम राष्ट्रीय अल्पसंख्यकों से जुड़ गए, राजनीतिक आंदोलन की क्षमता को सम्भवतः सक्रिय बनाने की चेष्टा की गई। यह पाया गया कि अल्पसंख्यक राष्ट्रवाद द्वारा प्रतिपादित शिकायतें, ज्यादातर आर्थिक और राजनीतिक शोषण के संदर्भ में थी।

तीसरे विश्व के, औपनिवेशिक-उपरांत राज्यों में स्थिति और भी अधिक जटिल है। 70 के दशक के प्रारम्भ में ही, आर्थिक विकास के प्रतिमानों ने अपनी प्रभावहीनता को दर्शाया था। स्टेवेनहेगन ने यह विदित किया था कि यहाँ शासन करने वाले अभिजातवर्ग तीव्रता से आधुनिक बन गया है, किन्तु अधिकांश जनसंख्या अभी भी गरीब है। वास्तव में, औपनिवेशिक उपरांत पूँजीपति विकास में, पूँजीपति-पूर्व उत्पादन स्रोत तथा सामाजिक संगठन के स्वरूप के टूटने से बृहद् स्तर की गरीबी आई है जिससे बाजार अर्थव्यवस्था तथा एक प्रकार के अनाज की कृषि में वृद्धि तो आई है किन्तु लोगों को उनके पारंपरिक गाँवों से उखाड़ फेंका है और शहरी गंदगी और बढ़ते भूमिहीन सर्वहारा वर्ग का भी निर्माण हुआ है। जैसे-जैसे तीसरे विश्व की अर्थव्यवस्था, अंतर-राष्ट्रीय पूँजीवाद में परिणित या अधीनस्थ हुआ, आंतरिक धुर्वीकरण और असमानता, सामाजिक वर्ग और क्षेत्र में बढ़ती गई। दूसरे शब्दों में, दूसरों की इच्छा को संतुष्ट करने की सप्रतिज्ञ निश्चितता, व्यक्तिगत इच्छा को बढ़ाने में तथा अधिक माँगों को राजनीतिक प्रक्रियाओं में बाँटने में सहायक होती है। असमानताओं और इच्छाओं की आपूर्ति से निकले भावों को तुलनात्मक (सापेक्ष) वचन कहते हैं, जो कई प्रेक्षकों के अनुसार संजातीय राष्ट्रवाद का मुख्य कारण है।

18.3.3 सापेक्ष वचन

टेड रॉबर्ट गुर ने अपने शास्त्रीय अध्ययन श्व्यक्ति क्यों विद्रोह करता है? में साक्षेप वचन का उल्लेख, व्यक्ति की अपेक्षा और अनुभव की गई क्षमता बनाम दूसरों के संबंध में उसकी आर्थिक स्थिति, राजनीतिक शक्ति और सामाजिक स्तर, के बीच खाई के रूप में किया है। इसप्रकार वह विद्रोह के मनोवैज्ञानिक पहलु पर अधिक बल देते हैं जो लेनिन की अवधारणा को भी संपष्ट करता है कि शोषण से अधिक शोषित होने की भावना से ही व्यक्ति विद्रोही बनता है। इस सिद्धांत के अनुसार, न सिर्फ गरीब क्षेत्रों में राष्ट्रवाद का विकास होता है बल्कि धनी क्षेत्रों में भी यह संभव है यदि उन्होंने राज्य की आर्थिक राजनीतिक या सांस्कृतिक मामलों में साक्षेप वचन का अनुभव किया है। डी.एल. रोथ के अनुसार, एक दूसरा पहलु यह है कि विकास की प्रक्रिया में बहुसंख्यकों की अपेक्षा अल्पसंख्यकों ने बेहतर काम किया है। जिन्होंने अच्छा किया है, उनका यह मानना है कि वे और भी बेहतर कर सकते थे यदि एकल राज्य की संरचना में उनका भविष्य दूसरों के साथ नहीं जुड़ा होता। जो वचन का अनुभव करते हैं, वे भी समान समाधान खोज रहे हैं उनका एक अपना राज्य हो, ताकि वे वंचित करने वालों से स्वतंत्र होकर बेहतर रूप से विकसित हो सकें।

रॉथचाइल्ड ने इसी दृष्टिकोण से कहा कि आज राजनीतिकृत संजातीय प्रबलता उनमें अधिक है जो कई बहु-जातीय राज्यों के प्रबलों के मूल्य, स्तर या मानदण्ड को पूरा करने या प्राप्त करने में या तो सबसे कम सफल अथवा ज्यादा सफल हुए हैं। पहली श्रेणी के लोगों में अपनी विफलता के कारण रोष और अप्रसन्नता रहती है तथा दूसरी श्रेणी में इसलिए रोष और कुढ़न होती है क्योंकि उनकी आर्थिक सफलता को पूर्ण रूप से सामाजिक या राजनीतिक स्वीकृति नहीं मिलती। इस प्रकार प्मानवजाति राजनीति दो प्रकार के अन्तर्विरोध को रेखांकित करती है— सैद्धांतिक रूप से समान विकास के बावजूद, क्षेत्रों और समूहों में संरचनात्मक असमानताय तथा नियामक (आदर्शक) वचन को कार्यान्वित करने में राज्य की विफलता जो कि उसका उद्देश्य है। आधुनिक जीवन की जटिलताओं तथा परस्पर व्यापी समूह जो वर्तमान शक्ति संरचना से ध्यानाकर्षण चाहते हैं, इस परिस्थिति में, जातीयता एक विवेकशील संगठनात्मक नीति है जो राजनीतिक अभिजातवर्ग तथा उन्हें जो उसे बदलना चाहते हैं, दोनों को उपलब्ध होते हैं।

संजातीयता, इसप्रकार, वंचित लोगों के प्रयासों को निरुपित करती है जो राजनीतिक और आर्थिक विकास के लिए सांस्कृतिक और आर्थिक विकास के लिए सांस्कृतिक माध्यम का प्रयोग करते हैं। हालाँकि कई मामलों में दो संजातीय समूहों के बीच शक्ति की असमानता संघर्ष पैदा नहीं करती है। इस प्रकार के संघर्ष में कुछ शर्तें पूर्व होते हैं— (1) सामाजिक रूप से गतिशील जनसंख्या (2) प्रतीकात्मक इतिहास का होना जो उसकी विशिष्टता को घोषित करती है। (3) ऐसे प्रतीकों का चयन मानकीकरण तथा संप्रेषण, नेतृत्व के कारण समुदाय के साथ जुड़ा है। (4) एक संदर्भशील समूह जिससे संबंध के साथ साक्षेप वंचन संकलित होता है। किसी भी मामले में और ज्यादातर मामलों में, सिर्फ मध्यम वर्ग ही होते हैं जो वर्तमान प्रणाली को अपने हित और विकास की संभावना के प्रतिकूल समझते हैं और वे प्यथा पूर्व स्थिति को भी तोड़ना चाहते हैं। इसका अनुभव होने पर कि यह अकेले संभव नहीं है, वे उन समस्याओं पर बल देते हैं जिसका सामना जनसाधारण करते हैं तथा वैसे धार्मिक, संजातीय या क्षेत्रीय नारों का निर्माण करते हैं जो उस क्षेत्र के सभी वर्ग के लोगों को प्रभावित करते हैं। इसलिए, कुछ प्रेक्षकों का सोचना है कि संजातीयता का मुख्यतया प्रयोग संसाधन प्रतिस्पर्धा के उपकरण के रूप में किया जा रहा है।

18.3.4 संजातीयता और संसाधन प्रतिस्पर्धा

संसाधन प्रतिस्पर्धा इस विश्वास पर आधारित है कि साधारणतया संजातीय मतभेद अधिक गहरे सामाजिक — आर्थिक मतभेदों के मोहरों के रूप में कार्य करता है। रॉथचाइल्ड के लिए राजनीतिक संजातीयता, आदिवासीय जुड़ाव का कोई रूप नहीं है, बल्कि शक्ति के संघर्ष का एक उपकरण है जो कि आधुनिकीकरण की प्रक्रिया से जुड़ा है। केलस के अनुसार जातीय राजनीति में ऐसे कई उदाहरण मिलते हैं, जहाँ भौतिक और आर्थिक हित खतरे में हैं और लोग इसका इसप्रकार लाभ उठा रहे हैं कि वे न्यूनतम संसाधनों को प्राप्त करने के लिए अपनी संजातीयता के साथ खेल रहे हैं। इलेजर और मायानिहन ने भी यह सुझाव दिया है कि आज संजातीय राष्ट्रीय स्थिति की जो मुख्य विशेषता है, वह है संजातीय समूहों को एक हित—समूह के रूप में उनके हितों से उन्हें वंचित किया जा रहा है।

संसाधन, आर्थिक या राजनीतिक हो सकते हैं। आर्थिक संसाधन प्रतिस्पर्धा ने समाजशास्त्रियों के कार्यों में अपनी प्रधानता प्राप्त की है जो पारिस्थितिकीय मॉडल का प्रयोग कर रहे हैं। समाजशास्त्री जिन्होंने इस अवधारणा को किसी और से प्राप्त कर, इसको बढ़ाया है आर्थिक और राजनीतिक स्रोत प्रतिस्पर्धा दोनों पर केन्द्रित किया है। नीगल, जो स्रोत प्रतिस्पर्धा को सांस्कृतिक भौतिकवाद भी कहते हैं, कहा कि यह सिद्धांत, प्रौद्योगिकी और पर्यावरण के महत्व पर भी बल देता है, क्योंकि इससे संस्कृति का स्वरूप और तथ्य निर्धारित होता है। यह विवाद है कि आधुनिकीकरण, प्रजातीय समूहों में नौकरी, मकान तथा अन्य मूल्यवान स्रोतों के लिए, प्रतिस्पर्धा के स्तर को बढ़ाता है तथा संजातीय स्पर्धा तभी बढ़ती है जब संजातीय क्षेत्रों के आधार पर संजातीय संघर्ष और सामाजिक आंदोलन होता है। जो अध्ययन इस अवधारणा का प्रयोग करते हैं, वहाँ पाया गया कि अविकसित की अपेक्षा विकसित और औद्योगिक क्षेत्रों में जातीय दल समर्थ अधिक है। विकास के कारण जातीय गतिशीलता में कमी होने की बजाय वृद्धि आई है क्योंकि यह जातीय समूहों को स्रोत प्रदान करता है जिससे उनकी मोल तोल (विनिमय) की स्थिति में तथा कार्यों की संगठनात्मक क्षमता में वृद्धि होती है। जातीय आंदोलन के वर्ग आधार पर साहित्य भी इस सिद्धांत का समर्थन करते हैं क्योंकि यह दर्शाता है कि अपनी दूसरी जातीय समूह की अपेक्षा आंदोलन के सक्रिय कार्यकर्ता अधिक शिक्षित, संपन्न और उच्चतर व्यावसायिक स्तर के होते हैं।

18.3.5 अभिजात वर्ग—प्रतिस्पर्धा

पॉल ब्रॉस के अनुसार, संजातीय पहचान और आधुनिक राष्ट्रवाद का उदय विशेषकर राज्यों के केन्द्रीकरण के नेतृत्व और अप्रभावी संजातीय समूह के अभिजात वर्गों के बीच विशेष प्रकार की अंतरू क्रिया के कारण है किन्तु अनन्य रूप से इन राज्यों के परिधियों में नहीं। इस प्रकार, ब्रॉस के अनुसार, संजातीय प्रतिस्पर्धा, एक आधारभूत गतिशीलता है जो विशेष स्थितियों में संजातीय संघर्ष को प्रेरित करता है जो कि संजातीय समूहों में सांस्कृतिक मूल्यों की बजाय बृहद् राजनीतिक एवं आर्थिक वातावरण के कारण होता है। यह सिद्धांत इस मान्यता के साथ युक्ति संगत है कि संजातीय पहचान स्वयं एक परिवर्ती है बल्कि एक अंतिम व्यवस्था है। संजातीय समूह का सांस्कृतिक स्वरूप, मूल्य तथा क्रियाएँ, अभिजात वर्ग के लिए राजनीतिक सत्ता और आर्थिक लाभ के होड़ में, राजनीतिक स्रोत बन जाते हैं। वे समूह के सदस्यों की पहचान के लिए प्रतीक और निर्देशक बन जाते हैं, जिन्हें इसलिए बुलाया जाता ताकि वे आसानी से राजनीतिक पहचान का निर्माण कर सकें। विशेष अभिजात वर्ग द्वारा संजातीय समुदाय का आधुनिकृत तथा भौगोलिक—उपरान्त समाजों में निर्माण तथा रूपांतरण होता है जिसमें नाटकीय सामाजिक परिवर्तन हो रहा है—ब्रॉस के अनुसार, औद्योगिक—पूर्व समाजों में विशेषकर, राज्य संसाधन का आवंटन कोई प्राथमिक मुद्दा नहीं है, बल्कि स्थानीय समुदायों पर नियंत्रण आवश्यक है जो कि संजातीय समूह के अंतर्गत तथा संजातीय समूह और बाह्य शक्तियों के बीच का मुद्दा है जिसमें अन्य संजातीय समूह और राज्य भी सम्मिलित हैं।

डोनाल्ड होरोविज के अनुसार, सरकार से संजातीय माँग कर तथा प्रत्येक समूह के अंतर्गत संजातीय उग्रराष्ट्रीयता के प्रभाव को सहारा देकर, निर्वाचक-गणों से अनुरोध करने से, जो दल सिर्फ संजातीय विभेदों को प्रदर्शित करते थे अब वे उसे और प्रबल बना कर बढ़ा रहे हैं। उनका हालांकि यह सुझाव है कि संजातीय और सांस्कृतिक पुनरुज्जीवन के लिए आंदोलन अभिजात वर्ग-स्तर पर शुरू तो हो सकते हैं, किन्तु वहाँ समाप्त नहीं हो सकते हैं। पृथक बुद्धिजीवी अपने खोए हुए जड़ को पुनः प्राप्त करने के लिए इच्छुक हो सकते हैं, किन्तु इन जड़ों के खो जाने से उन्हें इस खोज के लिए आरंभिक नैतिक या आर्थिक नेतृत्व के अलावा और कुछ प्राप्त नहीं हो सकता। क्योंकि पश्चिमी-शिक्षित अभिजात वर्ग, प्रथागत धार्मिक क्रियाओं से अनभिज्ञ, स्थानीय ऐतिहासिक ज्ञान में कमी स्थानीय साहित्य से अपरिचित तथा संभवतः स्वयं की भाषा में भी पूर्णतरु सक्षम नहीं रहते हैं। अंतिम विश्लेषण में पुनः रवोज की प्रक्रिया को आगे बढ़ाने के लिए यह देशी बुद्धिजीवियों पर आश्रित रहता है।

18.3.6 आंतरिक उपनिवेशवाद

आंतरिक उपनिवेशवाद के सिद्धांत का सार (निर्भरता की वृहद् परिधि के अंतर्गत, लैटिन अमेरिकी लेखकों द्वारा सर्वप्रथम प्रतिपादित) है राज्य के अंतर्गत प्रबल या मुख्य समुदाय के सदस्यों तथा अल्पसंख्यक या बाह्य समुदाय के सदस्यों के बीच का संबंध, जिसकी विशेषता है शोषण।

1965 में लिखते हुए, कासावोका ने लिखा है कि आंतरिक उपनिवेशवाद, सांस्कृतिक रूप से विजातीय विशिष्ट समूहों में सामाजिक संबंधों की संरचना से मेल खाता है। एक दशक बाद, आयरलैंड को प्रयोगाश्रित उदाहरण के रूप में लेते हुए माईकल हेयर ने कहा कि जातीय समूह को अपने मुख्य क्षेत्रों के अधीनीकरण के कारण आंतरिक उपनिवेशवाद के अधीन होना होगा। इस अवधारणा के पीछे मुख्य तथ्य है कि पूँजी-विश्व अर्थव्यवस्था तथा साम्राज्यवाद राज्य विस्तार के कारण राज्य स्रोतों का विभेदक वितरण हो रहा है तथा संजातीय समूहों में बहुमूल्य रोजगार अवसर प्राप्त हो रहा है। वॉलरस्टीन के लिए आधुनिक राज्य का सार उसका साक्षेप प्राधिकार नहीं है बल्कि संजातीय समूहों में विशेषाधिकार तथा भेदीकरण के वितरक की भूमिका है। उसी प्रकार हेयर ने सुझाव दिया है कि आधुनिक पूँजीपति राज्य श्रम का सांस्कृतिक विभाजन पर विश्वास रखता है जो अमूल्य नौकरी और आर्थिक विकास को इसप्रकार अनियमित रूप से वितरित करते हैं कि राष्ट्र के मुख्य क्षेत्र सर्वोत्तम नौकरियों पर अपना नियंत्रण रखते हैं जबकि बाह्य क्षेत्र मध्य और संजातीय समूहों पर आश्रित रहते हैं जिनके पास सबसे कम निपुण और प्रतिष्ठित नौकरियाँ होती हैं। इसतरह, जैसे उपनिवेशवाद के अंतर्गत भौगोलिक बाह्य सतह में रहने वाले संसाधन और श्रम को सांस्कृतिक विदेशीय प्रौद्योगिक तथा संगठनीय सर्वोच्च प्रबल समूहों द्वारा विकसित किया जाता है, उसी तरह आंतरिक उपनिवेशवाद में, क्षेत्रीय बाह्य श्रम और संसाधन को विकसित किया जाता है ताकि केन्द्रीय समूह और उनके हितों को समृद्ध किया जा सके। परिणामस्वरूप संजातीय विभिन्न और आर्थिक अलाभकारी बाह्य जनसंख्या, शोषण की प्रतिक्रिया में स्वयं को गतिशील बनाती है। नागल के अनुसार, यहाँ जो हम देखते हैं वह एक सांस्कृतिक रूप से विभिन्न समूह है जो एक बाह्य प्रतिकूल स्थिति में रहते हैं और उनके संसाधन भी अस्थिर होते हैं और केन्द्र के निर्देश पर श्रम करते हैं। स्तरण प्रणाली में, संजातीयता और आर्थिक स्तर में अभिसरण के कारण, संजातीय विभेदीकरण जागरूकता की प्रमुखता बढ़ती है। इसप्रकार आंतरिक उपनिवेशवाद मॉडल में कार्यवाही की यह भविष्यवाणी कि औद्योगिकीकरण और आधुनिकीकरण में सांस्कृतिक एकीकरण की वृद्धि के साथ संजातीय प्रमुखता में गिरावट आएगी। संजातीयता, साधन के रूप में पुनरुज्जीवित होती है जिसके कारण आंतरिक उपनिवेशवाद की दासता से बाह्य परिधि टूट सके।

18.3.7 सांस्कृतिक वचन

इस दृष्टिकोण के अनुसार, बहु-संख्यकों के बीच, अल्पसंख्यकों में असुरक्षा की भावना, संजातीयता को बढ़ावा देने का एक महत्वपूर्ण कारक हो सकता है, जैसे- बहुसंख्यकों द्वारा भेदभाव और अत्याचार, बहुसंख्यकों द्वारा विभेद और अत्याचार, बहुसंख्यकों के साथ राज्य का घनिष्ठ संबंध स्थापन या आधुनिकीकरण से उभरे एकीकरण की प्रक्रिया जिसके कारण संयोगात्मक राज्य संस्कृति का निर्माण होता है।

यह सत्य है कि प्रयोग और अनुभव द्वारा, पूर्वाग्रहों और विभेदों को नहीं मालूम किया जा सकता। वास्तव में, इसे पारिभाषित करना भी कठिन है। फिर भी, प्रेक्षक इस बात को स्वीकार करते हैं कि समकालीन विश्व में, विविध प्रकार के संजातीय समूहों का भेदीकरण और अत्याचार के कई उदाहरण मिलते हैं। लियो ड्राईडगेरे ने बहुसंख्यकों द्वारा अल्पसंख्यकों पर चार प्रकार के भेदभाव का उल्लेख किया है- भेदभावपूर्ण व्यवहार, पूर्वाग्रह व्यवहार, हानिकर व्यवहार, इच्छाओं का वंचन। प्रथम दो प्रकार मनोवृत्ति से जुड़े हैं तथा अंतिम दो व्यवहारात्मक विभेद हैं।

अल्पसंख्यक संजातीय समूहों को अपनी सांस्कृतिक पहचान को खोने का भय दो स्रोतों से आता है। प्रथम, प्रबल बहुसंख्यक से है जो कि सामान्यतः राजनीतिक रूप से भी सशक्त हैं और जो अल्पसंख्यकों के तथाकथित विशिष्टताओं

और अधिकारों पर प्रश्न—चिह्न उठाते हैं और संपूर्ण समाज पर अपनी धार्मिक या सांस्कृतिक मूल्यों को आरोपित करने की चेष्टा करते हैं, अर्थात् संपूर्ण समाज के लिए एक धार्मिक एवं सांस्कृतिक मूल्य का निर्धारण। इसके साथ ही मुख्य समूह के राजनीतिक सिद्धांत को राज्य की राष्ट्रवाद का आधार बनाना है। ऐसी विश्वास प्रणाली के कारण यह स्वाभाविक है कि अप्रधान समूहों के आत्मसात्करण के लिए कड़ा दबाव होता है।

दूसरा स्रोत आधुनिक राज्य के सिद्धांत से उभरता है जिसमें राज्य को राष्ट्र के समानांतर रखा जाता है। औपचारिक प्रजातंत्र में भी ऐसी आधुनिक केन्द्रीकृत राष्ट्र राज्य क्षेत्र और स्थानीय इकाई को अपने अधीनस्थ और एजेन्ट समझता है। उनसे किसी भी प्रकार की चुनौती को राष्ट्रीय एकता के विरुद्ध और विनाशक समझा जाता है। तीसरे विश्व के राष्ट्रों में, राष्ट्र—निर्माण के उत्साह में, शासन—व्यवस्था ऐसी नीति अपनाती है जिससे सजातीय दबाव प्रवेश होती है। कुछ मामलों में अल्पसंख्यकों के कुछ सीमित पारंपरिक अधिकार, जैसे धर्म, भाषा और संस्कृति को भी राज्य अस्वीकार करती है। इससे न तो सिर्फ प्रजातीय मतभेद और संघर्ष होता है बल्कि संजातीय समूहों में आक्षेप भी होता है जिसमें पारंपरिक अभिजातवर्ग के अधिकार को भी चुनौती मिलती है। दुर्भाग्यवश, आंतरिक और बाह्य संजातीय मतभेद या संघर्ष में, राज्य, बजाय एक निष्पक्ष मध्यस्थ की भूमिका निभाने के, प्रबल संजातीय समूह के बाहुबल की भूमिका का निर्वाह करता है। अब यह प्रतीत होता है कि राष्ट्रीय अल्पसंख्यकों की बड़ी संख्या अपनी नियति के प्रति दबू या विनीत नहीं है। 1960 से ही जैसा कि माईकल वॉटसन का कथन है, ऐसे इनकार सशक्त रूप से राजनीतिक दलों और चुनावी दावों में दिखाई पड़ते हैं और कभी राजनीतिक और सांस्कृतिक मांगों की उत्तेजक दृढ़कथन में, जिसे सारांशतः आत्म—बल की आवश्यकता कहा गया है। (चाहे संपूर्ण स्वतंत्रता की आवश्यकता या स्व—शासन जैसी स्वायत्तता)।

प्रजातंत्र की लोकप्रियता, ऐसी मांगों पर अधिक प्रभाव डालती है। स्व—शासन की प्रजातांत्रिक अपेक्षा, उपनिवेशवाद के साथ—साथ, आंतरिक—उपनिवेशवाद के भी विरुद्ध है। जिस प्रकार, राजनीतिक मनोहरता में प्रजातंत्र विकसित होता है, उसीप्रकार कई प्रजातीय समूह स्वयं को राजनीतिक रूप से राज्य के विरुद्ध गतिशील बनाते हैं, यदि वे यह अनुभव करते हैं कि उनके साथ भेदभाव हो रहा है या दबाया जा रहा है। इसलिए यह प्रस्तावित है कि प्रजातीय या भाषाई समूहों में एक सांस्कृतिक पुनरुज्जागरण हुआ है, जिनकी, प्रबल आधुनिक समाज में बढ़ते सामाजिक दबाव के कारण, पहचान खो गई है। कई प्रेक्षकों द्वारा, अब इस दृष्टिकोण को स्वीकार किया जा रहा है, हालांकि यह अनन्य कारण नहीं है। मार्क्सवादियों ने भी इस पर ध्यान देना शुरू कर दिया है।

18.3.8 बाहरी कारक

कुछ प्रेक्षकों के अनुसार, हाल ही के वर्षों में, पूरे विश्व में जो संजातीय संघर्ष में बढ़ोतरी हुई है, उसे बाहरी समर्थन और जुड़ाव ने कायम रखा है। यह बताया गया है कि संजातीय समूह द्वारा छोटे और मध्यम प्रकार के हथियारों का प्रयोग, जीवन के लिए बार—बार आने वाली आर्थिक आवश्यकताएँ, तथा जन—संचार का उनके दृष्टिकोण के अनुसार उद्घाटन—इन सभी का विश्लेषण, बाहरी शक्तियों के उलझाव के बिना नहीं किया जा सकता।

यह भी प्रस्तावित किया जाता है कि विदेश नीति के ज्यादातर प्रयोग किए दस्तावेजों की विफलता के कारण राज्यों ने अन्य साधनों के माध्यम से युद्ध को अपनाया है, जैसे—राज्य के विरुद्ध संजातीय समूहों को समर्थन या उप—राष्ट्रीय समूहों के विरुद्ध राज्य का समर्थन। कई मामलों में, चूंकि संजातीय समूह संभवतः और अधिक फैलेगा, आरंभ से ही इस समस्या में विदेशी हस्तक्षेप का निर्माण होता है। संजातीय आंदोलनों को, विश्व के विभिन्न भागों में रहने वाले समान जातीय समूह के प्रवासियों से नैतिक और भौतिक प्रकार के समर्थन मिलने की संभावना है। प्रवासियों के अलावा, सैद्धांतिक कारणों के लिए अन्य संजातीय समूह द्वारा भी समर्थन दिए जाते हैं, जैसे कि स्वतंत्रता आंदोलन को समर्थन। इन समर्थनों का चाहे कोई भी कारण क्यों न हो, यह स्पष्ट है कि बाहरी कारण जातीयता को सिर्फ जीवन या नैतिक बल प्रदान कर सकते हैं। यह उनके मौलिक जीवन का मुख्य कारण नहीं हो सकता। यह समाज और राजनीति के भीतर से ही उत्पन्न होते हैं और विशिष्ट सच्चाइयों के संदर्भ में ही इसे देखा जा सकता है।

18.4 संजातीय आंदोलन

उपर्युक्त सभी विश्लेषण एक या अन्य कारणों पर बल देते हैं जिसमें राजनीतिक गतिशीलता के लिए संजातीयता, केन्द्र—बिन्दु बन जाता है। ज्यादातर प्रेक्षकों ने इस सत्य को स्वीकार किया है कि कोई एक सिद्धांत या मॉडल इस तथ्य को संपूर्णता में या देर प्रकार की परिस्थिति में वर्णित नहीं कर सकता। संजातीय गतिशीलता के कई कारण हो सकते हैं। आर्थिक सीमा अवश्य एक मूल कारण है और इसलिए क्षेत्रीय और राष्ट्रीय संघर्ष का सैद्धांतिक विश्लेषण भी किन्तु स्वयं में जातीयता या क्षेत्रवाद के सामान्य सिद्धांत का पर्याप्त आधार नहीं है। आर्थिक कारण, सैद्धांतिक विश्लेषण के लिए मूलभूत है किन्तु वे कई प्रकार के होते हैं और उन्हें ठोस सच्चाई के रूप में समझना चाहिए। ऐतिहासिक और राजनीतिक कारण सबसे महत्वपूर्ण हैं, किन्तु इन्हें भी विशिष्ट ऐतिहासिक विकास और राजनीतिक व्यवस्था के ठोस तथ्य के रूप में समझना

चाहिए। सांस्कृतिक कारण भी कई जटिल तरीकों से विकसित हो सकते हैं, राजनीतिक संघर्ष के परिणामस्वरूप या सैद्धांतिक टकराव के कारण (भाषाई संघर्ष, उदाहरण के लिए) किन्तु इन्हें भी उनकी विशिष्ट सच्चाई के संदर्भ में समझना होगा। जातीय राष्ट्रवाद आधुनिक समाज में व्यापक और गहरे सामंजस्य का प्रतिबिंब है, जैसे मानकीकरण के प्रति अशांति, घनीभूत पहचान संकट, तथा सरकार और मुख्य राजनीतिक दलों के प्रति बढ़ता असंतोष। इसलिए, सैद्धांतिक रूप से, मान-जाति राष्ट्रवाद में, समुदाय, सामान्य विरासत और संस्कृति जैसे पुराने विषय संबद्ध, नए विषय-वस्तु का भी समन्वय है जैसे आर्थिक विकास और प्रजातांत्रिक नियंत्रण। साथ ही यह ध्यान करना महत्वपूर्ण है कि प्रेरणाप्राप्त शक्तियाँ ही सिर्फ संजातीय आंदोलन के उदय में उत्तरदायी नहीं रहती। जिस स्तर तक जातीय समूह के पास स्वयं के विभिन्न प्रकार के संगठन और समूह की विकसित उप-संरचना होती है जो उन्हें समेटता है और उनके सक्षम विरोधियों से बाहरी स्तर से पृथक रखता है, वह भी एक आवश्यक निर्धारक है।

द्वितीय विश्व युद्ध अवधि के उपरांत, सामान्यतः, बहु प्रजातीय समाजों में, राष्ट्र-निर्माण के लिए दो प्रकार की अनवरत और समानांतर क्रियाएँ होती हैं (1) संजातीय राष्ट्रीय व्यक्तित्व में अन्तर-जातीय समिश्रण का निर्माण जिसमें राज्य उपकरण के माध्यम से धर्मनिरपेक्ष दृष्टिकोण हो (2) बहु-जातीय समाज में जातीय समूह का राष्ट्र के जातीय समुदाय में बदलाव पहले को राज्यकेन्द्रित राष्ट्र के निर्माण की श्रेणी में वर्णित किया जा सकता है और दूसरे को जातीय राष्ट्र के रूप में विश्लेषित किया जा सकता है। पहला, राष्ट्र-राज्य की स्वीकृत पश्चिमी व्यख्या के समीप है, तो दूसरा, उपराष्ट्र या मार्क्सवादी द्वारा प्रयोग की गई शब्दावली 'राष्ट्र' और 'राष्ट्रवाद' या मानव-जाति सामाजिक उप-विभेद के प्रयोग के लगभग समीप है। यदि विकास का अर्थ, जातीय आसक्ति का अंत नहीं है, तब इसका अर्थ शायद यह है कि जातीयता गुणात्मक रूप से भिन्न है। कई सामाजिक वैज्ञानिकों के सुझाव के प्रतिकूल यह अधिक लचीला और अनुकूल है और परंपरा से कम जुड़ा है। इसीकारण आज जातीय संघर्ष और आंदोलन, विकासशील और प्रगतिशील औद्योगिक समाज की सामान्य विशेषता है जिसमें विभिन्न सामाजिक और राजनीतिक प्रक्रियाओं के परिणाम होते हैं।

पश्चिमी यूरोप, हाल ही में राज्य के क्षेत्रीय और अल्पसंख्यकों द्वारा नवीन युद्धसंलग्नता का सामना किया है जिन्होंने समस्याओं को बहुत पहले सुलझा लिया था इनके कई उदाहरण हैं, जैसे- फ्रांस में ब्रेटन्स और कोरिकन्स, ग्रेट ब्रिटेन में स्कॉटिश और वेल्श, बेल्जियम में फ्लेमिश और वॉलॉन्स के बीच अंदर ही अंदर उबलते भाषाई संघर्ष, अलसर्ट्स में कैथोलिक्स और प्रोटेस्टेन्ट्स के बीच संघर्ष, तथा स्पेन में बॉस्क राष्ट्र। कनाडा में क्यूबेक की स्थिति भी नाजुक है। अमेरिका जो राष्ट्रों के मेलिटिंग पॉट होने का दावा करता था, वहाँ भी राजनीतिक क्रियाओं के लिए संजातीयता मुख्य केन्द्र बिन्दु बन गई है। हिसपेनीस के बृहद् स्तर पर आने से, जो अंग्रेजी भाषा नहीं अपना सकते अब परेशानी का कारण बन रहे हैं। यहाँ तक कि समाजवाद का व्यापक और बाध्य कर देने वाला सिद्धांत भी गृह-शासन के लिए उप-राष्ट्रवादी की लगातार माँग का सामना कर रहा है। कई कानूनी और संस्थागत सुरक्षा के बावजूद, जो रूस, पूर्वी यूरोप, चाइना में हुआ उससे कई अल्पसंख्यक राष्ट्रवादियों ने बहुसंख्यक देन की सांस्कृतिक और राजनीतिक प्रधानता के प्रति अपना रोष व्यक्त किया है। कई दिनों से, तिब्बत में भी राष्ट्रवादी अपनी संवेदना को खुलेआम व्यक्त कर रहे हैं।

अरब विश्व तथा पश्चिमी एशिया में, धार्मिक और प्रजातीय अल्पसंख्यक (जैसे-ड्रूइस, कपस, बुलुस, बरबर्सी) प्रधान संस्कृति के साथ समायोजन चाहते हैं। अन्य आत्म-संकल्प की चेष्टा कर रहे हैं (जैसे-कर्ड्स, सहारोहान, पैलेस्टीनियन)य और कुछ अन्य, अपनी पुरानी शिकायतों का ऐतिहासिक सुधार चाहते हैं। अफ्रीका के हाल के इतिहास में, अन्य संजातीय समस्या के साथ नाइजीरिया में एक खूनी युद्ध को देखा गयाय रवांडा और बुरुंडी में एक संजातीय समूह द्वारा दूसरे की मार-काट तथा अत्याचारय युगांडा से एशियाई लोगों का तथा नाइजीरिया से घानियों का निष्कासनय मोजम्बिक्यू, जिम्बोम्बवे, जैर, चॉड और अंगोला में प्रजातीय राजनीतिक संघर्ष। अफ्रीका के हॉर्न में अनर्थकारी संघर्ष हो रहा है। लैटिन अमेरिकी देशों ने आंतरिक समस्या, जैसे सांस्कृतिक और मनोवैज्ञानिक को सुलझाने में असफल रहे हैं, जिन्होंने उग्र-राष्ट्रीयता को प्रोत्साहित करके प्रभावी राष्ट्र निर्माण को पहले से ही रोकने का प्रबंध कर लिया है। दक्षिणी एशिया के हाल की घटनाओं से यह प्रतीत हुआ कि यह क्षेत्र अपनी विशिष्ट प्रजाति, भाषाई धार्मिक विभिन्नता के कारण खतरनाक संघर्ष से प्रवृत्त है।

इस प्रकार, सभी प्रणाली और शासन-व्यवस्था में, मानव-जाति सांस्कृतिक पुनरुत्थान ने राष्ट्र-राज्य के आधार और राष्ट्रवाद की अवधारणा पर प्रश्न-चिह्न लगाया है। बीसवीं शताब्दी के अंतिम तीन दशकों से, विशेषकर, ऐसी अवधि रही है जिसमें अल्पसंख्यक राष्ट्रवाद आंदोलन अधिक बढ़ा और फैल गया है। यह अनुमान किया जा रहा है कि आज 75 प्रतिशत से अधिक लगातार होते संघर्ष, संजातीय आधार पर हैं। जैसा कि पहले बताया जा चुका है कि सांस्कृतिक आंदोलनों का सबसे महत्वपूर्ण कार्य है प्रजातीय सीमा अनुसंधान का समर्थन या सीमा पुनर्निर्माण। आमतौर पर ये सीमाओं के अतिक्रमण को ठीक करते हैं और समह सदस्य, विशेषकर अभिजन सदस्य के समाप्त होने से बचाते हैं। वे नए और पुनरुज्जीवित सांस्कृतिक तथ्यों के साथ समूह पहचान प्रदान करते हैं जो अधिक निष्ठा का प्रभुत्व रखते हों या समूहों के बीच स्पष्ट

रेखा खींच सके जिससे पहचान में व्यक्तिगत चयन के तत्व को कम किया जा सके। चूँकि सांस्कृतिक आंदोलन, सीमा परिवर्तन को प्रभावित, पहले से निवारण करने या बदलने के लिए अपनाया जाता है, यह इस बात का प्रमाण है कि सांस्कृतिक क्रियाओं और संस्थाओं को प्रजातीय पहचान प्राप्त नहीं होती किन्तु, वास्तव में, वे उसका अनुसरण कर सकते हैं।

18.5 संजातीय आंदोलन की रणनीतियाँ

ऊपर हमने देखा कि, संजातीय आंदोलन पहचान के प्रति संलग्नता के अलावा, प्रजातीय भाईचारे की राजनीतिक, आर्थिक और सांस्कृतिक अभिव्यक्ति है। कई मामलों में, संजातीय समूह आधारित क्रियाएँ, व्यक्ति और समूह की विवेकशील प्रतिक्रियाएँ लगती हैं जो आधुनिक समाज में, समकालीन स्थिति से प्रेरित हैं। संजातीय आंदोलनों की माँग और ध्येय, परिस्थिति के अनुसार भिन्न होती है। ये साधारण माँग, जैसे भाषा और संस्कृति की सुरक्षा से लेकर पूर्ण स्वायत्तता या अलगाव तक होती है। इनके अंतर्गत, ध्यान और महत्व के कई मुद्दे हैं जैसे— शिक्षा की प्रकृति और भाषा, छुट्टियों का स्पष्ट उल्लेख, सांस्कृतिक कार्यक्रमों का विकास तथा अन्य ऐसी नीतियाँ। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, विशेषकर आधुनिक प्रणाली में, जहाँ सार्वजनिक प्राधिकार, जीवन के कई पहलुओं में खो जाता है, वहाँ सांस्कृतिक विशिष्ट समूह, संवेदनशील क्षेत्रों में उस अधिकार पर नियंत्रण रखने की चेष्टा करता है। ये माँग, संघीय प्रणाली की स्थापना के लिए हो सकते हैं या वर्तमान संघीय प्रणाली में राज्यों को अधिक शक्ति देने के लिए जैसा कि भारत में कुछ समूहों द्वारा माँगा गया है, अथवा राज्य या प्रान्तों के विशिष्ट स्तर की स्वीकृति के लिए, जैसा कि क्यूबेक, कनाडा में है। सामान्यतः संजातीय माँगें चार प्रकार की होती हैं—

- (1) सकारात्मक विभेदीकरण के लिए,
- (2) अधिक स्वायत्तता तथा निर्विवाद शक्ति के लिए,
- (3) क्रमबद्ध परिवर्तन से संबद्ध स्वायत्तता की माँग शाह,
- (4) संबंध—विच्छेद

इसी प्रकार विभिन्न संजातीय आंदोलन, अपने लक्ष्य की प्राप्ति के लिए भिन्न तकनीकी का प्रयोग करते हैं। क्रिस्टोफर हेवित ने कई संजातीय आंदोलनों का सर्वेक्षण किया और यह पाया कि इनमें सामान्यतरु जिस रणनीति का प्रयोग किया गया है, वे हैं, नागरिक युद्ध, साम्प्रदायिक (संजातीय) हंगामे तथा आतंकवाद। नागरिक युद्ध की विशेषता है अत्यंत संगठित तथा भारी हथियारों लैस सैन्य इकाईयों के बीच का संघर्ष। चाहे राज्य के नियंत्रण के लिए संघर्ष होता है जैसा कि जंजीबार में, अथवा राज्य विघटित हो जाती है और उसका अधिकार, संजातीय भागों में चला जाता है जो अपने क्षेत्रों के लिए लड़ते हैं, जैसा कि साइप्रस और लेबनॉन में। इस प्रकार के संघर्ष में, जिसमें पूर्वनिर्धारित राज्य के क्रांतिकारी परिवर्तन का भय रहता है, स्पष्टतः सबसे गंभीर प्रकार का संजातीय संघर्ष होता है, और इसमें बहुत ऊँची मृत्यु दर, सामाजिक विघटन और संपत्ति—नाश की संभावना रहती है।

साम्प्रदायिक दंगे दो प्रकार के होते हैं। पहले में, संगठित सैन्य इकाईयों के बीच के बजाय आम लोगों के बीच संघर्ष होता है। यह दंगा स्वाभाविक होता है और इनमें घरों में बने, पुराने हथियार का प्रयोग होता है। साम्प्रदायिक दंगों में हालांकि दूसरे समूह के क्षेत्रों में आक्रमण होते हैं, इसमें नागरिक युद्ध स्थिति की तरह क्षेत्रों पर नियंत्रण नहीं किया जाता। और इसमें कोई ऐसी गंभीर संभावना नहीं है कि, ऐसे दंगों से सरकार को उखाड़ फेंका जा सके। इस प्रकार के साम्प्रदायिक दंगों में, दूसरे सम्प्रदाय के सदस्यों पर आक्रमण करने की व्यापक इच्छा होती है क्योंकि उनकी एक संजातीय पहचान होती है इस प्रकार के साम्प्रदायिक दंगे संवेदनशील समाजों में अधिक होते हैं और उनकी गम्भीरता भी भिन्न—भिन्न होती है।

दूसरे प्रकार के साम्प्रदायिक दंगों में विरोधी भीड़ के बीच टकराहट नहीं होती है बल्कि सैनिक या पुलिस तथा संजातीय समुदाय के लोगों के बीच तनाव रहता है जिसमें लूट—पाट और संपत्ति का भी विनाश होता है। इस प्रकार की टकराहट, अमेरिका, इजराइल, तथा उत्तरीय आयरलैंड में विशेषतः रही—

आतंकवाद की परिभाषा है, अत्यधिक संगठित समूह द्वारा संचालित हिंसा। इसमें सम्मिलित क्रियाएँ हैं —हत्या, बमबारी, तथा छोटे पैमाने पर बंदूकों के प्रयोग। हालाँकि ऐसे कार्य किसी अन्य प्रकार की हिंसा के संपर्क के साथ ही किए जाते हैं, आतंकवाद प्रचार का महत्व सामान्य नहीं है। उत्तरी आयरलैंड में हुई बड़े पैमाने पर की गई मौत के जिम्मेदार हैं, आयरिश रिपब्लिकन सेना तथा प्रोटेस्टेंट लॉयलिस्ट समूह। अमेरिका में अंतर्विराम में हुए जातीय आतंकवाद का बहुत कम सामाजिक प्रभाव रहा है, उसमें कुछ लोगों की ही जानें गईं। कनाडा में मुट्ठीभर लोगों के अपहरण और बमबारी के जिम्मेदार थे, अलगाववादी फ्रंट डी लिबरेशन डू क्यूबेक। भारत में संजातीय आंदोलन द्वारा आतंकवादी क्रियाओं का प्रयोग राष्ट्र के उत्तर—पूर्वी भागों तथा जम्मू और कश्मीर में किया गया। आतंकवाद का महत्वपूर्ण उदाहरण है, श्रीलंका में लिट्टे का प्रभाव।

18.6 सारांश

इस इकाई में हमने देखा कि विश्व के ज्यादातर देशों में कई विशिष्ट संजातीय समूह का बोलबाला है और उन सभी ने प्रजातीय आंदोलन का अनुभव किया है या कर रहे हैं। बहु-संजातीय समाज में समूह संघर्ष को नियंत्रित करने में जो समस्याएँ हैं वे बहुत अधिक जटिल हैं। संजातीय आत्म-दृढ़ता का विकास, इन प्रबंधकीय समस्याओं और संबद्ध घटनाओं के परिणामस्वरूप हुआ है। कई समाजों में संजातीयता, हित-मॉग के लिए मुख्य आधार बन गया है। संजातीय आंदोलन के संभावित कारण हैं— पहचान खोने का डर, आर्थिक शिकायतें, राजनीतिक शिकायतें अभिजातवर्ग द्वारा राजनीतिक गतिशीलता, इत्यादि। सबसे सामान्य शिकायत है कि कोई एक समुदाय, राजनीतिक एवं आर्थिक शक्ति की अपने उचित अधिकार से वंचित रह जाता है। संजातीय आंदोलन की माँग और उद्देश्य का क्षेत्र, राज्य द्वारा उन शिकायतों की पूर्ति से लेकर संपूर्ण स्वायत्तता या अलगाव तक फैला है। उसी प्रकार संजातीय आंदोलन का रूप भी कई हो सकते हैं, जैसे नागरिक युद्ध से लेकर शांतिपूर्ण संवैधानिक विरोध संजातीय या साम्प्रदायिक दंगे या बीच-बीच में आतंकवाद।

चाहे स्वायत्तता के रूप में विद्रोह हो, या बेहतर आर्थिक-राजनीतिक संरचना के लिए आंदोलन हो अथवा अलगाव के लिए संघर्ष हो, आज विश्व के बहुत से बहु-संजातीय राज्यों में संजातीयता, सामाजिक-राजनीतिक सच्चाई का एक मूलभूत घटक है। अब यह प्रमाणित होता जा रहा है कि द्वितीय विश्व युद्ध के उपरान्त, नव-उदारवाद और समाजवादी दावों ने राजनीतिक कार्यक्रमों से संजातीयता राष्ट्रवाद के प्रश्न को नहीं हटा पाया है। इसीकारण, किसप्रकार बहु-संजातीय राज्यों तथा संजातीयता की जटिलताओं से जूझा जाए, महत्वपूर्ण मुद्दा है।

18.7 बोध प्रश्न

- (1) संजातीय राष्ट्रवाद से आप क्या समझते हैं?
- (2) संजातीय आंदोलन के उद्भव में, आधुनिकीकरण की प्रक्रिया तथा संसाधनों के आवंटन के कारणों का विश्लेषण करें।
- (3) संजातीय आंदोलनों के लिए उत्तरदायी आर्थिक कारण और आंतरिक उपनिवेशवाद का वर्णन और मूल्यांकन करें।
- (4) संजातीय आंदोलनों की प्रकृति तथा उनके द्वारा प्रयोग की गई विभिन्न रणनीतियों का विवेचन करें।
- (5) आधुनिकीकरण के युग में संजातीय आंदोलन पर लेख लिखें।

इकाई 19

राजनीतिक शासन प्रणाली

संरचना

- 19.1 प्रस्तावना
- 19.2 राजनीतिक शासन प्रणाली की सामान्य विशेषताएँ
- 19.3 राजनीतिक शासन प्रणाली का परिचालन
- 19.4 राजनीतिक शासन प्रणाली के प्रकार
 - 19.4.1 प्रजातांत्रिक शासन प्रणाली
 - 19.4.2 सर्वाधिकारवादी शासन प्रणाली
 - 19.4.3 सत्तावादी शासन प्रणाली
- 19.5 राजनीतिक शासन प्रणाली का मूल्यांकन
- 19.6 राजनीतिक शासन प्रणाली रु समानताएँ एवं असमानताएँ
- 19.7 सारांश
- 19.8 बोध प्रश्न

19.1 प्रस्तावना

हम सभी राष्ट्र-राज्यों के विश्व में रहते हैं। विश्वभर में लगभग 200 राष्ट्र राज्य हैं। सभी राज्यों की पृथक भौगोलिक सीमा होती है जिसमें लोग अपनी राजनीतिक शासन-प्रणाली के अंतर्गत रहते हैं। शासन प्रणाली शब्दावली श्ववस्था शब्द से भिन्न होते हैं। व्यवस्था का अर्थ है मुख्य अवधारणा, कार्य एवं संरचना, जबकि प्रणाली शब्द का प्रयोग विशिष्ट संस्थागत व्यवस्था के लिए होता है और किस प्रकार संबंधों को समाज में संरचित और संगठित किया जाता है। तुलनात्मक राजनीति के लोकप्रिय विद्वान रॉय मैकरिडिस के अनुसार राजनीतिक शासन प्रणाली में नियम, प्रक्रिया तथा समझदारी का समावेशन है जो शासन करने वालों तथा शासित होने वालों के बीच संबंधों को निर्धारित करते हैं। सभी राजनीतिक शासन प्रणाली में विभिन्न प्रकार की राजनीतिक संस्थाएँ होती हैं—विधायिका, राजनीतिक दल, नौकर शाही इनमें से कुछ हैं जो शासन से संबंधित कार्य और भूमिका को निभाते हैं।

लोग विभिन्न प्रकार की राजनीतिक शासन प्रणाली में रहते हैं जिसके अन्तर्गत विभिन्न राजनीतिक संस्थाएँ अलग-अलग प्रकार से भिन्न भूमिका निभाती हैं, हालाँकि संस्थाएँ एक ही नाम के अन्तर्गत कार्य कर सकती हैं। इस प्रकार विधायिका या राजनीतिक दल या नौकरशाही विभिन्न भूमिका निभाते हैं तथा विभिन्न शासन प्रणालियों में भिन्नता पूर्वक कार्य करते हैं। इसके साथ ही प्रत्येक राजनीतिक शासन प्रणाली, स्वयं के विशिष्ट ऐतिहासिक, सांस्कृतिक, आर्थिक और सामाजिक तथा अंतर्राष्ट्रीय कारकों का परिणाम है, जो शासनकर्ता एवं शासित व्यक्तियों के राजनीतिक व्यवहार एवं अवधारणा को संचालित करता है। शासन प्रणाली की स्थिरता और वैधता में, संस्थानीकरण के स्तर विकास के स्तर, तथा नियमों के प्रकार जो शासनकर्ता एवं शासित व्यक्तियों के बीच संबंध-निर्धारण करता है, इनमें अंतर हो सकता है। वे राजनीतिक सत्ता के गठन, राजनीतिक सहभागिता के स्वरूप, हितों की अभिव्यक्ति एवं संगठन तथा राजनीतिक अधिकारों के संरूपण में भिन्न होते हैं।

राजनीति के तुलनात्मक अध्ययन के लिए यह आवश्यक है कि हम कुछ सामान्य अवधारणाओं को विकसित करें जो हमें समानता और विभिन्नता को निर्धारित करने में सहायक होते हैं ताकि हम कुछ वर्णनात्मक सामान्यीकरण को प्राप्त कर सकें। इसलिए, सर्वप्रथम, एक सामान्य सिद्धांत स्थापित करने की आवश्यकता है या फिर ऐसे प्रारूप की जिसमें हम समानता एवं विभिन्नता को निर्धारित कर सकें, विभिन्न राजनीतिक शासन प्रणाली को वर्गीकृत कर सकें और उनके विषय में सामान्यीकरण कर सकें ताकि हमारे राजनीतिक भूमण्डल को समझा जा सके।

19.2 राजनीतिक शासन प्रणाली की सामान्य विशेषताएँ

सभी प्रकार के राजनीतिक शासन प्रणाली की सामान्य विशेषताओं पर एकमत होना कठिन है। विभिन्न सिद्धांतवादी, राजनीतिक शासन प्रणाली की भिन्न विशेषताओं को इस प्रकार पहचानते हैं जिस प्रकार वे राजनीतिक संस्थानों के कार्यों की व्याख्या करते हैं या विभिन्न अधिकारियों के बीच विशिष्ट संबंधों का विश्लेषण करते हैं। इस प्रकार, व्यवस्था

सिद्धांतवादी के लिए, राजनीतिक शासन प्रणाली विशिष्ट तरीकों और साधनों को सूचित करता है जिसमें ये कार्य संस्थानों और प्रक्रियाओं में संरचित और प्रतिरूपित होते हैं तथा अपने विशिष्ट संबंधों में भी। उनके अनुसार मैकरिडिस द्वारा संक्षेप में, शासन प्रणाली को इस प्रकार बताया है—

1. सामान्यतः आपस में बाँटे गए उद्देश्यों को उत्पन्न करना और ऐसा करने के लिए, इसे सामाजीकरण को प्रदान करना होगा ताकि उद्देश्यों एवं संस्थानों को सामान्य स्वीकृति मिल सके जिसके माध्यम से इन उद्देश्यों को चरितार्थ किया जा सके, अर्थात् वर्तमान सिद्धांत।
2. निर्णय – निर्माण के लिए प्रक्रिया को प्रदान कराना।
3. नीतियों को निर्धारण करने वाले, हितों की अभिव्यंजना एवं एकत्रीकरण के लिए प्रक्रिया की स्थापना।
4. उन तरीकों एवं साधनों को उपलब्ध कराना जिसमें निर्णयकर्ता का नियमों के साथ, उनके पद के लिए चयन होता है।
5. विघटनकारी व्यवहारों के विरुद्ध प्रभावी नियंत्रण के लिए व्यवस्था को कायम रखना।
6. आत्म संरक्षण के लिए सक्षम होना। सभी राजनीतिक शासन प्रणाली विभिन्न स्तर से अपने संस्थानों के द्वारा इस कार्य को पूरा करने की चेष्टा करते हैं और उनका आकलन इन दायित्व निर्वाह की क्षमता पर आधारित होता है।

19.3 राजनीतिक शासन प्रणाली का परिचालन

राजनीतिक शासन के कार्य परिचालन में चार मुख्य अन्त क्रियात्मक प्रक्रियाएँ होती हैं और प्रत्येक संस्थाओं द्वारा संपन्न की जाती है।

1. निर्देश का संघटन – अर्थात् राज्य तथा उनकी एजेंसियों जिसे अधिकतर पसरकार कहा जाता
2. सहमति का संघटन
3. हितों का संरूपण तथा
4. अधिकारों का संघटन

राजनीतिक शासन प्रणाली की अवधारणा को विस्तार पूर्वक विश्लेषण करने के लिए इन प्रक्रियाओं की हम चर्चा करेंगे।

निर्देश का संघटन

जैसा कि हम जानते हैं, राजनीति एवं राजनीतिक शासन प्रणाली का अध्ययन शक्ति के कार्यान्वयन से सम्बद्ध है, बिना इसकी परवाह किए कि क्यों और कैसे इस शक्ति का प्रयोग किया जाय। हम राज्य शब्द का प्रयोग किसी क्षेत्र के अंतर्गत राजनीतिक शक्ति के बने रहने को कहते हैं। बहुत समय पहले, लोकप्रिय ब्रिटिश राजनीतिक वैज्ञानिक, हॉराल्ड जे लॉस्की ने राज्य की परिभाषा इस प्रकार दी— अपेक्षाकृत छोटी संख्या में लोग जो आदेशों को जारी कर उसे क्रियान्वित करते हैं और जो बड़ी संख्या को प्रभावित करते हैं जिसमें वे स्वयं सम्मिलित हैं यह प्रकृति का सार तत्त्व है जो अपने आवंटित क्षेत्र के अंतर्गत सभी नागरिकों को उन आदेशों से वैधानिक रूप संयुक्त रखता है।

इस प्रकार संस्था के रूप में राज्य अपने उद्देश्यों के दृष्टिकोण से अन्य संस्थाओं से भिन्न हैं और दूसरों की अपेक्षा अपने क्षेत्र में अधिक व्यापक और सम्मिलित करने वाला है तथा उसे समाज के विभिन्न घटक के ऊपर विस्मयकारी शक्तियाँ प्राप्त हैं। जबकि समाज में कोई भी एक संस्था से दूसरी संस्था में आ जा सकता है या उससे बाहर भी निकल सकता है, किन्तु जिस राज्य का वह निवासी होता है उस राज्य से निकल पाना अत्यधिक कठिन है और सबसे महत्वपूर्ण यह है कि राज्य को शक्ति और निग्रहबल का एकाधिकार है जिससे वह अपने निर्णयों के प्रति अनुपालन प्राप्त करवाता है किन्तु साथ ही नागरिकों के बहुमत से निष्ठा प्राप्त करना महत्वपूर्ण है। जबतक नागरिकों का बहुमत अनुपालन करता है, राज्य शक्ति के न्यूनतम प्रयोग से कार्य कर सकता है किन्तु यदि बहुमत अनुपालन नहीं करता तब राज्य का रह पाना कठिन है।

निर्देश का औपचारिक अंग

भिन्नता होने के बावजूद, सभी राजनीतिक शासन प्रणाली में सामान्य औपचारिक निर्देश संरचना होती है। कार्यपालिका शाखा सबसे सर्वोच्च शिखर पर होती है, प्रशासन या नौकरशाही उसके नीचे होती है कार्यपालिका कानून बनाती है, तथा न्यायपालिका उन कानूनों को कार्यान्वित करती है तथा कानून के विषय में विवाद को सुलझाती है। ये उन मामलों में भी समान हैं जिनमें उनके सम्बन्ध संविधान द्वारा निर्धारित किए गए हैं— कानून का लिखित आलेख (कुछ मामलों में अलिखित

भी) जो शक्ति की सीमाओं को निर्धारित करता है, किस प्रकार शक्ति का प्रयोग होगा तथा नागरिकों की स्वतंत्रता तथा उत्तरदायित्व की भी चर्चा है।

शासनकर्ता अभिजात वर्ग

निर्देश संरचना का अध्ययन तथा उसके अन्तर्गत, कार्यरत संस्थाएँ और एजेंसियाँ न सिर्फ औपचारिक रूप से नियुक्त लोगों तक ही सीमित है। बहुत सी राजनीतिक शासन प्रणाली में निर्णय कर्ता, अधिकारी भी शासन कर्त्ता अभिजात वर्ग के भाग होते हैं ये प्रामाण्यतः ऐसे लोग होते हैं, जिनमें आय या ज्ञान, तकनीकी स्तर, राजनीतिक प्रभाव, या निर्णय प्रक्रिया के पदों पर विद्यमान, अधिक होता है। औद्योगिक नेता, प्रबंधक, बुद्धिजीवी, राजनीतिक नेता, धार्मिक नेता, मुख्य हित एवं अन्य समूहों के प्रतिनिधि विकित्सक वकील अभियन्ता, सभी अभिजात वर्ग वर्ग में सम्मिलित होते हैं। यह सर्वथा स्मरण रहना चाहिए कि राजनीतिक शासन प्रणाली में हम हमेशा निर्देश संरचना को एक दूसरे से जोड़ने की चेष्टा करते हैं— अर्थात् अभिजात वर्ग के साथ सरकार को।

19.4 राजनीतिक शासन प्रणाली के प्रकार

आधुनिक समय की राजनीतिक शासन प्रणाली का वर्गीकरण इस प्रकार है— प्रजातांत्रिक शासन प्रणाली, सर्वाधिकारवादी शासन प्रणाली, सत्तावादी शासन प्रणाली।

19.4.1 प्रजातांत्रिक शासन प्रणाली

प्रजातांत्रिक समाज में व्यक्तियों को स्वतंत्र माना जाता है। स्पष्टतः पारिभाषित और विभाजित सीमाएँ तथा उत्तरदायित्व की दो मुख्य विशेषताएँ हैं जो प्रजातांत्रिक शासन प्रणाली के सार हैं। सीमाएँ, दोनों प्रक्रियात्मक (जिस प्रकार राजनीतिक शक्ति का प्रयोग होता है) तथा वस्तुगत (अधिकार, स्वतंत्रता विभिन्न संरचना इत्यादि) होता है और जो राज्य की शक्तियों और प्राधिकारों पर रोकथाम भी करता है। जबकि सीमाएँ राज्य को व्यक्तिगत क्रियाओं में हस्तक्षेप करने में मना करती हैं उत्तरदायित्व राज्य से निश्चित एवं सकारात्मक क्रियाओं की मांग करती है तथा विभिन्न प्रक्रियाओं में उनकी समबद्धता को भी प्रोत्साहित करती है ताकि व्यक्तिगत विकास में वृद्धि हो। सभी प्रजातांत्रिक शासन प्रणाली का एक संविधान होता है— लघु या विस्तार, लिखित या परम्परा आधारित संविधान नागरिकों के प्रति कार्यकर्ताओं के लिए विभिन्न प्रकार के उत्तरदायित्व और जिम्मेदारियों को स्थापित करता है। यह स्पष्टतः व्यक्तिगत अधिकार, सरकार का संघटन और संरचना की सीमाओं और उत्तरदायित्व को निर्धारित करता है तथा सरकार के तीन मुख्य अंगों की विशिष्ट भूमिका एवं शक्तियों को भी स्पष्ट करता है कार्यपालिका, विधायिका तथा न्यायपालिका। कुछ संविधानों में राजनीतिक दल, सेना तथा अन्य परामर्शदाता अंगों का भी उल्लेख है।

प्रजातंत्र में कार्यपालिका की प्रकृति या तो अध्यक्षीय या संसदीय हो सकती है या फिर इन दोनों का समन्वय। प्रजातंत्र के संसदीय रूप में विधायिका को सर्वोच्च शक्ति प्राप्त होती है जिसके अंतर्गत वह कानून बनाता है, वित्त का नियन्त्रण करता है, सरकार के प्रधान की नियुक्ति एवं निष्कासन भी करता है (प्रधानमंत्री और उनके मंत्री परिषद् (तथा नौकरशाही एजेंसियाँ) अब अर्धस्वतंत्र नीति निर्णायक अंगों के रूप में उभर कर आए हैं। संसदीय शासन प्रणाली एक कैबिनेट की सरकार है जिसमें बहुमत का नेतृत्व और उनके नेता (प्रधानमंत्री) सर्वोच्च राजनीतिक शक्ति का निर्देशन करते हैं। कैबिनेट को सम्पूर्ण रूप से कार्यकारी शक्तियाँ प्राप्त हैं। कैबिनेट उत्तरदायित्व के लिए भी सक्षम होता है किन्तु मैकरिडिस द्वारा निर्धारित इसमें पाँच शर्तें सम्मिलित हैं।

1. राजनीतिक दल को भली भाँति अनुशासित होना होगा संसद में उनके सदस्य को एक रूप में मत देना होगा। प्रति-मतदान को अपवाद होना चाहिए।
2. दलों को कम संख्या में होना चाहिए, आदर्श रूप में सिर्फ दो। दो से अधिक राजनीतिक दलों की संसदीय शासन प्रणाली, सशक्त और स्थायी कैबिनेट सरकार को उपलब्ध नहीं करा सकती है क्योंकि समर्थन का उसे स्पष्ट बहुमत प्राप्त नहीं रहता है।
3. संसद को भंग तथा नए चुनाओं का आयोजन करने का अधिकार बिना किसी प्रतिबंध के — स्पष्ट रूप से प्रधानमंत्री को दिया गया है।
4. सामान्य रूप से यह अपेक्षा की जाती है कि जीतने वाले दल को बहुमत प्राप्त होगा तथा न सिर्फ लोकप्रिय मतों की बाहुल्यता। यदि समय के साथ सिर्फ मतदाताओं के बाहुल्य को, आसानीपूर्वक संसदीय बहुमत में परिवर्तित किया जाता है तब निर्देश संरचना की शक्ति कमजोर हो जाएगी। लोगों में उनके कार्यों के अधिकार संबंधी मतभेद होगा,

जैसे कि वे बहुमत का प्रतिनिधित्व करते हैं। ऐसा उदाहरण अधिकतर इंग्लैंड तथा जर्मनी के संघीय गणतंत्र में पाया जाता है।

5. अंत में, यह अपेक्षा की जाती है कि एक मुख्य दलों में से कोई एक भी लम्बे समय तक बहुमत में नहीं रह सकता। अधिकतर संसदीय शासन प्रणाली में, मुख्य दल या पार्टी ब्लॉक कार्यालयों में एकान्तर रूप से कार्य करते हैं।

प्रजातंत्र के अध्यक्षात्मक प्रकार में राज्य एवं सरकार का प्रधान राष्ट्रपति होता है। अमरिका का संविधान (अध्यक्षात्मक प्रणाली का उदाहरण) अपने राष्ट्रपति को मुख्य सेनापति, विदेश नीति वार्ताकार, मुख्य प्रबन्धक दल नेता, लोकहित का प्रवक्ता, नागरिक समाज में विचारों और नीतियों के माध्यम से इन रूपों में वर्णित किया है। राष्ट्रपति कार्यपालिका शाखा का प्रधान होता है तथा व्यक्तिगत कर्मियों द्वारा (व्हाइट ऑफिस) व्यवस्थित होता है।

फ्रांस में राजनीतिक शासन प्रणाली की प्रकृति और प्रतिमान को (पाँचवी गणतंत्र 1958) अर्ध अध्यक्षात्मक और अर्धसंसदीय शासन प्रणाली के रूप में वर्णित किया गया है। फ्रांस के राष्ट्रपति वास्तव में सर्वोच्च कार्यकारी शक्ति का निर्वाह करते हैं। साथ ही उनके नेतृत्व में मंत्रि मंडल होता है जो राष्ट्र की नीतियों को संचालित करते हैं तथा संसद के समक्ष इसके लिए उत्तरदायी होते हैं। भारत प्रजातंत्र के दो मूलभूत आधार—वाक्य, सहभागिता और चुनाव लोगों को मुख्य नीति निर्देश रेखा को निर्धारित करने तथा अपने प्रतिनिधियों को चुनने का प्रणाली प्रदान करते हैं, अपने प्रतिनिधियों के कार्य निष्पादन के आधार पर वह यह निर्णय करते हैं कि आम चुनावों में उन्हें मत दिया जाए या नहीं। आम जनता राज्य की प्रक्रियाओं में, सरकार तथा प्रेस में पत्र लिखकर, क्लबों का निर्माण कर एवं चुनाव में मत देकर, करती है। दूसरी तरफ राजनीतिक दल एक ऐसी संस्था है जो लोगों को सक्रिय और संघटित करती है। उनके हितों का प्रतिनिधित्व करती है, तथा राजनीतिक नेतृत्व के लिए पृष्ठभूमि प्रदान करती है। मैकरडिस द्वारा प्रजातांत्रिक शासन प्रणाली में सभी राजनीतिक दल के निम्नलिखित कार्य होते हैं—

1. वे सामाजिक समूहों और शक्तियों के दृष्टिकोणों का प्रतिनिधित्व करते हैं तथा सहभागिता एवं प्रतिनिधित्व का गठन एवं संरचना करते हैं।
2. वे नीतियों का प्रतिपादन करते हैं। दल के कार्यक्रमों तथा घोषणा पत्रों में नीतियाँ समाहित होती हैं।
3. प्रजातांत्रिक दलों में ठोस एवं सीमित उद्देश्य होते हैं जो कि काल्पनिक दलों के विपरीत हैं और जो समाज के मूलभूत परिवर्तन के लिए प्रतिपादन करता है। ज्यादा से ज्यादा प्रजातांत्रिक दल परिवर्तन का नहीं बल्कि सुधार को उद्देश्य रखते हैं।
4. अपनी क्रियाओं में वे नागरिक वर्ग को झूठा साबित करते हैं तथा हितों और माँगों को संकलित करते हैं।
5. अधिकतर प्रजातांत्रिक दल सरकार पर अधिकार और नियंत्रण रखने का उद्देश्य रखते हैं किन्तु कई लोकतंत्रीय प्रणाली में यह सम्भव नहीं हो पाता क्योंकि वे कभी भी अपेक्षित बहुमत को प्राप्त नहीं कर सकते हैं। सिर्फ दलों के साथ गठबंधन करके वे सरकार में सहभागिता कर सकते हैं या प्रत्यक्ष रूप से प्रभावित कर सकते हैं।
6. भविष्य के नेताओं के लिए वे प्रशिक्षण प्रदान करते हैं वे पुरुष और महिलाओं को नियुक्त करते हैं जो राजनीति में रुचि लेते हैं तथा नेतृत्व की स्थिति में उभर सकते हैं।

सभी प्रजातांत्रिक प्रणाली में नागरिकों को कई अधिकार एवं हित प्राप्त है। वास्तव में, नागरिकों के अधिकार एवं हित को छोड़कर, कोई भी ऐसी विशेषता नहीं है जो प्रजातांत्रिक शासन प्रणाली को गैर-प्रजातांत्रिक प्रणाली से भिन्न बनाए रखे।

19.4.2 सर्वाधिकारवादी शासन प्रणाली

सर्वाधिकारवादी शासन प्रणाली का सार सिद्धांत में होता है। सिद्धांतों के अंतर्गत समाज की समस्याओं के विषय में व्यापक प्रस्ताव रहता है। सामान्य जनता सिद्धांत के नाम पर, मजबूती से संभावित है और उसका उद्देश्य है फैलाना और आरोपित करना, सभी सर्वाधिकारवादी प्रणाली एकल दलीय व्यवस्था पर आधारित है सर्वाधिकारवादी प्रणाली को साम्यवादी, सर्वाधिकारवादी प्रणाली में वर्गीकृत किया जा सकता है, जैसे पूर्ववर्ती सोवियत संघ तथा पूर्वी यूरोप के देश तथा बलकन (ग्रीस को छोड़कर) क्यूबा, वियतनाम, मंगोलिया, इथियोपिया अंगोला, मोजाम्बिक निकारागुआ आदि तथा गैर साम्यवादी सर्वाधिकारवादी प्रणाली में, जैसे नाजी जर्मनी और फासीवादी इटली।

सत्तावादी तथा सर्वाधिकारवादी शासन प्रणाली में सामान्य विशेषताएँ होती हैं। दोनों ही में राजनीतिक शक्ति केन्द्रित रहती है तथा निर्देश संरचना किसी भी सीमा के उत्तरदायित्व नियमों से बंधा हुआ नहीं है, जो हम प्रजातांत्रिक शासन प्रणालियों

में पाते हैं। राजनीतिक नेतृत्व सहमति को छल योजना से नियंत्रित करता है तथा व्यक्तिगत अधिकारों पर बहुत कम या नहीं ध्यान दिया जाता – हित संस्था या हितों को नियंत्रित और अधीनस्थ करने के लिए विभिन्न तरीकों का प्रयोग करते हैं, बल का उपयोग (पुलिस या अन्य अर्धसैन्य दल) ताकि लोकसंचार पर नियंत्रण को सुनिश्चित किया जा सके।

उपर्युक्त समानता के बावजूद कुछ विभिन्नताओं को भी सत्तावादी एवं सर्वाधिकारवादी प्रणालियों के बीच समझना होगा। सर्वप्रथम सत्तावादी प्रणाली में नेतृत्व, नए संस्थाओं को विकसित करता है जिससे सामाजिक शक्तियाँ उनके अन्तर्गत नियंत्रित हो सके, जैसे कि अर्थव्यवस्था परिवार, मदरसा, विश्वविद्यालय तथा पाठशाला एवं अन्य सांस्कृतिक संस्थाएँ। सर्वाधिकारवादी प्रणाली में हालाँकि नियंत्रण और सीमाएँ होती हैं, फिर भी वे समाज एवं व्यक्तिगत कारक को पुनर्गठित एवं पुनर्संरचित करने की शायद ही चेष्टा करते हैं।

दूसरे, सत्तावादी सरकार अपने उद्देश्यों में बहुत अधिक सैद्धान्तिक होती है जबकि सर्वाधिकारवादी प्रणाली समान सर्वव्यापी औपचारिक सिद्धान्त को नहीं विकसित करते। सिद्धान्त एवं दल के प्रयोग के साथ, सत्तावादी प्रणाली सहमति को संगठित कर व्यापक सहमति को विकसित करने की चेष्टा करती है। लोगों के साथ एक सकारात्मक संचार के तानेबाने का निर्माण होता है। सर्वाधिकारवादी राज्य सहमति के निर्माण की चेष्टा नहीं करते हैं। आज्ञाकारिता पर विशेष बल दिया जाता है।

तीसरे, हालाँकि सर्वाधिकारवादी और सत्तावादी प्रणाली दोनों ही, राजनीतिक संगठन को संस्थागत रूप देने की चेष्टा करते हैं, सत्तावादी प्रणाली प्राधिकार को वैधानिक बनाने में सफल होते हैं। चूँकि संस्थागत आधुनिकीकरण के स्तर से सम्बद्ध है, सर्वाधिकारवादी राज्य सत्तावादी राज्यों की अपेक्षा समाज तथा अर्थव्यवस्था में पिछड़े हुए हैं।

19.4.3 सत्तावादी शासन प्रणाली

विश्व के लगभग आधी राजनीतिक प्रणालियाँ सत्तावादिता पर आधारित हैं। उनका वर्गीकरण व्यक्तिगत सत्ता (सउदी अरेबिया), एकल दलीय सत्ता या व्यक्तिगत तानाशाही, राज्य एवं नौकरशाही तथा सैनिक सत्ता के रूप में किया जा सकता है। सत्तावादी शासन की प्रणाली की प्रकृति में जाने से पहले हमें यह जानकारी प्राप्त करनी होगी कि समाज क्यों सत्तावादी शासन प्रणाली में परिवर्तित होता है।

सर्वप्रथम, सत्तावादिता, राष्ट्र राज्य के निर्माण की प्रकृति से सम्बद्ध है। कभी कभार विरोधी संजातीय, क्षेत्रीय आर्थिक कबीलाई एवं धार्मिक समूहों का सामना करने के लिए केन्द्रीकृत नियंत्रण और अत्याचारी उपायों का प्रयोग किया जाता है। कुछ राज्यों में, विशेषकर जब वे असुरक्षित या कमजोर होते हैं, शासक में सत्तावादी होने की प्रवृत्ति दिखाई पड़ती है। हालाँकि इस अवतरण के अन्दर कि वे बाहरी शक्तियों का सामना करने और राष्ट्र को सुरक्षा प्रदान करने के लिए शक्ति प्राप्त करते हैं।

दूसरे, राष्ट्र की विशिष्ट राजनीतिक संस्कृति भी सत्तावादिता के उद्भव में भूमिका दिखाता है। मैकरडिस के अनुसार सत्तावादिता उन देशों में विकसित हुआ है, जहाँ पर निम्नलिखित मूल्यों का अभाव है—

1. जहाँ नागरिक समाज और राज्यों के बीच अत्यधिक असंतुलित सम्बन्ध है।
2. जहाँ मध्यमवर्ग कमजोर रहता है और संस्थागत प्रतिनिधि दल निर्माण करने में असक्षम होता है जो राज्य को सीमित करता है।
3. जहाँ राज्य नियन्त्रणवाद के प्रति यह प्रवृत्ति छिपी या निहित है कि उसी विचार को नकारात्मक रूप से रखा जाए, जहाँ राज्य के विरुद्ध अवरोध कम है अथवा कमजोर है।

तीसरे, सत्तावादी प्रणाली का उदय तब हुआ जब तेजी से आर्थिक आधुनिकीकरण होना शुरू हुआ। आधुनिकीकरण की प्रक्रिया में, आर्थिक एवं सामाजिक जीवन के पारम्परिक प्रतिमान में गड़बड़ी होने लगती है तथा लोगों की इच्छा और माँगों को भी ऊँचाई मिलती है। सत्तावादी शासन को अधिकतर इसलिए भी प्रोत्साहन मिलता है क्योंकि यह सामाजिक मतभेद और तनाव को खत्म करता है।

सत्तावादी शासन प्रणाली की विशेषताएँ

अमॉस पर्लमुटर के अनुसार निम्नलिखित सत्तावादी शासन प्रणाली की कुछ मुख्य विशेषताएँ हैं—

1. ऐसे राज्यों में सेना अत्यधिक महत्वपूर्ण और प्रभावी होती है।

2. लोकप्रिय सहभागिता का स्तर बहुत नीचा होता है।
3. अधिकतर विशेषकर राजनीतिक अधिकार या तो नहीं रहता अथवा बहुत कम रहता है।
4. जनसाधारण को संघटित करने के लिए सामान्यतः किसी भी सिद्धान्त का अभाव रहता है।
5. सामाजिक एवं हित समूहों को अधीन करने की चेष्टा के क्रम में, सत्ताधारी प्रणाली समाज के पुनर्निर्माण में सम्मिलित नहीं होते।

सत्तावादी शासन प्रणाली के प्रकार

चार प्रकार की शासन प्रणालियाँ होती हैं। (क) तानाशाही (ख) राजवंशीय शासन प्रणाली (ग) सेना शासन प्रणाली (घ) एक दलीय शासन प्रणाली

(क) तानाशाही

तानाशाही में, राजनीतिक शक्ति को तानाशाह द्वारा व्यक्तिगत और निरंकुश रूप से प्राप्त किया जाता है। दबाव के उपकरणों को सावधानीपूर्वक पुलिस और सेना के माध्यम से विकसित किया जाता है, जिसमें बचाव, अत्याचार, निगरानी तथा धमकाना भी सम्मिलित है। हालाँकि ऐसी शासन प्रणालियों में कानून एवं व्यवस्था को कायम रखना, जन स्वास्थ्य, परिवहन जैसी सामान्य सेवाएँ भी दी जाती हैं। सेना का स्तर, तानाशाह के व्यक्तिगत, रक्षाकर्मी के रूप में घट जाता है। कुछ मामलों में रक्षक उनके ही सम्बन्धी होते हैं अथवा निष्ठा रखने वाले सम्बद्धकर्ता। इस प्रकार तानाशाह ऐसे संगठनों से जुड़ा हुआ है जैसे—सेना, पुलिस, खुफिया सेवाएँ जो बाद में स्वयं की शक्ति को विकसित करती हैं और अपने कार्यकाल में स्वायत्त हो जाते हैं। द्वितीय विश्व युद्ध के बाद से लैटिन अमेरिका तथा अफ्रिका के कुछ राजनीतिक शासन प्रणालियों में जैसे क्यूबा में बतिस्ता, निकारगुआ में सोमोज़ा, हैती में फ़्यापा डॉक डुवालियर, केन्द्रीय अफ्रीका में बाकास शासक, युगाण्डा में इदीअमीन दादा इस प्रकार की राजनीतिक शासन प्रणाली के कुछ उदाहरण

(ख) राजवंशीय शासन प्रणाली

राजवंशीय शासन प्रणाली, राजतंत्र एवं तानाशाही दोनों से इस अर्थ में भिन्न हैं कि शक्ति, बल के आधार पर प्राप्त नहीं होती है। राजवंशीय प्रणालियों में राजनीतिक शक्ति राजा के परिवार में आपस में बाँटी जाती है। ब्रूनी का सुल्तान ने स्वतंत्रता के पश्चात् अपने परिवार के सदस्यों को भिन्न पदों पर नियुक्त किया। राजवंशीय शासन प्रणाली में राजा की शक्ति, अतिप्राचीन रिवाजों, परंपरा, समझ तथा धार्मिक स्तर से संतुलित हैं। राज्यशाही के धन तथा राजा के व्यक्तिगत धन के बीच कोई विभेद नहीं है। दूसरे शब्दों में, राष्ट्र की संपत्ति, राजा की सनक ओर मौज है। राजवंशीय शासक की एक दूसरी विशेषता है, लोगों की सहभागिता तथा प्रतिनिधित्व संस्थानों का अभाव। हालाँकि कुछ देश हैं, जैसे मोरोको जिसने विकसित संसदीय सरकार के किसी रूप का उद्भव किया है जिसमें राजा, विधायिका तथा अन्य अंग जो निर्णय प्रक्रिया से संबद्ध हैं, उससे छलयोजना में लगा रहता है। राजवंशीय राजव्यवस्था में परंपरावाद और धन संपत्ति का विचित्र समन्वय है। किन्तु पारंपरिक मूल्यों में परिवर्तन या आय में अचानक गिरावट के कारण, झोत नष्ट हो सकता है जो राजवंशीय शासक को समर्थन प्रदान करता है। वर्तमान समय में कुछ पारंपरिक राजवंशीय शासन प्रणाली, जैसे नेपाल, संवैधानिक राजतंत्र में परिवर्तित हो रहे हैं।

(ग) सैनिक शासन प्रणाली

सैनिक सरकार, समकालीन सत्तावाद का सबसे अधिक सामान्य स्वरूप है। राजनीति में सेना के हस्तक्षेप के दो कारण हैं—प्रथम, अधिकारी निकाय, शासक अभिजात वर्ग तथा जनता के बीच सशक्त और वास्तविक घनिष्ट संबंधों का होना जो कि राजनीतिक नियमों, मूल्यों तथा राजनीतिक प्रणालियों के संस्थानों के विषय में होता है नागरिक शासन एवं उनके संस्थानों की स्वीकृति अधिकारी निकायों में आयान्तरित हो जाता है। सेना हस्तक्षेप को सभी अनुचित एवं अस्वीकृत समझते हैं सरकार, लोग एवं सबसे महत्वपूर्ण अधिकारियों द्वारा ही। दूसरे नागरिक सरकारों ने अपने मूल को इस प्रकार विकसित किया है जो बहुत गहरे एवं वैधानिक हैं जिससे कि सफल सेना हस्तक्षेप की संभावना बहुत क्षीण हो जाती है, उनमें भी जो सेना में हैं और जो सेना द्वारा प्राप्ति का विचार रखते हैं। (रॉय सी मैकरिडिस, पृ. 226)। विशेषकर विकासशील देशों में सेना हस्तक्षेप, विशिष्ट परिस्थितियों में होती है, जैसे राजनीतिक प्रक्रियाओं का विघटन, प्रति-विद्रोह, सैनिक सहायता, सत्ता हस्तान्तरण मांग।

सैनिक शासन या तो सैनिक नियंत्रण, मध्यस्थता एवं निषेधाधिकार के माध्यम से प्रत्यक्ष हो सकता है या अप्रत्यक्ष हो सकता है। मध्यस्थता से सेना निषेधाधिकार तक अप्रत्यक्ष सेना नियंत्रण कुछ कृत्रिम-प्रजातांत्रिक देशों में अधिक हैं जहाँ संविधान, नियमित चुनाव, प्रजातांत्रिक सत्ता संरचना तथा अन्य प्रजातांत्रिक प्रक्रियाओं के बावजूद, सेना तानाशाह, निर्णय-निर्माण प्रक्रिया को नियंत्रित एवं प्रभावित करता है। राजनीतिक शासन प्रणाली के इस वर्ग में, कुछ राष्ट्रों का उल्लेख किया जा सकता है, जैसे-आर्जेन्टाइना, ब्राजील, पेरू, बोलिविया, युरुग्वे, गुआटेमाला, कॉलोम्बिया, आदि।

(घ) एक दलीय सत्तावादी शासन प्रणाली

एक दलीय सत्तावादी प्रणाली, चाहे सेना या नागरिक में हों, सीरिया एवं इराक, (अमरिका के सैन्य आक्रमण के पहले, जिससे अप्रैल 2003 में द्वितीय खाड़ी युद्ध हुआ।) ट्यूनीसिया, तंजानिया, मिश्र, केन्या तथा मैक्सिको में है, जहाँ प्रबल दल का शासन है। ऐसी प्रणालियों में, एक राजनीतिक दल, एक ऐसा संगठन है जिसको शासन प्रणाली-संगठित करने की अनुमति देता है ताकि शासन कायम रह सके और समर्थन प्राप्त कर सके। एक दल, सरकार के प्रति सिर्फ समर्थन एजेन्सियाँ हैं। वे, लोकप्रिय सहभागिता के प्रति सिर्फ सीमित रास्तों को प्रदान करते हैं वे शक्ति-प्राप्त लोगों से चालाकी से काम निकालते हैं। ताकि अन्य समूह या शक्ति के सक्षम केन्द्रों के विरुद्ध, बराबर होने की शक्ति को प्राप्त कर सकें जो कि कछ अवधि के बाद, गतिशील अवधि में, राष्ट्रीय स्वतंत्रता को प्राप्त कर सकें। सर्वाधिकारवादी शासन प्रणाली में, एक दलीय के विपरीत, ऐसे शासन प्रणाली स्वयं को संस्थागत करने में विफल हो गए हैं।

19.5 राजनीतिक शासन प्रणालियों का मूल्यांकन

इस प्रकार हम देखते हैं कि, समझ एवं विश्लेषण के लिए, आधुनिक राजनीतिक शासन प्रणाली को तीन मुख्य श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता: प्रजातांत्रिक शासन प्रणाली, सत्तावादी एवं सर्वाधिकारवादी शासन प्रणाली। उपर्युक्त आधार पर विशिष्ट शासन प्रणालियों की शक्ति एवं कमजारियों के विषय में कछ निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं। सर्वप्रथम, उस शासन प्रणाली के विषय में चर्चा करें जो अधिक टिकाऊ और स्थिर है। ऐसा कुछ भी सुनिश्चित करने को नहीं है कि प्रजातांत्रिक प्रणाली, सर्वाधिकारवादी या सत्तावादी प्रणाली से अधिक देर तक स्थिर रह सकता है। साम्यवादी सत्तावादी प्रणाली तथा सर्वाधिकारवादी प्रणाली ज्ञेय स्थायित्व का प्रदर्शन करने हैं। प्रारंभिक 1990 के दशकों में विघटन होने के पहले, सोवियत संघ लगभग सत्तर वर्षों तक टिका रहा। उपर्युक्त तथ्य के अन्य उदाहरण हैं, चीन और क्यूबा। सर्वाधिकारवादी शासन प्रणाली, अधिक लंबी अवधि के होते हैं, अपेक्षाकृत प्रजातांत्रिक प्रणाली के, जैसे-जर्मन ब्रीमर गणतंत्र (12 वर्ष) पुर्तगाल और स्पेन (10-12 वर्ष) अल्जीरिया तथा मेक्सिको भी सत्तावादी प्रणाली के अंतर्गत स्थायी रूप से स्थापित थे, किन्तु जल्दी ही उनका भी विघटन हो गया।

दूसरा मुद्दा अनुकूलनीयता से संबद्ध है। अन्य संस्थाओं की भाँति, सभी शासन प्रणाली को, समाज की नई सच्चाईयों के साथ अनुकूलित होना चाहिए तथा अवसरों का प्रयोग करना चाहिए। अन्य दो की अपेक्षा, प्रजातांत्रिक शासन प्रणाली, अधिक अनुकूलित होते हैं। नई स्थिति एवं परिस्थितियों से सत्तावादी एवं सर्वाधिकारवादी प्रणालियाँ कम अनुकूलित होते हैं क्योंकि दोनों ही में संकेन्द्रित एकीकृत तथा संबद्ध राजनीतिक शक्ति की संरचना होती है और कठोर अधिकारिक सिद्धांत भी।

तुलना एवं मूल्यांकन का तीसरा आधार है, किसी विशिष्ट शासन-प्रणाली में, वैधीकरण की प्रक्रिया। वैधीकरण का अर्थ है, शासन करने वालों के प्राधिकार को शासित होने वाले लोगों द्वारा स्वीकृति। इसमें सहभागिता, सामाजिकीकरण, प्रतिनिधित्व, राजनीतिक दल तथा चुनाव की प्रक्रिया सम्मिलित होती है। अन्य दो की अपेक्षा प्रजातांत्रिक प्रणाली में वैधीकरण का स्तर ऊँचा रहता है। सत्तावादी प्रणाली में वैधीकरण विकृत हो जाता है क्योंकि वहाँ अनिश्चित सहमति और समर्थन होता है। ऐसी प्रणाली में अनन्य बल, कानून एवं व्यवस्था को कायम रखने पर होता है

और इसलिए किसी भी वैकल्पिक विचार को स्वीकृति नहीं मिलती। सर्वाधिकारवादी प्रणाली में, वैधीकरण, किसी सिद्धांत का परिणाम है-या साम्यवादी अथवा फासीवाद। रॉय सी. मैकरिडिस का कहना है- किन्तु, सत्तावादी या सर्वाधिकारवादी प्रणाली में वैधीकरण को जाँचने का कोई तरीका नहीं है, सिवाय जब उसका विघटन हो जाता है। यदि नहीं, तब अनुपालन को स्वीकृति या वैधता नहीं समझना चाहिए।

नागरिक व्यवस्था को कायम रखना मूल्यांकन का दूसरा आधार है। कानून एवं व्यवस्था को कायम रखने में प्रजातंत्र की अपेक्षा, सत्तावादी एवं सर्वाधिकारवादी शासन प्रणाली का बेहतर प्रदर्शन होता है। इन देशों, जैसे मिश्र, अल्जीरिया या चिली- में कोई हड़ताल, प्रदर्शन आदि नहीं होते या वे शांतिपूर्ण होते हैं, फिर भी, वे हिंसा का प्रयोग कर लेते हैं। इसप्रकार, मैकरिडिस का कहना है- "सत्तावादी एवं सर्वाधिकारवादी शासन प्रणाली एक सुव्यवस्थित समाज की शांति और स्वच्छता में स्वयं को सेंकता है, जबकि प्रजातंत्र सर्वथा अराजकता के कगार पर रहता है। फ़ालाँकि, यदि हम गहरा

विश्लेषण करें, तब यह देखा जाता है कि प्रजातंत्र में जबकि अधिक संगठित और सामूहिक हिंसा है, सर्वाधिकारवादी या सत्तावादी प्रणाली में जन अत्याचार और हिंसा है, जो राज्य एवं उनके उपकरणों द्वारा अत्याचारी एवं अवपीड़क स्वरूपों में होता है। यहाँ हैरी एकस्टीन के विचार को स्मरण करना बेहतर होगा, जिन्होंने यह कहा था—किन्तु बृहद सामाजिक सामूहिकता द्वारा लगातार अवपीड़क अत्याचार, सुनिश्चित रूप से किसी प्रकार की राजनीतिक विफलता का संकेत देता है। यदि राज्य-व्यवस्था द्वारा निजी मतभेद को कम करने की अपेक्षा, तर्कशील मानी जाए, तब यह भी तर्क संगत है कि उनसे सिर्फ उन्हें किसी लोक स्तर तक विस्थापित करने की अपेक्षा नहीं करनी चाहिए।

सामाजिक शक्तियों तक सरकारी एजेंसियों की पहुँच का स्तर, मूल्यांकन का एक और आधार है। प्रजातंत्र में सामाजिक शक्तियाँ अपने विचार और कार्यों की स्वायत्तता और स्वतंत्रता को कायम रखते हैं। सर्वाधिकारवादी साम्यवादी सरकारों में और कई सत्तावादी शासन प्रणालियों में—अर्थव्यवस्था, संस्कृति तथा धार्मिक संस्थान सरकारी हस्तक्षेपों से उन्मुक्त हो गए हैं। सत्तावादी तथा सर्वाधिकारवादी प्रणालियों की अपेक्षा प्रजातांत्रिक प्रणाली लोगों की माँगों के प्रति अधिक प्रतिक्रियाशील होते हैं और इसलिए उन्हें अधिक लोक समर्थन प्राप्त होता है।

19.6 राजनीतिक शासन प्रणालियाँ समानताएँ एवं असमानताएँ

आधुनिक राजनीतिक शासन प्रणालियों में, सहमति एवं मतभेद के कई बिन्दु होते हैं। सर्वप्रथम इन तीनों प्रणालियों में, विधायिका की भूमिका एवं स्थिति को विकलांग या अयोग्य ठहरा दिया गया है। विधि निर्माण सिर्फ कार्यपालिका की पहल पर ही मुख्यतः होता है। कार्यपालिका का सेना, वित्त तथा विदेश नीति पर एकाकी नियंत्रण है। जबकि प्रजातंत्र में यह सिर्फ वाद विवाद तथा विचार का आधार है, सत्तावादी एवं सर्वाधिकारवादी प्रणालियों यह भूमिका भी लुप्त है। दूसरे, इन सभी राजनीतिक शासन प्रणालियों में कार्यपालिका की भूमिका, शक्ति एवं स्थिति में वृद्धि हुई है। इनकी संख्या में भी वृद्धि हुई है और प्रक्रिया के क्षेत्रों का भी विस्तार हुआ है। तीसरे, इन तीनों में सभी राज्य लोककल्याणकारी राज्यों में परिवर्तित हो गए हैं और व्यक्तिगत जीवन में भी उनकी भूमिका एवं हस्तक्षेप बढ़ गया है। हालाँकि, स्तरों में भिन्नता हो सकती है। चौथे, सेना की भूमिका एवं प्रभाव में भी वृद्धि आई है, प्रजातंत्र को सम्मिलित करते हुए।

प्रजातंत्र, सत्तावादी एवं सर्वाधिकारवादी प्रणालियों में भिन्नता, समाज एवं राज्यों के बीच संबंध जिस शैली से संरचित हैं, उस पर निर्भर करता है। साम्यवादी सर्वाधिकारवादी राज्यों में, राज्यों में सामाजिक शक्तियों को उलझाए रखने पर बल दिया जाता है और उन्हें अनुकूलित किया जाता है। प्रजातंत्र में, राज्य से समाज को सर्वथा पृथक् कर देने पर विशेष बल दिया जाता है। संस्थागत प्रणाली के मामलों में विशिष्ट भिन्नताओं पर आने से, हम यह देखते हैं कि सभी प्रजातांत्रिक देशों में (चाहे वह एकात्मक हो अथवा संघीय) निर्णय प्रक्रिया में विकेन्द्रीकरण रहता है। स्थानीय एवं क्षेत्रीय स्वायत्तता पर बल दिया जाता है। उन राज्यों में जहाँ अर्थव्यवस्था का राष्ट्रीयकरण हो गया है, प्रांतीय इकाइयों में शक्ति का हस्तांतरण हो गया है तथा केन्द्रीय सरकार से स्वतंत्रता भी मिल गई है। सभी प्रजातांत्रिक समाजों में नागरिक सहभागिता एक सच्चाई है। न्यायपालिका को सशक्त करने की प्रवृत्ति है ताकि राज्य एवं उसकी एजेंसियों पर सीमा स्थापित किया जा सके। सांस्कृतिक स्वतंत्रता के रहने के कारण, यह भी सुनिश्चित होता है कि सांस्कृतिक बहुलवादी को कायम रखने के लिए प्रजातांत्रिक प्रणाली, सम्बद्ध है।

19.7 सारांश

शासन करने वालों एवं शासित होने वालों के बीच संबंधों के निर्माण के लिए, राजनीतिक शासन प्रणालियाँ नियम, प्रक्रिया तथा समझदारी मूर्त रूप देता है। राजनीतिक शासन प्रणाली में, कुछ सामान्य आपस में बाँटे गए उद्देश्य निर्णय-निर्माण के लिए प्रक्रिया, नीति निर्धारण में हितों की व्यंजना के लिए उपकरण, तथा नीति-निर्णायकों के चयन के लिए साधन आदि होने चाहिए। इसे आत्म-संरक्षण के लिए भी समक्ष होना होगा। कई प्रकार की राजनीतिक शासन प्रणालियाँ हैं, जैसे प्रजातांत्रिक, सत्तावादी या सर्वाधिकारवादी। हालाँकि हमारे पास विभिन्न प्रकार की राजनीतिक शासन प्रणालियाँ हैं जिसमें सकारात्मक एवं नकारात्मक बिन्दु हैं, किन्तु इनमें से कोई भी, अंतर्राष्ट्रीय समाज के प्रति समस्याओं का उचित समाधान नहीं खोज पाएँ हैं। कोई भी, अंतर्राष्ट्रीय शांति स्थापना, या पर्यावरणीय दबाव या स्रोतों का समान वितरण के लिए समाधान नहीं खोज पाया है। सभी प्रणालियाँ कई चुनौतियों का सामना कर रहे हैं।

साम्यवादी सर्वाधिकारवादी राज्यों में व्यक्तिगत स्वतंत्रता विशेषकर आर्थिक स्वतंत्रता की समस्या रहती है। प्रजातांत्रिक प्रणाली, प्राधिकार एवं सहभागिता के संकट का सामना करता है जो कि खुली राजनीतिक संरचना और संस्थान का परिणाम है। सर्वाधिकारवादी शासन प्रणाली, वैधीकरण, समान वितरण, स्रोतों के आवंटन तथा राजनीतिक स्वतंत्रता की बढ़ती माँग की समस्याओं का सामना करता है। हालाँकि अधिकतर समस्याएँ, राजनीतिक शासनप्रणाली की संरचना के अंतर्गत नहीं सुलझाई जा सकती। जैसा कि मैकरिडिस ने कई वर्ष पहले कहा— कई समस्याएँ एकल राष्ट्र की सीमा से

बाहर फँस जाती हैं— यहाँ तक कि बृहद् एवं सशक्त राष्ट्रों में भी, जैसे अमरीका और सोवियत संघ। कई समस्याएँ अपने क्षेत्र में विश्वव्यापी हो गई हैं और उन्हें एक पैकेज (संकीर्ण स्तर पर) के अंतर्गत नहीं सुलझाया जा सकता। सभी राजनीतिक प्रणाली को, बड़ी अंतर्राष्ट्रीय इमारत में एक निर्मित ब्लॉक या भाग के रूप में देखा जाना चाहिए, किन्तु जब तक ये भाग उसमें समायोजित होना नहीं शुरू करते हैं, तब तक एक स्थायी अंतर्राष्ट्रीय राजनीतिक व्यवस्था का निर्माण पहुँच के बाहर है।

आज के प्रजातंत्र भी, पूर्व की अपेक्षा, कई चुनौतियों का सामना कर रहे हैं— आतंकवाद के विरुद्ध लड़ाई भूमण्डलीकरण से समंजन, अपने समाजों में होते तेजी से सामाजिक परिवर्तन के साथ अनुकूलन, आदि। इसलिए उन्हें वर्तमान की अपेक्षा उन्हें अपनी प्रणाली को बेहतर बनाने के लिए कार्य करना होगा। इसका अर्थ हुआ, प्रजातांत्रिक निर्णय प्रक्रिया को अधिक प्रभावी बनाना, राजनीतिक नेताओं द्वारा उत्तरदायित्वों का वहन, वैसे मापदण्ड स्थापित करना जो न सिर्फ वैधानिक हैं बल्कि नैतिक भी, राजनीतिक संस्थाओं एवं नागरिक संस्थानों का पुनर्निर्माण। बिना इन आंतरिक तत्वों के प्रजातंत्र सिर्फ एक खाली आवरण है।

19.8 अभ्यास

1. राजनीतिक शासन प्रणाली के अर्थ पर विचार करें। प्रजातांत्रिक शासन प्रणाली की विशेषताओं का परीक्षण करें।
2. सर्वाधिकारवादी प्रणाली की प्रकृति का परीक्षण करें और बताएँ कि यह सत्तावादी शासन प्रणाली से किस प्रकार भिन्न है?
3. आज के विश्व में, विभिन्न राजनीतिक शासन प्रणालियाँ जिन चुनौतियों का सामना कर रही हैं, उस पर विचार करें।

इकाई 20 – नौकरशाही

संरचना

- 20.1 प्रस्तावना
- 20.2 नौकरशाही का अर्थ
- 20.3 वेबर का नौकरशाही सिद्धांत
 - 20.3.1 वेबर की प्राधिकार प्रणाली
 - 20.3.2 वेबर मॉडल की विशेषताएँ
 - 20.3.3 वेबर की आलोचक
- 20.4 नौकरशाही की मार्क्सवादी अवधारणा
- 20.5 राजनीतिक एवं स्थायी कार्यकारियों में संबंध
- 20.6 आधुनिक समय में नौकरशाही के कार्य
- 20.7 विकासशील देशों में नौकरशाही
 - 20.7.1 विकासशील देशों में नौकरशाही का स्वरूप
 - 20.7.2 विकासशील राष्ट्रों में नौकरशाही की भूमिका
- 20.8 सारांश
- 20.9 बोध प्रश्न

20.1 प्रस्तावना

वर्तमान विश्व में, अपने साधारण दिनचर्या के अलावा किसी का भी सरकारी एजेन्सियों, जैसे पुलिस, आयकर अधिकारियों, नगर निगम अधिकारी, अन्य प्राधिकारियों जो सार्वजनिक सेवाओं से जुड़े हैं, जैसे सार्वजनिक परिवहन, सफाई, स्वच्छता, बिजली तथा जल की आपूर्ति इत्यादि से दिन में कई बार सामना नहीं करना, असंभव हो गया है। नौकरशाही प्राधिकारियों के आकार एवं महत्व में वृद्धि आ गई है क्योंकि आधुनिक राजनीतिक सत्ता व्यापक हो गई है जिसके अंतर्गत उद्देश्यों को उचित प्रकार से पूरा करने के लिए कई क्रिया-कलाप किए जाते हैं। किसी भी आधुनिक राज्य का नौकरशाही के न्यूनतम सहयोग-समर्थन के बिना जीवित रहना संभव नहीं है, क्योंकि ये एजेन्सियाँ, बड़े संगठनों के उद्देश्यों को सुचारु रूप से पूरा करने में सक्षम होती है।

इस प्रकार लोक नौकरशाही – लोक सेवा या अन्य प्रशासनिक एजेन्सियाँ – आधुनिक समाज तथा राजनीतिक सत्ताओं पर अपना वर्चस्व रखती है। इन एजेन्सियों में, जिसके अंतर्गत, मुख्य राजनीतिक विधायिका के नीचे कार्य करने वाले विधायिका के अन्य सदस्य हैं, वे आम तौर पर लोक नीतियों के कार्यान्वयन के लिए उत्तरदायी रहते हैं। पिछले लगभग एक दशक से सरकारी नौकरशाही के आकार में वृद्धि हुई है, क्योंकि सरकारी कार्यों में भी अधिक व्यापकता आई है। दूसरे शब्दों में, आधुनिक राज्य के विकास तथा सामाजिक और आर्थिक विकास की आवश्यकताओं के कारण प्रशासनिक ढाँचा और उनकी विविधताओं का निर्माण हुआ है। इन नौकरशाही संरचनाओं का महत्व अधिक बढ़ गया है क्योंकि (अतकनीकी) राजनीतिक विधायिका की तुलना में ये अधिक तकनीकी विद्वान सर्वोपरि एवं विशेषज्ञ हैं। कई विद्वानों का मानना है कि वही समाज जिसमें वैधानिक-तार्किक प्राधिकार संरचना है, नौकरशाही मॉडल (प्रारूप) की प्रशासनिक संरचनाओं को कायम रख सकता है। (ड्वाइट वॉल्डो, 1953)

20.2 नौकरशाही का अर्थ

सामान्यतः नौकरशाही का प्रयोग लोक प्रशासन से जुड़ी सभी एजेन्सियों एवं संरचनाओं के लिए किया जाता है। हालांकि नौकरशाही इन एजेन्सियों को विशेष प्रकार से संगठित करने के लिए होती है। एनसाइक्लोपीडिया ब्रिटैनिका ने नौकरशाही को इस प्रकार परिभाषित किया है— अधिकारियों का व्यावसायिक समूह जो पिरामिड रूप पदसोपान में व्यवस्थित है तथा जो अव्यक्तिगत एवं एकरूपीय नियम एवं प्रणालियों से कार्य करता है ताकि संगठन के उद्देश्यों को प्राप्त कर सकें।

20.3 वेबर का नौकरशाही सिद्धांत

जर्मनी के इतिहासकार से समाजशास्त्री बने, मैक्स वेबर को नौकरशाही का व्यवस्थित सिद्धांत देने का श्रेय जाता है। परंपरागत एवं करिश्माई प्राधिकार प्रणालियों में विद्यमान आनुवंशिक (पुश्तैनी) प्रकार तथा आधुनिक समय की वैधानिक तार्किक प्राधिकार प्रणालियों का वैधानिक-तार्किक नौकरशाही का मॉडल है। सर्वप्रथम मैक्स वेबर ने ही अव्यवस्थित प्रशासन के ऊपर नौकरशाही को एक बृहद सुधार के रूप में स्थापित किया। लोक प्रशासनिक संगठनों में उनका न सिर्फ अधिकाधिक उल्लेख किया गया है बल्कि नौकरशाही में कई सामाजिक विज्ञान शोधों में भी शुरुआत उन्हीं के सिद्धांत के आधार पर हुई है।

20.3.1 वेबर की प्राधिकार प्रणाली

प्राधिकार प्रणालियों के अपने वर्गीकरण में वैधता के आधार पर उन्होंने प्राधिकार को इस प्रकार वर्गीकृत किया है —

(i) परंपरागत प्राधिकार (ii) करिश्माई (अप्राकृतिक) प्राधिकार (iii) तार्किक प्राधिकार।

परंपरागत प्राधिकार में, अधिकारों की मान्यता एवं वैधता का आधार शासक की सत्यता और अनेक आदेश होते हैं। इस प्रणाली के अंतर्गत, व्यक्तिगत संपर्क, सच्चाई, रक्त संबंध आदि प्रशासन की संरचना और निर्णय को प्रभावित करते हैं। करिश्माई प्राधिकार में, करिश्मा या शासक की आधिदैविक विशेषताएँ, प्राधिकार के प्रति मान्यता का आधार हैं। करिश्मा एक ईश्वरीय देन है जिसका अनुभव स्वयं शासक को ही होता है। एक करिश्माई नेता शासक के परंपरागत नेतृत्व या आधुनिक तार्किक, नेतृत्व के प्रशासनिक-चयनित नेता से विपरीत होता है।

वैधानिक-तार्किक व्यवस्था में, प्राधिकार के प्रति मान्यता के आधार नियम हैं जो अव्यक्त, निष्पक्ष तथा तार्किक रूप से लाए गए हैं। वेबर के अनुसार नौकरशाही एक विशिष्ट प्रकार की प्रशासनिक संरचना है जिसका विकास प्राधिकार के तार्किक वैधानिक रूप के साथ हुआ है। उनके अनुसार, सिर्फ परंपरागत एवं तार्किक वैधानिक प्राधिकार संबंध स्थायी प्रशासनिक स्वरूप के निर्माण के लिए सक्षम मैक्स वेबर ने नौकरशाही के नैतिक रूप की अवधारणा दी जिसमें संरचनात्मक और व्यवहारवादी विशेषताएँ हैं, जैसे तार्किकता, कार्य-विभाजन तथा विशेषीकरण, पदसोपानीय प्राधिकार व्यवस्था, क्षमता आधारित भरती, पदोन्नति, स्थिति कार्यालय तथा उनके पदधारी के बीच भेद, लोक और निजी के बीच विभेद लिखित आलेखों पर विशेष बल, कार्यालय पद्धतियाँ नियम उन्मुख रूढ़िवाद आदि। तार्किक नीतियों के आधार पर नौकरशाही का संगठन होता है। पदसोपानीय आधार पर कार्यालय गठित होते हैं तथा उनके कार्य-कलाप अव्यक्त नियमों पर आधारित होते हैं। कर्तव्य एवं कार्यों के सुव्यवस्थित आवंटन से कर्मचारी निर्देशित होते हैं। भरती का आधार होता है, आवेदक की क्षमता या उनकी विशिष्टता न कि आरोपित मूल्य। कई लोगों के बीच ऐसी नौकरशाही समन्वय संगठन के आधुनिक रूपों की प्रधान संरचनात्मक विशेषता हो गई है। वेबर के लिए नौकरशाही, उपर्युक्त विशेषताओं के साथ एक प्रशासनिक संगठन है, जिसकी एक बार स्थापना होने से यह आगे भी जारी रहेगी क्योंकि आधुनिक समाज के कार्यरत वैधानिक प्राधिकार में (सत्ता से भिन्न) यह संगठन का सबसे कार्यकुशल और तार्किक रूप है। चूंकि सभी आधुनिक राज्य 'कानूनी-विवेकी प्राधिकार प्रणाली' होने का दावा करते हैं। वेबर के सैद्धांतिक आधार पर लोक प्रशासन का संचालन नौकरशाही के द्वारा ही होता है। वेबर के अनुसार, नौकरशाही अनुशासन पर आधारित एक प्रशासन है, तथा अनुशासन और कुछ भी नहीं सिवाय, सतत रूप से विवेकपूर्ण क्रमानुसार तैयार और आदेशानुसार उसका कार्यान्वयन है।

20.3.2 वेबर मॉडल की विशेषताएँ

वेबर की नौकरशाही मॉडल की निम्नांकित विशेषताएँ हैं—

(1) विशेषीकरण तथा श्रम का विस्तृत विभाजन (2) पदसोपानीय स्थिति (3) भरती तथा पदोन्नति के लिए तकनीकी क्षमता (4) लिखित नियम एवं विनियम (5) निष्पक्षता तथा (6) औपचारिक, लिखित संचार

श्रम का विभाजन

वेबर सिद्धांत की मूल विशेषता है, एक विकसित श्रम विभाजित तथा कार्यों का विशेषीकरण। प्रत्येक श्रेणीबद्ध इकाई में कर्तव्य तथा उत्तरदायित्व को विस्तृत रूप से परिभाषित किया जाता है। एक निश्चित क्षेत्राधिकार नीति के अंतर्गत प्रत्येक कार्यालय में सीमित कार्यों को आबंटित किया जाता है जिसका निर्धारण प्रशासनिक व्यवस्थापन करता है।

प्राधिकार संरचना

परंपरागत प्राधिकार संरचना से भिन्न जहाँ अधीनस्थ-वरिष्ठ संबंध व्यक्तिगत आधार पर होता है, नौकरशाही संगठन में अधीनस्थ-वरिष्ठ संबंध का आधार है प्राधिकार का श्रुतार्किक (विवेकपूर्ण) एवं अव्यक्त विनियम। नियत तरीके में

औपचारिक कर्तव्यों का निश्चित वितरण होता है। कार्यों के निष्पादन में आदेश देने का अधिकार, नियमों से निर्धारित है। इन कर्तव्यों को लगातार पूरा करने तथा उससे जुड़े अधिकारों को कार्यान्वित करने के लिए एक सुव्यवस्थित प्रबंध किया गया है। इस प्रकार प्राधिकार को प्रशासनिक नियमों से वैधता मिलती है तथा पदधारी की निष्ठा अव्यक्तिक होती है, जो वरिष्ठ स्तर की होती है न कि किसी विशेष मान्य व्यक्ति के लिए।

नौकरशाही संगठन में पदधारी की स्थिति और भूमिका

नौकरशाही संगठन में पदधारी की स्थिति और भूमिका में निम्नांकित विशेषताएँ होती हैं। औपचारिक योग्यता के आधार पर चयन और भरती (डिप्लोमा, विश्वविद्यालय प्रमाण पत्र) जिससे आवेदक की आवश्यकता क्षमता की जाँच हो सके ताकि वह अपने विशिष्ट कर्तव्यों को बिना पारिवारिक या राजनीतिक हस्तक्षेप के पूरा कर सके। उसका कार्यालय ही उसका पेशा है जिसमें स्थिरता और गतिशीलता है और जो पेशेवर जीवन का कार्य भी है। यह उसकी जीविका है। दूसरे शब्दों में, नौकरशाही संगठनों में, पद सम्मानार्थ (अवैतनिक) या लघु- अवधि के लिए नहीं दिया जाता है। सामान्यतः यहाँ पदोन्नति का आधार होता है, वरीयता या उपलब्धि। पारिश्रमिक प्रणाली उसकी पद स्थिति पर निर्भर करती है न कि उसके उत्पादक निष्पादन पर। नौकरशाही जीवन में, निजी एवं लोक क्षेत्र में स्पष्ट विभेद है।

नियम जो संगठनात्मक सदस्यों के बीच संबंधों को नियंत्रित करते हैं।

तर्कसंगत नियमों के आधार पर नियंत्रण की प्रणाली नौकरशाही की सबसे महत्वपूर्ण और सर्वव्यापी विशेषता है। मैक्स वेबर के अनुसार नौकरशाही प्रशासन का अर्थ है, ज्ञान के आधार पर नियंत्रण रखना। यही विशेषता इसे विशिष्टतः तर्कशील बनाती है। यह तथ्य इसके बिल्कुल विपरीत है जहाँ सभी संबंधों का नियंत्रण व्यक्तिगत विशेषाधिकार या पक्षपात द्वारा होता है और जो आनुवंशिक संगठनों में ज्यादातर पाया जाता है, खासकर जहाँ संबंध किसी पवित्र परंपरा द्वारा निर्धारित नहीं होती है।

औपचारिक, लिखित संचार—

आधुनिक कार्यालयों का प्रबंधन लिखित प्रालेखों के आधार पर होता है। लोक कार्यालय में काम करने वाले कर्मचारी अपनी फाइलों और सामग्रियों के साथ ब्यूरो (कार्यालय) कहलाते हैं। वेबर ने प्रजातांत्रिक प्रणाली के अंतर्गत नौकरशाही संगठन के मूलधार को सिद्ध किया है। सर्वप्रथम निश्चित तथा अधिकारिक क्षेत्राधिकार का सिद्धांत है जिससे कर्मचारी के कार्य अधिकार सुनिश्चित होते हैं। दूसरा नौकरशाही में क्रमबद्ध निर्देशन होता है जिससे शासित व्यक्ति को उच्च स्तर तक अपील करने का अधिकार होता है और यह नौकरशाही का पूर्ण प्रकार है। वेबर के अनुसार कार्यालय का प्रबंधक तकनीकी प्रशिक्षण प्राप्त करता है और कर्मचारी को भी संगठन के प्रति सेवा के बदले में हरजाना प्राप्त होता है।

20.3.3 वेबर की आलोचना

व्यवहारवादी विद्वानों ने वेबर की नौकरशाही मॉडल की बहुत आलोचना की है। तुलनात्मक नौकरशाही प्रणाली के अध्ययन में जिन विद्वानों ने अपना योगदान दिया है उनमें कुछ प्रमुख नाम इस प्रकार हैराबर्ट मर्टन, माईकल क्रोजियर, राबर्ट मिचल, मुनरो बरजर, एलेड डॉयमन्ट, फेरल हेडी तथा राबर्ट प्रेस्थस। तुलनात्मक नौकरशाही के इन लेखों में विशेष बल प्रशासनिक उप-प्रणाली तथा राजनीतिक प्रणाली के बीच पारस्परिक क्रिया पर है हालांकि कुछ ध्यान प्रशासनिक पारिस्थितिकी के अन्य आयामों पर भी दिया गया है। अब हम वेबर के व्यवहारवादी आलोचकों की विचारधाराओं का विश्लेषण करेंगे।

(क) राबर्ट मर्टन

राबर्ट मेनन द्वारा विकसित ऐसी संरचना के विरुद्ध सबसे अधिक सामान्य आलोचना यह है, जिसके अनुसार प्लक्ष्य की अपेक्षा नियम के अधिक महत्वपूर्ण होने की प्रवृत्ति है जिससे ध्येय (उद्देश्य) का विस्थापन तथा संगठनात्मक प्रभावहीनता हो रही है। राबर्ट के. मर्टन ने अपनी बात की शुरुआत, नौकरशाही के चमत्कार से की है। मर्टन सबसे पहले समाजशास्त्री हैं जिन्होंने नौकरशाही की दुष्क्रियाओं पर सुव्यवस्थित रूप से बल दिया है— लाल फीताशाही तथा अकुशलता। उनके अनुसार, विवेकशील नियमों और प्रक्रियाओं की प्रधानता से लचीलेपन में कमी आती है। ऐसे कार्यविधि नियम स्वयं में साधन की बजाय साध्य हो जाते हैं जिसके परिणामस्वरूप उद्देश्यों का विस्थापन हो जाता है। राबर्ट मर्टन ने इस समस्या को पहले पहचाना और इसे संगठनात्मक काम से उनके नियम एवं व्यवस्थापन के साथ जोड़कर देश जहाँ प्रबंधक संगठन को उनके उद्देश्यों से दूर रखते हैं। उनका कहना है कि इस व्यवस्था में उद्देश्य विस्थापन इस कारण होता है क्योंकि नौकरशाही भूमिका में मूल तथ्य की अपेक्षा सहायक तथा औपचारिक पहलु अधिक महत्वपूर्ण हो जाते हैं जिसकी प्राप्ति संगठन का मुख्य ध्येय हो जाता है। मर्टन के अनुसार जब कोई सैद्धांतिक क्षेत्र छोड़कर वास्तविक संगठन का अध्ययन

करता है, तब यह देखा जाता है कि कुछ नौकरशाही विशेषता संगठन की कार्य कुशलता को बढ़ावा भी देते हैं और साथ ही बाधक भी सिद्ध होते हैं। इस प्रकार इनका प्रभाव क्रियात्मक और दुष्क्रियात्मक दोनों ही होता है।

(ख) माइकल क्रोजियर

फ्रांसिसी समाजशास्त्री माइकल क्रोजियर ने फ्रांस की दो सरकारी एजेन्सियों का अध्ययन किया (माइकल क्रोजियर, द ब्यूरोक्रेटिक फेनोमिना 1963) जो कि संगठनात्मक शक्ति तथा संघर्ष के विश्लेषण में एक महत्वपूर्ण कदम है। क्रोजियर के विश्लेषण में सामाजिक संरचना में अत्यधिक सम्बद्धशील व्यावसायिक समूह है, जो कि एक दूसरे के प्रति एकीकृत तथा विरोधी भी हैं। प्रत्येक समूह स्वयं के अधिकार और विशेषाधिकार को आगे बढ़ाने के लिए, नियमों को छल और चालाकी से उसका उपयोग करता है।

(ग) राबर्ट माइकिल

अपनी कुलीन तंत्र के लौह-कानून में राबर्ट माइकिल ने यह कहा है कि आधुनिक संगठन में घनीभूत जटिलता एवं नौकरशाही के कारण, शक्ति (सत्ता) उपरी स्तर के कुछ लोगों के हाथों में ही एकत्रित हो कर रह जाता है जिसके कारण वे तानाशाह शासन करने लगते हैं। उनका कहना है कि इसका उत्तरदायित्व आधुनिक संगठन में बढ़ती जटिलता तथा उनके बढ़ते आकार को जाता है। उच्च स्तर के कर्मचारियों की स्थिति अजेय हो जाती है। कुछ लोग तथ्य (सच्चाई) को अपने अनुकूल कर संचार के माध्यम से अपने विरोधी को हानि पहुँचाते हैं। कर्तव्यों को अनवरत पूरा करने में, विशिष्ट ज्ञान और तकनीक हासिल की जाती है जिसके कारण संगठन में उसका महत्व बढ़ जाता है। एक बार नियंत्रण में लाने के बाद संगठन के कुलीन तंत्र अपनी स्थिति को और भी अधिक अधिक मजबूत कर लेते हैं तथा किसी भी खतरे की घड़ी में सामान्य उद्देश्यों की बली चढ़ा दत्त है। फलस्वरूप इससे सामाजिक कुलीन तंत्र की रचना होती है। यदि संगठनात्मक प्रणाली के ऐसे स्वयंसेवी संगठन जैसे व्यापार संघ या राजनीतिक दल, प्रजातांत्रिक रूप से कार्य नहीं कर पाते हैं तब संपूर्ण समाज का राजनीतिक संस्थान अपनी जड़ से दुर्बल हो जाता है। यह सत्य है कि यदि समाज बड़े कुलीन तंत्र संगठनों से प्रभावी होता है, तब एक कुलीनतंत्रीय राजनीतिक सत्ता का विकास होने लगता है।

(घ) फेड रिग्स

फेड रिग्स (1966) एक ऐसे महत्वपूर्ण पश्चिमी विद्वान हैं जिन्होंने पदाधिकारियों के प्रशासनिक व्यवहार तथा नौकरशाही की अवधारणा में सामंजस्य पाया है। उन्होंने थाइलैंड को एक नौकरशाही राज्य व्यवस्था के रूप में पहचाना है, जहाँ थाई के दफ्तरशाह न सिर्फ नीतियों को बनाते और कार्यान्वित करते बल्कि हित-समूह के रूप में भी काम करते और कभी-कभी कार्यपालिका के रूप में भी कार्य करते। उनका यह अनुभव करना है कि थाइलैंड की समपार्वीय नौकरशाही, परंपरागत समाज, जहाँ भूमिकाओं का एक-सा मिलना जैसा होता है, से आधुनिक समाज जहाँ सभी कुछ भिन्न और अलग है, की ओर बदलाव है तथा जिसकी विशेषता है, परंपरागत एवं आधुनिक मूल्यों का एक दूसरे के साथ अतिक्रमण। रिग्स के अनुसार प्रत्यक्ष रूप से, ऐसे समाज में कोई पृथक् सिद्धांत या लोक प्रशासन का अध्ययन नहीं हो सकता जैसे कि अर्थशास्त्र या धर्म का कोई अलग अध्ययन नहीं हो सकता। धार्मिक विचारधाराएँ पौराणिक कथाओं तथा शिक्षण में समाहित होता है जिसे राजनीति, प्रशासन या अर्थशास्त्र से संबद्ध किया जाता है किन्तु यह संपूर्ण वास्तविकता नहीं है। ये सामान्य रूप से जीवन से जुड़े हुए हैं।

20.4 नौकरशाही की मार्क्सवादी अवधारणा

मार्क्सवादी विद्वानों ने नौकरशाही को अपने दृष्टिकोण से देखा है। एक ओर जहाँ लेनिन तथा अन्य सोवियत लेखकों ने यह मानने से इन्कार किया है कि सोवियत व्यवस्था के अंतर्गत नौकरशाही में एक स्थायी तथा स्संघटित स्थिति होती है, दूसरी ओर, अन्य मार्क्सवादियों के विचार में वह केन्द्र होता है जो सत्ता की प्रकृति को किसी और से ज्यादा परिभाषित करता है। उनके दृष्टिकोण में, नौकरशाही न सिर्फ विशिष्ट अत्याचारी समूह होता है बल्कि एक नया शोषक वर्ग भी है जिसकी विशेषता है, कुलीन तंत्र जो न ही समाजवादी है और न ही पूँजीवादी और जो पूरब और पश्चिम में तेजी से फैल रहा है। इस विश्लेषण को सर्वप्रथम व्यवस्थित रूप से इटली के मार्क्सवादी ब्रुनों रिजी ने अपनी पुस्तक दी ब्यूरोक्रेटाराइजेशन आफ दी वर्ल्ड (1939) में किया है। रिजी के अनुसार सोवियत नौकरशाही में एक नया शासन करने वाला वर्ग है जो सर्वहारा वर्ग को शोषित कर रहा है जैसा कि पूर्व में पूँजीपतियों ने किया था। यह पूँजीवाद से इस संदर्भ में भिन्न था कि इस नए प्रकार की प्रधानता में उत्पादन के साधन पर एक व्यक्ति के स्थान पर समूह का नियंत्रण था। यथार्थ में सोवियत प्रणाली में उत्पादन का साधन समाजवाद का प्रतिनिधित्व नहीं करता था बल्कि राज्यवाद का। यह पर्ण रूप से सभी को सम्मिलित नहीं करता बल्कि सिर्फ राज्य और नौकरशाही को जिनसे वह नियंत्रित होता है। अंतिम विश्लेषण में, यही नौकरशाह— तकनीशियन, निदेशक, तथा विशेषज्ञ जो पार्टी या राज्य प्रशासन में मुख्य स्तर पर है—

उन्होंने ही सर्वहारा वर्ग का शोषण किया और कार्य के अतिरिक्त मूल्यों को भी हड़प लिया है। रिजी के अनुसार, इस नए प्रकार की व्यवस्था में, जिसे वह नौकरशाही समूहवाद कहते हैं सिर्फ सोवियत संघ में ही सीमित नहीं था। इसी प्रकार की प्रवृत्तियाँ फासीवादी देशों तथा कल्याणकारी राज्यों में भी दिखाई देती हैं। युगोस्लाव समाजवादी सत्ता की आलोचना में युगोस्लावी साम्राज्यवादी मिलोवन जिलास ने अपनी पुस्तक दी न्यू क्लास (1957) में रिजी की तरह ही बात कही है।

20.5 राजनीतिज्ञों एवं स्थायी कार्यपालकों में संबंध

नौकरशाही के अध्ययन में शक्ति एक महत्वपूर्ण परिवर्ती है। अब धीरे-धीरे राजनीतिक नेताओं का नियंत्रण नौकरशाही पर कम होता जा रहा है जिसका कारण है, नौकरशाही तंत्र का बढ़ता आकार और स्वेच्छाचारी शक्तियाँ।

राजनीतिक नेता और नौकरशाही के बीच का संबंध अधिक जटिल और पेचीदा हो गया है, जहाँ तक नीतियों के निर्माण और कार्यान्वयन का प्रश्न उठाता है। राजनीतिक नेतृत्व के लिए नौकरशाही तंत्र का निर्देशन और समर्थन महत्वपूर्ण होता है तथा नौकरशाहों के पक्ष में कई बातें होती हैं— उनका स्थायित्व, चुनावी परेशानियों से स्वतंत्रता फाइलों के विषय में उनका ज्ञान तथा संचार में उनका नियंत्रण इन सभी का प्रयोग वे राजनेताओं से अपने संबंध में करते हैं।

वेबर ने स्वयं यह कहा है कि नौकरशाही आवश्यक रूप से एक दिशाहीन शक्ति है जिसे किसी के लिए भी आसानी से काम में लाया जा सकता है, जो नियंत्रण रखना जानता हो। यह सत्य है कि उन्होंने नौकरशाह विशेषज्ञ को राजनीतिक नेताओं द्वारा निर्देशित करने की क्षमता को संदेह से देखा है तथा राजनीतिक नेतृत्व से सावधानी भी बरती है। विशेषज्ञों के विषय में उनकी यह पंक्ति कि उन्हें अत्यधिक ऊँची शक्ति प्राप्त है, यह आंशिक रूप से इस आधार से जुड़ा है कि कार्यकारी सरकार आधुनिक संदर्भ में निर्वाचित विधायिका पर अपनी प्रधानता रखती है। इस प्रकार वेबर ने नौकरशाही पर नियंत्रण की चिन्ता को उद्घोषित किया है, किन्तु पीटर सेल्फ ने उनकी आलोचना में कहा है कि उन्होंने प्रशासनिक बहुलवाद के विकास को नजरअंदाज किया है। इस प्रकार नौकरशाही का सिद्धांत मात्र एक विचार के रूप में छोड़ दिया गया जिससे उसका नियंत्रण ऊपर से नीचे की दिशा में हो गया क्योंकि तकनीकी रूप से सुचारु होने के बाद भी वह राजनीतिक रूप से तटस्थ था। नौकरशाही को सर्वथा एक प्रभावी संगठन के स्तर से मापा गया है। नौकरशाही कार्यकुशलता तथा प्रजातांत्रिक उत्तरदायित्व का समन्वय और मेल-मिलाप, एक दूसरा मुद्दा है जिसे वेबर ने अपने लेखों में उठाया है। इसके पूर्व वैज्ञानिक प्रबंधन विद्यालय ने यह मान लिया है कि नौकरशाही को भी संगठनात्मक कार्यकुशलता के लिए कार्य में लाया जा सकता है। यहाँ तक कि मानव-संबंधी विद्यालय ने भी राजनीतिक नियंत्रण की भूमिका पर प्रश्न उठाया है।

हालाँकि, पीटर सेल्फ का मानना है कि निम्नांकित कारणों से वेबर की अवधारणा अब पुरानी हो चुकी है। सर्वप्रथम, नौकरशाही कार्यकलापों में स्वेच्छाचारी शक्तियों में विकास हुआ है। यह सत्य है कि आधुनिक सरकार में स्वेच्छाचारिता के कई रूप, जैसे हस्तक्षेप, मध्यस्थता तथा वित्तीय सहयोग आदि से नौकरशाही अधिक से अधिक जुड़ गई है। दूसरे, आधुनिक नौकरशाही के राजनीतिक परिवेश की विशेषता है जटिल और बदलते राजनीतिक दबाव न कि प्रत्यक्ष राजनीतिक नेतृत्व। इसके साथ ही अधिक अधिकारियों में व्यक्ति परक एवं सत्तावादी-विरोधी भावनाओं का उदय हुआ है जिसके कारण क्रमबद्ध प्रणालियों में अनुशासन कमजोर हो गया है।

नौकरशाही एवं राजनीतिज्ञों के बीच संबंधों के अध्ययन ने यह दर्शाया है कि नौकरशाही बनाम राजनीतिक संरचना के मजबूत होने की सामान्य प्रक्रिया हो रही है। इसका सामान्यीकरण करना आसान कार्य नहीं है क्योंकि प्रत्येक देश में परिस्थिति बदलती रहती है। ब्रिटेन में नौकरशाहों को भरती और प्रशिक्षित किया जाता है ताकि वे राजनीतिक भावुकता दिखा सकें। इस कारण उनका प्रभाव व्याख्यात्मक होगा। दूसरी ओर फ्रांस की राजनीतिक व्यवस्था में, नौकरशाही का अत्यधिक प्रयोग किया जाता है क्योंकि वहाँ राजनीतिक अस्थिरता अधिक है और राजनीतिक प्राधिकार के अधिक बलशाली होने की भी परंपरा है। प्रशासनिक प्रणाली की दो शाखाओं में नौकरशाही शक्ति संघटित है— ग्रेड कौंस तथा पॉलिटैक्नीसिन। चूँकि नौकरशाही को बृहद अभाव के और अधिक अभिजातवादी शिक्षा प्राप्त होती है, वे शक्ति के प्रयोग में पूर्ण रूप से कुशल होते हैं। ऊपरी तौर से अमेरिका में नौकरशाही का स्थान राजनीतिक कार्यकारी की तुलना में निम्न होता है। राष्ट्रपति की इच्छा पर राजनीतिक कार्यकारियों की नियुक्ति की प्रणाली है। हालाँकि ये नियुक्तियाँ जल्दबाजी में की जाती हैं। इसके अलावा, ये कम अवधि और अस्थायी प्रकृति के होते हैं और कभी-कभी उनमें दल के अनुशासन की कमी पाई जाती है जिसके कारण राजनीतिक प्रणाली में उनका महत्व कम हो जाता है। परिणाम स्वरूप स्थायी कार्यकारी अधिक शक्तिशाली और प्रभावी होकर उभरता है।

20.6 आधुनिक समय में नौकरशाही के कार्य

आधुनिक प्रजातांत्रिक राजनीतिक शासन में नौकरशाही का कार्य है, विधायिका द्वारा बनाए गये नियमों का कार्यान्वयन। नियमों का कार्यान्वयन यांत्रिक तथा अर्धस्वचालित प्रक्रिया माना जाता है। हालाँकि ब्लॉन्डेल के अनुसार यह दृष्टिकोण

अतिसरलीकृत है क्योंकि प्रशासक मंत्रियों को निर्णय लेने में मदद करते हैं। प्रशासकों की मदद के बिना वे सभी नियम एवं विनियम को प्राप्त नहीं कर सकते हैं। इस प्रकार मंत्रियों को प्रशासक द्वारा सहायता दिया जाना एक व्यापक कार्य है क्योंकि नियम निर्माण भी एक जटिल कार्य हो गया है। राजनीतिक व्यवस्था लघु तथा लंबी अवधि के सामाजिक आर्थिक योजनाओं और नीतियों को बनाने में लगे रहते हैं। व्यापक होगा कि प्रशासक सिर्फ समय-समय पर राज्य द्वारा निर्धारित नियम एवं कार्यक्रमों को क्रियान्वित करते हैं। हालांकि नियमों, नीतियों एवं कार्यक्रमों के निर्माण के क्षेत्र में भी उनका योगदान अत्यंत महत्वपूर्ण है।

ब्लांडेल के अनुसार, कार्यान्वयन की प्रक्रिया को भी स्वचालित या यांत्रिक नहीं मानना चाहिए। नियमों का कार्यान्वयन भी निर्णय-निर्माण की प्रक्रिया है क्योंकि प्रशासन को उपलब्ध अनेक विकल्पों में से एक पथ का चयन करना होता है (जे. ब्लांडेल)।

ज्यादातर प्रशासकीय कार्य प्रबंधकीय या तकनीकी उपलब्धि प्रकृति के होते हैं। प्रविधिज्ञ (तकनीशियन) एक विशेषज्ञ होता है और उनका उद्देश्य रहता है सरकारी नौकरी का विकास और उपलब्धियाँ। हालांकि सभी नौकरशाह तंत्र ने विशेषीकरण या तकनीकी विशेषता को प्राप्त नहीं किया है। उदाहरण स्वरूप ब्रिटिश तथा अमेरिकी नौकरशाही की तुलना में फ्रांस की लोक-सेवा का अधिक तकनीकी विकास हुआ है। हालांकि लोक-कार्यों के बढ़ जाने से प्रविधिज्ञों पर विशेष बल दिया जा रहा है। प्रबंधकीय मॉग और परिणाम स्वरूप महत्वपूर्ण स्थानों पर कार्यरत विशेषज्ञों की बढ़ती संख्या के कारण नौकरशाही तथा सरकार के बीच का संबंध भिन्न रूप ले रहा है जो प्रतिनिधि सरकार के सिद्धांत से बिल्कुल अलग है। नौकरशाही मात्र तकनीकी सहायक तंत्र नहीं है। यह एक सामाजिक शक्ति भी है जिसमें स्वयं की अभिरुचि और मूल्य हैं। इस प्रकार, अपनी सहायक उपलब्धियों के अलावा इसका सामाजिक परिणाम भी होता है।

20.7 विकासशील देशों में नौकरशाही

20.7.1 विकासशील समाज में नौकरशाही की प्रकृति

आज के उभरते विकासशील समाज में नौकरशाही की निम्नांकित विशेषताएँ हो गई हैं—

सर्वप्रथम, चूँकि विकास की प्रक्रिया में राज्य की महत्वपूर्ण भूमिका रहती है, नौकरशाही को आधुनिकीकरण और विकास के लिए एक महत्वपूर्ण सहायक तंत्र माना गया है। हालांकि तीसरी श्रेणी के देशों के अनुभवों ने यह दर्शाया है कि नौकरशाही सिद्धांत के प्रतिपादकों ने जितनी अपेक्षा की थी, उतना सुपरिणाम व्यवहारिक रूप से नहीं संभव हो पाया है। दूसरी तरफ, वेबर की नौकरशाही अवधारणा में संरचनात्मक और व्यवहारवादी विशेषताओं ने विकास में अवरोध पैदा किया है। इसी कारण वेबर की नौकरशाही सिद्धांत को विकासशील समाज की विशिष्ट समस्याओं और तथ्यों से पुनः प्रतिपादित करने की चेष्टा की गई है। इसके फलस्वरूप विकासात्मक नौकरशाही की अवधारणा का उदय हुआ है।

दूसरे, विकसित राष्ट्रों से भिन्न, विकासशील राष्ट्रों में कार्यों में कम विभिन्नता है जिसके कारण नौकरशाही अपनी वैध सीमा से बाहर अधिक शक्तिशाली और महत्वपूर्ण हो गया है। फेड रिग्स के अनुसार विकास की प्रक्रिया में कार्य क्षेत्र में स्पष्ट विभाजन होता है तब विभिन्न कार्यों के लिए पृथक संरचना का प्रावधान भी होता है। नौकरशाही तथा अन्य राजनीतिक संरचनाओं के बीच सही प्रकार का सामंजस्य रहता है। तीसरे, क्षमता के आधार पर नियुक्ति होती है जिसका निर्णय सार्वजनिक प्रतियोगी परीक्षा के आधार पर होता है जिसमें लिखित एवं व्यक्तित्व परीक्षण भी सम्मिलित है। हालांकि आदिकालीन कारणों के हस्तक्षेप से जैसे व्यक्तिगत, जाति, कबीलीय, जातीय या धार्मिक एक कड़वी सच्चाई है। पक्षपात उन लोगों के लिए किया जाता है जो क्षमता के बिना भी लिखित परीक्षाओं में उत्तीर्ण हो जाते हैं। मुख्य पदों पर नियुक्ति, क्षमता-रहित आधार पर होती है। सार्वजनिक नियुक्ति के लिए जातीय विचार एक सशक्त आधार के रूप में उभर कर आया है। कुछ राष्ट्र, जैसे भारत वर्ष में सबसे अधिक पिछड़ी जाति और वर्ग के लिए, सार्वजनिक नियुक्तियों में आरक्षण की प्रणाली है। ऐसा इसलिए किया जाता है ताकि नौकरशाही एक प्रतिनिधि नौकरशाही हो। ऐसी प्रणाली राज्य की क्षमता को सीमित करती है ताकि समाज के लिए प्रभावी नियम बना सके। नौकरशाह के चयन और भरती में एक समान प्रक्रिया का अभाव रहता है। एक चौथे, विकासशील देशों में नौकरशाही का राजनीतिकरण एक अन्य विशेषता है। भारत में, प्रतिबद्ध नौकरशाही की अवधारणा की शुरुआत 1960 के उत्तरार्ध में प्रधान मंत्री इंदिरा गाँधी ने की थी, जिसमें यह अंतर्नीहित था कि सत्ता से जुड़े दल के साथ नौकरशाह प्रतिबद्ध रहे। हालांकि बाद में जनता की आवाज के कारण, श्रीमती इंदिरा गाँधी ने अपनी अवस्थिति को पुनः सुस्पष्ट किया कि वे सरकार की बजाय राज्य के कानून की ओर अधिक प्रतिबद्ध है किन्तु वास्तविकता में, राष्ट्र में नौकरशाही तटस्थता की नीति में कटाव आ रहा है। (उच्च पदाधिकारियों का चयन) (केन्द्र और राज्यों में) व्यक्तिगत और दलीय आधारों पर किया जा रहा है। चुनाव के पूर्व और उपरान्त, नागरिक सेवकों का अदल-बदल और हस्तांतरण एक आम बात है। एशिया की अपेक्षा अफ्रीकी राज्यों की स्थिति बदतर है। जैसे कि केन्या, तंजानिया, जाम्बिया, नाइजीरिया तथा युगान्डा में राजनीतिक प्रणाली के अंतर्गत राजनीतिक संघटन एक स्थापित व्यवस्था

हो गई है, राजनीतिक दलों ने नौकरशाह तंत्र की संरचना से सहयोग लेना आवश्यक समझा है। इसके परिणामस्वरूप, नौकरशाही एवं राजनीतिक दलों के बीच विभिन्न प्रकार के संबंध समाज में देखने को मिलते हैं। इन संबंधों के कारण, अफ्रीकी समाजवादी सिद्धांत तथा लोक कल्याणकारी पूँजीवाद व्यवस्था में नौकरशाही अध्यक्षीय कार्यालय की तुलना में अपना कार्य निचले स्तर पर करती है। राजनीतिक दल तथा राज्य की नौकरशाही के बीच कभी-कभी कड़वाहट अधिक हो जाती है जिसके कारण अध्यक्षीय कार्यालय का महत्व बढ़ जाता है और आनुवंशिक तथा व्यक्तिगत शासन भी संस्थागत हो जाता है। ऐसा लैटिन अमेरिकी देशों में देखा जाता है। हालांकि अफ्रीकी देशों में बॉस्वाना एक ऐसा अपवाद है जहाँ राजनीतिज्ञों और लोक-सेवकों के बीच के संबंध का आधार है तटस्थता की नीति।

पाँचवें, विकासशील देशों में नौकरशाही की एक और विशेषता यह है कि विभिन्न स्तरों पर अत्यधिक भ्रष्टाचार है। यह इतना खतरनाक हो गया है कि स्थायित्व कार्यकुशलता तथा लोक-सेवाओं की प्रभावशालीनता को भी यह भीतर से खोखला कर रहा है। न सिर्फ निम्न स्तर के कार्यकर्ताओं को काम करने के लिए थोड़ा-बहुत पैसा दिया जाता है बल्कि उच्चस्तर की वित्तीय या राजनीतिक हितों की पूर्ति के लिए बड़े पैमाने पर घूस दी जाती है। अफ्रीका में लोक-अधिकारियों को कानूनी रूप से यह छूट है कि वे निजी व्यवसाय भी चला सकते हैं, जिससे समस्या और भी बढ़ जाती है।

20.7.2 विकासशील देशों में नौकरशाही की भूमिका

द्वितीय विश्व युद्ध के बाद और पूर्व के औपनिवेशिक राज्यों ने बृहद स्तर पर अपने समाज में विकास लाने का प्रयास किया। शीघ्र आर्थिक विकास के उद्देश्य को प्रजातांत्रिक राजनीतिक विकास से जोड़ा गया। विकास का अर्थ था, राष्ट्र-निर्माण, समानता, प्रजातंत्र स्थायित्व तथा स्वायत्तता। इन देशों ने एक औपनिवेशिक नौकरशाही को प्राप्त किया था। इसकी विशेषता थी, अधिकारों का केन्द्रीयकरण क्रमबद्धता सामान्य प्रशासक तटस्थता ऐसी नौकरशाही की प्रकृति अभिजातवादी अधिकारवादी तथा पैतृकवादी होती है। इन विशेषताओं के साथ कोई भी संगठन विकास की प्रक्रिया में प्रभावी नहीं हो सकता। इस प्रकार सामान्यतः मैक्स वेबर द्वारा प्रतिपादित तार्किक वैधानिक नौकरशाही का संगठन तथा औपनिवेशिक मालिकों द्वारा निर्मित नियंत्रण एवं आय-एकत्रण के कार्य को संदेह से देखा जाने लगा क्योंकि विकास की प्रक्रिया में यह प्रभाव व्यवस्था नहीं थी।

हालांकि कुछ विद्वानों ने इन देशों से यह अपील की कि केन्द्रीकृत कार्यकुशल और सशक्त नौकरशाही को और अधिक मजबूत बनाया जाए, ताकि आर्थिक एवं राजनीतिक विकास प्राप्त हो सके। जोसफे ला पालोमबारा के शब्दों में, एक सशक्त नौकरशाही की आवश्यकता इसलिए है ताकि अप्राकृतिक राजनीतिक दीवारों के विघटन करने वाले प्रभाव को पारिवारिक एवं कबीलीय संरचना के प्रतिस्पर्धात्मक शक्तियों को रोका जा सके। इसके अलावा, राजनीतिक दलों को संगठित और वित्तीय सहायता देने, जनसंख्या के निम्न उत्पादन की समस्या जो पूँजी निर्माण पर ध्यान न देकर उपभोक्तावादी बनते जा रहे हैं, आदि समस्याओं से निबटने के भी नौकरशाही तंत्र की जरूरत है। विकासशील राज्यों में सशक्त नौकरशाही एक आवश्यक बुराई है जिसे बर्दाश्त करना सीखना होगा, इस उम्मीद के साथ कि प्रजातांत्रिक स्तर पर यह अपने सर्वोत्तम स्वरूप में होगा।

20.8 सारांश

उपर्युक्त विचारधाराओं से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है, कि अत्यधिक आलोचना तथा दुष्क्रियाओं के साथ भी नौकरशाही आज शासन का महत्वपूर्ण संस्थान है। कोई भी राजनीतिक सत्ता, चाहे वह किसी भी प्रकृति या सिद्धांत का हो, इसके बिना नहीं चल सकता। हालांकि यह सत्य है कि विभिन्न राजनीतिक शासनों में नौकरशाही अलग-अलग प्रकार से कार्य करता है क्योंकि यह निर्भर करता है, सदस्यों को राजनीतिक प्रणाली में किस प्रकार भरती या प्रशिक्षित किया जा रहा है। शासन में उसकी विशिष्ट भूमिका इस पर भी निर्भर करता है, उसका दूसरे राजनीतिक संस्थानों या देश के राजनीतिक नेतृत्व के साथ कैसा संबंध है। हालाँकि पिछले एक दशक से, कई देशों में नवीन लोक प्रबंधन आंदोलन के उदय से नौकरशाही की भूमिका और संरचना में गिरावट सी आ गई है। किन्तु विश्व में कहीं भी नौकरशाही तंत्र पूर्ण रूप से नहीं हट पाया है जिसके कारण आधुनिक राजनीतिक सत्ताओं में कार्यों को स्वरूप देने में, इसका महत्व आज भी माना जाता है।

20.9 बोध प्रश्न

1. मैक्स वेबर द्वारा प्रतिपादित नौकरशाही की अवधारणा की आलोचनात्मक व्याख्या करें।
2. प्रजातांत्रिक राजनीतिक व्यवस्था में नौकरशाही एवं राजनीतिक कार्यपालको के बीच संबंध पर चर्चा करें।
3. विकासशील समाज में नौकरशाही की विशेषताओं एवं भूमिका का विवेचन करें।

इकाई 21

राजनीति में सेना

संरचना

- 21.1 प्रस्तावना
- 21.2 सेना एवं प्रजातांत्रिक शासन प्रणाली
- 21.3 सैनिक हस्तक्षेप के कारण
 - 21.3.1 सेना का स्वरूप
 - 21.3.2 नागरिक समाज एवं सैनिक शासन का स्वरूप
- 21.4 सैनिक शासन का स्वरूप एवं विशेषता
- 21.5 राजनीति में सैनिक हस्तक्षेप का इतिहास: कुछ उदाहरण
 - 21.5.1 संयुक्त राज्य अमेरिका
 - 21.5.2 इन्डोनेशिया
 - 21.5.3 लेबनॉन
 - 21.5.4 दक्षिण कोरिया
 - 21.5.5 थाईलैंड
 - 21.5.6 पाकिस्तान
 - 21.5.7 बंगलादेश
- 21.6 राजनीति से सेना की वापसी तथा उसकी उभरती भूमिका
 - 21.6.1 राजनीति से सेना की वापसी
 - 21.6.2 सेना की उभरती भूमिका
- 21.7 सारांश
- 21.8 बोध प्रश्न

21.1 प्रस्तावना

इस इकाई में, राजनीति में सैनिक हस्तक्षेप के विषय में चर्चा की गई है और हाल ही के, वर्षों में सक्रिय राजनीति से उसके वापसी के संकेत देती है। राजनीतिक सत्ता में सैनिक एवं नागरिक संरचना के बीच का संबंध एक गम्भीर शैक्षणिक विषय बन गया है। राजनीति में सैन्य-बल की सहभागिता एक ऐसे सकारात्मक तथ्य के रूप में नहीं देखा जाता है, मानो कि अन्य प्रजातांत्रिक संस्थाएँ कमजोर या निष्क्रिय हो गई हैं। सैन्य बलों एवं राजनीतिक व्यवस्था के बीच संबंध में जो जटिल प्रश्न है, वह यह है कि क्यों कुछ राज्य अपनी सैन्य बल के अधीन हैं जबकि अन्य नहीं। किन्तु ब्लॉनडेल के अनुसार, राजनीति में सैनिक हस्तक्षेप का इतिहास यह दर्शाता है कि जहाँ भी सैनिक बल होते हैं, उनमें यह प्रवृत्ति होती है कि सक्रिय रूप से राज्य के मामलों में हस्तक्षेप करें। यह देखा गया है कि 1960 तथा 1970 के दशकों में, कई राष्ट्रों में सैनिक द्वारा राज्य के कार्यों में हस्तक्षेप करने की प्रवृत्ति थी किन्तु 1970 तथा 1980 के दशकों से एक ऐसी प्रवृत्ति का अविर्भाव हुआ जिसमें राजनीति से सैनिक बल को हटा लेने की बात देखी गई, जैसे कैरिबियन, केन्द्रीय एवं दक्षिण अमेरिका, एशियाई, अफ्रीकी, भूमध्यसागरीय यूरोपीय तथा मध्य-पूर्वी राजनीतिक शासन व्यवस्था। इस वापसी के कई कारण थे जिसे सेमुअल. पी. हंटिंगटन के अनुसार इस प्रकार कहा गया है— सर्वाधिकारवादी प्रणालियों की वैधता का ह्रास 1960 और 1970 के दशकों में अभूतपूर्व विश्वव्यापी आर्थिक वृद्धि, कैथोलिक चर्च के सिद्धांत एवं क्रियाओं में बदलाव तथा राष्ट्रीय चर्चा में परिवर्तनय दूसरे देशों में मानवाधिकार तथा प्रजातंत्र को बढ़ावा देने के लिए बाह्य कारकों की नीतियों में परिवर्तन तथा संचार के नए साधनों द्वारा इन सभी में वृद्धि।

21.2 सेना तथा प्रजातांत्रिक शासन प्रणाली

कई देशों में उनके संविधान तथा कानून के अन्य स्वरूप, सैन्य बल की भूमिका का प्रावधान उपलब्ध कराते हैं। अधिकतर लोकतंत्र अपने उद्देश्यों को सीमित कर, राष्ट्रीय सुरक्षा तथा आपातकालीन समय में अन्य द्वितीय स्तर की भूमिका को सैन्य

बल के माध्यम से उपलब्ध कराते हैं। अफ्रीका, एशिया तथा लैटिन अमेरिका के कई राज्यों ने ऐसी वैधानिक संरचना को अपनाया गया है जो प्रजातंत्र की सुरक्षा के लिए राष्ट्रपति के अधिकार सैनिक अधिकारी और पुलिस के माध्यम से उपलब्ध कराया जाता है, जिसमें इन्हें अस्थायी आधार पर विशेष शक्तियाँ मिलती हैं नागरिक स्वतंत्रता का अंत हो जाता है और सैन्य बल राष्ट्र के स्थायी हित की सुरक्षा के लिए विशिष्ट भूमिका निभाते हैं। किसी भी प्रजातांत्रिक समाज में नागरिक समाज और सेना के बीच संबंध निम्नांकित आधारों पर तय होता है—

- (क) सरकार के असैनिक कार्यकारी अंग का नेतृत्व होना चाहिए जो निरंतर और लगातार चुनावों के माध्यम से लोकप्रिय बहुमत के प्रति जिम्मेदार होते हैं। सरकार के सभी तीन अंगों द्वारा, सैनिक, नियंत्रित और पर्यवेक्षण में रहता है।
- (ख) सैन्य बल के अधिकारियों की नियुक्ति, राज्य के असैनिक प्रधान की ओर से की जाती है। असैनिक नेतृत्व, सैनिक सेवा और विभाग की तुलना में उच्च स्तर का होता है। असैनिक विभागीय अध्यक्ष की तुलना में व्यावसायिक सैनिक अध्यक्ष थल सेना जल सेना एवं वायु सेना – तीनों ही अधीन होते हैं।
- (ग) लोगों द्वारा निर्वाचित विधायी प्रतिनिधि कानून बनाते हैं जो सेना संगठन एवं राष्ट्र की नीतियों को पारिभाषित करते हैं। मुख्य कार्यकारी इन निर्देशों को लागू करती है।
- (घ) न्यायपालिका सैन्य सेवा के सदस्यों सहित, सैन्य-बल को नागरिक स्वतंत्रता को संकट में डालने से रोकती है।

21.3 सैनिक हस्तक्षेप के कारण।

21.3.1 सेना का स्वरूप

राजनीति में सैनिक हस्तक्षेप के कारण जानना कठिन नहीं है। सर्वप्रथम सक्रिय राजनीति में सैन्य हस्तक्षेप का कारण असंतोष और निराशावाद है जो सैनिक सभ्य समाज के विषय में धारणा रखते हैं और स्वयं में व्यवस्था और अनुशासन की भावना का प्रतिपादन करते हैं। सैन्य बल अपने अनुशासन और कर्तव्य के प्रति सजगता के लिए जाने जाते हैं। "यदि कोई इस सत्य को कहता है कि सैनिकों में अनुशासन और कर्तव्य नागरिक जीवन की स्वार्थपरकता और प्रयास में कमी से बिल्कुल विपरीत है—विशेषकर राजनीतिज्ञों में — और यह सूक्ष्म सत्य कि सैनिकों के पास वे सभी आवश्यक हथियार हैं जिससे शासन सत्ता को उखाड़ा और विरोधियों को चुप कराया जा सकता है, तब यह बात समझ में आती है कि क्यों सैन्य-बल के सदस्य, व्यापक स्तर पर राजनीति में हस्तक्षेप करने की मानसिकता में रहते हैं अपेक्षाकृत लोक क्षेत्र के तकनीकी विशेषज्ञों और प्रबंधकों की तुलना में। लोक सेवाओं में अनुशासन की कमी और सुस्ती के कारण ही सैनिक हस्तक्षेप होता है।

सैनिकों में व्यावसायिकता का स्तर तथा राजनीति में उसके हस्तक्षेप की संभावना के बीच का संबंध शैक्षणिक बहस का विषय बन गया है। कुछ लेखकों के अनुसार, सैनिक व्यावसायिकता ने नागरिक नियंत्रण को प्रेरित किया है। सैमुअल पी. हंटिंगटन (सैनिक और राज्य, 1957) का कहना है। कि शिक्षा कृत्रिमता और विशिष्टकरण में मामलों में जितनी व्यावसायिक सैनिक अधिकारी होते हैं, उतने अधिक अराजनीतिक होने की उनकी संभावना है। दूसरी ओर दूसरे विद्वान जैसे जेनोविट्ज (राजनीतिक सैनिक रू सामाजिक एवं राजनीतिक चित्रण, 1960) के अनुसार व्यावसायिकता के कारण ही सैन्य हस्तक्षेप, राजनीति में होता है, विशेषकर उन मामलों में जहाँ नागरिक संस्थान स्थानीय, अविकसित तथा सभ्य संस्कृति में कमी के होते हैं। ब्लॉनडेल ने आगे यह कहा है कि सैनिकों का हस्तक्षेप जारी रहेगा जब तक शासन सत्ता की वैधता निम्न रहेगी। जनसाधारण के सामान्य असंतोष से सैनिक इस निष्कर्ष पर पहुँच जाते हैं कि शासन व्यवस्था, राष्ट्र को भली-भाँति नहीं चला सकता तथा सैनिक ही स्थायी राजनीतिक व्यवस्था प्रदान कर सकती है।

सैन्य बलों को अच्छी तरह से स्थापित किया जाता है ताकि सरकार की दिक्कतों का लाभ उठाया जा सके और चूँकि उन्हें सैन्य-बल के अंतर्गत पूर्ण स्वीकृति की आवश्यकता नहीं पड़ी कि वे इस प्रकार का कदम उठा सकते हैं, और आकस्मिक शासन-परिवर्तन तभी होता है जब सेना का सिर्फ एक भाग इसका लाभ उठाता है।

21.3.2 नागरिक समाज एवं सैनिक शासन का स्वरूप

राजनीति में सैन्य हस्तक्षेप, किसी विशिष्ट राजनीति शासन व्यवस्था द्वारा समर्थित उनके मानदण्डों और मूल्यों पर निर्भर करता है। उदारवादी और प्रजातांत्रिक मानक पर प्रश्नचिह्न लगाना सैनिकों के लिए असंभव है जबकि ये मूलभूत मानक के प्रतिकूल होते हैं। इसलिए हम देखते हैं कि उन्नीसवीं शताब्दी में, यूरोप की कई शासन व्यवस्था राजतंत्र को कायम रखते हुए धीरे-धीरे अधिक उदारवादी और प्रजातांत्रिक हो गए और जिसके प्रति सैनिक, निष्ठावान रही, नए मूल्यों की अपेक्षा ये सत्ता दुहरी वैधता पर निर्धारित थे। (जैसे — 1817 के पश्चात् जर्मनी का साम्राज्य) जहाँ सैनिक और बाकी राजनीतिक

व्यवस्था के बीच की कड़ी सीमित थी और राजा के माध्यम से आती-जाती थी। कुछ समाजों में, सैनिक ही प्रभावी नाशक बल के अंतिम संग्रह-भण्डार हुआ करते थे। नागरिक सेना या पुलिस, शायद ही सक्षम होते थे। सेनाओं के प्रत्यक्ष विरोध का सामना करने में खासकर जिनके सेनापति विरोध को दबाने का निर्णय ले लेते हैं। वे देश जहाँ सामाजिक-राजनीतिक संस्थान प्रभावहीन होते हैं (जैसे कि समकालीन उप-सहारा अफ्रीका में) या राजनीतिक संस्कृति सिर्फ सीमित स्तर पर सहभागी होते हैं (जैसे कि स्वतंत्रता उपरांत लैटिन अमरीका में) उसी प्रकार वहाँ सैनिक हस्तक्षेप की गुंजाइश होती है। इन दोनों क्षेत्रों में, जो सेना शायद ही बाहरी विरोधियों पर आक्रमण करने के लिए सक्षम थी, वे प्रत्यक्ष रूप से सेनापतियों को चुनौती देने से डरते हुए राजनीतिक नेताओं पर विकट प्रभाव डालते थे।

ऐसे संदर्भ में संघर्ष से बेहतर तुष्टिकरण माना जाता है। उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में फ्रांसिसी गणतंत्र ने अपनी सैन्य बल को अच्छे भाग में उच्च स्तर की स्वायत्तता प्रदान की क्योंकि उसे उस सफेद घोड़े पर बैठे व्यक्ति से डर था जो जनरल जार्ज बुलेंगर का प्रतीक था। हालाँकि उसके हास्य गीत-नाट्य ने 1888-1889 में शासन की बागडोर को अपने हाथ में लेने की चेष्टा की लेकिन अन्त में उसका माखौल उड़ाया गया और अंततोगत्वा उसने अपनी गृह-स्वामिनी के कब्र पर आत्म-हत्या कर ली और एक चतुर तथा बेहतर संतुलित उम्मीदवार जीत सकता था, या फिर हारने के बावजूद, गणतंत्र को अस्थिर करके उसकी उत्तरजीविका पर खतरा बन सकता था।

ज्यादातर विकासशील राष्ट्रों में, सेना ने स्वयं को अधिक सक्षम और सशक्त नेतृत्व के विश्वासमान के रूप में उचित सिद्ध किया है—दोनों, राष्ट्र को सुरक्षा प्रदान करने और शासन करने में क्योंकि उसके पास बेहतर व्यवस्थान और अनुशासन है। उदाहरण के लिए थाईलैंड में सैनिक ने स्वयं को राष्ट्र के संरक्षक के रूप में प्रस्तुत किया है। एक सामान्य औचित्य का प्रयोग जो एक सैनिक शासन से दूसरे ने किया है वह राष्ट्रीय सुरक्षा का है। जब 1950 के दशक में सेना ने उच्च स्तरीय व्यावसायिकता और कार्यकुशलता को स्वयं में विकसित किया, जो कि अमरिका द्वारा अनुदान से संभव हुआ, तब सरित के अंतर्गत सैन्य बल ने राष्ट्र के संरक्षक की भूमिका को अपनाया जिसमें यह स्पष्टतः देखा गया कि उसकी असीमित सीमा है। आधुनिक युग में प्रवेश करते हुए, सैनिकों की भूमिका, पारंपरिक सैन्य मामलों की परिधि के बाहर, विस्तृत हो गई राष्ट्रीय सुरक्षा और राष्ट्रीय विकास को औचित्य के रूप में प्रयोग करने के अलावा, सैनिकों ने नागरिक सरकार में वैधता की कमी को दर्शाया जब भी उसने राजनीति में हस्तक्षेप करने का चयन किया। भ्रष्टाचार और व्यक्तिगत लड़ाई की विशेषता के साथ, नागरिक सरकार सामान्यतः लघु-अवधि की मानी जाती है और सैन्य हस्तक्षेप के लिए सर्वथा असुरक्षित रहती है।

राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक प्रणाली की जटिलता के कारण, राजनीति में सैनिक हस्तक्षेप कम होता जा रहा है किसी भी सत्ता को सैनिक द्वारा उखाड़ फेंका जाने पर नौकरशाही को उस क्षेत्र की जटिल समस्याओं की देख-रेख करनी होती है, और इसलिए सैनिकों को इसमें दबाव रहता है। इस प्रकार हमारे पास कुछ आकर्षक सैनिक नेताओं का उदाहरण है (पाकिस्तान में अयूब खान) जिन्होंने सैनिक की सहायता से नागरिक संस्थानों को सशक्त करने में मुख्य भूमिका निभाई है। सिर्फ बल के आधार पर सत्ताधारी प्रणाली को कायम नहीं रखा जा सकता। दक्षिण कोरिया में पार्क के विरुद्ध सबसे सशक्त प्रतिरक्षा को हम देखते हैं उनके नेतृत्व के अंतर्गत सैनिक शासक ने उच्च दर की आर्थिक वृद्धि प्राप्त की। 1978 तक हालाँकि, वृद्धि दर घटने लगा तथा मुद्रास्फीति एक गंभीर समस्या बन गई। पार्क ने अर्थव्यवस्था में शांति लाने के लिए स्थिरीकरण योजना बनाई किन्तु इस योजना से गंभीर मंदी हुई, जिससे लगातार दिवालियापन और बढ़ती बेरोजगारी होने लगी।

समाज में संकट के कारण, सैन्य-बल के प्रति विश्वास और निष्ठा बढ़ जाती है। बृहद अवनति (ग्रेट डिप्रेशन) के समय, फ्रेंकलिन डी. रूसवेल्ट ने डुगलर मैकऑर्थर कर्मियों के मुख्य सेनापति की चर्चा अमरिका के सबसे खतरनाक व्यक्ति के रूप में की। हालाँकि यह डर, मैकऑर्थर के प्रदर्शनकारी व्यक्तित्व शैली के कारण ज्यादा था, (जो नए उपभोक्ता को भड़का देता था) अपेक्षाकृत किसी प्रदर्शित तथ्य के जिसमें मैक ऑर्थर स्वयं को एक सक्षम तानाशाह के रूप में देखता था, ऐसी संलग्नता, काल्पनिक नहीं होती। जब जर्मनी के नवस्थापित वीमर गणराज्य ने दक्षिणपंथी अर्धसैन्य तत्वों द्वारा स्थानीय विद्रोह का सामना किया, तब रिचस्वर के मुख्य हेंस वॉन कीकट ने स्वयं को जर्मनी का एकमात्र व्यक्ति उद्घोषित किया जो सफल निष्पादन कर सकता है और यह प्रतिज्ञा की कि वह ऐसा नहीं करेगा। ऐसी सात्वना, उनके नागरिक उच्च पदाधिकारी को सीमित आराम देने के लिए सर्वोत्तम था।

क्या सैनिक हस्तक्षेप के लिए सामाजिक-आर्थिक संकट का कारण पर्याप्त है? हालाँकि थाईलैंड का उदाहरण कुछ अलग अनुभव को दर्शाता है। जब, सुविंद्रा क्रप्रायूँ के नेतृत्व में थाई सेना ने चटिचाई की सरकार को 1991 में उखाड़ फेंका, तब वह थायलैंड के अधिक राजनीतिक पर्यवेक्षकों के लिए आश्चर्यजनक था। 1980 में, प्रेम के प्रशासन के समय से ही एक शतक-लंबी संसदीय प्रजातंत्र के अंतर्गत, आकस्मिक सैनिक शासन परिवर्तन अब थाईलैंड जैसे राष्ट्र में सत्ता परिवर्तन का साधन नहीं समझा जाता है, जहाँ की अर्थव्यवस्था बहुत ही प्रभावशाली है।

एक विशिष्ट स्तर तक, राजनीति में सैनिक-भूमिका अभ्यास के बल से सीमित है। किन्तु क्या युद्ध या परिवारिक तनाव के दबाव से, किसी व्यवस्था की प्रतिक्रिया करने की क्षमता पर अत्यधिक बल लगता है। इसमें ऐसी भी संभावना बनती है कि सैन्य-बल स्वयं को ऐसा माने कि उन्हें राज्य तथा लोगों की उनसे ही रक्षा करने के लिए बुलाया जा रहा है। अमरिकी नागरिक युद्ध के अंतर्गत, जनरल जार्ज मैकसीलेन ने स्वयं को इस रूप में देखा कि, अब्राहम लिंकन के रहने के बावजूद, संघ को पुनः स्थापित करने के लिए नियति ने उन्हें बुलाया था। हालाँकि शायद राजनीति को प्रभावित करने की सैन्य क्षमता का सबसे स्पष्टतः अध्ययन उदाहरण है, 1980 में जापान। राज्य ने अपने अस्तित्व के प्रति खतरे के संकट का सामना नहीं किया।

मीजी युग (1868-1912) के जापानी नेताओं ने उस अवधि में कार्य किया था जब जनसाधारण राजनीतिक रूप से कम सचेत था और सत्ताधारी नियंत्रण अधिक आसानीपूर्वक स्वीकृत था। इसलिए, कम संख्या में निम्न-स्तरीय सैन्य अधिकारी, अपने राष्ट्र को आक्रामक युद्ध की ओर ले जाते हैं जिसमें नैतिक आस्था तथा सामान्य हत्या का विस्फोट मिश्रण होता है। माओ सी तुंग की सुक्ति कि राजनीतिक शक्ति बंदूक की नली से बढ़ती है, यह शतक के अंत की विकल सच्चाई है—और समाज तथा सरकार के लिए एक चुनौती भी।

21.4 सैनिक शासन का स्वरूप एवं विशेषताएं

सैनिक शासन का स्वरूप, नियंत्रण के स्वरूप पर निर्भर करता है जो कि सैनिक प्रजातांत्रिक राजनीतिक संरचना के ऊपर होती है। यह राज्य पर सहिष्णु विशिष्ट एवं अल्पकालीन स्वरूप के दबाव से लेकर प्रजातांत्रिक संस्थानों के मुक्त रूप से उखाड़ फेंकने तक होता है। सेना या तो पुरानी सत्ता को 'विस्थापित कर स्वयं सत्ता ग्रहण कर सकती है अथवा ऐसे अभियान में सहभागिता हो सकती है जो किसी एक समूह के राजनेताओं को दूसरे से परिवर्तित करता है। ऐसे अभियान में हाशिए में रहकर एक सामान्य मध्यस्थ की भूमिका का निर्वाह करते हैं। फाईनर ने सेना शासन को निम्नलिखित पाँच वर्गों में विभक्त किया है—खुला-प्रत्यक्ष शासन, अर्ध-नागरिक प्रत्यक्ष शासन, दुहरा शासन, निरंतर अप्रत्यक्ष शासन, तथा आन्तरिक अप्रत्यक्ष शासन।

मूलतः, सेना या तो राज्य को प्रत्यक्ष रूप से नियंत्रित करती है या फिर नागरिक सत्ता में आवश्यक उपकरण का कार्य करती है। नियंत्रण का स्वरूप और स्तर पर निर्भर करती हुई सेना शासन इस प्रकार वर्गीकृत किया जा सकता है—प्रथम, वे राज्य जहाँ सेना ने आकस्मिक शासन परिवर्तन कर लिया है और राज्य के मामलों को प्रत्यक्ष रूप से चलाते हैं या फिर अध्यक्षात्मक प्रणाली में हस्तांतरित हो कर जहाँ प्राधिकारी शक्ति के संतुलन को कायम रखते हैं (मिश्र, सीरिया, इराक, अल्जीरिया, पाकिस्तान)। दूसरे, पारंपरिक राज्य जहाँ सेना, वंशानुगत शासन का मुख्य सहायक है। (सउदी अरब, जोर्डन मोरोको, गल्फ राज्य)। तीसरे वे प्रजातांत्रिक राज्य जहाँ सेना स्पष्टतः नागरिक प्राधिकारियों द्वारा नियंत्रित है। (जैसे टर्की, इजराइल) भूतपूर्व सैनिक के नेतृत्व में अध्यक्षात्मक शासन ज्यादातर एक दलीय व्यवस्था का गठन कर, सेना के समर्थन पर आश्रित रहते जिसमें शक्ति, राष्ट्रपति के हाथों में केन्द्रित हो जाती है। सेना मध्यस्थ के रूप में कार्य करती है और निषेधाधिकार के निर्णय को अपने पास रखती है जिसे राष्ट्रीय कल्याण के लिए खतरा समझा जाता है, किन्तु नागरिक मामलों में हस्तक्षेप नहीं करती। वह अभिभावक के रूप में भी कार्य करती है, जहाँ बीच-बीच में व्यवस्था लाने के लिए वह हस्तक्षेप भीकरती है, और बाद में बैरक की ओर लौट जाती है। अंततोगत्वा, वह शासक सत्ता की स्थापना कर सकती है जहाँ वह प्रत्यक्ष रूप में हस्तक्षेप कर शक्ति प्राप्त करती है और राष्ट्र को अनिश्चित काल तक चलाती है।

सैनिक शासन की सबसे अच्छी तुलना सरकार के प्रजातांत्रिक स्वरूप से की जाती है। सरकार के स्वरूप में प्रजातंत्र की परिभाषा विभिन्न संदर्भों में दी जाती है जैसे—सरकार के लिए प्राधिकार के स्रोत, सरकार द्वारा लक्ष्य की पूर्ति, तथा सरकार गठन की प्रक्रिया। 20वीं शताब्दी की राजनीतिक व्यवस्था को इसप्रकार परिभाषित किया जाता है—यह इस स्तर तक प्रजातांत्रिक है जिसमें सबसे सशक्त सामूहिक निर्णायकों का चयन निष्पक्ष सच्चे और आवर्ती चनावों द्वारा होता है और जिसमें उम्मीदवार मतों के लिए स्वतंत्र रूप से प्रतिस्पर्धा करते हैं और इस प्रक्रिया में लगभग सभी वयस्क जनसंख्या मत देने के अधिकारी होते हैं। इस प्रकार प्रजातांत्रिक शासन में सामान्य संस्थागत सारभाग होता है—जैसे प्रतिस्पर्धात्मक चुनाव जहाँ जनसंख्या के अधिक भाग भागीदार होते हैं जबकि सैन्य-सत्ताधारी शासन की परिभाषा इन सारभागों की कमी में होती है।

इस प्रकार राजनीति में सैन्य हस्तक्षेप को प्रजातंत्र विरोधी और दमनकारी माना जाता है। हालाँकि 1960 के दशक में ऐसी अवधारणा में परिवर्तन आया और ऐसे सिद्धांत प्रस्तुत किए गए जिसमें सेना को प्रगतिशील शक्ति के रूप में देखा गया जो सामाजिक और राजनीतिक परिवर्तन को बढ़ाता है और तीसरे विश्व के राज्यों को पिछड़ेपन से आधुनिकीकरण की ओर ले गए। 1970 के दशकों में सेना सत्ता-शासन में स्थिरता आई और आकस्मिक शासन परिवर्तन घटने लगा। सेना शासन ने सामाजिक और राजनीतिक सुधार की शुरुआत की और कुछ सत्ता स्पष्टतः नागरिक सरकार में परिवर्तित हो गए। 1980

के दशक तक, विचारधाराओं में सेना उपलब्धियों की आलोचनात्मक व्याख्या हुई। यह संदेह उीरा कि क्या यह सम्बद्धता आधुनिकीकरण और प्रजातांत्रिकीकरण को बढ़ावा देता है या नहीं।

सैनिक हस्तक्षेप की विशेषता है बल और शक्ति का अत्यधिक प्रयोग। सेना शासन की प्रकृति जिसे प्रोत्साहित करती है, वह है शक्ति एवं दबाव पर अत्यधिक निर्भरता। गुप्त शक्ति संघर्ष के परिणामस्वरूप सामाजिक तनाव, राज्य नीतियों में मूलभूत बदलाव जिसके कारण नेतृत्व में भी परिवर्तन होता है, तथा योद्धा शक्ति के रूप में सेना में व्यावसिकता में कमजोरी। शक्ति का शांतिपूर्ण और व्यवस्थित अनुक्रमण जो कि प्रजातंत्र की सामान्य विशेषता है, इस प्रणाली की सबसे महत्वपूर्ण कमी है। शक्ति अधिकतर छोटे कुल में केन्द्रित रहती है जो नेता के सबसे निकट है। अन्य सक्षम शक्ति केन्द्र को बाहर निकाल दिया जाता है। विशेषाधिकारवाद, संरक्षण तथा भाई-भतीजावाद में वृद्धि आई है। राष्ट्रीय एकता पर कई साहित्यशास्त्र के बावजूद, अल्पसंख्यकों को अधिकतर नृशंस या कठोर बना दिया जाता है तथा पुरानी खाईयों को अधिक गहरा कर दिया जाता है। इन शासनों में एक दूसरी विशेषता सेना को दुस्साह के कार्य है। राष्ट्रीय संसाधनों का बृहद् भाग गरीबों की स्थिति को सुधारने की बजाय अनुत्पादक सैन्य निर्माण में लगाया जाता है। पारंपरिक सामाजिक शक्तियों के साथ मिलकर होकर सेना अपने सहकारी स्व-हित को आगे बढ़ाती है। सेना प्राधिकारियों को कई नए सत्ता केन्द्रों के उदय से चुनौती मिलती है, जैसे ऊर्जा व्यवसायी, पेशावर, उद्यमी, शिक्षावाद तथा प्रौद्योगिकीविद।

सैन्य बल अन्य नौकरशाहियों से भी कई अधिक मामलों में सत्ताधारी राज्यों के ही प्रकार हैं जैसे अधिकार का खण्डन या अवसर के प्रति असम्मत होना, आज्ञाकारिता के लिए उनकी माँग तथा दुर्दान्त विषयों के विरुद्ध प्रतिशोध का प्रयोग। इसप्रकार सेना शासन, नागरिकों अधिकार, स्वतंत्रता तथा समानता को दमन करने का कारण बनता है जिसका प्रजातंत्र आश्वासन देता है और भय के शासन का आगमन होता है। संचार का कार्यान्वयन भी प्रभावित होता है। सभी प्रभावी विरोधी राजनीतिक व्यवस्था से बाहर हो जाते हैं। सेना शासन के कई पहलु हैं, जैसे भ्रष्टाचार, नौकरशाही एवं अकुशलता के आकार में वृद्धि, निजी क्षेत्र को कुचलना, विदेशों में पूँजी का भागना, तथा प्रतिभा पलायन।

यह शासन राष्ट्रीयकरण कृषि-सुधार, औद्योगिकरण, तथा बढ़ते राज्य नौकरशाही पर नियंत्रण जैसे गंभीर मामलों पर गतिरोध उत्पन्न करते हैं जो कि विकासशील राष्ट्रों में विकास की प्रक्रिया में मुख्य हैं।

21.5 राजनीति में सैनिक हस्तक्षेप का इतिहास : कुछ उदाहरण

21.5.1 संयुक्त राज्य अमेरिका

1782 में क्रांतिकारी युद्ध के तुरंत बाद (1775-1781), कुछ अधिकारियों ने जिन्होंने यह महसूस किया कि उन्हें युद्ध अवधि की सेवाओं का अपर्याप्त वेतन प्राप्त हुआ है, वे नागरिक सरकार के विरुद्ध सैन्य क्रांति का इरादा किया। किन्तु जनरल जार्ज वाशिंगटन ने सैन्य विद्रोह को समर्थन देने से अस्वीकार किया और इसके अलावा सैन्य-भंग की आवाज उठाई तथा नागरिक सरकार के प्रति निष्ठा को जारी रखने के लिए कहा। औपनिवेशिक युग में, अमेरिकी उपनिवेश की सफल प्रतिरक्षा के कारण स्थानीय आत्म-बल सशक्त हुआ कि नागरिक-सेवा या उनके सहकर्मी स्वयं में पर्याप्त है तथा सुरक्षा को सुनिश्चित करने के लिए सेना की आवश्यकता नहीं है। औपनिवेशिक कार्यकारिणी, जिनके पास धन की शक्ति है, वे सैनिक मामलों पर नियंत्रण स्थापित करने और अंग्रेजी क्राउन के प्रतिरोध में प्रभावी सिद्ध हुए। ये अंग, अमेरिकी विचारों के मुख्य प्रतिपादक बन गए, जिसका विषय जो स्थायी सेना संगठन के खतरों के विषय में था और वे सेना पर नागरिक प्रतिबंध के मुख्य समर्थक थे।

इस प्रकार, क्रांति के दौरान, सेना पर नागरिक नियंत्रण, स्वतंत्रता और प्रजातंत्र की अनिवार्य विशेषता बन गई। 1787 में, जब संवैधानिक सम्मेलन, फिलाडेल्फिया, पेनसिलवेनिया में हुआ, तब उसमें अनुचित रूप से सशक्त केन्द्रीय सरकार के विरुद्ध, अधिक ध्यान दिया गया और इससे संबंधित कुछ संरचनात्मक उपकरण भी बनाए, राष्ट्रपति को एक दुहरी भूमिका में—मुख्य विधायिका तथा प्रधान सेनापति। नागरिक युद्ध के समय, बृहद् युद्ध प्रयासों के बावजूद लिंकन, सेना पर नागरिक नियंत्रण को सुरक्षित रखने के लिए दृढ़ थे सैन्य शक्तियों के आकार और प्रतिष्ठा में विशिष्ट विस्तार के बावजूद, प्रथम तथा द्वितीय विश्व युद्ध के अंतर्गत नागरिक नियंत्रण में ढील नहीं दी गई। हालाँकि युद्ध-समय के संकट के कारण, राष्ट्रीय योजना तथा निर्णय प्रक्रिया में सेना की सहभागिता बढ़ी, फिर भी सेना के नेताओं ने, उचित नागरिक प्रभाव को उखाड़ फेंकने की कोई अभिरुचि व्यक्त नहीं की।

संयुक्त राज्य में, सेना में नागरिक नियंत्रण के संरक्षण तथा सशक्तीकरण के लिए महत्वपूर्ण क्या है? अपनी स्वतंत्रता को संरक्षित रखने के लिए संयुक्त राज्य, सेना के विस्तारीकरण को एक अनुपेक्षणीय उपाय समझते हैं। सेना पर नागरिक नियंत्रण को वे प्रजातांत्रिक प्रक्रिया का एक अनिवार्य पहलू समझते हैं जिसे वे संरक्षित करना चाहते हैं। अमेरिकी शासन का एक आवश्यक पहलू है, सेना-सेवाओं भी पर नागरिक नियंत्रण।

21.5.2 इंडोनेशिया

इन्डोनेशिया में सेना तथा इन्डोनेशियाई कम्यूनिस्ट पार्टी के बीच तब तक शक्ति का संतुलन था, जब 1965 में वह समाप्त नहीं हो गया, सामान्य वर्ग के छह सबसे वरिष्ठ सदस्यों की हत्या की गई और राष्ट्रपति संरक्षक के सेनापति के नेतृत्व में कनिष्ठ अधिकारियों द्वारा आकस्मिक शासन परिवर्तन के लिए विद्रोह असफल हो गया था। तीव्र साम्यवादी विरोधी प्रतिक्रिया का जो अनुसरण हुआ उसमें राजनीतिक शक्ति के रूप में इन्डोनेशियाई कम्यूनिस्ट पार्टी समाप्त हो गयी। इस दल के समाप्त हो जाने से सेना इन्डोनेशियाई राजनीति का निर्विवादिक निर्णायक बन कर रह गया जिसमें मेजर जनरल सुहार्तो जो 'युद्धनीतिक आरक्षित' का सेनापति था आकस्मिक शासन परिवर्तन में विरोधी का मुख्य संस्थापक था, वह सत्ता संरचना के शीर्षस्थ पर आशंकित रूप से बैठ गया।

1958 में, औपचारिक रूप से शक्ति का हस्तांतरण, अस्थायी सलाहकार सभा के आम अधिवेशन में सुहार्तो को हो गया। नई व्यवस्था में राजनीतिक उपकरण के रूप में शेलोगान कार्यष्की स्थापना हुई। पुरानी सुकारनोइस्ट राजनीतिक दल, इन्डोनेशियाई नेशनल पार्टी इन्डोनेशियाई सोसलिस्ट पार्टी, तथा मुस्लिम पार्टियां अंदर से दुर्बल हो गए थे और दो अधिकृत दलों में विलय होने के लिए विवश हो गए थे, जो बाद में इन्डोनेशियाई डेमोक्रेटिक पार्टी या मुस्लिम यूनाइटेड डेवलपमेंट पार्टी के रूप में उभर कर आए। नई व्यवस्था के प्रारंभिक वर्षों में पहले की अपेक्षा सेना ने प्रत्यक्ष भूमिका निभाई—इतना कि बाहर के पर्यवेक्षकों ने इस सत्ता को सेना तानाशाही का रूप समझ लिया होगा। मंत्रिमंडल तथा नौकरशाही के उच्च स्तर पर सेना के अधिकारियों ने मुख्य पदों को ग्रहण किया तथा श्विधानमंडल में उन्हें 20 प्रतिशत सीटों का आवंटन हुआ।

सुहार्तो के लिए सेना का समर्थन उस अवधि में जब आकस्मिक शासन परिवर्तन का प्रयास हुआ, अप्रतिबंधित नहीं था। सुहार्ता द्वारा उसके व्यक्तिगत शक्ति का दृढ़ीकरण और शासन की शैली ने उन्हें उनके जनरल के साथ बार-बार संघर्ष की स्थिति में पहुँचाया। कई अधिकारी जिन्होंने सुहार्तो को 30 सितंबर, 1965 के बाद शक्ति छीनने में मदद की थी, बाद में वे ही उनके विरुद्ध हो गए। नई व्यवस्था के बाद की अवस्था में स्वायत्त राजनीतिक नायक के रूप में सेना की शक्ति धीरे-धीरे क्षीण होने लगी। अपने लंबे शासन काल के बाद के भाग में, सुहार्तो ने सेना के अंतर्गत किसी भी स्वतंत्र शक्ति केन्द्र को मात कर देने की चेष्टा की। निरंतर आदेश परिवर्तन के कारण शक्ति केन्द्र के दृढ़ीकरण में रुकावट आई जिससे सुहार्तो के अधिकारों को चुनौती मिल सकती थी।

प्रतिक्रिया के युक्तिचालन में सेना एक महत्वपूर्ण कारक थी जो सुहार्तो से बी.जे. हबीबी तक तथा हबीबी से वहीद तक के बदलाव में भी चलती रही, किन्तु शक्ति संघर्ष के परिणामों के लिए वह हस्तक्षेप का दबाव नहीं बना सका, जो एम. पी. आर. तथा गलियों में हुआ करता था। अपने कार्यकाल के प्रथम वर्ष में ही, राष्ट्रपति वहीद ने सेना नियंत्रण की कोशिश पर ध्यान दिया, जनरल विरान्तो को सैन्य बल के सेनापति पद से हटाकर राजनीतिक तथा सुरक्षा मामलों में संयोजक मंत्री के पद पर रखा गया, इससे वह कमान की सैन्य कड़ी से हटाया गया। वहीद का गिरता राजनीतिक स्तर तथा 2000 के दूसरे भाग में संसदीय समर्थन की कमी के कारण, सेना की तुलना में उसका हाथ कमजोर हो गया।

राष्ट्रपति के लिए मेगावती के शांतिपूर्ण आरोहण में सेना का समर्थन संकटकालीन था। अपने दो पूर्वाधिकारियों की अपेक्षा उसने तेजतरा नैसियोनल इन्डोनेसिया (टी.एन. आई) के नेतृत्व के साथ अधिक सुसंगत संबंध स्थापित किया। मेगावती के राजनीतिक इतिहास में टी.एन. आई के साथ सहयोगी संबंध के विकास का कोई सुझाव नहीं है, और इण्डोनेशिया की एकता तथा क्षेत्रीय अखंडता के प्रति उसकी प्रतिबद्धता की, उन्हें सात्वना मिली। मेगावती सरकार में कई सेवानिवृत्त वरिष्ठ सेना अधिकारी, मुख्य भूमिका निभाते हैं— सभी टी. एन. आई में सुधार शिविर के साथ संबद्ध हैं (सुसीलो बेम्बंग युधोयुनु, एगम गुमेलर, अबदुल्लाह महमूद हेन्द्रोप्रियोनो, इनमें से कुछ नाम हैं) जिन्होंने मेगावती तथा सेना के बीच सशक्त संबंध को सुदृढ़ करने में सहायता दी।

इस प्रकार हम देखते हैं कि सुहार्तो के पतन के बाद, टी. एन. आई ने औपचारिक रूप से राजनीतिक कार्यों को छोड़ते हुए राजनीतिक भूमिका से अपनी वापसी की। नई शासन व्यवस्था में, सेना के पास अभी भी सामाजिक राजनीतिक कार्य रहते हैं, किन्तु ये कार्य, प्रतिक्रिया से अलग दृष्टिकोण से नहीं देखे जाते हैं।

राष्ट्र के व्यावहारिक राजनीतिक मामलों में टी.एन. आई की भूमिका का सबसे स्पष्ट संकेत, संसद में सेना इकाई की सीटें हैं। 1990 के दशक के मध्य तक संसद में जन प्रतिनिधित्व सदन (डी. पी. आर.) में सेना की सौ सीटें थी। सुहार्तो के पतन के पश्चात् सेना एवं पुलिस का प्रतिनिधित्व 75 से घटकर 38 हो गया और 2004 तक डी. पी. आर. तथा क्षेत्रीय संसद से बाहर हो जाने की स्थिति में आ गई तथा जन सलाहकार सभा (एम. पी. आर.) से भी जो राष्ट्रपति का चयन करती है और जो 2009 के बाद तक नहीं हा सकता 2000 के प्रति एम. पी. आर. डिगरी 7 तक हाल में अगस्त 2002 के संवैधानिक सुधार में, एम. पी. आर. ने, 2004 में सेना एवं पुलिस प्रतिनिधित्व को बाहर ले जाने के लिए तिथि बढ़ाने पर अपना मत दिया।

हालाँकि संख्या में कम होते हुए भी सेना की इकाई सेना के निर्देशों पर कार्यान्वयन करते हैं और इकाई के रूप में अपना मत देते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि टी. एन. आई के नेतृत्व में स्वयं को व्यावहारिक राजनीति से हटाने की गहरी

इच्छा है। एक दूसरा सुधार जो अभी रास्ते पर है, वह है, दिन-प्रति-दिन की व्यावहारिक राजनीति से टी. एन. आई. की वापसी। किन सुधारों के पतन के पश्चात्, नागरिक सेना संबंधों में नए सिद्धान्त एवं परिवर्तन के कारण, कम संभावना बनती है कि कोई भी राष्ट्रपति, टी. एन. आई. के साथ, अपने व्यक्तिगत राजनीतिक लाभ के लिए सहयोजित हो सकता है फिर भी, सेना ने हालाँकि संस्था के रूप में स्वयं को ऐसे अरुचिकर कार्यों से हटा लिया है, यह स्वाभाविक होता जा रहा है कि सेना बल के अंतर्गत हर व्यक्ति राजनीतिक चालाकी में लगा हुआ है। सेना के तत्व जो आदेश की संस्थागत कड़ी के बाहर व्यक्तिगत निष्ठा एवं निर्देशों के बंधन की प्रतिक्रिया में कार्य कर रहे हैं, उनका संपूर्ण इन्डोनेशिया में, सभी प्रकार के छलकपट में सम्मिलित होने का आरोप है। आरोपित नागरिक कदाचार के मामलों में, निर्णायक प्रमाण शायद ही अर्पित किया जाता है तथा निष्पक्ष जाँच-पड़ताल बहुत कम और सुदूर रहता है।

21.5.3 लेबनॉन

लेबनॉन की सेना ने 1958 में अपनी प्रारंभिक अवस्था से ही लेबनॉन की राजनीति में तटस्थ भूमिका निभाई है। उसका कार्य था आंतरिक सुरक्षा की रक्षा करना तथा अंतिम आश्रय में (चुनाव आदि समय के अंतर्गत) पुलिस बल के रूप में सेवा करना। हालाँकि 1958-70 की अवधि के अंतर्गत (शिहाबिस्ट युग) हम देखते हैं कि राजनीति में सेना हस्तक्षेप के द्वारा उसमें सत्ताधारी शक्ति बनने के लक्षण होते हैं, (विशेषकर ज्युक्सिम ब्यूरो)। किन्तु राष्ट्रपतित्व में शिहाब के उत्थापन के बाद, सेना ने राजनीति में सक्रिय भूमिका निभाई। सेना ने राजनीतिक दल का रूप ग्रहण किया या नागरिक पकड़ में सेना सरकार का गठन किया। जब शिहाब ने राष्ट्रपतित्व को ग्रहण किया, राष्ट्र का प्रशासन अस्थिर और टूटने की स्थिति में था। शिहाब ने प्रशासन को पुनर्गठित किया और एक तरफ नौकरशाही के सभी अंगों में अनेक प्रगति लाई तथा वैज्ञानिक नियोजन कार्यक्रमों और कार्यों की शुरुआत की और नियोजन मंत्रालय को पुनर्गठित किया। राष्ट्र की समस्याओं के प्रति निराशा तथा भ्रष्ट राजनीतिक व्यवस्था में अविश्वसनीय राजनीतिज्ञों के कारण, शिहाब ने मुख्य सरकारी पदों पर वरिष्ठ सेनाधिकारियों को रखा, जो उनके प्रति निष्ठावान थे ये चयनित अधिकारी, नौकरशाही के अंतर्गत राष्ट्रपति के एजेन्ट के रूप में कार्य करते थे और उनके व्यक्तिगत "राजनीतिक संगठन बन गए। राष्ट्रपति ने उनका उपयोग एक प्राथमिक सुरक्षा बल के रूप में तथा अपने कार्यक्रमों को चलाने के लिए एक उपकरण के रूप में किया। ज्युक्सिम ब्यूरो के द्वारा ही, जो कि सेना का खुफिया विभाग था, राष्ट्रपति ने व्यवस्था बनाई रखी और नौकरशाही में अपने नियंत्रण को भी बनाए रखा।

21.5.4 दक्षिण कोरिया

1971 तक दक्षिण कोरिया, राजनीतिक प्रारूप के अंतर्गत कार्यरत रहा जो उसने 1963 में अपनाया था। दिसंबर 1971 में, पार्क ने राष्ट्र के ऊपर फिर से अपने नियंत्रण को मजबूत किया। उसने राष्ट्रीय आपातकाल की उद्घोषणा की और 1972 में मार्शल कानून की उद्घोषणा राष्ट्रीय सभा का विघटन किया, सभी विश्वविद्यालयों और महाविद्यालयों को बंद कर दिया, कड़े प्रेस सेंसर-व्यवस्था (नियंत्रण) को लागू किया तथा राजनीतिक क्रियाओं को निलंबित कर दिया कुछ ही दिनों के अंतर्गत उसने युसीन को प्रस्तुत किया, राष्ट्रीय मत-संग्रह में एक नया संविधान। 1972 के संविधान ने, पार्क को अनिश्चित काल तक सफल रहने, राष्ट्रीय सभा के दो-तिहाई सदस्यों को नियुक्त करने तथा स्वेच्छापूर्वक आपातकालीन शक्ति का प्रयोग करने की स्वीकृत दे दी। सारी शक्तियों को अपने में संघटित कर पार्क ने अपने विरोधियों को क्रूरतापूर्वक दमन किया।

के.सी.आई.ए के एजेन्टों ने पार्क के विरोधी किम डेई जंग का, 1971 के राष्ट्रपति चुनाव के अंतर्गत, टोक्यो के एक होटल से अगस्त 1973 में, उनका उपहरण किया जिसके कारण दक्षिण कोरिया-जापान के संबंधों में बृहद संकट की शुरुआत हुई। चुनाव के बाद किम विदेश में थे, और वहाँ पार्क के मार्शल कानून की घोषणा के पश्चात् स्थिर रहे और जापान तथा संयुक्त राज्य के बीच यात्रा करते रहे तथा पार्क-विरोधी प्रक्रियाओं में भी जुड़े रहे। युसीन संविधान के विरोध में जो छात्रगण प्रदर्शन कर रहे थे, उन्हें कैद कर लिया गया। मार्च 1976 में, मुख्य राजनीतिक नेता, जिसमें पूर्व राष्ट्रपति युन तथा राष्ट्रपति पद के उम्मीदवार किम भी सम्मिलित थे, प्रजातांत्रिक उद्घोषणा को जारी किया जिसमें प्रजातंत्र की पुनः स्थापित करने की माँग थी। पार्क ने उन्हें कैद कर लिया तथा जेल में पाँच से आठ वर्षों तक की सजा दी।

21.5.5 थाईलैंड

थाईलैंड का उदाहरण बहुत रुचिपूर्ण है, इस अर्थ में कि सुचिंदा काप्रोयून के नेतृत्व में थाई की सेना ने, प्रारंभिक 1991 में चटिचाई की सरकार को उखार फेंका, एक वैसे देश से, जहाँ कि अर्थव्यवस्था सुदृढ़ थी और 1980 में प्रेम के प्रशासन काल से ही वहाँ संसदीय प्रजातंत्र की लंबी परंपरा थी। थाईलैंड में कोई इस प्रकार के 1991 आकस्मिक शासन-परिवर्तन का विश्लेषण कैसे कर सकता है? राजनीति में थाई सेना भूमिका के संक्षिप्त इतिहास से यह देखा जाता है कि 1932 की क्रांति के बाद से, जिसके अंतर्गत थाईलैंड को संवैधानिक राजतंत्र के अंतर्गत लाया गया, थाईलैंड अधिकतर सेना शासन की कड़ी द्वारा ही प्रशासित हुआ है। फेफोन की सेना-प्रधान सरकार की लघु-अवधि के पश्चात् (1933-38) सेना तानाशाह जैसे फिबुन, सरित, थेनोम तथा प्रफात ने राजनीति पर 1938 से लेकर 1973 के छात्र के आंदोलन तक अपनी प्रधानता रखी। अपने पूर्वाधिकारियों

से भिन्न, फेफोन, जिन्होंने प्रीदी के सहयोग के साथ मिलकर 1932 क्रांति के प्रजातांत्रिक उद्देश्यों को लागू करने की चेष्टा की, इन सेना शासकों ने सत्ताधारी शासन को बढ़ावा दिया। 1950 के दशक में, जब फिबुन सत्ता में था, सरित एक वास्तविक शक्ति के रूप में उभरा। 1963 में जब सरित की मृत्यु हो गई, थेनॉम और प्रफात को राजमहल का समर्थन नहीं प्राप्त किया, जिसकी भूमिका सरित द्वारा बहुत ऊँची हो गई थी, फिबुन सत्ता के समय उसके दबाव के कारण।

थाईलैंड में, सेना स्वयं को राष्ट्र के संरक्षक के रूप में प्रतिस्थापित करती है। एक सैन्य सत्ता से दूसरे तक जो सामान्य औचित्य प्रतिपादन का प्रयोग किया जा रहा है, वह है प्वाष्ट्रीय सुरक्षा अधिकतर विकासशील राष्ट्रों की तरह जो बेहतर व्यवस्थित और अनुशासित है थाई की सेना स्वयं को एक सक्ष और सशक्त नेतृत्व के रूप में समझती है—राष्ट्र की सुरक्षा प्रदान करने और प्रशासित करने में। सरित शासन व्यवस्था के समय से ही राष्ट्रीय विकास में सेना की भूमिका की शुरुआत हालांकि हो चुकी है फिर भी 1970 के अंत तक यह कार्यान्वित नहीं हो पाया जब कुछ सेना के नेताओं की विचारधाराओं में बदलाव आता प्रतीत हुआ। 1970 के दशक में जब साम्यवादी विस्तार खतरा होने लगा, तब सेना के लिए राष्ट्रीय सुरक्षा का औचित्य न्यायसंगत था जिससे कि कई ग्रामीण क्षेत्रों में साम्यवादी विद्रोह का सामना किया जा सके। यह सत्य है कि अब सेना, अपने बैरक तक वापस लौट चुकी है, फिर भी पूर्ण रूप से उनके लौटने का भय तब तक नहीं जा सकता जब तक कि थाईलैंड में विशुद्ध सहभागी प्रजातंत्र की प्राप्ति नहीं हो जाती।

21.5.6 पाकिस्तान

पाकिस्तान में भी, सेना राज्य के मामलों के संचालन में सहायक होती है, जिसका सब पर नियंत्रण रहता है, जिसमें सभी राष्ट्रीय स्रोत भी सम्मिलित है। 1958 से 1969 तक की अवधि, जनरल अयूब खान के नेतृत्व में सेना तानाशाही की अवधि थी। जबकि 1962 तक उसने नौकरशाही और सेना के सहयोग से शासन किया, और 1962 में उसने अर्ध-संवैधानिक तथा नागरिक शासन की शुरुआत की जिसमें राजनीतिक दल का कुछ सीमाओं के साथ नवीनीकरण हुआ। उसने बुनियादी प्रजातंत्र की व्यवस्था की शुरुआत की। पाकिस्तान के राजनीतिक इतिहास का दूसरी युगान्तरकारी घटना थी। 1969 में याह्या खां को सत्ता सौंपना और याह्या का शासन पूर्णतः सेना शासन था जिसमें कोई भी वरिष्ठ अधिकारी संबद्ध नहीं था। जनरल याह्या सी एम एल. ए बन गया और सेना के जनरल के सामूहिक नेतृत्व में कार्य करने लगा। कुछ सेना जनरल के विरोध के बावजूद, याह्या ने आम चुनाव लाने का निर्णय किया। मार्च 1970 में वैधिक प्रारूप व्यवस्था (लीगल फ्रेमवर्क ऑर्डर, एल एफ ओ) की घोषणा हुआ जो अन्य चीजों के अलावा, संविधान बनाने के लिए राष्ट्रीय सभा के गठन को उपलब्ध कराया। चुनाव का संचालन हुआ तथा शेख मुजिब, बहुमत दल के नेता के रूप में उभर कर आए। जनरल याह्या ने मुजिब का नाम अगले प्रधानमंत्री के लिए घोषित किया, किन्तु भुट्टो जिसे स्वयं प्रधान मंत्री बनने की इच्छा थी (बहुमत नहीं होते हुए भी) राजी नहीं हुए। इस प्रजातांत्रिक आदान-प्रदान से जब कुछ भी उभर कर सामने नहीं आया, परिस्थिति और अधिक बिगड़ती गई जब पूर्वी पाकिस्तान में संकट आया जिसके कारण मार्च 25, 1971 में सैनिक विस्फोट हुआ। पुनरु 5 जुलाई 1977 को जनरल जिया उल हक ने मार्शल कानून की घोषणा की। हवाई विस्फोट में उनकी आकस्मिक मौत के कारण उनका शासन खत्म हो गया। नवाज शरीफ के कम समय के प्रजातांत्रिक शासन के बाद, सैनिक ने पुनः 1999 में पाकिस्तान में हस्तक्षेप किया और आकस्मिक शासन परिवर्तन (कूप) के रूप में, जनरल परवेज मुशर्रफ की सेना शासन आ गई। इस प्रकार सेना, पाकिस्तान की प्रजातांत्रिक प्रक्रियाओं में निरंतर हस्तक्षेप करती रहती है। मुशर्रफ का मार्शल कानून प्रजातांत्रिक प्रक्रिया को पटरी से उतारने में अंतिम चेष्टा थी, जिसका बीज उसी सेना ने 1954 में डाल दिया था, राष्ट्र में प्रथम मार्शल कानून को लागू करने के साथ।

21.5.7 बंगलादेश

अंतर्राष्ट्रीय समाज में, बंगलादेश का प्रवेश 1971 में एक संसदीय प्रजातंत्र के रूप में हुआ, परन्तु 1972 में वह प्रजातंत्र के अध्यक्षात्मक स्वरूप में परिवर्तित हो गया। 1973 में एक बार फिर संविधान में संशोधन हुआ और 1974 में आपातकाल की उद्घोषणा हुई। 1975 में एक दलीय सत्तावादी शासन का निर्माण हुआ। एस. के मुजिब की हत्या के बाद, खालेद मुशर्रफ द्वारा आकस्मिक शासन परिवर्तन तथा नवंबर 1975 की सैनिक क्रांति ने जनरल जिया-उर रहमान को सत्ता में लाया। 1976 में जिया सी एम एल ए बन गए और 1977 में बंगलादेश के राष्ट्रपति। 1982 में दूसरी बार राजनीतिक सत्ता पर सेना का अधिकार हो गया जब जनरल एच.एम का अधिकार हो गया जब जनरल एच.एम इर्शाद ने मार्शल कानून की घोषणा की, संविधान को निलंबित किया, सभी राजनीतिक दलों पर प्रतिबंध लगा दिया और सी एम एल ए बन गए तथा बाद में राष्ट्रपति। उनकी शासन व्यवस्था दिसंबर 1990 तक रही।

21.6 राजनीति से सेना की वापसी तथा उसकी उभरती भूमिका

21.6.1 राजनीति से सेना की वापसी

आज अधिकतर देशों में राजनीतिक सत्ता में सेना ने अपनी सीमित भूमिका को स्वीकार कर लिया है। फिर भी, राजनीति से क्या यह पूर्णतः स्वयं को हटाकर, पश्चिमी-शैली की व्यावसायिकता को अपना लेगा, अभी भी यह एक प्रश्न बना हुआ है।

राजनीति से सेना की वापसी का इस संदर्भ में भी उल्लेख करना चाहिए जब 1970 और 1980 के दशकों में प्रजातंत्रवाद की लहर चारों ओर फैली हुई थी। अधिकतर देशों में सक्रिय राजनीति से सेना ने स्वयं को अलग कर लिया। इस संदर्भ में लैटिन-अमेरिकी राष्ट्रों के उदाहरण देखे जा सकते हैं। 1979 में आर्जेन्टिना के शिखर पर टेरा डेल प्युगो तथा टेक्सस में मेक्सिको के बॉर्डर पर रियो ग्रांड नदी के बीच उन्नीस सरकारों में राज्य के प्रधान सेना के अधिकारी हुआ करते थे। आज एक भी नहीं है। वास्तव में शीत-युद्ध की समाप्ति के बाद पश्चिमी परिक्षेत्र में जो सफल आकस्मिक सेना-शासन परिवर्तन हुआ, वह हैती में था, जहाँ पर 1994 में नागरिक शासन पुनः स्थापित हो गया। सेना-शासन जो नाइजीरिया और बर्मा में था, तथा आकस्मिक सेना-शासन जो 1997 में सियरा-लियोने में हुआ वह सामान्य नहीं, अपितु अपवाद था।

इसके अतिरिक्त राष्ट्र की सर्वोच्च प्राथमिकता जबकि आर्थिक उद्देश्य है, ऐसे में सेना अपनी भूमिका के विस्तार में कई अवरोध का सामना करती है। शिक्षा और आधुनिकीकरण के उच्च स्तर के कारण, जिसमें अर्थ-व्यवस्थामुखी अंतर्राष्ट्रीय वातावरण होता है, सरकार तथा सेना दोनों ही लोकप्रिय माँगों के पूरा करने के दबाव में बने रहते हैं। पिछले दशकों में सामाजिक-आर्थिक विकास के प्रभाव के कारण राजनीति में सेना की भागीदारी कम हो गई। कई कारण, जैसे-राजनीति में सेना का ऐतिहासिक संलग्नता, नागरिक सरकार और प्रजातंत्र के प्रति उसकी राजनीतिक विचारधारा तथा राजनीतिक संस्कृति-इन सभी का परीक्षण उसके निरंतर हस्तक्षेप के कारण करना होगा।

शीत-युद्ध अवधि के पश्चात्, विशेषकर पश्चिमी देशों में, जिसमें अमेरिका भी सम्मिलित है, सेना के व्यय में काफी कमी आई है, न सिर्फ अमेरिका या पूर्ववर्ती सोवियत-संघों के राज्यों में, बल्कि एल सल्वाडोर और अर्जेन्टिना, घाना और दक्षिण अफ्रीका तथा भारत और वियतनाम जैसे देशों में भी। ये कटौतियाँ परिवर्तित सुरक्षा वातावरण के परिणामस्वरूप हैं, जब सोवियत संघ का विघटन हो गया। कुछ अपवाद को छोड़कर अब वह युग समाप्त हो गया है जब उन राज्यों के विरुद्ध अधिक संख्या में बल-प्रयोग की आवश्यकता होती थी जो युद्ध के लिए तत्पर रहते थे हालाँकि सेना-अधिकारियों की संख्या में कटौती की गई है, फिर भी आज सभी देशों में सेना सबसे वृहद् और सर्वाधिक आर्थिक अनुदान-प्रदत्त संगठन है। युद्ध के अलावा वर्तमान वर्षों में सेना के कार्यों में नागरिक-मामलों का महत्त्व बढ़ रहा है। नागरिक कार्य-प्रणाली की दृष्टि से पारंपरिक शक्तियों के कर्मी अधिकारी और नियोजक सेना में नागरिक आयामों के नियोजन में संलग्न है। उदाहरण के लिए, बोसनिया में चुनाव में सेना समर्थन के लिए नियोजन, रणनीतियों और कार्यों द्वारा पूरा किया गया, जबकि हमारे नागरिक मामलों के कर्मी सेना एवं नागरिक नियोजक के बीच सूक्ष्म कड़ी है। नागरिक मामलों के महत्त्व को स्वीकार करने वाला, सर्वप्रथम राष्ट्र अमेरिका है, और अन्य राष्ट्र जैसे ब्रिटेन, कोरिया गणतंत्र, फ्रांस और जर्मनी अपनी सेना में ऐसे कौशल को समाहित कर रहे हैं।

जबकि सैन्य शक्ति की केन्द्रीय भूमिका, राष्ट्रीय सुरक्षा की देख रेख करने में जारी है, शीत-युद्ध अवधि के पश्चात् सेना में कटौती के कारण, सैन्य बल के लिए नए परिदृश्य और भूमिका खुलकर सामने आए हैं। इन कार्यों में सम्मिलित हैं, आंतरिक व्यवस्था को कायम रखने के लिए स्थानीय पुलिस बल को सहयोग करना, वातावरण में अवनति का सामना करना, स्वास्थ्य एवं शिक्षा सेवा उपलब्ध कराना पुल और राजपथों का निर्माण करना। ये कार्य पारंपरिक अप्रधान सेना कार्यों के अतिरिक्त हैं, जैसे कि बाढ़, आँधी-पानी, सूखा, भूकंप या नागरिक गड़बड़ी के पीड़ितों को भोजन, छत, चिकित्सा, और सुरक्षा उपलब्ध कराना।

21.6.2 सेना की उभरती भूमिका

आज सेना से, शांतिपूर्ण कार्यों में सहभागी होने, किसी भी अंतरराष्ट्रीय संस्था के संरक्षण में प्रजातंत्र को बढ़ावा देने तथा मतभेद सुलझाने की अपेक्षा की जा रही है। हमारे पास सभी प्रकार की क्रियाओं के लिए अमरीकी-नागरिक मामलों के कार्मिक हैं, न सिर्फ देशी सीमा के अंतर्गत बल्कि बाहर भी। इन क्रियाओं में सम्मिलित है- मानवीय सड़क और विद्यालयों का निर्माण, कुँआ की खुदाई, सरकारों को स्थिर करना, अव्यवस्था और गड़बड़ी को विसारित करना तथा व्यवस्था को पुनः स्थापित करना। स्थानीय लोगों के जीवन में भिन्नता लाकर ये नागरिक कार्मिक, विश्व की नजरों में अमेरिका के सद्भाव को सशक्त करने में सहायक हो रहे हैं-स्पष्टतः हमारी नागरिक शक्ति एक अमूल्य राजनय गुणक हैं। रवांडा तथा नामीबिया में एक अमरीकी नागरिक कार्मिक दल है जो मानवीय दल के रूप में कार्यरत है, चिकित्सक कार्यों में यह माली के कई राष्ट्र के साथ मध्यवर्ती का कार्य कर रहा है, लघु अभियांत्रिकी योजना, जैसे बेलीज में कुँए की खुदाई या सड़क सुधार जैसे कार्य करना, वार्निन्या में चुनावी योजना में सहायता देना, कम्बोडिया में मानवीय सहायता के लिए आवंटन में सहयोग करना, तथा कंबोडिया के सरकार को भी लोगों तक आवश्यक सरकारी सेवाओं को प्रदान करने के लिए संरचना स्थापना में सहयोग करना तथा लाओस में नागरिक कार्य योजनाओं के लिए गैर सरकारी एजेंसियों और निजी संस्थाओं के साथ कार्य करना जहाँ एक वर्ष पहले किसी भी अमरीकी सैन्य कार्मिक को अनुमति नहीं थी।

सैमुअल पी. हंटिंगटन (तीसरी लहर, 1991) ने 20वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में लोकतंत्रीकरण के तथ्य की बात की है। लोकतंत्रीकरण की प्रक्रिया के इतिहास को तीन चरणों में वर्गीकृत करते हुए उन्होंने इसके तीन विभिन्न लहरों की बात की है। - पहली लहर, 1828-1928 (पश्चिमी यूरोप ऑस्ट्रेलिया, कनाडा, चिली पूर्वी एवं केन्द्रीय यूरोप में लोकतंत्रीकरण) दूसरी

लहर (1943–1962) पश्चिम जर्मनी, ऑस्ट्रिया, इटली, जापान, दक्षिण कोरिया, भारत, फिलीपाइन्स, इसरायल, नाइजीरिया तथा जमैकाय तीसरी लहर, जिसकी शुरुआत 1974 में हुई (पुर्तगाल, स्पेन, ग्रीस, बर्लिन दीवार का टूटना तथा 1989 में यूरोप में साम्यवाद का अंत तथा 1991 में सोवियत संघ का विघटन) हंटिंगटन ने सेना सत्ता से प्रजातंत्र की ओर हस्तांतर के लिए निम्नांकित कारणों का उल्लेख किया है—वैधता का असमंजस अभूतपूर्व आर्थिक विकास, संशोधन की भूमिका में परिवर्तन, प्रजातांत्रिक संस्कृति को प्रोत्साहन देने में लोक संचार की भूमिका, तथा प्रजातांत्रिक राजनीतिक व्यवस्था के समर्थन में बाह्य कर्मियों की भूमिका। सेना शासन के गिरावट में जो सबसे दबावकारी कारण है, वह है लोकतंत्रीकरण के पक्ष में अंतर्राष्ट्रीय दबाव। यात्रा और संचार के साधनों में, तेजी से आती नवीनता ने भी, एक दशक से कम अवधि में विश्व भर में प्रजातांत्रिक लहर का फैलाने में मुख्य भूमिका निभाई है। दूर-क्रांति ने पूर्ववर्ती सोवियत संघ और पूर्वी यूरोप में साम्यवाद के गिरने में मुख्य भूमिका निभाया है।

स्पेन तथा पुर्तगाल में प्रजातंत्र की सफलता ने अन्य उदार संस्कृतियों पर गहरा प्रभाव डाला है। इसीप्रकार, मॉरकोस के पतन का, एशियाई के अन्य स्थानों पर प्रदर्शनकारी प्रभाव रहा है। प्रजातांत्रिक संस्थानों और प्रक्रियाओं की स्थापना, विदेशी-अनुदान के लिए एक पूर्व-स्थिति के रूप में उभरी विशेषकर पूर्ववर्ती साम्यवादी देशों में जैसे अल्बेनिया, आर्मीनिया, अजरबैजान, बेलारस, बल्गेरिया, एस्टोनिया, जॉर्जनिया, कजाकिस्तान, लैटविया, लिथुएनिया, मॉल्डोविया, स्लोवेनिया, युकरेन, इत्यादि। इसप्रकार, हम देखते हैं कि कुछ राष्ट्रों ने (अमरीका तथा उसके मित्रराष्ट्र) 1940 से ही लोकतंत्रीकरण को बढ़ावा देने में सहायक रहे हैं (जैसे – आस्ट्रिया, बेल्जियम, ग्रीस, पश्चिम जर्मनी, आइसलैंड, इटली, नीदरलैंड, नॉर्वे, तथा लक्समबर्ग)।

27.7 सारांश

राजनीति में सेना की सहभागिता को सकारात्मक तथ्य के रूप में नहीं देखा जाता है। यह राष्ट्रीय सुरक्षा तक ही सीमित रहता है या फिर आपातकालीन स्थिति में यह किसी राष्ट्र के लिए अप्रधान भूमिका निभाता है। 1960 तथा 1970 के दशकों में कई देशों ने ऐसी प्रवृत्ति का अनुभव किया जिसमें प्रत्यक्ष सेना हस्तक्षेप था विशेषकर लैटिन अमरीकी देशों में।

सेना हस्तक्षेप के कारण उनकी व्यावसायिक प्रकृति से संबद्ध है। नागरिक जीवन में सेना को प्राप्त अनुशासन, तथा कर्तव्य निष्ठता में कमी के कारण जो असंतोष रहता है, वह संभावित कारण हो सकता है।

नागरिक समाज की प्रकृति भी एक कारण हो सकती है। नागरिक सरकारों में वैधता की कमी को सेना उद्धृत करता है तथा राष्ट्र के संरक्षक के रूप में स्वयं की उसकी भूमिका तथा देश में सामाजिक आर्थिक संकट—ये सभी हस्तक्षेप के कारण हो सकते हैं।

सेना सरकार की विशेषता में सम्मिलित है, बल का अत्यधिक प्रयोग, सेना के साहसिक कार्य, स्वयं के सहकारी स्व-हित को बढ़ावा देना और इसप्रकार अधिकार, स्वतंत्रता तथा नागरिक समानता दबाव बनाए रखना।

1970 तथा 1980 के दशकों में लोकतंत्रीकरण के विस्तार के कारण, राजनीति से सेना की वापसी हुई। आज सभी देश, आर्थिक उद्देश्यों को प्राथमिकता दे रहे हैं और इसप्रकार सेना की भूमिका सीमित होती जा रही है। उच्च स्तरीय की शिक्षा और आधुनिकीकरण भी सरकार पर दबाव बनाए हुए हैं ताकि लोकप्रिय माँगों पर प्रतिक्रिया दिखाई जाए। हालाँकि सेना को निम्न प्राथमिकता दी जा रही है, फिर यह सबसे बृहद, सर्वाधिक आर्थिक अनुदान प्रदत्त, सर्वोत्तम संगठन है। पारंपरिक शक्तियाँ, अब सेना के कार्यों में नागरिक आयामों को संलग्न करने में जुटी हुई हैं। अब सेना से अंतरराष्ट्रीय संस्था के अंतर्गत शांति स्थापना कार्य, प्रजातंत्र को प्रोत्साहन तथा मतभेद को व्यवस्थित करने की अपेक्षा की जा रही है। जब तक सेना राष्ट्र को सुरक्षा प्रदान करने की अपनी मुख्य भूमिका को पूरा करती रहेगी, अयुद्धकारी भूमिका में उसकी संलग्नता, प्रजातंत्र को सुदृढ़ करने में सहायक सिद्ध होगी।

21.8 बोध प्रश्न

- सरकार में सेना हस्तक्षेप को क्यों नहीं वैध माना जाता है?
- वर्तमान वर्षों में, राजनीति में सक्रिय सहभागिता से सेना की वापसी का विवरण दें।
- दो उदाहरणों की सहायता से (किसी दो देशों से) राजनीति में सेना हस्तक्षेप का विश्लेषण करें।
- राजनीति में सेना की क्या उभरती भूमिका है।

इकाई 22

संघवाद: प्रतिमान और प्रवृत्तियाँ

संरचना

22.1 प्रस्तावना

22.1.1 राष्ट्र निर्माण के कार्यक्रम का विस्थापन

22.2 शब्द तथा उसकी उपयोगिता पर वाद-विवाद

22.3 संघवाद के प्रतिमान

22.3.1 संघ

22.3.2 सहयोग

22.3.3 परिसंघ

22.3.4 असममित संघीय व्यवस्था

22.3.5 लीग

22.4 संघवाद के प्रारूप और प्रकार

22.4.1 शक्तियों का वितरण

22.4.2 आर्थिक स्रोतों का आवंटन

22.4.3 द्विसदनवाद के सिद्धांत

22.4.4 संविधान की सर्वोच्चता

22.5 सारांश

22.6 बोध प्रश्न

22.1 प्रस्तावना

कई शतक और दशक से, संघवाद का उदय कई अनुभवों के माध्यम से हो रहा है, जैसे, शासक बनाम जनताय लोक बनाम सरकार तथा संघटक इकाइयां बनाम संघीय इकाई, जो सामान्यतः विभिन्नता में एकता की जगह को व्यापक बनाने के लिए मानव सम्बद्धता की आवश्यकता तथा महत्व को सूचित करते हैं। यह शक्ति और राजनीति के अस्थिर क्षेत्र में, प्रयत्न और त्रुटि, विभेद और संघर्ष, समझौता और असहमति तथा धैर्य और अस्वीकृति के कठिन दौर से गुजर रहा है। आधुनिक समाज के कार्यरत उदारवादी प्रजातंत्र में, संघवाद अत्यधिक सफल रहा है, अब व्यापक राजनीतिक समीकरण के नए दौर में प्रवेश कर चुका है, जहाँ यह ऑस्टिन की कठोर राज्य संप्रभुता के सिद्धांत से बाहर नहीं है। परिवहन सामाजिक संचार, प्रौद्योगिकी भूमण्डलीकरण तथा आदान-प्रदान के अन्य आधुनिक साधनों में जो विकास हुआ है—इन सभी ने इस रूपांतर में अपना योगदान दिया है। दूसरी तरफ, गैर आधुनिक राष्ट्रों में ऑस्टिन की संप्रभुता का अत्यधिक महत्व है (दुष्क्रियात्मक उदारवादी राजनीति के साथ अनुदारवादी-सामाजिक आधार) और इसलिए लोकप्रिय संप्रभुता को स्वीकार करने हेतु तथा राष्ट्र निर्माण के लिए व्यवहार्य योजना क्षेत्रीय एकता को प्राथमिकता दी गई है। फिर भी, अपनी संस्थागत और कार्यरत प्रक्रिया की व्यवहार्यता के कारण संघवाद अनेकता में एकता लाने में सक्षम है और इसकी सार्थकता भी विगत कई वर्षों में बढ़ी है।

राजनीतिक क्षेत्र के प्रजातांत्रिक शासन और एकता में, संघवाद सबसे महत्वपूर्ण और सक्रिय प्रबंध है। बहु-सांस्कृतिक और विभिन्न सामाजिक यथार्थ में, मूलतः यह संयुक्त राज्यव्यवस्था और सुसंगत समाज के निर्माण लिए अभीष्ट है। संघवाद वर्णनात्मक नहीं है अपितु एक नियामक शब्द है जो बहु-स्तरीय शासन का प्रचार करता है और जिसमें स्व-शासन और आपस में बैठे शासन का तत्व है। अनेकता में एकता लाने के लिए अपेक्षा और विवेकशीलता, इसका आधार वाक्य है जिसे वृहद् राजनीतिक संघ में व्यवस्थित, सुरक्षित और विशिष्ट पहचानों को प्रतिनिधित्व देते हुए रखा जाता है। रोनाल्ड, एल. वॉट्स के अनुसार, नियामक सिद्धांत के रूप में संघवाद का सार है, एक साथ संघ तथा विकेंद्रीकरण को बनाए रखना। दूसरे शब्दों में, संघवाद का उद्देश्य है, विभिन्नता के विवेक पर आधारित, राजनीतिक समीकरण के कुछ स्तर को प्राप्त करना ताकि एकता को कायम रखने के सामान्य ध्येय पर समझौता किया जा सके। और जिसे हम अधिक सही प्रकार से कहते हैं कि यह प्रजातांत्रिक शासन के सिद्धांतों को वैध बनाने के लिए क्षेत्रीय और गैर-क्षेत्रीय संजातीय समूह की संघीय प्रक्रिया है।

डेनियल जे. इलाजर ने राजनीतिक समीकरण की विवेकशीलता को देखा जो कि स्व-शासन और मिल बॉट कर शासन के सिद्धांत में बद्धमूल है। उनके अनुसार, संघीय आधार पर राजनीतिक समीकरण विशेष प्रकार के संबंध की मांग करता है, जो राजनीति के दो चेहरों से उस संबंध की शुरुआत होती है—शक्ति और न्याय। एक तरफ राजनीति, शक्ति के संगठन से संबंध रखती है, हेरॉल्ड लॉसवेल के अनुसार किसे, क्या, कब और कैसे मिलता है की अवधारणा के साथ। साथ ही, राजनीति न्याय के अनुसरण के साथ भी संबंध रखता है— सुचारु राज्यतंत्र के निर्माण और अनुरक्षण के साथ। सभी राजनीतिक जीवन, राजनीति के इन दो चेहरों (पहलुओं) की अन्तर्क्रिया का प्रतिनिधित्व करता है, जहाँ संगठन और शक्ति का विभाजन, न्याय की अवधारणा से अवगत रहता है, जबकि न्याय का अनुसरण, शक्ति की वास्तविकता से आकारित (सीमित) रहता है। सीमित रूप में सामान्यतरु संघवाद का अध्ययन, शक्ति के वितरण और आपस में बॉटने के विषय में किया जाता, किन्तु व्यापक अर्थ में यह न्याय का एक रूप है जिसमें स्वायत्तता और सहभागी राज्यव्यवस्था का विशेष उल्लेख है। संघवाद में न्याय और शक्ति के बीच विवेकशील और प्रजातांत्रिक संबंध स्थापित करने की क्षमता मानी जाती है और इस प्रकार एकता के लिए अत्यधिक लालसा को क्षेत्रीय एवं प्रजातीय पहचान के प्रति सम्मान को एक साथ सुरक्षित रखा गया है।

22.1.1 राष्ट्र निर्माण के कार्यक्रम का विस्थापन कई बहु-सांस्कृतिक एवं द्वि-साम्प्रदायिक समाजों में अनर्थकारी परिणाम हुए हैं, जिन्हें पहले औपनिवेशिक शासन का अनुभव था या जिन्होंने शासन की एक परकीय (भिन्न) प्रणाली को, कारमानता तथा न्याय जैसे मुख्य उद्देश्यों के लिए अपनाया था। किसी भी राष्ट्रीय नेतृत्व के लिए, कोई भिन्न अवधारणा या सिद्धांत को अपनाना महत्वपूर्ण नहीं है जिससे वे स्वतंत्रता की खोज में समाज और राज्यव्यवस्था का प्रबंधन करें। उनके लिए, यह अधिक महत्वपूर्ण है कि वे समाज के शासन हेतु स्वैच्छिक समरूपता एवं राजनीतिक प्रक्रिया की उपयुक्तता के पहलुओं पर ध्यान दें। कुछ मूलभूत उद्देश्यों को लिया जा सकता है जैसे, संविधान निर्माण, राज्य निर्माण तथा राष्ट्र-निर्माण, जो बहु-सांस्कृतिक राष्ट्र और बहु-राष्ट्रीय राज्य के लिए अनिवार्य उत्तरदायित्व है। किस सीमा तक औपनिवेशिक उपरांत या पश्चिमी मुख राष्ट्रों के राष्ट्रीय नेतृत्व ने, व्यापक स्तर पर राष्ट्रीय एकता के इन बिन्दुओं पर ध्यान दिया है?

इस प्रश्न के अनुभव विपरीत रहे हैं। जहाँ राष्ट्रीय नेतृत्व ने जनसाधारण या राष्ट्रीयता को प्रतिनिधित्व देने का दावा किया था उन्होंने रंग-भेद आधार पर शासन और प्रतिनिधित्व के सिद्धांत को अपनाया है। ऐसे कई मामलों हैं जहाँ बृहद् राष्ट्रीय समूह या समुदाय ने, शक्ति और राजनीति की आधुनिक अवधारणा द्वारा निर्मित, सभी विशिष्टताओं और अवसरों पर अपना अधिकार जमा लिया है और दूसरे छोटे राष्ट्रीय समूह या समुदाय को वंचित और सीमित कर दिया है, जिन्हें हम सामान्यतः अल्पसंख्यक कहते हैं। परिणामतः, कुछ गैर-आधुनिक समाजों के राष्ट्रीय नेतृत्व ने (जो इस प्रकार के आरोप और सामान्यीकरण को स्वीकार नहीं करते) पश्चिमी विवेक को सुधारात्मक रूप में ग्रहण किया है ताकि वे अपनी बहु-सांस्कृतिक समाज की आवश्यकताओं को पूरा कर सकें। अफ्रीका, एशिया तथा पूर्वी यूरोप के कुछ देशों ने अधिक सकारात्मक प्रतिक्रिया दिखाई है उनकी अपेक्षा जो गैर आधुनिक समाज में शासन के आधुनिक कार्यक्रमों को आदर्श रूप माना है। इसलिए, पूर्व-निर्धारित विवेकशीलता पर भी प्रश्न-चिन्ह लगाना तर्कपूर्ण है जैसे कि संघीय-प्रजातांत्रिक राज्यव्यवस्था में अल्पसंख्यकों का संरक्षण।

किन्तु संस्थानों को छोड़कर यथार्थ पर बहत कम ध्यान दिया गया है। वे हैं व्यक्ति, जनसाधारण, समुदाय या समूह। किसी भी राजनीतिक व्यवस्था का मुख्य उद्देश्य है उसके सामाजिक आधार से शक्ति प्राप्त करना जहाँ लोग, चाहे समरूपी हों या बहु-सांस्कृतिक, उसकी सार्थकता शुरूआत में ही है। उपलब्ध सूचना और परिणाम के अनुसार, पश्चिमी यूरोप और कनाडा के आधुनिक समाज ने राष्ट्रीय अल्पसंख्यकों और प्रक्रियात्मक गणतंत्र के सह-संस्थापकों के हितों पर ध्यान दिया जो संजातीय कारकों के राष्ट्रीय बहुसंख्यक से भिन्न हैं (जैसे भाषा, धर्म या संस्कृति आधारित) अधिकतर इन आधुनिक समाज में संघीय राज्य व्यवस्था सफल हुई, क्योंकि क्षेत्रीयता एवं उदारवादी, संविदात्मक व्यक्तिवाद की शिक्षा इसके महत्वपूर्ण कारण थे। बहुतों में राष्ट्रीय अल्पसंख्यक हैं जिनके पास सशक्त और प्रभाव क्षेत्रीय अस्तित्व है जो अन्यथा उन देशों में समान नहीं है जहाँ कई धर्म, पंथ और प्रजाति शताब्दियों से साथ रही हैं।

22.2 शब्द तथा उसकी उपयोगिता पर विवाद

राजनीतिक प्रबंधन में राजनीतिक सिद्धांत के रूप में संघवाद शब्द, विवादास्पद व्याख्या से स्वतंत्र नहीं हैं। यह पारंपरिक एवं आधुनिक समाज, दोनों के लिए उपयुक्त है चूँकि यह दोनों में स्थित है। कभी यह अनन्य रूप से उदारवादी समझा जाता है तो कभी यह समझौता कर कार्य करता है। एक तरफ संघवाद का केन्द्र-बिन्दु क्षेत्रीय इकाई की राज्यव्यवस्था पर है। तो दूसरी ओर, यह तार्किक क्षेत्रीय व्याख्या, सामाजिक आवश्यकताओं के प्रति इसकी सार्थकता की जरूरत पर अधिक बल देता है। संघवाद, सामान्यतः, इसका जो वर्णन किया गया है उससे अधिक व्यापक समावेश करने वाला है। संघवाद की व्यावहारिक आवश्यकता उसे समाज के प्रति व्यवहार्य ओर जवाबदेह बनाता है। किन्तु मुख्य समस्या यह है कि इसे उदारवादी प्रबंध के विषय के रूप में अधिक वर्णित किया गया है। सामान्यतः और सही कहा गया है कि जैसे जैसे इसका

ऐतिहासिक विकास हुआ है, संघीय सिद्धांत और व्यवस्था, आधुनिक मनोदशा के अनुकूल होता जाता है। मूलतः उचित व्यवस्था के रूप में वे उस सभ्यता के अनकल हो जाते हैं जहाँ संबंधों द्वारा शासन होता है।

संघवाद की पूरी संरचना, आधुनिक समाज के उदारवादी स्वरूप पर आधारित है जहाँ – ति वैयक्तिका और नागरिक समुदाय, लोगों और समूह में संबंध और समझौते का आधार बनते हैं ताकि राजनीतिक समीकरण का सर्वोच्च रूप प्राप्त कर सकें। संघवाद, पारंपरिक प्रकार के समूह अधिकार आधारित बहुलवाद को नहीं अपनाता है बल्कि पारंपरिक-उपरांत बहुलवाद को स्वीकार करता है। प्रारंभिक स्तर पर, संघवादियों का कहना है कि सभ्य समाज का मूल प्रसंविदा या सघन स्वरूप में है और यह सम्मति पर आधारित है। संघीय सिद्धांत इस विचार से विकसित होता है कि स्वतंत्र लोग चिरस्थायी किन्तु सीमित राजनीतिक संघ में स्वतंत्रतापूर्वक प्रवेश कर सकते हैं जिससे वे सामान्य साध्य को प्राप्त कर सकें और अपनी ईमानदारी की सुरक्षा करते हुए कुछ अधिकारों को भी सुरक्षित रख सकें। संघीय विचार इस सिद्धांत पर आधारित है कि राजनीतिक एवं सामाजिक संस्थाओं एवं संबंधों को सर्वोत्तम रूप से प्रसंविदात्मक, सघन स्वरूप या अन्य अनुबंधनीय व्यवस्था में स्थापित कर सकते हैं। अपेक्षाकृत इसके की, साधारणतः सावयव विकास के आधार पर।

इस प्रकार, संघवाद ने अपनी सफलता का संकेत अपने क्षेत्रीय और राजनीतिक निर्धारण में दिया है जो आधुनिक समाज के अधिक हित में है। क्षेत्रीयता के साथ जिन लोगों का भाषाई और धार्मिक (मुख्यतः साम्प्रदायिक) सामंजस्य था, उन्हें उप-राष्ट्रीय संघीय इकाई के रूप में पहचाना गया और यूरोप, अमेरिका, कनाडा, भारत तथा अन्य देशों में जिसमें स्व-शासन अथवा सांझी शासन की प्रणाली है उसके अंतर्गत संघीय सरकार के साथ शक्ति को आपस में बाँटा गया। किन्तु संघवाद ने अपनी अवधारणात्मक आधार वाक्य को अभी तक व्यापक नहीं बनाया है जिसमें विछिन्न अल्पसंख्यकों के हितों को सम्मिलित किया जा सके, हालाँकि विद्वानों द्वारा इसकी व्याख्या और विश्लेषण में, राजनीति में अल्पसंख्यकों के लिए पर्याप्त स्थान दिखाई पड़ता है।

चिरस्थायी मानवीय-संबंधों को स्थापित करने का यह सर्वोत्तम प्रयास है जो उनके लिए तभी संभव है जब वे उदारतावादी आधार या आधुनिक नागरिकता बोध के अंतर्गत कार्य कर जिससे संबंधों को संगठित किया जा सके। यह उन समाजों में संभव है जहाँ समुदायों ने समाज के व्यक्तियों का निर्माण किया है जो समेकित नहीं है किन्तु किसी अवस्था और शर्त के आधार पर संघटित है जहाँ शक्ति और न्याय को आपस में बाँटा जाए। शक्ति और न्याय प्रदान करने वाली शासन की आधुनिक प्रणाली में कई समाज के अनुभवों से ऐसा वर्णन मेल नहीं खाता जहाँ संबंधों का आधार, व्यक्तिगत या समूह स्तर पर नहीं स्थापित किया जा सकता। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि गैर-आधुनिक समाजों के लिए संघीय सिद्धांत अर्थहीन हैं, या फिर राज्य या संविधान में यह सार्वभौमिक रूप से लागू नहीं किया जा सकता किन्तु शक्ति एवं न्याय को, आपस में बाँटने में, संबंध की उचित प्रणाली का अनुसरण करने के लिए यह सही मार्गदर्शक यहाँ तक कि विश्व अपने मूल में भी, विशेषकर 19वीं शताब्दी से, संघवाद ने अपनी सार्थकता को राजनीति से सामाजिक क्षेत्र में विस्तार किया है। व्यक्ति, परिवार समूह या नागरिक के रूप में यह लोगों में उचित संबंधों के प्रति व्यवहारशील होते हैं, संबंधित होते हैं अर्थात् एक दूसरे की ईमानदारी को सम्मानित करते हुए, न सिर्फ राजनीतिक क्षेत्र में बल्कि जीवन के प्रत्येक पहलुओं में सामान्य अच्छाई के लिए सहयोग करते हैं। संघवाद, आवश्यक रूप से एक स्थायी धार्मिक, संजातीय, सांस्कृतिक या सामाजिक समूह के अस्तित्व पर बल देता है, जिसके चारों ओर राजनीतिक जीवन संगठित होता है। इन समूहों के इर्द-गिर्द चाहे राज्यव्यवस्था औपचारिक रूप से संरचित है या नहीं, वे उनके स्तंभ का कार्य करते हैं। इसलिए, शासन का संघीय सिद्धांत नागरिक अधिकार और भिन्न अधिकारों का भी चिंतन करने का अवसर प्रदान करता है। यह भिन्न मुद्दा है कि हम किस प्रकार सामाजिक आवश्यकताओं के संदर्भ में इसे संगठित करें?

अधिकांश संघीय राज्यव्यवस्थाओं में सामाजिक स्वरूप की संघवाद विचारधारा की सूचना नहीं है और इसपर ध्यान भी नहीं दिया जाता या अस्वीकार कर दिया जाता है। सामाजिक आयामों का आकलन इसपर आधारित है कि गैर राजनीतिक राज्यव्यवस्था में सहयोगी व्यवहार उपस्थित है। संघवाद के आवश्यक क्षेत्रीय वर्ग के अंतर्गत, जो अन्यथा बहुत लोगों द्वारा प्रतिपादित है, राजनीतिक क्रिया के लिए क्षेत्र एक आधार बन जाता है। औपचारिक रूप से परिभाषित राजनीतिक क्षेत्र में, सभी हित स्थित हैं, जो देश के राजनीतिक उपकरण का प्रयोग करते हुए, अपनी शक्ति के अनुपात में अभिव्यक्ति की कुछ सीमा को प्राप्त कर सकते हैं। इलाज के अनुसार, शक्ति के क्षेत्रीय विभाजन के प्रयोग से भी, अल्पसंख्यकों और अल्पसंख्यक समुदायों को उनकी स्वयं के राजनीतिक क्षेत्राधिकार के अंतर्गत अधिक स्वयत्तता की अनुमति देकर रक्षा की जा सकती है। इसप्रकार यह स्पष्ट है कि संघीय क्षेत्रीयता, अल्पसंख्यकों को उनकी क्षेत्रीय संघीय इकाई के अंतर्गत, आपस में शक्ति-बाँटने के अधिकार से तथा न्याय के प्रति संघीय प्रतिबद्धता से वंचित नहीं करते।

22.3 संघवाद के प्रतिमान

संभवतः, संघवाद के प्रतिमान विषय पर तीन स्तरों में विचार किया जा सकता है—आंतरिक पटल (मूल विशेषता), शासन के गैर-एकात्मक स्वरूप का श्व्यापकश वर्णक्रम (स्पेक्ट्रम) तथा संघीय राज्यव्यवस्था का राष्ट्र-विशिष्ट प्रतिरूप। संघवाद का

अर्थपूर्ण अध्ययन, संघीय राजनीतिक व्यवस्था (प्रतिरूप) तथा राजनीतिक प्रक्रिया (प्रवृत्ति) को देखने के प्रयास को अनिवार्य बनाता है जो किसी प्रकार के संवैधानिक शासन को संगठित करने में संलग्न रहता है और फिर संवैधानिक मांगों को पूरा करने की चेष्टा करता है। आधुनिक संघवाद के इतिहास के प्रारंभिक चरण में, संरचनात्मक विचार न सिर्फ मूलभूत थे किन्तु, इलाजर के शब्दों में आवश्यक रूप से संघीय व्यवस्था के लिए सब यही और अंत यही था। परिणामस्वरूप, पर्याप्त संघीय संरचना के निर्माण से, संघवाद क्रियाशील होगा। इसलिए यह महत्वपूर्ण है कि, संघीय राजनीतिक व्यवस्था के विशिष्ट रूप में, संघों में सामान्य संरचनात्मक विशेषताओं को खोजा जाए, जो सभी संघीय प्रणाली के लिए उपयुक्त होगा। इलाजर ने तीन सबसे आवश्यक विशेषताओं और कार्यवाही सिद्धांतों को सही पाया। वे हैं लिखित संविधान विकेन्द्रीकरण और शक्ति का क्षेत्रीय विभाजन। उनके अनुसार, सभी संविधान, पाँच मूल मॉडल में से, एक न एक का अनुसरण करते हैं—संविधान के इन रूपों में से — (1) शासन का प्रारूप और अधिकारों का संरक्षक (2) संहिता (जो राज्यतंत्रों के यथार्थ को दर्शाता है और जिसमें प्राधिकार, शक्ति या कार्यों में परिवर्तन लाने के लिए शासन-प्रणाली का स्वरूप समस्यात्मक है ताकि स्पष्ट सम्मति प्राप्त कर सके) (3) क्रांतिकारी घोषणा-पत्र या सामाजिक स्वरूप (4) (संयमित) राजनीतिक आदर्श (5) प्राचीन परंपरागत संविधान का आधुनिक अनुकूलन।

उपर्युक्त अनुसंधान से कुछ मिलता जुलता, रोनोंल्ड वॉट्स ने निम्नांकित संरचनात्मक विशेषताओं को रेखांकित किया है—सरकार के दो आदेश जो अपने नागरिकों पर प्रत्यक्ष रूप से कार्य कर रहे हों संघीय नीति-निर्माण संस्थाओं के अंतर्गत विशिष्ट क्षेत्रीय अवधारणा का पूर्वनिर्दिष्ट प्रतिनिधित्व का प्रावधान जो ज्यादातर विशेष प्रकार के संघीय दूसरे चेम्बर द्वारा, उपलब्ध होता है। सर्वोच्च लिखित संविधान जो एकपक्षीय रूप से संशोधित नहीं हो सकता। सरकारों के बीच मतभेद को शासित करने वाला निर्णायक उन क्षेत्रों के लिए, अंतर-सरकारी सामंजस्य को सरल बनाने की प्रक्रिया या संस्थान, जहाँ सरकारी उत्तरदायित्व को बांटा जाता है या स्वाभाविक रूप से वे परस्पर व्याप्त रहते हैं। वॉट्स के हाल की लेखनी ने, सरकार की दो या अधिक आदेशों की अवधारणा की पुष्टि की है, जहाँ संघवाद के झूल सार के रूप में, कुछ उद्देश्यों के लिए आपस में बँटे गए शासन तथा क्षेत्रीय स्व-शासन का मिला-जुला रूप मिलता है। आगे उनका कहना है कि यह श्विभिन्नता में एकता का समन्वय के उद्देश्य पर आधारित है, अर्थात् बृहद राजनीतिक संघ में विशिष्ट पहचानों को समायोजित, सुरक्षित और उन्हें आगे बढ़ावा देता है। संघवाद को विकेन्द्रीकृत तथा परिसंघीय शासन से जो मूलतः भिन्न करता है, वह यह है कि एकात्मक व्यवस्था में, संघटक इकाई की सरकार अपने अधिकार को केन्द्रीय सरकार से प्राप्त करती है तथा परिसंघों में, केन्द्रीय संस्था अपनी संघटक इकाईयों से सशक्तिकृत होती है। संघवाद में, सरकार की प्रत्येक परत, संविधान से सशक्तिकृत होती है।

हालाँकि, यह कहना महत्वपूर्ण है कि कुछ राज्यव्यवस्थाओं को मिश्रित माना जाता है जिसमें विभिन्न राजनीतिक अनुभवों की विशेषता समाविष्ट रहती है। कुछ संघों में, जैसे कनाडा, मलेशिया, दक्षिण अफ्रीका, भारत तथा पाकिस्तान में संघीय सरकारों को अपनी संघटक इकाईयों के ऊपर अभिभावी शक्तियाँ रहती हैं। विकास के विभिन्न अवसरों पर उन्हें अर्ध-संघीय भी कहा गया है। दूसरी तरफ, उत्कृष्टरूप से संघवाद, जैसे जर्मनी तथा स्विटजरलैंड में परिसंघीय तत्व हैं। इसी प्रकार, यूरोपीय संघ जो आधुनिक यूरोपीय परिसंघीय व्यवस्था के रूप में आरंभ हुआ था, अब संघ के स्वरूप में निर्णायक चरण में प्रवेश कर रहा है। आधुनिक एवं आधुनिक-उपरान्त युग में, विभिन्नताओं को समायोजित करने के निर्णायक साधन के रूप में, संघवाद का उदय हो रहा है जो एक तरफ अपनी विशिष्ट अभिव्यक्ति करता है और दूसरी तरफ एकीकृत राज्य व्यवस्थाओं का निर्माण करता है।

संघीय सिद्धांतों के प्रयोग के लिए संघीय व्यवस्था विभिन्न तरीकों को अपनाती है। इलाजर के शब्दों में, संघवाद, राजनीतिक संगठन का एक प्रकार है जिसके कई और प्रकार होते हैं। यूरोप में सिर्फ एक संघीय व्यवस्था की जानकारी थी परिसंघ। दो शताब्दी पूर्व, अमेरिका ने आधुनिक संघवाद की खोज की और उसके द्वितीय स्वरूप के रूप में संघ को जोड़ा जो 19वीं शताब्दी में व्यापक रूप से प्रतिस्पर्धात्मक रहा। उन्होंने संघ की परिभाषा इस प्रकार दी है— एक ऐसी राज्यव्यवस्था जिसमें सशक्त संघटक इकाई तथा प्रबल सामान्य सरकार है और प्रत्येक को लोगों द्वारा प्रदत्त शक्ति प्राप्त है और वे उन शक्तियों द्वारा नागरिकों से प्रत्यक्ष ताल-मेल रखते हैं। द्वितीय विश्व युद्ध के बाद से, कछ नए संघीय व्यवस्थाओं का विकास हुआ है और उन्हें शासन के संघीय सिद्धांत को प्राप्त करने के लिए रखा गया है।

संघवाद, जो नियामक रूप से दोनों राजनीतिक एवं सामाजिक-सांस्कृतिक तथ्य है और जिसका मूल उद्देश्य है विभिन्नता में एकता प्राप्त करना, वह संघवाद शब्द से जुड़े कई प्रकार की राजनीतिक — व्यवस्थाओं को नजरअंदाज नहीं कर सकता। 1987 में इलाजर ने मूल रूप से छह प्रकार की संघीय व्यवस्थाओं को पहचाना जो बाद में स्वायत्तता या स्व-शासन का सोलह रूप बन गया। छह में सम्मिलित हैं— संघ, सहयोग, परिसंघ, असममित संघीयव्यवस्था, लीग, स्थानीय और गैर-सरकारी संघवाद — जो सभी संघ (फेडरेशन) के अलावा थे। इलाजर ने आधुनिक संघवाद के तीन मुख्य मॉडल को पहचाना—अमेरिकन व्यवस्था, स्विस् व्यवस्था तथा कनेडियन व्यवस्था। संघवाद में संयोजित राज्य व्यवस्था है,

जिसमें सशक्त अंगीभूत इकाई तथा सशक्त सामान्य सरकार, दोनों हैं, और दोनों को लोगों द्वारा संविधान के माध्यम से प्रदत्त शक्तियाँ। प्राप्त हैं और वे नागरिकों पर कार्यकारी, प्रशासनिक और आर्थिक शक्तियों का प्रयोग करते हैं तथा वे प्रत्यक्ष रूप से जनता द्वारा चुने जाते हैं। रोनाल्ड वॉट्स ने ऐसे 25 देशों को पहचाना जो संघवाद के मूल मापदण्ड को पूरा करते हैं।

आधुनिक संघवाद का प्रवेश, ताकि संघ के रूप में संयुक्त राज्य अमेरिका का निर्माण हो सके, जेकोबिनिज्म और आधुनिक राष्ट्र-राज्य के संपूरक विकल्प के रूप में मूलतः एक नई राजनीतिक की जिसका यह दावा था कि क्षेत्र, सरकार तथा लोक का समन्वय, अनन्य होना चाहिए, जिसमें एकल समीकृत व्यक्ति तथा सामान्य केन्द्र होना चाहिए। हालाँकि राष्ट्र-राज्य अपनी संप्रभु शक्ति में अनन्य रहते हैं जो संघीय सामाधान से मेल नहीं खाते। अमेरिका के निवासी, जो संप्रभु राज्य की सोलहवीं शताब्दी यूरोपीय अवधारणा के विरुद्ध थे, पाया कि संप्रभुता लोगों में स्थित था जो सरकारी प्राधिकार को सीमित करते हैं। इलाजर के लिए, इक्कीस अतिरिक्त राज्य औपचारिक रूप से संघीय नहीं हैं किन्तु कुछ मामलों में वे अपनी राजनीतिक प्रणाली में संघीय व्यवस्था, सिद्धांत और प्रक्रिया को समाविष्ट कर लिए हैं ताकि विजातीयता को समायोजित किया जा सके। उन्हें तीन श्रेणियों में वर्गीकृत किया जाता है—कार्यकारी संघ, संवैधानिक रूप से विकेन्द्रीकृत एकात्मक प्रणाली तथा गैर-क्षेत्रीय आधार पर सहयोग संघ। तकनीकी रूप से, एकात्मक राज्य (जैसे — ब्रिटेन), विशुद्ध एकात्मक प्रणाली (जैसे फ्रांस) से भिन्न है क्योंकि पहला उस संघ के अंतर्गत संघीय व्यवस्था का उपयोग करता है ताकि विभिन्नताओं को समायोजित किया जा सके।

22.3.1 संघ या कामगार

संघ वैसी राज्य व्यवस्था है जिसमें पहले की पृथक पहचानों को सहमति से या बलपूर्वक सचेतन और जानबूझ कर संयुक्त या संयोजित किया गया है, ताकि अंगीभूत इकाई की ईमानदारी सुरक्षित रहे और जो बदले में उनकी ईमानदारी को सामान्य सरकार के अंगों के माध्यम से सम्मान करता है बजाय दोहरी शासन संरचना के माध्यम से। इनके उदाहरण हैं, लेबिनॉन तथा न्यूजीलैंड। बेल्जियम में संघ बनने के पूर्व प्लेमिंगस और बलूनस की एकता के लिए ठोस संघीय सिद्धांत था। कार्यकारी संघ की परिभाषा एक संयोजित राज्यव्यवस्था के रूप में हो सकती है जहाँ संघटक इकाई अपने प्राथमिक संवैधानिक विचारों को सामान्य संस्थाओं के माध्यम से व्यक्त करते हैं। ब्रिटेन एक लंबे समय से खड़ा कार्यकारी संघ है। यह चार राष्ट्रों और कई अपतट टापुओं से संयोजित है। यह राज्यव्यवस्था, राजनीतिक व्यवस्था पर आधारित है जो स्कॉटलैंड अपने स्थानीय प्रशासन, कानून, गिरजागार और केन्द्रीय बैंक को आश्वासन (गारंटी) प्रदान करता है वेल्स, जो सांस्कृतिक गृह शासन और प्रशासनीय स्वायत्तता का एक कदम है अल्सटर, जहाँ उनकी अपनी कार्यकारिणी के साथ गृह-शासन है गुरन्से, जरसी, मन तथा सार्क जैसे ब्रिटिश तट से दूर इन टापुओं की आंतरिक सरकार में पर्याप्त संवैधानिक स्वायत्तता है। कार्यकारी संघ सामान्यतः असमान राज्यव्यवस्थाओं को संयुक्त करता है।

22.3.2 सहयोग

एकात्मक राज्यों का संवैधानिक विकेन्द्रीकरण जो एक पुरातन उपकरण है, विभिन्न रूपों में इसका उदय हुआ है। नीदरलैंड जो मूल प्रांतों का संघ है, अपने प्रान्त एवं उनके नगर निगमों को हस्तांतरण उपलब्ध कराता है। विकेन्द्रीकृत एकात्मक राज्यों में, स्थानीय सरकार कुछ क्षेत्रों में, थोड़ी स्वायत्तता के लिए संवैधानिक आश्वासन प्राप्त करती है, किन्तु स्थानीय शक्तियाँ, केन्द्र सरकार द्वारा निर्देशित होती हैं। सहयोग एक गैर-क्षेत्रीय संघ है जिसकी राज्यव्यवस्था, स्थायी अंतर्वशीय धार्मिक सांस्कृतिक, प्रजातीय या सैद्धांतिक समूहों में विभाजित रहती है और जिसे हम फ्लैमिश, शेक्टरश शपिलरश आदि के नाम से जानते हैं और जो संघीय रूप से एक साथ जुड़ है तथा सम्मिलित नेतृत्व द्वारा एक साथ शासित होता है। दूसरे शब्दों में, सहयोग, प्रजातीय (कबीलीय सम्मिलित) समूह का संघीय संघ है, जो हालांकि क्षेत्रीय रूप से संगठित नहीं है फिर भी स्वयं से सामूहिक (निगम) विशेषता को प्राप्त किया है और सामान्य राज्यव्यवस्था के अंतर्गत अपनी ईमानदारी की सुरक्षा के लिए संवैधानिक व्यवस्था का भी प्राप्त किया है। एरेन्ड लिजपर्ट, गरहार्ड लेमब्रुक तथा अन्य ने, ऐसी राज्यव्यवस्थाओं को सहयोगात्मक कहा है, और इस शब्दावली को जोहानस एजथूसियस से लिया गया है। नीदरलैंड, बेल्जियम, लेबिनॉन तथा सार्डिनी (1960-63) को सहयोग की श्रेणी में माना गया है। सहयोगात्मक व्यवस्था में शक्ति को आपस में बाँटने का प्रावधान है।

22.3.3 परिसंघ

परिसंघ का निर्माण, पहले से स्थित कई स्थायी राष्ट्रीय समुदाय से होता है जो आपस में संयुक्त होकर, कुछ सीमित उद्देश्यों के लिए सामान्य सरकार का गठन करते हैं। (विदेशी मामलों, प्रतिरक्षा या आर्थिक उद्देश्यों के लिए)। सामान्य सरकार अपने संघटक राज्यों पर निर्भर होती है। आधुनिक काल में परिसंघ का लोप हो गया क्योंकि परिसंघीय योजनाएँ राजनीतिक समर्थन को गतिशील बनाने में असमर्थ रहे जिससे वे अनन्य राष्ट्रवाद के युग में स्वयं को कायम रख सके।

कई परिसंघ, जैसे पवित्र रोमन साम्राज्य, मध्यकालीन लीग नगर, जैसे जर्मनी, बेल्जियम, इटली तथा नीदरलैंड का संयुक्त प्रांत, चाहे विघटित हो गए या समेकित राज्यों में निर्मित हुए। स्विटजरलैंड (1291–1847 तक) तथा संयुक्त अमेरिका (1776–1789 तक) परिसंघ थे। वर्तमान में, यूरोपीय संघ एक परिसंघ अंग का प्रतिनिधित्व करता है। परिसंघीय व्यवस्था के समाप्त होने के मूल में यह बात है कि राष्ट्र राज्य पूर्ण संप्रभुता को प्राप्त कर रहे हैं और एकल राष्ट्र का सम्मिलन कर रहे हैं।

22.3.4 असममित संघीय व्यवस्था

असममित संघीय व्यवस्था, छोटे राज्यों को बड़ी राज्यव्यवस्था के साथ संयुक्त करने के लिए स्थापित किया जाता है और उनका आधार है आंतरिक स्वायत्तता का संघीय सिद्धांत तथा पहले वाले के लिए स्व-शासन। कभी कभार ऐसी व्यवस्था को, संबंधित राज्यों राज्य संघों और सह राज्यों में व्यक्त स्वतंत्र संस्था कह जाता है। नीदरलैंड एनटिलस तथा नीदरलैंड संयुक्त राज्य के उदाहरण हैं तथा प्युरटो रिको और संयुक्त अमेरिका राज्य संघ के उदाहरण हैं। ऐसी व्यवस्था लगभग इक्कीस से अधिक है। संयुक्त राज्य, राज्यसंघ के समान ही है किन्तु इकाइयों द्वारा उनका विघटन हो जाता है जो पूर्वनिर्धारित निर्देशों पर अकेले कार्य करने हैं और जो संधि या प्रलेखों में स्थापित हैं। न्यूजीलैंड तथा कुक टापू के बीच का सम्बन्ध एक उदाहरण है। सहराज्य एक राजनीतिक इकाई है जिसका शासन दो या अधिक बाहरी राजनीतिक हस्तियों में इस प्रकार बाँटा जाता है जिससे वासियों को पर्याप्त आंतरिक स्व-शासन प्राप्त हो सके। फ्रांस और स्पेन के संयुक्त शासन में (1278–1993 तक) एनडोरा ने कार्य किया था।

22.3.5 लीग

लीग, संपूर्ण रूप से स्वतंत्र राज्य व्यवस्थाओं का संयुक्त प्रयास है जो स्थायी प्रकार से सरकार की बजाय सामान्य सचिवालय द्वारा प्रबंधित होता है। लीग के सदस्य स्वेच्छापूर्वक हट भी सकते हैं। स्थानीय एवं गैर-सरकारी संघवाद का प्रयोग स्थानीय स्तर पर होता है और यह संख्या एवं क्षेत्र में भी बढ़ रहा है। स्थानीय मुद्दों के समाधान के लिए संघवाद का प्रवेश हुआ है। कनाडा के परीक्षणों में, विशेषकर ऑन्टेरियो में, संघीय सिद्धांत एवं व्यवस्था का अच्छा प्रयोग हुआ है। 73वीं एवं 74वीं संवैधानिक संशोधनों द्वारा स्थानीय स्वशासनों को सशक्त करने का भारतीयों के अनुभव को स्थानीय संघवाद की श्रेणी में रखा जा सकता है। इसे भारतीय संघीय राज्यव्यवस्था का तीसरा स्तर कहा गया है किन्तु मूलतः यह स्थानीय संघवाद है क्योंकि शहरों से गाँवों तक यह राजनीतिक समीकरण प्राप्त करता है। हालांकि यह वाद-विवाद एवं बहस के लिए खुला मुद्दा है। आधुनिक प्रजातांत्रिक राष्ट्रों में, गैर-सरकारी संस्थाएँ भी संघीय सिद्धांतों के आधार पर गठित हैं। श्रम संघ और व्यापार, सार्वजनिक एवं निजी दोनों के उदाहरण हैं।

22.4 संघवाद की संरचना एवं वर्गीकरण

आज भी संघवाद, देश के विभिन्न भागों में बहुत विवादास्पद विषय-वस्तु है क्योंकि इसमें संरचनात्मक एवं कार्यात्मक घटक की सार्वभौमिकता में कमी है। ऐसा विभिन्न परिस्थितियों में इसके मूल और कार्यात्मक गतिशीलता के कारण है। किसी राष्ट्र का ऐतिहासिक अनुभव, जो अपनी वितरक शासन व्यवस्था, स्वायत्तता तथा सह-अस्तित्व के साथ रहने की सामान्य इच्छा जैसे मामलों के साथ कार्य करता हो और जिसका आधार समझौता या अन्य कारण है वह मूलतः उस विशेष राष्ट्र के संघीय शासन की संरचना और प्रक्रिया को निर्धारित करता है। उसी प्रकार संवैधानिक संस्थाओं और समाज के बीच कार्यात्मक सच्चाई की गतिशीलता एवं अंतर्क्रिया कि प्रणाली, संघीय संरचना का निर्माण करती है जो हर देशों में भिन्न होती है। ज्यादातर संघवाद, जो प्रजातांत्रिक साधन और प्रक्रियाओं के परिणाम से उभरा है, उसमें एक सामान्य विशेषता रहती है— सामान्यतः संघीय एकता की इच्छा तथा विशेषतः संघटक स्वायत्तता।

इलाजर ने संघवाद में प्रक्रिया के साथ-साथ संरचना के तत्व को भी पाया विशेषकर यदि प्रक्रिया की परिभाषा में राजनीतिक सांस्कृतिक आयाम भी सम्मिलित हैं। वॉट के अनुसार, शक्ति वितरण के आवंटन का विशिष्ट स्वरूप भिन्न होता है जिसमें उस विशेष समाज के अंतर्गत कई स्तर और प्रकार की सामान्य इच्छा और विभिन्नता रहती है। विभिन्न भौगोलिक, जनसांख्यिकी, ऐतिहासिक, आर्थिक, सुरक्षा, भाषाई, सांस्कृतिक, बौद्धिक तथा अंतर्राष्ट्रीय कारण तथा इनमें संबंध ने संघ के उद्देश्यों तथा क्षेत्रीय पहचानों को बल प्रदान करने में महत्वपूर्ण योगदान दिया है और इस प्रकार विभिन्न संघवाद में सशक्त के वितरण को भी प्रभावित किया है। संघवाद का संवैधानिक संरचनात्मक प्रतिरूप सामान्यतः सरकार के कार्यान्वयन एवं मूलभूत समाज से बहुत प्रभावित होता है। इस प्रकार सामाजिक शक्ति तथा क्षेत्रीय पहचान, संघवाद के कार्यात्मक पहलू को प्रभावित करते हैं। समाज, उसके संविधान एवं प्रक्रियाओं के बीच का संबंध स्थिर नहीं है बल्कि उसमें निरंतरता से आपसी अन्तर्क्रिया होती है। इस प्रकार संघवाद, शक्तियों के पारस्परिक प्रभाव के सघन विश्लेषण का विषय है जो एक दूसरे को प्रभावित करता है एवं उस राजनीतिक क्रिया के अंतिम निष्कर्ष को भी।

संघवाद के उद्भव में विद्वान, जैसे डेनियल जे. इलाजर, रोनाल्ड एल वॉट्स, जॉन किनसेड, डेनियल थुर्र, वुल्फ लिन्डर, थॉमस फ्लाइन्जर, निकोलस हेसम आदि ने विश्व की बदलती प्रकृति, क्षेत्रीय संरूप, तथा देशीय परिवर्तन के प्रभाव के प्रति संलग्नता दिखाई है। सर्वप्रथम, भूमण्डलीकरण के प्रभाव से उदित होता है, जो देशीय एवं अंतर्राष्ट्रीय नीति मुद्दों को एक साथ मिलाने में सहायक रहा है। इससे संघवाद के अंतर्गत अंतर्राष्ट्रीय संबंध और विदेश नीति में मूलतः प्रभाव पड़ा है। संघीय सरकार की संघटक राज्यव्यवस्था अब ज्यादातर, पड़ोसी देशों में, अंगीभूत इकाइयों के साथ अंतर-सीमा व्यवस्था में प्रत्यक्ष रूप से सम्मिलित हैं। दूसरे मुख्य मुद्दे का उदय व्रजातीय समाजों में, बहु-सांस्कृतिक विभिन्नता, प्रजातीय मोल-तोल, आंतरिक धैर्य तथा बहुसांस्कृतिक मतभेद की गतिशीलता के कारण हुआ है। तीसरा मुद्दा, विभिन्न संघीय स्तरों को समुचित उत्तरदायित्व एवं वित्तीय स्रोतों को उपलब्ध कराने के विषय में है।

22.4.1 शक्तियों का वितरण

संघवाद की सबसे मूलभूत विशेषता है, दो या उससे अधिक सरकारी आदेशों के बीच शक्ति का संवैधानिक वितरण। इसलिए कई युक्तियों की आवश्यकता होती है ताकि द्वि-संघीय सिद्धांतों को कायम रखा जा सके जिससे स्वतंत्रता के क्षेत्र और संघीय सरकार (सामान्य राज्य व्यवस्था) एवं संघटक राज्य व्यवस्थाओं में अन्योन्याश्रय को वैध माना जाए, और प्रत्येक के पास अपनी शासन संस्था का पूर्ण रूप है जिसे वे स्वयं भी परिवर्तित कर सकते हैं। कार्यकारी एवं प्रशासनिक संस्था, दोनों का पृथक रूप होना आवश्यक है। संघीय प्रतिरूप का मुख्य उद्देश्य है कि प्रत्येक सरकार बिना दूसरे पर आश्रित हुए अपने क्षेत्र में कार्य कर सके तथा ऐसी संरचना हो जिससे दूसरी संस्थाओं के साथ स्वतंत्रतापूर्वक सहयोग कर सके। इस प्रकार संघवाद का संरचनात्मक प्रतिमान संघों में शक्ति के वितरण के कार्य को गंभीरतापूर्वक सौंपता है।

आंग्ल-सेक्सन परंपरा में, सरकार की प्रत्येक व्यवस्था को, उसी क्षेत्रों में विधायी उत्तरदायित्व मिलता है, जहाँ उसे कार्यकारी शक्तियाँ प्राप्त हैं। संयुक्त राज्य अमेरिका, कनाडा और आस्ट्रेलिया इसके क्लासिकी उदाहरण हैं। ऐसी प्रणाली, प्रत्येक सरकार को अपनी विधि-निर्माण संचालित करने की सुनिश्चितता प्रदान कर, कार्यकारी अंगों की स्वायत्तता को सुदृढ़ करता है। कनाडा और ऑस्ट्रेलिया में, जहाँ संसदीय कार्यपालक अपने विधान मंडलों के प्रति उत्तरदायी है, सिर्फ कार्यकारिणी एवं विधान मंडलों के क्षेत्राधिकारों में, कार्यकारिणी उस अंग पर नियंत्रण रखती है जो उसके कानून को कार्यान्वित करते हैं। कुछ संघों में सरकार के विभिन्न स्तरों में, कार्यकारिणी एवं प्रशासकीय शक्तियों को विभाजित करने के लिए, संवैधानिक स्वरूप के अधिदेशाधीन प्रबंध हैं। ये कार्यकारी एवं विधायी प्राधिकार के अस्थायी प्रतिनिधित्व से भिन्न होते हैं जो कई संघों में भिन्न होते हैं जो कई संघों में दिखाई पड़ता है। स्विट्जरलैंड, ऑस्ट्रिया, जर्मनी, भारत तथा मलेशिया की संघटक राज्यव्यवस्था संवैधानिक रूप से संघीय विधि-निर्माण के कार्यान्वयन एवं प्रशासन के लिए उत्तरदायी हैं।

अधिकांशतः संघों में, संघीय सरकारों को अंतर्राष्ट्रीय संबंधों, रक्षा, आर्थिक और वित्तीय संघ के कार्यकरण, बृहद् कर लगाने वाली शक्ति तथा अन्तः-क्षेत्रीय परिवहन आदि के मामलों में अनन्य क्षेत्राधिकार प्राप्त हैं। संघटक राज्यव्यवस्था को सामाजिक कार्य, (जिसमें शिक्षा, स्वास्थ्य सेवा, सामाजिक कल्याण, श्रम सेवा आदि सम्मिलित हैं) कानून, सुरक्षा, व्यवस्था तथा स्थानीय सरकार की देख रेख का कार्य करना पड़ता है। कुछ मामले जैसे विदेशी संबंध और वित्त के क्षेत्र, अंगीभूत राज्यव्यवस्था के लिए, ध्यान देने के गंभीर मुद्दे हैं जो कुछ संघवादों में, संघीय सरकार के साथ महत्वपूर्ण भूमिका निभाने का प्रयास किया है। यूरोपीय संघवाद जैसे स्विट्जरलैंड, आस्ट्रिया, तथा जर्मनी में, प्रशासकीय उत्तरदायित्व, कार्यकारी प्राधिकार के साथ मेल नहीं खाता। परिणामस्वरूप संघटक सरकारों को संवैधानिक रूप से संघीय विधायी प्राधिकार के कई क्षेत्रों में प्रशासन का कार्य प्रदान किया गया है। इससे संघीय विधायिका, समरूप विधि-निर्माण लागू करने में सक्षम होती है जो इस प्रकार संघटकों से प्रयुक्त किए जाते हैं जिससे विभिन्न क्षेत्रीय परिस्थितियों का भी ध्यान रखा जा सके। हालाँकि यह प्रकृति, संरचनात्मक प्रतिरूप से मेल खाती है। आंग्ल-सेक्सन संघों में भी, संघीय सरकार, संघीय कार्यक्रमों से संबद्ध अधिकतर उत्तरदायित्व को संघटक राज्यव्यवस्थाओं में हस्तांतरित कर देते हैं, जो अनुदान कार्यक्रमों के द्वारा वित्तीय सहायता प्रदान करने के कारण होता है। परिणामस्वरूप दूसरे के क्षेत्र में संघीय संघटक आपसी सहभाजन होता है। मलेशिया, भारत तथा बेल्जियम और रूस में भी विभिन्न प्रवृत्तियाँ दिखाई पड़ती हैं।

विधायी प्राधिकार के वितरण रूप में विभिन्नता होती है। कनाडा, स्विट्जरलैंड तथा बेल्जियम जैसे संघों में, ज्यादातर विधायी शक्तियाँ या तो संघों में, ज्यादातर विधायी शक्तियाँ या तो संघीय अथवा संघटक राज्य व्यवस्थाओं के पास होती हैं। अनन्य क्षेत्राधिकार के क्षेत्र, विशेष रूप से स्विस या बेल्जियम के संघों में पारिभाषित होते हैं। दूसरी तरफ, अमेरिका और ऑस्ट्रेलिया की संघीय सरकार के अनन्य क्षेत्राधिकार अत्यंत सीमित हैं और इसमें ज्यादातर संघीय शक्तियाँ, आपस में बाँटी गई समवर्ती शक्तियाँ होती हैं। ऑस्ट्रिया, जर्मनी, भारत तथा मलेशिया में अनन्य क्षेत्राधिकार एवं समवर्ती शक्तियों का व्यापक वर्गीकरण है। अमेरिका, भारत, ऑस्ट्रेलिया, तथा मलेशिया के व्यापक समवर्ती क्षेत्राधिकार के विपरीत, कनाडा के संविधान में सिर्फ कृषि, आप्रवास, वृद्धावस्था पेंशन और लाभ, अपुर्ण प्राकृतिक संसाधनों के आयात, वन उपज, तथा बिजली ऊर्जा का ही समवर्ती विषयों में विशेष रूप से उल्लेख है। कनाडा का अपवाद समवर्ती क्षेत्र के वृद्धावस्था पेंशन में भी पाया

गया है जहाँ संघीय कानून के साथ मतभेद के मामले में प्रांतीय कानून को लागू किया जा सकता है। परिणामतः क्यूबेक की अपनी वृद्धावस्था प्रणाली है।

अधिकांश संघों में (जैसे अमेरिका, स्विट्जरलैंड, ऑस्ट्रेलिया, ऑस्ट्रिया, जर्मनी, बेल्जियम तथा पूर्ववर्ती चेकोस्लोवेकिया) अवशिष्ट शक्तियों, जिसका उल्लेख संविधान में नहीं है, संघटक राज्यव्यवस्थाओं के पास रहता है जिसका निर्माण—पूर्व के पृथक राज्यव्यवस्थाओं के एकत्रीकरण की प्रक्रिया से हुआ है। संघों में संघीय सरकार के पास अवशिष्ट शक्तियाँ रहती हैं जिसका उद्भव रत कनाडा तथा मलेशिया जैसी केन्द्रीकृत व्यवस्था के हस्तान्तरण प्रयास से हुआ है। अवशिष्ट शक्तियों पर ध्यान देना महत्वपूर्ण हो जाता है जब कार्यकारी शक्तियों की सूची व्यापक नहीं होती। भारत, मलेशिया और कम स्तर तक कनाडा जैसे संघों में यह अपेक्षाकृत महत्वपूर्ण नहीं हैं, जितने अमेरिका, ऑस्ट्रेलिया तथा जर्मनी में जहाँ अंगीभूत शक्तियों की गणना तो है किन्तु अनिर्दिष्ट अवशिष्ट शक्तियों से यह ढक जाता है। दूसरे मामले की प्रकृति केन्द्रीकरण की ओर निर्दिष्ट करती है। व्यवहार में अदालत, श्रान्तिनिहित शक्तियों की सूक्ति को विशिष्ट उल्लेखनीय संघीय प्राधिकार में उद्घोषित करती है जो संघटक राज्यव्यवस्था की अवशिष्ट शक्तियों के क्षेत्र की कीमत पर होती है। भारत, मलेशिया तथा कनाडा में भी, व्यापक आपातकालीन एवं अभिभावी शक्तियाँ, संघीय सरकार के पास होती हैं, ताकि संघटक मामलों में वह हस्तक्षेप कर सके।

22.4.2 आर्थिक संसाधनों का आवंटन

संघवाद में आर्थिक स्रोतों का आवंटन, हितों का सबसे अधिक महत्वपूर्ण विषय है। ज्यादातर संघों का संविधान, संघीय एवं संघटक सरकारों की आय—बढ़ाने की शक्ति का विशेष रूप से उल्लेख करता है। संघीय सरकार, अधिकांशतः, बृहद कर शक्तियों को, जैसे उत्पाद—सीमा शुल्क तथा निगम आय कर को अपने पास ही रखता है। भारत और ऑस्ट्रिया के मामलों में, व्यक्तिगत आयकर, अनन्य रूप से संघीय ही रहा है। संघीय एवं संघटक सरकार, ज्यादातर संघों में बिक्री कर और उपभोक्ता कर को आपस में बाँटता है। कर बाँटने के तत्व के अलावा, संघीय सरकार प्रधान होता है क्योंकि वे समवर्ती क्षेत्रों में प्रबल होते हैं चूंकि संघटक राज्यव्यवस्थाओं में सीमित आमदनी के स्रोत होते हैं। इसके अलावा, कोष बढ़ाने के दो मुख्य स्रोत होते हैं— सार्वजनिक कर तथा सार्वजनिक निगमों और उद्यमों से लाभ। प्रत्येक संघ में व्यय शक्ति का वितरण प्रत्येक सरकार की कार्यकारी एवं प्रशासनिक उत्तरदायित्व के साथ मेल खाता है। जहाँ भी उत्तरदायित्व कई संघीय विधि—निर्माण के प्रशासन को संवैधानिक रूप से संघटक राज्यव्यवस्थाओं को प्रदान किया जाता है, जैसे कि स्विट्जरलैंड, ऑस्ट्रिया, जर्मनी, भारत एवं मलेशिया में संघटकों के पास व्यापक व्यय उत्तरदायित्व रहता है। संघों में सरकार के खर्च करने की शक्ति सामान्यतः सूचित की गई कार्यकारी एवं प्रशासनिक क्षेत्राधिकार से सीमित नहीं होती। संघीय सरकारों ने खर्च करने की अपनी सामान्य शक्ति का प्रयोग, अनुदान देकर अनन्य संघटक क्षेत्राधिकार के क्षेत्रों में किया है। परिणामस्वरूप वे इसामान्य खर्च करने की शक्ति रखते हैं, जो अन्तर सरकारी संबंधों में विवादास्पद बन जाते हैं। अमेरिका, कनाडा तथा ऑस्ट्रेलिया के संविधान में सामान्य खर्च शक्ति का उल्लेख नहीं है लेकिन भारत एवं मलेशिया में, संघीय सरकार स्पष्टतः संघटक इकाइयों को अनुदान प्रदान करने में सशक्तीकृत हैं।

सरकार के एक स्तर से दूसरे तक वित्तीय हस्तांतर के माध्यम से ज्यादातर संघों में उधोमुखी और क्षैतिज वित्तीय असंतुलन को सुधारने की व्यवस्था है। आनुपातिक कारणों के अलावा, प्रतिबंधित एवं अप्रतिबंधित हस्तांतर भी संघटकों की निर्भरता के स्तर को प्रभावित करते हैं। जैसा कि जर्मनी में कहा गया है कि संघटक की “स्वर्णमय अग्रता” में संघीय हस्तांतर कई प्रकार से उनकी स्वयत्तता को दुर्बल बना देता है। समकरण हस्तांतर योजना (संघों के अंतर्गत क्षेत्रों में क्षेत्रीय आर्थिक दूरियों को हटाने के लिए) ज्यादातर संघों में आम बात है सिवाय अमेरिका के, किन्तु अन्य जगहों में जैसे जर्मनी, कनाडा तथा ऑस्ट्रेलिया में हस्तांतर का क्षेत्र अधिक है अपेक्षाकृत स्विट्जरलैंड के। स्विट्जरलैंड, कनाडा जर्मनी, ऑस्ट्रिया, मलेशिया, बेल्जियम तथा स्पेन में, समकरण योजना का आधार सर्वसम्मत फार्मूला है तथा भारत और ऑस्ट्रेलिया में यह आवधिक आयोगों की अनुशंसा पर आधारित है।

संघों ने कई संस्थाओं एवं प्रक्रियाओं का भी विकास किया है जो असंतुलन के साथ ताल—मेल रखती हैं। जिस संघ की विधायिका एवं कार्यपालिका की शक्तियों में विभाजन है, उसके प्रत्येक शासन स्तर के अंतर्गत (अमेरिका एवं स्विट्जरलैंड), प्राथमिक क्षेत्र हैं संघीय कार्यकारी जो असंतुलन के मामलों से ताल—मेल रखती है, अपेक्षाकृत अन्य मामलों में जिसकी विशेषता है, एकीकृत संसदीय विधायिका और इसका प्राथमिक क्षेत्र है, विधायी संघवाद, अर्थात् दो स्तरों की विधायिका में समझौता। भारत एवं ऑस्ट्रेलिया की संघीय सरकार, विशेषज्ञ आयोगों के गठन में मुख्य भूमिका निभाती है ताकि वितरणशील फार्मूलों को निर्धारित किया जा सके जो संघटक इकाइयों से प्रतिनिधित्व को एकत्रित करते हैं। मलेशिया की राष्ट्रीय वित्तीय परिषद, संघीय एवं संघटक प्रतिनिधियों से बना है, एक दूसरा प्रतिमान है, जर्मनी, ऑस्ट्रिया, स्विट्जरलैंड, बेल्जियम तथा अमेरिका में संघीय कार्यकारी में संघटकों के प्रतिनिधि, संघटक इकाइयों के लिए अनुदान प्रक्रिया की स्वीकृ

ति के लिए संलग्न रहते हैं। कनाडा का अनुभव, चौथा प्रतिमान है, जहाँ समकरण फार्मूला, अन्य कर हस्तांतर और कर समझौता, संघीय सरकार द्वारा निर्धारित होता है। सबसे अधिक भारत, ऑस्ट्रेलिया, मलेशिया, जर्मनी तथा कनाडा में कई प्रकार के अंतरू-सरकारी-परिषद आयोग तथा समितियाँ उभर कर आई हैं जो वित्तिय व्यवस्था को अपनाने में सहयोगी सिद्ध होती हैं।

संघों के अंतर्गत, साझेदार के रूप में सरकारों के बीच संबंध निर्माण का महत्वपूर्ण कार्य करने के लिए, ज्यादातर संघीय संविधानों ने कुछ साधनों का विकास किया है जो व्यापक रूप से सहयोग एवं समन्वय को बढ़ाती हैं। अनौपचारिक रूप से, उनका कार्यान्वयन प्रत्यक्ष संचार के माध्यम से होता है, अर्थात् मंत्रियों अधिकारियों तथा संघीय एवं संघटक सरकारों के प्रतिनिधियों के बीच और औपचारिक संस्थाएँ, जैसे आवर्तक और तदर्थ सम्मेलन जिसमें विभिन्न सरकारों के मंत्री, कार्यकारी, अधिकारी और एजेंसियाँ सम्बद्ध हैं। एक ध्यान देने योग्य विशेषता है विधायी संघवाद का प्रचलन (कनाडा, ऑस्ट्रेलिया, जर्मनी, भारत और मलेशिया) अर्थात् संसदीय परिषद में, अंतरू सरकारी संबंधों में, सरकारी कार्यपालिका की (मंत्री और उनके अधिकारी) प्रधानता, जहाँ सरकार के दोनों स्तरों के अंतर्गत कार्यपालिका के प्रति उत्तरदायी मंत्री और मंत्रिपरिषद का प्रधानता रहती है। इसके अतिरिक्त, अंतरूसंघटक संबंध होते हैं, जिनसे सीमापार के मुद्दों के साथ तालमेल रखा जाता है और जो पड़ोसी संघटकों को प्रभावित करते हैं। कभी कभार अंतरूसंघटक सहयोगी प्रयासों का विस्तार कर, संघों के अंतर्गत सभी संघटकों को सम्मिलित किया जाता है। इसे स्विट्जरलैंड में प्लवन के बिना संघवादश कहा जाता है और अमेरिका में प्लाशिंगटन के बिना संघवादश कहा जाता है।

22.4.3 द्विसदन पद्धति के सिद्धांत

इथियोपिया, संयुक्त अरब एमिरेट्स तथा माइक्रोनेसिया के अलावा, ज्यादातर संघों ने द्विसदन पद्धति के सिद्धांत को अपनाया है, जिसमें संघटकों के समान प्रतिनिधित्व के लिए, संघ का द्वितीय सदन होता है। हालांकि संघों में बहुत अधिक विभिन्नता है—सदस्यों की चयन—प्रणाली में, द्वितीय सदन के संयोजन, शक्ति और भूमिका में। ऑस्ट्रेलिया, अमेरिका, स्विट्जरलैंड में संघटक राज्यव्यवस्था के नागरिक अपने सदस्यों को प्रत्यक्ष रूप से चुनते हैं। भारत और ऑस्ट्रेलिया में वे अप्रत्यक्ष रूप से चुने जाते हैं। जर्मनी में, बुंडेस्राट के सदस्य, अपनी लैंड परिषद के प्रतिनिधि होते हैं, जो संघ दूसरे सदन में पदेन लैंड विधायिका के सदस्य के रूप में कार्यरत रहते हैं तथा ब्लॉक के बुंडेस्राट में अपनी लैंड सरकार के निर्देश पर मतदान करते हैं। कनाडा में, दूसरे सदन के सदस्य, संघ के प्रधान मंत्री द्वारा नियुक्त किए जाते हैं और सेवा—निवृत्ति के 75 वर्षों तक कार्यभार संभालते हैं। मलेशिया, बेल्जियम तथा स्पेन में, अप्रत्यक्ष चुनाव एवं नियुक्ति के माध्यम से मिश्रित सदस्यता रहती है। जहाँ भी संसदीय कार्यपालिका है, जो सदन विधायिका पर अपना अधिक नियंत्रण रखता है, उसे अधिक शक्ति प्राप्त रहती है और परिणामस्वरूप द्वितीय सदन की भूमिका सीमित हो जाती है। ऑस्ट्रेलिया की सेनेट तथा जर्मनी की बुन्डेस्राट को छोड़कर, संसदीय संघों के अंतर्गत, संघटक इकाइयों की प्रभावकारिता पर प्रश्न—चिह्न उठ जाता है। दक्षिण अफ्रीका ने, कुछ परिवर्तन के साथ जर्मनी के मॉडल को अपनाया है।

22.4.4 संविधान की सर्वोच्चता

संविधान की सर्वोच्चता भी संघवाद में एक महत्वपूर्ण पहलू है, जिससे संघीय एवं संघटक सरकारों को प्रभावी कार्यान्वयन के लिए मार्गदर्शन प्राप्त होता है। संघीय संबंध एवं जटिलता अन्योन्याश्रित का कारक, प्रतिस्पर्धा एवं संभावित मतभेद आदि की गतिशीलता में, अधिकतर संघों ने निर्वाचकीय एवं न्यायिक साधनों के माध्यम से मतभेद सुलझाने में स्वयं को तैयार किया है। अधिकतर संघ, इन प्रक्रियाओं के समन्वय पर आश्रित रहते हैं। निर्वाचक—गण संघ के दोनों स्तरों में, चुनाव—अवधि में, मतदान करके अपनी अभिरूचि को व्यक्त या समर्थन देते हैं। स्विट्जरलैंड के मामले में, निर्वाचक—गण, विधायी मत—संग्रह के माध्यम से निर्णायक भूमिका भी निभा सकते हैं। आदेश के अतिरिक्त, अधिकतर संघ न्यायपालिका—सर्वोच्च न्यायालय—पर आश्रित रहते हैं जो अमेरिका, ऑस्ट्रेलिया, भारत, मलेशिया तथा ऑस्ट्रिया में अंतिम निर्णायक है। कुछ संघों में, जैसे स्पेन, जर्मनी तथा बेल्जियम में संवैधानिक अदालत है। स्विट्स संघीय अदालत प्रांतीय कानूनों की वैधता पर शासन कर सकती है। हालांकि अदालतों और उसकी संरचना पर सरकारी प्रभाव के क्षेत्र पर कुछ प्रश्न अभी भी हैं।

जहाँ तक संवैधानिक संशोधन के मुद्दे का प्रश्न है, हमें सरकारी स्तरों में संशोधन शक्ति को देखना होगा। संघवाद में, कठोरता और लचीलेपन के बीच संतुलन की आवश्यकता है, जिसे संविधान के विभिन्न भागों के लिए विभिन्न संशोधन—प्रक्रिया प्रदान करके लाया गया है। कनाडा के संविधान में संशोधन की पाँच विभिन्न प्रक्रिया उपलब्ध कराई गई है और जिसमें कठोरता की बदलती श्रेणी है। संघीय विधायिका के दोनों सदन (अमेरिका, भारत तथा मलेशिया में विशिष्ट बहुमत द्वारा, स्विट्जरलैंड, और कनाडा में साधारण बहुमत द्वारा) सामान्यतः शक्ति के वितरण तथा संघटक सरकार की ईमानदारी से संबद्ध संशोधन की स्वीकृति के लिए संलग्न रहते हैं। इसके अतिरिक्त, ऐसे संशोधन में जिसकी आवश्यकता

रहती है, वह है, संघटक विधायिका में विशिष्ट बहुमत द्वारा स्वीकृति जैसा कि अमेरिका और कनाडा में है, या भारत की राज्य विधायिका में जो बहुमत है, या मत संग्रह द्वारा जिसमें दुहरी बहुमत की आवश्यकता होती है तथा स्विटजरलैंड और ऑस्ट्रेलिया के मामलों में संघटक सरकार में बहुमत। मलेशिया के मामले में, बोरनियो संघटकों को प्रभावित करने वाले मुख्य संशोधन में उनकी सहमति की आवश्यकता होती है।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है, संघीय संरचनाओं और सामाजिक शक्तियों के बीच अन्तःक्रिया से संघीय राज्यव्यवस्थाओं में प्रवृत्ति को निर्धारित किया जाता है, जिसे हम आधुनिक समाज में देख सकते हैं और जो क्षेत्रीय स्वायत्तता और अल्पसंख्यकों के समावेश के लिए प्रयत्नशील रहता है। राष्ट्र-राज्य का अनुसरण करते हुए राज्यवादी प्रतिमान में, संरचना, दबाव का निर्णायक तत्व हो सकता है। किन्तु राष्ट्र-राज्यों में, संप्रभुता के अवस्थापन के साथ संघीय अवधारणा विरोधक हो सकती है। इसकी प्रकृति उन राष्ट्रों में अधिक गड़बड़ है, जहाँ समुदाय, जिन्हें अल्पसंख्यक एवं बहुसंख्यक, कहा जाता है, अपनी समूह-चेतना से जुड़े रहते हैं और इसप्रकार उनकी विशेषता एवं अभिव्यक्ति भी ऐतिहासिक है। आधुनिक समाज से भिन्न, ऐतिहासिक समाज में, व्यक्तिगत उदाहरण अवर रहता है, और इस प्रकार वे देश के लोग होते हैं, बजाय व्यक्ति या सार्वजनिक के।

इस श्रेणी के दो उदाहरण हो सकते हैं— नाईजीरिया तथा भारत। पहले में अधिक सकारात्मक प्रकृति है क्योंकि राज्यव्यवस्था में दूरदर्शिता है। दूसरे ने सहयोगात्मक प्रकृति को अपनाया है ताकि जम्मू-कश्मीर के राज्य एवं कबीलीय प्रबल राज्यों और उप-राज्य क्षेत्रों को उनके विशिष्ट अधिकारों के साथ संभाला जा सके। किन्तु अधिकतर अल्पसंख्यक न सिर्फ सीमित कर दिए गए हैं बल्कि हिसापूर्ण एवं सामान्य परिस्थिति में, विभिन्न स्तर पर कार्यरत पूर्वाग्राही शक्तियों से भी उत्पीडित हुए हैं। उदाहरण स्वरूप, राज्य की संघीय स्वायत्तता (गुजरात या कई अन्य उदाहरण) जो भारतीय संविधान में उल्लिखित है और जिसने जब भी संघ से किसी प्रकार के हस्तक्षेप को रोकने की चेष्टा की, तब वे अल्पसंख्यकों के जीवन, संपत्ति और अधिकार को बचाने में पूर्णतरु असफल रहे हैं। (मूलभूत अधिकार, भारतीय दण्ड संहिता अपराधी दण्ड न्यायालय, सेवा नियम तथा राष्ट्रीय मानवाधिकार आयोग के निर्देश आदि का आश्वासन) इसलिए, भारतीय संघवाद, गैर-बहुसंख्यक और संयुक्त प्रजातंत्र के निर्माण के परीक्षण को नहीं झेल पाया, ताकि अल्पसंख्यकों की सुरक्षा को सुनिश्चित किया जा सके। इसके अलावा, भारतीय संघवाद में केन्द्रीकरण की ओर सशक्त प्रवृत्ति है।

इसलिए ऐतिहासिक समाज में संघवाद की प्रकृति, आधुनिक समाज से भिन्न है। ऐसी प्रकृति, सरकारी एवं गैर-सरकारी संरचना और प्रक्रिया की सूक्ष्मदृष्टि और रचनात्मक प्रयास के कारण है जो विभिन्न समूह और क्षेत्र के लोगों के सामूहिक प्रयास का परिणाम है। अमेरिका, ऑस्ट्रेलिया, कनाडा, ऑस्ट्रिया, बेल्जियम, स्विटजरलैंड तथा जर्मनी के संघवाद में अधिक उपलब्धि और कम असफलता दिखाई पड़ती है। आंतरिक धैर्य और आपसी एकता के कारण बहु सांस्कृतिक समाज में, शक्ति के प्रजातांत्रिक क्रियान्वयन में ये आंतरिक धैर्य और आपसी एकता का प्रदर्शन करते हैं और अब वे भूमण्डलीकरण एवं तकनीकी प्रगति की शक्तियों से प्रभावित हो रहे हैं। परिणामतः संघीय समाधान के मुद्दों को उठाने तथा संघीकरण में उनका प्रयास संयुक्त है, जैसे कि बॉस्निया, हर्जोगोवेनिया तथा संयुक्त यूरोप के निर्माण में उनकी सक्रिय भूमिका रही है।

दूसरे शब्दों में, उनका संघीय प्रयास एवं राजनीतिक पहल अब अंततोगत्वा संघवाद की ओर हस्तांतरित हो गया है जो मूलतः परिसंघीय व्यवस्था से उदित हुआ है। इटली जैसे असंघीय देश ने अपने क्षेत्र के संघीय समाधान के लिए क्षेत्रवाद को अपना है इटली में पाँच प्रजातीय अल्पसंख्यकों को विशिष्ट दर्जा प्राप्त हुआ — वेल डी अओस्टा (फ्रांसिसी बोली) एल्टो-अडीओ (दक्षिण — टाईरॉल जर्मनी भाषा) सारडीनिया तथा सिसिली जहाँ अधिकतर सक्रिय अलगाववादी आंदोलनों को विशिष्ट क्षेत्र का दर्जा दिया जाता। उसी प्रकार फ्रिउली वेनोजिया गिउलिया (स्लोवेन अल्पसंख्यक) को 15 साधारण क्षेत्रों के साथ, विशिष्ट क्षेत्रीय दर्जा मिला। बेल्जियम ने अपनी सहयोगी व्यवस्था का पुनर्निर्माण किया ताकि यह अधिक समान और संघीय हो सके। स्पेन, जिसमें 17 स्वायत्त समुदाय हैं और उन्हें स्व-शासन का अधिकार भी प्राप्त है, उसे और अधिक बेस्क देश की मांगों पर ध्यान देने की आवश्यकता है। इस प्रकार, आधुनिक संघवाद जिसे आधुनिक उदार प्रजातांत्रिक देशों ने अपनाया है और जो सभी व्यक्तियों और क्षेत्रों के लिए सामूहिक सहभागिता एवं विकास का राजनीतिक पैकेज है, उसे अनुदारवादी एवं पारंपरिक समाजों ने इमानदारी से चेष्टा नहीं की है, जहाँ चुनौतियाँ दिन प्रतिदिन बढ़ती चली जा रही है।

22.5 सारांश

संघवाद, बहुसांस्कृतिक तथा विभिन्न सामाजिक सच्चाइयों में संयुक्त राज्यव्यवस्था एवं समायोजित समाज को निर्मित एवं कायम रखने का उद्देश्य रखता है। यह एक नियामक शब्दावली है, जो बहुस्तरीय सरकार को प्रतिपादित करता है जिसमें स्व-शासन और आपस में बाँटे गए शासन के तत्व को समायोजित कर बृहद् राजनीतिक संघ के अंतर्गत विशिष्ट पहचानों

का प्रतिनिधित्व करता है। संघवाद में न्याय एवं शक्ति के बीच तार्किक प्रजातांत्रिक संबंध को स्थापित करने के गुण हैं, और इस प्रकार एकता के साथ प्रजातीय पहचानों के प्रति सम्मान को भी सुरक्षित रखा जाता है।

संघवाद को समझने के लिए, यह आवश्यक है कि जिस संरचना में संघीय राजनीतिक व्यवस्था है उसके विभिन्न प्रतिरूप को देखा जाए। वे हैं, संघ, सहयोग, परिसंघ, असममित संघीय व्यवस्था तथा लीग (संघ)।

संघ की एक मूलभूत विशेषता है, दो या अधिक सरकारी आदेशों के बीच शक्तियों का विभाजन। शक्ति वितरण के आवंटन का मूलभूत स्वरूप, सामान्य हित के स्तर और स्वरूप के कारण भिन्न रहता है। रूचि के अन्य विषय हैं, वित्तीय स्रोतों का आवंटन और द्विसदन पद्धति की अवधारणा को अपनाना। संघवाद में संविधान को सर्वोच्च माना गया है। इस प्रकार संघवाद का उद्देश्य ऐसी शासन-प्रणाली के निर्माण का उद्देश्य रखता है जिसमें अबहुमतवाद, विकेन्द्रीकरण क्षेत्रों संघटक इकाइयों को स्वायत्तता, सहभागिता अवसर एवं सभी व्यक्तियों को अधिकार प्राप्त हो।

21.8 बोध प्रश्न

1. राष्ट्र निर्माण के कार्यक्रम को समझाइए।
2. शब्द तथा उसकी उपयोगिता के बारे में लिखिए।
3. संघवाद के प्रतिमान का उल्लेख कीजिए।
4. संघवाद के प्रारूप और प्रकार लिखिए।

इकाई 23

राजनैतिक दल एवं दलीय पद्धति

संरचना

- 23.1 प्रस्तावना
- 23.2 राजनीतिक दलों की परिभाषा
 - 23.2.1 दलों की मार्क्सवादी अवधारणा
 - 23.2.2 दलों के विषय में समकालीन दृष्टिकोण
- 23.3 राजनीतिक दलों का वर्गीकरण
 - 23.3.1 अभिजातवादी दल
 - 23.3.2 जनता दल
 - 23.3.3 मध्यवर्ती दल
 - 23.3.4 हिचनर और लेवीन का वर्गीकरण
- 23.4 दलीय व्यवस्था
 - 23.4.1 द्वि-दलीय प्रणाली
 - 23.4.2 बहु-दलीय प्रणाली
 - 23.4.3 एक दलीय प्रणाली
- 23.5 दलीय प्रणाली की भूमिका और मूल्यांकन
 - 23.5.1 दलीय प्रणाली का मूल्यांकन
- 23.6 सारांश
- 23.7 बोध प्रश्न

23.1 प्रस्तावना

लास्की के अनुसार सरकार को नेताओं की आवश्यकता होती है, जिसे संगठित लोगों का समर्थन प्राप्त होना आवश्यक है। प्रजातांत्रिक राज्यव्यवस्था में अनियंत्रित भीड़ का कोई स्थान नहीं होता है। संगठित दल, मुद्दों को पहचान कर, लोकप्रिय जनादेश प्राप्त करते हैं। आवर्तक चुनाव, दलों को अवसर प्रदान करते हैं ताकि वे इन मुद्दों को प्रस्तुत कर सकें, और यदि उन्हें लोगों द्वारा समर्थन प्राप्त हो गया है तब वे जनता द्वारा चुने गए प्रतिनिधि के रूप में शासन का आधार बनते हैं। राजनीतिक दलों को विविध प्रकार के कर्तव्यों को निभाना पड़ता है। सबसे महत्वपूर्ण उप-कारक होते हैं, जिन्हें राजनीतिक प्रक्रियाओं में सहभागिता लेकर उसे नियंत्रित करना पड़ता है। वे उम्मीदवारों को खड़ा कर उनका समर्थन प्राप्त करते हैं और यदि वे सत्ता में मत द्वारा चुने जाते हैं तब वे विशेष अवधि के लिए राज्य का शासन करते हैं। विभिन्न प्रकार की दलीय व्यवस्था होती हैं किन्तु द्वि-दलीय व्यवस्था सामान्यतः इस स्थिति में रहती है कि निर्वाचक-गणों के समक्ष दो स्पष्ट विकल्पों को प्रदान कर सकती है और स्थायी सरकार भी उपलब्ध कराती है जो उत्तरदायी है, तथा एक विरोधी भी है जो जिम्मेदार ढंग से शासन करने वाले दल को सर्वथा निगरानी और नियंत्रण में रखती है। प्रजातांत्रिक प्रक्रिया को गिरने नहीं दिया जाता है। हालाँकि, कई देशों में बहु-दलीय व्यवस्था है जिसमें बड़ी संख्या में राजनीतिक दल हैं। ये दल, लोगों के सामने व्यापक चयन और विकल्प को रखते हैं, किन्तु अधिकतर इसमें सरकार की अस्थिरता बनी रहती है। राजनीतिक दल, प्रजातंत्र के कार्यान्वयन के लिए अत्यंत आवश्यक हैं। वे राजनीतिक क्षेत्र के अंतर्गत और बाहर विभिन्न कार्य करते हैं। दूसरे दल एवं संस्था के साथ नेतृत्व तथा नीतियाँ, आंतरिक प्रक्रियाएँ तथा अंतरक्रिया का प्रतिरूप, शासन की व्यवस्था के लिए गहरा परिणाम हो सकता है जिस प्रकार जोया हसन का कहना है, दल एक प्रतिनिधित्व शासन-व्यवस्था में मुख्य राजनीतिक संस्थान है, और दल तीन मुख्य कार्य नियमतरु पूरा करता है। वे हैं—लोक कार्यालय के लिए उम्मीदवार का मनोनयन, लोगों के लिए मुद्दों का निर्माण एवं स्थापन, तथा उम्मीदवारों और नीतियों के लिए चुनावों में समर्थन प्राप्त करना। दूसरे संस्थान भी इसी कार्यों को पूरा करते हैं, किन्तु ए.एच. सोमजी के अनुसार जो दलों में भेद करता है, वह है, संयोजन (अनुबंध) पर बल। दलों को उनके सदस्य तथा अन्य द्वारा, नागरिकों और नीति निर्णायकों के बीच संबंध स्थापित करने की एजेन्सियों के रूप में देखा जा रहा है। उनका महत्वपूर्ण औचित्य है, शासक एवं शासित हुए लोगों के बीच ठोस संबंध का निर्माण करना। किन्तु

कियोवानी सारटोरी ने कहा कि इसका यह अर्थ नहीं कि दल के सदस्य स्वयं से प्रयत्न नहीं करते। शक्ति के लिए जिज्ञासु होना राजनीतिज्ञों में सर्वथा रहता है। यदि दल के राजनीतिज्ञ पूर्णतः स्वार्थ से प्रेरित होते हैं, तब उनका व्यवहार, अभिप्रेरणा से हट जाता है यदि व्यवस्था के अवरोध कार्य रहे हों। दल, सामूहिक लाभ में सहायक होते हैं, एक ऐसा साध्य जो उम्मीदवार का निजी लाभ नहीं है। दल लोगों को सरकार के साथ जोड़ता है।

इस इकाई में आप विभिन्न प्रकार के दल एवं विभिन्न प्रकार की दलीय प्रणाली को उनकी भिन्न-भिन्न भूमिका के साथ पढ़ेंगे। स्वाभाविक है कि दलों और दलीय प्रणाली के विश्लेषण में विभिन्न देशों से उदाहरण भी दिए जाएंगे।

23.2 राजनीतिक दलों की परिभाषा

आधुनिक राज्य में राजनीतिक दल सबसे महत्वपूर्ण एजेन्सियाँ हैं जो राजनीतिक प्रक्रिया में सहभागी होती हैं दल की परिभाषा में हम इसे लोगों का संगठित समूह कह सकते हैं, जिसमें स्पष्ट सिद्धांत होता है और जो सुपरिभाषित नीतियों पर आधारित होता है और इसके उद्देश्य भी स्पष्ट होते हैं। दल का नेतृत्व सुनिश्चित होता है और इसका अंतिम लक्ष्य होता है राजनीतिक शक्ति प्राप्त कर राजनीतिक क्रियाओं को नियंत्रित करना जो प्रजातांत्रिक चुनावों द्वारा सामान्यतः शक्ति प्राप्त करके होता है। उपर्युक्त दो वाक्यों से आप राजनीतिक दल के अर्थ एवं उद्देश्य को समझ पाएँगे। 1770 में एडमण्ड बर्क ने राजनीतिक दल की परिभाषा इस प्रकार दी— दल, पुरुषों की एक संस्था है, जो अपने संयुक्त उद्यमों को बढ़ाने के लिए एकत्रित हुए हैं जो किसी विशिष्ट सिद्धांतों के तहत राष्ट्रीय हित होता है जिस पर सभी की सहमति होती है। अंतिम भाग में प्रोफेसर लास्की की परिभाषा उल्लिखित है जिसमें दल का विश्लेषण किया गया है। यह लोगों के छोटे-बड़े समूह होते हैं जो चुनावी प्रक्रिया के माध्यम से देश की सरकार पर अपना वैध नियंत्रण स्थापित करने के लिए संगठित हुए हैं। प्रतिनिधि सरकार उनके बिना नहीं कार्य कर सकती।

ग्रेट ब्रिटेन के संदर्भ में, राजनीतिक दल का अर्थ समझाते हुए, हर्मन पाईनर ने कहा राजनीतिक दल दो-तरफा संचार है जो 50 अरब लोगों को 630 में बाँधता है, जो कॉमन्स में सर्वोच्च शक्ति का प्रयोग करते हैं। जब फाईनर ने इसे कई दशक पहले लिखा था तब ब्रिटेन की जनसंख्या 50 अरब थी और हाऊस ऑफ कॉमन्स की सदस्यता 630 थी। अब इसके सदस्य 659 सदस्य हैं। राजनीति, शक्ति का संघर्ष है और इस संघर्ष में संगठित समूह अधिक प्रभावी हो सकते हैं अपेक्षाकृत असंगठित भीड़ के। कुछ दल, क्रांतिकारी मार्ग को अपनाते हैं, और कुछ विकासवादी प्रक्रिया को संवैधानिक साधनों द्वारा अनुसरण करते हैं। ब्रिटिश की उत्तरदायी सरकार, राजनीतिक दलों के विकास के साथ ही आगे बढ़ी है। इसी संदर्भ में बेगहॉट का कहना है— दल सरकार प्रतिनिधि सरकार का महत्वपूर्ण सिद्धांत है। इसके विपरीत, लॉस्की के अनुसार— हमें तानाशाही का इससे अधिक निश्चित प्रमाण नहीं मिल पाता, जब तानाशाह, अपनी छोड़ सभी राजनीतिक दलों का नाश कर देता है, और जो इसे तर्कसंगत भी समझता है। राजनीतिक दलों का प्राथमिक उद्देश्य है, सरकार में अपने नेताओं को स्थापित करना तथा जितनी लम्बी अवधि तक हो सके उनके स्थायित्व को सुनिश्चित करना। इस उद्देश्य के लिए, वे लोकप्रिय समर्थन के लिए विभिन्न तरीकों को अपनाते हैं जिसमें जनता की रैलियों, साहित्य का वितरण, संचार के माध्यमों का प्रयोग या संगीत की संध्या को गठित करना आदि सम्मिलित लार्ड ब्राइस ने कहा था, 'कोई भी स्वतंत्र बृहद् देश इनके बिना नहीं रहा है। किसी ने भी यह नहीं दिखाया कि किस प्रकार प्रतिनिधि सरकार उनके बिना कार्य कर सकती है। वे विभिन्न मतदाताओं के असंगठित भीड़ में व्यवस्था लाते हैं। यदि दल में कुछ बुराईयाँ हैं, वे दूसरों का राजनीतिक दल, देश की संविधान में नहीं उपलब्ध हो सके, किन्तु वे राज्य की राजनीतिक क्षितिज पर चमकते रहते हैं। अकेले दल ही, रूपरेखा को कार्यपालिका तथा विधायिका के साथ जोड़ता है। वास्तव में, किसी भी राजनीतिक व्यवस्था की प्रकृति उसकी राजनीतिक दलों की विशेषताओं पर निर्भर करता है। आर. बेसेट के अनुसार— प्रतिनिधि सरकार के कार्यान्वयन की कोई भी प्रणाली का निर्धारण उसके राजनीतिक दलों की प्रकृति पर निर्भर करता है जो उसे पृथक् करती है। कुछ लोकप्रिय विद्वान और भी हैं जिन्होंने यही बात अपने शब्दों में कहा है। उदाहरण के लिए, आर.एम मैकाईवर ने दल की परिभाषा इस प्रकार की है—एक ऐसी संस्था जो किसी सिद्धांत या नीति के समर्थन पर संगठित है, जो संवैधानिक तरीकों से सरकार के निर्धारकों को बनाने में प्रयत्नशील रहता है। और आर.एन गिलक्राइस्ट ने लिखा है राजनीतिक दल की परिभाषा ऐसी भी है कि यह व्यक्तियों का संगठित समूह है जो समान राजनीतिक दृष्टिकोण को बाँटता है और राजनीतिक इकाई के रूप में कार्य करते हुए सरकार पर नियंत्रण रखने की भी चेष्टा करता है। यहाँ इस बात पर बल देना चाहिए कि सफल दल होने के लिए, उनके सदस्यों को समान राजनीतिक दृष्टिकोण को आपस में बाँटना होगा ताकि वे एकल राजनीतिक इकाई के रूप में कार्य कर सकें।

23.2.1 दलों की मार्क्सवादी अवधारणा

मार्क्सवादी दृष्टिकोण के अनुसार दल वर्ग का प्रतिनिधित्व करते हैं। इस स्थिति को सुधारा जा सकता है। सिर्फ वर्ग-संघर्ष की सफल समाप्ति के बाद जिसमें सर्वहारा की विजय होती है। जो दल मेहनती वर्ग का प्रतिनिधित्व करता है, उसे ही सिर्फ

रहने का अधिकार प्राप्त है। मध्यवर्गीय (बुर्जुआ) दल, सच्चे प्रजातांत्रिक प्रक्रिया का प्रतिनिधित्व नहीं करते। इसलिए उन्हें हटा देना चाहिए। लेनिन के अनुसार, दल (अर्थात् कम्युनिस्ट दल) एक सुव्यवस्थित समूह है जिसमें चुने गए अभिजन बुद्धिजीवी तथा सक्रिय राजनीतिक कार्यकर्ता होते हैं। कहा जाता है कि, बुद्धिजीवियों का चयनित समूह, इस अर्थ में है कि मार्क्सवादी अवधारणा के उनके बुद्धिजीवी ज्ञान में मार्क्सवादी सिद्धांत की शुद्धता कायम रहती है और दल को भी सही दिशा प्रदान करती है। सक्रिय राजनीतिक कार्यकर्ता के चयनित समूह का अर्थ है चुनाव-प्रणाली एवं दल प्रशिक्षण उन्हें पूर्णतया दल के प्रति निष्ठावान रखती है और क्रांति लाती है। लेनिन की यह परिभाषा स्वाभाविक रूप से साम्यवादी दलों के अनुकूल है। ऐसे दल स्थायी रूप से श्रमिकों के आंदोलन के बीच रहते हैं। यह क्रांतिकारी विचारों का प्रसार करता है और क्रांति की कला का प्रशिक्षण भी देता है। यह श्रमजीवी वर्ग के उद्देश्यों की प्राप्ति में सहायक भी होता है। क्रांति के पूर्व, मध्यवर्गीय अवधि के अंतर्गत, दल को महत्वपूर्ण भूमिका निभाना आवश्यक हो जाता है। दल को पूँजीवादी व्यवस्था की गिरावट में, सहायक होना अनिवार्य है और साथ ही सर्वहारा वर्ग के अधिनायकवाद की स्थापना में भी। लेनिन के अनुसार, यदि दल को श्रमिक लोगों के अग्रसर की भूमिका निभानी हो, तब यह आवश्यक है कि उसे क्रांतिकारी विचार एवं नियमों का पूरा ज्ञान होना चाहिए। दल का उद्देश्य है, सर्वहारा वर्ग के हितों की रक्षा करना। साम्यवादी दल को ही सिर्फ यह मालूम है कि परिश्रमी लोगों के हित में क्या है। लेनिन की यह धारणा थी कि शक्ति की प्राप्ति और उसे कायम रखने के लिए सर्वहारा वर्ग के संघर्ष में, दल की स्थिति सैनिक संगठन के समान ही होती है। दल, श्रमिक लोगों में अग्रसर (नेतागण) होता है, जिसकी मुख्य भूमिका है वर्ग-चेतना और यह सर्वथा, सर्वहारा वर्ग के हित में त्याग करने के लिए तैयार रहता है। मार्क्सवादी सिद्धांत, श्रमिक लोग और दल को एकीकृत करता है और उसका संगठन उसे सर्व-शक्तिमान बनाता है।

साम्यवादी दल को समाजवादी राष्ट्रों में संवैधानिक अनुमोदन प्राप्त है। इन राष्ट्रों में अन्य सभी दलों को समाप्त कर दिया गया। दल और सरकार के बीच लगभग कोई भेद नहीं है। समाजवादी देशों में आज भी यह सत्य है जहाँ साम्यवादी दलों का शासन है। पूर्व के सोवियत संघ का 1977 के संविधान ने लेनिन के नेतृत्व का वर्णन और विश्लेषण किया जिसके कारण 1977 की बड़ी क्रांति (ग्रेट रिवोल्यूशन) सफल हुई। क्रांति और परिणामस्वरूप शासन-व्यवस्था में, संविधान ने दल की भूमिका को सराहा। चीन की लोक गणतंत्र में 1982 के संविधान ने राष्ट्रीय लोक कांग्रेस की उद्घोषणा की जो साम्यवादी दल के नेतृत्व में, राज्य शक्ति का सबसे ऊँचा अंग था।

राजनीतिक दलों की मार्क्सवादी विश्लेषण के अनुसार पूँजीपति देशों के दल, वर्ग-हित का प्रतिनिधित्व करते हैं। इस प्रकार, वे विभिन्न वर्गों की सुरक्षा के लिए एक उपकरण हैं। वे वर्ग संघर्ष के स्रोत एवं नेता हो जाते हैं। पूँजीवादी राष्ट्रों में, साम्यवादी दल, पूँजीवादी शोषण के विरुद्ध परिश्रमी लोगों का संरक्षण करते हैं। वे क्रांतिकारी विचारों का प्रतिपादन करते हैं और सर्वहारा वर्ग को क्रांति के लिए तैयार करते हैं। एक बार क्रांति सफल हो जाए, साम्यवादी दल उसकी सुरक्षा को सुनिश्चित करते हैं।

23.2.2 दलों के विषय में समकालीन दृष्टिकोण

अफ्रीका के नव-स्वतंत्र राष्ट्रों के विषय में लिखते हुए, कोलमैन ने कहा है कि राजनीतिक दल, वैसे लोगों का समूह है जो औपचारिक रूप से संगठित है और उनका दृष्टिकोण है नीतियों और वास्तव सेवा-वर्ग के ऊपर, नियंत्रण रखना, या संभवतः संप्रभु राज्य के रूप में उद्भव होना। संगठित समूह के रूप में प्रजातांत्रिक प्रक्रिया से अफ्रीका के दलों के माध्यम से, यह इन समूहों द्वारा अकेले ही किया जाता है या समान समूहों के समन्वय से, और जिसका उद्देश्य है चुनाव के माध्यम से राजनीतिक सत्ता प्राप्त करना। उन्होंने इस भूमिका को विशिष्ट रूप से उनके लिए कहा था जो पहले से ही स्वतंत्र राष्ट्र हैं या स्वतंत्र होने वाले हैं। इस दृष्टिकोण से सहमत होते हुए जेम्स जुप ने कहा कि लोगों का कोई भी समूह किसी भी रूप में संगठित हो ताकि किसी समाज की राजनीतिक संस्थाओं के ऊपर नियंत्रण स्थापित किया जा सके। इसप्रकार दल में व्यक्तियों के समूह की आवश्यकता होती है, जो औपचारिक रूप से संगठित होता है और इसका उद्देश्य है राजनीतिक संस्थाओं एवं राज्य पर नियंत्रण रखने के लिए चुनाव लड़ना एवं जीतना। ये संस्थाएँ विभिन्न स्तर पर सरकार के अंग होते हैं और इसके अतिरिक्त लोगों के संगठित समूह में शासन के लिए स्पष्ट नीतियाँ होनी चाहिए।

सिगमण्ड न्यूमैन ने राजनीतिक दलों का विश्लेषण, उनके सिद्धांतों के आधार पर किया। उन्होंने कुछ मूल्यवान निष्कर्ष निकाला। उनके अनुसार, चूँकि प्रजातांत्रिक और सत्ताधारी दलों में तीव्र अन्तर है, किसी एक स्पष्ट और सहमत परिभाषा को दे पाना असंभव है। फिर भी, उनका कहना था कि दल स्थापित करने का उद्देश्य है अंदर में समरूपता और दूसरे समूह के साथ अलगाव। आवश्यक रूप से, प्रत्येक दल, विशिष्ट संस्था के अंतर्गत सहयोगिता है और अपने विशिष्ट कार्यक्रमों के आधार पर दूसरों से पृथक है। यह परिभाषा, दो या बहुदलीय प्रजातांत्रिक समाज में सत्य सिद्ध होते हैं।

दूसरी तरफ, एक दलीय व्यवस्था में, प्रतिस्पर्धा तथा विशिष्ट नीतियों और कार्यक्रमों का पूर्ण अभाव है। वास्तव में, एकल दलीय प्रणाली में कई लोग दल को औपचारिक राजनीतिक दल के रूप में नहीं स्वीकार करते हैं। उनके लिए,

दल का एक दूसरा भाग या प्रतिरोधी होना चाहिए, जो एक दलीय राज्यों में दिखाई नहीं पड़ता। इसप्रकार, एक दलीय व्यवस्था में, दल सत्ताधारी हो जाती है। एक बार यदि वह शक्ति प्राप्त कर लेता है, तो किसी न किसी साधन द्वारा उसे कायम रखता है। हालाँकि न्यूमैन के अनुसार, एक दलीय राज्यों में भी विरोधी किसी न किसी रूप में रहते हैं। यदि विरोधी न भी हों, सत्ताधारी दल सर्वथा असुरक्षित अनुभव करते हैं क्योंकि उन्हें संभावित विद्रोह या विरोध का डर बना रहता है। न्यूमैन के अनुसार, राजनीतिक दल, राजनीतिक हितों का प्रतिनिधित्व करता है, जो कि समाज एवं व्यक्ति के बीच पुल या कड़ी का कार्य करता है। प्रजातंत्र की सफलता, दलों के कुशल कार्यान्वयन पर निर्भर होता है। चाहे सरकार संसदीय या अध्यक्षत्मक प्रजातंत्र हो वे दल के बिना सफल नहीं हो सकते। एक असंगठित अनियंत्रित भीड़, राज्य का शासन नहीं कर सकती। उसका संगठित स्वरूप है राजनीतिक दल। संयुक्त राज्य के प्रथम राष्ट्रपति जॉर्ज वॉशिंगटन ने दलहीन प्रजातंत्र का प्रचार किया। परन्तु यह संभव नहीं हो पाया जल्दी ही, उस राष्ट्र में दो दल उभर कर आए। वास्तव में, अमेरिकी संविधान के निर्माण का गहन अध्ययन करने पर यह बात सामने आती है 1787 में भी दो समूह थे। वे संघीय व्यवस्था के समर्थक और विरोधी थे, और अमेरिका में दो दलों के अग्रदूत हुए। भारत में, कुछ समय से दलहीन प्रजातंत्र की बात हो रही थी। किन्तु, यह दृष्टिकोण जो जयप्रकाश नारायण के नेतृत्व में प्रदर्शित किया गया, वह नैतिक अधिक व्यावहारिक कम था।

राजनीतिक दलों के विश्लेषण में, मॉरिस डुवरजर ने कहा कि दलों का प्राथमिक उद्देश्य होता है राजनीतिक शक्ति को प्राप्त करना या उस शक्ति के कार्यान्वयन में सहभागी होना। डुवरजर ने लिखा— राजनीतिक दलों का प्राथमिक उद्देश्य है शक्ति को जीतना या उसके कार्य-कलापों में भागीदार होना। वे चुनावों में अपनी सीटें जीतने का प्रयत्न करते हैं। प्रतिनिधियों और मंत्रियों का नाम देते हैं तथा सरकार पर नियंत्रण रखते हैं। इसलिए राजनीतिक दल का उदभव सदीय प्रणाली और निर्वाचन प्रक्रिया के साथ मेल खाता है। दल का आरंभ, उम्मीदवारों के लिए निधि संचय की प्रक्रिया में देखा जा सकता है तथा उन समितियों में भी जिसका गठन, समर्थकों एवं कार्यकर्ताओं द्वारा उम्मीदवार को विजयी दिलाना है। धीरे-धीरे, समान सिद्धांतों में विश्वास करने वाले समान दृष्टिकोण वाली विधायिका के सदस्य एक दूसरे के साथ आ गए जिसके कारण राजनीतिक दलों का जन्म और विकास हुआ। ब्रिटेन और यूरोपीय प्रजातंत्रों में जबकि सामान्य सिद्धांत, दल का आधार बना, अमेरिका में ऐसा नहीं हुआ। अमेरिका के राजनीतिक दलों का कोई स्पष्ट और अलग सिद्धांत नहीं है। इन दलों का अस्तित्व, राष्ट्रपति के उम्मीदवार की चयन प्रणाली के परिणामस्वरूप हुआ, जो उनके प्रचार-प्रसार का प्रबंधन, प्रचार के लिए निधि संचय, तथा कई अन्य चुनावी कार्यालयों के लिए उम्मीदवार का चयन करते थे। ये दल अभी भी सिद्धांतों की अपेक्षा, चुनावी प्रक्रिया पर अधिक ध्यान देते हैं।

डुवरजर का यह निष्कर्ष सही है कि राजनीतिक दल उन राष्ट्रों में भी स्थित हैं जहां चुनाव नहीं होते हैं, और विधायिका भी नहीं होती। दल, उन देशों में भी पाए जाते हैं जहाँ नकली चुनाव और नकली संसद होती है। तथाकथित चुनाव, एक ही उम्मीदवार की प्रत्येक क्षेत्र से होती है, जो जीत जाता है तथा विधायिका के सभी सदस्य, परिणामस्वरूप, एक ही दल के होते हैं। इसे एकल-दलीय व्यवस्था कहते हैं। डुवरजर का कथन है कि इन दलों को दल नहीं कहा जा सकता। विशुद्ध रूप से दल शब्द लैटिन शब्दावली श्पार्स से लिया गया है जिसका अर्थ है भाग। इसलिए जहाँ एक ही दल रहता है, वह संपूर्ण का भाग नहीं होता—अर्थात् कई दलों का भाग है। फिर भी, दलों का प्रयोग तानाशाह या सत्ताधारी शासन में होता है ताकि चुनाव का ढोंग तथा शून्यता द्वारा चुनी गई विधायिका का निर्माण हो सके। डुवरजर के अनुसार तानाशाह एक ही दल का प्रयोग करता है ताकि चुनावी एवं संसदीय प्रक्रिया के दिखावे को स्थापित किया जा सके और स्वयं को प्रजातांत्रिक आवरण में ढक सके। वाहन डुवरजर के अनुसार 20 वीं शताब्दी के दूसरे भाग में दल किसी न किसी सिद्धांत से जुड़े हुए थे। मार्क्स और लेनिन ने दलों को संघर्षरत वर्ग के प्रतिनिधि के रूप में देखा, किन्तु कई समकालीन विद्वान जैसे एम.आई. ऑस्ट्रोगॉस्की, रॉबर्टो मिचल, तथा मॉरिस डुवरजर ने राजनीतिक दल की संरचना पर बल दिया। ये तथा अन्य दूसरे विद्वानों ने दल को क्या करना चाहिए पर बल दिया न कि वे क्या हैं इसपर। दलों का व्यापक अध्ययन अनिवार्य हो गया है ताकि उनके सिद्धांत, सामाजिक आधार, संरचना, संगठन और रणनीतियों का विश्लेषण किया जा सके। राजनीतिक दलों को दो आधारों पर वर्गीकृत किया जा सकता है। वे हैं—दल की संरचना, तथा दलीय व्यवस्था। दल की संरचना के विश्लेषण में कोई भी दल के अन्य पहलुओं तथा आपसी संबंध को नजरअंदाज नहीं कर सकता। संरचना के दृष्टिकोण से, डुवरजर ने दलों के अध्ययन को दो वर्गों में बाँटा, जो है आंतरिक संगठन तथा बाह्य संगठन।

23.3 राजनीतिक दलों का वर्गीकरण

1951 में मॉरिस डुवरजर द्वारा प्रस्तुत राजनीतिक दल का वर्गीकरण अत्यन्त लोकप्रिय हुआ, और अब यह सामान्यतः स्वीकारा जा रहा है। उन्होंने दलों को इस प्रकार विभाजित किया: (क) अभिजात वर्ग या पारंपरिक दल (ख) जनसमूह (जनता) दल। बाद में तीसरी श्रेणी आई जिसे मध्यवर्ती दल कहा गया। इस वर्गीकरण को सामान्यतः संगठन आधारित श्रेणी कहते हैं।

23.3.1 अभिजातवादी दल

जो दल संगठन आधारित नहीं होती है और उनका कोई जन समर्थन नहीं रहता, उसे अभिजातवादी या पारंपरिक दल कहते हैं। ये दल, अपने दरवाजों को किसी एक या सभी के लिए खुला नहीं रखते हैं। सदस्यों की भरती (प्रवेश) में ये चयनात्मक होते हैं। अभिजातवादी दल दो भागों में विभाजित हैं (1) यूरोपीय प्रकार (2) अमरिकी प्रकार।

1. यूरोपीय प्रकार: 19वीं शताब्दी में ज्यादातर जिन राजनीतिक दलों का गठन हुआ, वे अभिजातवादी प्रकृति के थे। कई समकालीन दल जो समान अवधारणा का अनुसरण करते हैं, वे भी अभिजात वर्ग या पारंपरिक श्रेणी में आते हैं। चाहे ये दल उदारवादी रुढ़िवादी या प्रगतिवादी हों, ये अपनी सदस्यता में किसी या सभी के प्रवेश के प्रति विरुद्ध हैं। ये संख्या से ज्यादा गुण पर बल देते हैं। ये प्रभावी लोगों का समर्थन प्राप्त करते हैं। धनी लोग, इन दलों में महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त करते हैं। यूरोपियन दलों का आधार स्थानीय समितियों में होता है और उन्हें केन्द्रीय दल संगठन के ऊपर न्यूनतम नियंत्रण होता है। हालांकि महाद्वीपीय यूरोप के कई दलों से भिन्न, 19वीं शताब्दी में ब्रिटेन के उदारवादी एवं परंपरावादी दलों का सशक्त केन्द्रीय संगठन था। अब 21 वीं शताब्दी में यूरोपीय एवं एशियाई देशों में केन्द्रीय नियंत्रण बढ़ता जा रहा है। इसी प्रकार, ब्रिटेन एवं अन्य यूरोपीय दलों में कार्यान्वयन का स्पष्ट विभेद है। विधायी अंग के अंतर्गत, इन दलों में अनुशासन कायम रखने के लिए दल सचेतक (डिप्टी) की मुख्य भूमिका होती है। विधायिका के सदस्य दल सचेतक के अनुसार अपना मत देते हैं और अधिकतर दल नेतृत्व की इच्छा के अनुकूल ही बोलते हैं। ब्रिटेन और भारत में जो दल सचेतक की अवज्ञा करते हैं उन्हें दण्डित किया जाता है जिसमें विरोधी सदस्यों को बाहर निष्कासित कर देना सम्मिलित है। कई देशों में विधायक मत देने के लिए स्वतंत्र होते हैं। वे दल के अनुशासन पर ध्यान नहीं देते। अनुशासित दलों को फ्लोरोर कहा जाता तथा अन्य को श्लचीलाश दल। यह सामान्य रूप से माना जाता है कि अभिजातवादी दल लचीले तथा जनसाधारण दल कठोर होते हैं। हालांकि, ब्रिटेन का अभिजातवादी दल जो अत्यंत अनुशासित है एक अपवाद है। किन्तु बृहद स्तर पर दल सचेतक के विरोध के मामलों में, नेतृत्व दूसरी तरफ अपना ध्यान देकर इसमें कोई भी कार्य नहीं करता। उदाहरणतः, हाउस ऑफ कॉमन्स के लेबर पार्टी के लगभग 122 सदस्यों ने फरवरी 2003 में, इराक के विरुद्ध युद्ध करने को आतुर थे (अमरिका के सहयोग से), अपने ही दल के संसद सदस्यों का 122 मत एक भारी विरोध था। फिर भी उन सदस्यों के प्रति कोई कार्यवाही नहीं हुई। चूंकि सामान्यतः ब्रिटेन के दल, अन्य देशों की अपेक्षा अधिक अनुशासित हैं, अभिजातवादी दल होने के बावजूद, उन्हें कठोर अभिजातवादी दल कहा जा सकता है। ब्रिटेन के दल, उदारवादी प्रजातांत्रिक प्रणाली के संकेतक हैं। जन साधारण दलों के विकास के साथ, ब्रिटेन के दल भी अपनी सदस्यता के विस्तार की चेष्टा करने लगे किन्तु उन्हें सफलता नहीं मिली। आधुनिक चुनावी लड़ाई में, दलों द्वारा बड़ी-संख्या में कार्यकर्ता चाहिए था। इसलिए, उन्होंने, बड़ी संख्या में सदस्यों का प्रवेश कराया, किन्तु उनकी मूल विशेषताओं में परिवर्तन नहीं किया।

2. अमरिकी प्रकार— अमरिका के दल कई मामलों में ब्रिटेन के दल से भिन्न हैं। किन्तु मुख्य भिन्नता थी (1) संसदीय गठन में अध्यक्षतात्मक सरकार की प्रकृति की तुलना में, एकात्मक राज्य में ब्रिटेन का संसदीय प्रजातंत्र। (2) अमेरिका के दल अभिजनों तक ही सीमित रहे हैं और जनसाधारण से अलग। अमरिकी दल, जैसा कि पहले भी कहीं चर्चा की गई है, आवश्यक रूप से चुनाव मुखी हैं। आरंभिक 20वीं शताब्दी में दल प्राइमरीज प्रणाली की शुरुआत हुई। प्राइमरीज में, सामान्य नागरिक, जिन्हें इच्छा हो, विभिन्न चुनावी कार्यालयों के लिए उम्मीदवार के चयन में सहभागी हो सकते थे। इस प्रणाली से, स्थानीय स्तर के दलीय अंगों पर बुरा प्रभाव पड़ा। प्राइमरीज ने दलीय संगठन को लोगों के नजदीक पहुँचाया। साथ ही, अत्यधिक खर्चीले और जटिल चुनावी प्रक्रिया के कारण, दल, अपने संगठन को सशक्त करने के लिए बाध्या हो गए हैं। सशक्त दल संरचना तथा लोगों के बढ़ते प्रभाव की दुहरी प्रक्रिया के कारण, अमरिकी राजनीतिक दल लोगों के और नजदीक हो गई है, किन्तु जनसाधारण दल नहीं बन पाई हैं। अमरिकी दलों का नेतृत्व व्यावसायिक राजनीतिज्ञ करते हैं, जिनमें से अधिक प्रजातांत्रिक तरीकों से निर्वाचित नहीं हुए हैं। इसके बावजूद, अमरिकी दल ने जनता के साथ बेहतर संबंध स्थापित किए हैं, यूरोपीय दलों की अपेक्षा। समकालीन अमरिकी दलों की एक महत्वपूर्ण विशेषता है कि उनकी स्थानीय समितियाँ कम शक्तियों का उपयोग करती हैं तथा केन्द्रीय संगठन बहुत कमजोर है। डुवरजर ने टिप्पणी की अनुशासन, राजनीतिक श्रेणीक्रम में ऊँचे स्तर तक नहीं फैलता किन्तु राज्य पर कमजोर और व्यवहार में राष्ट्रीय स्तर पर लगभग शून्य है। अमरिकी व्यवस्था की दूसरी विशेषता है कांग्रेस के सदस्यों में अनुशासन की कमी। वे अपने व्यक्तिगत निर्णय के आधार पर बोलते या मत देते हैं। इस दृष्टिकोण से वे, ब्रिटिश दल की अपेक्षा बहुदलीय प्रजातंत्र के करीब हो जाते हैं।

23.3.2 जनता दल

प्रारंभिक 20 वीं शताब्दी से, साधारण जन समर्थन के आधार पर दलीय व्यवस्था की शुरुआत हुई। ब्रिटिश लेबर पार्टी का आरंभ कार्यरत जन आंदोलन से हुआ। बाद में, साम्यवादियों ने जन समर्थन की व्यवस्था को अपनाया। नव-स्वतंत्र तीसरे

विश्व के देशों में, सामान्यतः जनता दल हैं। यूरोपीय देशों के कुछ दल जैसे ईसाई प्रजातांत्रिक दल तथा फ्रांस का लोकप्रिय गणतंत्रीय आंदोलन को जनता दलों की श्रेणी में रखा जा सकता है।

- 1. समाजवादी दल—** आरंभ में, जनता से संपर्क स्थापित किया जाता ताकि श्रम के उम्मीदवारों के लिए निधि (कोष) अनुदान लिया जा सके। ये उम्मीदवार क्रांतिकारी समझे जाते थे, तथा उद्योगपति एवं बड़े व्यावसायिक फर्म इन्हें आर्थिक योगदान देने से इंकार करने लगे। वास्तव में, यह तत्व, इन उम्मीदवारों के प्रतिकूल था। ब्रिटेन में, व्यापार संघ ने इन उम्मीदवारों को समर्थन प्रदान किया। बाद में, उन्होंने स्वयं को लेबर पार्टी के रूप में संगठित किया। जनता दल ने उनकी सदस्यता को बढ़ाना चाहा, और अपने सदस्यों से योगदान लिया। जनता दल, धनी व्यावसायिक घरों की अपेक्षा सामान्य लोगों से दान लेना श्रेयस्कर समझा। इसलिए, यह दल, अभिजन दल में नहीं परिणित हुआ।

ब्रिटिश लेबर पार्टी को, विश्व भर में समाजवादी दल का पथप्रदर्शक माना गया। अनेक देशों में प्रजातांत्रिक समाजवादी दल ने ब्रिटेन के श्रम दल का अनुसरण किया। इन दलों का यह विश्वास था कि संसदनात्मक प्रक्रिया की शांतिपूर्ण प्रजातांत्रिक तरीकों से, समाजवाद को लाया जा सकता है। अत्याचार या क्रांतिकारी तरीकों की अपेक्षा, उन्हें कानून के शासन पर विश्वास था। विधायी तरीकों से वे पूँजीवाद व्यवस्था को खत्म कर देना चाहते थे। किन्तु 1990 के दशकों में उदारीकरण के तेजी से आने से, पूँजीवाद को खत्म करने की चर्चा ने अचानक, प्रजातांत्रिक दलों द्वारा भी पूँजीवाद पथ को अपनाने की स्थिति में ले आया, जिसमें ब्रिटेन के श्रम दल भी सम्मिलित थे। टोनी ब्लेयर के नेतृत्व में, ब्रिटेन ने अपने समाजवादी दल के रूप में नए श्रम को अपनाया।

समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से, समाजवादी दल को अधिकतर संघर्ष का सामना करना पड़ता है। दो समूहों के बीच विचित्र प्रकार का मतभेद होता है। एक, उस दल के सदस्य होते हैं जो दल के नेता चुनते हैं तथा कई दल समितियों का गठन करते हैं और दूसरे, साधारण नागरिक जो संसद के सदस्यों को चुनते हैं। दल के सदस्य अपनी मांगों को प्राप्त करने की चेष्टा करते हैं चूँकि वे संगठित होते हैं और सामान्य निर्वाचकगण नहीं। समाजवादी दल संसद की सर्वोच्चता को स्वीकार करते हैं। इसलिए वे संसद के सदस्यों का सम्मान करते हैं। दूसरी तरफ, साम्यवादी और फासीवाद राष्ट्रों में विधायिका प्रभावहीन होती है क्योंकि वास्तविक शक्तियाँ दल में होती हैं। इसलिए दल का नेतृत्व सदस्यों पर प्रभावी होता है। विश्व के कई राष्ट्रों में समाजवादी दल हैं या रह चुके हैं जो उदारवादी प्रजातांत्रिक प्रक्रिया में महत्वपूर्ण नायक होते हैं।

- 2. साम्यवादी दल—** साम्यवादी दल जो कार्क्स एवं लेनिन के सिद्धांतों पर आधारित हैं, वे जनता के साथ नजदीकी संपर्क स्थापित करते हैं। आरंभ में यूरोपीय साम्यवादी दल का संगठन समाजवादी दलों के प्रतिरूप में हुआ, किन्तु 1924 के पश्चात् माँस्को में साम्यवादी अंतरराष्ट्रीय मुख्यालय के निर्देशन में उनका पुनर्गठन हुआ। उन्होंने सोवियत साम्यवादी दल प्रतिमान का अनुसरण किया। दूसरे दलों की तुलना में सभी जगह, साम्यवादी दल बेहतर ढंग से संगठित और अनुशासित होते हैं ये दल, श्रमिक एवं किसानों को आकर्षित करते हैं। किन्तु अन्य दलों से भिन्न, उनकी स्थानीय इकाई, सामान्यतः क्षेत्रीय प्रकृति की नहीं होती है वे कार्य-स्थानों पर संगठित किए जाते हैं। प्राथमिक इकाई, या अणु, अपने कार्य-स्थल में सदस्यों के साथ निकट संपर्क स्थापित करते हैं। इससे, उन्हें दल के निर्देशन को पहुँचाने में तथा उसके कार्यान्वयन में आसानी होती है। इसके अलावा कार्यस्थल पर सदस्यों की समस्या सामान्य होती है। वे अधिक एकता को प्रोत्साहित करते हैं।

साम्यवादी दल प्रजातांत्रिक केन्द्रवाद के सिद्धांत का अनुसरण करता है, जिसका अर्थ है दल संरचना में सदस्यों की प्रजातांत्रिक सहभागिता, किन्तु केन्द्रीकृत निर्णय प्रक्रिया और सर्वेक्षण। हालाँकि आलोचकों का कहना है कि इन दलों में शायद ही प्रजातंत्र है, क्योंकि सभी निर्णय, कुछ बड़े नेताओं द्वारा लिया जाता है, जो कड़ी आज्ञाकारिता एवं अनुशासन को सुनिश्चित करते हैं। दल के विभिन्न स्तर पर, बहस होती है, किन्तु नेतृत्व के निर्देशन को लांचा या अस्वीकार नहीं किया जाता। इन बातचीत और बहस के आधार पर जो दृष्टिकोण व्यक्त किए जाते हैं, सभी सूचनाओं को दल के नेतृत्व तक पहुँचा दिया जाता है। पूर्ववर्ती सोवियत संघ तथा पूर्वी यूरोपीय देशों के दलों ने इस प्रतिमान का अनुसरण किया, जो चीन, वियतनाम तथा अन्य साम्यवादी राष्ट्रों में देखा जाता है।

फासीवादी दलों को छोड़कर विश्व भर में कोई भी दल, सिद्धांतों पर कठोर रूप से आधारित है जितना कि साम्यवादी दल। वे मार्क्सवादी-लेनिनवादी सिद्धांतों का सख्त रूप से अनुसरण करते हैं। चीन के साम्यवादी दल में मार्क्सवादी-लेनिनवादी का अपना माओवादी विश्लेषण था। किन्तु माओ अवधि के उपरान्त, दल ने माओ की कठोरता से स्वयं को अलग किया। उदारीकरण तथा चीन में अर्थव्यवस्था के खुलापन के कारण प्रतिमान में परिवर्तन आया हालाँकि वे अभी भी मार्क्सवादी सिद्धांत पर बचनबद्ध हैं। उदारवादी प्रजातंत्र के साम्यवादी दलों में, जैसे कि भारत, मार्क्सवाद-लेनिनवादी की प्रासंगिकता पर जोर देते हैं।

3. **फासीवाद दल** : फासीवाद, पूर्णतया साम्यवाद का विरोधी है। साम्यवादी दलों से भिन्न फासीवादी एक सर्वशक्तिमान राज्य का प्रतिपादन करता है। हालाँकि, एक समानता है। दोनों, एकल-दलीय शासन पद्धति पर और पूरे विरोधी को समाप्त करने पर विश्वास करता है दोनों ही अपनी नीतियों को कार्यान्वित करने के लिए बल का प्रयोग करते हैं। फासीवादी दल, खुली प्रतिस्पर्धा और पूँजीवाद का समर्थन करते हैं किन्तु साम्यवादियों की भाँति एक ही नेता का अंधा अनुसरण करते हैं। नेता की अवज्ञा का अर्थ है सदस्यों का निष्कासन। इटली के फासीवादी तानाशाह, मुसोलिनी ने स्वयं कहा कि उनका दल, साम्यवादी तकनीकी का अनुसरण करना चाहता है। फासीवादी, जन-आधार की बात कहते हैं, किन्तु वे हथियार युक्त बल का प्रयोग करते हैं ताकि सैनिक अनुशासन को लाया जाए और जनता को सैन्य-प्रशिक्षण भी दिया जाए। फासीवादी युवकों को न सिर्फ सैन्य-प्रशिक्षण दिया जाता है बल्कि वे सैनिकों की पोशाक भी पहनते हैं, रोज की अनुशासित प्रक्रिया को करते हैं और विरोध करने पर दण्डित भी किए जाते हैं। फासीवादी नेता शक्ति प्राप्त करने के लिए बल का मार्ग अपनाते हैं किन्तु प्रजातांत्रिक प्रक्रिया का दिखावा करते हैं। फासीवाद को शक्ति प्राप्ति में पूँजीपति एवं बड़े व्यावसायिक घरों का समर्थन है। यह साम्यवाद का कड़ा विरोध करता है तथा प्रजातंत्र के प्रति विनाशक है। फासीवाद कार्यक्रमों में अत्याचार और लड़ाई, महत्वपूर्ण भाग है।

23.3.3 मध्यवर्ती दल

मॉरिस डुवरजर के अनुसार, राजनीतिक दलों की एक तीसरी श्रेणी होती है जिसे मध्यवर्ती दल कहा जा सकता है। ये अभिजन और जनता दलों से भिन्न हैं, फिर भी वे जनता के दलों से समीप हैं। वे हैं—

1. **अप्रत्यक्ष दल**: कभी-कभार, बड़ी एवं छोटी समितियाँ राजनीतिक कार्य करती हैं जिसके कारण राजनीतिक दल का गठन हो जाता है। इसे अप्रत्यक्ष दल कहते हैं। 1906 में ब्रिटिश श्रम दल का जन्म इसी परिस्थिति में हुआ था। उस समय, श्रम दल ने प्रत्यक्ष रूप से दल के सदस्यों का प्रवेश नहीं कराया था। व्यापार संघ सहकारी समाज, फेबियन समाज तथा अन्य बुद्धिजीवी संस्थाओं के साथ इसने कार्य करना आरंभ किया। यह संस्था, चुनाव के लिए उम्मीदवारों का चयन करती, कोष संचय करती और चनावी प्रचार को चलाती। बाद के समाजवादी दलों में इसीप्रकार का मूल था जैसे कि बेल्जियम, नॉर्वे तथा स्वीडन में। इन राष्ट्रों में, इन दलों का जन्म 1940 में हुआ। पहले भी इसी प्रतिमान पर ईसाई प्रजातांत्रिक दल का निर्माण, बेल्जियम में 1919 में हुआ तथा फ्रांस में 1936 में। ये सभी दल, पारंपरिक दल के रूप में आगे आए, किन्तु यह भिन्नता थी कि इनके सदस्य धनी वर्ग के नहीं थे, अपितु, परिश्रमी एवं बुद्धिजीवी श्रेणी के थे।
2. **विकासशील देशों के दल**: द्वितीय विश्व युद्ध के पश्चात् की अवधि में, तीसरे विश्व के विकासशील राष्ट्रों में भारी संख्या में राजनीतिक दल उभर कर आए, जिसे डुवरजर ने अविकसित राष्ट्र कहना अधिक उचित समझा। कुछ विकासशील देशों में, दलों ने ब्रिटेन या अमरिका की प्रणाली का अनुसरण किया, और कुछ ने सोवियत उदाहरण को देखते हुए एकदलीय व्यवस्था को अपनाया। कुछ अफ्रीकी राष्ट्रों में दो दलों का निर्माण हुआ जिनकी अपनी-अपनी शैली थी। इन सभी को मध्यवर्ती दल कहा गया क्योंकि अनुशासित दल के रूप में ये संगठित नहीं थे। स्वतंत्रता प्राप्ति के उपरांत, भारत में, कई दलों का निर्माण हुआ। इनमें से कुछ लंबे समय तक नहीं टिक पाए। कांग्रेस के दक्षिण अंग से टूटा हुआ, स्वतंत्र दल का निर्माण हुआ, जो बाद में लुप्त हो गया। भारी संख्या में छोटे और क्षेत्रीय दलों का गठन हुआ। किन्तु कुछ समय बाद दो या अधिक दल मिलकर, एक दल बनाया प्रथम श्रेणी में वे थे जो कांग्रेस से अलग हुए, किन्तु कुछ समय बाद उनसे पुनः जुड़ गए। द्वितीय श्रेणी में वे थे जिन्होंने आपस में मिलकर निर्माण किया, जैसे 1977 में जनता दल। किन्तु ऐसा परीक्षण, लंबे समय तक नहीं टिक सका और कई समूह इनसे उभर कर बाहर आए। हालाँकि, इनमें से एक समूह भारतीय जनता पार्टी (जो आवश्यक रूप से पहले के जनसंघ का नया अवतार था) अब एक राष्ट्रीय दल के रूप में उभरा और 1988 में गठबंधन सरकार का नेतृत्व भी किया। भारत में ऐसे भी दल हैं जो साम्यवादी दल की सोवियत प्रणाली का अनुसरण करते हैं।

डुवरजर के वर्गीकरण में एक समस्या है। कभी-कभी उनमें भिन्नता रखना कठिन हो जाता है। उनके अपने शब्दों में रु जनता के सभी दलों में नेता, ऐसा समूह का निर्माण करते हैं जो बाकि सदस्यता और दल के उग्रवादियों से भिन्न होते हैं यह आंतरिक वृत्त, कुछ पारंपरिक दल जो दबा हुआ है उसके नेतृत्व से मिलता जुलता है और वह जन-संगठन के हृदय में है।

23.3.4 हिचनर और लेवीन का वर्गीकरण

राजनीतिक दलों के वर्गीकरण में, हिचनर और लेवीन के अनुसार सामान्यतरु लोग अपने व्यक्तिगत दृष्टिकोण के आधार पर किसी एक दल या दूसरे के साथ सम्बद्ध होते हैं और दल की सदस्यता कई सामाजिक-आर्थिक शक्तियों पर निर्भर होती है। फिर भी लोग स्वयं को किसी एक दल या दूसरे के साथ सम्बद्ध करते हैं, और जिसका आधार होता है— उनका

वर्ग, आर्थिक हित, वंशागत हित तथा विशेष समूह का हित। हिचनर और लेवीन ने समकालीन राजनीतिक श्रेणियों को बाँटा है— परिणामवादी दल, सिद्धांत सम्बन्धी दल और हित दल।

परिणामवादी दल सामान्यतः किसी विशेष सिद्धांत से प्रतिबद्ध नहीं होते। उनकी नीतियों को परिस्थिति की आवश्यकता अनुसार समायोजित किया जाता है। इनमें से अधिकतर दल अपने दल सिद्धांत से कम और नेता से अधिक प्रभावित होते हैं। इस श्रेणी में, अमरीका के दल, ब्रिटेन का पारम्परिक दल (जो अब श्रम दल है), कनाडा का पारम्परिक दल सम्मिलित है। यह माना जाता है कि द्विदलीय व्यवस्था में, दल अधिक व्यवहारिक और परिणामवादी होते हैं। यह इसलिए क्योंकि वे समय-समय पर विभिन्न सामाजिक-आर्थिक हितों का प्रतिनिधित्व करते हैं।

जो दल किसी विशेष सिद्धांत से प्रतिबद्ध हैं और कुछ सिद्धांतों में उनका विश्वास है उसे सिद्धांत सम्बन्धी दल कहते हैं। देशी या अंतर्राष्ट्रीय वातावरण में परिवर्तन के अनुसार नीतियों में बदलाव या समायोजन किया जाता है, किन्तु उनके सिद्धांत अपरिवर्तित रहते हैं समाजवादी दलों को इस श्रेणी में सम्मिलित किया जा सकता है उदाहरण के लिए—ब्रिटिश लेबर पार्टी, बेलजियम और फ्रांस का समाजवादी दल, चिली का संयुक्त समाजवादी दल या जापान का कोमाई। यह सत्य नहीं है कि वामपंथी दल ही सिर्फ सिद्धांत-संबंधी दल हैं। उदाहरण के लिए, भारत में भारतीय जनता दल में एक निश्चित सिद्धांत है किन्तु 1998 के बाद गठबंधन सरकार के साथ समायोजित करने के लिए उसमें नीतियों एवं कार्यक्रमों का समायोजन हुआ है। दूसरी तरफ, साम्यवादी दल और फासीवादी दल पूर्णतः सिद्धांत संबंधी दल हैं।

हिचनर और लेवीन के अनुसार, बहु दलीय व्यवस्था से तथा द्वि-दलीय व्यवस्था में भी कई दल सामान्यतरु विशिष्ट हितों का प्रतिनिधित्व करते हैं। इस प्रकार इन्हें "हितमुखी दल कहा जाता है। जब कोई हित समूह, दल में परिवर्तित होता है, चाहे अस्थायी या स्थायी रूप से ही वह इस श्रेणी में आता है। हित की प्रकृति में भिन्नता होती है चाहे वह पाबंदी से संबंधित हो या कृषकों के हित से संबंध हो अथवा जाति या समुदाय के लिए हित की प्राप्ति हो। स्विस किसान दल, जर्मन ग्रीन, ब्रिटेन का आईरिश राष्ट्रीय दल जैसी कुछ पार्टियाँ होती हैं। इनमें से उदाहरणस्वरूप, झारखण्ड मुक्ति मोर्चा, महाराष्ट्र का किसान और श्रमिक दल, या दलितों के उत्थान के लिए बहुजन समाज पार्टी आदि सम्मिलित हैं।

विभिन्न दलों का वर्गीकरण जैसा कि ऊपर देखा गया है, बहुत प्रासंगिक और उपयोगी है, फिर भी दल की वास्तविक प्रकृति का विश्लेषण सिर्फ विशिष्ट, दल व्यवस्था के सदस्य के रूप में हो सकता है। इसलिए यह आवश्यक है कि मुख्य दलीय व्यवस्था का परीक्षण करना चाहिए और तब व्यक्तिगत दल को, इनमें से किसी एक व्यवस्था या दूसरे के साथ संबद्ध करना चाहिए।

23.4 दलीय व्यवस्था

किसी प्रकार की स्थिरता तब आती है जब किसी देश का राजनीतिक दल अपनी संख्या, आंतरिक संरचना, सिद्धांत, गठबंधन तथा विरोधी के साथ संबंध के आधार पर लंबी अवधि से विकसित होकर आते हैं। इसके कारण दलीय व्यवस्था के तुलनात्मक अध्ययन से किसी देश की राजनीतिक व्यवस्था समझ में आती है। कई विद्वानों ने दलीय व्यवस्था का अपना वर्गीकरण प्रस्तुत किया है। इनमें कुछ वर्गीकरण में बहुत समानता होती है। कुछ का उल्लेख निम्नलिखित हैं—

आलमण्ड का वर्गीकरण निम्नलिखित प्रतिमान का अनुसरण करता है—

1. सत्तावादी दल—इसके एक उप-श्रेणियों को सर्वाधिकारी दल या तानाशाह कहते हैं।
2. प्रबल गैर सत्तावादी (प्रजातांत्रिक) दल।
3. प्रतिस्पर्धात्मक द्वि-दल
4. प्रतिस्पर्धात्मक बहु-दल

जेम्स जुप ने उपर्युक्त वर्गीकरण सामान्यता स्वीकार किया किन्तु इसमें संशोधन करके अपना कथन दिया:

1. अस्पष्ट द्विदलीय प्रणाली
2. स्पष्ट द्विदलीय प्रणाली
3. बहु-दलीय प्रणाली
4. प्रबल (एकल दल) दलीय प्रणाली
5. व्यापक एकल दलीय प्रणाली
6. संकीर्ण एकल दलीय प्रणाली
7. सर्वाधिकारवादी प्रणाली

हिचनेर और लेवीन के अनुसार आधुनिक दल व्यवस्था का वर्गीकरण, इस प्रकार है:

1. प्रतिस्पर्धात्मक दो-दलीय प्रणाली
2. प्रतिस्पर्धात्मक बहु-दलीय प्रणाली
3. प्रबल गैर-सत्तावादी प्रणाली
4. सत्तावादी – दलीय प्रणालीय तथा
5. बिना दलीय व्यवस्था के राज्य

डुवरजर ने मोटे तौर पर दलीय प्रणाली को दो भागों में बाँटा। वे हैं (i) बहुलवादी दल प्रणाली (ii) एक दलीय प्रणाली और प्रमुख दलीय प्रणाली। प्रथम श्रेणी में, डुवरजर ने जिसे सम्मिलित किया वे

1. बहु दलीय प्रणाली
2. द्वि-दलीय प्रणाली

दूसरी श्रेणी में डुवरजर ने (i) एकल दलीय प्रणाली (ii) प्रमुख दलीय प्रणाली को सम्मिलित किया।

इन चारों को तथा कुछ अन्य वर्गीकरण को मष्तिष्क में रखते हुए, व्यापक रूप से सभी दलों को इसप्रकार विभाजित किया गया— (i) द्वि-दलीय प्रणाली (ii) बहु-दलीय प्रणाली (iii) एकल दलीय प्रणाली।

23.4.1 द्वि-दलीय प्रणाली

आधुनिक प्रजातंत्र में दो या अधिक प्रतिस्पर्धात्मक दल होते हैं इनमें से कोई भी, एक दूसरे की तुलना में स्थायी रूप से स्थिर या सशक्त नहीं होते हैं। यदि, कोई दल लंबी अवधि तक सत्ता में रहता है और दूसरे, विरोधी दल की स्थिति में बने रहते हैं तब वह प्रबल दलीय व्यवस्था है। वहाँ द्वि-दलों की प्रतिस्पर्धात्मकता समाप्त हो जाती है। ब्रिटेन एवं अमेरिका के नेता और विद्वान ने द्विदलीयता को सर्वोत्तम प्रणाली उद्घोषित किया है। किन्तु यह अधिक लोकप्रिय नहीं हो पाया। द्वि-दलीय पद्धति में दो दलों के बीच लोकप्रिय मत की बहससंख्यकता को प्राप्त करने तथा विधायिका में स्थान के लिए निरंतर प्रतिस्पर्धा होती रहती है। दोनों दल या तो राजकोष पर अपना वर्चस्व रखते हैं या विरोध दल में बैठते हैं, हालाँकि यह सर्वथा एकांतर नहीं होता। इसके अलावा द्वि-दलीय पद्धति में एक या उससे अधिक छोटे दल भी होते हैं। किन्तु छोटे दल सत्ता में नहीं आ पाते और न ही चुनावों के परिणामों को प्रभावित कर पाते। हालाँकि कभी-कभी छोटे दल, मुख्य दलों के साथ संलग्न हो सकते हैं। और कभी तीसरा उभरता दल भी मुख्य दल के साथ प्रतिभागी हो सकता है, जो ब्रिटेन में 1970 में उदारवादी प्रजातांत्रिक दल द्वारा किया गया था।

जैसा कि ऊपर कहा गया है जेम्स जुप ने अस्पष्ट दो-दल व्यवस्था की बात की है। इसका सबसे महत्वपूर्ण उदाहरण है, संयुक्त राज्य अमेरिका। अमेरिका के मुख्य दलों में, जैसे रिपब्लिकन पार्टी तथा डेमोक्रेटिक पार्टी के बीच नीतियों का बृहद विभेद नहीं है। दोनों दलों का कांग्रेस पर ढीला अनुशासन है। स्थानीय स्तर पर, यह और भी अधिक बुरी स्थिति में है। वहाँ कोई भी अनुशासन नहीं है। सामान्यतः कांग्रेस के दोनों सदनों में सदस्य अपनी अभिरुचि के अनुसार मत देते हैं या शायद ही विधेयक या अन्य मुद्दों पर, दल के निर्देशों को प्राप्त कर आज्ञा का पालन करते हैं। परिणामस्वरूप, यदि कोई भिन्नता है, तो दो दलों में यह अस्पष्ट है। दोनों दलों के कई सदस्य, शायद अपना मत प्रतिकूल देते हैं या उसके अनुकूल। जैसा कि डुवरजर ने लिखा है अत्येक मुद्दों के लिए भिन्न बहुमत और भिन्न विरोधी होते हैं। यह दल की रूपरेखा का अनुसरण नहीं करता।¹⁵ उनका यह मानना है कि अमेरिका की ढीली-ढाली द्वि-दलीय प्रणाली, ब्रिटेन की द्वि-दलीय अवस्था के उतने नजदीक नहीं है जितना कि बहु-दलीय व्यवस्था से है। उसका राष्ट्रीय संगठन लचीला है और केन्द्रीय नियंत्रण भी न्यूनतम है। अमेरिका में दोनों दलों में सशक्त नेतृत्व-पक्ष का आधार है, किन्तु सिर्फ राष्ट्रपति चुनाव के मुद्दे पर। हिचनर और लेवीन ने यहाँ तक कहा है कि वास्तव में वे राज्य दलों के ढीले संगठन हैं जो कुछ स्तर तक राष्ट्रपति चुनाव के लिए संयुक्त होते हैं। चुनावी प्रसार, सामान्यतः राज्य की इकाईयों का कार्य है। ऐसे कई अवसर होते हैं जब कांग्रेस के दोनों सदनों (या कभी एक ही सदन) में बहुमत उस दल का होता है जिसके सदस्य राष्ट्रपति होते हैं। दोनों दलों में ऐसे दल सदस्य होते हैं जो कभी दल नेतृत्व के विरोध में अभियान चलाने में गर्व का अनुभव करते हैं। दल के सदस्य, जो आजीवन अपने दल से प्रतिबद्ध होते हैं, वे हालाँकि दल के सभी कार्यक्रमों से सहमत या प्रतिबद्ध नहीं रहते। अमेरिकी महाद्वीप के अन्य देशों में जैसे कनाडा, कोलंबिया, ब्राजील वहाँ भी अमेरिका की भाँति, ढीली द्वि-दलीय व्यवस्था है।

दूसरी तरफ, स्पष्ट द्वि-दलीय प्रणाली में दो दल होते हैं, जिसकी सुपरिभाषित नीतियाँ और कार्यक्रम तथा स्पष्ट संगठन होते हैं। दोनों दलों के सदस्य, दल अनुशासन के तहत कार्य करते हैं और नेतृत्व की आज्ञा का पालन करते हैं। इस द्वि-दलीय प्रणाली का सर्वोत्तम उदाहरण है ग्रेट ब्रिटेन। दोनों का सुनिश्चित संगठन है, और वे दल अनुशासन के तहत रहते हैं और संसद के सदस्य अपने नेतृत्व की आज्ञा नहीं करते। हालाँकि, कभी-कभी कुछ सदस्य अपने विरोध को प्रकट कर सकते हैं जैसा कि 1990 में हुआ था जब कंजरवेटिव पार्टी के संसद सदस्यों ने प्रधानमंत्री, मार्गरेट थेचर की यूरोप की नीति के लिए आलोचना की थी। 2003 के एक गंभीर प्रतिरोध से लगभग 120 से अधिक, हाऊस ऑफ कॉमन्स के लेबर पार्टी के सदस्यों ने प्रधान मंत्री, टोनी ब्लेयर के विरुद्ध मत दिया जब उन्होंने ईराक के विरुद्ध अमेरिका को समर्थन देने का निश्चय किया। किन्तु ब्लेयर द्वारा इतनी भारी संख्या में अपने दल सदस्यों के प्रति कोई कार्यवाही नहीं ली गई। किन्तु यह अपवाद है। सामान्यतः दल का हवीप माना जाता है। यदि कोई सदस्य इसे नहीं मानता तब उसे दल से निष्कासित कर दिया जाता और भविष्य भी खत्म होता है। यह माना जाता है कि पारंपरिक या कंजरवेटिव पार्टी अभिजात वर्ग का प्रतिनिधित्व करता है। इन भिन्नताओं के बावजूद, दोनों दल व्यावहारिक और उदार हैं। ब्रिटेन में अब लगभग आधे दर्जन छोटे दल हैं, किन्तु वे महत्वपूर्ण भूमिका नहीं निभाते। लिबरल डेमोक्रेट्स (50 से अधिक सदस्यों के साथ) के अलावा, स्कॉटिश नेशनल पार्टी, यूनाइटेड अल्स्टर यूनियन और प्लेड सिमरु भी हैं। छोटे दल अस्थिरता लाने में सक्षम होते हैं, यदि उन्हें पर्याप्त समर्थन प्राप्त हो। 2001 के संसदीय चुनाव में, जबकि लिबरल डेमोक्रेट्स 52 सीटें लाने में सफल हुए, कोई भी छोटा दल 6 सीटों से ज्यादा नहीं जीत पाया।

कनाडा, ऑस्ट्रेलिया तथा न्यूजीलैंड में भी द्वि-दलीय प्रणाली है। ऑस्ट्रेलिया तथा न्यूजीलैंड के हित-आधारित लेबर पार्टी में, संकीर्णता नहीं होती। वे भी व्यावहारिक और उदार दल होते हैं। द्वितीय विश्व युद्ध के बाद कई दल पश्चिमी जर्मनी में उभर कर आए, अब दो मुख्य दल मिलकर जर्मन दलीय पद्धति का निर्माण करते हैं। वे हैं, क्रिश्चियन डेमोक्रेटिक यूनियन तथा सोसियल डेमोक्रेटिक पार्टी। किन्तु और भी कई छोटे दल हैं, जिसमें ग्रीन्स सम्मिलित है और जो ज्यादातर मुख्य दलों के साथ सम्बद्ध रहता है। कुछ अन्य देशों ने जैसे फिलीपीन्स ने भी द्वि-दलीय प्रणाली अपनाई है। द्वि-दलीय पद्धति प्रजातंत्र की सफलता की गारंटी देता है। शक्ति, एक दल से दूसरे में हस्तांतरित होती रहती है, फिर भी स्थिरता बनी रहती है। एक दल उत्तरदायी प्रकार से शासन करता है और दूसरा सकारात्मक विरोधी का। बहुदलीय पद्धति जैसी न तो अस्थिरता होती है और न ही एकल दलीय जैसी सत्तावादिता।

23.4.2 बहु-दलीय प्रणाली

कई ऐसे राष्ट्र हैं जिन्होंने अनेक दलों की प्रणाली को अपनाया है। तकनीकी तौर पर, तीन या उससे अधिक, बड़े दल होने से, बहु-दलीय व्यवस्था कहलाता है यूरोप, फ्रांस, इटली तथा स्विटजरलैंड ऐसे कुछ उदाहरण हैं जहाँ यह व्यवस्था है। भारत में 40 से अधिक राजनीतिक दल हैं छोटी एवं बड़ी जो लोक-सभा में प्रतिनिधित्व करती हैं। बहु-दलीय प्रणाली में, चार या अधिक दल मिलकर कभी भी गठबंधन सरकार बना सकती हैं। ऐसी सरकार, शासन के लिए सामान्य न्यूनतम कार्यक्रम को अपनाती है, क्योंकि किसी एक सिद्धांत के प्रति उनकी प्रतिबद्धता नहीं होती। गठबंधन सरकार बहुत देर तक कायम नहीं रहती किन्तु कुछ अपवाद हो सकते हैं। आम चुनाव में मतदाताओं के पास व्यापक चयन होता है। इनमें से कई छोटे दल क्षेत्रीय या साम्प्रदायिक हितों से प्रतिबद्ध होते हैं। जीतने वाले उम्मीदवार को संपूर्ण मतों में से आधा भी प्राप्त करना आवश्यक नहीं है। बहु उम्मीदवार चुनावों में जिस उम्मीदवार को सबसे अधिक मत प्राप्त होता है वह विजय घोषित होता है, चाहे यह कुल मतों का कितना भी प्रतिशत हो।

तीसरे और चौथे गणतंत्र में, बहु-दलीय प्रणाली के कारण, फ्रांस अपने कैबिनेट की अस्थिरता के लिए लोकप्रिय था। चौथे गणतंत्र के 12 वर्ष की अवधि में (1946-58) फ्रांस में 24 कैबिनेट का गठन हुआ, और जो सबसे कम समय का था वह एक दिन के लिए था। इसी कारण से 1958 के नए संविधान में ऐसी शासन व्यवस्था लाई गई जिसमें राष्ट्रपति के बाद सबसे अधिक शक्ति थी और कैबिनेट की संरचना ऐसी थी कि बहु-दलीय व्यवस्था में भी स्थिरता सुनिश्चित हो सकती थी। हालाँकि इटली, निरंतर सरकार परिवर्तन के लिए जाना जाता है क्योंकि वहाँ बहुसंख्या में दल हैं। स्विटजरलैंड भी बहु-दलीय प्रणाली की विशिष्टता रखता है किन्तु वहाँ सरकार स्थिर है। स्विट्स के दलों का गठन कैंटॉन के हितों की रक्षा के लिए हुआ है। संघीय परिषद जो राष्ट्रीय कार्यकारिणी है, उसका निर्वाचन विधायिका द्वारा होता है, अर्थात् संघीय सभा और इसमें चार वर्षों की निश्चित अवधि होती है। इसमें चार या पाँच दलों का प्रतिनिधित्व रहता है। संघीय परिषद के सदस्य एक बार निर्वाचित होने के बाद चार वर्षों तक कार्यालय में रहते हैं, बिना इस शर्त के कि विधायिका में दल की स्थिति में कोई परिवर्तन हो या न हो। इटली की बहु-दलीय व्यवस्था, साम्यवादी समर्थक और साम्यवादी-विरोधी गुटों में विभाजित है। हालाँकि, वामपंथी दल भी उदारवादी लोकतांत्रिक राजनीतिक प्रक्रिया में सहभागी होते हैं। इसके अलावा ईसाई प्रजातांत्रिक दल और कई छोटे समाजवादी समूह, भारतीय दल व्यवस्था के भाग बनते हैं। तुर्की दलीय व्यवस्था में छह मुख्य दल हैं। यह भी बहु-दलीय व्यवस्था का एक उदाहरण है। भारत में बड़ी संख्या में दलों के होने की विशिष्टता

प्राप्त है और अब यह स्थिति है कि किसी एक दल को अपना बहुमत होना असंभव लगता है। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद लगभग 40 वर्षों तक (1977-79 के अपवाद को छोड़कर) कांग्रेस दल ने भारतीय राजनीति पर अपना वर्चस्व रखा। स्वतंत्रता उपरांत भी कई दल थे किन्तु कांग्रेस ही, केन्द्र और ज्यादातर राज्यों में सत्ता में थी। 1990 के प्रारंभ से स्थिति में परिवर्तन आया। कई दलों ने 1996 तथा 1997 में संयुक्त फ्रंट की सरकार बनाया, जिसमें कांग्रेस और सी.पी.आई. (एम) का समर्थन बाहर से था। 1998 में और पुनः 1999 के चुनाव में त्रिशंकु लोकसभा थी और भाजपा के नेतृत्व में कई दलों ने गठबंधन सरकार बनाया। 24 दलों की राष्ट्रीय जनतांत्रिक गठबंधन सरकार बनी जिसका नेतृत्व अटल बिहारी वाजपेयी ने 5 वर्षों तक स्थिरता कायम रखते हुए किया, जो कि इतने दलों के साथ वाली गठबंधन सरकार के लिए असाधारण बात थी। राष्ट्रीय लोकतांत्रिक गठबंधन में विभिन्न रंग और वर्ण के दल सम्मिलित थे।

बहुदलीय प्रणाली स्थिरता प्रदान नहीं कर सकती है जो कि द्वि-दलीय प्रणाली कर सकती है, फिर भी अनेक दलों-की प्रतियोगी प्रकृति के कारण, लोकतांत्रिक सरकार यदा-कदा समस्याओं के साथ कुशल कार्यवाही प्रदान करती।

23.4.3 एक दलीय प्रणाली

एक दलीय प्रणाली का अर्थ है, राष्ट्र में एक ही दल का उपस्थित होना। जिन देशों के कुछ सिद्धांत होते हैं, जैसे मार्क्सवाद या फासीवाद वहाँ सामान्यतः किसी विरोधी दल को रहने की अनुमति नहीं रहती। एकल दल राज्यों में इसलिए कोई विरोधी दल नहीं होता। शासित दलों को छोड़कर शेष दलों को या तो संवैधानिक अनुमति नहीं मिलती या शासकों द्वारा उसे कुचल दिया जाता। इस प्रणाली की शुरुआत रूस में बोलशेविक क्रांति के पश्चात् साम्यवादी दल के शासन की स्थापना के साथ हुई हालाँकि आलोचकों ने इस व्यवस्था की भर्त्सना की कि यह साम्यवादी दल का सत्तावादी शासन है, रूस ने इसे श्रमिक वर्ग का शासन ठहराया तुर्क में मुस्ताफा कमाल पाशा के एकल दल शासन ने लोकतांत्रिक होने का दावा किया, जबकि इटली का फासीवाद दल (1922-43) तथा जर्मनी में हिटलर नाजी का शासन (1933-45) विशिष्ट उदाहरण था जिसमें एक व्यक्ति दल का नेतृत्व करता है। अन्य सभी दल को प्रतिबंधित और कुचल दिया जाता है उनके नेताओं को जेल भेज दिया जाता है या फाँसी लगा दी जाती। द्वितीय विश्व युद्ध के पश्चात् कई राष्ट्रों ने एकदलीय प्रणाली को अपनाया। पूर्वी यूरोपीय देश जैसे पोलैंड, रोमानिया, बल्गेरिया तथा हंगरी, साम्यवादी दल के शासन के अंतर्गत आ गए। चीन में साम्यवादी दल को पूर्ण सत्ता प्राप्त हुई, 1949 के अक्टूबर क्रांति की सफलता के पश्चात् बाद में एक दलीय साम्यवादी शासन की स्थापना उत्तरी-कोरिया में हुई। इस उदाहरण का बाद में वियतनाम और क्यूबा ने अनुसरण किया। किन्तु, कुछ राष्ट्रों ने गैर-साम्यवादी एक-दलीय शासन पद्धति की शुरुआत की। ऐसा अफ्रीका में तंजानिया, चॉड, आईवरी कोस्ट, नाइजर और लिबेरिया में हुआ। कई पश्चिमी लेखकों ने एक दलीय शासन की कोई पद्धति की नहीं माना है क्योंकि दलीय पद्धति में तब तक नहीं स्थापित हो सकती जब तक उसमें कम से कम दो प्रतिस्पर्धात्मक दल न हों।

सर्वप्रथम, एकदलीय प्रणाली शब्दावली का प्रयोग 1930 के पश्चात् कुछ फासीवादी लेखकों द्वारा हुआ। उनमें से कुछ प्रमुख थे, मेनोलेस्को और मारसल डीट। उन्होंने फासीवादीधनाजी तथा साम्यवादी शासन में समानता ढूँढने की चेष्टा की। हालाँकि साम्यवादी लेखकों ने ऐसी समानता का विरोध किया। पश्चिमी लेखकों ने सभी एक दलीय प्रणाली को एक ही श्रेणी में रखा, अप्रजातांत्रिक शासन-प्रणाली। जेम्स जुप ने तीन प्रकार के एक-दलीय प्रणाली का वर्णन किया। वे हैं—उदारवादी एकल दल व्यवस्था, संकीर्ण एक-दलीय प्रणाली तथा सत्तावादी या तानाशाह एक दलीय व्यवस्था। उदारवादी एक दल में पार्टी के अंतर्गत आंतरिक लोकतंत्र है, नेतृत्व अपनी आलोचना को सुनने के लिए तैयार रहता है तथा स्थानीय सरकार कुछ स्तर तक स्वायत्त रहता है। इस प्रकार, इसे प्रजातांत्रिक एक-दलीय प्रणाली कहते हैं। कठोर या संकीर्ण एक दलीय व्यवस्था में, दल, नेता के संपूर्ण नियंत्रण में रहता है और इसमें कोई आंतरिक लोकतंत्र नहीं रहता। दल के इकाइयों के लिए भी चुनाव की अनुमति नहीं रहती। जो शासन व्यवस्था, सेना आक्रमण के परिणामस्वरूप गठित हुआ है, वे भी कठोर एक दलीय राज्य हैं। वास्तव में, उदारवादी और कठोर एक दलीय व्यवस्था में विभिन्नता अधिक औपचारिक और कम वास्तविक है। आंतरिक प्रजातंत्र का प्रसार, दल नेतृत्व पर निर्भर करता है। एक दलीय शासन का तीसरा स्वरूप सत्तावादी है। जर्मनी में हिटलर, इटली में मुसोलिनी तथा सोवियत संघ में स्टालिन — सभी की शासन व्यवस्था को तानाशाह कहा जा सकता है। ईराक में सद्दाम हुसैन की बाथ पार्टी प्रणाली भी तानाशाह है जहाँ लोगों को कोई अधिकार या स्वतंत्रता नहीं है सिवाय उस तानाशाह को समर्थन देना या उनका गुण-गान करना। कई विकासशील देश जिन्होंने एक-दलीय प्रणाली को अपनाया, उपनिवेशन मुक्ति के उपरांत धीरे-धीरे इसे अस्वीकार कर बहु-दलीय प्रजातंत्र को अपनाया।

मॉरिस डुवरजर के अनुसार, एक दलीय शासन के विभिन्न स्वरूप हो सकते हैं। द्वितीय विश्व युद्ध के पहले, फासीवाद और साम्यवाद दलों में सशक्त अनुशासन था और तुर्की का एकमात्र दल, गणतंत्रीय दल, पारंपरिक दलों के निकट था। पुर्तगाल के सलाजर फासीवादी ने 19वीं शताब्दी के उदारवादियों का अनुसरण किया यह मुसोलिनी की फासीवाद पार्टी से भिन्न था क्योंकि इसमें सैन्य प्रशिक्षित युवक समूह की कमी थी, दूसरे वे किसी विशिष्ट सिद्धांत द्वारा निर्देशित होते हैं

जो सामान्यतः क्रांतिकारी तरीकों का समर्थन करते और यहाँ तक कि अत्याचार को प्रोत्साहित करते। फिर भी साम्यवादी एवं फासीवादी दलों में बृहद् भिन्नता है। जबकि पहले वाला श्रमिक आंदोलनों में आधारित है और निजी संपत्ति को हटाना चाहता है, दूसरे का आधार धनिक वर्ग और उद्योगपति है। तीसरे एक—दलीय पद्धति में भिन्नता आर्थिक नीतियों एवं विकास के स्तर पर आधारित है। यह पिछड़े समाज में उभर सकता है जैसे कि पूर्ववर्ती रूस या तंजानिया में। यह विकसित एवं प्रजातांत्रिक राष्ट्रों में भी उभर सकता है जैसे कि पूर्वी युरोप में द्वितीय विश्व युद्ध के उपरांत। इसके अलावा, एक दलीय पद्धति की भूमिका भी विभिन्न होती है। साम्यवादी पार्टी राज्य का अभिन्न मूल अंग हो सकता है जो पूर्ववर्ती सोवियत संघ या आज चीन में है। पार्टी और राज्य के बीच भिन्नता अस्पष्ट है। दूसरी तरफ फासीवाद पार्टी का प्रयोग, शासन की प्रक्रिया के रूप में होता है यह राज्य संरचना का अंग नहीं बन पाता। फासीवादी पुलिस राज्य को बढ़ावा देते हैं और साम्यवादी का उद्देश्य है राज्य को खत्म कर देना। हालाँकि यह कभी संभव नहीं हो सकता।

23.5 दलीय प्रणाली की भूमिका और मूल्यांकन

समकालीन राजनीतिक प्रक्रिया के कार्यान्वयन के लिए राजनीतिक दल महत्वपूर्ण हैं। जैसा कि ऊपर बताया गया है, दलीय प्रणाली की भाँति, दल भी विभिन्न प्रकार के होते हैं। दल की भूमिका इसपर निर्भर करता है कि राज्य व्यवस्था किस प्रकार का है जिसमें वह कार्य कर रहा है। आधुनिक लोकतंत्र में दलीय शासन होता है। जयप्रकाश नारायण जैसे व्यक्ति का यह सुझाव था कि दलहीन लोकतंत्र में शांति और स्थायित्व है। उनके दृष्टिकोण में दल के कारण संघर्ष होता है। हालाँकि इन विचारों में कुछ अच्छाई हो सकती है, किन्तु आज के वातावरण में यह कुछ अधिक आदर्शात्मक और काल्पनिक है।

संसदीय प्रजातंत्र में राजनीतिक दल की भूमिका अध्यक्षात्मक प्रणाली से भिन्न है। पहले में, प्रतिस्पर्धात्मक दल, लोक-मत का निर्माण करते हैं, उम्मीदवार का चयन तथा चुनाव के माध्यम से संसद में अधिकतम सीट प्राप्त करते हैं, ताकि वे सरकार बनाने की स्थिति में हो सके। जो दल बहुमत प्राप्त करने में सफल नहीं होते वे विरोध दल में बैठकर सकारात्मक आलोचना करते हैं। संसदीय लोकतंत्र के कुशल कार्यान्वयन के लिए द्वि-दलीय प्रणाली को सर्वोत्तम मानती है। किन्तु कई लोकतंत्र में, जैसे भारत, कई प्रतिस्पर्धात्मक दल, निर्वाचक-गणों को विभिन्न विकल्प प्रदान करती है। सामान्यतः बहु-दलीय प्रणाली में, कोई भी एक दल बहुमत प्राप्त नहीं करता किन्तु कई दल गठबंधन में प्रवेश कर सरकार बनाते हैं यह दूसरे विरोधी दल की श्रेणी में होते हैं। एक दलीय प्रणाली, सामान्यतः सर्वाधिकारवादी राज्यों में पाया जाता है। इसमें सिर्फ एक ही दल होता है जो राज्य के साथ एकात्मक हो पाता है। विरोधी दल की कमी होती है जिसके कारण शासक सत्ताधारी हो जाता है। प्रजातंत्र की अध्यक्षात्मक व्यवस्था में, दलों की प्रासंगिकता सिर्फ राष्ट्रपति के चुनाव के समय होती है। सरकार के गठन में उनकी कोई भूमिका नहीं होती। अमेरिका में, प्रत्यक्ष रूप से निर्वाचित राष्ट्रपति न तो कांग्रेस के प्रति उत्तरदायी और न ही उसके द्वारा हटाया जा सकता है। कांग्रेस के सदस्य अपना मत स्वतंत्र रूप से देते हैं, विधायिका के भाग्य को प्रभावित किए बिना। फ्रांस और श्रीलंका ने संसदीय प्रणाली को सशक्त विधायिका राष्ट्रपति से मिला दिया है। इसके कारण इन देशों में दल की भूमिका सीमित हो गई है।

23.5.1 दलीय प्रणाली का मूल्यांकन

द्वि-दलीय प्रणाली के बहुत से गुण हैं। यह शासन में स्थिरता को सुनिश्चित करता है। प्रधानमंत्री के लिए अपेक्षाकृत मंत्रिमण्डल का निर्माण सरल होता है। जैसे ही कोई व्यक्ति बहुमतदल का नेता चुन लिया जाता है, वह अपने मंत्रिगण का चयन कर उन्हें विभाग सौंपता है। अनशासित द्वि-दलीय प्रणाली में प्रधानमंत्री का कार्य सरल रहता है, जब तक कि नेता कमजोर नहीं होता या दल में साम्प्रदायिकता नहीं रहती। ऐसे मामलों में, प्रधानमंत्री को विभिन्न साम्प्रदायिक नेताओं को शांत करना होता है। दूसरे, सरकार में परिवर्तन लाने के लिए अत्याचार या क्रांति का कोई स्थान नहीं होता। अगले चुनाव में लोग अपना जनमत खींच कर हटा सकते हैं। अध्यक्षात्मक प्रणाली में भी, राष्ट्रपति का चयन लोगों द्वारा होता है, बिना अत्याचारी साधनों का प्रयोग किए हुए। द्वि-दलीय प्रणाली में मतदाताओं का कार्य आसान हो जाता है। क्योंकि चयन करने के लिए मात्र दो ही विकल्प रहते हैं। चूँकि विरोधी सशक्त रहता है, उसकी आवाज को शासन करने वाला दल ध्यानपूर्वक सुनता है, और उनके विचार को गंभीरतापूर्वक विचार जाता है। शासन करने वाला दल सतर्क रहता है और विरोधी को यह संवर्था लगता है कि अगले चुनाव में उसे ही बुलाया जाएगा। इसलिए, वे कार्य होने वाले सुझाव देते रहते हैं।

द्वि-दलीय प्रणाली के आलोचकों का अपना मत है। उनका कहना है कि इस व्यवस्था में मतदाताओं के पास सिर्फ दो ही विकल्प होते हैं। कई मतदाताओं के विचार ये दोनों दल नहीं प्रस्तुत कर पाते। उन्हें यह अवसर नहीं मिलता कि विधायिका में उनका वास्तविक प्रतिनिधित्व हो सके। दूसरे, बहुमत दल, अपने पूर्ण बहुमत के आधार पर किसी भी विधि-निर्माण को विधायिका द्वारा स्वीकृत करा सकता है। विरोधी को अपने विचार प्रकट करने का अवसर नहीं मिलता किन्तु, वास्तव में संसद की शक्तियाँ सीमित हो जाती है। तीसरे, विधायिका के सदस्य, दल के चेतक (हवीप) को सिर्फ पूरा करते हैं और उनके प्रयास को भी अधिकतर नियंत्रित किया जाता है।

बहु-दलीय प्रणाली अधिक लोकतांत्रिक है क्योंकि यह लोगों के लिए व्यापक चयन उपलब्ध कराता है। विभिन्न भागों से लोग अपनी आवाज अपने प्रतिनिधियों के माध्यम से पहुँचाते हैं जो आनुपातिक प्रतिनिधित्व को सुनिश्चित करते भी हैं और नहीं भी। अधिकतर मामलों में, गठबंधन सरकार का निर्माण होता है जो विभिन्न दलों की नीतियों के समझौते के आधार पर होता है। परिणाम स्वरूप, सिद्धांत पीछे छूट जाता है। गुण पक्ष में, यह देखा जाता है कि यह अधिक लोकतांत्रिक है और कोई भी दल निरंकुश या सत्तावादी नहीं हो सकता। दूसरे, विधायिका के प्रति सम्मान बढ़ता है क्योंकि इसमें सदन के भीतर कई वाद-विवाद के बाद ही कोई निर्णय लिया जाता है। ये दल के किसी गुट से नहीं आते या विधायिक द्वारा औपचारिक सहमति प्राप्त करते। यह व्यवस्था, सभी अल्पसंख्यकों को प्रतिनिधित्व देना सुनिश्चित करता है और उनके हितों की भी रक्षा करता है। हालाँकि, नकारात्मक पक्ष में, बहु-दलीय प्रणाली से अनुशासन में कमी आती है और गठबंधन सरकार का लगातार निर्माण और गिरावट होता रहता है। विधायिका को समझौता करना पड़ता है और सरकार भी अनिर्णय से पीड़ित रहती है। अस्थिरता एवं अनुशासन में कमी, बहु-दलीय प्रणाली के मुख्य दोष हैं। आपातकालीन समय के लिए यह प्रणाली अनुचित है, जहाँ शीघ्रता में निर्णय की आवश्यकता होती है, क्योंकि इसमें कई दल, विचारधाराएं एवं नेता अंतर्निहित होते हैं।

एकदलीय प्रणाली के आलोचक इसे सर्वाधिकारवादी मानते हैं जिसमें लोगों की इच्छा को दबाया जाता है। दूसरी तरफ, इसके समर्थक, इसे राष्ट्रीय हित का संरक्षक मानते हैं, क्योंकि इसमें जल्द निर्णय लिया जाता, समय नहीं बरबाद किया जाता तथा अनावश्यक व्यय भी नहीं होता। मार्क्सवादी दल को वर्ग के हित के प्रतिनिधि के रूप में देखता है और यदि कई दल हैं, तब इससे वर्ग संघर्ष होता है जिसमें राष्ट्रीय हित का त्याग किया जाता है। मार्क्सवादी के अनुसार, एक दल श्रमिक वर्ग का प्रतिनिधित्व करता है और शोषण के विरुद्ध सुरक्षा प्रदान करता है। फासीवादी अपने दल को शासन का उपकरण समझते हैं जो अपने नेता की सहायता करता है ताकि राष्ट्र का गौरव बढ़े। इन गुणों के बावजूद एक दलीय व्यवस्था की आलोचना इसलिए होती है क्योंकि यह लोगों को अपनी स्वतंत्र इच्छा प्रकट करने का अवसर नहीं प्रदान करता। लोगों को, दल एवं उनके नेताओं की आज्ञा का अंधाधुंध पालन करना होगा। यह व्यवस्था न सिर्फ अप्रजातांत्रिक है, बल्कि लोगों के पहल को भी नष्ट करता है। पश्चिमी लेखक, जैसे फाईनर, का यह मानना है कि सत्तावादी एकल दल को दल ही नहीं मानना चाहिए, क्योंकि यह प्रणाली का भाग न बनकर पूर्ण निरंकुश और सत्तावादी राजनीतिक समूह है। ऐसे दल सभी शक्तियों को प्राप्त कर लेते हैं और जनसाधारण के नेतृत्व के गुणों को समाप्त कर देते हैं।

भिन्न-भिन्न पार्टी प्रणालियों की अच्छी और बुरी बातों का निष्पक्ष विश्लेषण हमें इस निष्कर्ष पर ले जाता है कि सुसंगठित, अच्छा अनुशासित द्विदलीय प्रणाली से अच्छी प्रणाली कोई नहीं हो सकती है। यह लोकतांत्रिक है और सरकार की स्थिरता सुनिश्चित करती है।

23.6 सारांश

आधुनिक प्रजातांत्रिक राज्यों के कार्यकलापों के लिए राजनीतिक दल आवश्यक है। प्रोफेसर लास्की का कहना सही है कि दल सरकार का एक ही विकल्प है, तानाशाही। इस इकाई में राजनीतिक दल को परिभाषित करने की चेष्टा की गई और उनकी प्रकृति और प्रासंगिकता का परीक्षण। एडमण्ड बर्क के अनुसार— दल, लोगों का ऐसा अंग है जो संयुक्त होकर, किसी विशेष सिद्धांत जिसपर सभी की सहमति होती है पर आधारित राष्ट्रीय हित को बढ़ावा देते हैं। वास्तव में, दल दुतरफा संचार है— निर्वाचक—गण तथा उनके प्रतिनिधि।

विभिन्न प्रकार के राजनीतिक दल होते हैं। इसमें सम्मिलित हैं, अभिजात वर्ग दल, जो अपने दरवाजों को किसी के लिए या सभी के लिए नहीं खुला रखती हैं वे अपनी सदस्यता में चुनिंदा होते हैं और अभिजात समूह द्वारा निर्देशित होते हैं। जनता दल का दूसरी तरफ जनसाधारण में समर्थन रहता है। इनमें से कई क्षेत्रीय—आधारित होते हैं और ज्यादातर, मार्क्सवाद—लेनिनवाद या फासीवाद नाजी कार्यक्रम, जैसे कठोर सिद्धांतों से प्रतिबद्ध हैं। जनता दलों में सशक्त नेता होते हैं जो उन्हें नेतृत्व प्रदान करते हैं कुछ मध्यवर्ती दल भी होते हैं जो वैसे समूह से उभर कर आए हैं जो आरंभ में समुदाय के कुछ भाग के लिए हित समूह के रूप में हैं।

दलों का सामान्य अध्ययन, किसी प्रणाली के संघटक के रूप में किया जाता है। वैसी तीन प्रकार की प्रणालियाँ हैं—द्वि-दलीय, बहु-दलीय, एक दलीय। ब्रिटेन और अमरिका में द्वि-दलीय प्रणाली है। हालाँकि, दो दलों के अलावा, कुछ छोटे दल भी होते हैं किन्तु उनसे सरकार की स्थिरता पर कोई खतरा नहीं होता। फिर भी ब्रिटेन और अमरिका में, शासन की व्यवस्था के आधार पर, दलों की भूमिका में, भिन्नता है। ब्रिटिश संसदीय व्यवस्था में, जिस दल को विधायिका में बहुमत प्राप्त होता है, वह किसी भी अधिनियम को पास करवा सकता है और सरकारी स्थिरता भी प्रदान करता है। अमरिकी अध्यक्षतात्मक व्यवस्था में, दल की भूमिका, राष्ट्रपति तथा कांग्रेस के निर्वाचन तक ही सीमित होती है। राष्ट्रपति की अवधि चूँकि विधायिका से स्वतंत्र है, अमरिका में दल कम सशक्त और कम अनुशासित रहते हैं, ब्रिटिश प्रणाली की अपेक्षा।

भारत, फ्रांस, इटली, तुर्क, स्विटजरलैंड और कई अन्य देशों में बहुत दल रहते हैं और इसलिए उन्हें बहु-दलीय प्रणाली कहते हैं। चूँकि मतदाताओं को चुनावों में व्यापक चयन प्राप्त होता है। सरकार सामान्यतः कई दलों के गठबंधन से बनता है, जिसमें सिद्धांत और नीतियों का स्तर कम हो जाता है जिसके कारण गठबंधन सरकार जल्दी-जल्दी परिवर्तित होती है और सरकारी अस्थिरता भी बनी रहती है।

कई देशों में, जैसे चीन में एक-दलीय व्यवस्था है। पहले, सभी साम्यवादी दल कई देशों में शासन करती थी, जैसे पूर्ववर्ती सोवियत संघ, पोलैंड, हंगरी, बल्गेरिया, पूर्वी जर्मनी इत्यादि जहाँ सिर्फ साम्यवादी दल को अनुमति थी। अन्य सभी दलों पर रोक लगा दी गई थी। ऐसी प्रणाली में शासन करने वाला दल राज्य संरचना का मुख्य भाग है दल और सरकार के बीच बहुत कम अंतर होता है। फासीवादी और नाजी शासन में भी एक दलीय प्रणाली थी जो कड़े अनुशासन और नेता के प्रति पूरी आज्ञाकारिता पर आधारित थी। उपनिवेशन मुक्ति के बाद कई अफ्रीकी देश, जैसे तनजानिया ने भी एक दलीय प्रणाली के साथ प्रयोग किया, हालाँकि ये दल साम्यवादी या फासीवादी प्रकार के नहीं थे, जबकि एक दलीय प्रणाली पूर्ण स्थायित्व को प्रदान करती है, यह अपनी सरकार के निर्वाचन में लोगों की स्वतंत्रता अस्वीकार करती है। इसलिए यह अप्रजातांत्रिक प्रणाली है।

23.7 बोध प्रश्न

1. हेरॉल्ड लॉस्की के अनुसार राजनीतिक दल के लिए क्या महत्वपूर्ण है?
2. राजनीतिक दल की परिभाषा दें? राजनीतिक दल की मार्क्सवादी अवधारणा क्या है?
3. यूरोपीय एवं अमेरिकी प्रकार के दल में क्या अंतर है?
4. समाजवादी और साम्यवादी दलों के स्वरूप की विवेचना करें?
5. विकासशील देशों में राजनीतिक दलों पर टिप्पणी लिखें।
6. द्वि-दलीय प्रणाली की विशेषताओं और प्रकार का मूल्यांकन करें।
7. बहु-दलीय व्यवस्था के स्वरूप का विवेचन करें।
8. प्रबल दलीय प्रणाली एवं एकल दलीय प्रणाली में अंतर बताएँ। एक दलीय प्रणाली की विशेषताओं की समीक्षा करें?
9. द्वि एवं बहु-दलीय प्रणालियों का तुलनात्मक मूल्यांकन करें।
10. प्रजातांत्रिक राज्यव्यवस्था में राजनीतिक दलों की भूमिका क्या है।

इकाई 24

हितबद्ध समूह, प्रभावक समूह तथा लॉबिंग

संरचना

- 24.1 प्रस्तावना
- 24.2 हितबद्ध सरकार और प्रभावक सरकार
 - 24.2.1 हितबद्ध सरकार की परिभाषा
 - 24.2.2 प्रभावक सरकार का अर्थ
 - 24.2.3 जन समूह और पारंपरिक समूह
- 24.3 हितबद्ध प्रभावक समूह और राजनीतिक दल
- 24.4 हितबद्ध समूह का वर्गीकरण
 - 24.4.1 आलमाण्ड का वर्गीकरण
 - 24.4.2 जीन ब्लॉनडेल का वर्गीकरण
 - 24.4.3 मॉरिस डुबरजर का वर्गीकरण
- 24.5 हितबद्ध प्रभावक समूह की भूमिका
 - 24.5.1 लॉबिंग
- 24.6 सारांश
- 24.7 बोध प्रश्न

24.1 प्रस्तावना

आपने पिछली इकाई में पढ़ा कि राजनीतिक दल लोगों के संगठित समूह हैं जो राष्ट्र के शासन के लिए लोकप्रिय समर्थन प्राप्त करने का प्रयास करते हैं। कोई भी व्यक्ति एक से अधिक दल का सदस्य नहीं हो सकता है। प्रजातंत्र में दल प्रतिस्पर्धात्मक होते हैं, उन पर शासन का उत्तरदायित्व रहता है। वर्तमान इकाई में हम हितबद्ध समूह, प्रभावक समूह तथा दबाव की राजनीति जिसे सामान्यतरु लॉबिंग कहा जाता है, पर चर्चा करेंगे। एक समूह में, बड़ी या छोटी संख्या के लोगों को सम्मिलित किया जाता है जिनमें सामान्य सामाजिक सांस्कृतिक, व्यापारिक या व्यावसायिक हित सम्मिलित रहता है। किसी भी व्यक्ति पर इसका प्रतिबंध नहीं लगाया जा सकता है कि वह दो या उससे अधिक समूहों का सदस्य हो।

हितबद्ध समूह, राजनीतिक दल नहीं होते हैं क्योंकि वे चुनावी राजनीति में सहयोगी नहीं रहते हैं तथा वे स्वयं से, देश की शासन-व्यवस्था पर, प्रत्यक्ष भूमिका नहीं निभाते हैं। फिर भी, यदि उनके हित में यह आवश्यक है, तब वे किसी एक या दूसरे राजनीतिक दल को अपना समर्थन दे सकते हैं तथा विधि-निर्माण और कार्यकारी निर्णयों को प्रभावित कर सकते हैं, सरकार पर कई प्रकार के दबाव का प्रयोग करते हुए। जब कोई समूह विधायिका के सदस्यों को संसद की गैलरियों में भिन्न-भिन्न तरीकों का प्रयोग कर दबाव डालते हैं, इस प्रक्रिया को हम लॉबिंग कहते हैं। इस शब्दावली का उद्भव, अमरीका में हुआ, जहाँ लॉबिंग एक स्वीकृत प्रक्रिया है, और वहाँ नियमित लॉबीकर्ता हैं जो विधायक एवं अधिकारियों को किसी विशेष समूह के हित के लिए, प्रभावित करने का पारश्रमिक या शुल्क लेते हैं।

राजनीतिक दल हुए बिना अपने नाम पर चुनाव लड़े बिना, सरकारी नौकरी को लिए बिना तथा विधायिका में प्रवेश किए बिना ही, हितबद्ध एवं प्रभावक समूह, समकालीन प्रजातंत्र में निर्णय निर्माण प्रक्रिया में मुख्य भूमिका निभाते हैं। इस इकाई में हम उनकी विभिन्न भूमिका का विश्लेषण करेंगे।

24.2 हितबद्ध समूह और प्रभावक समूह

सामान्य हित सर्वथा लोगों को एक साथ कर देता है। जब वे अपने हितों की रक्षा या विकास के लिए स्वयं को संगठित करते हैं तब उन्हें हितबद्ध समूह कहा जाता है। भारत में सेल फोन के संचालक, विभिन्न देशों में तेल-उत्पादक, संयुक्त राज्य में मोटर-कार के उत्पादक, सभी अपनी संस्थागत स्वरूप में हितबद्ध समूह कहलाते हैं। हमारे भारतवर्ष में भी ऐसा एक बहुत बड़ा समूह है जिसे हम फेडरेशन ऑफ इंडियन चेम्बरर्स ऑफ कॉमर्स एण्ड इन्डस्ट्री कहते हैं। इसमें बड़ी संख्या

के हितबद्ध समूहों के प्रतिनिधि रहते हैं। आज सभी देशों में ऐसे कई समूह होते हैं। कई लोकप्रिय लेखकों ने हितबद्ध-समूह की परिभाषा दी है। कुछ इसे प्रभावक समूह कहते हैं तथा कुछ इन्हें हितबद्ध-समूह कहते हैं। वास्तव में, इन दोनों में स्पष्ट अंतर है, हालाँकि स्पष्ट सीमांकन करना सरल नहीं है।

24.2.1 हितबद्ध समूह का परिभाषा

आलमण्ड और पावल ने हितबद्ध समूह की परिभाषा दी है और हित अभिव्यंजना के व्यापक संदर्भ में उसकी भूमिका का विश्लेषण किया है। प्रत्येक समाज में, नीति-निर्णायकों के समक्ष लोगों की माँगों को प्रस्तुत करने की प्रक्रिया होती है। आलमण्ड और पावल का कहना है कि पंजिस प्रक्रिया से व्यक्ति एवं समूह अपनी माँगों को राजनीतिक निर्णय-कर्ताओं पर रखता है, उसे हित-अभिव्यंजना कहते हैं। ये माँग अस्थायी स्वरूप के हो सकते हैं, जैसे विश्वस्तर का प्रदर्शन जिसमें संयुक्त राज्य को ईराक के विरुद्ध, युद्ध नहीं छेड़ने के लिए कहा जाता है या फिर ऐसी माँगों की व्यंजना हो सकती है जो दूरगामी हितों के लिए हैं, जैसे कर सुविधा के लिए व्यापारिकों की माँग या बेहतर कार्यकारी परिस्थिति के लिए व्यापार-संघों की माँग। जैसा कि आलमण्ड और पावल का कहना है कि हित-अभिव्यंजक असंगठित भीड़ की तरह भिन्न हो सकती है या फिर सुव्यवस्थित क्रमबद्ध संगठन की भाँति भी। यह स्वीकार करते हुए कि उनकी परिभाषा सर्वांगीण नहीं हो सकती है, फिर भी आलमण्ड और पावल का कहना है हितबद्ध-समूह से हमारा अर्थ है ऐसे व्यक्तियों का समूह जो किसी विशेष संलग्नता या लाभ की कड़ी से जुड़ा है, और जिसे इन कड़ियों की कुछ जानकारी है। हितबद्ध समूह की संरचना को इस प्रकार संगठित किया जाए जिसमें समूह के सभी सदस्यों की लगातार जारी भूमिका को सम्मिलित किया जा सके, या फिर यह व्यक्तिगत स्तर से समूह हितबद्ध की चंदा-कक्ष और आंतरायिक जागरूकता को प्रतिबिंबित कर सके। इसप्रकार, हितबद्ध-समूह ऐसे व्यक्तियों का संगठन है जो कुछ विशिष्ट उद्देश्यों को प्राप्त करता है, और इसके लिए राज्य के संस्थानों पर दबाव भी डालता है।

प्रभावक समूह की चर्चा करते हुए, डेविड टूमैन ने कहा— प्रभावक समूह एक विचारधारा समूह है जो समाज में दूसरे समूह के ऊपर दावा करता है। सरकार की क्रियाओं का लोगों के जीवन के ऊपर प्रत्यक्ष प्रभाव पड़ता है। दूसरी तरफ, लोगों की क्रियाओं का सरकार के निर्णयों के ऊपर कोई भी प्रभाव सहायक नहीं होती। यह कार्य, प्रभावी रूप से, लोगों के संगठित समूह द्वारा ही किया जा सकता है। हिचनर और लेविन ने हितबद्ध-समूह शब्द के प्रयोग को उचित समझा है। उनका कहना है कि— “हितबद्ध-समूह, लोगों का वैसा समूह है जो लोक नीति को प्रभावित करते हैं। उनका कहना है कि हितबद्ध समूह और प्रभावक-समूह समान नहीं होते हैं। प्रभावक समूह शब्दावली में नकारात्मक अर्थ होता है जो समूह द्वारा दबाव के प्रयोग या अनचाहे हस्तक्षेप को, उद्देश्य की प्राप्ति के लिए सूचित करता है। हितबद्ध समूह को राज्येतर धारक, या व्यक्ति या आधुनिक राज्य के रूप में विश्लेषित किया जा सकता है। किन्तु, सिर्फ राजनीति ही उनकी क्रियाओं का उद्देश्य नहीं होता है। हिचनर और लेविन के अनुसार— हितबद्ध-समूह व्यवस्था, इस प्रकार, सामान्य संस्कृति और सामाजिक प्ररूप, दोनों का ही भाग है, तथा साथ ही किसी-विशिष्ट राज्य की राजनीतिक संरचना।

हितबद्ध समूह, लोगों का संगठन है जो किसी विशिष्ट उद्देश्यों की प्राप्ति करते हैं और जो आवश्यकता पड़ने पर राज्य पर दबाव भी डालते हैं। वे निरंतर दबाव की राजनीति में संलग्न रहते हैं और कभी-कभी दबाव की राजनीति में स्वयं को सम्मिलित करते हैं और दूसरी ओर, अपने हितों को बढ़ावा देने के लिए अन्य कार्य करते हैं।

24.2.2 प्रभावक समूह का अर्थ

ऊपर हमने यह कहा है कि हितबद्ध समूह तथा प्रभावक समूह में प्रकृति की भिन्नता के बावजूद, ज्यादातर उनका प्रयोग सामान्यार्थक शब्दों के रूप में होता है। इस उप-भाग में, हम लोग मुख्यतः प्रभावक समूह के अर्थ पर ही विचार करेंगे। डुवरजर के अनुसार अधिकतर प्रभावक समूह गैर राजनीतिक संगठन होते हैं, और प्रभावक की राजनीति उनकी प्राथमिक प्रक्रिया नहीं होती है। कोई भी समूह, संस्था या संगठन, उनका भी जिनकी संलग्नता राजनीति से सामान्यतः दूर रहती है, कुछ क्षेत्रों और विशेष परिस्थिति में वे भी प्रभावक समूह की भाँति कार्य कर सकते हैं। सामान्यतः यह विश्वास किया जाता है कि प्रभावक समूह, सरकार की नीतियों से परिवर्तन लाने की चेष्टा करते हैं, चाहे उनकी संस्थाओं को प्रभावित करके या अन्यथा भी। हालाँकि, प्रभावक समूह, स्वयं से विधान मण्डल में प्रवेश नहीं कर सकते। कार्टर तथा हर्ज ने इस बात पर विचार किया कि आधुनिक अनेकवादी समाज, जिसमें कई प्रकार के आर्थिक, व्यावसायिक, धार्मिक, नैतिक तथा अन्य हितबद्ध समूह हैं, वे इस मुख्य समस्या का सामना कर रहे हैं कि किस प्रकार एक तरफ विभिन्न समूह तथा दूसरी तरफ सरकार और राजनीति की प्रक्रियाओं में सामंजस्य स्थापित किया जाए। हितबद्ध समूह, स्वतंत्र प्रजातांत्रिक समाज में, स्थापित स्वतंत्रता और कार्यों का आनंद उठाते हैं। जब ये समूह राजनीतिक प्रक्रिया को प्रभावित करने की चेष्टा करते हैं, और अपने पक्ष में निर्णायक को प्राप्त करते हैं, जैसे कि कानून का अधिनियम, कर एवं कर्तव्यों का लागू होना, नियमों का निर्माण तथा लाइसेंस का जारी होना, आदि,

तब यही हितबद्ध समूह, प्रभावक समूह में परिवर्तित हो जाते हैं। दूसरे लेखक वी०ओ० की के अनुसार, हितबद्ध समूह ऐसे निजी संगठन होते हैं, जिनकी स्थापना लोक नीति को प्रभावित करने के लिए होती है। उम्मीदवारों के चयन या वैधानिक प्रक्रिया में ये सहभागी नहीं होते हैं। अपने हितों को बढ़ावा देने के लिए वे सरकार पर दबाव एवं प्रभाव डालने के लिए संगठित रहते हैं।

उदारवादी लोकतांत्रिक देशों के संदर्भ में लिखते हुए, विशेषकर संयुक्त राज्य, एस.ई.फाईनर ने लिखा— प्रभावक समूह, मोटे तौर पर स्वायत्त और राजनीतिक दल तथा नौकरशाही से तोल-मोल करता है, बिना इस तथ्य के कि सत्ता पर किस राजनीतिक रंग की सरकार है। समूह अपने हितों के लिए विभिन्न प्रकार के तोल-मोल को अपना सकती है, जिसमें अपारंपरिक या भ्रष्ट तरीका भी सम्मिलित हो सकता है। यह स्पष्ट है कि प्रभावक समूह, अपने सदस्यों के हितों को बढ़ावा देने के लिए व्यक्तियों की एक संस्था है। सभी व्यक्तियों में कई अभिरुचियाँ होती हैं। कोई आवासीय लोककल्याण संस्था का पदधारी है, या विश्वविद्यालय जाते बच्चों का पिता होता है, या गन्ने की खेती का किसान, किसी बड़े व्यावसायिक घरों या औद्योगिक संस्था का हिस्सेदार या फिर समाज कर्मी या किसी धार्मिक और परोपकारी संस्था का न्यासी (ट्रस्टी)। किसी एक व्यक्ति के सभी हितों या रुचियों को कोई एक हित समूहों के साथ जुड़ता है जो विभिन्न उद्देश्यों के लिए राज्य पर दबाव डालते हैं।

दबाव समूह या हित समूह, राजनीति में कोई नए तथ्य नहीं है। ये समूह सदा किसी न किसी रूप में रहते चले आए हैं। किन्तु, इन समूहों को सोच समझकर संगठित किया गया है और आज ये बहुत सशक्त हो गए हैं। ऐसा इसलिए क्योंकि आधुनिक सरकार ने कई अपारंपरिक उत्तरदायित्व को अपने ऊपर ले लिया है। जैसा कि पहले भी कहा जा चुका है, हितबद्ध समूह, व्यक्तियों की स्वैच्छिक संस्था है जो अपने विशिष्ट हित को सुरक्षित रखने और बढ़ावा देने के लिए मिलकर साथ आए हैं। हित क्या है? ला पालोम बारा ने हित की परिभाषा इस प्रकार दी है— मूल्यों के सत्ताधारी आवंटन के लिए लोक नीति को प्राप्त करने की एक सचेतन इच्छा जो किसी विशिष्ट या सामान्य दिशा में चलती है। हालाँकि, हम लोगों को यह स्मरण करना होगा कि कुछ ऐसे समूह सर्वथा रहते हैं जिनका लोक नीति से कोई लगाव नहीं होता है। इस इकाई में, हम उनकी कोई चर्चा नहीं करेंगे।

हमारे लिए, हितबद्ध समूह, वैसा समूह है जिसका दबाव प्रक्रिया पर दाव है। ऐसी अवधारणा भी है कि प्रभावक समूह, संगठित समूह, लॉबी आदि जैसे शब्द, सभी समानार्थक हैं। किन्तु इनमें कुछ अंतर भी है। एच. जीगलर के अनुसार, यह एक संगठित पूर्णयोग है जो सरकारी निर्णयों के संदर्भ को प्रभावित करता है, किसी औपचारिक सरकारी क्षमता में अपने सदस्यों को स्थापित करने की चेष्टा किए बिना। एलफ्रेड डी ग्रेजिया के शब्दों में— प्रभावक समूह, सामान्य रूप में एक संगठित सामाजिक समूह है जो राजनीतिक अधिकारियों के व्यवहार को प्रभावित करता है सरकार पर औपचारिक नियंत्रण किए बिना।

सभी समाज, कई समूहों में बँटा हुआ है। समय के साथ वे अधिक से अधिक विशिष्ट हो गए हैं। जबकि कई समूह हैं जैसे उद्योगपति, बैंक कर्मचारी, विश्वविद्यालय शिक्षक, उद्योग एवं वाणिज्य के कर्मचारी, जो राष्ट्र के अंतर्गत कार्य करते हैं, कई दूसरे ऐसे भी समूह हैं जो राष्ट्रीय सीमा के बाहर हैं। प्रभावक समूह की आवश्यक विशेषताएँ हैं, जैसे—

- (1) देश की राजनीतिक प्रक्रिया का एक भाग है, प्रभावक समूह
- (2) सरकारी नीतियों की दिशा को वे सशक्त करने या परिवर्तन लाने की चेष्टा करते हैं।
- (3) प्रभावक समूह के रूप में वे राजनीतिक सत्ता को प्रत्यक्ष रूप से नहीं छीनना चाहते या सरकार नहीं चलाना चाहते हैं।

24.2.3 जन समूह और पारंपरिक समूह

हितबद्ध या प्रभावक समूहों को उनके संगठनों के आधार पर दो वर्गों में विभाजित किया जाता है—जन समूह या पारंपरिक समूह। यह अंतर, जनता दल और पारंपरिक दल की भाँति ही है।

जन राजनीतिक दलों की भाँति जन समूह में भी वृहद सदस्यता रहती है। हजारों और लाखों सदस्य के समूह को प्रभावी संगठन की आवश्यकता रहती है। इस श्रेणी में, सुसंगठित व्यापार—संघ, किसानों का संघ, शिल्पकारों की संस्था तथा छोटे व्यापारियों का संघ भी सम्मिलित है। यह समूह, विभिन्न प्रकार के उद्योगपतियों और श्रमिकों से सम्बद्ध रहता है। इसके अतिरिक्त, युवा संगठन, खिलाड़ी संघ तथा सांस्कृतिक समितियाँ भी रहती हैं। प्रारंभिक जन समूह का गठन, समाजवादी दलों के पहल पर हुआ ताकि कार्यकारी लोगों को संगठित किया जा सके। इस प्रकार, व्यापार संघ और समाजवादी आंदोलन का आधार, कार्यकारी लोगों से किया जा सकता है। आज, कई हितबद्ध समूह हैं जिनमें सामान्य उद्देश्य रहता है, किन्तु वे सामाजिक क्षेत्र में कार्यरत रहते हैं। डुवरजर के अनुसार, ऐसे कुछ समूह निःशस्त्रीकरण, परमाणु हथियार की समाप्ति, तथा जातिवाद, साम्प्रदायिकता और कट्टर पंथता के विरुद्ध लड़ाई, आदि में संलग्न रहते हैं। हालाँकि चीन के जन

गणतंत्र तथा पूर्ववर्ती और वर्तमान के समाजवादी राज्यों में कई जन संगठन, संबद्ध साम्यवादी दलों के सबसीडियरी के रूप देने में सहायक होता है। अपनी सक्रिय सहभागिता देकर। कुछ जन समूहों में, युवा संगठन महिला समूह, और शांति आंदोलन भी—सम्मिलित है जो वृहद रूप से, किन्तु आवश्यक रूप से नहीं, साम्यवादी राष्ट्रों में होते हैं। डुवरजर इन्हें समानांतर का पदसोपान मानता है। ऐसे समूह, अब पश्चिमी उदारवादी-देशों में भी सक्रिय हो रहे हैं।

आपने पिछली—इकाई में पढ़ा होगा कि पारंपरिक राजनीतिक दल सामान्यतरु अभिजात वर्गों से संबद्ध रहते हैं। उसी प्रकार, पारंपरिक प्रभावक समूह भी गुणात्मक मूल्यों पर अधिक ध्यान देते हैं, सदस्यों की अपेक्षा। वे अधिक से अधिक अभिजात वर्ग पर ज्यादा निर्भर होते जा रहे हैं।

प्रारंभिक अभिजात समूहों में सम्मिलित है अठारहवीं शताब्दी का बुद्धिजीवी संगठन तथा बीसवीं शताब्दी में फ्रांस की राजनीतिक संस्था। उदाहरण के लिए, फ्रांस का जीन माओलिन क्लब, ऐसा ही एक समूह है। इसमें सिर्फ 500 सदस्य हैं। इसके सदस्यों में (अभिजन) सम्मिलित हैं—वरीय सरकारी पदाधिकारी, अभियंता, विश्वविद्यालय शिक्षकगण, तथा प्रभावी पत्रकार। भारत में भी, सीमित सदस्यता के साथ कई अभिजात समूह हैं। भारत में एक ऐसा समूह है, प्रतिरक्षा अधिकारी पत्नियों की संस्था। उसी प्रकार, स्टील उत्पादकों की भी संस्था है। वाणिज्य और उद्योग के भारतीय चौम्बर का संघ, एक बहुत सशक्त अभिजात समूह है। विभिन्न देशों के पारंपरिक या अभिजन समूह में जो सम्मिलित हैं, उनमें, राष्ट्र से संबद्ध उद्योगपतियों का समूह, उच्चतर प्रशासनिक सेवा अधिकारी की संस्था, बुद्धिजीवियों, लेखकों, कवियों या शिल्पकारों की संस्था इत्यादि हैं ऐसे कई समूह, ब्रिटेन, अमेरिका, फ्रांस, जर्मनी, जापान तथा भारत में हैं।

24.3 हितबद्ध प्रभावक—समूह और राजनीतिक दल

प्रभावकहितबद्ध समूह की एक विशिष्ट विशेषता है कि वे लोक नीति—निर्णायकों को प्रभावित करने की चेष्टा करते हैं, प्रत्यक्ष रूप से सरकार को नियंत्रित या संचालित किए हुए बिना। राजनीतिक दल, दूसरी तरफ मुख्यतः शासन के साथ संबंध रखते हैं—चनाव लड़ने और विधायिका में बहुमत प्राप्त करने या मुख्य कार्यपालिका का पद ग्रहण करके, देश का प्रशासन करने में। इस प्रकार न्यूमैन ने दल एवं हितबद्ध समूह के बीच भेद को लक्षित किया।

मूलतः, प्रभावक समूह, प्रभाव प्राप्त करने के क्रम में समरूपी हितों का निरूपण करते हैं। हितबद्ध समूह जब विशिष्ट उद्देश्यों को निर्देशित करता है तब यह सशक्त और प्रभावी रहता है। दूसरी तरफ, राजनीतिक दल, पद प्राप्त करने तथा नीति निर्णयों को निर्देशित करने के उद्देश्य के कारण, उनमें विभिन्न समूह होते हैं। वास्तव में, राजनीतिक समाज के अंतर्गत विभिन्न शक्तियों के साथ समझौता करना, उनका मुख्य विषय वस्तु है। उनका कार्य समाकलनात्मक है, जो हितबद्ध समूहों का क्षेत्र नहीं है।

मारिस डुवरजर ने दोनों में इन शब्दों द्वारा, अंतर किया है—

राजनीतिक दल शक्ति प्राप्त कर उनको कार्यान्वित करने का उद्देश्य रखते हैं—मेयर तथा उप प्रतिनिधि को निर्वाचित करने, तथा राज्य के प्रधान और मंत्रिमण्डल के चयन द्वारा। इसके विपरीत, दबाव समूह, सत्ता प्राप्ति या उसके कार्यान्वयन में प्रत्यक्ष रूप से सहभागी नहीं होते उनसे अलग रहकर वे सत्ता पर सिर्फ अपना प्रभाव डालते हैं। उनपर दबाव डालते हैं प्रभावक समूह, उन लोगों का प्रभावित करते हैं जो सत्ता में हैं न कि अपने लोगों को सत्ता में स्थापित करना चाहते हैं, कम से कम औपचारिक रूप से तो नहीं।

यह संभव है कि कभी-कभार प्रभावक—समूह के सदस्य कार्यपालिका या विधायिका के सदस्य बन सकते हैं। किन्तु यदि ऐसा होता भी है, तो यह गुप्त रखा जाता है। हेराल्ड आर रूस के अनुसार राजनीतिक दल के साथ संबंध में, प्रभावक समूह एकल स्थिति में उनसे स्वतंत्र रहते हैं और साथ ही उनके सहयोगी भी, परिस्थिति अनुसार। प्रभावक समूह सामान्यतः पक्षपाती प्रकृति के नहीं होते वे दलीय आधारों को नहीं मानते वे मतदाताओं से लोकप्रिय समर्थन प्राप्त करते या फिर कार्यकारी या विधायी अंगों के सदस्यों का सहयोग भी। इसी प्रकार के विचार, डुवरजर ने व्यक्त किया। उन्होंने लिखा रु कुछ सशक्त समूह के वास्तव में सरकार और कार्यकारी अंगों में उनके प्रतिनिधि रहते हैं, किन्तु इन लोगों और समूह के बीच का संबंध गुप्त या सीमित रहता है।

इस प्रकार राजनीतिक दल प्रत्यक्ष रूप से राजनीतिक प्रक्रियाओं के साथ जुड़े रहते हैं, जिसमें सम्मिलित है चुनावों के लिए उम्मीदवार का चयन, औपचारिक रूप से निर्मित नीतियों का प्रस्तुतीकरण तथा लोकप्रिय मत प्राप्त करने का स्पष्ट आधार और यदि सफल हो गए तब राज्य के मामलों का संचालन। जिन्हें कम मत और सीटें प्राप्त होती हैं, वे विरोधी गुट में बैठकर, शासन दल को सकारात्मक विरोध करते हैं। इनमें से कोई भी प्रभावक समूह की भूमिका के अंतर्गत नहीं आता है। हितबद्ध—प्रभावक समूह आवश्यक रूप से गैर राजनीतिक संस्था है। उनके प्राथमिक कार्य, आर्थिक, समाजिक, धार्मिक या मानवीय हो सकता है। उनका मुख्य व्यवसाय दबाव नहीं है। अपने सदस्यों के हितों को बढ़ावा देने के लिए वे इसे

आवश्यकतानुसार करते हैं। दल व्यापक स्तर के मुद्दे और नीतियों के प्रति प्रतिबद्ध हैं। उनका उद्देश्य राजनीतिक सत्ता है। दूसरी तरफ हितबद्ध-समूह का केन्द्र बिंदु संकीर्ण होता है। विशिष्ट मांगों के निर्देश के लिए ही वे संलग्न रहते हैं। जैसा कि प्रो. एस.आर. महेश्वरी का लिखना है राजनीतिक दल का यह कर्तव्य है कि वह अपने हितबद्ध-समूहों की समुचित मांगों के प्रति समझौता करे और एक पूर्णांक निकाले और साथ ही उन्हें सामंजस्य पूर्ण, कार्यक्रमों तथा क्रियाशील योजनाओं में रूपांतरित करें। परिणामतः यह अभिमत उपस्थित होता है कि राजनीतिक दल अपने कुछ समूहों को देश के अंतर्गत निर्णायक संयंत्रों और प्रक्रियाओं के प्रत्यक्ष आधिपत्य से रोकता है।

दलों और प्रभावशाली समूहों के बीच जो संबंध होता है, वह सर्वत्र समान नहीं होता है। प्रत्येक राजनीतिक प्रणाली अपने दल में भिन्न प्रकृति रखते हैं। संयुक्त राज्य तथा ब्रिटेन में हितबद्ध-समूह मांगों को निर्देशित करता है ताकि राजनीतिक प्रक्रियाओं को प्रभावित करते हुए वे सत्ताधारी नीतियों में परिवर्तन कर सकें। हालांकि समूह कार्य रूप में विशिष्ट और विभिन्न होते हैं। फिर भी, दल पूर्णयोगी भूमि का निभाते हैं। जैसा कि आलमंड का लिखना है दलीय पद्धति हितबद्ध-समूह प्रणाली तथा सत्ताधारी नीति निर्णायकों की एजेंसियों के बीच खड़ा है तथा विशिष्ट हितों के अनन्यवादी और विघटनकारी प्रभावों से उन्हें जाँचता है। दूसरे, फ्रांस तथा इटली भिन्न रूप के संबंध को प्रस्तावित करता है। इन दोनों में, तथा कुछ स्वायत्त प्रणाली की भाँति नहीं दल, समूहों को भिन्न रूप से नियंत्रित करते हैं। ऐसे स्थिति में "हितबद्ध समूह को विशिष्ट कार्यत्मक रूप में व्यावहारिक में व्यंजना माँगनेपर हितबद्ध समूह को विशिष्ट कार्यत्मक रूप में व्यंजना करने से रोका जाता है क्योंकि उनके कार्य अत्यधिक राजनीतिक हो गए हैं। जब समूह, स्वयं को दल के साथ जोड़ने की स्वीकृति दे देते हैं वे उसके बदले में, विभिन्न हितों के पूर्णयोग के लिए दल की क्षमता को कमजोर करते हैं। तीसरे, कई तीसरे विश्व के देशों में जैसे एशिया, अफ्रीका तथा लैटिन अमरीका दल या प्रभावक दल या प्रभावक समूह, दोनों में स्पष्ट विभिन्नता दिखाई नहीं पड़ती। ग्रेब्रियल ए. आलमण्ड के अनुसार: संस्थागत हितबद्ध समूह, जैसे व्यापार संघ तथा व्यावसायिक संस्था, समाज के शहरी पश्चिमीकृत भागों में रह सकते हैं, किन्तु गाँवों और देहातों में हितबद्ध संगठन, वंश-परंपरा, जाति, स्तर, वर्ग तथा धार्मिक समूह का स्वरूप ले लेते हैं, जो सूचना संचार द्वारा, प्रभावक संरचना के दूसरे भागों पर, दबाव द्वारा माँगों को संचारित करते हैं। कई तीसरे विश्व के देशों में दल, अस्थायी व्यवस्था होती है, जिसमें कोई स्पष्ट नीति नहीं होती या फिर वे जमीनी स्तर के संगठन नहीं होते। परिणामस्वरूप, आलमण्ड आगे कहें, विशिष्ट राजनीतिक संस्थागत हितबद्ध समूह, किन्तु नौकरशाही और सेना से उनमें गुट का तत्व रहता है। राजनीतिक व्यवस्था में चाहे किसी भी प्रतिमान का अनुसरण होता हो, यह स्पष्ट है कि प्रभावक समूह, दल से स्वतंत्र होने के बावजूद, उनके साथ संपर्क रखते हैं, किसी न किसी रूप में और इन संपर्कों द्वारा विधिनिर्माण और निर्णय प्रक्रिया को प्रभावित करने की चेष्टा करते हैं।

24.4 हितबद्ध समूह का वर्गीकरण

विभिन्न विद्वानों द्वारा हितबद्ध समूह को विभिन्न वर्गों में श्रेणीबद्ध किया गया है। कुछ वर्गीकरण का उल्लेख नीचे किया गया है। विश्लेषण द्वारा कुछ निष्कर्ष निकला जा सकता है—

24.4.1 आलमण्ड का वर्गीकरण

हितबद्ध समूह के विस्तृत विश्लेषण में आलमण्ड के अनुसार चार विभिन्न प्रकार के समूह हैं। हिचनर और लेवीन ने भी इस वर्गीकरण का समर्थन किया है। आलमण्ड के अनुसार, हितबद्ध समूह निम्नांकित प्रकार के होते हैं—

- (1) संस्थागत हितबद्ध समूह
- (2) हितबद्ध समूह
- (3) सहकारी हितबद्ध समूह
- (4) गैर-सहकारी हितबद्ध समूह

संस्थागत हितबद्ध समूह, कई संस्थाओं के साथ निकट रूप से जुड़े हैं, तथा राजनीतिक दल के साथ भी। ये समूह, कार्य पालिका, नौकरशाही, मदरसा, निगम और सेना के साथ भी रहते हैं। नौकरशाही में ये बहुत सक्रिय रहते हैं, क्योंकि वहाँ सबसे अधिक निर्णय लिया जाता है। समान रूप से ये कार्यपालिका के भी निकट होते हैं। ये, उच्च स्तर की संगठित संरचना का भाग होते हैं, किन्तु इस संरचना का निर्माण दूसरे उद्देश्य से हुआ है, न कि जो ये समूह जिसकी अभिव्यंजना करते हैं। इन समूहों को अपनी माँगों की व्यंजना करते हैं। इन समूहों को अपनी माँगों की व्यंजना के लिए किसी अन्य संगठन की आवश्यकता नहीं होती। जैसा कि आलमण्ड ने कहा है— संस्थागत हितबद्ध समूह एक औपचारिक संगठन है, जिसमें व्यावसायिक स्तर के अधिकर्मी नियुक्त रहते हैं, और जिसमें हितबद्ध व्यंजना के अलावा निर्मित राजनीतिक एवं सामाजिक कार्य रहते हैं। किन्तु इन संस्थाओं के अंतर्गत (जैसे कार्यपालिका) वे सहकारी अंग के रूप में अथवा छोटे समूह

के रूप में रहते हैं। ये समूह अपने हितों की व्यंजना करते हैं या दूसरे समूह के हितों का प्रतिनिधित्व करते हैं। ऐसे समूह बहुत प्रभावी और सशक्त होते हैं। कुछ तीसरे विश्व के देशों में वे प्रभाव डालने से ही संतुष्ट नहीं होते। वे शक्ति को छीनते भी हैं, जैसे कि, वर्मा या बांग्लादेश (शेख मुजिब की हत्या के पश्चात) या पाकिस्तान या नाइजीरिया में अपवाद हैं। ये समूह, अपने सदस्यों की बेहतर स्थिति के लिए संबंध रहते हैं।

हितबद्ध समूह, आलमण्ड के अनुसार, कमोबेस, समाज की राजनीतिक व्यवस्था में स्वाभाविक प्रवेश हैं। ये समूह अधिकतर तब दिखाई पड़ते हैं जब असंतोष प्रकट करने के सामान्य साधन प्रभावहीन हो जाते हैं। उनका लगाव धार्मिक या भाषाई या प्रजातीय गड़बड़ी या प्रदर्शन, या फिर हत्या या अपहरण के साथ हो सकता है। सामान्यतरु उनकी विशेषता होती है अपारंपरिक और ज्यादातर हिंसात्मक साधन। ऐसे समूह राजनीतिक व्यवस्था को कई अपारंपरिक तरीकों से प्रभावित कर सकते हैं। पश्चिमी-विकसित राष्ट्रों में भी इनको कभी कभार पाया जाता है।

सहचारी हितबद्ध समूह को, औपचारिक रूप से संगठित संस्थाओं के साथ निकट रूप से संबद्ध हैं। ये कार्यात्मक रूप में विशिष्ट होते हैं, तथा वे दूसरे समूह के हितों की व्यंजना करते हैं, जैसे प्रबंधन, श्रम, व्यवसाय या कृषि। ये समूह उन देशों में पाए जाते हैं, जहाँ संस्था के अधिकारों का संवैधानिक रूप से स्वीकार कर लिया गया है। इनमें कुछ समूहों में नियमित वेतन प्राप्त कर्मचारी रहते हैं, जिनकी भूमिका है संलग्न संस्था को प्रभावित करना। ये समूह सामान्यतरु आर्थिक हितों से संबद्ध रहते हैं। सहचारी समूह के कुछ उदाहरण हैं—आर्थिक संगठन का संघ तथा वाणिज्य और उद्योग के भारतीय चौम्बर्स का संघ। शिक्षक, वकील, चिकित्सक या अन्य व्यवसायों के सहचारी, इसी श्रेणी के अंतर्गत आते हैं।

सुव्यवस्थित सहचारी प्रणाली से भिन्न, गैर-सहचारी समूह के कई आधार हैं, जैसे सगोत्रता, प्रजातीयता, स्तर और धार्मिक। वे अभिरुचि की व्यंजना अनौपचारिक एवं अनियमित रूप से करते हैं। उनका कोई स्थायी संगठन नहीं रहता।

24.4.2 जीन ब्लॉनडेल का वर्गीकरण

ब्लॉनडेल द्वारा हितबद्ध-समूह का वर्गीकरण, उनके निर्माण के लिए उत्तरदायी कारणों के आधार पर होता है। व्यापक अर्थ में समूह के दो वर्ग होते हैं। वे हैं—(1) समुदाय हितबद्ध-समूह (2) सहचारी समूह। दोनों वर्ग को आगे दो उप-वर्ग में पुनरु बांटा गया है।

समुदाय के हितों को बढ़ावा देने के लिए समुदाय-हितबद्ध समूह का निर्माण होता है। उनके निर्माण के पीछे सामाजिक संबंधों का हाथ होता है। समुदाय जीवन लोगों को एक साथ लाता है। हर्ष और विषाद दोनों को वे एकसाथ मिलकर बांटते हैं। अधिकतर समुदाय समूह अनौपचारिक होते हैं, सिर्फ कुछ ही औपचारिक रूप से संगठित होते हैं। राज्य संरक्षण और सहयोग को प्राप्त करने के लिये सरकार पर दबाव डालते हैं। समुदाय समूह— (1) प्रथागत (2) संस्थागत समूह के बीच विभाजित है। जो समूह, समुदाय के रिवाजों और परंपराओं का अनुसरण करते हैं, वे प्रथागत समूह की श्रेणी में गिने जाते हैं। भारत में जाति तथा उप-जातियाँ इस श्रेणी में आते हैं। ब्लॉनडेल ने ऐसे समुदाय को संस्थागत समूह कहा, जो ऐसे लोगों द्वारा निर्मित है जो लंबे समय से साथ रह रहे हैं और सामान्य सामाजिक संबंधों को विकसित करते हैं। इस वर्ग के कुछ उदाहरण हैं, कार्यरत या अवकाश प्राप्त सैनिकों की लोककल्याण संस्था, जैसा कि अनुभवी और पुराना संघ, लोक-सेवा कर्मी, कल्याणकारी संस्था तथा वरिष्ठ नागरिक लोककल्याण संस्था।

सहचारी समूह, ब्लॉनडेल के अनुसार, सामान्यतः आलमण्ड तथा हिचनर एवं लेवीन के प्रतिमान का अनुसरण करता है। इस समूह में दो श्रेणी है— (1) संरक्षक समूह (2) प्रोत्साहक समूह। संरक्षक समूह अपने सदस्यों के हितों की रक्षा करता है जैसे कि व्यापार संघ या व्यापारियों एवं व्यावसायियों की संस्था। मोटे तौर पर, उनके ग्राहक समरूपी होते हैं। दूसरी ओर, प्रोत्साहक समूह की सदस्यता, समुदाय के वृहद् भागों में से होती है। इनमें सम्मिलित हैं, निःशस्त्रीकरण समूह, या ग्रीन द्वारा पर्यावरण की सुरक्षा। इसके अलावा, प्रोत्साहक समूह की अपेक्षा संरक्षक समूह, निर्णय प्रक्रिया पर अधिक प्रभाव डालने में सक्षम होता है। जैसा कि रॉबर्ट सेलिसबेरी ने ब्रिटिश समूह के संदर्भ में लिखा है कि संरक्षक समूह का नीतियों पर भारी प्रभाव डालता है जबकि प्रोत्साहक दबाव, हालाँकि वे बड़े स्तर पर समुदाय अनुसरण का संघटन करते हैं, फिर भी लोक निर्णयों पर उनका प्रभाव कम माना जाता है। अंत में, संरक्षक समूह में सामान्यतः अधिक लचीली रणनीतियाँ रहती हैं, जबकि प्रोत्साहक समूह, राजनीतिक परिस्थिति में बदलाव के कारण, उद्देश्य के अनुकूलन में समस्या का सामना करते हैं। संरक्षक समूह, कभी भी अपने कार्यक्रमों से बाहर नहीं होते, जबकि प्रोत्साहक समूह, अंतस्थ प्रकृति के होते हैं, कम से कम अवधारणा में। 24.4.3 मॉरिस डुवरजर का वर्गीकरण मॉरिस डुवरजर, जो दबाव समूह शब्द का प्रयोग बेहतर मानते हैं, वे दो मुख्य समस्याओं को चर्चा करते हैं। प्रथम, क्या इन समूहों को दबाव समूह कहा जाना चाहिए, जबकि उनको कार्य सिर्फ राजनीतिक दबाव करना है, या फिर उन्हें भी दबाव समूह कहना चाहिए जो बहु-आयामी क्रियाओं से जुड़े हैं। दूसरे, क्या दबाव समूह शब्दावली सिर्फ गैर-अधिकारी समूहों के लिए प्रयोग में लाना चाहिए, या इस श्रेणी में अधिकारी समूह भी सम्मिलित हैं, इन्हीं दो प्रश्नों के संदर्भ में डुवरजर ने निम्नांकित वर्गीकरण किया है।

पहले प्रश्न के संदर्भ में, डुवरजन ने दो समूह के बीच भेद किया है— (1) अनन्य समूह (2) आंशिक समूह। पहली श्रेणी में वैसे समूह हैं जो राजनीतिक प्रणाली पर दबाव डालते हैं। इस प्रकार, शैक्षणिक स्वतंत्रता की रक्षा के लिए फ्रांसीसी संसदीय संस्था, एक अनन्य समूह है। अमरीका में कई ऐसे समूह हैं जिनका दबाव राजनीति में पूरा समय जाता है, लॉबिंग उपकरण के माध्यम से (नीचे देखें)। दूसरी तरफ, आंशिक समूह, अपने सदस्यों के हितों को बढ़ावा देने के लिए गठित हुआ है, किन्तु इस प्रक्रिया में वे दबाव के तकनीक का प्रयोग करते हैं। ब्रिटेन तथा भारत के साथ-साथ, सभी लोकतांत्रिक राष्ट्रों में ऐसे कई आंशिक समूह हैं। व्यवसायियों की कई संस्था (चिकित्सक, वकील, चार्टर्ड लेखाकार, या महिला कार्यकर्ता, या सांस्कृतिक प्रक्रियाओं के साथ संबंध आवश्यकतानुसार, लोक-सेवाकर्मी, कार्यपालिका या दूसरों पर दबाव डालते हैं। किन्तु इस वर्गीकरण में कोई कठोरता नहीं रहती। कोई भी आंशिक समूह, पूरे समय, दबाव राजनीति में संलग्न रह सकता है। दूसरे आधार पर, डुवरजन (1) निजी समूह और (2) लोक समूह, के बीच अंतर करता है। सबसे पहला वेश, जिसने दबाव समूह का अनुभव किया वह था अमरीका, जहाँ निजी संस्थाओं के समूह राज्य संरचना पर दबाव का प्रयोग आरंभ कर दिए थे। धीरे-धीरे, अधिकारीगण या लोक-समूह भी दबाव राजनीति की प्रक्रिया में साथ देने लगे। आधिकारिक समूह में वे भी अधिकारी सम्मिलित थे जो किसी हित की पूर्ति के लिए गुप्त रूप से एक या अधिक दबाव समूह के साथ संयुक्त हो जाते थे।

डुवरजन ने कृत्स्न-दबाव समूह की भी चर्चा की है। इस समूह में, विशेषज्ञ, दबाव राजनीति का प्रयोग स्वयं के लिए नहीं, बल्कि दूसरे के लिए करते हैं। आर्थिक लिहाज के लिए ऐसा किया जाता है। इस श्रेणी में, डुवरजन ने, तकनीकी विशेषज्ञ तथा सूचना (जन) संचार भी सम्मिलित है। दबाव समूह की भूमिका से लोक संचार की भूमिका तक, इसकी चर्चा नीचे की गई है।

24.5 हितबद्ध प्रभावक समूह की भूमिका

प्रभावक समूह की भूमिका इस पर भी बहुत निर्भर करता है देश में किस प्रकार की सरकार है। अध्यक्षात्मक व्यवस्था में, जैसे कि अमरीका, में उसकी भूमिका अधिक महत्वपूर्ण है, संसदीय प्रजातंत्र, जैसे ब्रिटेन तथा भारत की तुलना में। एक दलीय राज्यों में उसकी भूमिका न्यूनतम और नहीं रहती, विशेषकर सत्ताधारी व्यवस्था में। हेनरी एहरमैन दबाव समूह के गुणों की चर्चा करते हुए, उसकी भूमिका को विशिष्टता प्रदान की है। उनके अनुसार, जिस हित का वे प्रतिनिधित्व करते हैं, इससे उनकी सदस्यता समुदाय के मूल्यों के साथ जुड़ जाती है। इस प्रकार अन्य संस्था की तुलना में, समूह अधिक सही प्रकार से, समाज से संबंध मामलों को प्रतिबिंबित करता है, जिसमें वह कार्यरत रहता है। आगे, जहाँ प्रतिनिधित्व की औपचारिक व्यवस्था अपर्याप्त सिद्ध होती है, हितबद्ध-समूह दल की अपेक्षा समुदाय के मूल्यों को अधिक वास्तविक रूप में प्रतिनिधित्व करते हैं। हितबद्ध-समूह अपने हितों को बढ़ावा देने के लिए सभी प्रकार के कल्पनीय तरीकों का प्रयोग करते हैं। वे आवेदन और मनुहार, घूसखोरी और मनोरंजन करते हैं। दबाव राजनीति की सबसे लोकप्रिय तरीका लॉबिंग है। जिसका विकास अमरीका में हुआ है। लॉबिंग विशिष्टतः अमरीकी प्रक्रिया है और उसके अभ्यास कर्त्ता प्रत्यक्ष रूप से विधि निर्णायकों और अत्यधिक अधिकारियों को प्रभावित करने की चेष्टा करते हैं।

24.5.1 लॉबिंग

अलफ्रेड डी प्रोजिया के शब्दों में लॉबिंगकर्ता अत्याधिक संघटित होते हैं। वे सदस्यता सूची में वृहद भाग का दावा करते हैं। उसके पास ऐसे ऐजेंट होते हैं जो दबाव और लोक संबंधों में निपुण होते हैं। वे इस पर बल देते हैं। कि लोक कल्याण के साथ उनके उद्देश्य उसके अनुरूप है। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, लॉबिंग जो एक अमरीकी प्रक्रिया है, फिर भी इसपर अमरीका का एकाधिक नहीं है। लॉबिंग का अभ्यास कई प्रजातांत्रिक देशों में भी किया जाता है, फिर भी अमरीकी पृष्ठभूमि में इसकी चर्चा करना यथोचित होगा।

लॉबिंग शब्दावली का प्रयोग काँग्रेस एवं राज्य कार्यपालिका के सदस्यों के साथ अनुबंध स्थापित करने की तकनीक का संकेत है ताकि उन्हें दबाव समूहों के हितों के लिए पक्ष या विपक्ष मतों के लिए किया जा सके। अधिकतर दबाव समूह काँग्रेस के पूर्व सदस्यों को विधायकों को प्रभावित करने के लिए संलग्न करता है। वे लॉबिंग के तकनीकी से अवगत रहते हैं। वाशिंगटन डी.सी. में सैकड़ों लॉबि कर्ता स्थायी रूप से कार्य कर रहे हैं। ये हित समूह के वेतन प्राप्त कर्मचारी हैं। उन्हें काँग्रेस के लॉबियों में विधायकों को प्रभावित करने की आवश्यकता नहीं रहती। हालाँकि यह शब्दावली वहीँस उद्धृत हुई है। जानसन के अनुसार काँग्रेसियों का अधिकतर समय समूह और व्यक्तियों में बीतता है, राष्ट्रपति के प्रशासनिक अधिकारियों से लेकर सामान्य स्तर तक उकसाने में ताकी कुछ कानूनों को लागू किया जा सके आदि।

विशिष्ट हितों के प्रतिनिधि, प्रथम महाद्वीपीय काँग्रेस के नगरोपान्त के पीछे लगे रहते हैं, किन्तु लॉबी शब्द का प्रयोग 1808 की दसवीं काँग्रेस के प्रतिवेदन के पहले, तक नहीं हुआ था। 1829 तक लॉबी ऐजेंट शब्द का प्रयोग न्यूयार्क की राजधानी में पक्षपात जिज्ञासु के लिए किया जाता था। 1832 तक इसे लॉबिंगकर्ता में संक्षिप्त कर दिया गया और व्यापक रूप से

इसका प्रयोग अमरीकी राजधानी में हुआ करता था। लॉबिंगकर्ता कॉंग्रेसियों के साथ सर्पक स्थापित करते हैं और उनके पदचिह्नों पर चलने की चेष्टा करते हैं तथा उनके निर्णयों और मतों को भी प्रभावित करते हैं। सामान्यतः वे समूह के वैधानिक हितों को बढ़ावा देते हैं किन्तु कभी कभार स्वार्थ खेल का भी प्रयोग करते हैं। कुछ दुर्लभ मामलों में प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष घूसखोरी या धमकी का भी प्रयोग करते हैं ताकि विधायक प्रभावित हो सकें। एक सशक्त विचारधारा वाला कॉंग्रेसी भी अपने क्षेत्र के मतदाताओं के पत्रों, तार और दूरभाष के माध्यम से दबाव में आ सकते हैं। वर्तमान वर्षों में ऐसे विद्यार्थी प्रबन्ध किए गए हैं जो दबाव की राजनीति और लॉबिंग पर नियंत्रण रखता है, किन्तु इसमें बहुत सफलता प्राप्त नहीं हो पाई है। राजनीतिक ढल, दबाव राजनीति तथा, लॉबिंग अमरीकी राजनीतिक व्यवस्था का अंग हो गई है।

अधिकतर अमरीकी हितबद्ध समूह आर्थिक प्रकृति के होते हैं। श्रम दबाव समूह भी होता है जो चुनाव और कॉंग्रेस में संगठित श्रम के दृष्टिकोणों का प्रतिनिधित्व करता है। दूसरी तरफ व्यवसाय प्रभावक समूह भी होता है जो उद्योग के हितों का प्रतिनिधित्व करता है। हाल ही में हालाँकि कई ऐसे समूह उभर कर आए हैं जिसका केन्द्र बिन्दु है सामाजिक प्रक्रियाएँ। कुछ ऐसे समूह हैं जैसे ईसाई और यहूदी की राष्ट्रीय काउन्सिल तथा संयुक्त क्रमबद्धकर्ता। इस प्रकार, सभी मुख्य समुदाय की अपनी लॉबी होती है। कई नए सैद्धांतिक हित समूह भी हाते हैं जैसे सामान्य कारण (कॉमन कॉज) तथा राष्ट्रीय समिति जो स्वतंत्र कॉंग्रेस को सुरक्षित रखती है। यह एक विशिष्ट समूह है जिसे ह्वेल मछली को बचाओश्श कहा जाता है। वे ह्वेल मछली को बचाओं नाम के स्टीकर को भी छापते हैं।

एक सामान्य विश्वास यह है कि प्रभावक समूह सिर्फ विधायी प्रक्रिया को प्रभावित करता है। वास्तव में, जैसा कि डॉक्टर किर्क पेट्रिक का कहना है कि अमरिका में प्रभावक समूह निर्णय प्रक्रिया पर प्रारम्भिक अवस्था में ही प्रभाव डालते हैं। वे लोकमत को भी प्रभावित करते हैं और उनके वृहद् अभियान भी होता है। अखबारों में इनके प्रचार का भी स्थान रहता है। राष्ट्रीय एवं स्थानीय चुनावों में दबाव समूह बहुत सक्रिय रहती है यह समूह विद्यार्थी अधिकारी और न्यायाधीश पर भी प्रभाव डालता है।

फ्रांसीसी विद्वान ऐलेक्जिस डी. टॉक्यवेल ने एक बार कहा था—यदि आप तीन अमरिकियों को एक साथ किसी कमरे में रखें तो वे एक संगठन का निर्माण कर लेंगे। यह सत्य भी है। अमरिकियों को योजक (ज्वायनर) भी कहा गया है। ये संगठन होते हैं। ये दबाव समूह का निर्माण करते हैं और उनके द्वारा अपनी समस्याओं का समाधान निकालते हैं। डा. किर्क पेट्रिक ने गैर सरकारी क्षेत्रों में भी संगठित समूह की भूमिका का उल्लेख किया है। उन्होंने 1978 में भारतीय भेंटकर्ता को यह कहा था— मैं अमरीकी राजनीतिक विज्ञान संघ (ए पी एस ए) का सदस्य हूँ। संयुक्त राज्य में सभी विद्वान व्यवसाय अपना व्यावसायिक संघ होता है। ये सम्मेलन, शहर और होटलों में बहुत व्यापार लाते हैं, इन्हीं सम्मेलनों पर होटल व्यवसाय की जीविका चलती है।

अमरीका राजनीतिक विज्ञान संघ में अगला सम्मेलन, शिकागो में करने का अनुबंध है। किन्तु अमरीकी-राजनीतिक विज्ञान संघ ने अंतर्गत संगठित महिला समूह ने एपीएसए के अंतर्गत बहुत प्रभावी राजनीतिक क्रिया अभियान को संघटित किया और इस पर मत प्राप्त किया कि अगला सम्मेलन शिकागो में न हो। क्योंकि इलिनोएस (जिस राज्य में शिकागो स्थित है) में सभी पुरुष और नारी के लिए समान अधिकारों को संविधान द्वारा संशोधन को समर्थन नहीं दिया था।

यह सत्य है कि आज प्रभावक समूह सभी प्रजातांत्रिक देशों में सक्रिय भूमिका अमरीकी राजनीति में निभाई वह उसी प्रकार के समूह जो अन्य देशों में हैं, उनसे अधिक महत्वपूर्ण है। वास्तव में वे अज्ञात साम्राज्य बन गए हैं।

24.6 सारांश

हितबद्ध समूह, व्यक्तियों का स्वैच्छिक संघ होता है जिसमें विकास एवं सुरक्षा का सामान्य हित होता है। ये हित आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, भाषाई या धार्मिक हो सकते हैं। सभी देशों में बड़ी संख्या में हितबद्ध समूह होते हैं। चूँकि एक व्यक्ति में कई हित (रुचि) होते हैं—राज्य के कर्मचारी के रूप में, या लोक। निजी उद्यमों में, श्रद्धालू के रूप में, आवासीय लोक—कल्याण संघ के कर्मचारी के रूप में, नर्मदा बचाओ आंदोलन जैसे आंदोलनों में सक्रिय कार्यकर्ता के रूप में या फ्रांस में शिक्षा में स्वतंत्रता की रक्षा के संघ के रूप में। ये समूह स्थायी हो सकते हैं जैसे कि व्यापार संघ, या वाणिज्य और उद्योग का चौम्बर्स। कुछ समूह पूर्णतः अस्थायी होते हैं जैसे वैसा समूह जो क्षेत्रीय हिंसा के विरुद्ध लड़ता है या भूकम्प अथवा आँधी—पानी से पीड़ितों को राहत पहुँचाना। कुछ समूह निजी होते हैं जबकि अन्य लोक या अधिकारिक। कुछ अर्ध-निजी समूह भी होते हैं। हित समूह को सामान्यतः दबाव समूह भी कहा जाता है क्योंकि इनमें अधिकतर, ज्यादा समय विधायक, नौकरशाह या अन्य अधिकारियों पर दबाव डालते रहते हैं ताकि उनके हितों के अनुकूल नीति या विधि निर्माण हो सके। कुछ कम संख्या में वैसे हित समूह भी होते हैं जो दबाव राजनीति का प्रयोग नहीं करते हैं किन्तु ऐसा कम होता है। इस प्रकार हित दबाव एक महत्वपूर्ण प्रक्रिया है।

हितबद्ध प्रभावक समूह को कई विद्वानों ने विभिन्न मापदण्ड पर वर्गीकृत किया है। वर्तमान इकाई में, अपने आलमण्ड, हिचनर और लेवीन जीन ब्लॉनडेल तथा मारिस डुवरजर का वर्गीकरण पढ़ा। आपने यह भी पढ़ा कि समूह के आधारों पर निर्भर करते हुए वह चाहे जन समूह या पारंपरिक समूह भी हो सकता है। यह भी आपको मालूम हुआ कि दबाव समूह राजनीतिक दल नहीं होते हैं। ये दोनों पूरी तरह से भिन्न हैं। जबकि, शासन के लिए दल राजनीतिक शक्ति को प्राप्त करता है, दबाव समूह अपने सदस्यों के हितों से संबंध रखता है और उसके लिए दबाव का प्रयोग करता है। दबाव राजनीति का सबसे सामान्य उपकरण है लॉबिंग। यह प्रक्रिया संयुक्त राज्य में आरंभ हुई और वृहद् किन्तु अनन्य रूप से हुई। उस राष्ट्र में अपना लिया गया। व्यवहार में दबाव, विधायकों और दूसरों पर लागू किया जाता है, न सिर्फ विधान मण्डलों की लॉबियों में ही बल्कि अन्य दबाव तकनीकों से भी जैसे घूसखोरी, संबंधियों के लिए नौकरी, पाँच सितारे होटलों का आराम आदि का सामूहिक प्रयोग जहाँ भी होता है, उसे लॉबिंग कहा जाता है।

24.7 बोध प्रश्न

1. हितबद्ध समूह की परिभाषा दें, तथा हितबद्ध एवं प्रभावक समूह के विभेद को उल्लिखित करें।
2. जन एवं पारंपरिक हितबद्ध समूह की भिन्नता को बताएँ।
3. राजनीतिक दल एवं दबाव समूह के बीच संबंधों पर विवेचना करें।
4. संस्थागत, एनोमिक तथा सहचारी हित समूह के बीच भेद करें।
5. मॉरिस डुवरजर के वर्गीकरण की विवेचना करें।
6. दबाव राजनीति में लॉबिंग उपकरण का विश्लेषण करें।

निर्धनता एवं मानव विकास

संरचना

- 25.1 प्रस्तावना
- 25.2 निर्धनता : एक बृहद् दृष्टिकोण
 - 25.2.1 निर्धनता संबंधित अन्य अवधारणाएँ
- 25.3 निर्धनता एवं असमानता
 - 25.3.1 विकास, निर्धनता एवं असमानता
- 25.4 निर्धनता का माप
- 25.5 मानव विकास क्या है?
 - 25.5.1 मानव कल्याण रू पारंपरिक सोच
 - 25.5.2 मानव विकास : वर्तमान सोच
 - 25.5.3 वैश्विक स्तर पर मानव विकास का स्तर
 - 25.5.4 मानव विकास को सुधारने के कदम
- 25.6 भूमण्डलीकरण, निर्धनता एवं मानव विकास
- 25.7 सारांश
- 25.8 बोध प्रश्न

25.1 प्रस्तावना

अधिकतर हम इन शब्दावलियों से गुजरते हैं, जैसे – पूरा विश्व सधन और निर्धन में विभाजित है। विश्व में कहीं पर भी निर्धनता, सभी जगह की समृद्धि पर खतरा होती है। ये शब्दावलियाँ निर्धनता एवं मानव विकास के मूलभूत मुद्दों को दर्शाती हैं जिसका सामना विकासशील एवं अविकसित राष्ट्र कर रहे हैं। द्वितीय विश्व युद्ध के पश्चात् ये मुद्दे उभर कर सामने आए हैं क्योंकि कुछ राष्ट्र ने तेजी से प्रगति करके अपनी अर्थव्यवस्था को औद्योगिकृत कर लिया, तथा कुछ निर्धन ही रह गए। औद्योगिक राष्ट्र विकसित हो गए और रोजगार, लोक सामग्रियों तथा मूलभूत सेवाओं को प्रदान करना, आदि समस्याओं को सुलझा पाए। निर्धन राष्ट्र अपनी अर्थव्यवस्था को पर्याप्त रूप से औद्योगिकृत नहीं कर पाए और कई समस्याओं के साथ, जैसे, बेरोजगारी, निम्न प्रति-व्यक्ति दर आय, अशिक्षा, अपर्याप्त स्वास्थ्य सेवा तथा स्वच्छता सुविधा, आदि के साथ जूझ रहे थे। 1980 के दशक से, गरीब देशों की समस्याएँ और अधिक सूक्ष्म होती गई क्योंकि भूमण्डलीकरण और निजीकरण की लहरों ने उन्हें अपनी अर्थव्यवस्था को, अंतर्राष्ट्रीय वित्तीय और व्यापार संघ के निर्देशन में पुनर्व्यवस्थित करने पर बाध्य किया। नीति निर्देशन, अभी तक, अधिक लाभकारी सिद्ध नहीं हो पाए हैं क्योंकि भूमण्डलीकरण और निजीकरण की प्रक्रिया, विकसित देशों के प्रति झुका हुआ रहता है। इस पृष्ठभूमि में, हम विषयवस्तु का विश्लेषण करेंगे और इस चर्चा में विभिन्न सम्मिलित आयामों को भी देखेंगे।

25.2 निर्धनता: एक बृहद् दृष्टिकोण

निर्धनता पर दो व्यापक दृष्टिकोण हैं— एक समाजशास्त्री का तथा दूसरा अर्थशास्त्री का। समाजशास्त्री इसे बहु-आयामी अवधारणा के रूप में देखता है और मानव-कल्याण के कई पहलुओं को भी इसके अंतर्गत विचार करता है। उदाहरण के लिए, जो लोग सामाजिक सम्पर्क से वंचित हैं, वे सामाजिक रूप से एकाकी भी हो जाते हैं, तथा इस आयाम से निर्धन भी। उसी प्रकार, जो लोग चार दीवारों में रहते हैं, उन्हें आश्रय रूप में गरीब माना गया है और जिन्हें स्वास्थ्य रूप में गरीब माना जाता है। जो व्यक्ति न्यूनतम रूप से स्वीकृत विभिन्न आर्थिक या गैर आर्थिक विशिष्टताएँ को आजीविका के लिए करने में असफल रहता है, उस जीवन-स्तर को निर्धनता की परिभाषा दी जाती है।

अर्थशास्त्री, दुःख तकलीफ की अवधारणा को बेहतर समझते हैं जो आर्थिक स्थिति या आर्थिक स्रोत को प्रतिबिम्बित करता है। हालाँकि व्यापक रूप से विभिन्न परिप्रेक्ष्य हैं जिसमें आर्थिक परिवर्ती, सर्वोत्तम रूप से उन व्यक्तियों को पहचान लेते हैं

जिनकी आर्थिक स्थिति न्यूनतम स्वीकृत स्तर से भी नीचे हैं। कुछ लोग परिवार की आय पर निर्भर होते हैं और इसकी तुलना में कुछ न्यूनतम आय स्तर या शरीरी रेखा पर। अन्य, आजीविका के संकेतक के रूप में, उपभोगता के स्तर को देखते हैं। फिर भी कुछ अन्य, अपने आर्थिक कल्याण के लिए अपने परिवार के स्वयं के आकलन पर निर्भर होते हैं और इस आकलन से, निर्णय तक पहुँचते हैं कि कौन गरीब है और ये कितनी संख्या में हैं।

दूसरी अवधारणा (अर्थशास्त्रियों के दृष्टिकोण से) जो अमर्त्य सेन द्वारा प्रतिपादित है, वह श्रमानव-क्षमताओं से संबद्ध है। यह अवधारणा व्यक्तियों की क्षमताओं पर आधारित है। अन्य निर्धन मानदण्डों की तरह, यह माप भी, जनसंख्या में उनको पहचानने की चेष्टा करता है जो सर्वाधिक कष्ट और विपत्तियों का अनुभव करते हैं और सबसे अधिक वंचित हैं। इस श्रेणी में, जो न्यूनतम आवश्यक आय के उत्पादन की क्षमता के वितरण में सबसे नीचे हैं, उन्हें ही सर्वाधिक गरीब माना गया है। यह आत्मनिर्भर निर्धनता है जो यह संकेत देता है कि आत्मनिर्भर गरीब, आर्थिक रूप से स्वतंत्र होने में असक्षम हैं। जो आय वे उत्पादित करने की क्षमता रखते हैं, वह सामाजिक रूप से पारिभाषित न्यूनतम जीवन स्तर के भी नीचे है। सारतत्त्व यह है, कि स्वतंत्र रूप से पर्याप्त आय प्राप्त करने में असक्षम होने के कारण, ताकि मूलभूत आवश्यकताओं की पूर्ति हो सके, यह संभव है कि और अधिक कमजोर और असुरक्षित स्थिति हो जाए, अपेक्षाकृत इसके किसी विशिष्ट वर्ष पैसे की कमी हो, या निम्न घरों में रह रहे हो या कभी कभार न्यूनतम स्वीकृत स्तर से भी नीचे उपभोक्ता स्तर में हो। अमर्त्य सेन द्वारा क्षमता की अवधारणा का विश्लेषण किया गया है— निर्धनता की जो मूलभूत असफलता है, वह है न्यूनतम रूप में पर्याप्त क्षमता और इसलिए उस निर्धनता को क्षमता का विफलता के संदर्भ में बेहतर माना जाता है अपेक्षाकृत विशिष्ट सामग्रियों की मौलिक आवश्यकताओं को पूरा करने में असफलता।

मानवीय क्षमता को, व्यक्तिगत एवं सामूहिक स्तरों पर परीक्षण किया जाता है। गरीबों को, व्यक्तिगत स्तर पर संपत्ति एवं क्षमता के विभिन्न प्रकार की आवश्यकता होती है, (जैसे स्वास्थ्य, शिक्षा तथा आश्रय), तथा सामूहिक स्तर पर (जैसे, अपनी समस्याओं के समाधान के लिए, सामूहिक क्रिया करना, संगठित एवं गतिशील करने की क्षमता,) क्षमता से निकट रूप से संबद्ध हैं अधिकार जिसका विकास, अमर्त्य सेन ने किया है। रसेन के अनुसार, अधिकार, सामाजिक रूप से स्वीकृत दावे हैं, उपलब्ध भोजन के ऊपर प्रभावी वैधानिक निर्देश है। किसी भी व्यक्ति का प्रभावी वैधानिक निर्देश उसका अधिकार होता है। आजीविका चलाने में

अधिकारों की विफलता ही ज्यादातर भूखमरी तथा अकाल में मृत्यु का कारण बनता है। ऐसा, पश्चिम बंगाल (भारत में) में 1942 के अकाल के अंतर्गत हुआ था और आधुनिक वर्षों में अफ्रीका के कुछ भागों में हो रहा है।

हालाँकि, अधिकारों के विस्तार को मानवीय कल्याण का अंतिम उद्देश्य नहीं समझना चाहिए इसके बजाय, वास्तविक रुचि का केन्द्र बिन्दु होना चाहिए कि लोग क्या कर सकते हैं और अपने अधिकारों के साथ रहें। मूल्य-सहित चीजों (कार्यान्वयन) को करने की क्षमता ही, वास्तविक तथ्य है। सेन के शब्दों, किसी व्यक्ति की क्षमता की परिभाषा इस प्रकार है—कार्यशील समूह जो विभिन्न होने या करने का प्रतिनिधित्व करता है, जो व्यक्ति, अपनी आय और सामाजिक एवं व्यक्तिगत विशेषताओं के द्वारा प्राप्त करता है। व्यक्ति के पोषित होने की क्षमता अन्य विशेषताओं पर निर्भर करता है, जो कि गैर-भोजन कारणों से प्रभावित है जैसे चिकित्सक—उपचार, स्वास्थ्य—सेवा, मौलिक शिक्षा, स्वच्छता व्यवस्था, साफ जल का प्रबंध, संक्रामक महामारी का उन्मूलन आदि। क्षमता की अवधारणा को अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर कार्यरत विश्व बैंक तथा गैर सरकारी संगठनों की कई निर्धनता उन्मूलन कार्यक्रमों में बहुत अधिक वर्चस्व प्राप्त हुआ। मुख्यतः इसलिए क्योंकि यह देखा गया है कि सिर्फ व्यक्तिगत या पारिवारिक आय में वृद्धि, व्यक्ति या परिवार को कायम रहने वाली क्षमता प्राप्त नहीं हो सकती जिससे वे लंबी अवधि के लिए गरिमापूर्ण जीवन के लिए न्यूनतम आय स्तर को प्राप्त कर सकें। और मानवीय क्षमताओं को सशक्त करने से, मानवीय विकास की संपन्नता सुनिश्चित हो सकती है। मानवीय क्षमता एवं मानव विकास, दोनों ही अन्योन्याश्रित एवं अंतर्संबंधित हैं।

25.2.1 निर्धनता से संबंधित अन्य अवधारणाएँ

अधिकतर निर्धनता का मुद्दा अन्य मुद्दों के साथ मिलकर उलझन पैदा करता है, जिससे इस तथ्य को अच्छी तरह नहीं समझा जा सकता। निम्नांकित प्रकार से हम इन मुद्दों पर प्रकाश डालेंगे कौन निर्धन हैं?

विभिन्न समाजों में निर्धनता का विचार भी भिन्न है, और यह मूल्य प्रभावित एवं आर्थिक कारणों पर संभवतः आश्रित होता है। लंबे समय से और कई संस्कृतियों में निर्धन सर्वथा धनीवर्ग के विपरीत नहीं होते हैं। अन्य विचार, जैसे जीवन के किसी पड़ाव से गिरना, श्रम के उपकरण से वंचित होना, अपने स्तर को खोना, सुरक्षा का अभाव, अपने समुदाय से बहिष्कार परित्याग, अशक्तता, या लोक अपमान—सभी निर्धनता की परिभाषा है। सिर्फ किसी विशिष्ट स्तर के आय को निर्धनता या किसी व्यक्ति को निर्धन घोषित करने का संकेतक नहीं माना जा सकता।

साक्षेप निर्धनता एवं सामाजिक बहिष्कार

जनसंख्या में व्यक्ति परिवार या समूह को निर्धन कहा जा सकता है जब उन्हें स्रोतों का अभाव रहता है जिससे उन्हें पोषण की प्राप्ति होती है, क्रियाओं में सहभागिता तथा ऐसी जीवन स्थिति और सुख साधन की आवश्यकता होती है जो प्रथागत है या व्यापक रूप से स्वीकृत है— उस समाज में जहाँ वे रहते हैं। औसत दर का व्यक्ति या परिवार, जिनके स्रोत गंभीर रूपसे बहुत कम होते हैं, वे सामान्य जीवन शैली प्रथा एवं प्रक्रियाओं से बहिष्कृत हो जाते हैं। सामाजिक बहिष्कार एक ऐसी प्रक्रिया है, जिसके माध्यम से व्यक्ति या समूह पूर्ण या आंशिक रूप से, जिस समाज में वह रहता है उसमें, पूर्ण सहभागिता से वह बहिष्कृत हो जाता है। सामाजिक बहिष्कार के विचार का फ्रांस में जन्म हुआ और अब उत्तर के पूरे औद्योगिक विश्व में प्रचलित है (अर्थात् विकसित उत्तर एवं यूरोपीय संघ)। हालाँकि, दक्षिण के देशों के लिए यह विवाद का मुद्दा है, (जैसे, विकासशील या अविकसित राष्ट्र)। क्योंकि दक्षिण के अधिकतर राष्ट्र न्यूनतम आवश्यकताओं से भी वंचित हैं और इसलिए मानवीय क्षमता की अवधारणा उनपर बहुत व्यापक रूप से लागू होती है।

चिरकालिक भूख और अकाल

चिरकालिक भूख चिरकालिक भूख जनसंख्या की कायम रहने वाली पोषणीय वंचन (अर्थात् कुपोषण) है। व्यापक वंचन का चिरकालिक भूख एक पहलू है जिसे निर्धनता समझा जाता है। कई बार, लोक समाचार पत्रों एवं विद्युत संचार में कुपोषित बच्चों एवं उनकी माँ के चित्र देखने को मिलते हैं, अधिकतर अफ्रीका के कई भागों में, जैसे सूडान, इथियोपिया, रवांडा, बुरुंडी, युगांडा आदि। 5 वर्ष से कम आयु के बच्चे, कुपोषण का सामना करते हुए मृत्यु को प्राप्त कर जाते हैं। इन देशों में, यह नियमित तथ्य है।

अकाल अकाल एक संकट की स्थिति है जिसमें अपर्याप्त भोजन से भुखमरी होती है और इसके साथ कई बीमारियाँ भी होती हैं जिसके परिणामस्वरूप मृत्यु-दर में वृद्धि होती है। हालाँकि, भूख का कारण सिर्फ अकाल ही नहीं है। विश्व के कई भागों में जहाँ अकाल कई दशकों से नहीं आया है, (अर्थात् चिरकालीन भूख) कायम रहने वाली पोषणी वंचन, जनसंख्या के बृहद् भागों द्वारा अनुभव किया जाता है। चिरकालीन भूख में लंबी अवधि की स्थिति के कारण विश्व भर के अधिक लोग मर जाते हैं अपेक्षाकृत अकाल के संकट से। सकल राष्ट्रीय उत्पादन (ग्रॉस नेशनल प्रॉडक्ट, (जी एन पी) तथा सकल घरेलू उत्पादन (ग्रॉस डोमेस्टिक प्रॉडक्ट, (जी डी पी) विकसित, विकासशील एवं अविकसित राष्ट्रों में देश को वर्गीकृत करते हुए राष्ट्रीय आय को ध्यान में रखा जाता है। राष्ट्रीय आय के अंतर्गत कई कारण होते हैं और उसके माप के लिए जी.एन.पी जी.टी.पी अवधारणाओं का प्रयोग होता है। जी एन पी का अर्थ है, देश में निजी एवं लोक खर्च के लिए प्राप्त पूर्ण आय, जबकि जी डी पी अर्थव्यवस्था के आकार को मापता है। फिर भी, दोनों की परिभाषा, तकनीकी रूप में उत्पादन के संदर्भ में होती है। जी.डी.पी, स्पष्टतः और सामान्यतः एक उत्पाद मात्र है, जिसकी परिभाषा है, अर्थव्यवस्था द्वारा प्रस्तुत सामग्री एवं सेवाओं का पूर्ण रूप से अंतिम उत्पादन।

जी एन पी के मामले में, उत्पादन का प्रयोग आय के माप को परिभाषित करने के लिए होता है। इसप्रकार जी एन पी संपूर्ण घरेलू एवं विदेशी उत्पादन है, जिसपर एक वर्ष में, श्रदेश के वासियों द्वारा उसपर दावा किया गया है। जिसपर उनका श्रदावाश रहता है, वह उनकी भी आय होती है। इसप्रकार जी एन पी, राष्ट्रीय आय का माप है और जी एन पी प्रति व्यक्ति दर, जनसंख्या के प्रत्येक सदस्य की औसत आय का माप है जिसमें सम्मिलित है, विदेशों से जो वे कमाकर या प्राप्त करते हैं। जी एन पी तथा जी डी पी निकट रूप से संबद्ध हैं। उदाहरण के लिए, भारत का जी एन पी, उस देश का उत्पादन है (जी डी पी) उससे कम, जिसका दावा विदेशी करते हैं (देश-प्रत्यावर्तित लाभ, प्रवासी श्रमिकों की कमाई आदि) उससे अधिक जो भारतीय अपने देश के बाहर कमाते हैं, (विदेशों से प्रेषित धन, बाहर निवेशों द्वारा आया लाभ, आदि)।

जी डी पी में वृद्धि को अर्थव्यवस्था की प्रगति का संकेतक माना जाता है। यदि कोई देश, जिसमें साक्षेपिक कम जनसंख्या हो तब जी डी पी तेजी से बढ़ता है और वह राष्ट्र विकसित या धनी देश के रूप में माना जाता है। उदाहरणतः स्वीडन, जापान, नारवे, अमरीका, ऑस्ट्रेलिया, ब्रिटेन, फ्रांस आदि इस रेणी के अंतर्गत आते हैं। इसके विपरीत, सामान्य जी डी पी वृद्धि वाले राष्ट्र जिसमें साक्षेपिक बड़ी जनसंख्या हो या अर्थव्यवस्था का आकार भी छोटा हो वह विकासशील या अविकसित राष्ट्र कहलाता है। उन्हें निर्धन राष्ट्र भी कहा जाता है। ऐसे राष्ट्र अधिकतर दक्षिण-पूर्वी तथा दक्षिण एशिया अफ्रीका तथा पूर्वी युरोप में स्थित होते हैं।

25.3 निर्धनता और असमानता

आगे बढ़ने से पहले, हम कुछ संबद्ध मुद्दों पर विचार करेंगे, अर्थात् निर्धनता एवं असमानता के बीच अंतर है। क्योंकि वे एक दूसरे को प्रभावित करते हैं? 1980 के दशक के प्रारम्भ से ही, भूमण्डलीकरण के आने पर, सभी के समक्ष एक सूक्ति सामने

आती है – धनी सर्वाधिक धनी होते जा रहे हैं और निर्धन और भी गरीब। यह सूक्ष्म रूप से धनी एवं निर्धन के बीच की खाई पर संकेत करता है जो बढ़ती जा रही है तथा आर्थिक असमानता एवं आय और व्यय की असमानता भी बढ़ती चली जा रही है हालाँकि निर्धनता और असमानता दो भिन्न-भिन्न हैं किन्तु एक दूसरे से संबद्ध भी हैं। आर्थिक असमानता, अधिकतर आय या व्यय का, जो कि समयावधि के साथ, जैसे वर्ष या महीना, उस व्यवस्था को दर्शाता है जिसमें लगातार किसी देश में समूह के सदस्यों में वस्तु का वितरण होता है। इस अर्थ में, चूँकि वितरण का अर्थ है – आपस में मिलबाँटना, तब यह तुलना का तथ्य हो जाता है। अर्थशास्त्री, जिस सामान्य प्रक्रिया का प्रयोग करता है, वह है, देश के घर परिवार से, सबसे उच्च 10: के भाग या प्रतिशत को निम्न 10: के तुलना करना। निर्धनता का माप कुछ भिन्न होता है। उसे मापने के लिए किसी मानक पर सहमत होना आवश्यक हो जाता है। यह मानक शारीरिक भी हो सकता है जैसे, प्रति व्यक्ति को प्रतिदिन कुछ कैलोरी की आवश्यकता होती है, जैसा कि एशियाई और अफ्रीकी राष्ट्रों में 1950 और 1960 में हुआ था। या फिर आर्थिक आँकड़ा भी जैसे कि कमाई या खर्च (एक दिन, एक महीना आदि)। शारीरिक मात्रा को प्रदान करता है उसका पता चल सके और उसकी कीमत पर भी सहमती हो सके। गरीबी रेखा, जो किसी सामान्य आकड़े के रूप में स्वीकृत किया गया है (उदाहरण के लिए, एक दिन में एक अमेरिकी डॉलर) और जो भी उसके नीचे होता है उसे निर्धन समझा जाता है। संक्षेप में, असमानता अनुपात के रूप में प्रदर्शित की जाती है, और गरीबी रेखा पूर्ण गुणन फल के रूप में, हालांकि न तो असमानता आर न ही गरीबी रेखा का माप सुस्पष्ट हो सकता है, मुख्यतः इसलिए क्योंकि आर्थिक स्थितिध्कारण के विषय में अवधारणा, घरों, तथा राष्ट्रीय स्तर के अंतर्गत अक्सर बदलती रहती हैं। उसीप्रकार लंबी अवधि के लिए सामग्री एवं सेवाओं का कोई एकरूपी मूल्य नहीं हो सकता जिसे अधिकतर उपभोक्ता व्यय के माप के रूप में देखा जाता है। इसलिए, निर्धनता एवं आर्थिक असमानता की व्यापकता के विषय में अर्थशास्त्रियों के बीच भिन्नता रहती है।

25.3.1 विकास, निर्धनता एवं असमानता

अधिकतर ऐसी धारणा है कि विकास (आर्थिक) निर्धनता और असमानता को कम करता है। तथापि, विकसित, विकासशील और कम विकसित देशों में कुछ समय तक किए गए अनुभव सिद्ध अध्ययन कुछ अन्य छवि दर्शाते हैं निरसन्देह रूप से विकास, निर्धनता और असमानता को प्रभावित कर सकता है लेकिन यह इसके प्रभाव की मात्रा को नहीं निर्धारित कर सकता है, विकास निर्धनता और असमानता को कम कर सकता है, निर्धनता को कम कर सकता है तो असमानता को बढ़ा सकता हैय यह निर्धनता और असमानता दोनों ही को बढ़ा सकता है। विकास एक रूप नम्बर का जोड़ नहीं है, इस कारण इसमें विविध पद्धतियाँ सम्भव हैं। यह परिवर्तन की एक प्रक्रिया है जो न केवल उत्पादन की मात्रा को प्रभावित करता है बल्कि उसके उत्पाद की रचना, उत्पादन संख्या, उस उत्पाद का तुलनात्मक मूल्य, उत्पादन की इस गतिविधि में समाज के विभिन्न वर्गों की भागीदारी, विभिन्न वर्गों के खरीदने की क्षमता आदि, और इसके साथ-साथ अनेक प्रक्रियाओं को प्रभावित करता है। यह कैसे निर्धनता और असमानता को प्रभावित करता है— इसका अनुभवसिद्ध परख करनी होगी। पुनः, हम एक देश के इस अध्ययन के परिणामों को अन्य देशों पर लागू नहीं कर सकते हैंय हों, इस अध्ययन के आधार पर एक अनुमानित निष्कर्ष निकाल सकते हैं जिसके आधार पर विभिन्न परिस्थितियों में इस अध्ययन की जाँच की जा सकती है। उदाहरण के तौर पर, यदि मजदूरों को हटाकर खाद्य पदार्थ के उत्पादन में वृद्धि की जाती है, और इस उत्पाद का एक बड़ा हिस्सा निर्यात किया जाता है तो यह निर्धनता और असमानता—दोनों ही को बढ़ा सकता है। इसके ठीक विपरीत, यदि खाद्य उत्पाद की वृद्धि के कारण इसके मूल्य में कमी आती है तो यह निर्धनता में भी कमी सम्भव है।

1990 के दशक में अमेरिका में किए गए विभिन्न अनुभवसिद्ध अध्ययन यह दर्शाते हैं कि 1970–80 के दशकों के बीच यद्यपि अमेरिका का आर्थिक विकास और विस्तार बहुत ही तीव्र गति से हो रहा था तथापि यहाँ के अमीर और गरीब के बीच की खाई बढ़ती जा रही थी। 1977 और 1990 के बीच किये गये एक प्रमाणिक अध्ययन के अनुसार अमेरिका के हर पाँचवें सबसे गरीब व्यक्ति की आमदनी में 5: की कमी हो गई है जबकि हर पाँचवां सर्वाधिक धनी व्यक्ति 9: अधिक धनी हो गया है। 1950 और 1960 के दशक के सर्वाधिक गरीब की 5.5: आमदनी से घट कर यह राष्ट्र की कुल आमदनी की तुलना में 1990 में घटकर यह 3.7: पर आ गई। जबकि हर पाँचवें सर्वाधिक धनी व्यक्ति की आमदनी राष्ट्र की कुल आमदनी के आधे से थोड़ा ज्यादा हो गई। अमेरिका की उच्च आमदनी वाले 5: उस देश के कुल आमदनी का 26: का कमान संभालते हैं। असमानता में इस प्रकार का बदलाव अनेक सामान्य अमेरिकी लोगों के जन जीवन को प्रभावित किया। बहुत लोगों को तो रोजगार मिला था लेकिन उन्हें जो सुविधाएँ दी गई थीं वे रहने के न्यूनतम स्तर को भी पूरी नहीं कर पाती थीं। इससे निर्धनता में वृद्धि हुई। इस प्रकार के पाए गए परिणाम असमानता और निर्धनता के बीच सम्बन्ध को स्थापित करते हैं।

25.4 निर्धनता की माप

सामान्यतया सभी समाजों का यह लक्ष्य होता है—निर्धनता में कमी लाना। तथापि किसी भी राष्ट्र, संगठन और विद्वानों में निर्धनता का कोई माप—दण्ड निर्धारित नहीं है। निर्धनता प्रतिव्यक्ति प्रति दिन आय पर लागू होता है। अतः प्रतिव्यक्ति

प्रतिदिन की आमदनी को ध्यान में रखते हुए निर्धनता का माप तैयार किया जाता है। उदाहरण के तौर पर, कई बैंकों द्वारा गरीबी रेखा निर्धारित की जाती है जो कि आमदनी के स्तर का प्रतिनिधित्व करती है। इस निर्धारित गरीबी रेखा से नीचे की आमदनी वाले लोग अत्यधिक निर्धन माने जाते हैं। यदि एक व्यक्ति की आमदनी प्रतिदिन एक अमेरिकी डॉलर से कम है तो वह गरीबी रेखा से नीचे और अत्यधिक निर्धन माना जाएगा (1985 की खरीददारी की क्षमता का माप। किसी व्यक्ति की आमदनी सम्पूर्ण राष्ट्र के उत्पाद पर मानी जाती है। प्रतिव्यक्ति जी एन पी ही उस राष्ट्र के लोगों के रहन-सहन को व्यक्त करता है। प्रति व्यक्ति जी एन पी में वृद्धि विकास को सूचित कर सकता है जो कि समृद्धि या आर्थिक-सम्पन्नता में वृद्धि को इंगित करता है और परिणामतः निर्धनता में भी कमी आती है तथापि प्रति व्यक्ति जी एन पी की एक सीमा है (हकदारिता के आलोक में)। प्रति व्यक्ति जी एन पी बाजार-मूल्यांकन पर आधारित औसत आमदनी का माप है। फलतः अनेक विधियाँ हैं, जिसके कारण यह निर्धनता को पूर्ण रूप से इंगित कर पाने में असमर्थ हैं। सामान्य रूप से, धनी और गरीब के बीच धन के बँटवारे के विषय में प्रति व्यक्ति जी एन पी कुछ भी इंगित नहीं करता है। सम्पूर्ण राष्ट्र के स्तर पर निर्धनता के माप को निर्धारित करना और फलस्वरूप कुछ देशों को उनके प्रति व्यक्ति जी एन पी के आधार पर गरीब करार देना—हाल फिलहाल की घटना है। विश्वव्यापी निर्धनता पूर्ण रूप से नई और आधुनिक संरचना है और विश्वव्यापी उपभोक्ता समाज के आगमन ने अवधारणा को आगे बढ़ाया है।

विश्वव्यापी स्तर पर विश्व बैंक के साथ-साथ अन्य संस्थाएँ और अनुसंधानकर्ता नियमित रूप से गरीब लोगों के आँकड़े निकालते हैं। हाल ही में, विश्व बैंक के द्वारा निकाला गया आँकड़ा यहाँ तालिका-1 में दिए गए हैं। इस तालिका से स्पष्ट है कि 20 वीं शताब्दी के अंत में विश्व में 2.8 अरब से अधिक लोग गरीबी रेखा के नीचे हैं। गरीबों की सर्वाधिक संख्या दक्षिण अफ्रीका में थी—उपरोक्त संख्या के आधे से ज्यादा लोग तथापि, 1990 के दशक में दक्षिण अफ्रीका में गरीबी रेखा में कमी आई है। दक्षिण अफ्रीका के बाद उप-सहारा अफ्रीका था, जहाँ गरीबों की संख्या और निर्धनता के दर में वृद्धि हुई है। पूर्वी अफ्रीका में गरीबों की संख्या और निर्धनता के दर में कमी आई है। चीन भी निर्धनता में कमी लाने में समर्थ हुआ है, पूर्वी यूरोप और केन्द्रीय एशिया में निर्धनता पाँच गुना बढ़ गयी है। इस प्रदेश में गरीबों की संख्या में वृद्धि राजनीतिक उथल-पुथल को सूचित करता है जो कि अच्छे सरकार को प्रभावित करता है और खासकर, सामाजिक खंड को। मध्य पूर्व और उत्तरी अफ्रीका में निर्धनता में उल्लेखनीय कमी आई है, तथापि लैटिन अमेरिका और कैरिबियन में स्थिति करीब-करीब वैसी ही बनी रही। यद्यपि विश्वव्यापी स्तर पर निर्धनता के दर में एक स्तर तक कमी आई है लेकिन गरीबों की संख्या करीब उतनी ही है। ऐसी स्थिति एक विचारणीय परिस्थिति को उत्पन्न करती है। हालाँकि निर्धनता हटाने के लिए बहुत बृहद् पैमाने पर प्रयास किये जा रहे हैं, लेकिन इसकी सफलता संतोषप्रद नहीं है।

तालिका-1

क्षेत्र द्वारा पी पी पी पर 1.08 डॉलर से नीचे तथा 2.15 डॉलर प्रतिदिन रहने वाली जनसंख्या

क्षेत्र	1.08 डालर प्रतिदिन				2.15 डालर प्रति दिन			
	प्रति व्यक्ति जोड़ सूची (:) गरीबों की संख्या (करोड़)				प्रति व्यक्ति जोड़ सूची (:) गरीबों की संख्या (करोड़)			
	1987	1998	1987	1998	1987	1998	1987	1998
पूर्वी एशिया (चीन को छोड़कर)	26.60 23.94	14.71 9.47	417.53 114.14	267.30 53.87	67.04 62.90	48.72 44.29	1052.32 299.92	885.29 252.01
पूर्वी यूरोप तथा केन्द्रीय एशिया	0.24	3.75	1.07	17.80	3.59	20.70	16.35	98.24
लैटिन अमरीका और कैरीबियन	15.33	12.13	63.66	60.86	35.54	31.72	147.56	159.14
मध्यपूर्व और उत्तर अफ्रीका	4.30	2.11	9.31	6.03	30.03	29.85	65.09	85.28
दक्षिण एशिया	44.94	40.00	474.41	521.84	86.30	83.93	911.04	1094.95
उप-सहारा अफ्रीका	46.61	48.05	217.22	301.32	76.52	77.95	356.64	488.82
कुल (चीन को छोड़कर)	28.31 28.51	23.45 25.56	1183.19 879.81	1175.14 961.71	61.00 85.22	56.11 57.90	2549.01 1796.61	2811.73 2178.44

नोट : प्रति व्यक्ति जोड़ सूची, जनसंख्या का वह प्रतिशत है जो घरों में रहता है तथा जिसकी आय या उपभोग, प्रति व्यक्ति, गरीबी रेखा से कम है।

स्रोत : चेन, एस. और रवानियन, एम. (2001) 'दी रिव्यू ऑफ इन्कम एण्ड वेल्थ' सीरीज 47, सं. 3 में 'हाउ डिड दी वलर्ड्स पुअरेस्ट फेअर इन दी 1990 डेकेड'?

25.5 मानव विकास क्या है?

पिछले विश्लेषण से बहुत महत्वपूर्ण मुद्दा सामने आया और वह है—मानव सक्षमताएँ ही निर्धनता को हटाने में महत्वपूर्ण हैं। सुधरी सक्षमताओं में वृद्धि ही किसी व्यक्ति के सामाजिक विकल्पों के दायरे को बढ़ाती है, जो उसे एक सम्मानपूर्ण जीवन जीने में सहायक होती है। परम्परागत रूप में किसी व्यक्ति की सम्पन्नता उसकी भौतिक सम्पन्नता में देखी जाती थी जैसे कि — एक व्यक्ति विशेष के पास कितनी धन—सम्पत्ति, जमीन—जायदाद, आदि है। समुदाय या समाज के लिए किसी व्यक्ति की सम्पन्नता का मापदण्ड उनके द्वारा देश के अधिकांश सम्पत्ति पर वर्चस्व के आधार पर था। तथापि, हाल ही के समय में इस सोच में बहुत ही गम्भीर बदलाव आया है। इसमें मानव विकास पर ज्यादा बल दिया गया है जो व्यक्ति विशेष के साथ-साथ समाज और राष्ट्र के वृहद् दृष्टिकोण के दायरे को समाहित करता है।

25.5.1 मानव कल्याण: पारम्परिक सोच

काफी समय तक, मानव समुदाय की सम्पन्नता (भौतिक) के आँकलन में दो सोपान शामिल थे। पहला, समुदाय के प्रत्येक व्यक्ति की सम्पन्नता का आँकलन (आमदनी के आधार पर)। दूसरा, प्रत्येक व्यक्ति के आमदनी के योग के आधार पर उस समाज के सम्पन्नता को मापना। परम्परागत रूप से, सम्पन्नता को भौतिक सम्पन्नता का समानार्थक माना जाता था और इसका आकलन व्यक्ति विशेष के भौतिक स्रोतों पर वर्चस्व के आधार पर होता था। चूँकि पैसा ही सभी भौतिक साधनों को हासिल करने का आम साधन था। अतः ऐसी अवधारणा थी कि आमदनी की कुछ प्रक्रियाएँ सम्पन्नता के अधिकांश पहलुओं को समाहित करेगी और इसे भली-भाँति आँकेगा। इसके अनुसार, किसी व्यक्ति विशेष की सम्पन्नता केवल उसके आमदनी के आधार पर आँकी जाती थी। सभी व्यक्तियों की सम्पन्नता का सार उनकी आमदनी के सभी घटकों को बहुत ही साधारण जोड़ के आधार पर निकाल लिया जाता था। इसके कुल योग को प्रति व्यक्ति आमदनी निकालने के लिए विभाजित कर दिया जाता था। इस प्रकार प्रतिव्यक्ति जी एन पी या इसी का कोई दूसरा रूप बहुत समय तक सम्प्रदाय की सम्पन्नता का सूचक बना रहा। इस माप की सबसे बड़ी कमी यह थी कि इसमें केवल व्यक्तिस्वसमुदाय की आमदनी को ध्यान में रखा गया और अन्य महत्वपूर्ण घटकों पर ध्यान नहीं दिया गया जैसे—मानव सक्षमता, महिलाओं की प्रतिष्ठा (आमदनी स्तर के बावजूद), राजनीतिक स्वतंत्रता आदि। इन कमियों से उबरने के लिए 1970 के दशक के मध्य से कुछ ऐसी सोच उभरी है जो मुख्यतया समाज में आमदनी का बँटवारा तथा प्रत्येक व्यक्ति को सामाजिक विकल्पों की उपलब्धता के इर्द-गिर्द केन्द्रित था, ताकि सम्मानपूर्ण जीवन जीने में इजाफा हो सके।

25.5.2 मानव विकास : वर्तमान सोच

परम्परागत दृष्टिकोण में (अर्थात् भौतिक सम्पन्नता) — लोगों का साधनों पर वर्चस्व ही विकास है, जैसे आमदनी का प्रवाह और सम्पत्ति की हकदारी या जीवन की गुणवत्ता को सुधारने पर खर्च जैसे—शिक्षा, स्वास्थ्य, पोषण, घर, सुरक्षित पेय—जल, सफाई, और अन्य सामाजिक सेवाएँ। जीवन के स्तर में सुधार के लिए आर्थिक विकास आवश्यक हो तथापि, विकास का बेहतर गुणवत्ता और जीवन के अंतर्वस्तु में परिवर्तन स्वतः सम्भव नहीं। यह बहुत मायने रखता है कि समाज द्वारा उच्चतर लक्ष्य पाने के लिए स्रोतों को योग्यतापूर्वक उपयोग में लाया गया है या व्यर्थ रूप से खर्च किया गया है, जैसे कि युद्ध, शराब या अन्य नशीली पदार्थ के उत्पाद या उसके उपयोग पर, देह व्यापार, जुआ आदि। आधुनिक सोच के अनुसार मानव विकास को इस आधार पर देखा जाता है कि आर्थिक विकास को जीवन के विभिन्न पहलुओं के सुधार के लिए किस प्रकार सफलता पूर्वक उपयोग किया गया है। जीवन के ये विभिन्न पहलू क्या हैं? ये हैं, ज्ञान हासिल करना, स्वस्थ और लम्बी आयु। विकास का यहाँ अर्थ है—मानवोन्मुखी और लोगों की क्षमता का विस्तार। लोगों की क्षमता का आकलन उनके खुद के और समेकित रूप से समाज के सुधार की योग्यता पर निर्भर करता है। उदाहरण के तौर पर, एक अज्ञानी और अस्वस्थ व्यक्ति की क्षमता ज्ञानी और स्वस्थ व्यक्ति की तुलना में कहीं कम होगी और परिणामस्वरूप उस अज्ञानी के विकास का स्तर हमेशा नीचे रहेगा।

1990 के दशक के शुरुआत से मानव विकास पर विवाद संयुक्त राष्ट्र विकास कार्यक्रम (यू एन डी पी) द्वारा चलाए गए बृहद् कार्यक्रमों का परिणाम था। इसका उद्देश्य था, प्रत्येक राष्ट्र के मानव विकास के ढाँचे को विश्व के सामने लाना। य एन डी पी ने 1990 में अपनी पहली मानव विकास रिपोर्ट प्रकाशित की और तबसे यह रिपोर्ट हर वर्ष आने लगे। प्रत्येक देश के मानव विकास के स्तर का आँकलन के लिए न्यूक् ने भू मानव विकास सूचक) बनाया। HDI में तीन पहलू

शामिल हैं— आयु संभाविता, प्रौढ़ शिक्षा और स्वास्थ्य जी.डी.पी. मानव विकास की सीढ़ियाँ जैसे— विकास के विभिन्न सूचकों में कौन कहाँ आता है, जैसे कि महिला साक्षरता, माँ और बच्चे का मृत्यु दर, जीवन की आशाएँ, वृद्धावस्था सुरक्षा, आवास और सफाई, आमदनी और उपभोग। मानव विकास की प्रमुख समस्या है कि प्रत्येक देश का आर्थिक विकास, विशेष रूप से कम विकसित और विकाशील देशों का, मानव केन्द्रित होना चाहिए। मानव विकास के लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए प्रत्येक देश को मानव जीवन के गुणवत्ता और अंतर्वस्तु में सुधार को सुनिश्चित करना होगा तथापि, मानव विकास और मानव संसाधन विकास—दोनों में अंतर है। मानव विकास एक वृहद् विषय है जो कि ज्यादातर मानवों को लाभान्वित करती है और विकास प्रक्रिया पर ही जाकर खत्म होती है, जबकि मानव संसाधन विकास मनुष्य को महज एक पूँजी या विकास प्रक्रिया में प्रतिभागी के रूप में मानता है। मानव विकास का उपगमन वर्गीकरण सिद्धान्त पर जोर देता है (आमदनी के) जबकि मानव स्रोत विकास उत्पाद की संरचना को सूचित करता है। मानव विकास को इस रूप में संक्षेपित कर सकते हैं—यह लोगों के पसंद को बढ़ाने की प्रक्रिया है।

जैसाकि पहले उल्लेख किया गया है, मानव विकास को आँकने की तीन सूची है—(1) लोगों के शिक्षा के स्तर को आँकने के लिए प्रौढ़ शिक्षा दर (2) स्वास्थ्य स्तर को आँकने के लिए आयु संभाविता और (3) जीवन के स्तर को आँकने के लिए प्रतिव्यक्ति जी डी पी। पहले दो घटक अर्ध-लोक कल्याणकारी होते हैं, जिन्हें सम्बन्धित प्रत्येक देशों की सरकार आर्थिक सहायता के माध्यम से मदद की जाती है। मानव विकास की उपलब्धता का स्तर, प्राप्त आर्थिक सहायता के स्तर से प्रभावित होता है। यह इस तथ्य को रेखांकित करता है कि साक्षरता का अभाव या उससे वंचन और आयु संभाविता एक-दूसरे से भिन्न होती हैं जो कि मुहैया कराई गई आर्थिक सहायता की विभिन्नता पर निर्भर करता है। आर्थिक सहायता की व्यवस्था शिक्षा और स्वास्थ्य के विकास की प्राथमिकता के साथ ही आर्थिक विकास पर भी निर्भर करता है (इन दोनों स्वास्थ्य और शिक्षा को कम दर में सामग्री उपलब्ध कराने की आर्थिक क्षमता)। तथापि, ये तीन प्रक्रियाएँ—पूँजी बनाना, मानव विकास और आर्थिक विकास किसी भी देश या समाज में साथ-साथ होता है इन प्रक्रियाओं का उद्देश्य है निर्धनता को हटाना जो कि लोगों के विकल्पों के दायरे को बढ़ाता है।

25.5.3 विश्वव्यापी स्तर पर मानव विकास का स्तर

तालिका-2 विश्वव्यापी स्तर पर मानव विकास को दर्शाता है। मानव विकास सूचक (भू) को विश्व को विभिन्न प्रदेशों पर प्रकाश डालने के लिए उपयोग में लाया जाता है। यह स्पष्ट रूप से दर्शाता है कि मानव विकास के लक्ष्य को पाने में विकसित देश, विकासशील या कम विकासशील देशों से कहीं आगे हैं। उप-सहारा अफ्रीका और दक्षिण एशिया— दो प्रदेश तो बहुत ही खराब स्थिति में हैं। इन प्रदेशों की आयु संभाविता, प्रौढ़ शिक्षा और प्रतिव्यक्ति आमदनी, उच्च देशों के कहीं आस-पास भी नहीं है। इनके इस दयनीय परिस्थिति को निम्न स्तरीय जीडीपी विकास से जोड़ा जा सकता है। शीघ्र आर्थिक विकास को पाने का एक रास्ता है—इनकी आर्थिक नीतियों को पनरू परिभाषित करना। निर्धनता निवारण कार्यक्रम बेरोक-टोक चलना आवश्यक है क्योंकि तालिका-2 निर्धनता और मानव विकास की बहुत कम प्राप्ति में सम्बन्ध को स्पष्ट रूप से दर्शाता है। अत्यधिक निर्धनता ही मानव विकास की प्राप्ति में कमी का कारण है।

तालिका-2

मानव विकास सूची

	जन्म के समय आयु संभाविता (प्रतिशत आयु 15 (वर्ष))	प्रौढ़ साक्षरता दर तथा उसके ऊपर)	जी डी पी प्रति दर (पीपीपी यू. एस \$) प्राथमिक, माध्यमिक और तृतीयक संयुक्त रूप में सकल नामांकन अनुपात (%)	
	2000	2000	1999	2000
विकासशील देश	64.7	737	61	3,783
न्यूनतम विकसित देश	51.9	52.8	38	1,216
अरब राज्य	66.8	62.0	62	4,793

पूर्वी एशिया और पैसिफिक	69.5	85.9	71	4,290
लैटिन अमरीका और कैरिबियन	70.0	88.3	74	7,234
दक्षिण एशिया	62.9	55.6	53	2,404
उप-सहारा-अफ्रीका	48.7	61.5	42	1,690
केन्द्रीय और पूर्वी यूरोप तथा सी.आई.एस	68.6	99.3	77	6,930
ओ ई सी डी	76.8	100.00	87	23,569
उच्च आय ओ ई सी डी	78.2	100.00	94	27,848

नोट : उच्च आय वाली ओ ई सी डी श्रेणी में जो देश आते हैं, वे हैं नॉर्वे, स्वीडन, कनाडा, अमरीका, ऑस्ट्रेलिया, जापान ब्रिटेन, आदि। लगभग 25 ओ ई सी डी देश हैं। ओ ई. सी डी का अर्थ है आर्थिक सहयोग और विकास का संगठन।

स्रोत : यू एन डी पी, 2002, मानव विकास प्रतिवेदन, जेनेवा, स्विटजरलैंड।

25.5.4 मानव विकास को सुधारने के कदम

विकासशील और कम विकसित देशों में मानव विकास की अति दयनीय छवि को देखते हुए इसमें सुधार के लिए विभिन्न गतिविधियों का सुझाव दिया गया है। इन कार्यक्रमों का विस्तृत रूप इस प्रकार है—

(1) अत्यधिक निर्धनता और भूख का उन्मूलन

अगर तालिका-1 और 2 को देखा जाए तो यह स्पष्ट है कि निर्धनता और मानव विकास में सीधा और आनुपातिक सम्बन्ध है। अगर कोई देश गरीब है तो उसके मानव विकास का आंकड़ा असंतोषप्रद है। लोग विभिन्न अक्षमताओं का सामना करते हैं जैसे—अशिक्षा, अल्पायु आदि। ये अक्षमताएँ सामाजिक बुराइयों से युक्त त्रुटिपूर्ण दायरे को बनाती हैं। अतः विकासशील और कम विकसित देशों का यह अबिलम्ब लक्ष्य होना चाहिए कि ऐसे लोगों की संस्था में कमी लाएँ तो प्रतिदिन एक अमेरिकी डॉलर से भी कम कमाते हैं। साथ ही भूख से पीड़ितों की संख्या में भी कमी लाना अत्यावश्यक है।

(2) सार्वजनीन प्राथमिक शिक्षा प्राप्त करना

सभी के लिए प्राथमिक शिक्षा अनिवार्य है क्योंकि अशिक्षा अनेक सामाजिक कठिनाइयों को उत्पन्न करती है। आज के समय में, विशेष रूप से लड़कियों की प्राथमिक शिक्षा अत्यन्त आवश्यक है। ऐसा पाया गया है कि जिस देश में महिलाओं को और विशेष रूप से गाँव की महिलाओं को, प्राथमिक शिक्षा दी गई है, वहाँ जनसंख्या वृद्धि दर, और बच्चों के मृत्यु दर में कमी होती है। जैसे कि — श्रीलंका, फिलीपिन्स, मलेशिया, केरल (भारत में) ने लड़कियों की प्राथमिक शिक्षा के कारण जन्म दर और बच्चों के मृत्यु दर में कमी आई है। अतः यह सुनिश्चित करना आवश्यक है कि सभी जगह बच्चों को — लड़का-लड़की दोनों को एक समान—प्राथमिक शिक्षा का पूर्ण पाठ्यक्रम पढ़ाया जाए।

(3) लिंग समानता को प्रोत्साहन और महिला सशक्तीकरण

ऐसा पाया गया है कि विकासशील और कम विकसित देशों में प्राथमिक और माध्यमिक शिक्षा के नामांकन में लड़का और लड़की में भेद किया जाता है। ऐसा होने का प्रमुख कारण यह है कि इन देशों में, और खासकर गाँवों में, माता-पिता लड़कों को प्राथमिकता देते हैं, उनकी शिक्षा पर ज्यादा पैसे खर्च करते हैं, जबकि लड़कियों की शिक्षा को महत्व नहीं दिया जाता। उनका मानना है कि लड़कियों का काम घर सँभालना, घर के काम करना और बच्चे पैदा करना और उनका पालन-पोषण करना है। लड़कियों के विवाह की उम्र बहुत कम होती है। प्राथमिक शिक्षा के बाद पढ़ाई छोड़ने की दर लड़कियों में बहुत अधिक है क्योंकि इनकी कम उम्र में ही शादी कर दी जाती है। प्राथमिक और माध्यमिक शिक्षा में

लिंग-विभेद का उन्मूलन अत्यावश्यक है इसके साथ ही महिलाओं को लाभप्रद रोजगार मंजूर करके उन्हें सशक्त करना आवश्यक है या स्व-रोजगार सुनिश्चित करना, जिससे वे आर्थिक रूप से स्वावलम्बी बन सकें। सशक्तीकरण हर व्यक्ति-विशेष की वांछित प्रक्रिया है, जिसमें अत्यधिक गरीब को शामिल कर उन्हें अपनी जिन्दगी की कमान संभालने को दी जाए। एक बार ऐसा करने के लिए जब वे सशक्त हो जाएं तब शायद वे स्व-विकास के प्रतिनिधि के रूप में समर्थ होंगे।

(4) बच्चों के मृत्यु दर में कमी

विकासशील और कम विकासशील देशों, खासकर गांवों में गर्भवती महिलाओं में कुपोषण और अल्प-पोषण बहुत अधिक होता है। इसके कारण उन्हें बहुत तरह की बीमारियां होती हैं और ऐसी महिलाओं से पैदा हुए बच्चे 5 वर्ष की उम्र होने तक मर जाते हैं। दक्षिण एशिया और उप-सहारा अफ्रीका में 5 वर्ष से कम उम्र के बच्चों का मृत्यु दर अप्रत्याशित रूप से बहुत अधिक है, कम आमदनी और गंदगी, बच्चों की बीमारियाँ मृत्यु-दर को बढ़ा देती हैं। बच्चों की मृत्यु दर में कमी पारिवारिक ढाँचे को स्थिरता प्रदान कर सकती है और परिवार का आकार छोटा रखते में मदद कर सकती है।

(5) मातृ-स्वास्थ्य में सुधार

जैसा कि पहले कहा जा चुका है कि गरीब देशों में कुपोषण, अल्प-पोषण और गन्दगी के कारण गर्भवती महिलाओं में बीमारियाँ बहुत ज्यादा होती हैं। इसके कारण बच्चों पर बहुत बुरा असर पड़ता है और खासकर 5 वर्ष से कम उम्र के बच्चों पर। गरीब देशों में गर्भवती महिलाओं का मृत्यु दर अप्रत्याशित रूपसे अधिक है। शिशु मृत्यु-दर को कम करने के लिए मातृ स्वास्थ्य में सुधार की आवश्यकता है, खासकर गर्भ-पूर्व और गर्भ के बाद के समय में।

(6) एच आई वीएड्स, मलेरिया अन्य बीमारियों से मुकाबला

1980 के दशक के शुरुआत से दक्षिण एशिया और उप-सहारा अफ्रीकी देशों में एच आई वीएड्स बहुत तेजी से फैल रहा है जिससे पुरुष, महिला और बच्चों की मृत्यु हो रही है, विशेष रूप से मासूम बच्चे इस बीमारी का शिकार बन रहे हैं। ऐसा अनुमान है कि इक्कीसवीं शताब्दी के मध्य तक गरीब देशों में यह बीमारी महामारी का रूप ले लेगी और वहाँ की सरकार का अधिकांश धन इस बीमारी से मुकाबले में खर्च होगा। इस बीमारी के साथ ही, मलेरिया भी बहुत गम्भीर विचारणीय विषय है क्योंकि इस बीमारी को वश में करने के हर प्रयासों के बावजूद भी बहुत कम सफलता मिली है। अगर इन बीमारियों पर काबू में नहीं किया गया तो मानव विकास में सुधार की कोई आशा नहीं रहेगी।

(7) पर्यावरण धारणीयता सुनिश्चित करना

1990 के दशक के शुरुआत से आर्थिक-विकास की अवधारणा वहनीय विकास (एस डी) के रूप में परिणत हो गई है। वहनीय विकास एक विस्तृत संकल्पना है जिसमें आर्थिक उन्नति भी शामिल है। संकल्पनिक रूप से, वहनीय विकास एक अच्छे स्रोत के रूप में प्रस्तुत किया जाता है जिसका वर्तमान पीढ़ी इस उद्देश्य से उपयोग करती है ताकि भविष्य की पीढ़ी के लिए भी इसी प्रकार के स्रोत प्राप्त हों। व्यावहारिक स्तर पर इसे विकास परियोजना के लक्ष्य के रूप में प्रस्तुत किया जाता है और विशेष रूप से स्थानीय परियोजनाओं के जो पर्यावरण स्रोतों को शामिल करती हैं (मिट्टी, पेड़-पौधे, जंगली-जीवन)। वहनीय विकास (एस डी) इन तीन प्रमुख क्षेत्रों में समकलित कार्यवाही की अपेक्षा रखती है।

(क) आर्थिक विकास और समृद्धि

(ख) प्राकृतिक संसाधनों और पर्यावरण का संरक्षण, और

(ग) सामाजिक विकास

वहनीय विकास एक ऐसा विकास है जो कि वर्तमान की आवश्यकताओं को पूरा करता है जिसमें वह भविष्य की पीढ़ी की आवश्यकताओं को पूरा होने की योग्यता पर समझौता नहीं करता है।

25.6 भूमण्डलीकरण, निर्धनता एवं मानव-विकास

1980 के दशक के शुरुआत से विश्व भूमण्डलीकरण के बहाव में आ गया है। विश्व बैंक, IMF और WTO द्वारा विकासशील और कम विकसित देशों को यह सुझाव दिया जाता है कि आर्थिक गतिविधियों में राज्य-सरकार के हस्तक्षेप को कम करें और बाजार की शक्ति की वृहद् भूमिका को सुनिश्चित करें। यद्यपि ये देश के अन्तर्गत अपनी अर्थव्यवस्था का समायोजन करते हुए इस नई सोच को शामिल करने का प्रयास कर रहे हैं तथापि इसके लिए कुछ विरोध और इसकी सफलता में शंका है। इसकी सफलता में शंका का प्रमुख कारण है- विकास की गतिविधियों से सरकार को हस्तक्षेप का हटना जो कि यह गरीबों की भलाई को बुरी तरह प्रभावित करता है क्योंकि बाजार की ताकत अपने लाभयुक्त गतिविधियों में जुटी हुई है

और सामाजिक विकास की उपेक्षा करती हैं। अफ्रीकी और दक्षिण एशियाई देशों में के लागू होने का आकलन बहुत उत्साहवद्धक नहीं है। बल्कि रोजगार की संभावना को कम कर दिया है और निर्धनता उन्मूलन प्रत्याशाओं को भी हानि पहुँचायी है।

भूमण्डलीकरण के साथ-साथ विकासशील और कम विकसित देश निजीकरण और लोक क्षेत्रों में विनिवेश की प्रक्रिया से गुजर रही है। ऐसा तर्क दिया जाता है कि शिक्षा, स्वास्थ्य सेवाएँ, बिजली, पानी और अन्य बुनियादी सुविधाओं के निजीकरण से इनकी गुणवत्ता में सुधार होगा और इससे मानव विकास के स्तर में इजाफा होगा। फिर भी, साक्ष्य यह दिखाते हैं कि इन सेवाओं के निजीकरण का लाभ वे ही उठा पाए हैं जो अधिक पैसा भुगतान करने में समर्थ हैं। इसके विपरीत, जो इस उच्च दरों को चुकाने में असमर्थ हैं, वे इन सुविधाओं से वंचित हैं। अभी तक बाजारी ताकत का प्रोत्साहन गरीब लोगों के लिए इस अर्थ में हानिकारक साबित हुआ है कि राज्य सरकार की निर्धनता उन्मूलन कार्यक्रम में भागीदारी बहुत कम हो गयी है। साथ ही, सरकार की राजकीय (सार्वजनिक) खर्च में कमी आ रही है।

ऐसा उदाहरण पुस्तुत करने का प्रयास किया जा रहा है जो की गरीबों के फायदे का हो और बाजारी ताकत के लाभ के उद्देश्य को अपने में विलीन कर ले। इस खाई को भरने के लिए गैर सरकारी संस्थाओं की भूमिका का सुझाव दिया जाता है और यही कारण है कि वर्तमान में विश्व में अनेक गैर सरकारी संस्थाएँ उभर का आई हैं। तथापि, इन गैर सरकारी संस्थाओं को आवंटित कार्यप्रणालियों तथा समर्थ संस्थाओं और सरकार द्वारा इन्हें दी गई आर्थिक सहायता, इनके स्वतंत्र रूप से कार्य करने पर प्रश्नचिह्न लगाती है। क्या ये सार्वजनिक और सामाजिक वस्तुओं के उपलब्ध कराने में राज्य सरकार के रिक्त स्थान को भर सकते हैं? ये बहुत कम गरीबों और जरूरतमंद लोगों तक पहुँच सकते हैं और वे भी ज्यादातर शहरी क्षेत्र और कस्बों तक ही। लेकिन गाँव में रहने वाले अधिकांश गरीबों का क्या होगा? सरकार के पीछे हटने के बाद इन गरीबों की देख-भाल कौन करेगा। इन प्रश्नों का कोई उत्तर नहीं है। इस भूमण्डलीकरण और निजीकरण की प्रक्रिया में गरीब भुगत रहे हैं। यही कारण है कि हम भूमण्डलीकरण की माँग को अक्सर मानवता के दृष्टिकोण से सुनते हैं। यह मानवकेन्द्रित आर्थिक विकास की महत्ता को रेखांकित करता है।

25.7 सारांश

निर्धनता के प्रति दो विस्तृत दृष्टिकोण उभर कर आए हैं— पहला है, समाजविज्ञानी का और दूसरा है— अर्थशास्त्री का। समाजविज्ञानी इसे मनुष्य की भलाई के दृष्टिकोण से देखता है और अर्थशास्त्री इसे आर्थिक संसाधनों की कमी के रूप में इंगित करता है जो किसी व्यक्ति के कठिनाई (गरीबी) का कारण होता है। अर्थशास्त्रियों का एक वर्ग गरीबी रेखा को मानक के रूप में परिभाषित करता है जो गरीबी रेखा से नीचे और ऊपर रहने वाली जनसंख्या को अलग करता है। तथापि निर्धनता को आँकने का कोई अविकारी तरीका नहीं है। अनुसंधानकर्ता और संस्थाओं द्वारा निर्धनता को आँकने के लिए विभिन्न माप-दण्ड उपयोग किए जाते हैं। इस आर्थिक दायरे के अन्तर्गत निर्धनता के लिए एक नई अवधारणा उभर का आई है। जो निर्धनता को ध्वनवीय क्षमता के रूप में देखती है। यह अवधारणा ऐसे लोगों को चिह्नित करने का प्रयास करती है जो कि सर्वाधिक कठिनाई में हैं जो सुविधाओं से सबसे अधिक वंचित हैं। इस श्रेणी में आने वाले लोग आर्थिक रूप से स्वावलंबी होने में सक्षम नहीं हैं। उनकी जितनी आमदनी होती है, उतने में वे समाज द्वारा परिभाषित — रहने के कम से कम स्तर को भी पूरा नहीं कर पाते। “योग्यता की अवधारणा निर्धनता को योग्यता की असफलता के रूप में देखते हैं न कि बुनियादी सुविधाओं को प्राप्त नहीं कर पाने असफलता के रूप में। योग्यता की अवधारणा से हकदारिता बहुत ही करीब से जुड़ हुआ है। हकदारिता सामाजिक तौर पर स्वीकृत दावा है, उपलब्ध खाद्य-पदार्थ पर वैध-सम्मत कमान है। किसी व्यक्ति का प्रभावी वैध-सम्मत कमान उसका या उसकी हकदारिता है। जीवन-निर्वाह की जरूरत की हकदारिता को पूरा कर पाने में असफलता ही भूखमरी का प्रमुख कारण है।

निर्धनता और मानव-विकास के बीच रिश्ते में एक निश्चित ढांचा है। मानव विकास के उच्च लक्ष्य को पाने के लिए निर्धनता में कमी लाना अनिवार्य शर्त है जिस देश में गरीब लोग नहीं हैं, जैसे बल्क, वे अच्छे मानव-जीवन का उपभोग करते हैं। लेकिन वहीं विकासशील या कम विकसित देश कठिनाइयों का सामना करते हैं और बुनियादी सुविधाओं, जैसे सुरक्षित पेयजल, बिजली, स्वास्थ्य सुविधाएँ, प्राथमिक शिक्षा आदि से भी वंचित रह जाते हैं। इसकी सर्वाधिक भुक्तभोगी महिलाएँ और लड़कियाँ हैं। क्योंकि इन सुविधाओं का महँयया कराने में लैंगिक भेद बढ़ता जाता है। आर्थिक परावलम्बन महिलाओं को सामाजिक कुरीतियों को भुगतने को मजबूर कर देता है, इसके साथ ही, इन्हें घर में भी प्रताड़ना सहन करनी पड़ती है। खास कर, गाँव में लिंग आधारित भेद बहुत अधिक है। मानव विकास में सुधार लाने का प्रमुख बिन्दु है—महिलाओं और समाज में गरीबों में भी गरीब का सशक्तीकरण।

वर्तमान में, विश्व बैंक, IMF और WTO के मार्ग निर्देशन में भूमण्डलीकरण की हवा ने गरीब और अमीर के बीच बढ़ती खाई सम्बन्धी विवाद को छेड़ दिया है। अक्सर ऐसा कहा जाता है कि भूमण्डलीकरण गरीबों की कीमत पर अमीरों को लाभ

पहुँचा रहा है। भूमण्डलीकरण और निजीकरण की प्रक्रिया का प्रवेश हो रहा है, बाजार के स्रोत का वर्चस्व बढ़ रहा है जबकि राज्य सरकार की भूमिका लुप्त हो रही हैं विकासशील और कम विकसित देशों में राज्यसरकार का सार्वजनिक वस्तुओं और सुविधाओं से हटना गरीबों के लिए बहुत ही गम्भीर सोच का विषय बन गया है। ऐसा नमूना प्रस्तुत करने का प्रयास या जा रहा है जहाँ निजी क्षेत्र या बाजार समाज वंचितवर्ग की भलाई की रक्षा कर सके। अभी तक इसमें कोई सफलता हासिल नहीं हुई है और गरीब कठिनाइयों से गुजर रहे हैं। यह द्विभाजन राज्य सरकार के प्रभावी भूमिका की माँग करता है जो कि एक अच्छा शासन दे सके।

25.8 बोध प्रश्न

1. निर्धनता की चर्चा में आप मानव क्षमताओं की अवधारणा की व्याख्या किस प्रकार करेंगे?
2. अति-भूख और दुर्भिक्षभुखमरी में क्या अन्तर है?
3. निर्धनता और असमानता के मापदण्ड के बीच आप कैसे अंतर करेंगे?
4. वर्तमान में मानव-विकास की सोच पर एक संक्षिप्त टिप्पणी लिखें।
5. मानव-विकास में सुधार के लिए आप किन उपायों का सुझाव देंगे?
6. निर्धनता और मानव-विकास पर भूमण्डलीकरण के प्रभाव की समीक्षा आप कैसे करेंगे?
7. मानव विकास में सुधार सुनिश्चित करने में अच्छा शासन क्या भूमिका निभा सकता है?

इकाई 26

सामाजिक लिंग और विकास

संरचना

26.1 प्रस्तावना

26.2 संरचनात्मक समायोजन नीतियाँ तथा महिलाओं पर उसका प्रभाव

26.3 सैद्धांतिक विवाद

26.3.1 विकास में महिलाएँ

26.3.2 महिलाएं एवं विकास

26.3.3 महिला पुरुष एवं विकास

26.3.4 महिलाएं, पर्यावरण और विकास

26.4 सारांश

26.5 बोध प्रश्न

26.1 प्रस्तावना

महिलाओं के श्रम करोंडों परिवार की जीविका में मुख्य भूमिका निभाते हैं। वे पुरुष की अपेक्षा, अधिक घंटे काम करती हैं और उन पर कई प्रकार की जिम्मेदारियाँ भी होती हैं, किन्तु जो कार्य वे करती हैं, उन्हें सार्वजनिक या निजी रूप में कोई मान्यता नहीं मिलती। यह पाठ, विभिन्न तरीकों का अवलोकन करेगा, जिसमें यह सच्चाई विकास तथा अविकसित सिद्धान्तों में उल्लिखित है।

विकास निबंधों में श्रेणी के रूप में महिलाओं की बदलती हुई महत्ता के आकलन का एक तरीका है कि इस श्रेणी का नीति उद्घोषणाओं तथा मुख्य विकास एजेन्सियों की संस्थागत संरचना में, उनकी उपस्थिति को मानीटर किया जाए। उदाहरणतः संयुक्त राष्ट्र ने प्रत्येक सरकारी "विकास दशक को उद्घोषणा से अंकित किया है, जो बीते हुए दशकों में, सीखे गए पाठ का सारांश है और अगले 10 वर्षों के लिए उनकी प्राथमिकताएँ भी हैं। प्रथम विकास दशक (1961-70) में महिलाओं का कोई विशिष्ट उल्लेख नहीं था किन्तु दूसरे दशक की रणनीति में विकास प्रयासों में महिलाओं का पूर्ण समीकरण के महत्व का उल्लेख तथा विकास के सभी स्तरों पर महिलाओं को एजेंट तथा लाभकर्ता के रूप में माना गया। 1990 के दशक में, यह सुनिश्चित किया गया कि परिवर्तित प्राथमिकताओं में समस्या की अधिक समझ प्रतिबिम्बित होती है। यह समझा जाता है कि विकास के लिए महिलाओं को सशक्तिकृत करना "अधिक उत्पादन, अधिक समानता और सामाजिक प्रगति के लिए आवश्यक है।

सामाजिक लिंग के प्रति बढ़ती संवेदनशीलता के कारण हैं नारीवाद विद्वानों के बहुत से कार्य, विशेषकर अर्थशास्त्री, जिन्होंने यह स्थापित किया कि विश्वभर के समाजों में, महिलाओं द्वारा किए गए कार्य की प्रकृति एवं महत्ता, मुख्यधारा के विकास सिद्धांतों में अदृश्य रही है। इसके अतिरिक्त, प्रथम विकास दशक के अंत में, सामान्यतः यह स्वीकार किया गया कि संयुक्त राष्ट्र द्वारा प्रतिपादित विकास कार्यक्रम, विकसित औद्योगिक राष्ट्रों की आर्थिक रणनीतिक, तथा राजनीतिक प्राथमिकताओं पर आधारित हैं। आधुनिकीकरण तथा विकास दोनों अवधारणाओं में इस प्रकार के मूलभूत प्रश्नों के संदर्भ में ही नारीवाद विद्वान उभर कर सामने आना शुरू हुए।

1970 में अर्थशास्त्री एस्टर बोसरप के पथप्रदर्शक कार्य का प्रकाशन पुस्तक के रूप में हुआ जिसका नाम था श्वीमेन्स रोल इन इक्नॉमिक डेवेलोपमेण्ट्स (आर्थिक विकास में महिलाओं की भूमिका)। बोसरप का कार्य, विकास के रूप में आधुनिकीकरण के प्रारंभिक प्रतिमानों के प्रति एक उदारवादी नारीवाद चुनौती था, हालाँकि यह अंततोगत्वा, समानता तथा कुशलता के आगे नहीं जा पाया। उन्होंने, तीन महाद्वीपों से आर्थिक आँकड़ों का विश्लेषण किया जिससे यह दर्शाया जा सके कि हालाँकि महिलाओं द्वारा कृषि उत्पादन, स्थानीय एवं राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था को कायम रखने के लिए महत्वपूर्ण है, फिर भी, उनको अर्थव्यवस्था में सीमित कर दिया जाता है क्योंकि वे पुरुषों की अपेक्षा, श्रमिक, किसान, व्यापारी के रूप में कम वेतन प्राप्त करती हैं। उन्होंने इन समाजों में उपनिवेशवाद तथा आधुनिकीकरण के नकारात्मक प्रभाव को भी आलेखित किया, विशेषकर उप-सहारा अफ्रीका में। उन्होंने यह देखा कि यूरोप के औपनिवेशिक प्रशासकों ने अफ्रीका के समाजों में

कार्य की पारंपरिक अवधारणा को पनरूपपरिभाषित किया जो कि पश्चिमी अवधारणों के अनुकूल था। फलस्वरूप, श्रम की समझ से महिलाओं के कार्य को अलग कर दिया। इस प्रकार, न सिर्फ महिलाओं के कार्य को निम्न घोषित किया गया बल्कि पुरुषों को भूमि का व्यक्तिगत स्वामित्व अधिकार प्राप्त हुआ और इस प्रकार समुदाय प्रभुत्व की प्रारंभिक प्रक्रिया में परिवर्तन आया और महिलाओं को जमीन पर उनके पारंपरिक अधिकार से बहिष्कृत कर दिया गया। आगे, कृषि के यंत्रीकरण से पुरुषों को लाभ हुआ, क्योंकि सिर्फ उन्हें ही खेती प्रौद्योगिकी तक पहुँच प्राप्त थी। इस प्रकार, उपनिवेशवाद ने नए सामाजिक-लिंग विभेद की शुरुआत की जिसके द्वारा जटिल प्रकार से सामाजिक लिंग उत्पीड़न के पारंपरिक स्वरूपों को सुव्यवस्थित कर दिया। बोसरप के कार्यों ने आगे यह भी दर्शाया कि विकास नियोजन के एक दशक बाद, तीसरे विश्व की महिलाओं का झोता एवं तकनीकी की पहुँच तक सीमित रखे रहना जारी रहा। 1997 में इरेन टिंकर के कार्यों ने बोसरप के विश्लेषण को पुनः स्थापित किया कि चूँकि पश्चिमी अनुदान एजेन्सियाँ, सामाजिक-लिंग रूढ़िबद्ध स्वरूपों का निर्यात करती हैं, इस कारण कृषि के आधुनिकीकरण ने आर्थिक एवं सामाजिक संदर्भों में पुरुष एवं महिलाओं के बीच खाई को अधिक बढ़ाया है।

बोसरप का कार्य, हालाँकि, सीमित था, क्योंकि उनके निर्धारण में सम्मिलित थे, महिलाओं की शिक्षा एवं कौशल के स्तर में वृद्धि लाना ताकि श्रम बाजार में वे पुरुषों के साथ अधिक तेजी-से सामना कर सकें।

विकास के आधुनिकीकरण सिद्धांत के लिए एक दूसरी चुनौती मौलिक आवश्यकता दृष्टिकोण से आयी जिसे पहली बार 1970 में अभिव्यंजित किया गया। इसने वृद्धि (विकास) एवं आय के केन्द्रबिन्दु पर प्रश्नचिह्न उठाया जो कि विकास के संकेतक हैं। आवश्यकता के मापदण्ड को प्रस्तुत करने से, ये सिद्धांतवादी, शारीरिक आवश्यकता (उदाहरण के लिए कैलारी का न्यूनतम उपभोग) तथा अतिसूक्ष्म आवश्यकताएँ—सहभागिता, सशक्तीकरण तथा समुदायिक जीवन— दोनों पर बल देते हैं। इसप्रकार यह कहा जाता है कि विकास अर्थव्यवस्था सीमित होती है क्योंकि यह अनन्य रूप से मात्रात्मक मापदण्ड पर केन्द्रित रहता है। मूलभूत (मौलिक आवश्यकता दृष्टिकोण को मानव क्षमताओं के अमर्त्य सेन के सिद्धांत में पुनर्जीवित किया गया है। सेन का कहना है कि विकास का अर्थ है मानवीय उपलब्धियों एवं क्षमताओं में वृद्धि। इस दृष्टिकोण से, यह संभव है कि सीमान्तीय समूह, जैसे वृद्ध, बच्चे तथा महिलाएँ को अपनी क्षमता की प्राप्ति में विशिष्ट हानि है। इसप्रकार परिवार या गृहस्थी को फासले के रूप में उदघाटित किया जाता है जिसमें महिलाएँ एवं बच्चे, पुरुषों की अपेक्षा अधिक वंचित हैं। अमर्त्य सेन एवं जीन ड्रेज ने कहा है कि क्योंकि महिलाओं को वेतन-प्राप्त कार्यों तक सीमित पहुँच प्राप्त है, या फिर पारिवारिक आय एवं उसके वितरण पर सीमित नियंत्रण है, परिवार के अंतर्गत उनकी स्थिति प्रतिकूल रूप में प्रभावित होती है।

भौतिक एवं अभौतिक आवश्यकताओं पर इस अवधारणा के फोकस का अर्थ है न सिर्फ उद्देश्यों पर बल्कि विकास की प्रक्रियाओं पर भी बल, अर्थात्, लोगों की सहभागिता विशेषकर सीमान्तीय समूह, जैसे महिलाओं की निर्णय-प्रक्रिया में सहभागिता को स्वाभाविक परिणाम के रूप में महत्वपूर्ण माना गया है।

अंतर्राष्ट्रीय महिला आंदोलन जिसमें गैर-सरकारी संगठन और समूह होते हैं, द्वारा सरकार एवं संयुक्त राष्ट्र बढ़ते हुए दबाव ने संयुक्त राष्ट्र अंतर्राष्ट्रीय महिला दशक (1976-85) के लिए प्रेरणा प्रदान किया है, तथा कई अंतर्राष्ट्रीय सम्मेलनों ने महिलाओं के स्तर एवं भूमिका को राष्ट्रीय राजनीतिक अर्थव्यवस्था में इन मुद्दों को उठाया है। ये सम्मेलन, (मेक्सिको शहर, 1975, कॉपेनहेगन 1980, नैरोबी 1985, बीजिंग 1985) विभिन्न मामलों को, जैसे निर्णय-प्रक्रिया में सामाजिक लिंग समानता तथा संसाधनों तक पहुँच, अत्याचार से स्वतंत्रता आदि प्रश्नों को उठाया है। आगे, ये सम्मेलन, सहभागी सरकारों द्वारा, विभिन्न स्तर पर सामाजिक-लिंग न्याय को सुनिश्चित करने के लिए संस्थागत उपकरणों के सही प्रयोग के लिए प्रतिबद्ध करते हैं। 1990 के दशकों में, बहुपक्षीय वित्तीय संस्थान की भूमिका के विरोध में जैसे अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष तथा विकसित पूंजीपति देशों की तुलना में तीसरे विश्व की ऋणग्रस्तता के विरोध में, अंतर्राष्ट्रीय महिला आंदोलनों ने स्वयं को संगठित किया है।

26.2 संरचनात्मक समायोजन नीतियाँ तथा महिलाओं पर उसका प्रभाव

आज, विकास के नारीवादी विद्वानों तथा विश्वव्यापी महिला आंदोलनों की चिंता है, महिलाओं पर संरचनात्मक समायोजन नीतियों का प्रभाव (एस ए पी)। ऐसी नीतियाँ, विश्व बैंक के दबाव पर तीसरे विश्व के विभिन्न भागों पर 1980 से ही शुरू कर दी गई थी, एस ए पी में सम्मिलित हैं— (क) निजी क्षेत्रों के लिए प्रोत्साहन (ख) सरकारी स्वामित्व की इकाइयों का निजीकरण (ग) उद्योग की विअनुज्ञप्ति तथा विनियमन (घ) श्रम का अनुशासन (ङ) सरकारी व्यय पर कटौती।

कुल मिलाकर, जबकि ऐसी नीतियाँ भुगतान के संतुलन की स्थिति को सुधार सकती हैं और निर्यात में भी वृद्धि ला सकती हैं, जो उनका मुख्य उद्देश्य था किन्तु वे आय एवं रोजगार का उत्पादन में वृद्धि करने में विफल हुए हैं। वास्तव में, अधिकांश लोग गरीबी की ओर ढकेल दिए गए हैं। यूनिसेफ अध्ययन ने यह दर्शाया है कि निर्धन परिवार की महिलाएँ एवं

बच्चे, सबसे कड़े रूप से प्रभावित होते हैं, पोषण, कार्यभार तथा मर्त्यता के संदर्भ में। इसके अतिरिक्त सैप संगठित क्षेत्रों में महिला रोजगार के अवसर को संकुचित करते हैं, जबकि असंगठित क्षेत्रों में निम्न-वेतन कार्यों में उन्हें बढ़ावा देते हैं, उदाहरणतः लघु-विद्युत उद्योग। इस तथ्य को कार्यशक्ति का नारीकरण और कुछ अर्थशास्त्रियों का यह विश्वास है कि यह महिलाओं के कार्य-सहभागिता दर को बढ़ाएगा और निर्धनता को हटाने में मदद करेगा। हालाँकि इसके विपरीत बहस यह है कि ये नए कार्य, अस्थायी, निम्न-वेतन प्राप्त और थका देने वाले होते हैं, बिना उच्चतर वेतन या बेहतर कार्य-स्थिति के लिए संगठित होने के अधिकार के। इन क्षेत्रों के लिए, महिलाओं को ही बेहतर समझा जाता है क्योंकि वे अत्यंत विनीत होती हैं तथा उन्हें पुरुषों की अपेक्षा कम भुगतान भी किया जा सकता है। सैप के कारण, सामान्यतः महिला मजदूरों को अपने घरेलू कार्यों के अलावा, आजीविका के लिए एक से अधिक कार्य करने पड़ते हैं। आगे, मुद्रास्फीति और वेतन कटौती के कारण, घरेलू खर्च में कमी आती है, जिससे महिलाएँ अधिक समय-साध्य तरीकों की खोज करती हैं जिससे घर के व्यय में कटौती हो सके। इस प्रकार महिलाओं का अमुक्त कार्य बढ़ने लगता है।

26.3 सैद्धांतिकवाद विवाद

नारीवाद विद्वानों ने, महिला एवं विकास पर चार सैद्धांतिक परिप्रेक्ष्य का निर्धारण किया है—

- (1) विकास में महिलाएं (डब्ल्यूआईडी)
- (2) महिला और विकास (डब्ल्यूए.डी)
- (3) सामाजिक लिंग और विकास (जी.ए.डी)
- (4) महिला, पर्यावरण और विकास (डब्ल्यू. ई. डी)

26.3.1 विकास में महिलाएँ

इस ढाँचे की अभिव्यंजना, 1970 में, अमरीकी उदारवादी नारीवादियों ने किया और इसे 1950 से 1970 तक की आधुनिकीकरण सिद्धांत से जोड़ा। अर्थात् डब्ल्यू आई.डी में आधुनिकीकरण सिद्धांत की कुछ मान्यताएँ हैं जो यह मानता है कि पारंपरिक समाज सर्वाधिकारवादी और पुरुष-प्रधान होते हैं जबकि आधुनिक समाज प्रजातांत्रिक और समान, और इस प्रकार अंदर ही अंदर पश्चिम को नैतिक रूप से उच्च मानते हैं। यह अवधारणा तीसरे विश्व की निर्धनता को अपूर्ण आधुनिकीकरण का परिणाम मानता है और इसलिए इसका केन्द्रबिन्दु है, प्रशासनिक एवं वैधानिक परिवर्तनों द्वारा आर्थिक व्यवस्था में महिलाओं के समीकरण की आवश्यकता। इसप्रकार इन अवधारणा ने संरचनात्मक परिवर्तन का प्रतिपादन नहीं किया और न ही महिला अत्याचार के प्रति संसाधनों पर प्रश्नचिह्न उठाया— अर्थात् उसने यह नहीं पूछा है कि क्यों महिलाओं को विकास रणनीतियों से लाभान्वित नहीं होना चाहिए। आगे, यह महिलाओं के अंतर्गत जाति, वर्ग, संस्कृति के आधार पर वर्गीकरण को पहचानने में असफल रहा। अंत में, यह अनन्य रूप से यह लोकक्षेत्र की महिलाओं पर जो उत्पादक के रूप में कार्य करती थी, उसपर अपना केन्द्रबिंदु बनाया किंतु श्रम के लैंगिक विभाजन को ध्यान में नहीं रखा जिसके कारण महिलाएँ प्रजनन के निजी क्षेत्र में विशिष्ट भूमिका निभाती गई (शिशु जन्म, शिशुपालन तथा घरेलू अवैतनिक श्रम) जो विशिष्ट महिलाओं के जीवन और कार्यस्थिति में अपना योगदान देती हैं।

इन दुर्बलताओं के बावजूद, विकास निबंधों में सामाजिक लिंगों के प्रश्न, जो दृष्टिगत होते हैं, वे लोकनीतियों में परिवर्तन करने में अपना योगदान देते हैं।

26.3.2 महिला और विकास

यह अवधारणा 1970 के अंत में विकसित हुई जो आधुनिकीकरण सिद्धांत तथा डब्ल्यू आई. डी. अवधारणा की आलोचना के परिणाम स्वरूप था। यह निकट रूप से, मार्क्सवादी विश्लेषण तथा आश्रित सिद्धांतों से संबद्ध था। इन दोनों अवधारणाओं में भिन्नता है किन्तु ये मूलभूत राजनीतिक आर्थिक प्रतिमान को आपस में बाँटते हैं जो संरचनात्मक तथा सामाजिक-आर्थिक तत्वों पर बल देते हैं।

निर्भरता सिद्धांत मुख्य कारक के रूप में साम्राज्यवाद पर फोकस करता है जो अविकास का विश्लेषण करता है—अर्थात् यह कहता है कि पश्चिम में आर्थिक वृद्धि और विकास इस कारण संभव हुआ क्योंकि विश्व के दूसरे भागों में क्रमबद्ध शोषण चल रहा था—प्रथम विश्व को सर्वोच्च रूप में बीच का माना जाता है, तथा तीसरे विश्व को बाह्य सतह पर जिसके कारण बीच का विश्व (प्रथम) कायम रहता है। कई विद्वान, जैसे रॉल प्रेबिस्क तथा एन्ड्रे गुन्डर फ्रैंक ने यह कहा कि जैसे पश्चिमी पूँजीपति हस्तक्षेप के पहले औपनिवेशिक राष्ट्र अविकसित थे, तीसरा विश्व तब अविकसित हुआ, जब उसका अंतरराष्ट्रीय पूँजीवादी व्यवस्था में समायोजन हुआ। जो विकास हुआ, वह महानगरीय अर्थव्यवस्था था, जो अनुषंगी अर्थव्यवस्था को

संरचित करती तथा उनसे अधिशेष के बहिर्गमन को सुनिश्चित करती थी, उनके साथ एक आश्रित विकास था। स्वतंत्रता के बाद, तीसरे विश्व के अभिजात वर्गों ने इस प्रतिमान को अपने देशों में दुहराया, जो प्रथम विश्व के अभिजात वर्गों के साथ सहभागिता में प्रवेश करके हुआ था तथा विकसित देशों द्वारा निर्धन देशों के लगातार शोषण को जारी रखना था, जबकि स्वयं वे धनी होते गए।

मार्क्सवादी विश्लेषण का फोकस, साम्राज्यवाद की अपेक्षा, विकास के ऐतिहासिक उदीयमान पूँजीवादी उत्पादन के संबंधों पर है। इस समझ के अंतर्गत, धीरे-धीरे पूरे विश्व भर में सामन्तवाद पर पूँजीवाद छा गया और इस अर्थ में साम्राज्यवाद मात्र एक पहिया है जो पूँजीवाद को पूरे विश्वभर में ले जाता है। इस प्रकार कठोर रूप से मार्क्सवादी ढांचे के अन्तर्गत औपनिवेशिक राष्ट्र की अर्थव्यवस्था में साम्राज्यवाद किसी भी प्रकार की विकृति का कारण नहीं बनता (जैसे निर्भरता सिद्धान्त का कहना है)। बल्कि यह एक साधारण तरीका है जिसमें पूँजीवाद इन समाजों में प्रवेश करता है।

ये दोनों ढांचे एक व्यापक दृष्टिकोण को आपस में बाँटते हैं जब महिला एवं विकास का प्रश्न उठता है। महिला श्रम का शोषण को वर्ग संघर्ष के रूप में देखा जाता है। और पूँजीवादी समाज में यह पूँजीवाद से सम्बद्ध है। अर्थात् महिलाओं का निम्न स्तर उत्पादन की संरचना से आता है इस ढांचे के अन्तर्गत-आर्थिक उत्पाद में महिलाओं की बदलती हुई भूमिका कई कारणों से निर्धारित होती है— श्रम का लिंग के आधार पर विभाजन, स्थानीय वर्ग संरचना, राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था और विश्वव्यापी अर्थव्यवस्था के अन्तर्गत जिस प्रकार उत्पादन का विशिष्ट क्षेत्र और भाग अभिव्यंजित होता है। इस प्रकार यह प्रारूप विकास प्रक्रिया में महिलाओं के समाकलन की विभिन्नता और जटिलता को दर्शाता है। गा इस ढांचे के अन्तर्गत खर्च का एक विशिष्ट क्षेत्र है, बहुराष्ट्रीय कम्पनियों द्वारा विश्व भर में महिला श्रम का शोषण। ऐसी कम्पनियाँ निर्धन राष्ट्रों में निर्यात प्रक्रिया के क्षेत्र को गठित करती हैं जिसमें निम्न वेतन भोगी महिला श्रम का शोषण होता है। यह दृष्टिकोण पिछले आधुनिकीकरण सिद्धान्त दृष्टिकोण को स्वीकार करता है कि विकास में महिलाओं को समीकृत करने की आवश्यकता है। बल्कि यहाँ पर यह समझ है कि महिलाएं सर्वथा उत्पादक प्रक्रिया की भाग रही हैं तथा अपने समाज को कायम रखने के लिए उनका कार्य ही महत्वपूर्ण है। इस प्रकार यह आवश्यक है, कि उन तरीकों को उद्घोषित करें जिसमें उनके श्रम को नहीं पहचाना गया है, तथा उनका शोषण किया गया है और सीमित कर दिया गया है जिसके परिणाम स्वरूप असमानता की अन्तर्राष्ट्रीय संरचना लगातार जारी रहती है।

26.3.3 लिंग और विकास

इस तीसरे तर्क का उद्भव 1980 के दशक में हुआ तथा इसमें मार्क्सवाद के समाजवादी नारीवाद आलोचकों के दृष्टिकोण सम्मिलित हैं।

नारीवाद सिद्धांत का एक मुख्य योगदान है लिंग तथा सामाजिक – लिंग में विभेद करना। लिंग का अर्थ है पुरुष एवं महिलाओं के बीच जैविक (शारीरिक भिन्नता तथा सामाजिक लिंग का अर्थ है, इस मौलिक भिन्नता से जुड़े सांस्कृतिक अर्थ)। इसका अर्थ यह है कि श्रम के लैंगिक विभाजन में कुछ भी प्राकृतिक नहीं है। यह तथ्य कि परिवार के अन्तर्गत और बाहर विभिन्न प्रकार के कार्य जो पुरुष और महिलाएँ करते हैं उसे जीव विज्ञान से शायद ही कुछ लेना-देना है। सिर्फ गर्भावस्था की वास्तविक प्रक्रिया ही जैविक है, तथा अन्य सभी कार्य जो महिलाएँ घर के अन्तर्गत करती हैं—खाना बनाना, साफ सफाई करना, बच्चों की देखभाल करना आदि (दूसरे शब्दों में ये सारे कार्य जिसे हम घरेलू श्रम कहते हैं) – सभी समान रूप से पुरुषों द्वारा भी किए जा सकते हैं। किन्तु ये कार्य महिलाओं के कार्य समझे जाते हैं।

श्रम का यह लैंगिक विभाजन सिर्फ घर तक ही सीमित नहीं है बल्कि ये प्लोक क्षेत्रों के वैतनिक कार्य तक ही विस्तृत है, और पुनरु यह लिंग (जीव विज्ञान) से नहीं जुड़ा हुआ है बल्कि सामाजिक लिंग (संस्कृति) से सम्बद्ध है। कुछ प्रकार के कार्यों को महिलाओं के कार्य समझा जाता है और अन्यको पुरुषों का, किन्तु सबसे महत्वपूर्ण तथ्य यह है कि जो भी कार्य महिलाएँ करती हैं, उन्हें निम्न वेतन प्राप्त होता है और उसके मूल्य को भी कम आँका जाता है। उदाहरण के लिए, उपचर्या तथा शिक्षण (विशेषकर निम्न स्तर में) विशिष्ट रूप से महिला व्यवसाय हैं। और अन्य सफेद पोश कार्यों की तुलना में निम्न वेतन प्राप्त कार्य होते हैं जिसे मध्य वर्ग अपनाता है। नारीवादियों का कहना है शिक्षण और उपचर्या का नारीकरण इसलिए होता है क्योंकि ऐसे कार्य पाषण कार्यों के विस्तार के रूप में देखा जाता है जो घरों के अन्तर्गत महिलाएँ करती हैं।

सत्य यह है कि यह प्राकृतिक जैविक भिन्नता नहीं है जो श्रम के लिंग विभाजन में होती है, बल्कि कुछ सैद्धान्तिक मान्यताएं हैं इसलिए एक तरफ जहाँ भारी शारीरिक श्रम के लिए महिलाओं को शारीरिक श्रम के लिए शारीरिक रूप से कमजोर और अयोग्य समझा जाता है, किन्तु वे घर के अन्दर और बाहर सबसे भारी काम करती हैं— पानी और ईंधन के भारी वजन को उठाना, मक्के पिसना, धान रोपना, खानों और निर्माण कार्यों में सर पर भारी वजन उठाना आदि। किन्तु इसके साथ ही शारीरिक कार्य जो महिलाएँ करती हैं, उसका यंत्रीकरण हुआ, जिसके कारण कार्य आसान तथा बेहतर

वेतन का हो गया, किन्तु इसमें पुरुषों को नए यंत्रों को प्रयोग करने का प्रशिक्षण मिला और महिलाओं को दरकिनार कर दिया गया। यह सिर्फ फैक्ट्रियों में ही नहीं होता बल्कि समुदाय के अन्तर्गत जो पारम्परिक कार्य महिलाएं करती थी उसके साथ भी हुआ उदाहरण के लिए, धानों का हाथ से कटाई को या विद्युत संचालित आटा-चक्की ने प्रतिस्थापित किया, या महिलाओं द्वारा पारम्परिक तरीके से हाथों से बनाई गई जालों को मशीन निर्मित नायलोन, मछली पकड़ने वाले जालों से प्रतिस्थापित किया। इन कार्यों के लिए पुरुषों को ही प्रशिक्षित किया जाता और महिलाएं निम्न वेतन-प्राप्त तथा दुष्कर कार्यों को करने में बाध्य हो गई।

दूसरे शब्दों में, महिलाओं का वर्तमान अधीनीकरण, अपरिवर्तनीय जैविक भिन्नता के कारण नहीं उठता, बल्कि सामाजिक और सांस्कृतिक मूल्य सिद्धान्त और संस्थान, जो महिला के भौतिक और सैद्धांतिक अधीनीकरण को सुनिश्चित करते हैं। इस प्रकार नारीवादी लिंग विभिन्न कार्यों के प्रश्नों को, श्रम के लिंग विभाजन के रूप में देखते हैं और अधिक मूलभूत रूप से लिंग और प्रजनन के प्रश्न जीव विज्ञान (लिंग) क्षेत्र से उद्घरण योग्य मुद्दे हैं जो प्राकृतिक और अपरिवर्तनीय समझा जाता है। नारीवादियों का कार्यक्रम इन मुद्दों को "राजनीतिक (सामाजिक लिंग) क्षेत्र में प्रतिस्थापित करना है जो यह संकेत देता है कि इसमें परिवर्तन संभव और आवश्यक है।

जी.ए.डी (गैड) प्रारूप ने सामाजिक लिंग सम्बन्ध को श्रम शक्ति और प्रजनन क्षेत्र दोनों ही में विशेष बल दिया है। डब्लू. आई. डी तथा डब्लू. ए. डी. ने सिर्फ महिलाओं पर ही केन्द्रित नहीं किया है बल्कि कार्यस्थल तथा अन्य जगहों पर भी पुरुष और महिलाओं की अपेक्षा सामाजिक लिंग सम्बन्ध का प्रयोग किया है, इस प्रकार पुरुष और महिला की अपेक्षा पितृसत्ता की संरचना पर केन्द्रित किया है।

जी. ए. डी सामाजिक प्रजनन के कार्य के लिए राज्य से सक्रिय भूमिका निभाने की अपेक्षा करती है ताकि उन्हें समर्थन प्रदान कर सके जैसे- शिशु देखरेख सुविधा, प्रसूति अवकाश आदि। जी. ए.डी मॉडल मार्क्सवादी और निर्भरता सिद्धान्त विश्लेषणों की तरह संरचनात्मक सुधार प्राप्त करते हैं किन्तु श्रम के लिंग विभाजन तथा प्रजनन में महिलाओं के कार्य को उद्घोषित करने के लिए इनसे बाहर भी जा सकते हैं। जी.ए.डी, अधिकारिक एजेन्सियों के कार्य से अधिक सम्बद्ध रहते हैं अपेक्षाकृत सख्त मार्क्सवादी विश्लेषण उसके एक प्रतिपादक, नैला कबीर का कहना है कि जी. ए. डी. पूँजीवाद, पितृसत्ता तथा जातिवाद में विभेद करता है और नारीवादियों को इन संरचनाओं के बीच संबंध-भंग को जानने में सहायक सिद्ध होती हैं तथा इस प्रकार अधिकारियों में रणनीतिक हस्तक्षेप की सम्भावना बनती है।

26.3.4 महिला, पर्यावरण तथा विकास

यह दृष्टिकोण परिस्थिति नारीवाद से आया है जो प्रकृति तथा नारी के ऊपर पुरुष-नियंत्रण के बीच समानांतर रेखा को खींचता है। परिस्थिति नारीवादियों का कहना है, पुरुषवादमुखी वैज्ञानिक तथा औद्योगिक प्रणाली, जिसने प्राकृतिक संसाधनों का निरंतर शोषण किया है, ने धरती को पारिस्थितिकीय रूप से समाप्त कर दिया है। विकास की अवधारणा का अर्थ है, प्रकृति पर नियंत्रण और विजय, जिसके कारण उत्तर के अस्थिर जीवन-शैली तथा दक्षिण के अभिजात वर्गों को अपने स्थान पर रखा है, जिसके फलस्वरूप - धरती पारिस्थिकीय भरा विपदा को प्राप्त कर चुकी है। यह दृष्टिकोण न सिर्फ विकास के वर्तमान प्रतिमान की आलोचना करता है, बल्कि उन संभावनाओं पर भी प्रश्न-चिन्ह उठाता है, जिसमें धरती के संसाधनों का असीमित शोषण होता है और वैकल्पिक जीवन तथा जीवन के पारंपरिक तरीकों को स्वीकार करने की बात करता है, जो प्रकृति से अधिक निकट है और स्थिर है।

भारत में सबसे लोकप्रिय परिस्थिति नारीवाद आलोचक वन्दना शिवा के अनुसार भारत में विकास दो विश्व-दृष्टिकोणों के बीच संघर्ष को प्रतिबिंबित करता है। एक तरफ ऐसा जीवन है जो नष्ट करता है तथा व्यापारिक वन्य प्रणाली को पुरुषवादी दृष्टिकोण है जो वन को उसके आर्थिक मूल्यों के लिए शोषण को संसाधन समझता है तथा वन सम्पदा में निजी सम्पत्ति का स्थापित करता है। इस अवधारणा को राज्य की एजेन्सियों का समर्थन प्राप्त है, तथा ज्ञानात्मक, आर्थिक तथा राजनीतिक रूप में स्थानीय पुरुषों को उपनिवेश के तौर पर बसाया है। दूसरी तरफ शिवा के अनुसार नारीवादी जीवन संरक्षण सिद्धान्त है जो वन को एक व्यापक और स्व-पुनरुत्पादन प्रणाली के रूप में देखती है और जो विभिन्न सामाजिक समूहों द्वारा सामान्य रूप में आपस में बाँटा जाता है।

दूसरे नारीवादियों द्वारा वन्दना शिवा की आलोचना की गई है, विशेष रूप में ग्रेब्रियल डॉयटरिच तथा बीना अग्रवाल द्वारा जो पारिस्थितिकीय तथा स्थिर और कायम रहनेवाले विकास की आवश्यकता को स्वीकार करते हुए यह कहते हैं कि शिवा के नारीवादी सिद्धान्त की अभिव्यजना हिंदू उच्च जाति के सन्दर्भ में की गई है, जिसके कारण यह प्रश्न खुला ही रह जाता है कि नारीवादी सिद्धान्त गैर-हिंदू तथा निम्न जाति के लिए क्या है। शिवा को सामान्यतः भारतीय समाज में जाति की भूमिका के प्रति असम्बेदनशील होते हुए देखा गया है। और डॉयटरिच का यह कहना है कि शिवा के सन्दर्भ में,

परिस्थितिकीय रूप में स्थिर प्रणाली क्रमबद्ध और पितृसत्तात्मक समाज के पूर्णतः असंगत है और जो श्रम के जाति विभाजन पर आधारित है।

दूसरा, शिवा ने महिलाओं को परमावश्यक माना है और इस प्रकार प्रकृति के साथ मानवीय सम्बन्धों में भौतिक आधार की उपेक्षा की है। अर्थात् प्रकृति के महिलाओं और पुरुषों, दोनों का सम्बन्ध उनके वर्ग और भौगोलिक स्थिति से मध्यस्थ होता है, तथा एक शहरी उच्च श्रेणी की महिला का प्रकृति के साथ कम सम्बन्ध हो सकता है, किसी पुरुष किसान की अपेक्षा।

तीसरा, शिवा पश्चिमी विज्ञान के आलोचक है जो उपनिवेशवाद का प्रेरक है जिसने उपनिवेश पूर्व, समान तथा पारिस्थितिकीय स्थिर रूपों के समुदाय को नष्ट किया है। हालाँकि इसमें इस सत्य पर ध्यान नहीं दिया है कि, उपनिवेश पूर्व समुदायों में वर्ग, जाति तथा सामाजिक लिंग असमानता के तत्त्व थे।

इसलिए बीना अग्रवाल ने एक वैकल्पिक ढांचे का सुझाव दिया है जिसमें इन कारणों पर ध्यान दिया जाएगा और उसे पर्यावरणीय नारीवाद का नाम दिया जाए। अग्रवाल का कहना है कि पर्यावरणीय अपकर्ष की प्रक्रिया तथा कुछ द्वारा प्राकृतिक संसाधनों के विनियोग में विशिष्ट वर्ग सामाजिक लिंग तथा स्थानीय प्रभाव रहता है, अर्थात् ग्रामीण निर्धन घरों की महिलाएँ ही इन प्रक्रियाओं से सबसे अधिक प्रभावित होती हैं तथा परिस्थितिकीय आन्दोलनों में सक्रिय रूप से सहभागी होती हैं। वर्ग के रूप में महिला को एक राष्ट्र के अन्तर्गत भी समजातीय श्रेणी में नहीं रखा जा सकता, तीसरे विश्व के बाहर तो छोड़ दीजिए। अग्रवाल ने यह सुझाव दिया है कि पर्यावरणीय नारीवाद निम्नलिखित जटिल और अंतरसम्बद्ध परिवर्तनों को आवश्यक है—

- (1) क्या उत्पादित हुआ, उसका संयोजन की कमी
- (2) उत्पादन करने के लिए प्रौद्योगिकी की आवश्यकता।
- (3) वे प्रक्रियायें जिनसे प्रथम दो के लिए निर्णयों तक पहुँचा जाता है।
- (4) ज्ञान प्रणालियाँ जिसके आधार पर ऐसे विकल्प किए जाते हैं।
- (5) सामान एवं कार्यों के वर्ग और लिंग वितरण।

मार्क्सवादी और निर्भरता सिद्धान्त, दोनों प्रारूपों से प्राप्त किया गया एक महत्वपूर्ण परिस्थितिकीय नारीवाद योगदान, मारिया माईस का है जो महिलाओं को अन्तिम उपनिवेश के रूप में लिखती है। माईस के अनुसार पूँजीवादी वृद्धि के लिए आदिम संचयन आवश्यक है तथा अन्तर्राष्ट्रीय और राष्ट्रीय पूँजी तथा राज्य प्रणालियाँ तीसरे विश्व की महिलाओं का लाभ की प्राप्ति के लिए शोषण करती हैं। वह महिला एवं उपनिवेशों के बीच मूलभूत समानता को इस प्रकार स्थापित करती हैं, दोनों ही प्रकृति के क्षेत्र में रहते हैं, अर्थात् लाभ के लिए शोषित होते हैं। महिलाओं और उपनिवेशों दोनों का सम्बन्ध पूँजीवादी पितृसत्ता में विनियोग का है। उसका यह सुझाव है कि पितृसत्तात्मक प्रबलता को राज्य की एजेन्सियों के माध्यम से कायम रखा जाता है, जो कार्य निर्माण के माध्यम से तथा वैवाहिक सम्बन्ध के अन्तर्गत महिला श्रम के गृहणीकरण को संस्थागत करती है। विकल्प के रूप में माईस और उनके सहयोगी ऐसे समाज के लिए वाद-विवाद करती हैं जो श्रम के नारीवाद अवधारणा पर आधारित है और जो प्रौद्योगिकी द्वारा अविचेचित हुए प्रकृति के साथ प्रत्यक्ष सम्बन्ध में स्थापित होते हैं। इस वैकल्पिक विश्व में महिलाएं अपने जीवन के सभी पहलुओं में स्वायत्त होती हैं, विशेषकर प्रजनन के क्षेत्र में, तथा दोनों पुरुष और महिलाएं देख-रेख एवं अर्थव्यवस्था में सम्मिलित होंगे। माईस के कार्यों में वर्तमान सामाजिक सम्बन्धों की सशक्त आलोचना है तथा पूँजीवादी संचयन की लिंग प्रकृति को पहचानते हुए यह मार्क्सवादी एवं निर्भरता सिद्धान्तों पर महत्वपूर्ण प्रगति है। सामान्यतः जी.ए.डी. प्रारूप, विकास पर नारीवादी प्रतिपादन करने में प्रबल रहा है किन्तु आधिकारिक विकास नियोजन अभी भी डब्लू. आई. डी. प्रारूप से प्रभावित है। नारीवादी विद्वानों का मानना है कि इसका कारण यह है कि डब्लू. आई. डी. दृष्टिकोण श्रम धमकी भरा है। डब्ल्यू.आई.डी. केवल विद्यमान मॉडल में महिलाओं को सम्मिलित करता है, जबकि जी.ए.डी. में उद्धार का उद्देश्य अंतर्निहित है, और इसलिए इसमें सामाजिक एवं आर्थिक सम्बन्धों को मूलभूत रूप से पुनर्चना करने की आवश्यकता होती है।

26.4 सारांश

वर्षों से विकास में श्रेणी के रूप में महिलाओं की महत्ता परिवर्तित होती चली आ रही है। अब यह समझा जा रहा है कि विकास के लिए महिलाओं का सशक्तीकरण करना आवश्यक है क्योंकि अधिक उत्पादन, अधिक समानता और सामाजिक प्रगति अब अनिवार्य है। निर्णय प्रक्रिया में सीमित समूह, जैसे महिला की सहभागिता को अब महत्वपूर्ण समझा जाता है। हालाँकि यह माना जाता है कि संरचनात्मक समायोजन नीतियाँ भुगतान की संतुलन स्थिति को सुधारेगी किन्तु वे आय

तथा रोजगार को उत्पादित करने में विफल हो गई है। महिला और बच्चे सर्वाधिक रूप से प्रभावित होते हैं। नारीवादी विद्वानों ने महिला एवं विकास परिप्रेक्ष्य में चार सिद्धान्तों को पहचाना है— विकास में महिलाएं, महिला एवं विकास, लिंग एवं विकास तथा महिला, पर्यावरण और विकास।

26.5 बोध प्रश्न

1. विकास से आप क्या समझते हैं?
2. आर्थिक विकास में महिलाओं ने क्या भूमिका निभाई है?
3. क्या विकासशील देशों में संरचनात्मक समायोजन नीतियों ने महिलाओं के स्तर को सुधारने में सहयोग किया है। आपका क्या दृष्टिकोण है?
4. पूर्ण आधुनिकीकरण से विकास होगा तथा महिलाओं की स्थिति भी सुधरेगी। क्या आप सहमत हैं? यदि नहीं तो क्यों?
5. लिंग और विकास पर वाद-विवाद के मुख्य तथ्य क्या हैं?
6. पारिस्थितिकीय नारीवाद से आप क्या समझते हैं?

इकाई—27 : पर्यावरण

संरचना

27.1 प्रस्तावना

27.2 पर्यावरण क्या है ?

27.2.1 पर्यावरण की श्रेण्य समझ

27.2.2 पर्यावरण की समकालीन समझ

27.2.2 पर्यावरण की मूलभूत समझ

27.3 पर्यावरण पर बहस के प्रमुख मुद्दे

27.3.1 संसाधनों की कमी तथा अल्पविकास

27.3.2 राष्ट्रों का परस्पर निर्भरता

27.3.3 विकास को कायम रखना

27.3.4 राष्ट्रीय सुरक्षा के बदलते परिदृश्य

27.3.5 पर्यावरण तथा विकास की बहस

27.4 उत्तर-दक्षिण वर्गीकरण

27.5 विश्व बाजार तथा राज्य की सार्वभौमिकता

27.6 नागरिक समाज आंदोलन

27.7 वैश्विक तथा स्थानीय आवश्यकताओं का समिश्रण

27.8 सारांश

27.9 बोध प्रश्न

27.1 प्रस्तावना

पर्यावरण का अध्ययन मानव और प्रकृति के संबंधों की कहानी है। प्रकृति के तीन मूलभूत स्रोत—भूमि, जल, वायु पर्यावरण के सशक्त, प्रत्यक्ष संघटक हैं क्योंकि वे असंख्य तथा विविध विशाल तथा सूक्ष्म जीवों के वास स्थल हैं। पर्यावरण का अध्ययन इसलिए किया जाता है क्योंकि मानव अपना विकास दूसरे जीवधारियों के मूल्य पर करता है। फलतः वह ऐसे जाल में उलझ गया है, जहाँ उसका अस्तित्व ही खतरे में पड़ गया है। वे अंतर्संबंध जो पृथ्वी पर प्रजातियों का विस्तार करते हैं तथा मानवजाति के लिए लाभदायक हैं, उनका केवल पर्यावरण के अध्ययन द्वारा ही समझा जा सकता है। राष्ट्रों के बीच शक्ति और सुरक्षा का संघर्ष वस्तुतः प्राकृतिक संसाधनों का संघर्ष है। साथ ही, यह जीवन की इसपर नाजुक पकड़ की याद दिलाता है क्योंकि मनुष्य तथा प्रकृति के संघर्ष में अंततः प्रकृति की ही जीत होती है। यह एक कपटपूर्ण नाटक की रूप रेखा भी है जिसमें मनुष्य विजयी होने के लिए इस संबंध को विचलित करता है।

27.2 पर्यावरण क्या है?

पर्यावरण का अर्थ वह सब है जो प्रकृति ने मानव जाति को उपहार में दिया है। साथ ही यह राजनीति द्वारा पृथ्वी पर उत्कीर्ण दीवारों से भी निरपेक्ष है। सरलता से कहें तो भूमि, हवा, नदियाँ, समुद्र, तालाब, जंगल तथा पृथ्वी पर के सभी वनस्पतियाँ और जीवजंतुओं के मिलकर पर्यावरण का निर्माण होता है, लेकिन यह इन प्यारे वृक्षों एवं बाघ संरक्षण के अतिरिक्त भी बहुत कुछ है। यह पृथ्वी पर अवस्थित उन सभी परिस्थितिक संबंधों का प्रभाव है, जो इतिहास में निर्धारित समय पर विद्यमान रहते हैं। इस प्रकार यह केवल प्राकृतिक संसाधन नहीं है, बल्कि पुरुष, स्त्री और सभी जीवित जीवजंतु जिसमें छोटा कीड़ा या सूक्ष्म जीव तथा विशाल हेल या हाथी का उनके जैविक तथा अजैविक वातावरण के साथ, उनकी परस्पर निर्भरता तथा आपसी उत्तरजीविता के साथ संबंध भी है। प्रकृति कभी भी अपना उपयोग करनेवालों के बीच विभेद या श्रेणीबद्ध नहीं करती है तथा उसके संसाधन सभी प्रकार के उपयोग के लिए उपलब्ध हैं, लेकिन मानवजाति ने विशिष्ट

तकनीक का विकास कर तथा एक अपारदर्शी वित्तीय साम्राज्य, जो विकास के उदाहरण का पोषण प्रकृति का प्रतिकार करने के लिए करता है, को बनाकर निरंतर प्रकृति के विरोध में सेनाएँ खड़ी की हैं। यह प्रकृति के साथ मानव के संबंध को विकसित करने के बजाय प्रकृति का दमन करता है।

27.2.1 पर्यावरण की श्रेष्ठ समझ

पर्यावरण एक दुर्ग्राह्य अवधारणा है, क्योंकि इतिहास के विभिन्न कालखंडों में विश्व के पर्यावरण विदों ने अलग-अलग मत व्यक्त किए हैं। थोरी, हवीटमैन तथा इमर र्सन, जैसे प्रारंभिक मीमांसात्मक लेखकों ने जैव-नीति की धारणा का उपदेश दिया और प्रकृति के प्रति जिम्मेदारी की भावना तथा संसाधनों में हस्तक्षेप करने के पूर्व पारिस्थितिकी की आधारभूत समझ की वकालत थी। रिओडन तथा टर्नर 1983, प्रकृति के प्रति वापसी एवं प्रकृति से संबद्ध आदर्श देवत्व का प्रयोग औद्योगिक समाज की मूल्य व्यवस्था का प्रतिकार करने के लिए किया गया। इस प्रकार के औद्योगिक विकास के अन्य संक्रमण तथा निष्पूरता ने मानवजाति को अगाध भौतिक संचय की ओर अग्रसर किया। अतः प्रकृति को स्वयं पर छोड़ देना सर्वोत्तम है। अर्थ फर्स्टर्स खूबू एस० ए० का एक पर्यावरण समूह, ने टिप्पणी की— मातृभूमि की रक्षा में कोई समझौता नहीं। पूरे विश्व में ऐसे मीमांसात्मक पर्यावरण आंदोलन के समकक्ष हैं। जोन मूर नामक एक अमेरिकन पर्यावरणविद् ने संयुक्त राज्य अमेरिका में एक शक्तिशाली पर्यावरण समूह सियारा क्लब बनाया तथा योशेमाइट नेशनल पार्क के निर्माण को रोकने के लिए जीवन पर्यंत बूड़ो विल्सन की सरकार से संघर्ष करता रहा अथवा सुंदरलाल बहुगुणा का टिहरी बाँध के लिए संघर्ष या मेघा पाटकर का सरदार सरोवर बाँध के विरोध के संघर्ष का नेतृत्व अथवा केन सारो विवा का नाइजीरिया में ओगोनी लोगों के लिए संघर्ष, ये उग्र पर्यावरणविदों के कुछ उदाहरण हैं। यद्यपि इनके विचार पर बहस नहीं हो सकती है क्योंकि प्रकृति का अस्तित्व मानव के लिए नहीं बल्कि अपने लिए है, तथापि यह राय दी जाती है कि वह मानवजाति के विरुद्ध तथा विकास विरोधी है। यह गलत समझा जा रहा है कि वे मानवजाति की आवश्यकताओं तथा दुःखदर्द के प्रति विवेकशून्य हैं। मनुष्य ने प्रौद्योगिकी पर अपने नियंत्रण के माध्यम से प्रकृति की प्रमुख जाति बन जाता है, जिससे अन्य जीव-जंतुओं के अस्तित्व पर खतरा उत्पन्न होता है और उसके विलोप तक ले जाता है। मनुष्यों में भी जिनका प्रौद्योगिकी पर अधिक नियंत्रण है, उन्होंने प्रकृति से सर्वाधिक लाभ प्राप्त किए हैं, यहाँ तक कि दूसरों के हिस्से से लाभ उठाया है। उनके आकर्षक विकास की जड़ है, अतिक्रमी जनसंख्या जिसने इस पृथ्वी को अंतिम समापन की ओर अग्रसर किया है। संचय का लाभ और परिणामतः भौतिकवादी तथा उपभोक्तावादी संस्कृति का विकास, जो औद्योगिक क्रांति की देन है, इसने पृथ्वी की वाहक शक्ति पर अतिरिक्त दबाव डालकर मानव जीवन के सामंजस्य को तोड़ दिया है। राष्ट्र प्राकृतिक संसाधनों, जैसे लकड़ी, कोयला, लोहा, तेल और अन्य खनिजों के लिए युद्ध कर रहे हैं और अब जल के लिए राष्ट्रों के बीच पूर्ण युद्ध की बढ़ती घटनाएँ सामने आ रही हैं।

27.2.2 पर्यावरण की समकालीन समझ

राष्ट्र जैसे-जैसे विकसित और भौतिक रूप से समृद्ध होते हैं, ये संसाधन समाप्त हो जाते हैं तथा यह सत्य है कि इन संसाधनों के उपयोग के बिना कोई प्रगति नहीं हो सकती। हालाँकि यह समाज विज्ञान का एक सबसे बड़ा विरोधामास बन गया है। फिर भी, इस प्रगति को इस रूप में मोड़ा जा सकता है कि संसाधनों का उपयोग अधिक न्यायसंगत तथा उदारता पूर्वक किया जाए और उनके पुनरुज्जीवन एवं पुनः आवेशित करने के लिए अधिक समय दिया जाए। वास का संतुलन वर्तमान पीढ़ी तथा भविष्य की पीढ़ी के हिस्से के बीच भी होना चाहिए, साथ ही, सभी जीवित जीव जंतुओं के प्रदत्त समय के हिस्से का संतुलन भी होना चाहिए।

27.2.3 पर्यावरण की मूलभूत समझ

पर्यावरण अपने साथ राष्ट्रों के बीच सामाजिक आर्थिक असमानता की समस्या लाता है। प्रौद्योगिकी शक्ति तथा विज्ञान के सहारे उत्तर के समृद्ध राष्ट्रों ने दक्षिण के निर्धन राष्ट्रों के संसाधनों को निचोड़ लिया है और जीवित रहने के प्रयास में इन निर्धन राष्ट्रों ने बहुत कम मूल्य में अपने बहुमूल्य संसाधनों को उत्तर के राष्ट्रों को बेच दिया है। धरती का भू-दृश्य प्रौद्योगिकी दृष्टि से आक्रमण तथा भौतिक दृष्टि से अंहवादी राष्ट्रों के हाथों बंधक हो गया है। इसने लोभ के विरोध में भविष्य दृष्टि तथा एक संस्कृति के विरोध में प्रकृति की विविधता को खड़ा किया है। जब संसाधन विलुप्त हो जाते हैं तो सर्वप्रथम उनके साथ वे जमीनी, आदिवासी और रथ समुदाय भी खो जाते हैं जो यगों से इन पर जीवन-यापन करते रहे हैं। वाणिज्य और व्यापार की वैश्विक संस्थाएँ, जैसे-गेट, जी-7 खूर्तमान में रूस के जुड़ने से जी-8, तथा विश्व बैंक संसाधनों के उपयोग की नीति को सहायता देने के लिए ही बनाई गई हैं। पर्यावरण के अधरूपतन की स्थितियों के खुलासे ने इससे प्रभावित राष्ट्रों समाज को उत्तर के शक्तिशाली राष्ट्रों के विरोध में एकीकृत किया है। यह विश्व इक्कीसवीं शताब्दी की 6 बिलियन जनसंख्या की भंयकर चुनौती का सामना कर रहा है, जो शीघ्र ही बढ़कर 10 बिलियन के आस-पास होने वाली है। साथ ही यह सीमित और विलुप्त होते हुए पृथ्वी से उपलब्ध सीमित और विलोप हो रहे

संसाधनों के माध्यम से महत्वाकांक्षी रूप में उच्च जीवन स्तर की ओर बढ़ रही है। यह संघर्ष अपनी सर्वाधिक निर्णायक अवस्था में है, क्योंकि यह निर्णय प्रक्रिया की अंतिम लहर की ओर जा रहा है, जो पृथ्वी की तथा इसमें हमारी अपनी उत्तरजीविता को निश्चित करेगा।

27.3 पर्यावरण पर बहस के प्रमुख मुद्दे पर

आज पर्यावरण का अध्ययन उन महत्वपूर्ण विषयों के बारे में है जो राष्ट्रों को जीवमंडल, उनके संसाधन, लोकतंत्र और राष्ट्र राज्य व्यवस्था की रक्षा के लिए होगा। अंतर्राष्ट्रीय राजनीति ने जिस प्रकार कार्य किया तथा राष्ट्रीय संसाधन नीति और दूसरे देशों को राजनीतिक व्यवस्था को प्रभावित किया, इसका अब रूपांतरण हो रहा है। द्वितीय विश्व युद्ध के बाद उपनिवेशवाद के हटने से लेकर अमेरिका के द्वितीय विकास शताब्दी के आरंभ में प्रकाशित श्द लिमिट्स टू ग्रोथ रिपोर्ट तक राष्ट्रीय नीतियों ने दो धारणाएँ संस्थापित की जो औद्योगिक क्रांति के साथ ही वितरण में हैं। पहला, यह कि प्रकृति का अस्तित्व मानव के लिए है और दूसरा कि पर्यावरण संरक्षण विकास-विरोधी, प्रगति-विरोधी तथा प्रौद्योगिकी-विरोधी है।

27.3.1 संसाधनों की कमी तथा अल्पविकास

1972 के स्टॉकहोम के अधिवेशन, जिसके बाद दि लिमिट्स टू ग्रोथ के प्रकाशन ने तेजी से बढ़ते हुए प्रौद्योगिकीकरण को आश्चर्यचकित कर दिया। साथ ही, राचौल कार्सन की पुस्तक द साइलेंट स्प्रिंग के प्रकाशन ने उन लोगों की उदासीनता और चुपी को हिला कर रख दिया, जिन्होंने खड़े होकर जंगल और वन्य जीवों के विनाश को प्रकृति और खाद्य-श्रृंखला का गैर जिम्मेदार रसायन विस्तार तथा समुदायिक संसाधन व्यवस्थाओं के धीरे-धीरे विलोप होते हुए विनाश को देखा। बैरी कौमनर लिखते हैं— मानव-जाति जीवन-चक्र से टूट कर निकल गया है, यह जैविक आवश्यकता के कारण नहीं है, बल्कि यह वैसे सामाजिक संस्थानों द्वारा हुआ है, जिसे उन्होंने प्रकृति को जीतने के लिए बनाया है। ये सम्पत्ति प्राप्त करने के साधन हैं, जिनका विरोध उनसे है जो प्रकृति पर शासन करते हैं। अविकसित तथा विकासशील देशों द्वारा पश्चिम को पकड़ बराबरी पर आकर आर्थिक चमत्कार की आवृत्ति करने के प्रयास ने उन्हें गरीबी, कर्जदार और आवश्यक सामानों की आपूर्ति में धीमी गिरावट की ओर अग्रसर किया। कर्ज के संघर्ष ने विकासशील देशों को विकासहीनता के जाल में जकड़ दिया। ऐसे देश अपने परिसमापन की संभावना को खत्म करने के लिए पर्यावरण का अतिमात्रा में प्रयोग करने को विवश हो गए। यहाँ तक कि केवल ऋण सेवा उनके समग्र राष्ट्रीय उत्पाद का छः से सात प्रतिशत के बीच हो गई। स्प्रार्किन 1992, पूरे विश्व में आठ सौ मिलियन से भी अधिक लोग स्थानीय कुपोषण तथा प्राथमिक स्वास्थ्य सेवा के बिना गरीबी रेखा से नीचे रहते हैं। जैसे-जैसे औद्योगिकीकरण तथा शहरीकरण का विकास होता है वैसे-वैसे गरीब क्षेत्रों के लोग अपना निवास स्थान और संसाधनों को खाने लगते हैं।

27.3.2 राष्ट्रों का परस्पर निर्भरता

प्रकृति की कोई दीवार नहीं होती है इसलिए नदी, जंगल, खनिज सम्पदा, वन्य जीव, समृद्ध कच्छ वनस्पति तथा आदिवासी समुदाय एक देश से दूसरे तक फैले हुए हैं और उनका पारिस्थितिकी अनुबंध उनकी राजनीतिक दीवार से बढ़कर हो गया है। अतः एक राज्य के किसी भी कार्यक्रमलाप से दूसरे पड़ोसियों के यहाँ अशांति की लहर चली जाती है। उदाहरणतः भारत और पाकिस्तान के बीच सिन्धु नदी क्षेत्र कुछ दुर्लभ प्रजातियों की मछली और कच्छ स्थिति का घर बना हुआ है और यह समुद्री लहरों के लिए प्राकृतिक दीवार का कार्य भी करता है। प्रदूषण अत्यधिक बहाव अथवा कच्छ वनस्पति के विनाश का कोई भी कार्य दूसरे देश के संसाधन-प्रवाह और उनके समुद्री तट के क्षेत्र की प्राकृतिक सुरक्षा को प्रभावित करता है। सम्पूर्ण हिन्द महासागर तटीय क्षेत्र पर 1985-86 में विश्वस्तर पर मूंगा के विरंजल फ्रांस और चीन के समुद्री अणु परीक्षण के कारण हुआ। अंतर्राष्ट्रीय नदियाँ, जैसे यूरोप में राइन अथवा भारत और पाकिस्तान के बीच रावी हमेशा विकास की उन नीतियों जिन्हें इन राष्ट्रों ने इनके जलग्रहण-क्षेत्र में आरंभ किया है, के कारण विवाद का मुद्दा रही हैं। साइबेरिया या कुवैत के तेल क्षेत्र जो भूमिगत रूप में दूसरे राज्यों में फैल गए हैं, वे अब इन राज्यों को इनके अत्याधिक उपयोग के विरोध में कार्रवाई करने तथा नदीतटीय राज्यों पर संरक्षण कार्य की सहायता करने पर जोर दे रहे हैं। ओजोन छिद्र इसका सर्वोत्तम उदाहरण है कि विकसित राज्य औद्योगिक क्रिया-कलाप द्वारा विश्व मानवजाति के स्वास्थ्य को क्षति पहुँचाने के लिए क्या कर सकते हैं। एक राज्य के विकास के कुछ कार्य दूसरे राज्यों में भूकंप, समुद्री आंधी, तूफान यहाँ तक कि सूखा भी भेज सकते हैं। पृथ्वी के भूगर्भ से जुड़े समताप मंडल, क्षोभ मंडल, जलमंडल तथा दूरवर्ती संवेदी तकनीक से खुलासा के साथ स्थान के अध्ययन ने यह प्रमाणित कर दिया है कि किसी भी राज्य को बेरोकटोक और अनियंत्रित औद्योगिक कार्य का अधिकार नहीं दिया जा सकता। लोग पर्यावरण संकट से इतने प्रभावित हो जाते हैं कि यह उन्हें घरबार छोड़कर पर्यावरण शरणार्थी बनने जैसे असैनिक युद्ध की ओर जाने को मजबूर करता है। शरणार्थियों के यू. एन. हाई कमिशनर तथा अंतर्राष्ट्रीय रेडक्रॉस सोसाइटी विश्वभर में पारिस्थितिक शरणार्थी की बढ़ती संख्या देखकर भयभीत हैं। राज्य की सार्वभौमिकता पृथ्वी के इन निवासियों के प्राकृतिक अधिकार जो अलंघ्य और अटल हैं, से बाधित होती है। जबतक विश्व

की अर्थव्यवस्था विकास की इस विनाशकारी प्रक्रिया को पराजित करने की ओर अभिमुख नहीं होगी, तब तक विभिन्न देशों के जीवनस्तर की खाई और उनकी जनसंख्या का पर्यावरण संकट संभवतः लोकतांत्रिक प्रक्रिया को आघात पहुँचाएगा। साथ ही, राष्ट्र राज्य व्यवस्था के लिए भी एक गंभीर चेतावनी होगा। तुलनात्मक राजनीति का अध्ययन और सुरक्षा वार्ता प्रतिध्वनिक व्यवस्था की राजनीति से प्रभावित होते हैं जिसका अंतर्राष्ट्रीय क्षेत्र में शक्ति के लिए हो रहे एक सशक्त युद्ध में अंतर्राष्ट्रीयकरण किया है। पर्यावरण के इस संकटपूर्ण कारक पर पारंपरिक अध्ययन नहीं हो पाया है, जिसने पूरे विश्व की राजनीतिक व्यवस्था में अधिक पारस्परिक निर्भरता प्रदान की थी, साथ ही इसने आर्थिक रूप से सशक्त राज्यों द्वारा बहुप्रचारित और प्रोत्साहित विकास नीतियों के रहस्य का भी खुलासा किया है।

केंद्रीय रूप से योजनाबद्ध तथा नियंत्रित अर्थव्यवस्था और मुक्त व्यापारियों की औद्योगिक विकास की नीति पर अंधविश्वास के कारण हुए भ्रम-निवारण ने पर्यावरण के लिए सबसे खराब संघर्ष पैदा किया है। सिएटल और जिनेवा में हुई डब्लू. टी. ओ. की बैठक में जनता की भावनात्मक प्रतिक्रिया द्वारा उत्पन्न विरोध संकेत देता है कि राजनीतिक अध्ययन के मुद्दे के रूप में पर्यावरण रहेगा और यह वैश्विक राजनीति को प्रभावित करेगा, क्योंकि राज्यों द्वारा प्रयुक्त सभी प्राकृतिक संसाधनों का समानता से वितरण नहीं हुआ है तथा इसकी प्रतिक्रिया में वे अपने न्यायसंगत प्रयोग के स्तर को अनुपालन करने में असफल हुए हैं। शक्तिशाली राज्यों ने कमजोर राज्यों के हिस्से के अति प्रयोग और अधिक निचोड़ने के लिए अपनी मांसपेशियों को आकुंचित कर लिया है, जबकि कमजोर राज्यों ने गरीबी तथा ऋणजाल के कारण उपलब्ध संसाधनों का भी कुप्रबंधन किया है। इसने अल्प विकास का एक दोषपूर्ण-चक्र निर्मित कर दिया है, जिसमें पर्यावरण को प्रगति के मार्ग का बाधक माना जाता है। 1992 में दीर्घकालीन विकास पर हुए रियो शिखर में उभरे इस पर्यावरण-विकास की बहस ने नए कारकों नेटवर्क और विशेषज्ञ एजेंसियों को उनके वेब की पहुँच के साथ बढ़ाया। विकास में तेजी लाने के लिए वस्तुतः विकास की गति को धीमा किए बिना प्रौद्योगिकी का पुनः समायोजन भी किया जा रहा है। इसने ऐसी बहुत दुर्दमनीय समस्याओं का समाधान प्राप्त किया है, जिन्हें पहले असाध्य माना जाता था और इससे विश्व भर के बहुत समुदाय-समूहों को शोषण करने वाली राज्य व्यवस्था के विरोध में अपने आंदोलन को संघटित करने में सहायता मिली है। सिएटल और जिनेवा इस नई प्रवृत्ति के उदाहरण हैं। अतः "हित को पुनर्परिभाषित किया जा रहा है और इसप्रकार राष्ट्रीय नीतियों के पीछे व्यक्तिनिष्ठ लाभ ऐसे नागरिकों के हित के सामने उजागर हो रहे हैं, जिनकी यह मांग है कि एक जिम्मेदार उपभोग और उत्पादन को प्राथमिकता तय करनी चाहिए। इसने कायम रखने के मुद्दे को भी उठाया है और फलतः राष्ट्रों के द्वारा पश्चिम के अभियान को पकड़ने के लिए विकास की आडंबरपूर्ण तथा विदेश नीतियों का खुलासा भी किया है।

27.3.3 विकास को कायम रखना

कायम रखना एक ऐसा मुद्दा है जो याद दिलाता है कि यदि पर्यावरण एकबार खो जाए तो उसे पुनः प्राप्त करना न केवल कठिन, बल्कि कभी-कभी असंभव भी है। अतः इसका प्रयोग न्यायसंगत होना चाहिए। वैज्ञानिक अध्ययन से यह भी पता चला है कि बहुत ऊर्जा की हानि दोबारा प्राप्त करना कठिन और कभी-कभी असंभव है। पर्यावरण अर्थशास्त्री जॉर्जस्व्यू रोगेन (1971) लिखते हैं कि थर्ड लॉ ऑफ थर्मोडायनामिक्स के अनुसार मुक्त ऊर्जा के एकबार अप्रकट ऊर्जा के रूप में परिवर्तित हो जाने पर उसे पुनः प्राप्त नहीं किया जा सकता। इस प्रकार गैरजिम्मेदार विकास लंबे समय में होने के बजाय प्रतिगामी के रूप में बदल सकता है। अतः राष्ट्र जिन नीतियों का अनुसरण करते हैं, उन्हें निम्नलिखित आधारभूत सिद्धांतों का पालन करना चाहिए, जिनमें कायम रखने का मूल विचार समाहित है—

वाहक सामर्थ्य का मुद्दा

1933 में एल्डो लियोपोल्ड ऐसे प्रारंभिक लेखकों में थे जिन्होंने इसे संतृप्ति बिंदु के रूप में परिभाषित किया, जिस पर एक विशेष प्रजाति के चराई जानवरों ने उस बिंदु को समीप गए, जहाँ चारागाह की गुणवत्ता की सामान्य और निरन्तर गिरावट के बिना, और अधिक व्यक्तियों को सहारा नहीं दे सके। यह हवा और पृथ्वी पर रसायन के प्रयोग अथवा नदियों और समुद्र के अत्यधिक बहाव पर लागू है, जो भूमि की उत्पादकता में धीमी गिरावट से खाद्य की उपलब्धता को कम करता है और मछली पकड़ने में भी कमी लाता है। हवा में प्रदूषण उत्पादनकारी जनसंख्या की जीवन-अवधि को कम करता है और देश के स्वास्थ्य बजट को बढ़ाता है। अतः उत्पादन और खपत की बाह्यता तथा बाहरी सीमा को विकास एवं व्यापार-निर्णयों में समाविष्ट किए जाने चाहिए।

अंतरा-उत्पादन तथा अंतःउत्पादन समता तथा न्याय के मुद्दे

पृथ्वी के संसाधनों का प्रयोग केवल कुछ शक्तिशाली राष्ट्रों की विलासिता के लिए नहीं किया जा सकता जो प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में अग्रणी हैं। इन संसाधनों, जैसे हवा, पानी, भूमि, जंगल और तेल का समानता से वितरण होना चाहिए। राष्ट्रों को इन संसाधनों की सुरक्षा और संरक्षण के लिए पर्यावरण स्तर का पालन करना होगा। प्रत्येक देश को ऐसे संस्थान और नियम बनाने होंगे जो संरक्षण अभियान की सहायता करें। वैश्विक स्तर पर राष्ट्रों को ऐसे संस्थान बनाने होंगे जो तकनीकी

दृष्टि से शक्तिशाली राष्ट्रों को अपने नागरिकों के उच्च जीवन स्तर के लिए विश्व संसाधनों के विनाश को रोक सकें। संरक्षण इन संसाधनों पर भावी पीढ़ी के अधिकार की भी रक्षा करता है क्योंकि यह उन सभी का है, जो इस पर रहते हैं, साथ ही उनका भी है जो इस पर रहने आनेवाले हैं। अतः वर्तमान पीढ़ी द्वारा पृथ्वी के सीमित सामर्थ्य की विलासिता का आनंद उठाने का मूल्य उन्हें चुकाना होगा जो बाद में इस विनष्ट पृथ्वी के निवासी होंगे। कायम रखना यह मांग करता है कि आने वाले समय में पृथ्वी पर निवास करनेवालों के हिस्से के उपयोग पर प्रतिबंध लगाया जाए।

समुदायों और वन्य जीवों के आवास अधिकार

मानव तथा अवमाननीय जनसंख्या का उनके आवास से विस्थापन प्राकृतिक पारिस्थितिकी प्रणालियों के जीवनचक्र को अस्त-व्यस्त कर देता है। एल्डो लियोपोल्ड ने भूमि और प्रकृति के संबंध पर सुंदर विचार किये हैं। वह लिखते हैं सभ्यता स्थिर और निरंतर रहनेवाली पृथ्वी की गुलाम नहीं, जैसा कि प्रायः समझा जाता है। यह मानव जीव तथा अन्य जीवों और पौधों तथा मिट्टी के बीच परस्पर एवं अन्योन्याश्रय सहयोग की अवस्था है, जो किसी के भी असफल होने पर किसी भी क्षण टूट सकता है। भूमि की लूट ने राष्ट्रों को बेदखल किया है और मौका आने पर फिर कर सकता है। ऐसी सरकार जो आवास अधिकार की रक्षा नहीं करती, वह कायम जीवन के चक्र को तोड़ती है, क्योंकि वहाँ निवास करनेवाले सबसे छोटे सूक्ष्मजीव की भूमिका भी वहाँ के निवासी समुदाय के जीवन चक्र में होती है।

27.3.4 राष्ट्रीय सुरक्षा के बदलते परिदृश्य

पर्यावरण की आकस्मिकता मौसम विज्ञान के पूर्वानुमानों तथा स्वदेशी विवेक दोनों की अवज्ञा कर रही है। विगत 600 वर्षों में पिछली शताब्दी सबसे गर्म शताब्दी थी, साथ ही 1860 के दशक से 1980 और 1998 के बीच चौदह सबसे गर्म वर्ष भी। कुछ सबसे खराब पर्यावरण की आपदाएँ जैसे बाढ़, सूखा, तूफान और भूकंप पिछली शताब्दी में ही हुआ। विश्व के अधिकाधिक निचले क्षेत्र जलमग्न हैं और पारिस्थितिक शरणार्थियों की संख्या अनियंत्रित रूप से बढ़ रही है। विश्व स्तर पर संसाधनों की कमी जल युद्ध की ओर ले जा रही है जो जंगल के स्वत्वाधिकार तथा भोगाधिकार के लिए व्याप्त युद्ध के अतिरिक्त है। पर्यावरण के सिकुड़ते स्थान ने राष्ट्रीय दीवारों के बाहर मानव और जन को इस प्रकार संघटित कर दिया है, जो पहले कभी नहीं देखा गया था। पर्यावरण एक उच्च श्रेणी की राजनीतिक समस्या हो गई है। ऐसी परिस्थिति में सैनिक सुरक्षा की विचारधारा पुरानी और अप्रासंगिक हो गई है क्योंकि नई पर्यावरण असुरक्षा किसी एक देश को चेतावनी नहीं देती बल्कि इस अंतरिक्ष पृथ्वी के सभी निवासियों को, चाहे वे अमीर हों या गरीब, पुरुष या स्त्री, गोरा या काला। ग्लोबल वार्मिंग ग्रीन हाउस इफेक्ट तथा एल. निनो ऐसे पारिभाषिक शब्द हैं, जिन्होंने निर्णय करने वालों को आश्चर्यचकित और तकनीकी अध्ययन को हैरान कर दिया है। विश्व इन अप्रत्याशित विकासों के प्रति गंभीर है, यह ब्रूटलैंड कमीशन (1987) के ऐतिहासिक अध्ययन द्वारा प्रकट हुआ है, जिसका शीघ्र ही फेडरल रिपब्लिक ऑफ जर्मनी के भूतपूर्व चांसलर, हेलमुट स्मिट के नेतृत्व में 1990 में एक अंतर्राष्ट्रीय समूह ने भी अध्ययन किया था। इन प्रतिवेदनों ने परिवर्तन के साथ व्यवहार करने की एक दृष्टि दी गई है। यह एक ऐसी दृष्टि है, जिसमें गरीबी, पर्यावरण की गिरावट, अन्याय और असमानता जैसी हिंसा की जड़ों से रणनीति के साथ सुरक्षा प्राप्त होती है। अंतर्राष्ट्रीय राजनीति के विषय में इस नई दृष्टि का नाटकीयकरण, भावनाकरण और अपद्वीकरण जितना पर्यावरण संसाधनों के प्रयोग के क्षेत्र में हुआ, उतना कहीं नहीं हुआ। ब्रांट, पामे तथा ब्रूटलैंड ने सुरक्षा परिप्रेक्ष्य को पर्यावरण की चिंता की ओर मोड़ दिया। सुरक्षा पर यथार्थवादी परिप्रेक्ष्य का उन्मूलन शक्ति संवर्धन के सिद्धान्त में हो गया और इस पारंपरिक नीति के परिप्रेक्ष्य ने सर्वत्र पर्यावरण कार्यकलाप की सही दिशा को धीमा कर दिया। इसने बल प्रदर्शन तथा प्रत्यक्ष युद्धस्थिति की दृष्टि अपना कर पड़ोसियों को चेतावनी देने पर जोर दिया। पोलिटिक्स एमंग नेशन्स में हंस मॉर्गन्थू (1948) ने सुरक्षा प्राप्त करने की पूर्वशर्त के रूप में सैनिक शक्ति की आवश्यकता पर जोर दिया। सर्वत्र इसे सैनिक रणनीति के तथा शस्त्रों के विस्तार के युद्ध के सिद्धान्त के रूप में समझा गया है। यह पाया गया कि इन युद्धों का संबंध आर्थिक अन्याय और राजनीतिक दमन की समस्या, उच्च वर्ग के स्वार्थ, जातीय अतिराष्ट्रीयता, बढ़ते हुए राष्ट्रीय पूंजीवाद, गुलामी और कृषिदासता से है। एक्केहार्ट क्रीपेनडॉफ (1987) ने यथार्थवाद को सुरक्षा के प्रति अमेरिकन दृष्टिकोण बताया, जो रचनात्मक शक्ति को सैनिक साधन के अलावा अन्य साधनों से शक्ति उत्पन्न करने की प्रेरणा दिए बिना केवल शक्ति का यथास्थिति बनाए रखता है। सुरक्षा के यथार्थवादी अनुसंधान में अमेरिकी पूर्वाग्रह के परिलक्षित होने के बावजूद, तीसरे विश्व में भी इस पर विश्वास रखने वाले बहुत हैं। राष्ट्रीय प्राथमिकता पारिस्थितिक सशक्तीकरण के बजाय सुरक्षा निर्माण की ओर चली गई क्योंकि पर्यावरण की गर्भावधि लंबी है और वह तत्काल अत्यल्प राजनीतिक लाभ देने वाली है। इसका फल एक काल्पनिक सुरक्षा है जो असहाय नागरिकों की स्थायी असुरक्षा बन जाती है।

1980 के अंत में आर. बी. जे. वाकर (1988) के कार्यों ने सुरक्षा के प्रति इस नए दृष्टिकोण को आगे बढ़ाया। उन्होंने चेतावनी दी कि सैन्यकरण अपने नागरिकों को गरीबी और असमानता में ढकेल कर उनकी आर्थिक व्यवस्था को जोखिम में डालकर और उनके परिस्थितिक धन को नष्ट कर सुरक्षा का भ्रम देती है। अंतर्द्वन्द्व की प्रकृति में इतना अनैतिक परिवर्तन

हो गया है कि सभी अस्त्रों तथा प्रक्षेपणास्त्रों का निशाना शहर और नागरिक बन रहे हैं। इस शताब्दी के आरंभ में युद्ध हताहतों में से लगभग 90 प्रतिशत सैनिक होते थे। आज लगभग 90 प्रतिशत नागरिक हैं (मानव विकास प्रतिवेदन 1994)। सेना की प्राथमिकता विश्वस्तरीय पर असैनिक अनुसंधान से शस्त्र अनुसंधान की ओर आधे मिलियन से अधिक वैज्ञानिकों के विचलन को न्यायसंगत मानती है और सैनिक व्यय दुगुनी गति से बढ़ रहा है। पाकिस्तान की अप्रकाशित राष्ट्रीय संरक्षण नीति में कहा गया है कि इसकी बाह्य सीमा की सुरक्षा और संरक्षण आकाश, जल और भूमि पर एक विशिष्ट बल द्वारा होता है लेकिन इसके (पाकिस्तान) अंदर से अलक्षित और अदृश्य निर्णयों तथा कार्यों के द्वारा विमुख, पतित और नष्ट किया जा रहा है। जो शीघ्र ही इन दीवारों को गिरने की ओर ले जाएगा। विभिन्न देशों द्वारा पूरक नीतियों के बजाय परस्पर स्पर्धात्मक नीतियों के अनुसरण के कारण अतिविशाल ऋण—जाल अपनी जनसंख्या के अल्पकालिक दृष्टि के संकट तथा पर्यावरण विरोधी नीतियों को प्रकट कर देगा। संसाधनों की कमी, जनसंख्या संकट और प्रौद्योगिकी विलंब के बारे में चेतावनीपूर्ण खुलासा सभी राष्ट्रों, धर्मों और पेशों के व्यक्तियों को संगठित कर सीमा-विवाद से ऊपर उठकर मानवजीवन के सुधार और कायम रहनेवाले भौतिक विकास के लिए एकीकृत प्रचार अभियान में एक साथ लाकर खड़ा कर दिया है। वैश्विक व्यापार तथा अंतर्राष्ट्रीय कंपनियों राष्ट्रीय नीतियों में अपनी व्यापार-सूची को शामिल करने के लिए प्रबल कारक के रूप में देखी जा रही है। रियो (1992) से सिएटल (1999) तक की यात्रा ने विकसित तथा विकासशील देशों के नागरिकों में व्यापार नीतियों में पर्यावरण की मांगों के प्रति अधिकारियों की धृष्टता के विरोध में बढ़ते असंतोष और विद्रोह को प्रदर्शित किया है। पर्यावरण की समस्या विकास तथा अंतर्राष्ट्रीय सहयोग की समस्या है। यह एक विस्तृत व्यवस्था का हिस्सा है, जिसे अलग से नहीं लिया जा सकता है। वर्तमान समय में पर्यावरण के मुद्दे उच्च श्रेणी की राजनीतिक समस्या बन गए हैं, क्योंकि वे जटिलता में बढ़े हैं और उन्हें सहयोग करने के लिए एकीकृत राजनीतिक क्षेत्र की कमी है। विभिन्न देशों में पर्यावरण संसाधनों के पतन, क्षीणता और विकृति की मात्रा में भिन्नता है इसलिए इन अलग-अलग समस्याओं की प्राथमिकता का मापक्रम भी विभिन्न है।

27.3.5 पर्यावरण तथा विकास की बहस

पर्यावरण की सुरक्षा का संबंध हमेशा औद्योगिक प्रक्रिया की दिखाई देने वाली धीमी गति से जोड़ा जाता है। इसका कारण यह है कि बहुत से सरल उपायों की कार्यप्रणाली तथा सस्ती प्रक्रियाएं जो संसाधन-प्राप्ति की सीमा और समुदाय अधिकार को प्रभावित करती हैं जो तेज उत्पादन तथा विकास के लिए प्रयुक्त होती हैं। जब यू. एस. ए. में द लिमिट्स टू ग्रोथ प्रकाशित हुआ था, तब उद्योगपतियों ने अपने संवर्ग को पर्यावरणविद के विरोध में एक आक्रामक युद्ध के लिए संघटित किया, जिसमें उन्हें औद्योगिकीकरण-विरोधी, विकास-विरोधी तथा प्रयास-विरोधी बताया। उनका विचार यह था कि पर्यावरण तथा विकास एक दूसरे के विरोधी हैं और कोई दोनों को एक साथ प्राप्त नहीं कर सकता।

यह बहस दो विभिन्न प्रणालियों या मूल्य प्रणालियों के परिणाम हैं, जिसमें विकासशील और विकसित राष्ट्रों में पर्यावरण की अवधारणा सुनिश्चित की गई थी। हालाँकि संरक्षण आंदोलन में वर्ग अर्थ है, इस दृष्टिकोण से कि इससे उत्पन्न सामाजिक शक्ति कमजोर कृषि-व्यवस्था पर खतरा बन सकता है जो विश्व के 40 प्रतिशत लोगों की आजीविका को निर्धारित करता है। भारत में इसे खूबसूरत वृक्ष और बाघ संरक्षण कहा गया है। 1972 में, संयुक्त राष्ट्र में उभरे विवाद से यह स्पष्ट था जब विकासशील देशों के लिए पर्यावरणीय संरक्षण की आवश्यकता को पूर्णतया निम्न रखा गया। फ़र्ड के लिए, यह असामयिक होगा कि वे अपनी प्रशासकीय ऊर्जा को, नए संस्थान या उपकरण गठित करने में लगा दें। (सं.रा. 1972-27) यह आरामपूर्वक मान लिया गया कि पर्यावरणीय क्रिया विकास के होने तक रुक सकती है और इस प्रकार एक तरफ विकसित राष्ट्र पर्यावरणीय रूप से स्वच्छ प्रौद्योगिकी के लिए अनुदान के प्रति अपने उत्तरदायित्व से स्वयं को पृथक कर रहे हैं तो दूसरी तरफ जीव विभिन्नता शोषण और जलवायु परिवर्तन को सीमित करने के प्रति अपने भार को समाप्त कर रहे हैं। इसी अवधि में, रसायन उद्योग, कृषि-व्यवसाय, जैव-प्रौद्योगिकी शोध तथा अणु-अस्त्र का प्रचुर मात्रा में कार्यक्रम आदि से जो बहिष्प्राव हुआ, उसके कारण, दक्षिण के थोड़े से ही स्रोतों का नाश किया। ओजोन होल हाउस प्रभाव तथा समुद्री-स्तर में वृद्धि के रूपों में लक्षणिक अभिव्यक्ति उत्तेजक औद्योगिकीकरण का यथार्थ बन गया जो विकसित राष्ट्रों द्वारा अपनाया गया। यह मुख्य कमजोरी जो पर्यावरणीय इतिहास में उस मूल स्रोत से प्राप्त हुआ था। विश्व को ऐसे मंच पर ले गया, जहाँ समाधान, सर्वथा नई समस्याओं के साथ मिलती थी। स्टॉक होम सम्मेलन में 26 मुख्य प्रस्ताव और 109 सिफारिशें पारित किए गए। किन्तु पुनर्वीक्षण जो 10 वर्षों पश्चात् हुआ, उससे यह पता चला कि न सिर्फ जनसंख्या विस्फोट में विकास को अवरुद्ध किया है बल्कि वायु, जल और भूमि में सघन मात्रा में जीव-विष (टॉक्सिन) के कारण भी जिसने धरती को मानव-नियंत्रण के बाहर प्रदूषित किया गया है। संकटापन्न पौधे और जीव जन्तु की सूची बढ़ गई है, जिससे मानव जीवन के अस्तित्व पर खतरा है। 1980 के विश्व संरक्षण रणनीति ने पहली बार, समस्या जाँच-पड़ताल का अनुपातिक रूप से बेहतर दृष्टिकोण उपस्थित किया जिसमें विकासात्मक प्रक्रिया को पर्यावरणीय विषमता के साथ मिलाया गया था। इस प्रकार अंतर्संबंधन और अन्योन्याश्रयता दोनों की नींव पड़ी। पर्यावरण तथा विकास के बीच ज्ञात विभाजन को खत्म कर दिया और निम्नलिखित क्षेत्रों में तीन शाखदार कार्यवाई का सुझाव दिया गया—

- आवश्यक परिस्थितिकीय प्रक्रिया तथा जीवन समर्थक प्रणाली का अनुक्षण।
- आनुवंशिक विभिन्नता का संरक्षण।
- प्रजातियों तथा पारिस्थितिकीय की प्रणाली का वहनीय उपयोग।

हालाँकि विश्व संरक्षण रणनीति, राजनीतिक तथा सामाजिक परिवर्तन लाने की आवश्यकता से काफी दूर था जिसे संरक्षण उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए आवश्यक समझा जाता है। उसी वर्ष, ब्रैन्ट कमीशन प्रतिवेदन ने भी गरीब देशों में पर्यावरणीय अपकर्ष के कारण विकासात्मक नीतियों पर खतरों को स्वीकारा, फिर भी, यह प्रतिवेदन भी, कई पूर्वाग्रहों को दर्शाने में विफल रहा जो अन्दर से पर्यावरणीय परिप्रेक्ष्यों को तोड़ा रहा है। पर्यावरण की इस समस्या की ओर एक समीकृत और संपूर्ण अवधारणा, प्राकृतिक संसाधनों को बाँटने की वैश्विक राजनीति में हस्तक्षेप किया गया जो कि संसाधनों के स्तर और उपलब्धता तथा विश्व भर में उपभोग प्रणाली का संकेत देता है। संसाधनों को बाँटने का यह पहलू जो पर्यावरण विकास विभाजन को जोड़ता है, उसे 1987 के ब्रिटलैंड कमीशन प्रतिवेदन द्वारा किए विश्लेषण ढांचे में लाया गया और उसके आगे का विस्तार 1992 के रियो बैठक में हुआ, जब कार्यक्रम 21 ने क्षेत्रों को रेखांकित किया, दोनों उत्तर तथा दक्षिण में खतरे के संकेत को भेजा। इसे उन राजनीतिक तथा सामाजिक संरचनाओं में बहुत गहरा अतिक्रमण करते हुए पाया गया जिसका वैश्विक शासन व्यवस्थाओं पर प्रभुत्व है। संरक्षण के लिए पर्यावरणीय ढांचा, उन नीतियों से संबद्ध था जिन्हें जनसंख्या, शहरीकरण, सामाजिक विकास और महिलाओं की समस्याओं का सामना करने के लिए अपनाया गया है और यहीं पर पर्यावरण एवं विकास की ओर एक संयुक्त और समन्वय आधारित अवधारणा ने अपनी जड़ें मजबूत की। रियो सम्मेलन में, जिसे अधिक उचित रूप में पर्यावरण और विकास पर विश्व सम्मेलन या पृथ्वी शिखर सम्मेलन कहा जाता है, यह भली-भाँति समझ लिया गया कि पर्यावरण और विकास को पृथक् भागों में विश्लेषण नहीं किया जा सकता है क्योंकि धनी और निर्धन राष्ट्रों के बीच तथा प्रबल समूह और निम्न समुदायों में संसाधन बाँटने के वर्तमान ढांचे पर प्रश्न-चिह्न उठाता है। विकास नीतियों के मूलभूत विवादों को इसने उठाया: अंतर्राष्ट्रीय दाता एजेंसियों द्वारा लिए गए विकास परियोजनाओं की कीमत कौन अदा करता है और कौन लाभान्वित होता है? औद्योगिकीकरण प्रणाली के माध्यम से वायु और जल में छोड़े गए जीवअवशेष, ईंधन, वन तथा प्रदूषण के उपभोग प्रणाली के विश्लेषण ने इसका पर्याप्त प्रमाण दिया कि उत्तर औद्योगिकीकृत राज्यों की उपभोग प्रणाली ही वास्तविक अपराधी है जिसने पर्यावरण सुरक्षा के प्रति किसी भी प्रयास को प्रभावी रूप से बाधित किया है। इस जारी बहस ने विकसित एवं औद्योगिक राज्यों की विमुखता का उजागर किया जो वैश्विक आर्थिक एवं राजनीतिक संस्थानों की पुनर्रचना के प्रति अपेक्षित था और इनके बजाय, निर्धनता से जड़ित राष्ट्र के प्रति ध्यान को आकर्षित किया जिन्हें पर्यावरणीय अपकर्ष का वास्तविक अपराधी माना गया। अंतर्राष्ट्रीय व्यवस्था में विशेषकर संयुक्त राष्ट्र में, एक वास्तविक नेतृत्व की आवश्यकता थी जो इस प्रौद्योगिकीय जाल को तोड़ सके तथा विकास की ओर निरंतरता के आयामों की ओर जा सके। सार्क, जी-15 तथा जी-77 में भारत की सदस्यता अब नए अवसरों को खोल सकती है, एक नए स्वतंत्र व्यापारिक वैश्विक प्रणाली को कायम रखने की ओर। उदारीकृत और भूमण्डलीयकृत विश्व में, सभी पर्यावरणीय संगठनों के लिए निम्नांकित पर्यावरणीय अध्ययन अब नीति स्वरूप में प्राथमिक हो गए हैं—

- जैविक विभिन्नता संरक्षण के संदर्भ में संसाधन प्रयोग
- प्रौद्योगिकी तथा जलवायु परिवर्तन पर उसके प्रभाव
- पर्यावरणीय शासन तथा परियोजनाओं के प्रभाव का मूल्यांकन
- अपने संसाधनों पर देशी लोगों का पारंपरिक अधिकार

27.4 उत्तर-दक्षिण वर्गीकरण

1972 के स्टॉकहॉम सम्मेलन से यह स्पष्ट होता जा रहा था कि विकसित एवं विकासशील राष्ट्रों की प्राथमिकताएँ प्रमुख रूप से भिन्न होती हैं तथा दोनों उसकी प्राप्ति की इच्छा रखते हुए वैश्विक पर्यावरणीय सम्मेलनों में लॉबींग के माध्यम से पूरा करती हैं। प्रत्येक सम्मेलन के साथ यह स्पष्ट होता जा रहा था कि औद्योगिकीकरण तथा तीसरे विश्व के बीच का ध्रुवीकरण अधिक सशक्त और दृढ़ हुआ है, जैसे कि दो पृथक्कृत विश्व। धरती को ग्रह के रूप में दृष्टिगत करना, जहाँ दोनों रहते थे अब संसाधन आवंटन की उभरती राजनीति तथा संरक्षण दोनों उत्तरदायित्व को बाँटने में अस्पष्ट है। विकसित एवं विकासशील राष्ट्रों के भिन्न परिप्रेक्ष्यों से जो विवाद उभर कर आया, वह उपभोक्ता आवश्यकता बनाम मूलभूत आवश्यकता के मुद्दों पर केन्द्रित था और साथ ही मौलिक पर्यावरण के संबंध उनके तीसरे विश्व में असाध्य ग्रामीण गरीबी के साथ तथा उनकी सरकार की नीति प्राथमिकता, संरक्षण कदमों में विकसित राष्ट्र द्वारा प्रयोग की गई वाक्य रचना और शब्दावली विकासशील राष्ट्र से भिन्न थी और इसके अलावा पहले की पर्यावरणीय नीतियाँ, वैश्विक निगमों से बहुत अधिक प्रभावित थी। बहस से यह भी उभर कर आया कि जबकि जी-8 के विकसित विश्व व्यापार पर एकाधिकार तथा

सशक्तीकरण में ज्यादा रुचि रखते तथा ताकि बाजार लेन-देन को उदार किया जा सके, विकासशील विश्व सर्वथा वैश्विक व्यापार कार्यक्रम में अधिक न्याय और समान बाँट की चेष्टा करते थे जो अधिक यथोचित पुनर्वितरणीय कार्यक्रम था ताकि पर्यावरणीय न्याय प्राप्त हो सके।

दक्षिण से संसाधनों के प्रवाह को तर्कसंगत बनाने के लिए कई समूह उभर कर आए। अंतर्राष्ट्रीय संस्थानों का निर्माण हुआ ताकि आर्थिक आधार पर अपनी नीतियों की वैधता ठहरा सके। उत्तर और दक्षिण के बीच अधिक विभाजन, ब्रेटन बुड आर्थिक संस्थान के परिणामस्वरूप था जिससे उत्तर के औद्योगिक राज्यों के पक्ष में असमान व्यापार कानून को प्रोत्साहित और सुरक्षित किया। 1964 में, यू एन सी टी एडी के सेक्रेटरी जनरल के रूप में रॉल प्रेविशरव ने विवेकपूर्ण रूप यह चेतावनी दी कि यदि यही आर्थिक प्रणाली जारी रही तो उत्तर को अपने बाजार संभावनाओं को समाप्त करना होगा क्योंकि उनका व्यापार दक्षिण के कम विकसित राष्ट्रों के आर्थिक एवं सामाजिक कल्याण के साथ प्रत्यक्ष रूप से जुड़ा था। इसलिए उन्होंने यह प्रस्तावित किया कि उत्तर को कम से कम अपनी जी एन पी का 1 प्रतिशत योगदान, दक्षिण के विकास के लिए करना होगा। हालाँकि, 1992 में पृथ्वी शिखर सम्मेलन होने तक, दक्षिण इस वित्तीय प्रतिबद्धता के लिए अभी भी उत्तर से माँग कर रहे थे जिसे वे प्राप्त करने में विफल हुए। सिर्फ चार दाता राष्ट्र अब मिलकर इस अनुदान को पूरा करते हैं: नॉर्वे (1.04 प्रतिशत) स्वीडन (0.94 प्रतिशत) नीदरलैंड (0.94 प्रतिशत) तथा डेनमार्क (0.94 प्रतिशत)। संयुक्त राज्य अमरीका अपने जी डी पी का 0.2 प्रतिशत से कम प्रदान करता है, अधिकारिक विकास सहायता (ओ डी ए) में, जो अट्टारह ओई सी डी दाता राष्ट्रों में अंतिम था। (हेंपल 1996 रु 36) इसलिए उसे रियों विचार विमर्श में शंक एट पिकनिक की पदवी दी गई। इस प्रकार पर्यावरणीय संरक्षण का प्रयास, धन पुनर्वितरण का उत्तोलक बना (हेंपल 1996-36) तथा पृथ्वी के सीमित संसाधनों पर नियंत्रण करने के लिए संस्थानों का निर्माण हुआ।

उत्तर-दक्षिण विभाजन एक साधारण भूराजनीतिक विभेद है जो द्वितीय विश्व युद्ध से ही वैश्विक शक्ति की राजनीति का विवरण है। धनी राष्ट्र जो किसी स्तर के आरामदायक औद्योगिक विकास प्राप्त कर चुका है, वह जी-8 के समूह में सम्मिलित है, जबकि दक्षिण के कम विकसित राष्ट्र, जी-77 के समूह में। जी-8, मौद्रिक धन और प्रौद्योगिकी पर नियंत्रण करता है, जिसके माध्यम से वह दक्षिण द्वारा मजबूरी में बेचे गए कच्चे माल से लाभ प्राप्त करता है क्योंकि दक्षिण प्रौद्योगिकीय और वित्तीय रूप से पिछड़ा हुआ है। हालाँकि जी-77, दक्षिण के 125 राष्ट्रों से अधिक पर नियंत्रण रखता है जिनके पास बहुत अधिक जैविक विभिन्नता है किन्तु उनके पास विश्व के सर्वाधिक निर्धन क्षेत्र भी है, जिसका कारण है, पर्यावरणीय रूप से नष्ट भूमि और वन। दक्षिण के इन राष्ट्रों के लिए, उत्तर से अनुदान प्राप्त करना तलवार की धार पर चलने जैसा था किन्तु अनुदान प्राप्ति के कारण, पारिस्थितिकीय औपनिवेशिकता से भी बचना जैसा था, जो सहायता की शर्त के रूप में आता है। रियो शिखर सम्मेलन के दौरान, उत्तर और दक्षिण के बीच का विभाजन, जैविक विभिन्नता सभा के मामले में और अधिक बढ़ा। सबसे धनी जैविक विभिन्नता का 70 प्रतिशत, 12 बृहद् विभिन्नता राष्ट्रों में केन्द्रित था (मेक्सिको, कोलंबिया, इक्वाडोर, पेरू, ब्राजिल, जैर मडागास्कर, चीन, भारत, मलेशिया, इंडोनेसिया, तथा ऑस्ट्रेलिया)। विकसित राष्ट्रों की इच्छा थी कि विकासशील राष्ट्रों को अपनी जैविक विभिन्नता संसाधनों के संरक्षण और संरक्षणा के लिए कदम उठाना होगा। फिर भी, अधिकतर मूल जैविक विभिन्नता के संरक्षा कार्यक्रमों में प्रति वर्ष लगभग 10 अरब डालर से 14 अरब डालर तक की लागत होती थी जबकि आनुवंशिक संसाधनों से प्राप्त प्रौद्योगिकीय लाभ, पश्चिम अंतर्राष्ट्रीय निगम (टी.एन. सी) की जेब में जाती है (विश्व संरक्षण मॉनिटरिंग केन्द्र रु 1992)। इसलिए नाजुक समस्याएँ, जैसे जैव-प्रौद्योगिकी परेन्ट-अधिकार टी.एन.सी. की भूमिका तथा अधिक विवादास्पद बौद्धिक सम्पदा अधिकार ने जैविक विभिन्नता सम्मेलन की स्वीकृति पर जटिलता बढ़ाई। अपनी सबसे बड़े व्यापार साथी, अमरीका द्वारा सभी विषमता और सशक्त विरोध के बावजूद, कनाडा, सर्वप्रथम औद्योगिक राष्ट्र बना, जिसने जे यू एस सी ए एन जेड निषेध के प्रतिरोध में जैविक विभिन्नता के सम्मेलन (सी बी डी) का समर्थन किया। जैविक विभिन्नता सम्मेलन के प्रति तीन मुख्य उद्देश्यों की प्रतिबद्धता थी जो विकसित एवं विकासशील राष्ट्रों के दीर्घकालिक सहयोग की समन्वयता योजना से संबद्ध है।

(क) जैविक विविधता का संरक्षण

(ख) जैविक संसाधनों का कायम रहने वाला प्रयोग

(ग) आनुवंशिक संसाधनों के प्रयोग से प्राप्त लाभ को उचित और समान रूप से बाँटना।

जैव विविधता के अलावा विकसित देशों द्वारा, जलवायु परिवर्तन भी अंतर्राष्ट्रीय बाँह मरोड़ने का एक दूसरा क्षेत्र है, जलवायु में परिवर्तन का सामाजिक आर्थिक परिणाम, विशेषकर विकासशील राष्ट्रों के कृषि आधारित अर्थव्यवस्था पर जलवायु परिवर्तन प्रभाव डालता है, जिसका विश्वव्यापी गंभीर परिणाम होगा। कनाडा का प्रति व्यक्ति दर ऊर्जा उपभोग, विश्व में सबसे ऊँचा है, क्योंकि उसे अधिक मात्रा में प्राकृतिक संसाधन उपलब्ध है तथा गहन ऊर्जा उद्योग का केन्द्रीकरण भी है। इसके कारण कई पर्यावरणीय समस्याएँ भी उत्पन्न हुई हैं, जैसे नदियों, पानी, रासायनिक उत्पादन में नाईट्रेट का संकेन्द्रण, स्वेच्छिक यातायात, अणु-अस्त्र अपशिष्ट, कार्बन डायोक्साइड का स्राव आदि। आरंभ में कनाडा, जे यू एस सी ए

एन जेड समूह राष्ट्रों के प्रति निष्ठावान रहा (अर्थात् जापान, अमरीका, कनाडा, ऑस्ट्रेलिया, न्यूजीलैंड) जब संयुक्त रूप से विश्व मौसम-विज्ञान संगठन (डब्लू. एम. ओ) तथा संयुक्त राष्ट्र पर्यावरण कार्यक्रम (यू.एन ई. पी) ने जलवायु परिवर्तन के लिए 1998 में, अगुआई की। जलवायु परिवर्तन के अधिकतर खोज पर निगमों में मतभेद हुआ, क्योंकि वे अधिकतर ग्रीन हाउस गैस के उत्पादक थे। उद्योग लॉबी, विशेषकर तेल की कंपनियों ने वैश्विक जलवायु गठबंधन के माध्यम से लॉबी किया (पक्ष जुटाया) तथा जलवायु काउन्सिल, एक दूसरे उद्योग समूह ने यू.एन ई. पी बैठक में अमरीका के साथ आया। ब्रिटेन, इस प्रदूषण से प्रत्यक्ष रूप से प्रभावित नहीं हुआ क्योंकि हवा प्रदूषण को आर्कटिक तथा यूरोप की तरफ खींच कर ले गई। यूरोप तथा छोटे द्वीप राज्यों के समूह को प्रदूषण तथा समुद्री बढ़ाव के कारण प्रत्यक्ष रूप से खतरा था जिसके कारण उनकी भूमि डूब सकती थी। इसकारण जे.यु.एस.सी.ए.एन.जेड समूह, ओतां तथा गिराव पर विवाद को दूसरी दिशा में ले जाकर, शसंसाधनों और श्हास परिवर्तन के पहल की भाषा को कमजोर करना चाहते थे। यह तर्क, इस बात को प्रस्तावित करता है कि कॉर्बन का स्राव, जो देश हवा में छोड़ता है, उसे हास द्वारा प्रति-संतुलित होना होगा, जो इन स्रावों को सोख लेता है, जैसे तीसरे विश्व में स्थित वन, या हास की प्रक्रिया के माध्यम से जिसमें कहीं और वैकल्पिक तकनीकी का विकास किया जाता है। जलवायु परिवर्तन पर क्योटो प्रोटोकॉल दिसंबर 1997 में आया जिसमें यह प्रस्तावित था कि 2010 तक ग्रीन हाउस गैस (कार्बन डाइऑक्साइड, मीथेन, नाइट्रस ऑक्साइड, हाईड्रोफ्लूओकार्बन, पर फ्लूओकार्बन और सल्फर हेक्साफ्लूओराइड) को 1990 स्तर के नीचे तक लगभग घटा दिया जाएगा। जुलाई 2001 में कई विकसित देशों को साख के लिए लेन-देन करते हुए पाया गया यदि वे ग्रीन हाउस के स्राव को विकासशील देशों में प्रौद्योगिकी को बेचकर, कम कर पाते। जे.यु.एस.सी.ए.एन.जेड समूह के अंतर्गत अमरीकी संबंधों के कारण क्योटो प्रोटोकॉल का सार तत्त्व समाप्त हो गया। इसके कारण जो बॉन परिणाम आया, उसमें अविकसित राष्ट्रों के लिए कॉर्बन गिराव घरेलू घटाव तथा वित्तप्रबंध सम्मिलित था। ब्रिटेन के ग्रीन युरो सांसद, केरोलीन ल्युकस ने जलवायु परिवर्तन पर अमरीकी विचार के प्रति अफसोस प्रकट किया, और कहा-अब हम तेजी से, मात्र प्रजाति बनने जा रहे हैं जो बचाव का कोई कदम लेने की बजाय, स्वयं की विलुप्ति को मॉनिटर करेंगे। (पोल, 2001 : 217) कनाडा के एक गैर-सरकारी संगठन सियरा क्लब ने अमरीकी दूत, पॉल सेल्यूसी की चेतावनी के प्रति गंभीर चिन्ता दिखाई जो उन्होंने क्योटो प्रोटोकॉल का समर्थन करने के लिए दूसरे समूह के सदस्यों को दी थी।

रियो में यू.एन.सी.ई.डी की सभा ने यह प्रदर्शित किया कि वहनीय विकास, बहुत बड़ी कीमत पर आता है। उत्तर के धनी राष्ट्रों ने विकासशील राष्ट्रों के अतिरिक्त भार में हिस्सेदारी का वचन दिया था। यह अफसोस है कि तब से, अधिकारिक विकास सहयोग (ओ.डी.ए), 60.9 अरब अमरीकी डॉलर से गिरकर 53.1 अरब अमरीकी डॉलर हो गया है। इसके अतिरिक्त, गरीब राष्ट्रों के लिए दाता, एक जाल लेकर आता है, अच्छे प्रशासन के रूप में या बाजार समायोजन कार्यक्रमों के रूप में। इसप्रकार ओ.डी.ए, जिससे वहनीय विकास को बढ़ावा देने की अपेक्षा की गई थी, उसने विकास के वैकल्पिक प्रतिमानों का सहारा लेकर इसे संकुचित कर दिया। इस फंदे के परिणामस्वरूप, विकासशील देशों ने विदेशी प्रत्यक्ष निवेश (एफ.डी.आई) के माध्यम से निधि-कोष दान का वैकल्पिक तरीका निकाला जो अंतर्देशीय कम्पनियों द्वारा, देश के व्यवसाय में निवेश है और पिछले कुछ वर्षों से उसने ओ.डी.ए के कोष दान को मात कर दिया है। हालाँकि, चूँकि ये सभी टी.एन.सी, विकसित राष्ट्रों में रहती है, जैसे-ओ.ई.सी.डी तथा जी-8 पुराने वाले रूप में जारी रहने के लिए जो नई समस्या उत्पन्न होती है, वह है, इन नए निगमों की प्रतिबद्धता और तैयारी, वहनीय विकास की ओर तथा वहनीय पर्यावरणीय प्रबंधन की ओर इसलिए नए उदारीकृत व्यापार प्रणाली ने उत्तर-दक्षिण विभाजन को अधिक बढ़ाया है। पश्चिम के उपभोगी समाज, जिसने अपने लोगों को यथोचित भौतिक सुख प्रदान किया था, इसके विपरीत उसने निर्धन राष्ट्रों को पर्यावरणीय अपकर्ष और प्राकृतिक संकट के सामने खुला छोड़ दिया है। विकास अब और भी अधिक, वैश्विक बाजार प्रक्रिया तथा वैश्विक निगमों के राजनीतिक रूप से सशक्त लॉबियों के साथ संबद्ध हो गया है। जोहान्सवर्ग में वहनीय विकास पर 2002 के विश्व शिखर सम्मेलन में जलवायु परिवर्तन पहलों के अभाव के प्रति अपनी चिन्ता दिखाई है। दक्षिण के लोगों के लिए, यह एक अत्यधिक चुनौतीपूर्ण घड़ी है क्योंकि उनका भावी विकास पर्यावरणीय स्तर को स्थापित रहने के लिए समता और न्याय की ठोस सिद्धांतों की स्वीकृति पर निर्धारित होता है। यह साहसी प्रयत्न की पुष्टि पर्याप्त रूप से भारतीय विशेषज्ञ, डॉ. आर. के पचौरी के चुनाव से होती है जो जलवायु परिवर्तन के अंतर-सरकारी पैनल में अध्यक्ष थे। भारत के लिए यह बहुत ही वांछनीय कार्य होगा कि विकसित राष्ट्र के अंतर्गत भिन्नताओं को बाहर निकले, जैसे अमरीका और कनाडा के बीच, जो ग्रीन हाउस गैसों और जीवाश्म ईंधन (कोयला और पेट्रोलियम) उपभोक्ता से सर्वोच्च उत्पादक हैं और साथ ही दक्षिण के विकासशील अर्थव्यवस्था को न्याय भी प्रदान करते हैं।

27.5 विश्व बाजार और राज्य की सार्वभौमिकता

पर्यावरण संरक्षण और व्यापार के कायम रहने वाली प्रणाली के प्रति किसी भी क्रिया पर विचार या नियोजन में, बाजार एक महत्वपूर्ण कारक बन गया है। व्यापार का भ्रमण्डलीकरण तथा परिणामतः राष्ट्रीय नीतियों का अनुकूलन ताकि अंतराष्ट्रीय बाजारों में सीमित करने को रोक जा सके, इसके कारण, श्रमपर्यावरण शब्दावली का अधीनकरण और पुनः प्रतिपादन हुआ

है। इसकी अभिव्यक्ति वित्त एवं व्यापार के सभी संगठनों में हुई है, जैसे यू एन सी टी ए टी, डब्लू टी ओ, आई.एम.एफ तथा विश्व-बैंक। यह आक्रमणशील पूँजीवाद में लौटने की शुरुआत है जो अंतर-राष्ट्रीय कंपनियों द्वारा उत्साहपूर्वक संरक्षित होता है और इस कारण विश्व-भर में नागरिक समाज तथा लोगों के स्वैच्छिक समूह द्वारा सशक्त रूप से प्रतिरोधित होता है।

कॉर्टेन ने विलिस डब्लू. हारमन के शब्दों को स्मरण किया कि षपिछले आधे दशक से, व्यापार, पृथ्वी का सबसे सशक्त संस्थान बन गया है। किसी भी समाज के प्रबल संस्थान को पूरे उत्तरदायित्व ग्रहण करने की आवश्यकता है। (2001 रु 230) वर्तमान में जब 1.4 करोड़ खरब, अमरीकी डॉलर, विदेशी विनिमय, में अंतराष्ट्रीय रूप में, सट्टे के लाभ के लिए प्लावी रहता है, निम्नांकित, दो विश्वासों पर व्यापार के विषय में, गंभीरतापूर्वक विचार करने की आवश्यकता है। फर्म और वैश्विक कंपनियों की वृद्धि में इतनी तेजी आई है कि 1990 के मध्य में, स्तम्भित कर देने वाले आँकड़े, चेतावनी देने लगे। 1995 में यू एन सीटी ए डी अध्ययन ने यह पाया कि कुल 40,000 कंपनियाँ हैं, वे सामग्री एवं सेवा के विश्व व्यापार के दो-तिहाई पर अपना नियंत्रण रखती हैं। (राघवन 1995 रु 31) कार्टेन (2001 रु 231) का भी प्रतिवेदन है कि विश्व के सबसे बृहद् अर्थव्यवस्था में, 51 निगम हैं, सिर्फ 49 ही राष्ट्र हैं। मितशुबिशी की अर्थव्यवस्था, इंडोनेशिया से भी बड़ी है— जो विश्व की चौथी घनी आबादी वाला राष्ट्र है और प्राकृतिक सम्पदा की भूमि भी है। वर्तमान में, विश्व के सबसे बड़े टी.एन.सी में से 15 की आय, 120 देशों की जी डी पी से भी अधिक है। इसलिए भारत सरकार के पूर्ववर्ती मुख्य आर्थिक सलाहकार ने उन्हें उभरती वैश्विक सरकार भी कहा है— शअ वर्ल्ड इन्क लिमिटेड जिसमें जी-7, बोर्ड ऑफ डायरेक्टर के रूप में है। (कोठारी, 1993 रु 315) यह सत्य था कि विश्व का यह सबसे बृहद् संस्थान एक भव्य शुरुआत था और इसे समाज की आवश्यकतानुसार अनुकूलित और अंकुश लगाना होगा। सीएटेल, प्राग तथा गीनोआ शिखर सम्मेलनों की घटनाओं ने, वहनीय-पर्यावरण भविष्य के नियोजन में निगम शासन की विफलता का परीक्षण कर लिया। पर्यावरणविदों, किसान तथा श्रमिकों का बढ़ता असंतोष इस बात की अभिव्यक्ति है कि नागरिक समाज समूहों के प्रति सभी राष्ट्रीय सीमाओं के आर-पार निगम शासनों का उत्तरदायी होना होगा, जहाँ भी वे स्थित हैं। इस प्रकार, निरंतर विकास के लिए, वैश्विक निगम शासन, माँगों के संतुलन के विषय में था, जिसमें सम्मिलित था, लोगों और उनके प्राकृतिक स्रोतों के प्रति उत्तरदायित्व एवं जिम्मेदारी। उनकी क्षमतानुसार, तीन मुख्य स्तंभों का निर्माण हुआ ताकि अभाव का मुद्दा, क्षमता बढ़ाने का मुद्दा तथा अंतरूवाहित एवं बाह्य आनुवंशिक समता और न्याय के मुद्दे पर ध्यान दिया जा सके।

टी एन सी की व्यापार प्रणाली में, पर्यावरण पर एवं प्राकृतिक संसाधनों पर तीन प्रकार के प्रभाव हैं जो अंतराष्ट्रीय व्यापार से संबद्ध हैं (ओ ई सी डी 1997)

- परिमाण (स्केल) प्रभाव, जो आर्थिक वृद्धि पर अंतराष्ट्रीय व्यापार का सकारात्मक प्रभाव है किन्तु यह पर्यावरणीय क्षति बढ़ाता है।
- संरचना प्रभाव, जो व्यापार विशिष्टता के कारण औद्योगिक संरचना पर प्रभावों के साथ संबद्ध रहता है, और जो देश की विशिष्टता पर निर्भर रहते हुए पर्यावरण पर सकारात्मक अथवा नकारात्मक भी हो सकता है।
- तकनीकी प्रभाव, जो अर्थ व्यवस्था पर अंतराष्ट्रीय व्यापार का प्रभाव है और अर्थव्यवस्था की पर्यावरणीय क्षति और प्राकृतिक संसाधन की आवश्यकता को घटाने की अपेक्षा की जाती है।

प्रतिवेदन के अनुसार, पर्यावरण पर व्यापार का वास्तविक प्रभाव इन सभी में संतुलन है। इस प्रकार, अंतराष्ट्रीय व्यापार, राष्ट्र की आर्थिक एवं परिस्थितिकीय प्रणाली को तोड़ता है जो वैश्विक निगम शासन का केन्द्रीय मुद्दा बन जाता है। निरंतर विकास के लिए व्यापार चार्टर, जिसे नवंबर 1990 में अंतराष्ट्रीय वाणिज्य चौम्बर्स (आई सी सी) ने अपनाया था, उसने पर्यावरण प्रबंधन को निगम की सर्वोच्च प्राथमिकता बनाने की आवश्यकता पर बल दिया। फिर भी, चूँकि निगम पर्यावरणीय अपराध निरंतर हो रहा है, जिसमें मेजबान राष्ट्र की परंपराओं एवं नियमों का खुला अपमान भी सम्मिलित है, इससे सभ्य राष्ट्र न सिर्फ इस षड्यंत्र के प्रति चकित हैं बल्कि विक्षुब्ध भी हैं। इन निगमों ने निर्धन राष्ट्रों की निर्धनता का व्यापार किया है, राष्ट्रीय नीति परिवर्तन को प्रभावित करके तथा अल्पकालिक आर्थिक लाभ के लिए, मेजबान राष्ट्र अस्थिर नीतियों के प्रति पराजित होकर झुक गए हैं। चार मुख्य संसाधन—भूमि, जल, वायु—तथा वन, गंभीर रूप से क्षतिग्रस्त हो गए हैं। मैत्रीपूर्ण अर्थव्यवस्था को बाजार में लाने के लिए संरचनात्मक समायोजन ने अधिक संख्या में भूमि को खाद्यान्न फसल से नकदी फसल की ओर अपवर्तित कर दिया है, नदियों में जल विद्युत द्वारा शूडैमश का निर्माण हो गया है, जंगल अब उपभोगी एकल संस्कृति सामग्रियों में परिवर्तित होते जा रहे हैं तथा ग्रीन हाउस गैसों को हवा में छोड़ने की स्वतंत्रता के कारण देश की पारिस्थितिकीय निरंतरता समाप्त होती जा रही है। अर्थव्यवस्था की यह संरचनात्मक बदलाव के कारण विकास का भ्रम पैदा हो गया है जिसके परिणामस्वरूप बृहद् आर्थिक हास तथा राजनीतिक अस्थिरता आ गई है। अनुत्तरदायी निगम कर्तृताओं के साथ स्वतंत्र व्यापार के कारण अधिक केन्द्रीकरण, भ्रष्टाचार तथा सांस्कृतिक विकृति होती जा रही है और यह कभी भी लंबे समय तक वृद्धि या विकास को कायम नहीं, रख सकता। एफ डी आई के प्रति रुझान

तथा ओ डी का एफ डी आई द्वारा क्रमिक विस्थापन के कारण विकासशील राष्ट्रों में, टी एन सी को स्रोतों पर कड़ा नियंत्रण प्रदान किया है। 1981 तथा 1996 के बीच, अविकसित राष्ट्रों में एफ डी आई 31 अरब अमरीकी डॉलर से बढ़कर—224 अरब अमरीकी डॉलर हो गया है (आई आई एफ 1997, यू एन सी टी ए डी 1995) यह दिलचस्प बात है कि आधिकारिक विकास सहायता (ओ डी ए) अब नाटकीय रूप से विदेशी प्रत्यक्ष निवेश (एफ डी आई) द्वारा विस्थापित हो गया है। 1990 में, ओ डी ए का विकासशील देशों में लगभग 56 प्रतिशत लंबी अवधि का बहाव था किन्तु 1998 जब 18 प्रतिशत तक ओ डी ए का हिस्सा गिरकर नीचे आ गया, एफ. डी. आई. में पाँच गुना अधिक विकास हुआ— 2000 में 44: या 209 अरब अमरीकी डॉलर से 1118 अरब अमरीकी डॉलर तक (शर्मा और नारायण, 2002 रु 36–41) इस प्रकार भूमण्डलीकरण और निजीकरण ने अधिक स्वतंत्रता और व्यापार के लिए स्थान प्रदान किया है। अंतर्राष्ट्रीय कंपनियाँ अब विश्व की अर्थव्यवस्था में सबसे बड़ी खिलाड़ी हो गया है तथा पारिस्थितिकीय संकट में सबसे बड़ा और एक ही कारण भी। उस समय, जब विदेशी प्रत्यक्ष निवेश में राष्ट्रों के बीच तुलनात्मक लाभ लेने की होड़ लगी हुई थी, टी एन सी, सरकार के विरुद्ध लाभकारी आदान—प्रदान करने का प्रबंध कर लेते हैं। उन्हीं के दबाव पर, युरुग्वे की गोल संधि ने इसमें तीन क्षेत्रों की शुरुआत की—व्यापार संबंधित बुद्धिजीवी संपत्ति अधिकार (ट्रिम्स), निवेश कदम के व्यापार संबंधित पहलू (ट्रिम्स), तथा सेवाओं में व्यापार। इन तीनों के साथ, उन्होंने शीतसरे विश्व के स्रोतों पर सामूहिक एकाधिकार को बढ़ाया। (शिवा 1993 रु 243) हालाँकि एक आश्वासन यह है कि, निर्णायक व्यापार के बात—चीत में टी एन सी समर्थकों की सशक्त उपस्थिति के बावजूद, जैसे सामान्य निदेशक माईक मूरे, अमरीका के व्यापार प्रतिनिधि चार्लीन बरशेपस्काई तथा यूरोपीय संघ के व्यापार कमिश्नर पास्कल लैसी लोगों के संगठन ने, सीटेल में, टी एन सी कार्यक्रम को पूरी तरह से घुमा दिया। इसे बृहद निजीकरण के प्रति प्रतिक्रिया के रूप में देखा जा सकता है जो टी एन सी को खुश रखने के लिए पर्यावरण—तथा लोककल्याण में कटौति कर रहा है। 2001 का विश्व—बैंक प्रतिवेदन, भूमण्डलीकरण, वृद्धि और निर्धनता ने यह प्रदर्शित किया है कि गरीबी और आर्थिक पिछड़ापन का एक ही विकल्प है भूमण्डलीकरण। वंदना शिवा की सही टिप्पणी है—चाहे आप वैश्विक बाजार अर्थव्यवस्था में समीकृत हो जाए जो कि सिर्फ लाभ—के उद्देश्यों से प्रबल है या फिर जीविका के सभी आर्थिक विकल्पों से आप बाहर हो जाते हैं। इसके कारण, राष्ट्र, संरचनात्मक समायोजन कार्यक्रम या फिर आर्थिक प्रतिलाभ कार्यक्रम को अपनाने के लिए बाध्य हो रहे हैं, ताकि, जिन स्रोतों का वह अति प्रयोग और अतिशोषण करते हैं उनमें अपने आर्थिक ध्येय का कायम रख सकें। महाराष्ट्र में श्वेनरॉनश थर्मल पावर स्टेशन का मामला यह सिद्ध करता है कि टी एन सी बेहिसाबी धन की बृहद मात्रा के प्रयोग के माध्यम से राष्ट्रीय सरकारों के ऊपर बहुत प्रभावी है, ताकि विकासशील राष्ट्रों में पर्यावरणीय अनर्थकारी परियोजना को आगे बढ़ाया जा सके।

27.6 नागरिक समाज आंदोलन

औद्योगिकीकरण एवं शहरीकरण की तेजी से होती प्रक्रिया के कारण विकास विशेषज्ञों ने स्थानीय मानव या पशु समुदायों की जीविका आवश्यकता तथा उत्तरजीविता के बारे में सोचे बिना विकास की बृहद परियोजनाएं आरम्भ की। पारिस्थितिकी प्रणाली निष्ठुरतापूर्वक समाप्त की गई क्योंकि उनके प्रभाव के सही आकलन में कमी थी और इसप्रकार प्रकृति के संतुलन की कमी में विघ्न उपस्थित करता है। इस दशक से, राज्य तथा समाज के बीच दूरी हो गई है और उसके परिणामस्वरूप, राज्य के अन्यायों के विरुद्ध समाज अपने को सशक्त करता जा रहा है। 1980 दशक में बड़ी संख्या में कई बृहद परियोजनाओं को देखा गया, जैसे ऊर्जा उत्पादन खदाई, उत्खनन और मॉस उत्पादन। इसके कारण अत्यधिक वन—कटाई, नदियों में बांध बनाना तथा भूमि, नदी, वायु और गीली जमीनों का प्रदूषण, दुधारू जानवर और चारागाह का अभाव हुआ जिसके कारण बड़ी संख्या में गाँव के लोग प्रभावित हुए। इस कारण वन कटाई को रोकने के लिए कई आंदोलन हुए, जैसे—हिमालय में चिपको आंदोलन तथा पश्चिमी घाटियों में अपिकको, कुद्रमुख ऊर्जा परियोजना के विरुद्ध साईलेंट वैली आंदोलन, गढ़वाल क्षेत्र में टिहरी पावर प्रोजेक्ट के विरुद्ध, नर्मदा आंदोलन, नर्मदा जो मध्यप्रदेश, महाराष्ट्र एवं गुजरात के निकट है, उसके ऊपर सरदार सरोवर परियोजना। सरकार के महत्वाकक्षी आधुनिकीकरण योजनाओं के विरुद्ध गाँववालों ने स्वयं को संगठित किया। हैदराबाद के कुछ अंतर्राष्ट्रीय कंपनियों द्वारा स्थापित यंत्रीकृत कसाईखानों के विरुद्ध न सिर्फ कसाइयों ने विरोध किया बल्कि गाँववालों की गौ—संरक्षण समूह ने भी, क्योंकि उन्हें अपनी सबसे अच्छी नस्लों को इस उच्च कोटि की यंत्रीकृत पशुवध में खोने का डर था। बनारस में सर्व सेवा संघ, बिहार में शृंगा मुक्ति आंदोलन पन्ना मुक्ति आंदोलन, मन्नु रक्षा कूटा, कोएल कारो, मुल्शी सत्याग्रही तथा विश्व मछुआरा संगठन। अंत में, दिसंबर 1992 में, जन आंदोलन के लिए, राष्ट्रीय सन्धि के निर्माण से लगभग 150 से अधिक जमीनी स्वर के संगठन एक साथ आए। पश्चिमी—नागरिक समाज में भी, विशिष्ट मुद्दा आधारित समूह के रूप में दृढ़ीकरण, जैसे ट्री सिटर्स, फ्रेन्ड्स ऑफ द अर्थ फर्सट्स आदि कुछ ऐसे आरंभकर्ता हैं जो नष्ट करने की राज्य शक्ति के विरुद्ध लोगों की चेतना को दृढ़ करते हैं। हालाँकि इस नागरिक समाज दृढ़ीकरण ने राज्य प्रशासन की तरफ से गंभीर प्रतिक्रिया उत्पन्न की है। केन सारो वीवा की हत्या जो नाइजीरिया में शेल कंपनी के विरुद्ध ओगोनी कबीला संरक्षण समूह का नेता था, बिहार में गंगाराम कुटुंडिया की हत्या जो इचा—करहाई विस्थापित संघ का नेतृत्व करता था तथा कबीलीय महिलाओं का बलात्कार, अफ्रीका में ग्रीन बेल्ट

आंदोलन के विरोधकर्ता और भारत में नर्मदा बचाओं आंदोलन ये कुछ ज्यादातियां हैं जो राज्य द्वारा किए गए हैं जिसके फलस्वरूप विश्व भर में मानवाधिकार आंदोलन का दृढ़ीकरण और पुनर्निर्माण हुआ है।

दिसंबर 1999 के सिएटल सम्मेलन पर्याप्त रूप से, राष्ट्रीय एवं सैद्धान्तिक सीमाओं के बाहर, नागरिक समाज समूह के एकीकरण और समीकरण को प्रदर्शित कर चुका था ताकि विश्व की पर्यावरणीय नीतियों पर, जी-8 राष्ट्रों की प्रभुत्व पर प्रश्न-चिह्न उठा सके। पर्यावरण और विकास पर संयुक्त राष्ट्र का सम्मेलन (जिसे पृथ्वी शिखर सम्मेलन भी कहते हैं) दो वर्षों की व्यापक तैयारी का परिणाम था जिसमें 35,000 लोग, 106 सरकारों और राज्यों के प्रमुख और 9,000 पत्रकार सम्मिलित थे। यह शिखर सम्मेलनों, लोक हित समूहों, गैर-सरकारी संगठनों तथा व्यवसाय समूहों को जो टी एन सी प्रतिनिधियों के माध्यम से अप्रत्याशित पहुँच प्रदान की। विश्व में जारी, असंतुलित उत्पादन और उपभोक्ता स्तर तथा अधिकारिक विकास सहायता (ओ डी ए) के घटता स्तर को, पर्यावरणीय निरंतरता का दुश्मन माना गया है। इसे ओटावा में विकास समिति के 64 वें सम्मेलन में, 18 नवंबर 2001 को, भारत के वित्त मंत्री श्री यशवंत सिन्हा की अध्यक्षता में अपनाया गया। सम्मेलन की कार्यवाही की मुख्य चिन्ता थी, गरीबी घटाने की रणनीतियों का आकलन। आगे वाशिंगटन में अप्रैल 2002 में आयोजित विकास वित्त सम्मेलन (एफ.डी.) में, इस पर विचार किया गया। सम्मेलन में, ओ.डी.ए. के प्रवाह को बढ़ाने पर बल दिया तथा निजी क्षेत्र एवं नागरिक समाज के साथ सरकारी एजेन्सियों के समन्वय पर भी जोर दिया ताकि गरीबी उन्मूलन क्रियाओं को सुधारा जा सके। पर्यावरण अब बहुत राजनीतिक होता जा रहा है तथा भूमण्डलीय राजनीति के साथ जटिलता पूर्वक जुड़ रहा है। ई-मेल, फैक्स तथा दूरभाष के माध्यम से संचार जाल का विस्तार होने से पर्यावरणीय क्रियाओं में क्रांति आ गई है और हठीली सरकारें उनके प्रति अधिक संवेदनशील हो गए हैं। अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर फैले गैर-सरकारी संगठन, जैसे सियरा क्लब, फ्रेन्ड्स ऑफ अर्थ, ग्रीन पीस, वर्ल्ड लाईफ फण्ड, ग्रीन कैम्प, विज्ञान एवं पर्यावरण केन्द्र, नर्मदा बचाओं आंदोलन, जन आंदोलन के लिए राष्ट्रीय संधि, तथा नवदैन्य, अपने विभिन्न मूल के बावजूद एक साथ मिलकर काम करते हैं। बढ़ते नागरिक समाज विरोधों के परिणाम-स्वरूप, आधिकारिक निर्यात साख्र क्रियाओं के पर्यावरणीय आकलन के लिए बहुस्तरीय प्रारूप का उत्तरदायित्व, ओ ई. सी डी राष्ट्रों ने लिया जो कि बहससंख्यक टी.एन.सी. का घर होता है। इस ढाँचे का उद्देश्य है पर्यावरण पर सामान्य अवधारणाएँ तथा आधिकारिक समर्थित निर्यात साख्र तथा ओ ई सी डी समर्थित परियोजना के पर्यावरणीय आकलन के लिए न्यूनतम आवश्यकताओं को गठित करता है। बढ़ता निगम लॉबी अब निर्णय प्रक्रिया को प्रभावित कर रहा है तथा कुछ कठिन पर्यावरणीय प्रतिबद्धता को अपनाने में देरी करता है या मना कर देता है। मई 2002 में वहनीय विकास पर संयुक्त राष्ट्र कमीशन के दसवें सत्र में, तथा हाल ही में सम्पन्न हुआ, निरंतर विकास पर हुआ विश्व शिखर सम्मेलन (डब्लू.एस.एस.डी) ने पुनर्मूल्यांकन के अवसर को प्रदान किया है जो नागरिक समाज द्वारा प्रदान किए मंच पर है। जिन विषयों ने ध्यानाकर्षण किया है, वे निम्नलिखित हैं—

1. पर्यावरणीय क्रिया के लिए प्रबंधक-व्यवस्था
2. वैकल्पिक तथा यथोचित प्रौद्योगिकी)
3. वहनीय समुदाय।
4. जनसंख्या और पर्यावरण
5. अंतरराष्ट्रीय शासन-प्रणाली।

27.7 वैश्विक एवं स्थानीय आवश्यकताओं को जोड़ना

पर्यावरणीय सुरक्षा के लिए दो क्रियाओं की आवश्यकता होती है। एक, वैश्विक स्तर पर जहाँ अंतर्राष्ट्रीय व्यापार संस्थान, अंतर्राष्ट्रीय कंपनियों की प्रणाली को बढ़ावा दे रहे हैं तथा दूसरी क्रिया को जमीनी स्तर तक जाना होगा, जहाँ संसाधनों का उत्पादन होता है तथा उन लोगों के नियंत्रण से स्वामित्वहरण हो जाता है जो सामान्यतः आदिवासी जातियाँ वन में रहने वाले, अधीनस्थ या ग्रामीण जोग होते हैं। जो समस्या रहती है या फिर देश के लिए आगे बनी रहेंगी वह है, प्राकृतिक संसाधन की नीतियों में संस्थागत तथा नियंत्रणकारी परिवर्तन की प्रक्रिया। अधिक एफ डी आई के बहाव के लिए त्रासदी, जमीनी स्तर के समाजों द्वारा उठाए गए पर्यावरणीय माँगों के लिए खतरा है। व्यापार एवं पर्यावरण में कम विनियमों के लिए राज्यों को समझौता करते पाया गया है।

अच्छे प्रशासन के लिए, इसमें कुछ मुख्य परिवर्तनों की आवश्यकता है जो पारदर्शिता, उत्तरदायित्व तथा समुदाय के संपत्ति अधिकारों के अधिक प्रभावी स्पष्टीकरण को सुनिश्चित करता है। विकासशील और संक्रमणात्मक अर्थव्यवस्था को अपने प्रयासों में अधिक सहयोग, समन्वय और समकक्ष करने की जरूरत है जो अंतर्राष्ट्रीय संगठनों में विशिष्ट एवं विशेषज्ञ समूह के साथ मिलकर होनी चाहिए जिससे कि एफ डी आई के यथाचित बहाव पर नियंत्रण रख सके। (एफ डी आई, कॉन्फिडेंस इंडेक्स, 2001 : 36-38) जैसा कि एक समूह, जिसे हम वैश्विक निगम शासन फोरम कहते हैं, अपने कार्यक्रमों का वह विश्लेषण करता है कि अच्छा शासन, प्रतिस्पर्धात्मक लाभ का स्रोत है तथा सामाजिक-आर्थिक प्रगति के लिए भी

महत्वपूर्ण है। (2002:1) इसके कारण, विकास और पर्यावरण के बीच, कृत्रिम प्रौद्योगिकी, क्षेपण तथा व्यापार-स्थगन के लिए दरवाजा भी खोलता है। भारत तथा अन्य तीसरे विश्व में पर्यावरण सुरक्षा के लिए निम्न ध्याय लचीलापन है। इस कारण एफ डी आई नीतियाँ निरंकुश और विवादास्पद होते हैं। उनकी सरकार, शासन में कई नीतियों पर समझौता तथा व्यापार-स्थगन भी करती हैं। एनरॉन के खुलासे ने भारत में एफ डी आई के बहाव के तथ्य को दर्शाया है। निष्पक्ष, पारदर्शी तथा, शासन के उत्तरदायी का गठन करके इस परिस्थिति से बचा जा सकता है। पर्यावरण संबंधी कार्रवाई के लिए मानक निर्धारित करने के बारे में पूरी बहस सामान्य विरासत, समता, और सुरक्षा की ओर ले जाती है जो विकास पर अंतर्राष्ट्रीय विचार-विमर्श से दूर की बात रहती है। पर्यावरण संबंधी शासन में उनका समावेशन, विश्व के राजनीतिक-आर्थिक संस्थाओं के पुनर्गठन की माँग करता है। पर्यावरणीय क्रिया के लिए प्रजातांत्रिक शासन एक शुरुआत है, किन्तु टी. एन.सी की प्रधानता ने संस्थानों के प्रजातांत्रिक कार्यान्वयन को नष्ट कर दिया। विचारात्मक प्रजातंत्र की माँग, जिसमें नागरिक स्वयं को स्वशासन में प्रत्यक्ष रूप में सम्मिलित करते हैं या फिर अधिक सहयोगी प्रारूप जिसमें प्रतिनिधियों को वास्तविक मुद्दों को अपहरण करने की स्वीकृति नहीं है। (हेम्पेल 1996-218) इसके कारण विद्वान स्क्यूमैकर के प्रचलित सिद्धांत पर वापस लौटते हैं, अर्थात् छोटा सबसे सुंदर है। छोटे समूह का गठन जो इलैक्ट्रानिक माध्यम का अधिक प्रयोग, समस्या के मौलिक सर्वेक्षण के लिए करते हैं, किसी खुले लोक विवाद में आने के पहले जिसमें लोक संचार का अत्यधिक प्रयोग होता है, लघु-स्तर का मतदान, जो समस्या पर गहन सार्वजनिक चर्चा करने के बाद ही किया जाता है – इसे ही विचारात्मक प्रजातंत्र कहते हैं। इसमें अधिक संभावना है कि, इस प्रकार की विचारात्मक प्रजातांत्रिक प्रणाली का उचित प्रबंधन, स्वयंसेवी और पणधारी समूह के सहयोग से होता है और आज औपनिवेशिक, गुप्त और सत्तावादी पर्यावरण शासन प्रणाली का यह एक महत्वपूर्ण विकल्प है जो कि वैश्विक निगम की उभरती प्रणाली अब नियंत्रण के लिए आसान मान रही है। सहयोगी और विचारात्मक प्रजातंत्र में नए परीक्षण, एक तरफ सामुदायिक संसाधन प्रबंधन की विभिन्नता को सुरक्षित रख सकते हैं और दूसरी तरफ संरक्षण नीतियों में पहुँच कर उसे समाज के कार्यान्वयन स्तर तक ले जाते हैं जहाँ बड़े नौकरशाही, पर्यावरणीय क्रिया एवं निष्क्रियता के उपकरण के रूप में व्यर्थ हो जा सकते हैं।

27.8 सारांश

पर्यावरण का अर्थ है, प्राथमिक स्रोत, जैसे भूमि, जल तथा वायु जो ग्रह इस पृथ्वी पर जीवन को कायम रखते हैं। ये तीनों स्रोत, भारी संख्या में पारिस्थितिकी प्रणाली के घर हैं, जो कि स्वयं कायम रखने वाले पेड़-पौधे और जानवरों के समुदाय हैं। मानव, किसी अन्य जीव-जन्तु की भाँति, इस पारिस्थितिकी प्रणाली का सिर्फ एक भाग है किन्तु प्रौद्योगिकी पर उनके नियंत्रण के कारण, वह अन्य की अपेक्षा इस पृथ्वी का मालिक बन गया है। प्रौद्योगिकी शक्ति की इस उच्छृंखलता के कारण, कई पारिस्थितिकी गड़बड़ी और नाश हो गया है जिसके परिणामस्वरूप मानव के जीवन को भी खतरा हो गया है। भूमि, जल और वायु प्रदूषित हो गई है। जल सूख रहा है, भूमि का क्षय हो रहा है, मिट्टी भी अपनी उर्वरता और पोषण क्षमता खो रही है जो कायम रहने वाले अन्न को उपजाती है तथा वन-कटाई के कारण, बहुमूल्य पौधे और पशु-जंतु का नाश किया है। प्राकृतिक विषमता, जैसे सूखा तथा बंजरपन, बाढ़ और भू-स्खलन, भूकंप तथा भूमिहीनता के कारण पहले की अपेक्षा जीवन और भी संवेदनशील हो गया है। थर्मल ऊर्जा परियोजना, यातायात उपकरण में वृद्धि तथा रसायन रंग-रोगन और प्लास्टिक उद्योग आदि के प्रदूषण के कारण, मानव का जीवन रहने योग्य नहीं रह गया है। पर्यावरण पर वर्तमान खतरा, आतंकवाद से है, जो सुरक्षा-बल को वन आवरण को हटा देने के लिए सशस्तीकृत करता है ताकि अपराधी का खुलासा हो सके। ऐसे कई मामले हैं जिसमें परमाणु प्रौद्योगिकी के विस्तार के कारण गहरे और अनिवर्त्य रेडियोएक्टिव रिसाव, भौमजल में और आस-पास के जल में हो रहा है।

अपने संसाधनों को दुष्प्रयोग से रक्षा करने के लिए, जन समुदाय उभर कर आए हैं और स्वयं को दृढ़ किया है और यह आंदोलन अब अंतर्राष्ट्रीय आयाम ले चुका है, जिसे डब्ल्यू.टी. ओ तथा अन्य अंतर्राष्ट्रीय व्यापार समूह, जैसे नाफ्टा, एसियान, ओ ई सी डी, ए न जेड यु एस, सार्क तथा यूरोपीय संघ में अंतर्राष्ट्रीय व्यापार नीतियों पर प्रभावित करने की क्षमता रखता है।

27.9 बोध प्रश्न

1. पर्यावरण-विकास बहस से आप क्या समझते हैं?
2. मानव पर पर्यावरण अपकर्ष का क्या प्रभाव होता है?
3. निरंतर-विकास का अर्थ उदाहरण-सहित समझाएँ। उसकी मूल विशेषता क्या है?
4. विश्व भर में नागरिक समाज आंदोलन के उभरने के क्या मुख्य कारण हैं?
5. पर्यावरण सुरक्षा के साथ सामाजिक न्याय किस प्रकार संबद्ध है?

इकाई 28

विज्ञान, प्रौद्योगिकी और राजनीति

संरचना

- 28.1 प्रस्तावना
- 28.2 विज्ञान और प्रौद्योगिकी अध्ययन की अवधारणा
- 28.3 आधुनिक विज्ञान और प्रौद्योगिकी के उद्देश्य
- 28.4 विज्ञान और प्रौद्योगिकी का राष्ट्रीयकरण
- 28.5 विज्ञान और प्रौद्योगिकी का भूमण्डलीकरण
- 28.6 भारत में विज्ञान और प्रौद्योगिकी
 - 28.6.1 भारत की उपलब्धियाँ
 - 28.6.2 भारत में विकास के लिए कमियाँ
 - 28.6.3 भविष्य का दृष्टिकोण
- 28.7 सारांश
- 28.8 बोध प्रश्न

28.1 प्रस्तावना

राष्ट्र-निर्माण के प्रयास में विज्ञान और प्रौद्योगिकी महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। ऐसा कहा गया है कि विकसित और विकासशील देशों के बीच बढ़ती दरार भी विज्ञान की शिक्षा और प्रौद्योगिकी के प्रसार का एक महत्वपूर्ण कारण है। इसमें आश्चर्य नहीं कि विश्व के अधिकांश विकासशील देशों ने विज्ञान और प्रौद्योगिकी विकास की स्वदेशीय नीति और योजना अपनाई है ताकि विकास की गति को बढ़ाया जा सके। साथ ही जनता के लिए नई वैज्ञानिक जानकारी को लोगों में वितरित किया जाए। स्वदेशीय स्तर पर विज्ञान और प्रौद्योगिकी विकास के लिए उचित नीतियों का पैकेज बनाया गया है जिसे समाज में कार्यरत राजनीतिक पार्टियाँ भी उसका महत्व समझें। अन्य शब्दों में यह कहा जा सकता है कि विज्ञान और प्रौद्योगिकी विकास अब राजनीतिक निर्णय का अंग बन चुका है।

28.2 विज्ञान और प्रौद्योगिकी के अध्ययन की अवधारणा

विज्ञान के अध्ययन और इसके विकास से सम्बन्धित मार्ग में, विज्ञान के दार्शनिकों और इतिहासकारों में मतभेद है। मतों में भिन्नता के कारण इन्हें आंतरिकवादी और बाह्यवादी (विदेशी) कहा जा सकता है। आंतरिकवादियों का यह मानना है कि विज्ञान अपने विषय-वस्तु और विकास के प्रक्षेप-पथ, दोनों ही में सामाजिक और राजनीतिक शक्तियों से स्वतंत्र है। जो लोग विज्ञान को संस्थागत सत्य के रूप में मानते हैं, उनके लिए वैज्ञानिकों का समुदाय बहुत ही विशिष्ट और प्रतिस्पर्धात्मक है। अधिकांश मानव समुदाय से अलग, वैज्ञानिक समुदाय प्रजातांत्रिक, अनिच्छायुक्त, सहनशील और सबसे तर्क-संगत या विवेकशील होता है। यद्यपि इस दृष्टिकोण में बहुत मतभेद है तथापि इसके अधिकांश वैज्ञानिक दार्शनिकों, जैसे, जैकोब ब्रोनोवस्की, माइकल पोलांन्यी, एनातोल् रैपापोर्न और जैक्स मोनोद ने इसका समर्थन किया गया है।

विज्ञान के विकास के बहुत से आधुनिक वृत्तान्तों में यह कमोवेश बाह्यवादी है तथा इस विश्वास को प्रतिबिम्बित करते हैं कि विज्ञान और प्रौद्योगिकी-दोनों ही के विकास में सामाजिक और राजनीतिक घटक महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। यह दृष्टिकोण विज्ञान को एक सामाजिक गतिविधि का बल देता है जो कि सामाजिक-राजनीतिक और आर्थिक परिप्रेक्ष्य में, जिसमें इसका विकास होता है, सापेक्ष है। विज्ञान के इस दृष्टिकोण को मानने वालों में जॉन बर्नार्ड, थॉमस कुक, जॉर्ज बासाला और पॉल फेयेराबेन्द प्रमुख हैं।

28.3 आधुनिक विज्ञान और प्रौद्योगिकी

वैज्ञानिक और प्रौद्योगिकीय गतिविधियों के स्वरूप और प्रयोजन की जाँच करने पर यह देखा जा सकता है कि इस गतिविधि के दो उद्देश्य हैं। प्रथम, वैज्ञानिक ज्ञान का अर्जन करके व्यक्ति के क्षितिजधस्तही स्तर को निरंतर बढ़ाता है तथा उसके दृष्टिकोण को ज्ञान सम्पन्न करना है। विज्ञान के विकास ने अधिकार के क्षेत्र को कम किया है। घटनाएँ जो कि मनुष्य को विस्मय और डर में रखती थीं, अब समझे जाने लगे हैं, उन पर नियंत्रण किया गया है और उसका लाभ भी उठाया गया है। मनुष्य की दुरुख जो एक दैवीय दंड माना जाता था, अब इनके प्राकृतिक कारणों को समझा जा रहा है और उसका उपचार भी होता है।

इसकी अन्य भूमिका है नई शिल्पकृतियों, सामग्रियों और वस्तुओं के निर्माण द्वारा मानवीय आवश्यकताओं को पूरा करना तथा बुनियादी आवश्यकताओं के साथ-ही-साथ गुणवत्ता युक्त जीवन में सुधार के माध्यम से विकास। पहले में वे चीजें शामिल हैं जो प्रकृति में नहीं पाई जाती हैं बल्कि सिर्फ मनुष्य द्वारा बनाई गई हैं। विकास के दोनों आयामों का एक साथ मिलकर संतुलित समाज बनाने में मदद करता है। यूरोप में विज्ञान और प्रौद्योगिकी विकास के शुरुआती चरण में इन दोनों आयामों का बहुत सुन्दर वर्णन है।

मध्यकालीन बौद्धिक दृष्टिकोण और प्रौद्योगिकी उत्पादन के एक नए साधन के विरुद्ध विद्रोह के रूप में विज्ञान और प्रौद्योगिकी की शुरुआत यूरोप में हुई। दो-तीन शताब्दियों के संघर्ष के बाद ही विज्ञान एक प्रमुख बौद्धिक और सामाजिक गतिविधि के रूप में स्थापित हुआ। बहुत सारी लड़ाइयाँ लड़ी गई, जिसके बहुत मूल्य चुकाए गए। यह कुछ आंदोलनों से स्पष्ट है, जैसे— फ्रांस में इन्साइक्लोपीडिया के रचयिता का आन्दोलन, प्राकृतिक दार्शनिक, जैसे इंग्लैण्ड में थॉमस हक्सले। रूस और बाद में चीन में इस भूमिका को साम्प्रदायिक संगठन द्वारा संस्थागत रूप दिया गया।

मशीन से उत्पादन की व्यवस्था भी संघर्ष के बिना स्थापित नहीं हो पाई। युद्ध के अलावा इस पर कई अनेक आक्रमण किए गए। वर्तमान उत्पाद व्यवस्था के समेकित रूप के पूर्व रॉबर्ट ओवेन से लेकर दूसरों ने उत्पादन व्यवस्था के संगठन से सम्बन्धित अनेक प्रयोग किए जो बहुआयामी अभिप्राय और उद्देश्य वाले थे।

विज्ञान और प्रौद्योगिकी दोनों ने उत्पादन व्यवस्था का सृजन किया तथा प्रोत्साहित किया, इससे मनुष्य के दृष्टिकोण में बदलाव आया। इनके क्षितिज को बढ़ाते हुए उन्हें मध्यकालीन ढर्रे और दर्शनों से बाहर निकाला। इन्हें नए संसाधन और पदार्थ प्रदान किये। उदारता, समानता और समृद्धि भी प्रदान की गई।

28.4 विज्ञान और प्रौद्योगिकी का राष्ट्रीयकरण

विज्ञान और प्रौद्योगिकी के राजनीतिकरण में प्रथम और द्वितीय विश्वयुद्ध के बीच की अवधि उल्लेखनीय है। ब्रिटेन, फ्रांस और जर्मनी की राष्ट्रीय सरकारों ने अपने देश में वैज्ञानिक और प्रौद्योगिक विकास के लिए नीति निर्देश और सरकारी ऋण के लिए आगे कदम बढ़ाये। विज्ञान का शराष्ट्रीयकरण की ओर झुकाव एक तरह से पूर्व की व्यवस्था से प्रस्थान था। पहले इसे राजनीति कार्य क्षेत्र से दूर रखा गया था। संपूर्ण 18वीं और 19वीं शताब्दी में किसी राजनीतिक नियंत्रण के बिना वैज्ञानिकों ने अपनी निजी प्रयोगशाला में अनुसंधान और विकास का काम किया।

द्वितीय विश्व युद्ध और शीत युद्ध ने वैज्ञानिक और प्रौद्योगिकी विकास को राष्ट्रीय सरकार के मार्गदर्शन में पुनः प्रोत्साहन मिला। परमाणु शक्ति के साथ ही परमाणु बम के विकास के लिए अमेरिकी सरकार द्वारा मैनहट्टन प्रोजेक्ट आयोजित किया गया था जो यह सूचित कर रहा था कि 20वीं सदी के उत्तरार्द्ध में विज्ञान और प्रौद्योगिकी अपना स्थान बनाएगा। अमेरिका के इस बढ़ाए हुए कदम में रूस, फ्रांस, ब्रिटेन और चीन जैसी शक्तियों ने भी उसका अनुसरण किया।

विकासशील देशों में, भारत और ब्राजील ने वैज्ञानिक और प्रौद्योगिक विकास के लिए विज्ञान सम्बन्धी नीति निर्धारण में आगे कदम बढ़ाया। शक्तिशाली देशों से अलग, विकासशील देशों में सामाजिक और आर्थिक विकास के लिए शुरुआत में विज्ञान और प्रौद्योगिकी की मदद ली गई। खेती-बाड़ी, स्वास्थ्य और बड़े उद्योग—ये कुछ ऐसे प्रमुख क्षेत्र थे जिसके लिए सरकार ने अनुसंधान और विकास के लिए निधि की व्यवस्था की। फिर भी, विकासशील देश अपनी शक्ति एवं प्रतिष्ठा को बढ़ाने से जुड़े हुए अनुसंधान प्रोजेक्ट को फंड करने से विमुख नहीं थे। उदाहरण के तौर पर, द्वितीय विश्व युद्ध के बाद भारत और ब्राजील जैसे देशों ने परमाणु शक्ति और अंतरिक्ष के क्षेत्र में अनुसंधान में समर्थन देना शुरू किया। वास्तव में, इन देशों के सबसे अच्छे वैज्ञानिक और इंजीनियर परमाणु और अंतरिक्ष जैसे प्रमुख क्षेत्रों में अनुसंधान कर रहे हैं।

विकसित और विकासशील देशों में उपलब्ध वित्तीय और शिक्षा के स्रोत में भिन्नता इतनी ज्यादा थी कि वैज्ञानिक और प्रौद्योगिकी विकास की दूरी को बराबरी में लाना सम्भव नहीं था। पिछले कुछ दशकों में वैज्ञानिक और प्रौद्योगिकी की विकास की गति विकसित देशों में विकासशील देशों की अपेक्षा बहुत तीव्र रही है। कुछ ही विकासशील देशों, जैसे—चीन, भारत और ब्राजील ने अपनी आर्थिक और औद्योगिक क्षमता को बढ़ाने में विज्ञान और प्रौद्योगिकी, जैसे उपकरण का सफलतापूर्वक उपयोग किया है।

21वीं सदी की शुरुआत में विकसित देशों ने अनुसंधान और विकास के समर्थन में प्रभावी स्थान प्राप्त किया। वर्तमान विश्व में विज्ञान और प्रौद्योगिकी के 90: अनुसंधान और विकास, विकसित देशों में किए जा रहे हैं। विकसित देशों में जापान, ब्रिटेन, कनाडा, फ्रांस, जर्मनी और इटली— इन देशों का अनुसंधान और विकास का जो कुल खर्च है, उतना अकेले अमेरिका का इस क्षेत्र में खर्च है।

सरकारें विज्ञान और प्रौद्योगिकी का फायदा उठाने के लिए राष्ट्रीय और प्रादेशिक स्तर पर लगातार प्रयासरत रही हैं। बाजार की ताकत और निवेश में उदारवादिता पर बल देने के साथ ही इनकी योजना में शिक्षा और प्रशिक्षण में वृहद निवेश शामिल है। 1990 के दशक के अंतिम वर्षों में इन विकासों ने इस दृढ़ विश्वास को प्रतिबिम्बित किया कि कुछ नए

तरह की आर्थिक सच्चाई अस्तित्व में आ रही है और ज्ञान आधारित अर्थ-व्यवस्था जो व्यवस्थित उत्पादन, वितरण और अर्थ-लाभ के लिए अनुसंधान-ज्ञान का उपयोग कर रहा है। यह विचार, जो अमेरिका और जापान से उद्भूत हुआ है, 1990 के दशक के उत्तरार्ध में अमेरिका के सकारात्मक अर्थ-निष्पादन द्वारा रेखांकित किया गया है।

कुछ राष्ट्रों में सरकार और उद्योग के प्रयास वैज्ञानिक, प्रौद्योगिकी और इंजीनियरी के नए उत्कृष्ट केन्द्रों के संभावित सृष्टि का पूर्वाभास देते हैं। विज्ञान और प्रौद्योगिकी क्षेत्रों में चीन और भारत दृढ़ योग्यता के साथ एक नई तकनीकी शक्ति के रूप में उभर रहे हैं। अंतर्राष्ट्रीय ज्ञान का प्रवाह शायद सभी राष्ट्रों के लिए लाभदायक हो लेकिन यह उनके लिए चुनौती भरा होगा जो इस पराक्रम के प्रवाह को प्रभावी रूप से पाने की कोशिश में हैं।

हाल ही के दशकों में राष्ट्रों ने प्रौद्योगिकी रणनीति पर बल दिया है ताकि उच्च प्रौद्योगिकी क्षेत्र, जैसे-अंतरिक्ष, संचार और बायो टेक्नोलॉजी, में सशक्त हो सकें। उच्च-स्तरीय प्रौद्योगिकी, उद्योग राष्ट्र की अर्थव्यवस्था के लिए महत्वपूर्ण है क्योंकि ये नवीकरण का बहुत बड़ा हिस्सा उत्पन्न करते हैं, जिसमें नए उत्पाद, प्रक्रियाएँ और सेवाएँ भी शामिल हैं। साथ ही ऐसी सेवाएँ भी उपलब्ध हैं जो बाजार के शेयर में लाभ, पूर्ण रूप से नए बाजार या ऐसे स्त्रोत में सहायक हो, जिनका अधिक-से-अधिक उत्पादन के लिए उपयोग किया जा सके।

उत्कृष्ट प्रौद्योगिकी उद्योग उन्नत किस्म के उत्पाद से, विदेशी बाजार में सफलता और उच्च क्षति-पूर्ति स्तर से जुड़े हुए हैं। इनकी गतिविधियों के परिणामस्वरूप अन्य आर्थिक क्षेत्रों में फैलाव होता है, जिसके फलस्वरूप उत्पाद में वृद्धि होने के साथ ही व्यवसाय का क्षेत्र भी बढ़ता है। उत्पाद और प्रक्रिया की अंतर्राष्ट्रीय प्रतिस्पर्धा एक राष्ट्र के विज्ञान और प्रौद्योगिकी (एस एंड टी) प्रणाली के प्रदर्शन के लिए उपयोगी मूल्य आधारित मापदंड उपलब्ध कराता है। मल अनुसंधान में बहुत दशकों की मदद, विगत और वर्तमान नवीनीकरण को आधार प्रदान करता है जो आर्थिक उन्नति में लाभ पहुंचाता है। 1990 के दशक में अमेरिका ने आर्थिक लाभ के लिए नई जानकारीयों, तकनीक और प्रौद्योगिकियों के स्तर को बनाए रखा और उसमें सुधार भी किया। शताब्दी के अंत होने तक अमेरिका उत्कृष्ट उत्पादों को बनाने में सबसे आगे रहा। अमेरिका अकेले ही विश्व के कुल उत्पादन का एक-तिहाई उत्पादन प्रदान करता था। अंतरिक्ष उद्योग के बाजार को छोड़ कर, कुछ ही दशक में अमेरिकी दवाई, कम्प्यूटर और संचार मशीन के उद्योगों ने विश्व के बाजार में महत्वपूर्ण स्थान बनाया।

पिछले दो दशकों में विश्व को कुल उत्पादन में वृद्धि हुई है और उत्कृष्ट-प्रौद्योगिकी उद्योग के उत्पाद के उस उत्पादन के शेयर में भी वृद्धि हुई है। पूरे विश्व में उत्कृष्ट-प्रौद्योगिकी उत्पादों में 1980 के 7.6: उत्पादन की तुलना में 1998 तक 12.7: की वृद्धि हुई है। इस समय में अमेरिका के उत्पादन का उत्कृष्ट-प्रौद्योगिकी का शेयर 9.6: से बढ़कर 16.6: हो गया। ब्रिटेन में भी इसी प्रकार की वृद्धि हुई। अन्य यूरोपीय संघ के सदस्यों का उत्कृष्ट प्रौद्योगिकी उत्पादन का शेयर तो बढ़ा लेकिन तुलना में निचले स्तर पर ही रहा— फ्रांस-11.0:; जर्मनी 9.0:। एशिया में ताइवान और दक्षिण कोरिया में उत्कृष्ट प्रौद्योगिकी सेक्टर की अर्थव्यवस्था बहुत तेजी से यह आगे बढ़ी। यह उनके 1998 के विनिर्माण उत्पाद का ताइवान में 25.6: और दक्षिण कोरिया में 15.0: तक बढ़ गया।

आर्थिक लाभ के प्रति बढ़े हुए अंतर्राष्ट्रीय ध्यान को नई जानकारीयों, प्रक्रिया और उत्पादों द्वारा लागू किया गया। जिसके कारण अनुसंधान और विकास के लिए खर्च में विश्व स्तर पर वृद्धि हुई है। अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर हुए इस विकास के कारण अमेरिका अनुसंधान और विकास के कुल खर्च के शेयर में आर्थिक सहायता और विकास के लिए संगठन (व्ब) के सदस्य देशों के खर्च की तुलना में कुछ गिरावट आया। इसके बावजूद व्ब के 1998 के अनुसंधान और विकास के 518 करोड़ डॉलर खर्च का अकेले अमेरिका ने 44: खर्च कर अपना स्थान सबसे आगे बनाए रखा। अकेले अमेरिका का अनुसंधान और विकास का खर्च कनाडा, फ्रांस, जर्मनी, ब्रिटेन, इटली और जापान के कुल खर्च के बराबर है। जापान ने 20: और यूरोपीय संघ ने व्ब के कुल खर्च का 30: व्यय किया।

अनुसंधान और विकास के लिए सरकारी निधि में गिरावट, सभी प्रमुख औद्योगिक राष्ट्रों और बहुत सारे अन्य व्ब देशों का साधारणतया मुख्य प्रवृत्ति रही है। 1980 के दशक के मध्य तक इन राष्ट्रों ने अपने अनुसंधान और विकास के खर्च का 45: सरकारी स्रोतों से निकाला लेकिन 1998 तक, इसमें और एक-तिहाई गिरावट आ गई। ऐसी आपेक्षिक कटौती, कई बातों को प्रतिबिम्बित करती है जैसे प्राइवेट सेक्टर के औद्योगिक अनुसंधान एवं विकास की व्यापक वृद्धि, कुछ मुख्य राष्ट्रों में अनुसंधान एवं विकास की प्रतिरक्षा में कटौती तथा सरकारों पर व्यापक आर्थिक और व्यय दबाव।

28.5 विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी का भूमण्डलीकरण

कई राष्ट्रों में राष्ट्रीय अनुसंधान एवं विकास के विस्तार के पीछे अनुसंधान एवं विकास के कार्यान्वयन में बढ़ते हुए अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग का आधार है। विभाजक शीत युद्ध की समाप्ति, वायु-यात्रा में सुविधा और सस्ता होने का प्रसार और इन्टरनेट के आगमन ने वैमानिक संचार, सम्पर्क और सहयोग को बढ़ावा दिया है। अधिक अनुसंधान एवं विकास सहयोग

को इन्टरनेट सुविधा नवीनता के साथ विकसित करने की अपेक्षा की जा सकती है, जैसे—वास्तविक अनुसंधान प्रयोगशाला तथा विश्व के चारों ओर जाँच करने वालों द्वारा वास्तविक आँकड़ों के वितरण का प्रयोग।

इन बढ़ते हुए अंतर्राष्ट्रीय प्रक्रियाओं का संकेत, अनुसंधानकर्ताओं, फर्मों और आविष्कारकों के व्यवहार से प्राप्त होता है। विश्व के वैज्ञानिक एवं तकनीकी प्रकाशन के बढ़ते भाग के सह-लेखक विभिन्न देशों में स्थापित हैं। अमेरिका के अन्वेषक इन सहयोगों में मुख्य भूमिका निभाते हैं तथा उनकी सह-लेखनी व्यापक स्तर पर कई देशों में स्थित हैं अपेक्षाकृत किसी अन्य राष्ट्र के वैज्ञानिकों एवं अधिवक्ताओं की तुलना में। क्षेत्रीय शोध सहयोग भी यूरोपीय एवं एशियाई देशों में सशक्त रूप से बढ़ रहा है। सिर्फ वैज्ञानिक शोध अनुसंधान में ही अधिक वैश्विक सहयोग सीमित नहीं है। कई देशों में, अनुसंधान एवं विकास निधि के विदेशी स्रोत बढ़ रहे हैं, जिससे अनुसंधान एवं विकास प्रयास उद्योग की बढ़ती अन्तर्राष्ट्रीयता रेखांकित हो रही है। कनाडा और ब्रिटेन में, कुल औद्योगिक अनुसंधान एवं विकास का विदेशी निधिकरण लगभग 20: पहुँच गया है यह फ्रांस, इटली तथा यूरोपियन संघ में लगभग 10: है। जर्मनी में शोध एवं विकास की विदेशी निधिकरण कम है तथा जापान में नगण्य है।

संयुक्त राज्य अमेरिका, अपने बाजार के आकार एवं उच्च कृत्रिम तकनीकी के लिए सर्वथा विदेशी कंपनियों के लिए आकर्षण का केन्द्र रहा है। विदेशी संबंधन के कारण अमेरिका में अनुसंधान एवं विकास पर खर्च 22 अरब डॉलर के रिकार्ड को स्थापित किया है या 1998 में अनुसंधान एवं विकास कंपनी निधिकरण का 15:। अमेरिका संबंधित यूरोपियन कंपनियों में (जिसमें डैमलर-क्रिसलर सम्मिलित है) इसका कुल योग था 72:; एशियाई-पैसिफिक क्षेत्रों में 14: तथा कनाडा में 11:। विशेष देशों में विदेशी स्वामित्व वाली सबसीडियरी कंपनियों का ध्यान सिर्फ विशेष उद्योगों में रहता है, (जैसे—जापान के लिए कंप्यूटर तथा विद्युत संबंधित सामग्रियाँ।) 1998 में भी 375 विदेशी स्वामित्व वाली कंपनियों द्वारा अमेरिका में 715 शोध एवं विकास सुविधाओं का कार्य हुआ। जापान लगभग 35: का स्वामी थाय जर्मनी तथा ब्रिटेन, दोनों ही 14: के स्वामी थे।

अमेरिकी फर्म भी अनुसंधान एवं विकास में निवेशक हैं जिसका अनुसंधान दूसरी जगहों पर हो रहा है। अनुसंधान एवं विकास पर अमेरिका द्वारा दूसरे देशों में खर्च, 1999 में लगभग 17 अरब डॉलर तक पहुँच गया था, जो तीन वर्षों की छोटी अवधि में 28: की वृद्धि थी। इस खर्च का लगभग आधे से अधिक खर्च, परिवहन उपकरण रासायन (जिसमें औषधीय सम्मिलित है) तथा कंप्यूटर तथा विद्युत सामग्रियाँ पर थीं विदेशी निधि का अन्तर्वाह और बाहिर्वाह, दोनों ही पर शोध एवं विकास में सेवा-भाग का निम्न स्तर इस बात का संकेत देता है कि गैर देशीय स्थानों को खोजने में अधिक कठिनाई होती है।

भूमण्डलीकरण का संकेत, अंतर्राष्ट्रीय पेटेंट परिवारों की सशक्त वृद्धि से भी मिलता है जिसमें एक ही आविष्कार का कई राष्ट्रों में पेटेंट अधिकार प्राप्त है। उनकी संख्या, 1990 में 249 से बढ़कर 1998 में 379 तक पहुँच गई है। इस विकास से, बाजारों एवं बौद्धिक संपत्ति के भूमण्डलीकरण का संकेत मिलता है। वैश्विक स्तर पर यह ज्ञान एवं जानकारी के बाहिर्वाह की बढ़ती पहुँच का भी संकेत देता है।

28.6 भारत में विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी

विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी, भारतीय संस्कृति का अभिन्न अंग रहा है। पौराणिक काल में जिसे प्राकृतिक दर्शनशास्त्र कहा गया था, अब उच्च शिक्षा की संस्थाओं में तेजी से इसका अनुसरण हो रहा है। पूर्व ऐतिहासिक अवधि में आर्यभट्ट, भास्कर, ब्रह्मगुप्त, धनवंतरी और नागार्जुन जैसे विद्वान वैज्ञानिकों का गणित, फलित-ज्योतिष, औषधि तथा रासायन-शास्त्र आदि के क्षेत्र में जो योगदान रहा है, वह न सिर्फ भारतीय विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी के लिए अमूल्य और पौराणिक है बल्कि मानवता के ज्ञान-आधार के लिए भी है।

जयपुर और नई दिल्ली में खगोली प्रेक्षण तथा नई दिल्ली का अशोक स्तंभ, भारतीय क्षमता के उच्च स्तर का प्रमाण है। वर्तमान शताब्दी के उद्भव से कई भारतीय वैज्ञानिक, जैसे श्रीनिवास रामानुजम, जे. सी. बोस, पी. सी. राय, मेघनाथ साहा, सी. वी. रमण, एस. एन. बोस, बीरबल साहनी, पी. सी. महालानोबिस और एम. विश्वेश्वरैया की महान प्रगति ने विश्व के विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी क्षेत्र में अमिट छाप छोड़ी है। विज्ञान क्षेत्र में, रचनात्मक क्रियाओं के निष्पादन में मौलिक क्षमता 1947 में राष्ट्र की स्वतंत्रता के उपरान्त संस्थागत निर्माण और सशक्त राज्य एवं राजनीतिक समर्थन को सहयोग प्राप्त था। उसके बाद, भारत की सरकार ने कोई ऐसा प्रयास नहीं छोड़ा जिससे राष्ट्र में आधुनिक विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी की स्थापना हो सके। भारत के प्रथम प्रधानमंत्री, जवाहर लाल ने राष्ट्र में विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी को प्रोत्साहन देने के लिए आयोजित कार्यक्रम को पूरे हृदय के साथ सहयोग दिया। परिणामस्वरूप विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी के कई नए विभाग एवं प्रयोगशालाएँ गठित हुईं जिससे वैज्ञानिक शोध को संगठित रूप से बढ़ावा मिला।

जवाहर लाल नेहरू का यह दृढ़तापूर्वक यह मानना था कि सामाजिक समरूपता तथा आर्थिक विकास लाने में विज्ञान एवं तकनीकी एक दोहरा उपकरण है जिससे भारत, विश्व समुदाय की मुख्य धारा से जुड़ सके। यह दृढ़धारणा, 1958 की

वैज्ञानिक नीति प्रस्ताव में प्रतिबिम्बित हुआ, जिसका उद्देश्य था राष्ट्र में विज्ञान एवं वैज्ञानिक शोध के संवर्धन को विकसित, प्रोत्साहित तथा सुरक्षित रखना होगा तथा वैज्ञानिक ज्ञान की प्राप्ति और निष्पादन से लोगों तक इसके लाभों को प्राप्त कराना होगा।

28.6.1 भारत की उपलब्धि

भारत सरकार की यह प्रतिबद्धता कि विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी के प्रयोग के माध्यम से राष्ट्र की सामाजिक-आर्थिक वृद्धि हो सके, पाँच दशकों की कम अवधि में इसमें अपार सफलता दिखाई पड़ी है।

भारत उन कुछ विकासशील राष्ट्रों में से है जिसने खाद्य-उत्पादन में आत्म-निर्भरता प्राप्त की है। इस राष्ट्र ने अधिकतर लोगों के लिए मौलिक आवश्यकताओं को पूरा करने का प्रयास किया है, जैसे स्वास्थ्य-देख रेख तथा गृह (आश्रय) प्रबंध।

मूल शोध के क्षेत्र में, राष्ट्र ने विशिष्ट रूप से अच्छा किया है और कई बृहद् शोध समूह की स्थापना की है जो विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी की विश्व-श्रेणी क्षमताओं के उभरते क्षेत्रों के साथ संलग्न है। इन क्षेत्रों के मुख्य उदाहरण हैं— आणविक जीवभौतिकी, आणविक जीवनविज्ञान, तंत्रिका-जीवविज्ञान, द्रव क्रिस्टल, जीव चिकित्सा उपकरण, अतिचालकता, संघनित पदार्थ भौतिकशास्त्र, गणित-ज्योतिष और खगोल भौतिकी, चूर्ण संसाधन और अग्रिम पदार्थ, जेव-रसायन शास्त्र, ठोस, तृप्त और सतह रसायनशास्त्र सांख्यिक, मौसम भविष्यवाणी, समानांतर संसाधन और वायुमण्डलीय विज्ञान।

भारत को विश्व में विशेष स्थान प्राप्त है और उसने अपने परमाणु कार्यक्रमों को स्वयं से निर्मित किया है और रिएक्टर प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में तथा उससे संबद्ध संपूर्ण ईंधन चक्र के क्षेत्रों में आत्म निर्भरता प्राप्त की है। भारत, परमाणु रिएक्टरों की डिजाइन, निर्माण और संचालित करता है तथा आवश्यक ईंधन की संरचना करता है—उसकी पुनर्प्रक्रिया करके, पूर्ण स्वदेशी प्रयास के माध्यम से पूरी ईंधन प्रक्रिया से उत्पादित अपशिष्ट को व्यापक तरीके से निबटाता है।

इसी प्रकार, अंतरिक्ष शोध के उच्च तकनीक क्षेत्र में, भारत कला संचार तथा दूरवर्ती संवेदी उपग्रह को अब स्वयं से कल्पित, निर्मित एवं संचालित कर सकता है और साथ ही 1000 किलो ग्राम का वर्ग दूरवर्ती संवेदी उपग्रह को ध्रुवीय सूर्यसमकालिक ग्रह-पथ पर छोड़ सकता है। अणुअस्त्र एवं अंतरिक्ष शोध कार्यक्रमों में जिस अधिकतर प्रौद्योगिकी का विकास हुआ है अब अन्य बाजारों में भी वे प्रवेश कर रहे हैं। उनका प्रयोग अन्य सेक्टरों में भी हो रहा है। इन विकासों के साथ भारतीय उद्योग कदम से कदम रखने की चेष्टा कर रहा है।

इसके अलावा, भारत की उच्च-स्तर की विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी का क्षमता सुपर-कंप्यूटर के विकास में स्पष्टतः दिखाई देती है। आज सिर्फ कुछ ही विकसित राष्ट्रों में यह क्षमता प्राप्त है।

विमान-विज्ञान के क्षेत्र में, ऑल कम्पोजिट ट्रेनर वायुयान का भी भारत ने सफलतापूर्वक विकसित किया और उड़ाया है। हल्के पविहन विमान एवं हल्के लड़ाकू विमान के विकास के लिए परियोजनाएँ भारत के हाथ में हैं।

बड़ी संख्या में प्रौद्योगिकियों को विकसित एवं व्यापारिक बनाया गया है जिसमें कई रसायन, जैसे पेट्रो रसायन और कृषि रसायन औद्योगिक उत्प्रेरक दवाइयाँ एवं औषधिय जीव-चिकित्सक उपकरण, खाद्य-संसाधन चमड़ा संसाधन और उत्पादक अभियांत्रिकी सामग्री एवं उपकरण विद्युत उपकरण तथा निर्माण सामग्रियाँ आदि सम्मिलित हैं। इनमें से कई प्रौद्योगिकियों को विदेशों के बाजारों में भी भेजा गया है, जिससे वैश्विक प्रतिस्पर्धा का संकेत मिलता है। औद्योगिक उत्प्रेरकों के लिए विकसित प्रौद्योगिकी का विशेष उल्लेख किया जाता है, जैसे एनसाईलाइट्स, जिससे महत्वपूर्ण पेट्रो रसायन का उत्पादन किया जा सके, जैसे— पी-जाईलीन, एथिलबेन्जीन तथा ऑलफिन्स तथा दवाइयाँ, जैसे ए. जेड. टी (एड्स निरोधक), एटॉपोसाइड (कैंसर प्रतिरोधी) तथा सेन्टक्रोमैन (नॉन-स्टीरॉयड ओरल गर्भनिरोधक) पौधा उक्तक (टिशू) प्रणाली तकनीक द्वारा कई पेड़ पौधों का सूक्ष्म प्रचार, ई. एल. आई. एस. एफ एवं पी. सी. आर तकनीक के विकास एवं डी. एन. ए. जाँच जिससे पेय जल में एनटेरिक पेथेजेन्स यीस्ट (खमीर) का परीक्षण हो सके, कॉलरा के लिए टॉक्सीनोजेनिक ओरल टीका का विकास तथा विशिष्ट खीमर अवशेष के प्रयोग द्वारा मोलासेस का इथेनॉल में परिवर्तन— जीव प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में ये उपलब्धियाँ कुछ उदाहरण हैं। समुद्र विज्ञान के क्षेत्र में जिस मुख्य कार्यक्रम को जारी रखा है उसमें सम्मिलित है— सजीव एवं निर्जीव समुद्री स्रोतों का पर्यवेक्षण और खोज, वायु-समुद्र अंतर्क्रिया का अध्ययन, तटीय क्षेत्र प्रबंधन तथा एन्टार्टिका में वैज्ञानिक अभियान। भारत ने समुद्र-विज्ञान सर्वेक्षण का संचालन करके ख्याति प्राप्त की है। एक बृहद् कार्य जो पूर्ण हुआ, वह था प्लोरे परियोजना के अंतर्गत कैरिबियन जल का सर्वेक्षण।

गहरे समुद्र बहु-धात्विक ग्रन्थिका के पर्यवेक्षण एवं सर्वेक्षण में भारतीय सफलता के कारण वह संयुक्त राष्ट्र के अंतर्गत समुद्री कानून में अग्रसर निवेशक के रूप में पंजीकृत किया गया है। भारत को केन्द्रीय इंडियन ओशन में 150,000 स्कायर कि.मी. का क्षेत्र आवंटित किया गया है ताकि वह सर्वेक्षण, पर्यवेक्षण तथा 75,000 वर्ग कि.मी. के क्षेत्र रख सके।

28.6.2 भारत में विकास के लिए कमियाँ

इन विशिष्ट उपलब्धियों के बावजूद, भारतीय समाज का अधिकांश भाग विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी की प्रगति से लाभान्वित नहीं हो पाया है। इसका मुख्य कारण है यूरोपियन विकास की तुलना में भारत में विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी की कोई विकासात्मक पृष्ठभूमि नहीं रही है। इसकी शुरुआत, ब्रिटिश साम्राज्यवाद के उपकरण के रूप में हुई, जो विदेशी सामानों के रूप में था और जिसे राष्ट्र में बेचा जाता था। स्वदेशी अर्थव्यवस्था में बृहद् परिवर्तन लाए गए ताकि कच्चे माल की माँग को तथा सामानों की व्यापारिकता को पूरा किया जा सके जो लोगों को प्रतिकूल रूप से प्रभावित कर रहा था।

बाद में, जब भारत में सीमित उद्योगीकरण की शुरुआत हुई तब उसका निर्माण निर्यात की गई प्रौद्योगिकी पर हुआ ताकि ब्रिटिश के भारी उद्योग पर निर्भरता जारी रहे। इससे दुहरी उत्पादन प्रणाली का निर्माण हुआ और इसे भारतीय एवं विदेशी कहा जाने लगा। पहला, राष्ट्रीयतावाद से संबद्ध था। राष्ट्रीय आंदोलन तथा गांधी के विचार के प्रभाव के अंतर्गत, यह उत्पादन प्रणाली का एक संभावित विकल्प बन गया। संगठित उद्योग में केन्द्रीकृत, अमानवीय और शोषणीय विशेषताओं को दूर रखने की चेष्टा की गई। यह दुहरापन आज भी, वैज्ञानिक, प्रौद्योगिक और राष्ट्र के औद्योगिक नियोजन में जारी है और इसमें दार्शनिक, राष्ट्रीय, सामाजिक और सांस्कृतिक स्वर झलकता है।

स्वदेशी विज्ञान एवं तकनीकी की सफलता में कमी होने का कारण विज्ञान एवं तकनीकी के निर्माण में संरचना की प्रकृति है, अर्थात् शिक्षा प्रणाली एवं तकनीकी प्रणाली। संस्थागत ढांचे को ऐसा आकार दिया गया है ताकि औद्योगिक इकाई की आवश्यकताओं को पूरा किया जा सके जो निर्यात की गई तकनीकी के आधार पर निर्मित है। यह देश की वर्तमान लघु-स्तरीय औद्योगिक संरचना के साथ अन्तक्रिया नहीं करता था। इसके अलावा वैज्ञानिक शिक्षा और तकनीकी शोध प्रणाली, प्राकृतिक विकास का परिणाम नहीं था, बल्कि उसे ऊपर से थोपा गया था और विदेशी संस्थाओं के प्रतिरूप में निर्मित था। इस प्रकार विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी प्रणाली, भारतीय समाज एवं अर्थव्यवस्था के जमीनी स्तर से सामाजिक और सांस्कृतिक रूप से शुरू से ही पृथक् रहा। यूरोप और बाद में जापान के अनुभवों से यह स्पष्टतः प्रतिकूल है, जहाँ बढ़ते विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी, लगातार कुटीर एवं लघु-उद्योगों के साथ अंतक्रिया करते हैं, ताकि कच्चे माल का बेहतर उपयोग हो सके, उत्पादन प्रणाली को सुधारा और बढ़ाया जा सके और सामग्रियों के गुणों को बेहतर बनाया जा सके। इन देशों में शिक्षा, तकनीकी विशेषज्ञता और शोध एवं विकास के संस्थागत प्रारूप को इस प्रकार आकार दिया जाता है ताकि उद्योगों की आवश्यकताओं का पूरा किया जा सके और उनके साथ लगातार अंतक्रिया भी की जा सके।

सरकारी समर्थन पर आश्रित होने के कारण, भारत में विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी ने अत्यधिक नौकरशाही स्वरूप ले लिया है और सामाजिक परिवर्तन लाने की भूमिका नहीं निभा सके हैं। विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी में ज्यादातर महत्वपूर्ण विकल्पों का चयन, सी.पी. स्नो के अनुसार बंद राजनीति के माध्यम से होता है। इस शब्दावली का अर्थ है कि किसी भी प्रकार की राजनीति जहाँ बृहद् सभा के प्रति कोई अपील नहीं है, जैसे विभिन्न विचारों का समूह या निर्वाचक गण या इससे बृहद् स्तर जिसे हम ढीली सामाजिक शक्ति कहते हैं।

विज्ञान एक शैक्षिक अनुशासन के रूप में भारत में शुरू हुआ जो विदेशी प्रौद्योगिकी के बहुत पश्चात् था। यह प्रबल दृष्टिकोण एवं विचारधारा के विरुद्ध लड़ाई का उपकरण बन सका। परिणामस्वरूप, उसकी अवधारणा और विचार, नए दृष्टिकोण और मूल्य व्यवस्था के उद्भव में आधार नहीं बन सके। विदेशी शासन एवं शिक्षा के साथ संबद्ध होने से, उसके विचार एवं दृष्टिकोणों को अधिकतर लोग नहीं समझ पाते थे। दूसरे शब्दों में, भारत में विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी की भाषा एवं तौर-तरीका विज्ञान की भूमिका के मार्ग में प्रभावी रूप से आया जो एक बौद्धिक प्रयास था और लोगों के बीच वैज्ञानिक ज्ञान, विचार मूल्यों का विस्तार था।

इसके अतिरिक्त, विज्ञान की यह सीमा, वैज्ञानिकों को लोगों और उनकी समस्याओं, सामाजिक विचारधारा और सामान्य लोकाचार से अलग की गई है। ऐसी स्थिति में वैज्ञानिकों का ध्यान अत्यधिक गोपनीय व्यावसायिक कार्य, शोध परियोजना और वैज्ञानिक जाँच-पड़ताल में रहा है। वैज्ञानिकों की अधिकतर प्रक्रिया संस्था-निर्माण से संबंधित थी, न कि समाज में विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी की व्यापक भूमिका का उद्भव करना।

परिणामस्वरूप, भारत में विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी का विकास आंशिक और सतही रहा है। समाज में वैज्ञानिक रुचि के विकास को, जिसे नेहरू ने विकसित करने की चेष्टा की थी, अभी भी जड़ पकड़ना बाकी है। ज्यादा संख्या में लोग जो विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी से अवगत नहीं हो पाए हैं, वे उसके प्रभाव और विकास के लाभों को भी नहीं समझ पाए हैं। वे अभी भी पारंपरिक विचार और विश्वास को निर्देशन के लिए तथा अपनी समस्याओं के समाधान के लिए देखते हैं चूंकि वे पुरानी परंपराओं, सांस्कृतिक लोकाचार और विचारधारा के बीच बंधे हुए हैं, उनका पारंपरिक विश्वास और भी सशक्त हो जाता है, जब वे असुरक्षित अनुभव करने लगते हैं। इसके कारण, अविवेकशीलता और अस्पष्टता का विकास होता है, भले ही जब भारत 21वीं शताब्दी में प्रवेश कर चुका है।

28.6.3 भविष्य का दृष्टिकोण

लगभग आधी शताब्दी के बाद, भारत एवं विश्व में विज्ञान प्रौद्योगिकी तथा राजनीति के बीच अंतर्क्रिया का विश्लेषण करने के पश्चात, यह स्पष्ट है कि जैसे-जैसे हम नई सहस्राब्दि में प्रवेश कर रहे हैं, दृष्टिकोण और भी सुस्पष्ट दीख रहे हैं। उदाहरण के लिए, भारतीय उद्योग, औषधि निर्माण उद्योग तेजी से बढ़ रहा है और उनकी मान्यता को देखकर अच्छा लगता है कि न सिर्फ प्रयुक्त शोध बल्कि मौलिक शोध की भी इसमें महत्ता है। वैज्ञानिक व्यवस्था के ऊपर नौकरशाही की पकड़ भी घट रही है और सरकार, वैज्ञानिक एवं प्रौद्योगिकी विकास में प्राइवेट सेक्टर की सहभागिता को प्रोत्साहित कर रही है। अधिक संख्या में गैर-सरकारी संगठनों का भी विकास हुआ है जो विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी से संबद्ध हैं और जो लोगों के हितों की सुरक्षा एवं विकास के लिए प्रतिबद्ध हैं। ये सारे प्रतिमान, भारत में विज्ञान एवं तकनीकी के विकास में, उज्ज्वल भविष्य का संकेत देते हैं।

28.7 सारांश

विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी को भिन्न-भिन्न रूप से प्रजातांत्रिक एवं तार्किक दृष्टिकोणों से देखा गया है या एक सामाजिक प्रक्रिया के रूप में जो सामाजिक-राजनीतिक तथा आर्थिक संदर्भों से निर्देशित होती है, जहाँ उसका विकास होता है। उसका उद्देश्य है मानव-जाति को जानकारी देना तथा जीवन के स्तर को बेहतर बनाने के लिए मानव की आवश्यकताओं को पूरा करना है। प्रथम विश्व युद्ध तथा द्वितीय विश्व युद्ध के बीच की अवधि में, ब्रिटिश, फ्रेंच और जर्मन सरकारें आगे बढ़कर वैज्ञानिक एवं प्रौद्योगिकी विकास को नीति-निर्देशन दिया जिससे विज्ञान एवं तकनीकी का राष्ट्रीयकरण हो गया। विकासशील देशों की अपेक्षा विकसित देशों में वैज्ञानिक एवं प्रौद्योगिकी के विकास की गति अधिक तीव्र है। प्रौद्योगिकी नवीनता कई क्षेत्रों में आई है, जैसे आयु, स्वास्थ्य, भारी उद्योग, अणुशस्त्र और अंतरिक्ष शोध, संचार और जैव-प्रौद्योगिकी। राष्ट्र के वस्तुओं की अंतर्राष्ट्रीय प्रतियोगितात्मक, एक उपयोगी बाजार-आधारित मापदण्ड उपलब्ध कराती है जो विज्ञान एवं प्रौद्योगिक प्रणाली के कार्यान्वयन को स्पष्ट करता है। नए ज्ञान एवं प्रक्रियाओं के आर्थिक लाभ से पूरे विश्व में शोध एवं विकास पर खर्च को और अधिक बढ़ाया है। शीत युद्ध की समाप्ति और सस्ते वायु-यात्रा और इंटरनेट के विस्तार के बाद, शोध और विकास के कार्यान्वयन में अंतर्राष्ट्रीय सहयोग बढ़ा है। देश में विदेशी और निजी संबंधन द्वारा शोध एवं विकास पर खर्च भी बढ़ रहा है। भारत ने मूल शोध में अच्छा प्रदर्शन किया है और विश्व स्तर की क्षमता के साथ मुख्य शोध समूहों की स्थापना की है, किन्तु संक्षेप में, उसकी असफलता, का कारण है, विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी के लिए संरचनात्मक निर्माण और देश की लघु-स्तरीय औद्योगिक संरचना के साथ अंतरक्रिया में उसकी कमी। शिक्षा एवं शोध और विकास का संरचनात्मक ढांचा सही प्रकार से नहीं बनाया गया था जिससे देश की आवश्यकताओं को पूरा किया जा सके। किन्तु नौकरशाही की घटती पकड़ तथा वैज्ञानिक विकास में निजी क्षेत्र की सहभागिता के कारण, दृष्टिकोण सुस्पष्ट दिखाई पड़ता है।

28.8 बोध प्रश्न

1. विज्ञान के दर्शनशास्त्रियों द्वारा विज्ञान का अध्ययन किस प्रकार किया गया है। विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी के उद्देश्य क्या हैं?
2. विज्ञान एवं तकनीकी का राष्ट्रीयकरण क्यों हुआ? किस प्रकार इसके विकास में विकसित एवं विकासशील राष्ट्रों में भिन्न है?
3. विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी में भूमण्डलीकरण के क्या कारण हैं?
4. विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी के विकास में भारत की उपलब्धि और कमी को रेखांकित करें।

विकेन्द्रीकरण तथा सहभागिता

संरचना

- 29.1 प्रस्तावना
- 29.2 विकेन्द्रीकरण की अवधारणा
 - 29.2.1 अवधारणा
 - 29.2.2 विकेन्द्रीकरण के प्रकार
 - 29.2.3 वर्तमान सोच?
- 29.3 सहभागिता की अवधारणा
 - 29.3.1 विकास परिप्रेक्ष्य
 - 29.3.2 प्रजातंत्र परिप्रेक्ष्य
 - 29.3.3 सहभागिता का अर्थ
 - 29.3.4 सहभागिता की प्रकृति और प्रकार
- 29.4 सहभागिता के लाभ
- 29.5 सहभागी विकास : समस्या और संभावनाएँ
- 29.6 सारांश
- 29.7 बोध प्रश्न

29.1 प्रस्तावना

अब विश्व व्यापी प्रवृत्ति है जिसमें सामूहिक समस्या निवारण के लिए लोगों को सम्मिलित किया जा रहा है। प्रजातंत्र वास्तविकता बन जाता है जब लोग अपनी समस्याओं से सम्बद्ध निर्णय प्रक्रिया में सक्रिय रूप से भाग लेने लगते हैं, चाहे वह वनों के संरक्षण के लिए हो अथवा स्थानीय पर्यावरणीय सुधार या कोई अन्य मुद्दा जो उन्हें महत्वपूर्ण रूप से प्रभावित करता है। इस संदर्भ में विकेन्द्रीकरण एवं सहभागिता अत्यन्त महत्व रखती है। सरकार को व्यक्तियों के अधिक सम्भव निकट होना होगा तथा शासन प्रक्रिया में लोगों के सहभागी होने का भी अधिक क्षेत्र होना चाहिए। इस पाठ्यक्रम की इस इकाई में हम विकेन्द्रीकरण और सहभागिता दोनों ही अवधारणाओं के अर्थ पर विचार करेंगे तथा लोगों द्वारा अग्रसारित विकास के महत्व पर भी विश्लेषण करेंगे जो नौकरशाही अथवा विशेषज्ञों द्वारा अग्रसारित विकास से भिन्न है।

29.2 विकेन्द्रीकरण का अवधारणा

29.2.1 अवधारणा

सामान्यतः विकेन्द्रीकरण में, राष्ट्रीय (केन्द्रीय) सरकार से नीचे स्तरों तक शक्ति एवं उत्तरदायित्व का हस्तान्तरण करना समझा जाता है, चाहे वह क्षेत्रीय नगरपालिका, पंचायती या स्थानीय हो। इस संदर्भ में ध्यान विकेन्द्रण तथा विकेन्द्रीकरण में भेद किया जा रहा है। पहली शब्दावली का प्रयोग तब होता है जब केन्द्रीय सरकारी कार्यालय क्षेत्रों में चला जाता है किन्तु केन्द्र सरकार के नियन्त्रण में ही रहता है। भारत में जिला प्रशासन विकेन्द्रण का एक उदाहरण है, जहाँ राज्य सरकार जिला कलक्टर के कार्यालय का निर्माण करते हैं जो एक उपराज्य इकाई है तथा राज्य सरकार के नियंत्रण में है। विकेन्द्रीकरण का उदाहरण है एक नए प्रकार की सरकार जो राज्य सरकार की इकाई नहीं है बल्कि कानून और स्थानीय राजनीतिक इच्छा से प्राप्त स्वतंत्र शक्तियों के साथ एक स्वायत्त सरकार है।

विकेन्द्रीकरण को एकल रूप से प्रशासन का उपयोगी माध्यम माना गया है जो अपने निवासियों के सुविधाजनक स्थानीय केन्द्रों से लोक सेवा प्रदान करता है। नागरिकों के द्वार तक प्रशासन को लाकर तथा प्रशासन और उसके निवासी के बीच प्रत्यक्ष संबंध स्थापित कर, यह अधिकतर विकासशील देशों में विकेन्द्रीकरण के पीछे प्रेरक शक्ति रही है।

विकेन्द्रीकरण पर ब्रायन स्मिथ ने अपने प्राधिकारिक कार्य में कहा है कि तीसरे विश्व में आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक विकास के लिए विकेन्द्रीकरण को आवश्यक स्थिति माना गया है। जैसा कि उनका कहना है कि प्रजातांत्रिक विकेन्द्रीकरण का कई कारणों से पक्ष लिया जाता है।

पहला, केन्द्रीय नियोजन की अपेक्षा स्थानीय आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए विकेन्द्रीकरण अधिक प्रभावी माना जाता है।

दूसरा, यह निर्धनों की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए विशेष रूप से उपयोगी माना जाता है तथा राजनीति में अधिक संख्या में ग्रामीण निर्धनों की सहभागिता को प्राप्त कराता है।

तीसरा, विकेन्द्रीकरण को प्रशासनिक एजेन्सियों तक बेहतर पहुंच प्राप्त होना माना है तथा यह लोगों की अरुचि एवं निष्क्रियता को सुधारने में कार्य करता है। इस प्रक्रिया में इसने विकास के प्रति लोगों की प्रतिबद्धता को सुनिश्चित करने में सहायता प्रदान की है।

चौथा, लोगों की सम्बद्धता संघर्ष में कमी तथा स्थानीय क्षेत्रों में संलग्नता के माध्यम से परिवर्तन के लिए समर्थन, विकेन्द्रीकरण के माध्यम से ही सम्भव होता है।

पाँचवां, विकेन्द्रीकरण ने केन्द्र में भीड़-भाड़ को कम किया है तथा कार्यान्वयन के अन्तर्गत अधिक गति और लचीलापन प्रदान किया है।

छठा, स्थानीय प्रजातंत्र स्थानीय उपसमूहों के लिए संतोषप्रद रहा है और इस प्रकार राष्ट्रीय एकता को भी सशक्त किया है। सातवां, पुराने उदारवादी राजनीतिक अर्थ में विकेन्द्रीकरण ने जनता की राजनीतिक शिक्षा के उद्देश्यों को पूरा किया है।

अन्त में, सरकारी कार्यों के लिए स्थानीय समुदाय के समर्थन के कारण स्थानीय संसाधनों को काम में लाया गया है तथा स्थानीय विकास के लिए स्वावलम्बी प्रयासों को भी प्रोत्साहन दिया

विकेन्द्रीकरण को कई स्रोतों से समर्थन प्राप्त हुआ है। पहला, आवश्यक सार्वजनिक सामग्री, जैसे भोजन, घर, पानी आदि को जितना जल्द सम्भव हो, उसे प्रशासन के स्थानीय इकाइयों से उपलब्ध कराने की आवश्यकता से यह उत्प्रेरित होता है। दूसरा, विकासशील देशों में अधिकतर लोग ग्रामीण क्षेत्रों में रहते हैं जो राष्ट्रीय केन्द्रों से दूर होते हैं तथा दूर के शहरी तथा ग्रामीण क्षेत्रों में स्थित हैं। प्रशासन को ग्रामीण क्षेत्रों में प्रवेश होना होगा तथा इन्हें पूरे राष्ट्र के साथ जोड़ना होगा। तीसरा, कई राष्ट्रों में सामाजिक भिन्नताओं की अभिव्यक्ति प्रजातीय, भाषाई तथा धार्मिक भिन्नताओं में होती है। प्रशासन को क्षेत्रीय भिन्नताओं की प्रतिक्रिया के अनुसार विकेन्द्रित होने की आवश्यकता है। चौथा, क्षेत्रीय एवं स्थानीय संसाधनों को क्षेत्र एवं स्थान के विकास के लिए उपयोग में लाया जा सकता है। इस प्रकार, विकेन्द्रीकरण स्थानीय संसाधनों की सहायता से स्थानीय नियोजन और विकास में सहयोग प्रदान करता है। पाँचवां, विकेन्द्रीकरण का राजनीतिक एवं प्रशासनिक सन्दर्भ में उसका अपना महत्व होता है। राजनीतिक रूप से विकास प्रक्रिया में स्थानीय सहभागिता महत्वपूर्ण स्रोत होने के अलावा स्थानीय माँगों के अर्थपूर्ण अभिव्यञ्जना के लिए रास्ता तैयार करती है। इस प्रकार नियोजन अधिक वास्तविक हो जाता है और तैयार राजनीतिक समर्थन को प्राप्त करता है। प्रशासनिक दृष्टि से स्थानीय क्षेत्रों में शासन करने की स्थानीय क्षमता बढ़ जाती है और जो स्थानीय निर्णय प्रक्रिया में स्थिर और लगातार सहभागिता के माध्यम से होती है। विकेन्द्रीकरण से स्थानीय ऊर्जा प्रदान करने तथा विकास प्रक्रिया के लिए स्थानीय समर्थन की सूची तैयार करने की अपेक्षा की जाती है। इस प्रक्रिया में स्थानीय समुदाय धीरे-धीरे राजनीतिक और प्रशासनिक परिपक्वता प्राप्त करता है।

29.2.2 विकेन्द्रीकरण के प्रकार

इस संदर्भ में, तीन प्रकार के विकेन्द्रीकरण को पहचाना गया है (1) राजनीतिक (2) प्रशासनिक (3) वित्तीय ६ राजनीतिक विकेन्द्रीकरण का केन्द्र है, शक्ति का हस्तान्तरण। सरकार के नए तथा वर्तमान स्तर के बीच राजनीतिक सम्बन्ध और उत्तरदायित्व इस प्रकार परिष्कृत किया जाता है कि निम्न स्तर के अधिकारियों की शक्ति बढ़ जाती है। प्रशासनिक विकेन्द्रीकरण की विशेषता है केन्द्रीय सरकारी कार्यालयों तथा स्थानीय समुदाय या क्षेत्रों में आधारभूत संरचना की स्थापना।

इसे विसंकेन्द्रण भी कहा जाता है जैसा कि पहले भी कहा जा चुका है। वित्तीय विकेन्द्रीकरण तब होता है जब आर्थिक स्रोत स्थानीय अधिकारियों में हस्तान्तरित हो जाते हैं, जिन्हें कर वृद्धि करने की शक्ति दी गई है। सफल विकेन्द्रीकरण राजनीतिक तथा वित्तीय विकेन्द्रीकरण, दोनों ही का परिणाम है।

29.2.3 वर्तमान सोच

जैसे-जैसे व्यापार एवं आर्थिक प्रवाह के संदर्भ में आज विश्व में देश आपस में अधिक से अधिक जुड़ते जा रहे हैं, दो विपरीत तथ्य महत्वपूर्ण होते जा रहे हैं— भूमण्डलीकरण और स्थानीयकरण। पहला, विश्व की अर्थव्यवस्था के प्रगतिशील समीकरण का प्रतिनिधित्व करता है और जो राष्ट्रीय सरकारों को अन्तर्राष्ट्रीय सहयोगियों के पास पहुँचने की आवश्यकता रखता है, द्विपक्षीय तथा बहुपक्षीय रूपों में। दूसरा, सरकार में लोगों की बढ़ती माँगों की इच्छा को प्रतिबिम्बित करता है। यह केन्द्र सरकार को क्षेत्र, शहर तथा बस्तियों तक पहुँचने में आगे बढ़ाता है जो विश्वभर में राजनीतिक बहुलवाद और स्वाशासन की प्रक्रियाओं में उत्पन्न करता है।

विश्व विकास प्रतिवेदन 1999-2000 में यह कहा गया है कि कुछ 95 प्रतिशत प्रजातंत्र देशों की अब निर्वाचित उपराष्ट्रीय सरकारें हैं। सभी जगह देश चाहे चाहे बड़ा हो या छोटा, धनी हो या निर्धन, सभी सरकार के उपराष्ट्रीय स्तरों पर राजनीतिक वित्तीय और प्रशासनिक शक्तियों को विकसित कर रहे हैं। प्रतिवेदन में यह पाया गया कि सफल विकेन्द्रीकरण, लोक क्षेत्रों में कुशलता तथा प्रतिक्रियाशीलता को सुधारते हैं, तथा स्थानीयकरण के प्रति दबाव करने वाले सक्षम विस्फोटक राजनीतिक शक्तियों को समायोजित करते हैं।

29.3 सहभागिता की अवधारणा

सहभागिता पर चर्चा दो सम्पूर्ण परिप्रेक्ष्यों से की जा रही है—प्रजातंत्र परिप्रेक्ष्य तथा विकास परिप्रेक्ष्य।

29.3.1 विकास परिप्रेक्ष्य

जैसा कि पहले विचार किया जा चुका है, विकास परियोजना, पहले, श्वाहरवालॉश द्वारा कल्पित, नियोजित, कार्यान्वित, संचालित और कायम रखी जाती थी। विकास की वास्तविक प्रक्रिया में लोग बहुत कम सहभागिता से लाभान्वित होते थे। लोगों के विकास को, अधिकतर उनकी शारीरिक सुविधा में सुधार को समझा जाता है, जैसे घर, सड़क, पेय-जल सुविधा, स्वास्थ्य केन्द्र, आदि। यह सामाजिक मुद्दों का समाधान करने में असफल रहा, तथा उसकी सीमाएँ निम्नांकित थीं—रू जनसंख्या के विभिन्न वर्गों में, विकास लाभों का असमान वितरण, बाह्य स्रोतों पर लोगों की बढ़ती हुई निर्भरता, निर्मित सुविधा के प्रति लोगों की उदासीनता, निर्मित सुविधा को पुनर्स्थापित, कार्यान्वित और कायम रखने के लिए सरकार द्वारा भारी खर्च अधिक उपयोग के कारण प्राकृतिक संसाधनों का कम हो जाना, निवेश का कम उपयोग होना जब प्रयोग के लिए वे अनुपयुक्त हो (पर्यावरणीय स्वच्छता परियोजना के अधीन दिए गए धोवन पट्टियों का उदाहरण लिया जा सकता है।

विकास परियोजना के कई क्षेत्र—आधारित शोध, अध्ययन, समीक्षा तथा मूल्यांकन, जो 1970 के दशक के प्रारम्भ में संचालित हुए थे, इस अवधारणा को ऊपर नीचे के रूप में स्थापित किया तथा इस विकास मॉडल के विरुद्ध कई आलोचना की गई। इन अध्ययनों के निष्कर्षों ने यह भी प्रदर्शित किया कि उपर्युक्त समस्याओं का इसलिए जन्म हुआ क्योंकि विकास प्रक्रिया से लोग अलग होते आए हैं और उन्हें सिर्फ लाभकर्ता के रूप में समझते हैं। उस समय, अन्य राजनीतिक विकास के साथ यह खोज, जैसे महिला आंदोलन, पर्यावरण आंदोलन, तथा गैर-सरकारी संगठनों की अधिक संलग्नता, आदि ने एक वैकल्पिक विकास अवधारणा की आवश्यकता पर बल दिया।

1980 के दशक के उत्तरार्ध में, एक नये दर्शनशास्त्र का उद्भव हुआ, जिसमें अवधारणाओं के सप्तक का उदय हुआ ताकि विकास की प्रक्रिया में लोग संलग्न हो जाए। इस अवधारणा को पूर्ण रूप से सहभागी विकास अवधारणा के रूप में जाना गया।

ऊपर-नीचे अवधारणा की कमी से, सहभागी विकास अवधारणा का उद्भव हुआ। यह नया प्रतिमान यह प्रस्तावित करता है कि सभी प्रक्रियाओं को, लोगों के साथ शुरू होनी चाहिए जो अपनी जीवन शैली के विषय में सर्वाधिक जानते हैं। उसे, वर्तमान ज्ञान और तकनीकी को मूल्य प्रदान करना होगा और उनमें ही निर्मित होना होगा। नई अवधारणा यह मानती है कि समुदाय को, अपने साधन स्वयं प्राप्त करने होंगे, ताकि आत्म-विकास प्राप्त किया जा सके, तथा कोई भी समर्थन जो बाहर से आ रहा हो, उससे यह प्रक्रिया और भी अधिक सुविधाजनक होगी।

यह पता लगाया गया कि अधिकतर विकास परियोजना जो ऊपर कार्यान्वित होती हैं, वे समस्याओं को पर्याप्त रूप से हल नहीं कर सकती। इसके अलावा, जिसकी आवश्यकता है, वह है, लोगों के स्वयं का प्रयास ताकि उनके आवश्यकतानुसार, परियोजना की खोज, प्रक्षेपण, कार्यान्वयन और आकलन किया जा सके।

(क) विकास को विखंडित होने की बजाय पूर्ण होना चाहिए। हस्तक्षेप के अंतर-अनुशासनीय तरीकोंको विकसित करना आवश्यक है।

(ख) लोगों से गुणात्मक सूचना उतनी ही वैध है जितने परिमाणात्मक आंकड़े हैं और अधिक अंतर्दृष्टिपूर्ण है।

(ग) लोगों के साथ और उनके लिए विकास करना सहयोगी या उनके पणधारी के बीच सम्बन्ध में बदलाव तथा जन-सहभागिता के विभिन्न स्वरूपों के साथ, बात-चीत और प्रयोग की माँग भी अंतर्निहित है।

(घ) यह लोगों की संस्कृति, विश्वास और जीवन का सामना करने के तरीकों के आधार पर भी कार्य करता है। साथ ही, यह भी समझा जाता है कि विकास के कर्ता सीखने की प्रक्रिया के भाग हैं।

29.3.2 प्रजातंत्र परिप्रेक्ष्य

प्रजातांत्रिक कोण से एक दूसरा परिप्रेक्ष्य, जातीय महत्व का है। पारंपरिक रूप से, प्रजातंत्र, वास्तविक से अधिक प्रक्रियात्मक रहा है। नियमित चुनाव, मूलभूत अधिकार, बोलने और अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता, स्वतंत्र न्यायपालिका — सभी को, प्रजातंत्र की संस्थागत पूर्व-आवश्यकता के रूप में माना गया है। किन्तु सरकार का वास्तविक कार्यान्वयन अधिकतर लोगों को विश्वास में लिए बिना और निर्णय-निर्माण प्रक्रिया में लोगों को संबद्ध किए बिना होता है। यह विकसित एवं विकासशील देशों में, सरकार की वैधता को प्रभावित करता है। इसी संदर्भ में, सहभागिता की भूमिका महत्व रखती है जिससे सरकार एवं लोगों के बीच की खाई को कम किया जा सके।

29.3.3 सहभागिता का अर्थ

अब हम सहभागिता को परिभाषित कर सकते हैं एवं उसकी विशिष्टताओं पर भी चर्चा कर सकते हैं। परिभाषा के तत्व इस प्रकार हैं— परियोजना मूल्यों के प्रति लोगों का स्वैच्छिक योगदान, परियोजना या उसके विपरीत लोगों को सूचना देना, परियोजना निवेश के प्रयोग के प्रति लोगों को संलग्न करना, परियोजना कार्यान्वयन में अपने दृष्टिकोणों को बलपूर्वक कहना तथा सभी स्तरों पर निर्णय निर्माण प्रक्रिया में लोगों की सक्रिय संलग्नता।

स्पष्ट रूप से, सहभागिता एक प्रक्रिया है, जिसमें लोग, विशेषकर अलाभान्वित नीति निर्माण को प्रभावित करते हैं और अपने समुदायों में परिरूप विकल्पों, निवेश चयन प्रबंधनों तथा विकास हस्तक्षेप के प्रेरणों पर नियंत्रण रखते हैं।

29.3.4 सहभागिता की स्वरूप और प्रकार

इस बिंदु पर सहभागिता की स्वरूप के विषय में कोई भी प्रश्न उठा सकता है। इस क्षेत्र में, दो अवधारणाओं का प्रयोग हुआ है, जो समानार्थी नहीं हैं— लोकप्रिय सहभागिता तथा सामुदायिक सहभागिता। पहला, उपयुक्त क्रियाविधि से संबद्ध है (चुनाव, पंचायती राज, आदि) जिसके माध्यम से लोग, राष्ट्र के राजनीतिक, आर्थिक एवं सामाजिक जीवन से संलग्न हैं। इसके विपरीत, दूसरा, स्थानीय विकास के मामलों में लोगों की प्रत्यक्ष संलग्नता, विशेषकर निर्धन एवं जनसंख्या के सुविधावंचित भाग का संकेत देता है। इस प्रकार, बाद की अवधारणा को सहभागी विकास के अर्थ में प्रयोग किया जाता है।

विभिन्न मानदण्डों के आधार पर, सहभागिता के भिन्न प्रकारों को इस संदर्भ में अभिकल्पित किया गया है। उदाहरण के लिए, “वास्तविक सहभागिता” को कृत्रिम सहभागिता से भिन्न कर दिया गया है, क्योंकि दूसरे प्रकार की सहभागिता, समुदाय की संलग्नता को सिर्फ कार्यान्वयन या निर्णय के अधिसूचना तक ही सीमित रखते हैं जो बाहरी एजेंसियों द्वारा लिए जा चुके हैं। इसके विपरीत, वास्तविक सहभागिता, स्थानीय विकास के निर्णयों की सभी प्रक्रियाओं में पूर्णतरु समुदाय को सम्मिलित करती है। आगे, इसप्रकार की सहभागिता, व्यापक सामाजिक संरचनात्मक बदलाव तथा शक्ति के भारी पुनर्वितरण की आवश्यकता को सामने रखती हैं। वास्तविकता के इस अनुभव को पोलो फ्रायरे ने इस प्रकार व्यक्त किया था जब उन्होंने यह लिखा कि प्जनता के नाम पर कठोर नौकरशाही द्वारा चलायी गई नीतियाँ जिनके पास वे आदेश के रूप में हस्तान्तरित होते हैं, वह एक चीज है जो समाज के पुनर्निर्माण में सूक्ष्म सचेतन सहभागिता है। जहाँ पर आवश्यकता कभी भी नारे का रूप नहीं ले सकती।

सहभागिता को वर्गीकृत करने का दूसरा तरीका है, उसे सहभागिता के उद्देश्य शक्ति के रूप में देखना। इस प्रकार तीन “अवपीड़क सहभागिता” हो सकते हैं, जहाँ सहभागी के लिए लोगों के विरोध के बावजूद अथवा इच्छा शक्ति के अभाव में भी बाध्य किया जाता है। अभिप्रेरित सहभागिता की दूसरी श्रेणी कुछ प्रलोभन और अभिप्रेरणा की सहायता से होता है, जैसे धन या वस्तुरूप में भुगतान आदि।

तीसरे श्रेणी को स्वैच्छिक सहभागिता कहते हैं जिसकी विशेषता है लोगों की स्वैच्छिक और स्वायत्त क्रिया सरकार या बाहरी एजेंसियों के सहयोग के बिना होती है। यह अन्तिम श्रेणी अधिक आदर्श प्रकार की है, क्योंकि सामाजिक कार्यकर्ताओं ने सामान्यतः यह पाया है कि वंचित समुदाय बहुत कम ही स्वायत्ता रूप से कार्य करते हैं और सामूहिक कार्यों के लिए, उनमें समता लाने के लिए कम से कम शुरुआत में बाहरी एजेंट द्वारा नेतृत्व की आवश्यकता होती है— चाहे वह सामाजिक कार्यकर्ता हो या राजनीतिक नेता। जैसा कि रॉबर्ट चेम्बर्स का कहना है चाहे कितने भी सहभागिता, सहभागी शोध, समुदाय संलग्नता, आदि के लिए वाक्पटुता परिवर्तन हो, अंततः में बाहरवाला ही परिवर्तन लाने की चेष्टा करता है।

जैसे कि पहले भी कहा जा चुका है कि गरीबों तथा सुविधावंचित लोगों के संघटन के अर्थ में समुदायिक सहभागिता के समकालीन विचार ताकि स्थानीय निर्णय प्रक्रिया में उनकी सक्रिय संलग्नता हो सके, जिससे स्थानीय, सामाजिक, आर्थिक विकास आगे बढ़े, और विकास के लाभों का समान वितरण को सुनिश्चित किया जा सके, ये सभी तुलनात्मक रूप से वर्तमान की उत्पत्ति हैं। पिछले तीन या चार दशकों के अन्तर्गत, विकास सिद्धान्त का स्थानान्तरण विकास के प्रेरक के रूप में वृहद् "आर्थिक वृद्धि पर बल देने से हटकर लक्ष्य समूह को लाभ देने में हो गया है, जो मौलिक आवश्यकता अवधारणा के माध्यम से होती है और बाहरी विशेषज्ञों द्वारा परिभाषित होती है जो परिवर्तन एजेंट के रूप में कार्यरत रहते हैं। यह हाल ही में हुआ है कि सामाजिक सहभागिता निर्धनता सम्बन्धित विकास कार्यक्रम की परिभाषा में प्रवेश कर चुके हैं। जैसे-जैसे विकास प्रतिमान स्थानान्तरित होता गया, विशेषकर 1992 के पृथ्वी शिखर सम्मेलन के पश्चात, विकास प्राथमिकताओं को परिभाषित करने में स्थानीय समुदायों को मुख्य कर्ता के रूप में समीकृत करने के लिए, सहभागिता ज्ञान आदान-प्रदान तथा दो तरफे संचार पर आधारित मॉडल उभर कर आने लगे।

29.4 सहभागिता के लाभ

व्यक्ति केन्द्रित सहभागी पद्धति के प्रति विकास विचारों के पुनराभिमुखन के कारण सहभागिता के मूल्य को प्रेरक विकास प्रक्रिया के रूप में स्वीकारा गया है। सहभागिता के मुख्य लाभ निम्नांकित हैं—

- (1) नियोजन और कार्यक्रम स्तर पर तथा विकास परियोजना के सम्पूर्ण कार्यान्वयन में सहभागी प्रक्रिया महत्वपूर्ण सूचना प्रदान करती है और इस प्रकार यह सुनिश्चित करती है कि विकास के उद्देश्यों और समुदायिक मूल्यों के बीच सामंजस्य है।
- (2) मानव शक्ति संसाधनों के उपयोग का तर्कसंगत पुनर्गठन के कारण इस प्रक्रिया परियोजना की लागत घट सकती है।
- (3) विकास के माध्यम से लाया गया कोई भी परिवर्तन, समुदाय को राजनीतिक रूप से स्वीकृत होगा, यदि स्थानीय लोग बदलाव के लिए संलग्न होंगे और गलतियाँ अधिक सहनीय होंगी यदि वे उन लोगों द्वारा की जाती हैं जो उसके साथ रहते हैं।
- (4) जागरुकता बेहतर है तथा परियोजना की स्थिरता बाहरी एजेंट के हट जाने पर भी स्थिर रहती है। चाहे, वह सरकार हो अथवा गैर सरकारी एजेंसियाँ। क्षेत्र के अनुभव यह कहते हैं कि जब लोगों को सेवा प्राप्त करने पर प्रत्यक्ष दाव लगता है, वे चीजों को निर्धारित अथवा ध्यानाकर्षण करते हैं, जब भी कोई गड़बड़ी होती है।
- (5) अपनी ही संलग्नता से समुदाय सीखता है और इस दृष्टिकोण से सहभागिता सीखने की दो-तरफा प्रक्रिया है जिसमें प्रशासक और व्यक्ति साथ-साथ सीखता है।
- (6) सक्रिय समुदाय सहभागिता, समुदाय सामंजस्य पुनर्निर्माण तथा समुदाय में गरिमा स्थापित करने में सहायक होती है। लोगों में आत्मविश्वास बढ़ता है और धीरे-धीरे वे विकास के मंच पर वास्तविक कर्ता के रूप में उभरते हैं। सहभागी होने का अर्थ है, अभिनय करना तथा विषय वस्तु बन जाना जो निष्क्रिय लाभकर्ता के विरुद्ध है और बाहर से उपहारों पर आश्रित रहता है।

पॉलो फ्रायरे के अनुसार मानव होने का अर्थ है विषय बन जाना जिसमें सोचने और कार्य करने की क्षमता होती है, वस्तु के विषय में सोचा जाता है और तब कार्य किया जाता है। विकास एक ऐसी चीज है जो लोगों के लिए नहीं की जाती बल्कि लोगों के साथ की जाती है।

सहभागिता की तीन विशेषताएँ

इस संदर्भ में ऑकले ने सहभागिता के तीन विशेषताओं की पहचान की है वे हैं—

1. लक्ष्य समूहों द्वारा पूर्व निर्धारित परियोजना के लिए योगदान देना, जो स्थायीय श्रम, धन, भूमि तथा अन्य संसाधन हो सकते हैं।
2. संगठन जो विकास कार्यकर्ताओं अथवा स्वयं लोगों द्वारा संरचित और समर्थित होता है।
3. नए प्रबन्धन की प्राप्ति, बातचीत या निर्णय प्रक्रिया कौशल के माध्यम से सुधार जो लोगों की क्षमता को बढ़ाती है और स्थानीय शक्ति संरचना को परिवर्तित करती है।

आवश्यक रूप से, सहभागिता, क्रियाओं का प्रतिनिधित्व करती हैं या निर्णय प्रक्रिया कार्य में भाग लेती है। अभाव या सीमित स्रोतों के लिए प्रतिस्पर्धा की स्थिति के अंतर्गत सहभागिता संसाधनों के वितरण में बसमता की संभावना को स्थापित करती है। सहभागिता की एक दूसरी महत्वपूर्ण विशेषता है, उसकी चेतना उत्पन्न करने की शक्ति। फ्रायरे के अनुसार स्पष्ट चेतना और जागरूकता, सहभागिता को स्थिर और कायम रखने के लिए मूलभूत होते हैं। अन्यथा एक समय की परियोजना आधारित सहभागिता में परियोजना की समाप्ति के पश्चात् सहभागिता में कमी आने की प्रवृत्ति होती है।

29.5 सहभागी विकास: समस्या और संभावनाएँ

समुदायिक सहभागिता के समर्थक कई और विभिन्न हैं। एक तरफ ऐसे आदर्शवादी हैं जिन्हें समुदाय सामंजस्य और सामूहिक जमीनी स्तर की प्रज्ञा पर पूरी आस्था है तथा सहभागिता के पक्ष में उनके विचार राज्य के बाहर सम्प्रभ स्थानीय समुदाय के निर्माण में लगभग किनारे तक पहुँच जाते हैं। दूसरी ओर, व्यवहारवादी सामाजिक कार्यकर्ता होते हैं जिन्हें समुदायिक सहयोग पर सशक्त विश्वास रहता है। इस प्रक्रिया में निर्माण तथा उसे कायम रखने के लिए कीमतों को घटा दिया जाता है। इस प्रकार सहभागिता स्थानीय एवं राष्ट्रीय विकास, दोनों उद्देश्यों के लिए काम करती है।

आलोचकों के अनुसार इस प्रकार के प्रतिपादन में नैतिक संवेदना कठोर अवधारणाओं से आगे निकल जाती है और इसलिए सहभागिता में बिना स्पष्टता के लोकप्रियता होती है तथा बढ़ते सनक और दिखावटी प्रेम की वस्तु बन जाते हैं। स्थानीय समुदाय जीवन के गम्भीर विश्लेषण द्वारा स्तर, आय तथा शक्ति में विभिन्नता प्रदर्शित करती है। निर्धनों और शोषित लोगों में भी संघर्ष और मतभेद असामान्य नहीं हैं। एक कारण जिससे अम्बेडकर पंचायती राज के आलोचक रहे, वह यह था: ग्रामीण समाज पारम्परिक रूपसे जाति, वर्ग तथा साम्प्रदायिक आधारों पर विभाजित रहता है। संघर्षहीन सामंजस्य पूर्ण सामूहिक जीवन की रोमांचकारी कल्पना, ग्रामीण भारत की आधारभूत वास्तविकता के साथ तालमेल नहीं रखती।

जमीनी स्तर के विकास के लिए, स्वायत्त स्थानीय सामूहिक सहभागिता को ऊपर-नीचे, सद्भावपूर्ण तथा पितृसत्तावाद विकास के प्रतिकारक के रूप में माना गया है। हालाँकि, यथार्थ, बहुत भिन्न है। लगभग सभी जगहों में सामाजिक कार्यकर्ता तथा राजनीतिक कार्यकर्ता द्वारा बाह्य हस्तक्षेप को आवश्यक माना गया है ताकि स्थानीय समुदाय को संगठित तथा स्थानीय लोगों को गतिशील बनाया जा सके, अत्याचारियों के विरुद्ध या स्थानीय मांगों की अभिव्यक्ति के लिए।

यह भी देखा गया है कि स्थानीय लोगों द्वारा निरन्तर सक्रियता की काल्पनिक अवधारणा है जो सामूहिक सहभागिता पर विचार विमर्श करता है। निर्धन अपनी जीविका के लिए कठिन कार्य करते हैं और इसलिए स्थायी सक्रियता के लिए वे आसानी से उपलब्ध नहीं होते। सक्रियता के प्रति पूर्ण और लगातार प्रतिबद्धता अधिकतर क्रान्तिकारियों के स्वप्न होते हैं न की निर्धनों का वास्तविक व्यवहार।

कई ऐसे आलोचक हैं जो सामूहिक सहभागिता की कुशलता पर संदेह करते हैं जो निर्धन और शोषित लोगों के जीवन में मूलभूत परिवर्तन लाते हैं। छोटे परिवर्तनों को अस्वीकार नहीं किया जाता किन्तु सामूहिक सहभागिता को वास्तविक अर्थ में प्रभावी होने के लिए, और अन्तर्राष्ट्रीय स्तरों पर मूलभूत सामाजिक संरचनात्मक संघटन स्वयं से मूल सामाजिक असंतुलन को सुधार नहीं सकता, जिसकी जड़ समाज के गहरे सामाजिक एवं आर्थिक स्तरों में होती है। उदाहरण के लिए, मार्क्सवादी विचार यह है कि सहभागी विकास, उत्पादन की व्यवस्था के ढाँचों के अन्तर्गत असक्षम रहता है, सहभागिता का उद्देश्य है, क्रांतिकारी आंदोलनों को शांत करना और समाधान की भ्रांति का निर्माण करना। पूँजीवाद की स्थिति के अंतर्गत राज्य लोकप्रिय आंदोलनों को निर्धनों के माध्यम से छलोजित सहयोजन द्वारा समाप्त कर देने की चेष्टा करता है, (सहभागी संरचना के माध्यम से)। इस दृष्टिकोण से, 'सहभागिता राज्य द्वारा एक सचेतन चेष्टा है ताकि गरीबों को सहयोजित किया जा सके तथा कम से कम उनके नेताओं को चालाकी से मात दी जा सके। यह क्रांतिकारी विरोधी तथा राजधर्म समर्थक के पक्ष में है।

राज्य समुदाय सहभागिता की भूमिका कार्यशील विकासात्मक संदर्भ में, राज्य की मौलिक भूमिका को निभाने से चूक जाता है, जो सहभागिता में सहयोग प्रदान करना अथवा अवरोध पैदा करना है। दूसरे शब्दों में, सहभागिता को भली-भाँति समझने के लिए यह राज्य के सिद्धांत के लिए याचना करती है। जैसा कि जेम्स मिजले का कहना है — समकालीन राज्य में विभिन्न प्रकार की सामाजिक विज्ञान के सिद्धांत हैं जो राज्य-समाज संबंधों के विभिन्न चित्रों को उत्पन्न करता है। जबकि मार्क्सवादी तथा अभिजात वर्ग सिद्धांत सामूहिक सहभागिता की संभावना के विषय में निराशावादी हैं तो दूसरी तरफ, उदारवादी-प्रजातांत्रिक और बहुलवादी सिद्धांत, अधिक सहयोगशील हैं। सामूहिक सहभागिता राज्य के दृष्टिकोण से ऐसी सहभागिता की परिभाषा एवं उद्देश्यों पर निर्धारित होगी जो उसकी भूमिका के प्रति राज्य की अवधारणा तथा राजनीतिक इच्छा द्वारा स्थानीय राजनीतिक संस्थानों में शक्ति एवं स्रोतों का विकेंद्रीकरण करता है।

29.6 सारांश

प्रजातंत्र को वास्तविक बनाने के क्रम में विकेन्द्रीकरण तथा सहभागिता की विशेष महत्ता है। विकेन्द्रीकरण का अर्थ है, शक्ति का हस्तांतरण, केन्द्रीय सरकार से क्षेत्रीय, पंचायत तथा स्थानीय स्तरों तक। सफल विकेन्द्रीकरण को राजनीतिक, प्रशासनिक तथा वित्तीय होना होगा। सहभागिता का अर्थ है, निर्णय-निर्माण प्रक्रिया में लोगों की सक्रिय संलग्नता तथा स्वैच्छिक योगदान। सहभागिता के दो परिप्रेक्ष्य होते हैं एक है, विकास परिप्रेक्ष्य जो पहले शारीरिक सुविधाओं को बेहतर बनाने के रूप में समझा जाता है, जैसे-घर, सड़क, पीने के जल की सुविधा, आदि। अब यह लोगों को, परियोजना को खोजने, कार्यान्वित करने और मूल्यांकन करने के प्रयासों में संलग्न रखता है। दूसरा है, प्रजातंत्र परिप्रेक्ष्य, जो सरकार एवं लोगों के बीच के अंतराल को भरना चाहता है, चुनाव की प्रक्रिया बोलने की स्वतंत्रता तथा स्वतंत्र न्यायपालिका के माध्यम से।

सहभागी विकास के आलोचकों का कहना है कि यह बिना किसी स्पष्टता के लोकप्रिय है तथा स्थानीय स्तरों पर भी बहुत संघर्ष और मतभेद होते हैं। स्वायत्त स्थानीय सामूहिक सहभागिता को ऊपर नीचे पितृसत्ता विकास का मारक माना जाता है। इसप्रकार, सहभागिता को राज्य द्वारा गरीबों को समायोजित करने की चेष्टा के रूप में देखा जाता है और इस प्रक्रिया में लोकप्रिय संस्थापन-विरोधी आंदोलन को समाप्त करता है।

29.7 बोध प्रश्न

1. किस प्रकार विकेन्द्रीकरण एवं सहभागिता की अवधारणा, प्रजातंत्र को वास्तविक बनाने में सहायक होता है?
2. विकेन्द्रीकरण के प्रकार पर लघु लेख लिखें।
3. किस प्रकार से प्रजातंत्र का प्रजातांत्रिक परिप्रेक्ष्य विकास परिप्रेक्ष्य से भिन्न है?
4. सहभागिता के लाभ पर टिप्पणी करें।

इकाई 30

मानवाधिकार

संरचना

- 30.1 प्रस्तावना
- 30.2 मानवाधिकार का अर्थ
- 30.3 मानवाधिकार का उद्भव
- 30.4 पाश्चात्य परिप्रेक्ष्य में मानवाधिकार
- 30.5 समाजवादी परिप्रेक्ष्य में मानवाधिकार
- 30.6 नागरिक-राजनीतिक और सामाजिक-आर्थिक अधिकारों का समन्वय: उभरती हुई प्रवृत्तियाँ
- 30.7 अंतर्राष्ट्रीय मानवाधिकार मानकों का संवैधानिक संरक्षण
- 30.8 बुनियादी अधिकारों का उल्लंघन
- 30.9 सारांश
- 30.10 बोध प्रश्न

30.1 प्रस्तावना

राजनीति का एक चिरस्थायी मुद्दा, जिसके लिए एक समस्या बनी रही है, अर्थात् व्यक्तिगत अधिकार और राज्य की सत्ता के बीच सही संतुलन स्थापित करना। जहाँ एक ओर राज्य में स्थायित्व और व्यवस्था का होना आवश्यक है, वहीं दूसरी ओर व्यक्तित्व विकास और समृद्ध एवं खुशहाल जीवन व्यतीत करने के लिए व्यक्तिगत अधिकारों का होना भी नितान्त आवश्यक है। अधिकार और सत्ता एक दूसरे के विरोधी नहीं बल्कि ये दोनों ही एक-दूसरे के सम्पूरक हैं। ये एक-दूसरे के स्वरूप और अंतर्वस्तु को सुसज्जित करते हैं। एक स्थायी और व्यवस्थित राजनीतिक प्रणाली में अधिकारों का संरक्षण बेहतर ढंग से किया जा सकता है।

सरकार और व्यक्ति-विशेष के बीच जो सम्बन्ध स्थापित होता है, वह उस समय मानवाधिकार के स्वरूप और अंतर्वस्तु को निर्धारित करता है। साथ ही, किसी देश की राजनीतिक व्यवस्था, वहाँ उपलब्ध और संरक्षित मानवाधिकार के फैलाव को भी सुनिश्चित करता है। इसलिए साधारणतया किसी भी अत्याधुनिक राजनीतिक व्यवस्था का प्रजातांत्रिक या सत्तावादी होना, वहाँ की जनता के लिए सुनिश्चित मानवाधिकार के मापदंड पर ही तय किया जाता है। एक आदर्श राजनीतिक व्यवस्था में किसी भी व्यक्ति की स्वतंत्रता और नियंत्रण या अधिकार और कर्तव्य इस तरह व्यवस्थित होंगे जिससे किसी भी अन्य व्यक्ति का अधिकार और कर्तव्य खतरे में नहीं पड़े। दूसरे शब्दों में, यह कहा जा सकता है कि ऐसी राजनीतिक व्यवस्था में प्रत्येक व्यक्ति अपने अधिकारों का अधिक-से-अधिक उपयोग करे और दूसरों को भी करने दे।

सरकार की रचना मनुष्यों द्वारा क्यों किया जाता है, इसके बहुत कारण हैं। इस चिरस्थायी विषय का उत्तर सामाजिक और राजनीतिक सिद्धान्तवादियों, तथा राजनेताओं ने दिया है। आधुनिक समय में सरकार के अनेक उपयोगी कार्य प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से मानवाधिकार को बढ़ावा देने और उनके संरक्षण से जुड़े हुए हैं। सरकार द्वारा अनेक लाभदायक और आवश्यक कार्य किए जाते हैं— जैसे सामुदायिक और राष्ट्रीय निर्माण, संपत्ति और अधिकारों का संरक्षण, आर्थिक क्षमता और विकास को बढ़ावा देना, सार्वजनिक कार्य, जैसे पार्क, सड़क, प्रकाश-स्तम्भ आदि, का निर्माण, पर्यावरण की सुरक्षा, राष्ट्र की सुरक्षा को सुनिश्चित करना और सामाजिक न्याय को प्रश्रय देना। आधुनिक सरकार सम्पत्ति और अन्य संसाधनों का जनता में पुनर्वितरण कर सामाजिक न्याय को बढ़ावा देती है। कुछ राज्य, जैसे भारत ने विवेक-आधारित कानूनों का एक विशाल निकाय ही स्थापित कर दिया है।

20वीं शताब्दी के एक उत्कृष्ट अंतर्राष्ट्रीय वकील और मानवाधिकार के प्रसिद्ध समर्थक, सर हर्श लॉटरपैच की उक्ति आधुनिक कानून और सरकार के क्रिया-कलापों की स्फूर्ति को बहुत ही सही रूप में उजागर करता है। 1947 में उनकी यह टिप्पणी उल्लेखनीय, राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय, सभी कानूनों का चरम उद्देश्य है—मानव व्यक्तित्व और उसके मौलिक अधिकारों का संरक्षण करना। इसी प्रकार, संयुक्त राज्य अमेरिका के एडलाई स्टीवेन्सन ने टिप्पणी की थी, छह जो कुछ भी करते हैं या करने की कोशिश करते हैं, उन सबके मूल में मानवाधिकार ही है। विधिवक्ता और राज्यवेत्ता की ये दो

उक्तिर्याँ निश्चित रूप से यह उजागर करती हैं कि मानव-जीवन में मानवाधिकार ने एक महत्वपूर्ण स्थान बनाया है। साथ ही, यह भी सच है कि हमारा अधिकांश समय मानवाधिकार के विश्लेषण, प्रश्रय और संरक्षण में ही समर्पित है। इस तथ्य को पुनरु याद रखना आवश्यक है कि, प्रतिष्ठित और समसामयिक राजनीतिक सिद्धांतों द्वारा, इस महत्वपूर्ण सारतत्त्व की बार-बार पुष्टि की गई है कि-राज्य व्यक्ति के लिए है (यहाँ तक कि समाज और कानून व्यवस्था भी) न कि व्यक्ति राज्य के लिए। संक्षेप में, यह कह सकते हैं कि मानवाधिकार वर्तमान समय की सर्वाधिक शक्तिशाली संकल्पना के रूप में उभरी है। संयुक्त राष्ट्र के भूतपूर्व सेक्रेटरी जनरल, बुतरुस बुतरुस घाली का मत है कि यह मनुष्यों की आम भाषा है और राजनीति का चरम आदर्श है। अभिव्यक्ति की इस विधि (भाषा) को अपनाने पर यह लोगों को दूसरों को समझने में मदद करता है और अपने इतिहास का रचयिता बनाता है। आज प्रत्येक व्यक्ति अपनी बात करता है और अपनी पहचान, आगे बढ़ने तथा संरक्षण के लिए संघर्ष करता है।

30.2 मानवाधिकार का अर्थ

यद्यपि मानवाधिकार की संकल्पना राजनीति विज्ञान का केन्द्र बिन्दु है, लेकिन इसकी सही समझ नहीं हो पाई है। इसके अर्थ, प्रकृति और अंतर्वस्तु पर किसी भी प्रकार का समझौता नहीं किया जा सकता। यह एक ऐसी संकल्पना है जो न केवल पूर्वी (पूर्व समाजवादी राज्यों का प्रतिनिधित्व करने वाले) और पश्चिमी (प्रजातांत्रिक राज्यों का प्रतिनिधित्व करने वाले) देशों के बीच विवाद का कारण रहा है बल्कि विकासशील और विकसित देशों के बीच भी विवाद का कारण रहा है। सभी की मानवाधिकार की अलग-अलग अवधारणा है।

विश्व में पश्चिम के तथाकथित प्रथम श्रेणी के राज्य व्यक्ति की सर्वप्रमुखता में विश्वास करते थे, जबकि पूर्व के साम्यवादी राज्य सम्प्रदाय और उसकी भलाई को प्रमुखता देते थे। इस कारण सम्प्रदाय में सामूहिक अधिकारों से व्यक्ति विशेष को लाभ होता था क्योंकि महिला या पुरुष के लिए इन अधिकारों के उपभोग की उचित व्यवस्था थी। पहले ने आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक अधिकारों को प्रमुखता दी और साथ ही, इस बात पर भी जोर दिया कि विद्यमान वर्गीकृत समाज की विशेषताओं से इसे अलग नहीं किया जा सकता। जबकि दूसरे ने नागरिक और राजनीतिक अधिकारों की प्रमुखता पर जोर दिया। 20वीं शताब्दी का अधिकांश समय राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय शासन में उपरोक्त की प्राथमिकता का मुद्दा, एक विवाद का विषय बना रहा।

तृतीय विश्व के उभरते नए राज्यों ने जहाँ पूर्वी और पश्चिमी मानवाधिकार के आदर्श को अपने संविधान में नमूने के आधार पर अपनाया है वहीं समैक्य या सामूहिक अधिकार को केन्द्र-बिन्दु बनाया है, जैसे-लोगों के आत्मनिर्णय का अधिकार जिसमें प्राकृतिक संसाधनों पर उनकी प्रभुता का अधिकार भी शामिल है, विकास का अधिकार, स्वास्थ्य एवं परिस्थिति अनुकूल संतुलित वातावरण का अधिकार, शांति का अधिकार, लोगों को पैतृक सम्पत्ति प्राप्त करने का अधिकार शामिल है। नागरिक और राजनीतिक अधिकारों का आर्थिक और सामाजिक अधिकारों पर अंतरूआश्रित और अविभाज्य होने पर भी ये जोर देते हैं। अतः मानवाधिकार की आधुनिक अवधारणा अपने स्वरूप और अंतरूवस्तु से व्यापक है। इसमें तीन प्रकार के अधिकार हैं- नागरिक और राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक और उभरते संगठित या सामूहिक अधिकार। सच यह है कि अधिकारों की सूची हर दिन बढ़ रही है। लेकिन यह भी तय है कि मानवाधिकार से संबंधित कोई भी तालिका कभी भी अंतिम या संपूर्ण नहीं होगी। इसकी विषय-वस्तु उस समय के राज्य की नीतिपरक जागरूकता या सम्यता के विकास पर निर्भर करता है।

सामान्यरूप से यह जानना संतोषप्रद होगा कि पूर्व के मानवाधिकार का अवबोधन अब पश्चिमी अवबोधन को ग्रहण करने की ओर बढ़ रहा है। साथ ही, नागरिक और राजनीतिक अधिकारों को पहले की अपेक्षा अधिक महत्व दिया जा रहा है। साम्यवाद का ढहना और शीत युद्ध का अंत यह दर्शाता है कि मानवाधिकार सम्बन्धी विभिन्न अवधारणाओं पर विवाद अब आपसी प्रत्यारोपों का विषय नहीं रह गया है बल्कि पूर्व और पश्चिम के बीच आपसी समझौता की स्फूर्ति धीरे-धीरे उभर कर आ रही है।

यद्यपि अधिकार की मान्यता से सम्बन्धित अनेक पारिभाषिक समस्याएं विद्यमान हैं तथापि यह इकाई न तो पूर्वोक्त पर विचार करता है और न ही साहित्य में प्राप्त विभिन्न परिभाषाओं को सूचीबद्ध करता है। हमारी समझ में मानवाधिकार हमारे जीवन की वे शर्तें हैं जो मानवगत विशेषताओं, अंतर्विवेक और आध्यात्मिक जरूरतों को पूरा करने, उनके उपयोग और विकास के मार्ग को प्रशस्त करते हैं। इनकी अनुपस्थिति में हमारे व्यक्तित्व का विकास असम्भव है। ये हमारे स्वभाव के मूल तत्व हैं रु इसके बिना हम मानव के रूप में जीवन व्यतीत नहीं कर सकते। संक्षेप में, माइकल फ्रीडेन के मत में, यह संकलनात्मक युक्ति एक ऐसा साधन है, जो भाषा-शास्त्र के रूप में व्यक्त है, साथ ही यह प्राथमिकता के आधार पर कुछ मानविक या सामाजिक दायित्वों को निश्चित करता है, जो मानव जाति के उचित क्रिया-कलापों के लिए आवश्यक है।

इन दायित्वों के लिए यह एक बीजकोश के रूप में काम करता है। यह ऐसे संरक्षण को सुनिश्चित करने के लिए विचारयुक्त व्यवहार का आग्रह करता है।

30.3 मानवाधिकार का उद्भव

नागरिकों के "अधिकार और कर्तव्य का विचार उतना ही पुराना है, जितना राज्य की संकल्पना। इसका मूल यूरोप के प्राचीन ग्रीक और रोमन राजनीतिक प्रणाली में, चीन के कन्फ्यूशियन पद्धति में, मुगलकालीन इस्लामिक प्रणाली में और भारत के पंचायत प्रणाली में, मिल सकता है। लेकिन आज जिस अर्थ में अधिकारों को समझा गया है, उस समय उन्हें न ही इन अर्थों में समझा गया था और न ही उसका इतना विकास हुआ था। वह तत्कालीन सामाजिक-राजनीतिक वातावरण के अनुकूल था।

बहुत सारी घटनाएँ और क्रान्तियों ने मानवाधिकार के विकास में योगदान किया है। तीन ब्रिटिश संवैधानिक दस्तावेजों में सबसे पहला मानवाधिकार का प्रपत्र प्राप्त होता है। ये तीन दस्तावेज हैं, मैग्नाकार्टा (1215), अधिकारों की याचिका (पिटिशन ऑफ राइट्स) (1628), अधिकारों का बिल (बिल ऑफ राइट्स) (1689)। ये तीन दस्तावेज आधुनिक अधिकार सम्बन्धी बिल के अग्रदूत हैं।

मानव स्वतंत्रता के लिखित आश्वासन की आवश्यकता को 17वीं और 18वीं शताब्दी के शासन व्यवस्था ने महसूस किया। मानव-अधिकारों का सम्मान ही 18वीं शताब्दी के शासन का प्रभावी विषय-वस्तु था। व्यावहारिक रूप में इसके फलने-फूलने को हम कुछ ऐतिहासिक दस्तावेजों से आँक सकते हैं जैसे 1776 में वर्जीनिया का अधिकार सम्बन्धी घोषणा, अमेरिका की स्वतंत्रता की घोषणा-1776, व्यक्ति और नागरिक के अधिकारों की फ्रांस की घोषणा-1789, और जो सर्वाधिक महत्व का है, वह है, संयुक्त राज्य के संविधान में संशोधन, जिसे 1791 के अमेरिकी अधिकार बिल के रूप में अपनाया गया।

मानवाधिकार के संरक्षण के लिए संयुक्त राज्य के संवैधानिक निर्धारण तथा उसके साथ जुड़े अधिकार सम्बन्धी बिल ने नमूने का काम किया। बहुत वर्षों तक संयुक्त राज्य का यह नमूना अकेला ही था। लेकिन बाद में अनेक देशों ने अपने संविधान में अधिकारों का बहुत ही विस्तृत रूप से समावेश किया, जैसे- 1831 का बेल्जियन संविधान, 1848 का इटली संविधान, 1864 का ग्रीस संविधान, 1866 का डेनमार्क संविधान, 1867 का ऑस्ट्रिया संविधान, 1876 का स्पेन संविधान, 1893 का अर्जन्टीना संविधान। 20वीं शताब्दी तक समावेश की यह प्रक्रिया जारी रही। वर्तमान समय में विश्व के अधिकांश राज्यों ने लिखित संविधान मुहैया कराया है ताकि कोई भी व्यक्ति अपने मूल अधिकार और स्वतंत्रता से वंचित न रहे और साथ ही अधिकारियों द्वारा इसके दुरुपयोग और नियंत्रण की भी उचित व्यवस्था की गई है।

जहाँ एक ओर ब्रिटिश, अमेरिकन और फ्रांस के दस्तावेजों ने अपने नागरिक और राजनीतिक अधिकारों में धीरे-धीरे महत्वपूर्ण विस्तार किया, वहीं दूसरी ओर 1917 के सोवियत रूस की अक्टूबर क्रांति ने सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक अधिकारों को सामने ला कर खड़ा कर दिया। मानवाधिकार की इस नई अवधारणा के विकास पर इस समाजवादी क्रांति ने अपना टिकाऊ प्रभाव डाला जिसमें आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक अधिकारों को मानवाधिकार के रूप में ही स्थान दिया गया था। परम्परागत रूप से पाश्चात्य उदारवादी देशों ने (जिसमें उनके विद्वान भी शामिल हैं) इसे मानवाधिकार के रूप में नहीं माना है।

संयुक्त राष्ट्र के तत्त्वाधान में तैयार की गई अनेक अंतर्राष्ट्रीय मानवाधिकार संधियों की रूपरेखा पर समाजवादी क्रांति का प्रभाव देखा जा सकता है। 1945 में संयुक्त राष्ट्र की स्थापना के बाद अंतर्राष्ट्रीय मानवाधिकार बिल तैयार करने की प्रक्रिया की शुरुआत हुई। 1948 में इसने सार्वभौमिक मानवाधिकार घोषणा-पत्र को अपनाया, जिसमें एक ही दस्तावेज में नागरिक-राजनीतिक तथा आर्थिक-सामाजिक दोनों ही अधिकारों को शामिल किया गया। चूँकि सार्वभौमिक घोषणापत्र में कानूनी बाध्यता नहीं थी। परिणामतः संयुक्त राष्ट्र ने 1966 में दो प्रतिज्ञापत्रों को स्वीकार किया (एक तो नागरिक और राजनीतिक अधिकारों पर तथा दूसरा आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक अधिकारों पर)। समर्थन करने वाले राज्यों के लिए यह प्रतिज्ञा-पत्र एक कानूनी बाध्यता है। यह ध्यान देने योग्य तथ्य है कि प्रचलित अंतर्राष्ट्रीय मानवाधिकार बिल का गठन सार्वभौमिक घोषणा पत्र और दो प्रतिज्ञा पत्रों से ही हुआ है। अतः मानवाधिकारों का अंतर्राष्ट्रीयकरण किया गया है और कहीं भी रहने वाले मनुष्य को यह प्राप्त है।

मानवाधिकार की यह नई अवधारणा जिसमें दोनों अधिकारों (नागरिक-राजनीतिक तथा आर्थिक-सामाजिक) को समान रूप से देखा गया, द्वितीय विश्व-युद्ध के बाद जो भी संविधान अस्तित्व में आए, उनकी लाक्षणिक रूप-रेखा बन गई। इन संविधानों ने विभिन्न प्रकाशनों में कुछ सामाजिक और आर्थिक अधिकारों को तो जोड़ा ही, इसके अलावा नागरिक और राजनीतिक अधिकारों का भी विस्तार किया। 1948 का इटली संविधान और 1949 का बॉन संविधान इसके ज्वलन्त उदाहरण हैं। यूरोपीय राज्यों ने इस बात को मानने पर ज्यादा बल दिया कि राज्य को सामाजिक जिम्मेदारी लेनी चाहिए और व्यक्ति की बुनियादी सुविधाओं पर ध्यान देना चाहिए। वर्तमान दशकों में बहुत देशों ने या तो नया संविधान या

संसदीय लिखित अधिनियम बनाये हैं जो मानवाधिकार सम्बन्धी उभरती नई धारणाओं को सांवैधानिक दर्जा दे सके और जो अपने स्वरूप और विषय में सारगर्भित हैं।

प्रत्येक संविधान और मानवाधिकार द्वारा दिए जाने वाले संरक्षण के बारे में विस्तार से चर्चा करना इस इकाई के दायरे के बाहर है। फिर भी, हमारी परिचर्चा विश्व के कुछ ऐसे प्रमुख राजनीतिक-प्रणाली के इर्द-गिर्द केन्द्रित हैं जिनका संविधान मानवाधिकार सम्बन्धी व्यवस्था को प्रतिष्ठापित करता है। इसमें यू.के., संयुक्त राज्य अमेरिका, यू.एस.एस.आर., जर्मनी, स्विटजरलैंड, कनाडा, भारत और दक्षिणी अफ्रीका शामिल हैं।

30.4 पाश्चात्य परिप्रेक्ष्य में मानवाधिकार

पश्चिमी यूरोपीय और उत्तरी अमेरिका के उदारवादी प्रजातांत्रिक राजनीतिक व्यवस्था वाले राज्य परम्परागत रूप से नागरिक और राजनीतिक अधिकारों को प्राथमिकता देते थे। इन राज्यों में सामाजिक-आर्थिक अधिकारों को बुनियादी अधिकार के तौर पर मान्यता नहीं दी गई थी, तथापि कुछ राज्यों के संविधान में इनमें से कुछ ने अपना मार्ग प्रशस्त किया। 20वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में ही कनाडा और स्विटजरलैंड जैसे राज्यों ने अपने संविधान में सकारात्मक अधिकार या सामूहिक अधिकार को शामिल किया। आइये, यू.के., संयुक्त राज्य अमेरिका, फ्रांस, स्विटजरलैंड और कनाडा के संविधान में मानवाधिकार सम्बन्धी व्यवस्था का परीक्षण करें।

यूनाइटेड किंगडम (ब्रिटेन)

यूनाइटेड किंगडम में लिखित संविधान नहीं है। संविधान का कानून को ऐतिहासिक दस्तावेजों या चार्टरों में, संविधानिक स्वरूप के लिखित संविधियों में और सामान्य कानून में (न्यायाधीश द्वारा बनाए गए कानूनी नियम) मूर्त रूप दिया गया है। जैसे पहले भी कहा जा चुका है, मैग्नाकार्टा, अधिकारों की याचिका (1628) और अधिकारों का बिल (1689) प्रमुख रूपसे जाने जाने वाले ऐतिहासिक दस्तावेज थे। कुछ अन्य महत्वपूर्ण दस्तावेज भी थे, जैसे-एक्ट ऑफ सेटलमेन्ट (1701), 1832 का सुधार अधिनियम, 1911 का संसद अधिनियम। चूँकि ये कानून मूलभूत राजनीतिक अधिकारों और सरकारी संस्थाओं में अधिकारों का बँटवारा करते हैं, इसलिए इन्हें संविधान के एक भाग के रूप में स्वीकार किया जाता है। अधिकांश नागरिक कानूनों का मूल इन सामान्य कानूनों में है। कानूनी नियम के प्रयोग द्वारा इन अधिकारों का बचाव किया जाता है। यद्यपि अंग्रेजों के पास अमेरिकी संविधान की तरह इन अधिकारों की कोई विस्तृत सूचीबिल नहीं है, फिर भी ये अधिकार संरक्षित हैं।

यह जानना सुखद है कि 1998 में ब्रिटिश संसद ने एक श्मानवाधिकार अधिनियम पारित किया जो अक्टूबर 2000 से व्यवहार में आ गया। यह एक्ट मानवाधिकार पर यूरोपीय अधिनियम को शामिल करता है (संयुक्त राज्य ने 1951 में इसे अनुमोदित किया था)। वर्तमान में जो भी अधिकार में शामिल हैं उन्हें आंतरिकधदेशीय कानून का दर्जा दिया गया है। तत्कालीन गृहसचिव, जैक स्ट्रॉ ने इस एक्ट के बारे में कहा है कि यू.के. के संसदीय विधि-निर्माण का यह सर्वाधिक महत्वपूर्ण टुकड़ा है। प्रो. के.डी. ईविंग ने टिप्पणी की है कि इस एक्ट को अपनाने से यह 1911 के संसदीय एक्ट की तुलना में एक महान सांवैधानिक बदलाव है तथा निश्चित रूप से 1688 की अधिकार सम्बन्धी बिल से इसकी कोई तुलना ही नहीं है।

संयुक्त राज्य अमेरिकारू अन्य उदारवादी प्रजातांत्रिक प्रणालियों से तुलना करने पर, अमेरिकी प्रणाली निश्चित रूप से पूर्णरूपेण परिभाषित और सोच-समझ कर क्रियान्वित या संरक्षित प्रतीत होती है। (1791 में) संविधान के पहले दस संशोधन बिल ऑफ राइट्स (अधिकार सम्बन्धी बिल) नाम से प्रसिद्ध है, जो संयुक्त राज्य के नागरिक को कुछ निश्चित सुविधाओं को सुनिश्चित करता है। ये क्लासिकी अधिकार और स्वतंत्रता संघीय और राज्य दोनों के ही संविधान में लिखे गए हैं। न्यायालय न्यायाधिक सर्वोच्चता बनाए रखता है। साथ ही मानवाधिकार के उचित अनुपालन और संविधानवादिता सम्बन्धी कानून के उचित प्रयोग को सुनिश्चित करने में न्यायिक अधिकार महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। संविधान या कानून की व्यवस्थाओं की व्याख्या करते हुए न्यायालय इन अधिकारों को अपने पास सुरक्षित रखता है और इनके स्वरूप और विषय-वस्तु को सुनिश्चित करता है। कुछ नागरिक और राजनीतिक अधिकार अमेरिकी व्यवस्था द्वारा मान्यता दिए गए हैं, जैसे- धर्म, भाषण, प्रेस, शांतिपूर्ण सभा, संघ और याचिका की स्वतंत्रताय अनुचित तलाशी या कब्जे से सुरक्षा, जीवन बचने से सुरक्षाय स्वतंत्रता या सम्पत्ति से बेदखल करने से संरक्षण, बिना मुआवजा दिए किसी के निजी सम्पत्ति को सार्वजनिक कार्य के लिए लेने से संरक्षण, निष्पक्ष जूरी द्वारा तीव्र और सार्वजनिक परीक्षण का अधिकारय अपने बचाव के लिए वकील के चयन का अधिकारय कानूनी प्रक्रिया के अनुरूप और हर तरह से साफ-सुथरे जाँच के लिए गवाह को बुलानाय अत्यधिक जमानत या दंड तथा कठोर और असामान्य दंड के विरुद्ध संरक्षणय कानून का समान रूप से संरक्षणय गुलामी, जबरदस्ती गुलामी, कार्योत्तर कानून, बंदी त्यक्षीकरण का अप्राधिकृत स्थगन, कर से जड़े अनेक गारंटियां। बाद के संशोधनों ने मानव दासता पर रोक लगाया (1865), अल्पसंख्यक जाति को मताधिकार दिया (1870), महिलाओं को मताधिकार प्रदान किया (1920), महिलाओं को समानता का अधिकार प्रदान किया तथा लिंग के आधार पर समानता के अधिकार को कम किया जाना या नहीं दिया जाना (1972)। उपरोक्त बातों से यह सिद्ध होता है कि 1791 का अधिकार सम्बन्धी मूल बिल का समय-समय पर विस्तार किया जाता रहा है।

यद्यपि संयुक्त राज्य के बिल ऑफ राइट्स विश्व में बहुत ही प्रभावकारी था, तथापि दक्षिण के लोगों ने विभेदीकरण, पक्षपातपूर्ण, पूर्वाग्रह से ग्रसित और पुलिस अत्याचारों का अनुभव किया। करीब एक शतक तक सर्वोच्च-न्यायालय ने संयुक्त राज्य में दक्षिणी रंगभेद प्रणाली का समर्थन किया और अल्पसंख्यक जाति के संवैधानिक अधिकारों का संरक्षण नहीं किया। 1954 में ब्राउन वी. बोर्ड ऑफ एज्यूकेशन के एक निर्णय से उपरोक्त व्यवस्था में भेदन हुआ जिसमें सर्वोच्च न्यायालय ने सर्वसम्मति से यह घोषणा की कि सार्वजनिक स्कूलों में जातिगत विभेदीकरण असंवैधानिक होगा। यद्यपि ब्राउन के निर्णय के बाद नागरिक अधिकारों की क्रांति में विकास हुआ तथापि बहुत सारे राज्यों ने जातिगत विधि-निर्माण को कायम रखा और मुख्य रूप से ऐसे कानून जिसने अंतर्जातीय विवाह को गैरकानूनी करार दिया। फिर भी, 1964 में नागरिक अधिकार एक्ट पारित हुआ जिसमें संयुक्त राज्य अमेरिका के राजनीतिक, न्यायिक और प्रशासनिक भाषा में सकारात्मक गतिविधि की नई अवधारणा को शामिल किया गया। इसका उद्देश्य था, समाज में अंतर्जातीय असमानता को कम करना।

फ्रांस अंग्रेजी व्यवस्था के विपरीत, फ्रांस-संविधान (5वां गणतंत्र) ने दोनों अधिकारों अर्थात् नागरिक-राजनीतिक और आर्थिक-सामाजिक, को शामिल किया। उदाहरण के तौर पर, संविधान के प्रस्तावना में यह घोषित है कि फ्रांस के लोग व्यक्ति के अधिकारों से जुड़ाव को विधिवत उद्घोषित करते हैं जिसकी सम्पुष्टि 146 के चौथे गणतंत्र संविधान की प्रस्तावना में शामिल किए जाने से होती है। संविधान कुछ अधिकारों को मान्यता देती है और सुनिश्चित बनाती है। जैसे अपनी इच्छानुसार संगठन बनाना, द्विपक्षीय समझौता करना, हड़ताल करना सभी लोगों को समान रूप से शिक्षा मिलना, बीमारी जैसी आपदाओं बेरोजगारी और वृद्धावस्था से संरक्षण की सुनिश्चितता। ये सभी व्यक्तिगत स्वतंत्रताएँ प्रशासनिक व्यवस्था के दायरे में ही प्रदान की जाती हैं, लेकिन यह प्रक्रिया राजनीतिक स्वतंत्रता की अपेक्षा केवल व्यक्तिगत अधिकारों को ही सुरक्षित करती हैं (जैसे- संपत्ति का अधिकार)। परम्परागत नागरिक स्वतंत्रताओं का उल्लंघन असामान्य नहीं है। फ्रांसीसियों के मूलभूत स्वतंत्रता से सम्बन्धित सही मामले में असीमित अधिकार वहाँ के राष्ट्रपति को अनुच्छेद 16 द्वारा दिया गया है।

जर्मनीरू पूर्व पश्चिमी जर्मनी का, 1949 का बॉन बेसिक कानून (वहाँ का संविधान) अध्याय - 1 के 19 अनुच्छेदों में मूलभूत अधिकारों को सुनिश्चित किए गए हैं। 1919 के वीमर संविधान की तुलना में अधिकारों की बहुत ही प्रभावी सूची इसमें शामिल की गई है। जो केवल धार्मिक संगठनों को अधिकार प्रदान करती है। नया संविधान किसी भी व्यक्ति के मूलभूत अधिकारों की अनुल्लंघनीयता को सुनिश्चित करता है जैसे-व्यक्तित्व के पूर्ण विकास का अधिकार, पूजा और अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता, बैठकें करना या संघ के गठन की स्वतंत्रता, सभी जातियों और वर्गों तथा स्त्री-पुरुष दोनों ही के लिए समान अधिकार की व्यवस्था। कुछ अनुच्छेद आंदोलन और इच्छानुसार कार्य करने की स्वतंत्रता की गारंटी देते हैं लेकिन किसी के घर की तलाशी या उचित कानूनी प्रक्रिया के बिना किसी के निजी पत्र को पढ़ने से रोका गया है। साथ ही माता-पिता के बच्चों को सम्हालने के महत्वपूर्ण अधिकार और कर्तव्य पर जोर दिया गया है। सम्पूर्ण शिक्षा-व्यवस्था राज्य द्वारा संचालित की जाती है जिसमें साम्प्रदायिक और असाम्प्रदायिक दोनों ही स्कूल शामिल हैं। शिक्षकों के लिए शैक्षिक स्वतंत्रता सुनिश्चित की गई है बशर्ते कि वे संविधान के प्रति वफादार हैं। संघ और समुदाय के निर्माण को सुनिश्चित करते हुए, संविधान में यह भी कहा गया है कि यदि कोई भी मूल अधिकारों का उल्लंघन करेगा जिससे कि प्रजातंत्र पर खतरा हो तो वह दंडनीय होगा। साथ ही, ऐसी राजनीतिक पार्टियाँ जो कि अपने उद्देश्यों, व्यवहार या आंतरिक संगठनों से प्रजातंत्र के मूल्यों का विरोध करती पाई जाएँगी, उन्हें असंवैधानिक घोषित किया जाएगा। यह जानना महत्वपूर्ण है कि साम्यवादी और नई नाजी पार्टियों को पूर्वोक्त व्यवस्था के तहत ही दबाया गया है। सम्पत्ति और उत्तराधिकार की गारंटी है लेकिन उसकी सीमा का निर्धारण कानून कर सकता है। सम्पत्ति में वचनबद्धता शामिल है। इसका उपयोग इस ढंग से होना चाहिए कि यह सम्पत्ति के मालिक के साथ-ही-साथ समुदाय की भलाई को बढ़ावा दे।

अन्य अधिकार जिनकी गारंटी दी गई है, वे हैं-कानून के समक्ष समानता, सामाजिक-लिंग की समानता, विवाह और परिवार से जुड़े अधिकार, परिवार की सुरक्षा, विवाह के अलावा अन्य पैदा हुए बच्चे, याचिका और शरण स्थान का अधिकार। बॉन संविधान में यह उद्घोषणा है कि कुछ ऐसे मूल अधिकार हैं जिनका संशोधन नहीं किया जा सकता है। आपातकालीन अवस्था में सरकार ऐसे अधिकारों पर रोक लगा सकती है। यह राजनीतिक अधिकारों के प्रयोग पर अलग-अलग सीमा को सुव्यवस्थित करती है। विधायक इसका अतिलंघन नहीं कर सकते। जर्मन संवैधानिक न्यायालय ने अधिकारों के संरक्षण के मामले में अपना सक्रियतायुक्त दावा किया है। न्यायिक पुनरीक्षण का फैलाव, अधिकार और स्वतंत्रता तक है। ऐसा देश जो बहुत ही दृढ़ सत्तावादिता की परम्परा वाला हो, यह एक महत्वपूर्ण विकास माना गया है।

कनाडा सामान्य पश्चिमी उदारवादी परिप्रेक्ष्य में, जो व्यक्ति विशेष के अधिकार पर जोर देता है और समुदाय या समूह के अधिकारों को गौण मानता है, की तुलना में कनाडा का संविधान अपने दो इरादों में स्पष्ट है। पहला यह अल्पसंख्यकों के अधिकारों की योजना और स्वदेशीय लोगों के अधिकारों को सामवेश करता है तथा दूसरा, यह कुछ सकारात्मक अधिकारों को भी शामिल करता है। आइए हम तथ्यों पर विस्तार से विचार करें।

1857 के संविधान के एक्ट ने धार्मिक स्वतंत्रता प्रदान करने के अलावा अल्पसंख्यकों को भाषायी अधिकारों की भी गारंटी दी। अंग्रेजी और फ्रेंच के प्रयोग की गारंटी दी गई। इस एक्ट में यह भी कहा गया है कि संस्कृति, धर्म, भाषा, स्थानीय समुदायों और अल्पसंख्यकों के अधिकार के बचाव के लिए सार्थक सरकारी सहायता और उसको शामिल होने की जरूरत है। इसी प्रकार 1982 की अधिकारों और स्वतंत्रता के कनाडियन चार्टर में न केवल क्लासिकी नागरिक उदारता के विषय में कहा गया है और विस्तार किया गया बल्कि अनेक सकारात्मक अधिकार भी प्रदान किये गये हैं जैसे स्वीकारात्मक-सकारात्मक हकदारिता की गारंटी। उदाहरण के तौर पर, चार्टर का 23 वाँ खण्ड फ्रेंच या अंग्रेजी भाषी अल्पसंख्यक माता-पिता के बच्चों को उनकी ही भाषा में शिक्षा प्राप्त करने की गारंटी देता है। इसके लिए सार्वजनिक राशि की सुविधा दी गई है।

नागरिक और राजनीतिक अधिकारों की गारंटी के अलावा 1982 के चार्टर में धर्म, भाषण, संगठन की स्वतंत्रता, आंदोलन की स्वतंत्रता, चुनाव में लड़ने और मत देने का अधिकार, व्यक्तिगत अखंडता का कानूनी अधिकार, अनुचित तलाशी या कब्जा के विरुद्ध संरक्षण का अधिकार, बिना किसी कारण जेल न भेजने या रोकने का अधिकार, गिरफ्तारी की परिस्थिति में सूचित करने का अधिकार, निष्पक्ष जाँच, किसी प्रकार का कठोर दंड नहीं दिया जाना, किसी स्व-अभियोग के विरुद्ध अधिकार, अभिव्यक्ति का अधिकार, अल्पसंख्यकों की शिक्षा और भाषाई अधिकार-शामिल हैं। कनाडियन चार्टर, जो एक संवैधानिक एक्ट है, राज्य में सामाजिक-आर्थिक भेद के प्रति उदासीन नहीं है। अगर गवाह न्यायालय में कार्यवाही की भाषा को समझने में असमर्थ है तो उसे दुभाषिया की सहायता मुहैया कराने के लिए राज्य को आदेश दिया गया है। गरीब और कमजोर के साथ सामुदायिक सहानुभूति, राज्य की सामाजिक जिम्मेदारी, मानव गरिमा के प्रति आदरपूर्ण भावना, सामूहिक सदस्यता की मान्यता, तथा सामाजिक और सांस्कृतिक मतभेदों का शांतिपूर्वक समायोजन-ये सभी कुछ कनाडा के संवैधानिक कानून के महत्वपूर्ण अंग हैं। इस चार्टर के अनुसार, मानवाधिकार सरकारी गतिविधियों के उद्देश्य और सीमा को गठित करने के साथ करे और न करे को भी शामिल करते हैं।

इस प्रारूप की एक महत्वपूर्ण बात यह भी है कि इसमें विद्यमान मूलवासियों और संधि दायित्वों को संवैधानिक दर्जा दिया गया है। संक्षेप में, यह कहा जा सकता है कि बहुसंस्कृति का दृष्टिकोण, समूह का अधिकार, अल्पसंख्यकों का अधिकार, आदिवासियों का अधिकार-ये सभी कनाडा की राजनीतिक वार्ता के लिए एक समकालीन महत्वपूर्ण मुद्दा बनाती है।

30.5 समाजवादी परिप्रेक्ष्य में मानवाधिकार

मानवाधिकार सम्बन्धी मार्क्सवादी-लेनिनवादी सिद्धान्त पश्चिमी उदारवादी परिप्रेक्ष्य में एकदम विपरीत है। यह अधिकारों का अदभुत प्रतिरूप और स्पष्ट नमूना प्रस्तुत करता है। यह मानता है कि कोई भी व्यक्ति न तो सारतत्त्व है और न ही स्वायत्त बल्कि वह समाज के रूप में है, उससे अलग नहीं। किसी व्यक्ति का अधिकार मूल आर्थिक-सम्बन्ध और उस जगह के उत्पाद के नमूने से उत्पन्न होता है। अतः समाजवादी परिप्रेक्ष्य में यह आर्थिक और राजनीतिक अधिकारों को प्राथमिकता देती है। वस्तुतः आर्थिक और सामाजिक अधिकारों को नागरिक और सामाजिक अधिकारों से पहले माना जाता है। समाजवादी देशों में आर्थिक प्राथमिक स्वतंत्रता है, शोषण से स्वतंत्रता, जो श्रमजीवी वर्ग के हाथ में अधिकार दिए जाने से होता है। जैसे-जैसे सामाजिक सम्बन्ध सुधरता है, और जैसा कि समाजवादी व्यवस्था समेकित किया गया है, इसकी भौतिक और आध्यात्मिक सम्पत्ति बढ़ती है। इसी तरह मानवाधिकार को लागू करने के रास्ते और उपाय भी बढ़ते हैं।

भूतपूर्व रूस के संविधान (1936 और 1977) में समाजवादी सिद्धान्त के अधिकारों का सर्वोत्तम रूप प्रतिबिम्बित होता है। बाद में बहुत प्रभावी अधिकारों का बिल प्रदान किया गया। अधिकांश प्रतिष्ठापित अधिकार आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक थे, जैसे - काम करने का अधिकार, आराम और फुरसत का अधिकार, विकलांगता या बीमारी की स्थिति में भौतिक भरण-पोषण का अधिकार, स्वास्थ्य संरक्षण का अधिकार, आश्रय का अधिकार, शिक्षा का अधिकार, सांस्कृतिक लाभ उठाने का अधिकार, वैज्ञानिक, तकनीकी और कलात्मक कार्यों की स्वतंत्रता का अधिकार, राज्य के राजनीतिक मामलों में भाग लेने का अधिकार। राजनीतिक अधिकारों को भी मान्यता दी गई है। इसमें भाषण, प्रेस, एकत्रित होने, बैठक करने, नुक्कड़ प्रदर्शन और जुलूस तथा सभा की स्वतंत्रता शामिल है। अनेक व्यक्तिगत स्वतंत्रताओं को भी इसमें शामिल किया गया था, जैसे -व्यक्ति की अनुलंघनीयता, नागरिकों के आवास की अनुलंघनीयता, पत्राचार की गुप्तता, प्रतिवादी को बचाव का अधिकार, अंतर्विवेक की स्वतंत्रता और नागरिकों को समानता का अधिकार। इन अधिकारों के उपभोग के बदले समाजवादी शासकीय व्यवस्था द्वारा प्रत्यारोपित अनेक कर्तव्य और दायित्वों की उम्मीद भी नागरिकों से की जाती है। कामकाजी वर्ग के लाभ और समाजवादी व्यवस्था को दृढ़ बनाने की अनुरूपता के साथ इन अधिकारों का उपभोग कर सकते हैं।

पश्चिमी विद्वानों ने अधिकारों की सोवियत प्रणाली और स्वतंत्रता की आलोचना की है। राजनीतिक अधिकार, संगठन बनाने का अधिकार, आलोचना करने या प्रेस की स्वतंत्रता के अधिकार बहुत गम्भीर रूप से सीमित किए गए थे। कम्युनिस्ट पार्टी के अलावा अन्य किसी राजनीतिक पार्टी के अस्तित्व की अनुमति नहीं थी। बहुत सारे अधिकारों के सोवियत बिल की

उपलब्धता सीमित दायरे में थी। धर्म प्रचार की स्वतंत्रता तो थी लेकिन धार्मिक शिक्षा की स्वतंत्रता नहीं थी। काम करने का अधिकार था लेकिन हड़ताल करने का नहीं। बहुत सारे कर्तव्य थे, जैसे मिलिट्री सेवा, संविधान को मानने का कर्तव्य, कानून का पालन और मजदूरी अनुशासन बरकरार रखना। संक्षेप में, संविधान न केवल “अधिकारों को बहाल करने के उद्देश्य को स्पष्ट करता है बल्कि इसके साथ ही उन उद्देश्यों को प्रोत्साहन देना नागरिक के प्राथमिक कर्तव्यों में शामिल था।

अधिकारों पर इन अंकुशों और इन राजनीतिक तथा नागरिक अधिकारों के वास्तविक अभाव के बावजूद जैसा कि हम पश्चिमी प्रजातंत्र में पाते हैं। सोवियत प्रणाली की कुछ सामाजिक-आर्थिक अधिकारों के क्रियान्वयन में उसकी गंभीरता की प्रशंसा करनी चाहिए। उदाहरण के तौर पर, स्वस्थ संरक्षण का अधिकार और आश्वासन के अधिकारों की न केवल घोषणा की बल्कि वास्तविकता में उन्हें लागू किया गया। यह जानना अत्यंत रोमांचकारी है कि सोवियत रूस के अस्पताल में प्रति 10,000 व्यक्ति पर 120 बिस्तर हैं जबकि अमेरिका में 80 तथा ब्रिटेन और फ्रांस में 90-95 हैं। आवासन के अधिकार को लागू करने और उसे संस्थागत रूप देने में सोवियत संघ विश्व का पहला देश था। दस साल के समय (1965-1975) में इस देश ने 22.5 लाख फ्लैट बनाये जिससे 111 मिलियन लोगों को रहने की जगह दी। यह जनसंख्या वहाँ की आधी जनसंख्या थी, 1980 तक 80 लोगों ने अपना घर प्राप्त कर लिया था, जिसका किराया परिवार की आमदनी का 3: था।

रूसी महासंघ का नया संविधान, जिसे यू एस एस आर के विघटन के बाद 1993 में अपनाया गया, जिसमें पश्चिमी उदारवादी परम्परागत मानवाधिकार और प्रमुख नागरिक तथा राजनीतिक सूचीबद्ध किया है। यह पूर्ण रूपेण सकारात्मक सामाजिक-आर्थिक अधिकारों की उपेक्षा नहीं करता है। यह एक घर होने का अधिकार, स्वास्थ्य देखभाल का अधिकार, चिकित्सा की उपस्थिति का अधिकार, शिक्षा का अधिकार आदि मुहैया करता है।

30.6 नागरिक-राजनीतिक तथा सामाजिक-आर्थिक अधिकारों का संश्लेषण: उभरते रुख

हाल ही के दशकों में जो संविधान लिखे गए हैं उनमें नागरिक-राजनीतिक और सामाजिक-आर्थिक दोनों ही अधिकारों को शामिल किया जा रहा है। अब तक सामाजिक-आर्थिक अधिकारों का तिरस्कार किया गया और राज्य पर सकारात्मक दायित्वों को लागू किया गया। लेकिन शीत युद्ध के बाद तैयार किए गए संविधान में इसकी मान्यता बढ़ी, जैसे दक्षिण अफ्रीका और स्विटजरलैण्ड का। 1949 के भारत के संविधान की तरह, इन संविधानों ने मानवाधिकार के मिश्रित रूप को अपनाया। यहाँ हम, संक्षेप में, भारत, दक्षिण अफ्रीका और स्विटजरलैण्ड के संवैधानिक परिवर्तनों की चर्चा करेंगे।

भारतीय संविधान में नागरिक और राजनीतिक अधिकारों को अधिकारों के विस्तृत बिल में शामिल किया है जिसकी गारंटी और लागू करने की जिम्मेदारी उच्चतम तथा उच्च न्यायालय को है, संविधान में मानव अधिकार और कर्तव्य के पाँच महत्वपूर्ण तथ्यों की, यहाँ चर्चा करना आवश्यक है। पहला, संविधान का अनुच्छेद 29 और 30 न केवल व्यक्ति के अधिकारों को शामिल करता है बल्कि अल्पसंख्यकों को सांस्कृतिक और शिक्षा के अधिकार को उपलब्ध कराता है। दूसरा, अछूत की प्रथा का अंत किया गया (अनुच्छेद-17), हिन्दू महिलाओं तथा अछूतों के प्रति विभेदपूर्ण व्यवहार का बहुत सारे धर्मनिरपेक्ष कानूनों से अंत किया गया (हिन्दू महिलाओं का अधिकार पुरुषों की तुलना में बहुत अधिक कम था)। भारतीय संविधान व्यवस्था परम्परागत, अन्यायपूर्ण और स्तरीकृत (जो केवल उच्चवर्ग को ही अधिकार सुनिश्चित करता था) सामाजिक व्यवस्था को समानतावादी और समाजवादी व्यवस्था में परिवर्तित करने के लिए संघर्ष कर रहा है। तीसरा, यह समाज के कमजोर वर्ग, जैसे अनुसूचित जाति और जनजाति, अन्य पिछड़ा वर्ग और महिलाओं के लिए सकारात्मक विभेद या स्वीकारात्मक नीतियों को प्रदान करता है। अपने विषय वस्तु और सीमा में यह नीति बेमिसाल है। विश्व में कहीं भी ऐसी नीति नहीं है। इस नीति के तहत 49.5: नौकरी इस समूह के लिए सुरक्षित है। इसके अलावा, शैक्षिक संस्थाओं और विधान बनाने वाले इकाइयों में 22.5 प्रतिशत स्थान सुरक्षित है। 1992 का 73 वाँ और 74 वाँ संविधान संशोधन एकट पंचायत और म्युनिसिपल इकाइयों में महिलाओं के लिए 33: स्थान सुरक्षित है। परिणामस्वरूप एक मिलियन से भी अधिक महिलाएँ पंचायतों और नगरपालिका के चुनाव में चुनी गई हैं। जो स्थानीय सरकार में इनकी बढ़ती भागीदारी को दर्शाता है। इससे प्रजातांत्रिक प्रणाली की जड़ और भी मजबूत हुई है। षष्ठ्य नीति के निर्देशात्मक सिद्धान्तः शीर्षक के तहत सामाजिक-आर्थिक अधिकारों का संविधान में समावेश ही संविधान का चौथी महत्वपूर्ण विशेषता है। इन अधिकारों में शामिल हैं-आजीविका के लिए समुचित साधनों का अधिकार, एक ही समान काम के लिए महिला-पुरुष दोनों को समान मजदूरी पाने का अधिकार, आर्थिक शोषण के विरुद्ध अधिकार, बच्चों के शोषण के विरुद्ध और स्वस्थ विकास की सविधा का अधिकार संगत स्वतंत्रता और सम्मान का अधिकार न्याय पाने का समान अन और सम्मान का आधकार, न्याय पाने का समान अवसर और त्क कानूनी मदद पाने का अधिकार, काम करने का अधिकार, बेरोजगारी वृद्धावस्था, बीमारी और अनर्जित अन्य मामलों में मानवोचित सहायता तथा गर्भावस्था में आराम का अधिकार, सुचारु रूप से जीवनयापन करने के लिए मजदूरों को काम के लिए अनुकूल परिस्थिति और उचित मेहनताना पाने का अधिकार, तथा उद्योग के प्रबंधन में मजदूरों की भागीदारी का अधिकार। यद्यपि इन अधिकारों को लागू करने पर न्यायालय द्वारा कोई जोर नहीं है तथापि संविधान में इसकी कम से कम मान्यता है। हालाँकि बहुत सारे मामलों में इनको न्यायालय-आदेश या सांविधिक कानून

द्वारा लागू किया गया है। सबसे अंत में अनुच्छेद 51 के अधीन संविधान में दस कर्तव्यों को शामिल करता है। इन कर्तव्यों को 1976 में 42वें संविधान संशोधन द्वारा समावेश किया गया था।

1996 का दक्षिण अफ्रीकी संविधान ने अधिकारों का बिल को शामिल किया जो बहुत व्यापक था क्योंकि इसमें नागरिक-राजनीतिक, आर्थिक-सामाजिक-सांस्कृतिक और समूह या सामूहिक अधिकार शामिल हैं। संविधान के अनुच्छेद 7-39 में मानवाधिकार के ब्यौरेवार स्वरूप का विस्तार है। सांस्कृतिक नागरिक-राजनीतिक अधिकारों के अलावा, यह प्रत्येक व्यक्ति के लिए स्वस्थ और स्वच्छ पर्यावरण का अधिकार, आवास का अधिकार, स्वास्थ्य की देख-भाल, भोजन, पानी और सामाजिक सुरक्षा का अधिकार, शिक्षा का अधिकार, सांस्कृतिक, धार्मिक और भाषाई समुदायों के अधिकार को भी मान्यता देता है।

1999 के स्विटजरलैण्ड के संविधान (जो 2000 से लागू हुआ) में अधिकार के दोनों समुच्चयों के दृष्टिकोण का संश्लेषित रूप प्रतिबिम्बित होता है। यह स्वयं सामाजिक-आर्थिक अधिकारों को स्वीकार करता है। उदाहरण के तौर पर, यह किसी भी व्यक्ति, महिला या पुरुष की प्रारम्भिक आवश्यकताओं को पूरा किए जाने के अधिकार को इस उक्ति द्वारा प्रतिष्ठापित करता है, 'कोई भी व्यक्ति जो विपत्ति में है, या अपनी देख-भाल करने में असमर्थ है, उसे मदद पाने का अधिकार है और मानव सम्मान के साथ जीने के लिए इन उपायों को पाने का अधिकार है (अनुच्छेद-12)। इसके अलावा 1991 में आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक अधिकारों पर अंतर्राष्ट्रीय प्रतिज्ञापत्र के अनुमोदन से (जिसके कारण यह अविलम्ब ही स्विटजरलैण्ड के कानून का अंग बन गया।) स्विटजरलैण्ड में कानूनी और राजनीतिक विवादों के अन्तर्गत सामाजिक और आर्थिक अधिकारों के महत्व पर पुनः बल दिया है। सामाजिक और आर्थिक अधिकारों के क्रियान्वयन में की गई वास्तविक प्रगति को ध्यान में दिए बिना यह कहा जा सकता है कि सामाजिक रूप से जिम्मेदार राज्य अब संविधान में दृढ़ता से संस्थापित हुआ है।

30.7 अंतर्राष्ट्रीय मानवाधिकार मानक का संवैधानिक संरक्षण

अमरिका, यूरोप परिषद, ओ ए एस, और ओ ए यू ने बहुत अधिक संख्या में अंतर्राष्ट्रीय मानवाधिकार संधियों को अपनाया है, उनमें से प्रमुख हैं-नागरिक और राजनीतिक अधिकारों पर अंतर्राष्ट्रीय प्रतिज्ञापत्र, आर्थिक, सामाजिक और नागरिक अधिकारों पर अंतर्राष्ट्रीय प्रतिज्ञापत्र, मानवाधिकार पर यूरोपीय संधि, अमरिकी संधि और मानवाधिकार पर अफ्रीकी प्रपत्र। इन संधियों का बहुत बड़ी तादाद में अनुमोदन किया गया है (मार्च 2003 तक ICCPR-145 राज्य पार्टियों नेय ICESCR-141य राज्यों ने ECHR 41 राज्यों ने, अमरिकी संधि 22 राज्यों नेय मानवाधिकार पर अफ्रीकी चार्टर-ओ ए यू के सभी 53 राज्य)। अमेरिका के दो प्रतिज्ञापत्रों तथा क्षेत्रीय मानवाधिकार शपथ पत्रों के अनुमोदन द्वारा, विश्व के अधिकांश राज्यों ने मानवाधिकार पर अंतर्राष्ट्रीय जिम्मेदारी को स्वीकार किया है जो सभी मनुष्यों को अपने-अपने दायरे में प्राप्त है।

अंतर्राष्ट्रीय अधिकारों के बिल में वर्णित अधिकारों को दिया गया वास्तविक घरेलू संरक्षण संयुक्त राष्ट्र प्रतिज्ञापत्रों से प्रासंगिक राज्य की पार्टियों की कानूनी और राजनीतिक व्यवस्था पर निर्भर करता है। कुछ राज्यों में, जैसे निदर्लैण्ड, ICCPR का सीधा या प्रत्यक्ष प्रभाव है और इसलिए यह राज्य की पार्टी के घरेलू कानून का एक अंग है। इनके उल्लंघन पर घरेलू न्यायालयों में मुकदमा चलाया जा सकता है। अन्य राज्यों में, ICCPR स्व-निष्पादी (लागू करना) ही है और इसलिए स्वतः म्युनिसिपल कानून का भाग नहीं है, जैसे -ब्रिटेन, भारत और ऑस्ट्रेलिया में शपथ पत्रों को लागू करने से पहले विशेष रूप से घरेलू कानून में समावेश करना आवश्यक है। इनमें से किसी भी राज्यों में ICCPR को समाविष्ट नहीं किया गया है। फिर भी, इन राज्यों में न्यायालय द्वारा इन के लिखित कानून, का संदिग्ध अर्थ लगाने और सामान्य कानूनों की कमियों में ICCPR का प्रत्यक्ष प्रभाव है। तीन क्षेत्रीय मानवाधिकार संधियों में, ECHR, जो सबसे पुराना है (1953 से प्रभावी हुआ), उपलब्धि का बहुत प्रभावी रिकार्ड है। इसका पूर्वी और पश्चिमी यूरोपीय राज्यों (पूर्वी राज्यों में कम्युनिस्ट प्रणाली खत्म होने पर) द्वारा भी पुष्टि की गई है। ECHR में गारंटी किए गए अधिकारों की सूची का विस्तार हुआ है। इसके साथ ही 1, 2, 6 और 7 विज्ञप्ति को अपनाकर नए अधिकारों को जोड़ा गया है, जैसे दृ सम्पत्ति, शिक्षा, निष्पक्ष चुनाव का अधिकार, कर्ज के लिए कैद पर रोक, राष्ट्रियों के निष्कासन पर रोक, विदेशियों के सामूहिक निष्कासन पर रोक, मृत्यु-दंड का उन्मूलन, गलत दोषसिद्धि के लिए मुआवजा। राज्य की अधिकांश पार्टियों में ECHR ने घरेलू कानून के दर्जा को प्राप्त किया। जैसे इसे ब्रिटेन, नॉर्डिक, बॉल्टिक देशों में शामिल किया गया है। क्रोएशियन संविधान में (अनुच्छेद 134) यह संधि 1997 के अनुमोदन के बाद आंतरिक कानून का एक भाग बन गयी जिसमें साधारण कानून से ज्यादा कानूनी शक्ति हो गयी। स्लोवेनिया में भी ECHR का ऐसा ही दर्जा है। चेको गणतंत्र के 10 वें अनुच्छेद में, संधि तुरत ही लागू हो गई और राष्ट्रीय घरेलू कानून में विद्यमान है। हाल ही के वर्षों में अनेक देशों में संविधान निर्माताओं ने अपने संविधान में विशेष शर्त द्वारा अंतर्राष्ट्रीय मानवाधिकार के मानकों के पालन के बढ़ते हुए महत्व की आवश्यकता पर ऐसे अनुच्छेद स्वीडिश (अध्याय-2, अनुभाग-23)य नॉर्वेजियन (अनुभाग 110बी) लैटवियन (अनुच्छेद-89) और फिनिश (भाग 16 ए) संविधान में

लिखी गई है। नार्वे में मानवाधिकार एक्ट 21 मई 1999 को जारी किया गया। इस एक्ट की खास विशेषताएं हैं जिन्हें इसमें शामिल किया गया है और तीन संधियों — ECHR, ICCPR और ICESCR को भी समाहित करता है। इस्टोनिया (अनुच्छेद-3 और 123) और लिथुएनिया (अनुच्छेद 138) में अंतर्राष्ट्रीय मानवाधिकार को प्राप्त करने की संवैधानिक गारंटी, घरेलू अनुप्रयोज्यता पर सामान्य खंडों द्वारा और अंतर्राष्ट्रीय प्रबंधों की सर्वोच्चता द्वारा प्राप्त की गई है।

अतः उपर्युक्त इन सभी देशों में ECHR प्रावधानों को राष्ट्रीय न्यायालयों में कानून के रूप में लिया जा सकता है और ऐसे अधिकार बनाए जाते हैं जो व्यक्ति द्वारा सीधे रूप से लागू हो सकें। यहाँ तक कि राज्य की पार्टियों में, जहाँ संधि को घरेलू कानून में शामिल नहीं किया गया है, वहाँ राष्ट्रीय न्यायालय घरेलू कानूनों को स्पष्ट और लागू करने के समय इन्हें, ध्यान में रख सकते हैं ताकि इस संधि का उल्लंघन न हो।

फिनलैंड एक कदम आगे गया है। हाल ही के 1995 के अधिकार सुधार बिल में संविधान एक्ट के अध्याय-2 में आर्थिक और सामाजिक अधिकारों को शामिल किया गया है। इससे यह भी स्पष्ट होता है कि सामाजिक-आर्थिक अधिकारों को न्यायिक रूप से भी लागू किया जा सकता है। 1990 में फिनलैंड ने यूरोपीय सामाजिक चार्टर (1961) को भी शामिल किया है जो सामाजिक-आर्थिक अधिकारों को सविस्तार प्रतिपादित करता है किसी व्यक्ति द्वारा निवेदन किये जाने पर घरेलू न्यायालय इसके प्रावधानों को क्रियान्वित कर सकता है।

ECHR के अन्तर्गत व्यक्तिगत रूप से शिकायत करने की आदेशात्मक या अनिवार्य प्रक्रिया की व्यवस्था है। उन राज्यों के व्यक्ति विशेष, जिसने कि संधि की पुष्टि की है, वे स्ट्रेसबर्ग, फ्रांस के मानवाधिकार के यूरोपीय न्यायालय में शिकायत की याचिका दे सकते हैं बशर्ते कि उन्हें यह महसूस हो कि उनकी सरकार ने संधि के अधिकारों का उल्लंघन किया है। मानवाधिकार न्यायशास्त्र का एक बहुत बड़ा निकाय यूरोपीय न्यायालय के निर्णय के परिणामस्वरूप उभरा है। बहुत मामलों में अनेक राज्यों द्वारा मानवाधिकार के संरक्षण के अंतर्राष्ट्रीय दायित्वों का उल्लंघन करते पाया गया है। अतः पिछले 50 सालों में ECHR ने यूरोप के पूरे महाद्वीप में अधिकारों के संवैधानिक बिल का विकास किया है।

30.8 मूल अधिकारों का उल्लंघन

अधिकांश राज्यों द्वारा राष्ट्रीय संविधान में अधिकारों के बिल को अपनाने और मानवाधिकार के अंतर्राष्ट्रीय संधियों की पुष्टि करने के बावजूद भी प्रायः सभी देशों में व्यक्तिगत मूल अधिकारों का उल्लंघन किया जा रहा है। पूर्ण अधिकार सरकार को विभिन्न सम्प्रदायों को खत्म करने की अनुमति देता है, यह नागरिकों के अधिकारों का अतिक्रमण करने का समर्थन या अधिकार देता है। जहाँ एक ओर सरकार मानवाधिकार की धारणा को संस्था का रूप दे सकती है और साथ ही किसी की जाति, रंग, लिंग या धर्म के आधार पर भेद किए बिना उसे संरक्षण दे सकती है, वही ये अपने अधिकारों को बहुत ही व्यवस्थित रूप में मानवाधिकार के उल्लंघन के लिए भी उपयोग कर सकती है। 20 वीं शताब्दी ने विश्व के सभी समाजों में बृहद् रूपसे नागरिक, राजनैतिक, आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक अधिकारों के विकास को देखा है। फिर भी, इसके साथ ही मूल मानवाधिकार, जैसे जीवन का अधिकार, मजदूरी और शोषण से स्वतंत्रता आदिय का इतनी अधिक मात्रा में उल्लंघन इससे पहले नहीं हुआ था। लाखों लोगों ने तानाशाही शासन काल में राजनीतिक उत्पीड़न में अपनी जान गंवाई है। नाजी के उन्मूलन शिवरों में और पूर्व सोवियत संघ में स्टालिन के शासन काल में लाखों लोग मारे गए। चीन, कम्बोडिया, इराक, चिली, अर्जेंटीना, गौटेमाला और हैती में मानवाधिकार का पूर्ण रूप से उल्लंघन देखा गया है। बॉस्निया-हर्जोगोवीनिया और दक्षिण अफ्रीका के रंगभेद शासन काल में अधिकारों का उल्लंघन कुछ कम मात्रा में देखा गया। सरकारी ताकतों का इस चरम सीमा पर दुरुपयोग धर्म-संकट को बढ़ाता है जो मूल अमेरिकी क्रांतिकारियों की परेशानी को भी बढ़ाता है। एक सरकार को इतना मजबूत होना चाहिए कि वह प्रभावी रूप से सरकार चला सके। लेकिन ऐसा भी मजबूत नहीं होना चाहिए जिससे कि वह उन्हीं के अधिकारों को नष्ट कर दे जिसकी सेवा के लिए उसे बनाया गया था।

30.9 सारांश

विश्व के विभिन्न देशों और प्रदेशों के मानवाधिकार के तुलनात्मक विश्लेषण से यह प्रकट होता है कि अधिकारों की संकल्पना का अलग-अलग अर्थ, समझ और इतिहास है। पश्चिमी उदारवादी प्रजातंत्रों में, जहाँ संवैधानिक अधिकारों की सोच पहली बार उत्पन्न हुई, नागरिक और राजनीतिक अधिकारों को प्राथमिकता दी गई तथा आर्थिक और सामाजिक अधिकारों की महत्ता की अनदेखी की गई। वहीं पूर्वी यूरोप के समाजवादी राज्यों ने दूसरे को (आर्थिक और सामाजिक अधिकारों) प्राथमिकता दी तो नागरिक और राजनीतिक अधिकारों के मूल्यों को पहचानने से इंकार किया। संयुक्त राष्ट्र की स्थापना और अंतर्राष्ट्रीय अधिकार बिल को अपनाने से, विश्व में मानवाधिकार के प्रति बोधशील मार्ग को वृहद् रूप से स्वीकार किया जा रहा है। साथ ही दोनों ही अधिकार के समूह को समान महत्ता देता है। यू एन मानवाधिकार के प्रति समेकित समग्र दृष्टिकोण का मार्ग प्रशस्त करता है और सैद्धांतिक आधार पर मानवाधिकार के दोनों समूहों के बीच कृत्रिम

दरार से ऊपर उठने की कोशिश करता है। यह सभी मानवाधिकारों को समान, अविभाज्य, एक-दूसरे पर आश्रित और जुड़ा हुआ मानता है।

मानवाधिकार की यह नई सोच द्वितीय विश्व युद्ध के बाद आमतौर पर तैयार किए गए सभी संविधानों और संवैधानिक परिवर्तनों में प्रतिबिम्बित होता है और विशेष रूप से पिछले दो दशकों में यूरोपीय देशों (स्विटजरलैण्ड और फिनलैण्ड), कनाडा और दक्षिण अफ्रीका में देखने को मिलता है। पूर्वोक्त के कुछ संविधानों में हमें अधिकारों के दोनों समूह देखने को मिलते हैं और कभी-कभी तो इसके अलावा भी, जैसे अल्पसंख्यक या समूह अधिकार, पाए गए हैं।

अधिकांश रूप से सभी पूर्वी यूरोपीय राज्य, साम्यवाद के खत्म होने के बाद, मानवाधिकार के पश्चिमी उदारवादी सोच को व्यापक रूप से अपना रहे हैं जिसमें उनके नागरिकों को नागरिक और राजनीतिक अधिकार प्रदान किए गए हैं। इन्होंने ECHR की न केवल पुष्टि की है, बल्कि उसे अपने राष्ट्रीय कानून का अंग भी बनाया है और साथ ही सामान्य कानून से ऊंचा दर्जा दिया है। अतः यह कहा जा सकता है कि अब पूर्व और पश्चिम अधिकारों के स्वरूप और विषयवस्तु पर विभाजित नहीं है। सैद्धांतिक-वैचारिक विभेद अब उनका भूतकाल बन चुका है। इस समय सम्पूर्ण यूरोपीय महाद्वीप में ECHR अधिकारों के संवैधानिक बिल के रूप में विकसित हो रहा है।

मानवाधिकारों की संवैधानिक गारंटी, संयुक्त राष्ट्र की प्रसंविदा के प्रतिज्ञापत्र की अंतर्राष्ट्रीय मान्यता और क्षेत्रीय मानवाधिकार संधियों जैसे- ECHR के बावजूद भी विश्व के सभी भागों में मूल मानवाधिकारों का भरपूर उल्लंघन होता है। नरसंहार, राष्ट्रीय या जातीय विनाश, प्रताड़ना और लुप्त होगा-मानवाधिकार दुरुपयोग को कुछ गम्भीर रहस्योद्घाटन हैं। फिर भी, सभी सरकार मानव के सम्मान में अपने विश्वास और सभी के मानवाधिकारों को संरक्षित करने का दावा करते हैं।

30.10 बोध प्रश्न

1. मानवाधिकारों की संकल्पना के उद्भव के महत्वपूर्ण बिन्दुओं पर चर्चा करें।
2. साम्यवादी पूर्व और लोकतांत्रिक पश्चिम के मानव अधिकारों के तुलनात्मक परिप्रेक्ष्यों का आलोचनात्मक विवेचन कीजिए।
3. मानवाधिकारों में उभरती हुई प्रवृत्तियाँ क्या हैं।
4. किस सीमा तक मानवाधिकारों का अंतर्राष्ट्रीयकरण हुआ है? होम
5. सरकार मानवाधिकारों का उल्लंघन क्यों करती है?